hindi-placeholder

आयुर्वेद का बृहत् इतिहास

प्रथम संस्करण : १९६०
द्वितीय संस्करण : १९७६

मूल्य : सोलह रुपये

मुद्रक :
इण्डियन युनिवर्सिटीज प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

सभ्यता के आदि काल से ही रोगो से बचने के उपायों की खोज करने और इस प्रकार स्वस्थ-सुखी जीवन बिताने की ओर मनुष्य सचेष्ट रहा है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा चिकित्सा-विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित हुई है। इसकी अनेकानेक पद्धतियाँ ससार मे पायी जाती है। इन सब मे भारत की आयुर्वेद पद्धति निरीक्षण, परीक्षण, क्रियात्मक अनुभव और दिव्य दर्शन की भावना से सप्रेरित होने के कारण अन्य पद्धतियो मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। आयुर्वेद पद्धति पचभूतात्मक शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन सबकी मीमासा कर व्याधि का निवारण करती है। इसका वात, पित्त, कफ, त्रिदोष-विज्ञान स्वास्थ्य-प्राप्ति का सिद्ध और अनोखा उपकरण है। सहस्रो वर्ष पूर्व स्थिर किये गये इसके सिद्धान्त आज भी मनुष्य को रोगो से मुक्त रखने मे सक्षम और उपादेय पाये जाते है।

ब्रिटिश शासन-काल मे आयुर्वेद की विधिवत् शिक्षा और उसकी उन्नति की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था, किन्तु देश के स्वतंत्र होने के बाद इसके लिए विशेष प्रयत्न किया जा रहा है। परिणामस्वरूप आयुर्वेद के शिक्षार्थियो की संख्या जहाँ बढ रही है, वही आयुर्वेद मे रुचि लेने वालो की भी सख्या बढती जा रही है। ऐसी स्थिति मे इस बात का परिज्ञान होना आवश्यक है कि प्राचीन तथा मध्यकाल मे आयुर्वेद-विज्ञान ने कितनी उन्नति कर ली थी। कौन-कौन से ग्रन्थ उस समय रचे गये और उनमे किन-किन विषयो का वर्णन हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक मे विद्वान् लेखक ने वेदो, स्मृतियो, पुराणो, रामायण, महा-भारत, सस्कृत काव्यो और बौद्ध एव जैन साहित्य के ग्रन्थो के आधार पर ऐति-हासिक तथ्यो का सकलन और विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त सुविज्ञ लेखक ने इस बृहत् ग्रन्थ मे आधुनिक साहित्य और आयुर्वेद विद्यालयो आदि की चर्चा करते हुए आज की स्थिति क्या है, किस तरह पाठ्यक्रम अपनाना चाहिये, प्रगति के लिए किस प्रकार के उपायो का सहारा लेना चाहिये, आदि इन प्रश्नों पर भी विचार किया है।

हमारे पाठको ने इस ग्रन्थ की सराहना की और इसे अपनाया और उनकी माँग को देखते हुए अब इसका यह दूसरा सस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। पुस्तक के लेखक दिवगत हो चुके है। आज यदि वह हमारे बीच होते तो सभवत. इसमे वह कुछ सशोधन-परिवर्धन करते। हमे खेद है कि हम उनकी इस कृति मे सम्प्रति किसी प्रकार का परिवर्तन-परिवर्धन कर नही सके। तथापि पाठको के सम्मुख इस उपयोगी ग्रन्थ को यथावत् प्रस्तुत करने मे सुख और सन्तोष का अनुभव होना स्वाभाविक है। आशा है, आयुर्वेद के शिक्षार्थियो, शोधार्थियो और जिज्ञासु पाठको की आवश्यकता की पूर्ति इससे पूर्ववत् होगी। हम अगले संस्करण मे अधिकारी विद्वानों और सामान्य पाठको की सम्मति और सुझाव के अनुसार इस ग्रन्थ को और अधिक व्यापक एवं अद्यतन उपयोगी बनाने का उपक्रम करेंगे।

महाशिवरात्रि १९७६
लखनऊ

काशीनाथ उपाध्याय "भ्रमर"
सचिव, हिन्दी समिति
उत्तर प्रदेश शासन

विषय-सूची

भाग १
(प्राचीन तथा मध्यकाल)

भाग २
(रसशास्त्र-निघण्टु)

भाग ३

(आधुनिक काल)

चित्र-सूची

शुद्धि-पत्र

पृ०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	अशुद्ध	शुद्ध
११४	सकुष्टका.	समकुष्टका.	१६४	कोठे	काँठे
११४	जगाल	जगल	२४६	समुद्रगुप्त	स्कदगुप्त
१२१	नारदीय मनु०	नारदीयस्मृति	२७०	चक्रदत्त	चक्रपाणिदत्त
१६०	उल्लेख नही है	उल्लेख है	२७३	चिकित्सासार सग्रह	चिकित्सा संग्रह
१६१	अंधक और वृष्णिक	...और द्रविड	२७८	गणसेन	गणनाथसेन
			३०२	यह	बृहद्योग तरंगिणी

आयुर्वेद का बृहत् इतिहास

• • •

विषय-प्रवेश

किसी भी वस्तु का इतिहास उसके भूतकाल का वर्णन करता है (इति+ह+आस=ऐसा निश्चय से था), वर्त्तमान अथवा भविष्य का नही। इतिहास में बीती हुई सच्ची घटनाओ का उल्लेख रहता है। इन घटनाओ का उल्लेख भी कम महत्त्व का नही है, क्योकि भविष्य या वर्त्तमान इन्ही स्वीकृत तथ्यो के आधार पर टिके होते हैं। इन घटनाओ को सही और सच्चे रूप मे टीपना ही सच्चे इतिहासज्ञ का काम है। इसके लिए प्रमाण-सामग्री को घटाना-बढाना अथवा मनमाना सुधार करना इतिहासज्ञ के लिए सम्भव नही। घटनाओ या सामग्री से जो निष्कर्ष सीधे और सरल रूप मे प्रतिबिम्बित होता हो उसे ठीक उसी रूप में स्वीकार करके उपस्थित करना ही सच्चे इतिहासज्ञ का कर्त्तव्य है। इतिहासज्ञ घटनाओ और सामग्री के साथ सत्य-परायणता बरतता है। उसके लिए प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ का वाक्य "नामूल लिख्यते किञ्चिन् नानपेक्षितमुच्यते", एक सम्बल या प्रकाशस्तम्भ रहना चाहिए। इतिहास की सामग्री लोहे के दृढ़ साँचे मे ऐसी कसी होती है कि इसमें जरा भी रद्दोबदल नही किया जा सकता।

कई बार एक ही सामग्री से भिन्न-भिन्न इतिहासज्ञ अपने-अपने व्यक्तिगत दृष्टि-कोण से पृथक्-पृथक् निष्कर्ष निकालते है। ऐसी अवस्था मे इतिहासज्ञ का कर्त्तव्य होता है कि वह वैज्ञानिक तत्त्वालोचक बुद्धि का सहारा लेकर निष्पक्ष रूप में विज्ञ न्यायाधीश की भाँति परस्पर विरोधी साक्षी और लेखन में सचाई की थाह पाने का प्रयत्न करे। अपने निष्कर्ष पर पूर्व-कल्पित मतो का तथा व्यक्तिगत पक्षपात का प्रभाव नही आने देना चाहिए। प्रमाणो की साक्षी से जो परिणाम निकले उसी को अपरिहार्य जानकर स्वीकार करना चाहिए और घटनाओं के आधार से भूतकाल का जो रूप खडा हो उसे सिर-माथे पर रखना चाहिए। यह चित्र उसकी रुचि के अनुकूल हो या न हो, उसे अच्छा लगे या बुरा, उसके जातीय गर्व को उससे सन्तोष मिले या ठेस लगे, हर अवस्था में वह जैसा है, वैसा ही उसे लिखना चाहिए।

सच्चे इतिहासज्ञ के पास अपना दृष्टिकोण होना चाहिए, उसके अन्दर घटनाओं को परखने की वैज्ञानिक योग्यता होनी चाहिए, अतीत को प्रतिबिम्बित करने की निर्मल बुद्धि होनी चाहिए, उपलब्ध सामग्री को छानने की वकील-जैसी प्रतिभा

होनी चाहिए। सच्चे न्यायाधीश की भाँति परस्पर विरोधी सामग्री में से सत्य को ढूँढने का न्यायपूर्ण मन होना चाहिए। अन्त में उसके पास सूक्ष्म, पैनी आँख, विशाल दृष्टि, चतुर्मुखी प्रतिभा का होना भी आवश्यक है[1]। इसके लिए इतिहासज्ञ को चाहिए कि वह अपने विषय की सामग्री अधिक से अधिक प्राप्त करने का यत्न करे। इस सामग्री की सचाई की परीक्षा करे, फिर इसके आधार पर तथ्यो का सकलन करने का यत्न करे।

उपलब्ध सामग्री का उपयोग निष्कर्ष निकालने में किस प्रकार किया जाय यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपलब्ध सामग्री के लिए तिथिक्रम की दृष्टि से भारतीय इतिहास का प्रारम्भ बुद्धकाल से होता है। इससे पूर्व की सामग्री उपलब्ध है, परन्तु उसमे तिथिक्रम नही है। तिथिक्रम का इतिहास राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व का है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से अतीत की सामग्री बहुत महत्त्वपूर्ण है। सास्कृतिक इतिहास मे, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के विचारो, आदर्शो, सस्थाओ, उपचार, व्यवहार और विश्वासो से है, केवल तारीखवार घटनाओ से काम नही चल सकता। भारतीय इतिहास मे पहली तिथि ६०० ई० पू० है, यह समय भगवान् बुद्ध के विचारो का था। इसी समय से हमको भारत का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इसे इतिहास की पक्की सामग्री समझा जाता है। परन्तु बौद्ध धर्म का उदय सहसा नही हो गया, यह भी तो अतीत कालीन इतिहास तथा विकास का एक लम्बा युग है, जिसके परिणामस्वरूप बुद्धयुग प्रारम्भ हुआ। बुद्धयुग से पूर्व का युग ब्राह्मण काल है, ब्राह्मण काल का अन्तिम साहित्य उपनिषदें है। उपनिषदो से पता चलता है कि ब्राह्मण भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों के पास जाते थे।[2] इसी परम्परा मे धर्म के उपदेशक बुद्ध तथा महावीर क्षत्रिय हुए।

प्राग्-बुद्धकालीन भारतीय इतिहास में सन्-सवत् की सामग्री नही है, किन्तु उसमे दूसरे प्रकार की सामग्री बहुत है, जिसके आधार पर सभ्यता का इतिहास लिखा जा

---

१. अत्रिपुत्र का वचन सच्चे इतिहासज्ञ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है—

'विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते॥' (चरक. सू. अ. ९।२१)

सच्चा इतिहासज्ञ सामग्री के द्वारा सही निष्कर्ष प्रस्तुत करने योग्य होता है।

२. राजा जनक, राजा अश्वपति आदि के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों के आने का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। (हिन्दू सभ्यता—पृष्ठ २१३)

सकता है। इसमें आचार-विचार, साहित्य, समाज-व्यवस्था, आर्थिक जीवन आदि का कालोचित अनुसधान या अध्ययन हो सकता है।

इतिहास चाहे सास्कृतिक हो या तिथिक्रम पर आश्रित हो, वह उपलब्ध सामग्री तक ही सीमित रहता है। यह साधन या सामग्री लेख रूप में या भौतिक अवशेष के रूप मे होती है। लिखित रूप मे यह सामग्री बहुत पीछे की है। बहुत से विद्वानो की मान्यता है कि भारतवर्ष मे ८०० ई० पू० लेखन-कला का ज्ञान न था। किन्तु यह बात सबको मान्य नही है। जो हो, इतना सम्भव है कि लिपि से पूर्व साहित्य बन चुका था। गुरु-शिष्य की परम्परा से पीढी दर पीढी मौखिक रूप मे उसकी रक्षा होती रही और यह क्रम चालू रहा (इसी से वेद को श्रुति कहते है)। इस प्रकार सुनकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता था उसे स्मृति मे स्थायी किया जाता था। उस समय के विद्वान् चलते-फिरते (**चरक**) ग्रन्थालय या पुस्तकालय थे। लिपि से पूर्व जो भी भारतीय साहित्य **बना वह बहुत** दिनो तक कण्ठ-परम्परा से ही जीवित रहा। यद्यपि यह साहित्य प्राचीनतम **है, परन्तु इससे** प्राचीन जीवन के बचे हुए कुछ भौतिक अवशेष और चिह्न है, जिनका **प्रमाण-सामग्री** के रूप मे उपयोग होता है। ये अवशेष उस समय काम आनेवाले औजार, हथियार, घर, बस्ती, जीवन के साधन (स्नानगृह आदि) है। सभ्यता के विकास-क्रमानुसार उस समय का स्मारक साहित्य, चित्र, शिला-लेख, ताम्रपत्र, सिक्के, कथाएँ, तोल, मान आदि वस्तुएँ भी प्राप्त हुई है। इस प्रकार से इन भिन्न-भिन्न सामग्री के आधार पर प्रमाण एकत्र करके इतिहास की रचना करना आवश्यक है। कभी-कभी तो यह साधन भारत के सिवा अन्य देशो मे भी पाये जाते है; जिन देशो के साथ भारत का लेन-देन या अन्य प्रकार का सम्बन्ध रहा। भारतीय इतिहास के चिकित्सा सम्बन्धी कुछ प्रमाण बगदाद (अरब) से भी हमको मिलते है।[1] पूर्वी भारतीय द्वीपसमूह के अन्तर्गत जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपो मे, स्याम, कम्बोज आदि देशो मे अनेक पुराने स्मारक चिह्न विद्यमान है, जो कि भारत की सीमा से बहुत परे भी इस देश की सस्कृति तथा ज्ञान पर प्रकाश डालते है, इनको भी आँखो के सामने रखना आवश्यक है।

---

१. सिकन्दर का सेनापति नियार्कस लिखता है कि यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया (वाईज हिस्ट्री आफ मैडिसिन पृष्ठ ९)। अलमतसूर ने आठवी सदी में भारत के कई वैद्यक ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया था। प्राचीन अरब लेखक सैरेपियन

आयुर्वेदिक इतिहास की सामग्री—उपलब्ध सामग्री साहित्यिक और पुरातत्त्व सम्बन्धी है, जो कि भारतीय और अभारतीय रूप मे प्राप्त है। साहित्यिक सामग्री फिर दो प्रकार की है—(१) अनैतिहासिक और (२) इतिहासपरक। इनमे अनैतिहासिक साहित्यिक सामग्री मे वेद मुख्य है। इनमे भी ऋग्वेद सबसे प्राचीन है; इसमे आर्यों के प्रसार, उनके अन्त सघर्ष, असुर या दस्युओ के विरुद्ध युद्ध तथा इस प्रकार के अन्य विषयों की सामग्री उपलब्ध हुई है। अथर्ववेद में मानव जीवन से सम्बन्धित बहुत-सी बाते विशेष रूप से मिलती हैं। वेदो के बाद का ब्राह्मण, उपनिषद्, बौद्ध साहित्य (महावस्तु, ललितविस्तर, सद्धर्म पुण्डरीद आदि), जैन सूत्र (आचाराङ्ग-सूत्र, उत्तराध्ययन आदि) भी ऐसा साहित्य है, जो कि इतिहास की काया को सँवार सकता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी इनमे बहुत महत्त्व की है, इससे आयुर्वेद-साहित्य पर विशेष प्रकाश पडता है।

इतिहासपरक साहित्य मे रामायण, महाभारत और पुराणो का बहुत महत्त्व है। पुराणो के अतिरिक्त कौटिल्य अर्थशास्त्र, विनयपिटक आदि ग्रन्थ भी चिकित्सा की दृष्टि से बहुत महत्त्व के है। विनयपिटक में प्राप्त कुछ शब्द आयुर्वेद साहित्य में आये शब्दो के समान ही है। ये शब्द अन्यत्र नही देखे जाते।

इसके अतिरिक्त सस्कृत के काव्य, विशेषत अश्वघोष, कालिदास तथा बाण की रचनाएँ आयुर्वेद के लिए विशेष महत्त्व रखती हैं। अश्वघोष के काव्यो में चरकसहिता की उपमाएँ, उसके पारिभाषिक शब्द एव उसके समान शब्दरचना मिलती है।[१]

भारतीय साहित्य के सिवा अभारतीय साहित्य भी बहुत महत्त्व का है। इसमे विदेशी लेखको और यात्रियो के वृत्तान्त भी हैं जो अपनी आँखो देखे ज्ञान पर आश्रित होने से महत्त्वपूर्ण है। यात्रियो में चीनी, तिब्बती, ग्रीक, मुस्लिम सभी है। इन यात्रियो में प्राचीनतम ग्रीक लेखक हेरोडोटस (४८४ से ४२५ ई० पू०) है। इसने ईसा से पाँचवी शती पूर्व के भारतीय सीमाप्रान्त पर प्रकाश डाला है। ईरान के सम्राट् आर्ट जेरेक्सस मेमन के राजवैद्य टेशियस ने भी भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ

ने चरकाचार्य को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उनका वर्णन किया है। हारूँ रशीद ने कई भारतीय वैद्यों को अपने यहाँ बुलाया था। (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—पृष्ठ १२६)

१. इस सम्बन्ध में भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, बनारस से प्रकाशित 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' देखा जा सकता है।

लिखा है। सिकन्दर के कई ग्रीक साथियो ने भी भारत पर लिखने का प्रयास किया है। इनमे मुख्य नियार्कस, आनिसि क्राईट्स, अरिस्टोबुलुस है। दु ख है कि इनके लेख अब नही मिलते। सीरिया के सम्राट् सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में वर्षों रहा था। उसने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' मे भारत के विषय में बहुत कुछ लिखा है। यह पुस्तक स्वत अप्राप्य है, परन्तु इसके उद्धरण एरियन, स्ट्रेबो आदि के ग्रन्थो में आज भी सुरक्षित है।

ग्रीक और रोमन साहित्य की भाँति चीनी साहित्य भी इस ओर बहुत मदद देता है। चीनी साहित्य में फाहियान (३९९-४१४ ई०), युवान् च्वाग (६२९-६४५ ई०) और इत्सिग (६७५-६९५ ई०) के वृत्तान्त महत्त्वपूर्ण है। तिब्बती लामा तारानाथ के ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इनके बाद मुस्लिम पर्यटको के वृत्तान्त भी इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इनमे मुख्य लेखक अल्बेरुनी है। इसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, यह सस्कृत का भी असाधारण पण्डित था। महमूद के आक्रमणो में यह उसके साथ था।

पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री, अभिलेख—जहाँ पर साहित्यिक सामग्री मूक एव अस्पष्ट है, वहाँ पर उत्कीर्ण लेखो से बहुत सहायता मिलती है। ऐसे बहुत से शिलालेख ईसा से पाँचवी शती पूर्व तक के हैं। ये अभिलेख शिलाओ, स्तूपो, प्रस्तरपट्टो, दरी-गृहो की दीवारों और धातुपत्रो पर खुदे हुए हैं। अधिकतर उत्कीर्ण लेख ब्राह्मी लिपि में है, यह लिपि बायी ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी। कुछ लेख खरोष्ट्री लिपि में भी मिले है, यह लिपि अरबी-फारसी की भाँति दाहिनी ओर से बायी ओर लिखी जाती है। इनमें अशोक के अभिलेख चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है।

अभिलेखो की भाँति ऐतिहासिक दृष्टि से सिक्के, इमारतें भी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। इनसे तिथिक्रम निश्चित करने में बहुत सहायता मिलती है।

पहला अध्याय

वैदिक काल या प्रागैतिहासिक काल

वैदिक साहित्य

भूगर्भ-शास्त्री पृथ्वी की आयु के चार प्रधान युग मानते है, जिनमें से हरएक जीवन विकास के अनुसार कई छोटे भागो मे बँटा हुआ है। ये युग इस प्रकार है—

(१) अजन्तुक—जब पृथ्वी पर किसी प्रकार का जीवन न था। (२) पुरा-जन्तुक—जब मेरुदण्डहीन प्राणियो के रूप मे जीवन के चिह्न पहले पहल दिखाई पडे। आरम्भ में सामुद्रिक घास और सेवार, स्पज, लिब-लिब मछली पैदा हुई, बाद में मत्स्य, सरीसृप, पक्षी, बडे-बडे जगल और पेड, जिनमे धरती मे कोयले और अगारो की सन्धि बन गयी। (३) मध्यजन्तुक। (४) नवीन-जन्तुक—जिस युग में विविध प्रकार के स्तनपायी जन्तु विकसित हुए, जिनमे से मनुष्य भी संवर्द्धित हुआ।[1]

मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके जीवन के साधन बन चुके थे, जिस प्रकार शिशु के भूमिष्ठ होने से पहले माता के स्तनो मे उसके पोषण का साधन दूध आ जाता है। मनुष्य मे ज्ञान का विकास शनै-शनैः हुआ। आरम्भ मे अपनी आवश्य-कताओ की पूर्ति के लिए उसने जिन वस्तुओ का और जिस प्रकार मे उपयोग किया—उन्ही के अनुसार इतिहास के युग प्रारम्भ होते है। ये वस्तुएँ—औजार, हथियार, बरतन भाँडे है, जो कि पुरातत्त्व की खुदाई मे मिलते है। प्रारम्भ मे मनुष्य ने पत्थर से, बिना टाँचे अनगढ औजार बनाये। इसके बाद इन औजारो को सुधरे हुए रूप में चमकीला, तराशकर घिसकर तेज बनाया। मिट्टी के बरतन पहले हाथ से बनाये, फिर चाक पर उनको उतारा। इसके बाद ही विकास की अवस्थाएँ शीघ्रता से तथा अलक्षित भेदो के साथ घटित हुई—जिनमे ताम्र, कास्य और लोहे का प्रयोग मुख्य विशेषता थी।

---

१. हिन्दू सभ्यता एवं प्राचीन भारत का इतिहास—डाक्टर त्रिपाठी के आधार पर।

पाषाण युग के बाद दक्षिण भारत मे लोह युग और उत्तर भारत में ताम्र युग का आरम्भ हुआ। लोह युग से पहले कास्य युग का विकास नही हुआ, इसमे सिन्ध प्रान्त अपवाद है। काँसा बनाने मे नौ भर ताँबा और एक भर रॉगा मिलाकर डाला जाता है[1] (चरक सहिता मे अत्रिपुत्र ने ब्राह्‌रन्मायन सिद्ध करने के लिए ताम्र-पात्र का उल्लेख किया है, ('औदुम्बरे पात्रे'—चि अ १।)

दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर मे लोहा पहले व्यवहार मे आया। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है जो कि २५०० ई० पू० से बाद का नही कहा जा सकता। हीरोदत्त का कथन है कि जो भारतीय सिपाही ईरानी सम्राट् ख्षयार्स (जरकसीज) की कमान में यूनान के विरुद्ध ३२५ ई० पूर्व मे लडे थे, उन्होने अपने धनुष के साथ लोहे की नोक लगे हुए बेत के बाणो का प्रयोग किया था। सिकन्दर को बहुत बढ़िया लोहा-फौलाद भेंट में दिया गया था।

ऋग्वेद में सोने (हिरण्य) के गहनो का वर्णन है (१।१२२।२), ये आभूषण कान के कुण्डल (कर्णशोभन—७।७८।३), वलय (निष्कग्रीव २।३३।१०), नूपुर (रवादि १।१६६।९ और ५।५४।११), हार (रुक्मवक्ष) और गले की मणियाँ (मणिग्रीव १।१२२।१४) थे। इनमें से अधिकाश आभूषण मोहेंजोदडो के पुरवासी पहनते थे।

सोने के अतिरिक्त ऋग्वेद मे अयस् नामक दूसरी धातु का भी वर्णन है, जिसके बर्तन बनते थे (अयसमय—५।३०।१५)। इस धातु को ठोकते, पीटते और बढाते भी थे (अयोहत् ९।१।२)। सम्भवत ऋग्वेद में अयस् का अर्थ ताँबा है, अथर्ववेद में बाद मे लोहे को 'श्याम अयस्' और ताम्र को लाल (लोहित) अयस् कहकर भेद किया गया है (११।३।१।७)।

ऋग्वेद-सभ्यता तथा पाषाण युग को जोडने का साधन सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष चिह्न है। ये चिह्न पुरातत्त्व की खुदाई मे हरप्पा (लाहौर और मुलतान के बीच रावी की एक पुरानी धारा के तट पर बसा हुआ एक पुराना स्थान, जिसका प्राचीन वैदिक नाम हरियूपिया सम्भवत था) एव मोहेंजोदडो (सिन्धी—मोया-जोदडो, मरे हुओ की ढेरी या टीला—जिला लरकाना, सिन्ध) स्थानो में पाये गये

---

१. काँसे के लिए सौ भर ताँबे में सत्ताईस भर राँगा मिलाने से अच्छा काँसा बनता है (सौ सत्ताईस काँसा, नहीं तो संन्यासा)। अत्युत्तम काँसा बनाने के लिए ९६ भर ताँबा, २६ भर राँगा और २ भर चाँदी होनी चाहिए।

है। इस सामग्री से विदित होता है कि किसी समय उस प्रदेश मे सर्वांग पूर्ण सभ्यता का विकास हुआ था, जिसे सिन्धु सभ्यता का नाम दिया जा सकता है[1]।

यही सभ्यता हमको ऋग्वेद मे मिलती है। सिन्धु सस्कृति ऋग्वेद से पूर्व की है या पीछे की, यह एक समस्या है। एक विचार यह है कि वेदो के ज्ञान का प्रादुर्भाव सृष्टि के साथ ही हुआ है, अर्थात् मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही वेदो का ज्ञान पृथ्वी पर हुआ है ('अनादिनिधना दिव्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'—मनु)[2]। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार सृष्टि से पूर्व ज्ञान उत्पन्न हुआ ('अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजन्'—सुश्रुत सूत्र अ १, 'आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्ततो विश्वानि भूतानि'—काश्यप सहिता)।

इतिहास का प्राचीन स्रोत ऋग्वेद सहिता मे है। यह आर्य जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। भाषाशास्त्र के विद्वानो का कहना है कि ऋग्वेद की भाषा व्याकरण और धातुओ की दृष्टि से ईरानी, यूनानी, लातीनी, ट्युटनी, कैल्ट और स्लाव भाषाओ से मिलती है; जैसे, ये सब एक ही मूल भाषा से निकली हुई हो। परिवार के निकटतम सम्बन्धो एव जीवन के मौलिक अनुभवो के सूचक शब्द इन भाषाओ में एक-जैसे ही है, जैसे माता-पिता, पुत्र-पुत्री, ईश्वर, हृदय, आँसू, कुल्हाडी, वृक्ष, कुत्ता और गौ आदि शब्द। उदाहरण के लिए देखिए—सस्कृत मे मातर, लैटिन मे मेतर, अग्रेजी मे मदर; सस्कृत मे सूनु, लिथवानियन मे सूनू, प्राचीन जर्मनी की खडी बोली मे वे सुनु, इग्लिश मे, सन।

वेद और अवेस्ता—आर्यों के ऋग्वेद की भाँति अवेस्ता पारसियो का प्राचीन ग्रन्थ है। ऋग्वेद से अवेस्ता की भाषा बहुत अधिक मिलती है। अवेस्ता का अर्थ शास्त्र है जिसमे गाथा या प्रार्थनाएँ ऋग्वेद की भाँति ही हैं। इसमे यज्न (यज्ञ), विस्पेरद (बलि सम्बन्धी कर्मकाड) तथा वेन्दिदाद (प्रेतादि के विरोधी नियम) आदि भी है। अवेस्ता की टीका पहलवी मे हुई है, इस टीका को जेन्द कहते है, जेन्द का अर्थ टीका है। अब लोग जेन्द और अवेस्ता इन दोनो शब्दो को मिलाकर पुस्तक तथा भाषा के लिए जेन्दावेस्ता या जिन्दावेस्ता कहते है।

अवेस्ता और ऋग्वेद के शब्दो मे बहुत साम्य है, ऋग्वेद में आया भेषज शब्द,

---

१. सिन्धु सभ्यता के लिए 'हिन्दू सभ्यता' तथा प्राचीन भारत का इतिहास देखे जा सकते हैं।

२. ऋक्सूक्तसंग्रह—श्री पं० हरिदत्त शास्त्री, भूमिका पृष्ठ ८।

जो कि कौशिक सूत्र मे भैषज्य रूप में मिलता है, अवेस्ता में बीसेजा (Balsaza) हो गया है, मत्र शब्द मथ्र, पुत्र पुथ्र, सप्त हप्त्र, सोम होम हो गया है। स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिए अवेस्ता मे ऋग्वेद की भॉति वनस्पतियो का उल्लेख है। वेद और अवेस्ता मे रोग के लिए पामन् शब्द आता है। विद्वानो की मान्यता है कि ऋग्वेद के समकालीन या उसकी समीपवर्ती यदि कोई भाषा है, तो वह अवेस्ता है।

ऋग्वेद का काल

वेदो की रचना मे ऋग्वेद का निर्माण सबसे प्रथम हुआ है। इसमे भी दूसरे मण्डल से सातवे मण्डल तक का भाग अपेक्षया अधिक प्राचीन है। पहले, नवें और दसवें मण्डल की रचना सबसे बाद में हुई है। ऋग्वेद की भाषा अन्य तीनो वेदो की अपेक्षा विभक्ति और क्रिया की दृष्टि से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।

ऋग्वेद के या वेदो के काल निर्णय मे सबसे प्रथम प्रयत्न बेवर ने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' पुस्तक में किया है। लिखित रूप मे उपलब्ध होनेवाले समस्त साहित्य मे ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। उन्होने इसके लिए कोई समय निश्चित नही किया। इसके बाद मैक्समूलर ने इस सम्बन्ध मे प्रयत्न किया। इन्होने वैदिक साहित्य को चार कालो मे बॉटा है, यथा छन्दकाल, मंत्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल। प्रत्येक काल के लिए २०० वर्ष की अवधि मानी है। अन्तिम सूत्रकाल को उन्होने बौद्धधर्म की उत्पत्ति और विकास के साथ माना है। बुद्ध की निर्वाण (मृत्यु) तिथि विनसैंट स्मिथ ने ४८६–८७ ई० पू० मे रखी है। फ्लीट और गाईगर ४८३ ई० पू० मानते है, परन्तु कुछ विद्वान् बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई० पू० मानते है। इस तिथि से २०० वर्ष पूर्व सूत्रकाल, उससे २०० वर्ष पूर्व ब्राह्मणकाल, ब्राह्मणकाल से २०० वर्ष पूर्व मत्रकाल, और मन्त्रकाल से २०० वर्ष पूर्व छन्दकाल है। इस क्रम से वेदो का निर्माणकाल १२०० से १००० वर्ष ईसवी पूर्व आता है।

परन्तु एशिया माइनर के बोगाज कुई नामक स्थान मे १४०० ई० पू० के कुछ अभिलेख मिले है, जिनमें खत्ती (hittites) और मितानी (mitani) जातियो में हुई सन्धि का उल्लेख है। इस सन्धि में साक्षी रूप में दिये हुए देवताओ के नाम मित्र, इन्द्र, वरुण और नासत्य देवताओ से मिलते है। इसलिए ऋग्वेद की सस्कृति १४०० ई० पू० भारत में जड जमा चुकी थी, जिससे वह सूदूर पूर्व एशिया की सस्कृति पर प्रभाव डाल सकी।

कोवी महोदय ने ज्योतिष की गणना के अनुसार ऋग्वेद की रचना को ३०००

ई० पूर्व निश्चित किया है। स्वर्गीय लोकमान्य बालगगाधर तिलक ने अपनी ज्योतिष-गणना के अनुसार वेदकाल ६००० ई० पूर्व से कुछ पीछे का माना है।

यदि भारत में बुद्धधर्म का उदय ६०० ई० पू० के लगभग माना जाय तो उसमें पूर्वकालीन रूप से उल्लिखित भारतीय साहित्य और सस्कृति उस समय से पूर्व की होनी चाहिए। सूत्र, आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण, चार वैदिक सहिताओ और इनसे पूर्ववर्ती मूल मत्रसमूह के विकास के लिए पर्याप्त समय मानना पडेगा। इसलिए लगभग २५०० ई० पू० ऋग्वेद का काल मानना होगा।

ऋग्वेदकालीन संस्कृति—स्थानविशेष में बसे व्यवस्थित समाज और पूर्ण उन्नत सभ्यता का वर्णन ऋग्वेद में है। हिन्दू अनुश्रुति के अनुसार ऋग्वेद मे भारतीय सस्कृति के उष काल के स्थान पर मध्याह्न काल के दर्शन होते है। ऋग्वेद के आर्य विस्तृत भू-प्रदेश मे बसे हुए मिलते है। उसमे कुछ नदियो के ये नाम आये है—कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सुवास्तु (स्वात), इत्यादि। इससे पता चलता है अफगानिस्तान भी भारतवर्ष का अग था। इसके बाद पजाब की पाँच नदियो का उल्लेख है—सिन्धु (सिन्ध), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाव), परुष्णी (इरावती या रावी), विपाशा (व्यास), शुतुद्री (सतलज)। सरस्वती, यमुना और गगा का नाम भी आया है।

भौगोलिक प्रदेश कई वैदिक जनपदो मे बँटा हुआ था, जिनमे से कुछ प्रधान जनपदो के नाम मिलते है—जैसे गन्धार (जो अपने ऊनी माल के लिए प्रसिद्ध था), मूजवन्त (जहाँ का सोम प्रसिद्ध था[1]), अनु, द्रुह्य, तुरवशु (परुष्णी के तट पर), पुरु और भरत (मध्य देश मे थे)।

ऋग्वेद मे दस राजाओ के युद्ध का उल्लेख है। यह युद्ध सुदास तथा उसके प्रतिपक्षी अनार्य राजाओ मे हुआ था। सुदास का नेतृत्व युद्ध मे वसिष्ठ पुरोहित कर रहे थे और प्रतिपक्षी राजाओ का नेतृत्व विश्वामित्र कर रहे थे। अन्त मे सुदास इन राजाओ को हराकर सम्राट् बने थे। ये दूसरे राजा अनार्य थे। आर्यो और अनार्यो मे रग का

---

१ मूजवन्त की पहचान मुंजान इलाके से की जानी चाहिए—जो वक्षु नदी के दक्षिण में गलचा भाषा-भाषी क्षेत्र है—जहाँ की बोलियाँ आर्यभाषा परिवार की हैं—(हिन्दू सभ्यता)। सुश्रुत में मूजवन्त का उल्लेख सोम के लिए आया है—'तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानशुमानपि'; 'अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः॥' —सुश्रुत चि. अ. २९।३०; ५।

भेद था। इनमे शारीरिक और सास्कृतिक भेद भी थे। आर्यों ने अनार्यों को बहुत परिश्रम से हटाया, इनको दूर खदेड दिया था।

ऋग्वेदकालीन शिल्प—शिल्प के लिए ऋग्वेद मे कारु शब्द आता है[1]। बढ़ई (तक्षा ९।११२।१) शिल्पियो का अगुआ था, यह युद्ध या सवारी के लिए रथ, माल ढोने के लिए छकडे (अनस् ३।३३।९) बनाता था, जिनकी छत को छदिस् कहते थे (१०। ८५।१०)। वह परशु (१।१०५।१८) और वसूले (वाली) से काम करता था। धातु का काम करनेवाले कर्मार कहलाते थे (१०।७२।२), जो धातु को आग में गलाते थे (अश्मत १०।७२।२)। ये चिडियो के पखो की धोकनी (पर्णेभि. शकुनानाम्) और सूखी लकडियो से धातु को गलाकर उसका बर्तन बनाते थे (अयस्मय घर्म ५।३०।१५)। लोहे को पीटकर भी बर्तन बनाये जाते थे (अयोहत ९।१।२)। सुनार (हिरण्यकार) सोने के आभूषण गढता था (१।१२२।२)। सोना सिन्धु जैसी नदी से जिसे 'हिरण्यवर्त्तिनी' कहा गया है (६।६१।७) और भूमि से (निखात रुक्मम्–१।११७।५) प्राप्त किया जाता था। जल से सोना प्राप्त किया जाता था—इसलिए इसका नाम कलधौत है, अथवा आजकल जैसे न्यारिये कूडे में से सोना-चाँदी निकालने के लिए बहते पानी मे कचरे को धोकर सोना निकालते हैं—इस प्रकार रेती को धोकर सोना प्राप्त किया जाता था। एक मत्र में (९।११२।३) ऋषि ने अपने पिता को भिषक् और अपनी माँ को चक्की पीसनेवाली (उपलप्रक्षिणी) कहा है।

ऋग्वेद काल में जीविका, विनोद और जगली जानवरो से पशुओ की तथा कृषि की रक्षा के लिए मृगया की जाती थी। इसके साधन बाण (इषु २।४२।२) और जाल (अथर्व १०।१।३०) थे। ऋग्वेद कालीन सस्कृति मे युद्ध और मृगया का वर्णन अधिक मिलता है। इन दोनो के लिए तथा अन्य शारीरिक रोगो की चिकित्सा के लिए भिषक् का धधा उस समय होता था। आर्यों और अनार्यों का युद्ध वैदिक सभ्यता में बराबर चलता रहा। इस युद्ध से होनेवाले क्षत, व्रण आदि की चिकित्सा के लिए आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक था। इसके सिवा काल या आहार-विहार के कारण उत्पन्न रोगो की चिकित्सा प्राणियो के लिए आवश्यक थी। मनुष्येतर प्राणियो का नियन्त्रण बहुत कुछ प्रकृति से होता है, परन्तु मनुष्य को परमात्मा ने बुद्धि दी है, इसलिए उसे अपने ज्ञान का उपयोग करना होता था।

---

[1] शिल्प शब्द जीविका के साधन या अपरा विद्या—लौकिक ज्ञान के लिए प्रचलित था। तक्षशिला में कई तरह के शिल्प सिखाये जाते थे, इनमें एक आयुर्वेद भी था।

आयुर्वेद की प्राचीनता

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के सयोग का नाम आयु है। नित्य प्रति चलने से, कभी एक क्षण भर के लिए भी न रुकने से इसे आयु कहते हैं। आयु का ज्ञान जिस शिल्प या विद्या से प्राप्त किया जाता है, वह आयुर्वेद है। यह आयुर्वेद मनुष्यो की भाँति वृक्ष, पशु-पक्षी आदि के साथ सम्बन्धित है, इसलिए इनके विषय में भी सहिताएँ बनायी गयी।[1] ज्ञान का प्रारम्भ सृष्टि से पूर्व हुआ, ऐसा भी माननेवाले विद्वान् है। उनके विचार से आयुर्वेद पहले उत्पन्न हुआ और उसके बाद प्रजा उत्पन्न हुई[2]। आयु के लिए क्या उपयोगी है, क्या अनुपयोगी, यह जानना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार आयु सम्बन्धी ज्ञान शाश्वत है। केवल इसका बोध और उपदेश मात्र ही ग्रन्थो में कहा गया है।[3] जिस प्रकार शिशु के उत्पन्न होने से पूर्व माता के स्तनों में दूध आ जाता है, उसी प्रकार मनुष्य या सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व परमात्मा ने जीविका के साधन बनाये थे, इन साधनो में आयुर्वेद भी था। इसी लिए यह प्राचीन एव शाश्वत हैं।

वेदो के साथ आयुर्वेद का सम्बन्ध—वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है (विद् ज्ञाने)। यह ज्ञान ऋग्वेद में आध्यात्मिक देवता सम्बन्धी है। ऋग्वेद की रचना पद्यात्मक

---

१. हस्ती, अश्व, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता आदि के लिए भी आयुर्वेद बना था, यथा—हाथियों के लिए पालकाप्य, घोड़ों के लिए शालिहोत्र। अग्निपुराण के अनुसार सुश्रुत के प्रति धन्वन्तरि ने मनुष्य, अश्व, गौ, गज, वृक्ष के लिए भी आयुर्वेद कहा था।

(क) 'अत्रान्तरे राजा सविषादः शालिहोत्रज्ञान्वैद्यानाहूय प्रोवाच—भोः प्रोच्यतामेषामश्वानां कश्चिद् दाहोपशमनोपायः। तेऽपि शास्त्राणि विलोक्य प्रोचुः—देव प्रोक्तमत्र विषये भगवता शालिहोत्रेण यत्—'कपीना मेदसा दोषो वह्निदाह-समुद्भवः। अश्वाना नाशमभ्येति तमः सूर्योदये यथा॥'—(पंचतत्र ५।७५)

(ख) 'शालिहोत्रः सुश्रुताय हयायुर्वेदमुक्तवान्।
पालकाप्योऽङ्गराजाय गजायुर्वेदमब्रवीत्॥' (अग्नि. २९२)

२. 'अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्।'—सुश्रुत. सूत्र. १; 'आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् ततो विश्वानि भूतानि।'—(काश्यपसंहिता)

३. 'नह्यायुर्वेदस्य भूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्। एतद्द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके। सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावससिद्धलक्षणत्वाद् भावस्वभावनित्यत्वाच्च।'—(चरक. सू. अ. ३०।२७)

है। यजुर्वेद मे कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान है, इसकी रचना गद्यमय है। साम का सम्बन्ध गायन-उपासना से है, इसकी रचना गीत्यात्मक है । इन तीनो को त्रयी कहते है। अथर्ववेद का, जो कि ज्ञान से परिपूर्ण होने के कारण इनकी श्रेणी मे आता है, सम्बन्ध मानव जीवन के साथ अधिक है। इसमें ज्ञान, कर्म, उपासना तीनो का समावेश है । इसी लिए आयुर्वेद को इसका उपाग माना गया है। कुछ आचार्यो ने ऋग्वेद का उपाग आयुर्वेद को माना है, परन्तु आयुर्वेद के आचार्यो ने अथर्ववेद का ही उपाग इसे स्वीकार किया है[1] । उपाग का अर्थ निकटवर्ती मुख्य भाग है। आयुर्वेद का अथर्ववेद के साथ अतिशय निकटतम सम्बन्ध है।

आयुर्वेद शब्द का अर्थ—आयु का पर्याय चेतना, अनुबन्ध, जीवितानुबन्ध, धारी है (चरक० सू० अ० ३०।२२) । यह आयु शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन चार का सयोग है। आयु का सम्बन्ध केवल शरीर से नही है और इसका ज्ञान भी आयुर्वेद नही है। चारो का ज्ञान ही आयुर्वेद है। इसी दृष्टि से आत्मा और मन सम्बन्धी ज्ञान भी प्राचीन मत मे आयुर्वेद ही है[2] । शरीर आत्मा का भोगायतन, पच महाभूत-विकारात्मक है, इन्द्रियाँ भोग का साधन है, मन अन्त करण है आत्मा मोक्ष या ज्ञान प्राप्त करनेवाला, इन चारो का अदृष्ट-कर्मवश से जो सयोग होता है, वही आयु है। इसके लिए हित-अहित, सुख-दु ख का ज्ञान तथा आयु का मान जहाँ कही हो, उसे आयुर्वेद कहते है। वेदो मे भी इन्ही बातो का ज्ञान है, इसलिए काश्यप का यह कहना कि जिस प्रकार से हाथ मे चार अँगुली और पाँचवाँ अँगूठा है, वह एक ही हाथ में रहता हुआ भी नाम और रूप से भिन्न है और सब अँगुलियो पर शासन करता है, उसी प्रकार चारो वेदो के साथ रहता हुआ भी पाचवाँ आयुर्वेद इन सबमे मुख्य है। इसी से कालिदास ने कहा है—'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।' धर्म का मुख्य साधन शरीर है[3] ।

---

१. 'चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामथर्ववेदे भक्तिरादेश्या।' (च. सू. अ. ३०), 'इह खलु आयुर्वेदमष्टाङ्गमथर्ववेदस्य।'—(सुश्रुत सू. अ. १), 'अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः।' 'ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेद·।' (काश्यप)

२. 'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।'–(सुश्रुत. सूत्र. अ. १)

३. 'हिताहित सुखं दु खमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मान च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद. स उच्यते॥'–(चरक) सू. अ. १।४१.

'तस्मादथर्ववेदं श्रयति। सर्वान्‌ वेदानित्येके, पद्यगद्यकथ्यगेयविद्याश्रयादिति।

वैदिक साहित्य

ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार वेद है। इनके चार उपाग है, यथा धनुर्वेद, गान्धर्व वेद, स्थापत्य वेद और आयुर्वेद। वेदो का विभाग होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा के रूप मे किया गया है। ब्रह्मा का काम यज्ञ कार्य का निरीक्षण है, जिससे यज्ञानुष्ठान मे कोई त्रुटि न हो, उसे शेष तीनो के कार्य का ज्ञान होना आवश्यक है। विघ्न होने पर वह मगलकारी मन्त्रो से उसे दूर करता है, इसके लिए उपयोगी मन्त्र अथर्ववेद में है। इसी से अथर्व का सम्बन्ध आयुर्वेद से है। मन्त्रो को सहिता-भाग कहा जाता है। वेदो की व्याख्यावाले भाग को ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण के तीन भाग हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। प्रत्येक वेद की अपनी अपनी शाखाएँ है—अपने-अपने ब्राह्मण, अपने-अपने आरण्यक और अपनी-अपनी उपनिषदे। आरण्यक अरण्य मे रहकर (वानप्रस्थाश्रम मे पढे जाते थे), उपनिषद्—गुरु के समीप बैठकर पढ़ी जाती थी ('समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुमेवाभिगच्छेत्')।

ऋग्वेद सहिता—इसका विभाग अष्टक, अध्याय, सूक्त; एव मडल, अनुवाक, सूक्त—इन दो रूपो मे है। इसमें १० मडल और १०२८ सूक्त तथा कुल मन्त्र ११००० है। शाखाएँ पाँच हैं—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, साखायन और माण्डूकायन ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—ऐतरेय तथा कौषीतकी इन्ही नामो के दो-दो है।

यजुर्वेद सहिता—इसके दो भाग है, [illegible] यजुर्वेद। इस विभाग का कारण वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य ऋषि का झगडा है। वैशम्पायन का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है, याज्ञवल्क्य का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। वैशम्पायन के अन्तेवासियो को चरक कहा जाता है। शुक्ल यजुर्वेद मे केवल मन्त्र सगृहीत है, कृष्ण यजुर्वेद मे मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोग है। यजुर्वेद मे ४० अध्याय है। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ है—काण्व और माध्यन्दिन, ब्राह्मण शतपथ है, आरण्यक भी शतपथ

न चैतदेवम् आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः। तद्यथा—दक्षिणे पाणौ चतसृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठ आधिपत्यं कुरुते न च नाम ताभिः सह समता गच्छति, एकस्मिश्च पाणौ भवति। एवमेवायमृग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेदः। यथा हि वेदेषु सततं ब्रह्मज्ञैस्त्रिवर्गसंयुक्त पुरुषनिश्रेयस चिन्त्यते, एवमेवास्मिन्नपि वेदे निदानोत्पत्तिलिङ्गारिष्टचिकित्सितैः सततमेव हितसुखकरं त्रिवर्गसारभूतं पुरुषनिश्रेयसं चिन्त्यते।'—(काश्यप) विमान।

अकेला है। उपनिषद् ईशोपनिषद और बृहदारण्यक है। कृष्ण यजुर्वेद की चार सहिताएँ है—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कपिष्ठल। इन्ही चार संहिताओं के नाम से चार शाखाएँ भी है। आरण्यक तैत्तिरीय नाम का अकेला है। उपनिषद्—तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठोपनिषद् है।

सामवेद सहिता—सामवेद की ऋचाएँ छन्द, छन्दसी या छदसिका कहलाती हैं। केवल ७५ ऋचाएँ स्वतन्त्र है, शेष सब ऋग्वेद से ली गयी है। शाखाएँ तीन है—कौथुमी, जैमिनीय और राणायनीय। ब्राह्मण चार है—ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान और जैमिनीय। आरण्यक—छान्दोग्य और जैमिनीय तथा उपनिषद्—छान्दोग्य, केन और जैमिनीय हैं।

अथर्ववेद संहिता—इसमें बीस काण्ड है जो प्रपाठक, अनुवाक और सूक्तो मे बँटे हुए है। शाखाएँ—शौनक और पिप्पलाद हैं। ब्राह्मण गोपथ है, उपनिषद् मुण्डक और माण्डूक्य हैं।

प्रत्येक वेद के साथ उसके सूत्र ग्रन्थ भी होते है। सूत्र ग्रन्थो का विशेष सम्बन्ध ब्राह्मणो से है। ब्राह्मण भाग बहुत विस्तृत होने से कण्ठ रखना सम्भव नही था, इसलिए इसे सूत्र रूप मे सगृहीत किया गया—जिससे स्मरण रह सके। सूत्रो के आगे स्मृति हैं, इसी से कालिदास ने कहा 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छन्'। वेदो से चला ज्ञान का प्रवाह भिन्न-भिन्न रूपो मे बहता हुआ स्मृति के रूप मे आकर समाप्त हुआ है। इस प्रवाह मे जो भिन्न-भिन्न ज्ञान भिन्न-भिन्न धारारूपो मे अलग निकले उनमें एक आयुर्वेद ज्ञान भी है। इस प्रकार से यह वैदिक साहित्य बहुत विस्तृत है, इस विस्तृत साहित्य में आयुर्वेद के वचन सब स्थानों मे थोडे या बहुत रूप मे मिलते है। वेदो में जितने विस्तार से मिलते है उतने अन्य साहित्य में नही, क्योकि यह धारा पीछे स्वतन्त्र रूप में बहने लगी थी[1]।

---

१. अश्विनौ के सोमपान के विषय में एक उपाख्यान हैं; पहले अश्विनौ को अन्य देवताओ की भाँति सोमपान का अधिकार नहीं था। पीछे से च्यवन ऋषि को युवत्व प्रदान करने पर च्यवन ने अपने श्वसुर से यज्ञ करवाकर इनको उस यज्ञ में सोमपान का अधिकार दिलाया था। इसी प्रसंग में इन्द्र के विरोध करने पर च्यवन ऋषि के शाप से इन्द्र को भुजस्तम्भ हो गया था, इसको अश्विनौ ने ही ठीक किया था—

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ। वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्या मेव चिकित्सतः॥

वेदों में आयुर्वेद—वेदो के मन्त्रो मे देवतावाद है। प्रत्येक सूक्त का कोई देवता होता है। जिस सूक्त में जिस देवता की प्रार्थना हो वह उसका देवता होता है। इस प्रकार से अग्नि, अप् आदि देवताओ के समान रुद्र, इन्द्र आदि देवता है, उनके ही साथ अश्विनौ भी देवता है। अश्विनौ का मुख्य सम्बन्ध चिकित्सा के साथ है। अश्विनौ ने वैदिक देवताओ की चिकित्सा की थी। (चरक चि. १।४।४४)

अश्विनौ—वेदो मे इन्द्र, अग्नि और सोम देवता के बाद अश्विनौ की गणना है। देवताओ मे ये ही युगल है, सदा द्विवचन मे प्रयुक्त होते है। देवताओ के लिए प्रकाश, आनन्द तथा अन्य सुख की सामग्री देते है। ये जुडवाँ भाई है, सदा युवा रहते है और प्राचीन है। सुनहरी चमक, सौन्दर्य और कमल की मालाओ से भूषित रहते है।

ये स्वर्ग के वैद्य है। नवीन आँखें, नवीन अंग प्रदान करते है। बीमारियो को दूर करते है और देवताओ को युवत्व प्रदान करते है[१]। भुज्यु नामक राजा को इन्होने समुद्र मे डूबने से बचाया था। यास्क ने 'अश्विनौ' शब्द के कई अर्थ दिये है। जब कुछ अन्धेरा और थोडा प्रकाश होता है (छिटपुट प्रकाश), उसे भी अश्विनौ कहते है। प्रात काल और सायकाल उ[illegible]ने होने[illegible] तारो को अश्विनौ कहते है। यास्क ने अश्विनीकुमारो को न सुलझनेवाली पहेली लिखा है। ज्योतिषशास्त्र मे अश्विनीकुमार तारो का समुदाय है, जो मनुष्यो के शुभ-अशुभ को देखता है। हठयोग के अनुसार वाम और दक्षिण नासास्वरो को अश्विनीकुमार कहते है। इनका ही दूसरा नाम इड़ा और पिगला है। इनके रथ में कभी-कभी रासभ—गधे भी जुडते है; इस कल्पना से वायु के जोर से चलने पर जो साँ-साँ आवाज होती है, उसके कारण वायु को भी अश्विन् कहते है। अश्विनौ यास्क के कहे अनुसार न सुलझनेवाली समस्या है, परन्तु इनको देवताओ के चिकित्सक रूप मे स्वीकार किया गया है।

अश्विनौ के काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी दोनो प्रकार के कार्य मिलते है। आयुर्वेद के आठ अगो मे ये दोनो अग ही प्रधान है, शेष अग सामयिक हे और इन्ही दोनो अगो पर आश्रित है। इन प्रधान दो अगो के मिश्रित होने से 'अश्विनौ' एक उपाधि थी, जो कि काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा दोनो मे दक्ष व्यक्तियो को प्रदान की जाती थी, अथवा यह एक सज्ञा थी, जो दोनो अगो मे निपुण वैद्य के लिए व्यवहृत होती थी। जिस प्रकार कि घोडो की चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति का 'शालि-होत्र' उपनाम है, इसी प्रकार शल्य-चिकित्सक के लिए धन्वन्तरि भी एक सज्ञा थी (चरक चि अ ४५।४) और कायचिकित्सक के लिए 'चरक' या 'अत्रि' सज्ञा थी।

अश्विनौ मुख्यत देवताओ के चिकित्सक थे। आयुर्वेद परम्परा में अश्विनौ ने प्रजापति से आयुर्वेद सीखा और अश्विनौ से इन्द्र ने सीखा। इन्द्र से भरद्वाज, धन्वन्तरि और काश्यप ने भिन्न-भिन्न अग सीखे। देवताओ मे ब्रह्मा, प्रजापति अथवा इन्द्र किसी ने भी चिकित्सा कर्म नही किया, इसका सम्बन्ध एक मात्र अश्विनौ से है। यद्यपि चरक मे ब्रह्मा से एव इन्द्र से सम्बन्धित योगो का उल्लेख है, परन्तु चिकित्सा कर्म का सम्बन्ध केवल अश्विनौ से ही है, ये ही देवनाओ के चिकित्सक है, इसलिए वेदो मे चिकित्सा सम्बन्धी सूक्तो के देवता अश्विनौ ही माने गये है।

रुद्र—ओषधियो तथा स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा देवता रुद्र वेदो मे वर्णित है। इसके पास हजारो ओषधियाँ है इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए 'जलाष' (Coolıng) और 'जलाष-भेषज' ये दो विशेषण भिन्न-भिन्न अर्थो-वाले वेदमत्रो मे आते है ('क्व स्य ते रुद्र मृलयाकुरहस्तो यो अस्ति भेषजो जलाष.'—ऋग्वेद २।३३।७)। रुद्र को चिकित्सको में श्रेष्ठतम चिकित्सक कहा गया है ('भिषक्तम त्वा भिषजा शृणोमि'—ऋ २।३३।४)। रुद्र से ओषधियो की याचना की गयी है ('स्तुतस्त्व भेषजा रास्यस्मे'—ऋ २।३३।१२)।

चिकित्सा से या भेषज से अश्विनौ और रुद्र का सम्बन्ध होने से इन दोनो को अन्य देवताओ से कुछ कम महत्त्व दिया गया है। वेद में अश्विनौ को देवताओ का चिकित्सक कही नही कहा है। देवताओ के चिकित्सक रूप मे अश्विनौ की कल्पना पुराणो मे सबसे प्रथम आती है। पुराणो मे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन देव-ताओ को सृष्टि के कर्त्ता, पालक और सहारक रूप मे निरूपण किया गया है। सम्भवत. सत्त्व, रज और तम इन शक्तियो को स्पष्ट करने के लिए यह कल्पना है।[1] वेदो में ब्रह्मा, विष्णु, शिव का नाम इस रूप मे नही आता, उनका सृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नही मिलता। ऋग्वेद में अश्विनौ को दीर्घ हाथवाले और नित्य युवा कहा गया है ('इमा ब्रह्मणि युवयूत्यग्मन्'—ऋ ७।७१।६)। द्विवचनान्त देखकर निरुक्त मे इनको

---

१. कादम्बरी का मंगलाचरण बाण ने इसी रूप में किया है—

'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजाना प्रलये तमःस्पृशे।

अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥'

भगवद्गीता में इन्हीं त्रिगुणों का विवेचन है—'सत्त्वं, रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-सभवाः।' (१४।५)

द्यावा-पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र, रात्रि-दिवस माना है।[1] वेदो मे भिषक् या भिषक्तम शब्द रुद्र के लिए ही आया है। इस प्रकार रुद्र की स्थिति वेदो मे अश्विनौ के साथ मिलती है। दोनो को यज्ञ भाग के लिए अयोग्य माना गया है। दक्ष प्रजापति ने यज्ञ मे रुद्र को नही बुलाया था, इसलिए रुद्र ने दक्ष का यज्ञ नष्ट कर दिया। इसी यज्ञ विध्वस से ज्वर अर्थात् रोगो की उत्पत्ति हुई है (अतिसार रोग की उत्पत्ति भी चरकसहिता मे यज्ञ में पशुवध से कही गयी है)।

वेदो मे अश्विनौ और रुद्र देवता के सिवा अग्नि, वरुण, इन्द्र, अप् तथा मरुत् को भी भिषक् शब्द से कहा गया है।[2] परन्तु मुख्य रूप से इस शब्द का सम्बन्ध रुद्र और अश्विनौ के साथ है। पुराणो मे रुद्र को शकर (श-कर—कल्याणकारक) नाम देकर उसके साथ सृष्टिसहार का काम जोड दिया गया और अश्विनौ को देवताओ का चिकित्सक वर्णित करके चिकित्सा का सबध उनके साथ जोडा गया।[3] पुराणो के देवता, उनका रूप तथा कार्य वेदो में वर्णित देवताओ से पृथक् है। वेदो मे अश्विनौ को चिकित्सा विषयक क्षेत्रो का देवता कहा गया है, इसी के आधार पर पुराणो ने आयुर्वेद का सम्बन्ध इनसे जोडा है। पुराणो मे काशीपति, दिवोदास, धन्वन्तरि भिन्न-भिन्न व्यक्ति माने गये है, परन्तु उपलब्ध सुश्रुतसहिता मे ये नाम एक ही व्यक्ति को सूचित करते है।[4] इसलिए आयुर्वेद के विषय मे पुराणो की परम्परा वेदो से भिन्न है। वेदो के देवता भी पुराणो से पृथक् है।

---

१. 'तत्र कौ अश्विनौ; द्यावापृथिवी इत्येके, अहोरात्रौ इत्येके, सूर्यचन्द्रमसौ इत्येके, राजानौ पुण्यकृतौ इत्यैतिहासिकाः।' (निरुक्त. १२।१)

२. रुद्र के लिए 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' शब्द यजुर्वेद में आता है। अथर्व ५।२९१, यजुर्वेद २१।४, २१।१५, २८।९, ऋग्वेद २।३३।१३ में भी मिलता है।

३. 'धियात्मनस्तावदसाधु नाचरेज् जनस्तु यद् वेद स तद् वदिष्यति।
जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं जगत्क्षये जीव्यशिवं शिव वदन्॥'

मनुष्यों की रक्षा करनेवाले विष्णु को जनार्दन, मनुष्यो को पीड़ित करनेवाले और मनुष्यों का नाश करनेवाले महादेव को शिव—कल्याणकारी कहा जाता है!

४. 'अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थ काशिराजं दिवोदास धन्वन्तरिमौपधेनव-वैतरणौरभ्र-पौष्कलावतकरवीर्य-गोपुरक्षित-सुश्रुतप्रभृतय ऊचुः॥'
—(सुश्रुत. १।३)

ऋग्वेद में आयुर्वेद—चिकित्सा का सम्बन्ध यद्यपि अथर्ववेद से अधिक है तथापि अन्य वेदो मे भी इस विषय के मन्त्र है। ऋग्वेद सबसे प्रथम माना जाता है, इसलिए इसमें आयु से सम्बन्धित मन्त्रो का होना स्वाभाविक है। इन मन्त्रो में सामान्यत प्राकृतिक वस्तुओ से स्वास्थ्य की प्राप्ति का निर्देश है, जैसे आप-जल, ओषधियो आदि। ओषधियो में वनस्पति का ही उल्लेख है, और वह भी पृथक्-पृथक् रूप में। दो या अधिक वनस्पतियो का मिश्रण नही मिलता। इससे स्पष्ट है कि यह ज्ञान प्रारम्भिक था, क्योकि उपलब्ध आयुर्वेद सहिताओ में ओषधियो का उपयोग एक ही द्रव्य के उपयोग की अपेक्षा मिश्रण रूप में अधिक मिलता है।

ऋग्वेद मे आयुर्वेद के आचार्यो का उल्लेख है। ये नाम वैयक्तिक रूप मे है अथवा इनका अन्य अर्थ है; यह निश्चय करना सरल नही। वेदो मे कुछ विद्वान् इतिहास मानते है और अन्य विद्वान् इन शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ करते है।[1] आयुर्वेद के ऐसे आचार्य मुख्यत दिवोदास और भरद्वाज है। इनसे शल्य और काय-चिकित्सा का प्रचार पृथ्वी पर हुआ है। इन्होने उसे इन्द्र से सीखा, इन्द्र ने अश्विनौ से सीखा था। इसलिए दिवोदास, भरद्वाज और अश्विनौ—इन तीन का नाम ही मन्त्रो में आता है। (१।८।११)। ऋग्वेद मे जिस प्रकार विश्वामित्र, च्यवन, इन्द्र आदि का नाम आता है और जिस प्रकार से सुदास नामक राजा के विरुद्ध भद्र, द्रुह्यु, तुर्वसु आदि दस राजा लडते है, उसी प्रकार के ये नाम भी है। बाद में इनका सम्बन्ध आयुर्वेद के आचार्यो से जुड गया है। लोहे की टाग का उल्लेख ऋग्वेद में है, युद्ध मे पुरोहित सदा साथ में रहता था, इसका कार्य अपने स्वामी की मंगल कामना करना होता था। कोई भी विघ्न आने पर वह प्रार्थना से अपने यजमान की रक्षा करता था। एक मन्त्र मे पुरोहित अपने स्वामी की पत्नी की टाँग कट जाने पर लोहे की टाँग के लिए अश्विनौ से प्रार्थना करता है। वह पक्षो के समान हलकी टाँग चलने के लिए मागता है—

> 'चरित्र हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
> सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धनेहि ते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्॥' (ऋ. १।११६।१५)

---

१ पाश्चात्य विद्वान् वेदों को पौरुषेय मानकर इन नामो से इनमें इतिहास-भूगोल मानते हैं; परन्तु स्वामी दयानन्दजी तथा अन्य भारतीय विद्वान् वेदों को अपौरुषेय मानते है और इनका आध्यात्मिक अर्थ करते है।

पुरोहित अगस्त्य खेल नामक राजा की पत्नी विस्पला के लिए धातु—लोह की टाँग के लिए अश्विनौ से प्रार्थना करता है कि 'वस्पला की टाँग युद्ध मे कट गयी है, इसलिए तुम जल्दी आकर रात्रि मे ही पक्षी के पर के समान हलकी टाँग चलने के लिए लगा दो।

आँखों का दान—ऋजाश्व को उसके पिता वृषगिर ने शाप से अन्धा बना दिया था, क्योकि उसने वृक के लिए एक सौ भेडो को दिया था। इस ऋजाश्व को अश्विनौ ने पुन आँखे प्रदान की थी, क्योकि अश्विनौ ही वृक रूप मे थे। (ऋ १।११६।१६)

च्यवन ऋषि को पुनः युवा करना—इसका उल्लेख ऋग्वेद मे है। च्यवन ऋषि के सम्बन्ध मे पुराणो मे उपाख्यान मिलता है, परन्तु वेद मे इस उपाख्यान का कोई उल्लेख नही। (ऋ ७।७१।५)

दिव्य वैद्य—वेद मे वैद्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है—(१) सम्पूर्ण ओषधियो को अपने पास ठीक रखनेवाला, (२) विशेष प्रबुद्ध—अपने शास्त्र का पूर्ण, सागोपाग ज्ञाता, (३) युक्ति और योजना को जाननेवाला (भिसज्यति), (४) राक्षसो का नाश करने मे समर्थ; और (५) रोगो को जड़ से उखाड़ सके (चातन); ये पाँच लक्षण निम्न मत्र मे कहे गये है।

'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः॥'

जिस प्रकार से राजा लोग अथवा क्षत्रिय सभा मे एकत्र होते है, उस प्रकार से जहाँ ओषधियाँ इकट्ठी होती है, उस विशेष मनुष्य को वैद्य कहते है, वही राक्षसो का हनन करनेवाला और रोग दूर करनेवाला कहा जाता है।[1]

राक्षसो के लिए वेद मे रक्ष, असुर, यातुधान आदि शब्द आते है। सुश्रुत

---

१ तुलना कीजिए, निम्न श्लोको से—
'श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्॥' (चरक. सू. अ. ९।६)
'तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयकृतिः।
लघुहस्त' शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते॥' (सुश्रुत. सू. अ. २४।१०-२०)

में इनके लिए निशाचर, रक्ष आदि शब्द आते है ('निशाचरेभ्यो रक्षस्तु नित्यमव क्षतातुरः ।' रक्षाकर्म—'वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत् ।' महावीर्याणि रक्षासि पशुपति-कुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति ।'—सुश्रुत सू १९।२३) । कृमि और राक्षस दोनो की प्रकृति मे बहुत साम्य है—(१) दोनो ही अन्धकार या रात्रि मे आक्रमण करते है और प्रकाश को पसन्द नही करते, (२) सूर्य के प्रकाश से भागते है, (३) धूम-यज्ञ विधान से डरते है, (४) दोनो को मास और रक्त प्रिय है, उन्ही के लिए आक्रमण करते है, (५) दोनो मायावी है—नाना रूप बदलते है, (६) दोनो ही आँखो से अदृश्य है । इस प्रकृति-साम्य से कृमियो को 'राक्षस' शब्द से कहा गया है । इनसे बचने के लिए भी आदेश है—

शिष्य को चाहिए कि सदा नख और बाल कटवाकर रहे, पवित्र साफ-सुथरा रहे, श्वेत वस्त्र धारण करे, मन से शान्त तथा कल्याण के विचार करे, देवता, ब्राह्मण, गुरुओ का सत्सग करे—उनसे उपदेश लेता रहे, (सुश्रुत) व्रणरोगी को राक्षसो से बचाने के लिए श्वेत सरसो, नीम के पत्ते, घी और सैधव के साथ नित्य प्रति प्रात और सायकाल अग्नि में हवन—धूपदान करना चाहिए । इस विधि को प्रारम्भ से ही करने पर राक्षस-कृमि वहाँ नही आने पाते, जिस प्रकार कि सिह से आक्रात वन में छोटे पशु नही आते (सुश्रुत सू अ २०।२८) । 'सर्वेऽपि च प्रायेणाहारकामा निशार्धविचारिणो भयानका मासासृग्वसाशिन ।' (सग्रह, उत्तर अ ७) यह वचन भूतो के लिए कहा है; ये भूत कृमि ही है ।

'ऋग्यजु सामाथर्ववेदाभिहितै परैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याया भिषजश्च सन्ध्यो रक्षा कुर्यु ।' (सुश्रुत सू २०।२७) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मे कहे तथा अन्य आशीर्वादो—कल्याणकारी वचनो—उपायो से उपाध्याय, पुरोहित और वैद्य सन्ध्याकाल में रक्षा करें । इस रीति वेद में राक्षस या इस प्रकार के अन्य शब्द आयुर्वेद से सम्बन्धित कृमियो के लिए ही है ।

कृमि या राक्षस सजीव प्राणधारी सूक्ष्म जीव है जो आँख से नही दिखायी देते, इनके लिए शतपथ मे कहा है—

'वह चर्म को झटक देता है और कहता है कि राक्षसो का नाश हो गया, असुरो का शत्रुओ का नाश हुआ । इस प्रकार विनाशक राक्षसो का सहार होता है ।' (शत. ब्रा १।१।४) ।[1]

---

१. '[illegible] प्रथमो दैव्यो भिषक् । अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च

ओषधि चिकित्सा—वनस्पति या ओषधियो के उपयोग से रोग दूर होते है—ओषधि का अर्थ ही वेदना को दूर करनेवाली वस्तु है ('ओष रुज धयति इति ओषधि'), ओष नाम रस का भी है, वह रस जिसमे रहता है वह ओषधि है ('ओषो नाम रस सोऽस्या धीयते इति ओषधि.')। वेद मे ओषधि के लिए माता शब्द आता है (ओषधी रीति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे।' ऋग्वेद १०।९७।४) ओषधियो के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त है, जिसमे से कुछ अश यहाँ दिया जाता है।

'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रुणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ (ऋ. १०।९७।१)'

जो ओषधि या वनस्पति और देवो से तीन युग पहले उत्पन्न हुई थी, उन भरण-पोषण करनेवाली ओषधियो के सौ और सात स्थान या जातियाँ है, ऐसा मै जानता हूँ।

भू-मण्डल पर प्रथम वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई थी। इसके पीछे तीन युग व्यतीत होने पर (जल-जन्तुयुग, सर्पयुग, पशुयुग) मनुष्ययुग उत्पन्न हुआ। इन ओषधियो के एक सौ अथवा सात सौ या सौ और सात वर्ग है। (चरक मे पाँच सौ ओषधियो का उल्लेख है।)

'ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्व गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥' (ऋ १०।९०।४)

ओषधियाँ सच्ची माताएँ है, देवियाँ—हित करनेवाली माताएँ है; देव की शक्ति धारण करनेवाली देवियाँ है (इसी से चरक मे दिव्य ओषधियाँ पृथक् वर्णित है—"अय च शिव कालो रसायनाना दिव्याश्चौषधयो हिमवत्प्रभवा प्राप्तवीर्या, तद्यथा—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या .. पयसा प्रयुक्ता षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्व स्वरवर्णसपदमुपचय मेधा [illegible] भावाना-वहन्ति सिद्धा"—सू० अ० १।४।६)।

'ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्त राजन् पारयामसि ॥' (ऋ. १०।१९।२२)

यातुधान्यो धराचीः परासुव ॥' (वा. य. १६।५) इसमें वैद्य का लक्षण कहा गया है—रोग बीजो का नाश करनेवाला, राक्षसो का संहार करनेवाला, योग्य मार्ग का उपदेश करनेवाला, बचानेवाला वैद्य होता है। यह मत्र रुद्रसूक्त में है, इस लिए रुद्र को 'दिव्यवैद्य' कहा है। यातुधान शब्द राक्षसो के लिए है।

में इनके लिए निशाचर, रक्ष आदि शब्द आते है ('निशाचरेभ्यो रक्षस्तु नित्यमव क्षतातुर. ।' रक्षाकर्म—'वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत् ।' महावीर्याणि रक्षासि पशुपति-कुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति ।'—सुश्रुत सू १९।२३)। कृमि और राक्षस दोनो की प्रकृति मे बहुत साम्य है—(१) दोनो ही अन्धकार या रात्रि मे आक्रमण करते है और प्रकाश को पसन्द नही करते, (२) सूर्य के प्रकाश से भागते है, (३) धूम-यज्ञ विधान से डरते है, (४) दोनो को मास और रक्त प्रिय है, उन्ही के लिए आक्रमण करते है, (५) दोनो मायावी है—नाना रूप बदलते हैं, (६) दोनो ही आँखो से अदृश्य है। इस प्रकृति-साम्य से कृमियो को 'राक्षस' शब्द से कहा गया है। इनसे बचने के लिए भी आदेश है—

शिष्य को चाहिए कि सदा नख और बाल कटवाकर रहे, पवित्र साफ-सुथरा रहे, श्वेत वस्त्र धारण करे, मन से शान्त तथा कल्याण के विचार करे, देवता, ब्राह्मण, गुरुओ का सत्सग करे—उनसे उपदेश लेता रहे, (सुश्रुत) व्रणरोगी को राक्षसो से बचाने के लिए श्वेत सरसो, नीम के पत्ते, घी और सैधव के साथ नित्य प्रति प्रात और सायकाल अग्नि में हवन—धूपदान करना चाहिए। इस विधि को प्रारम्भ से ही करने पर राक्षस-कृमि वहाँ नही आने पाते, जिस प्रकार कि सिह से आक्रात वन मे छोटे पशु नही आते (सुश्रुत सू अ २०।२८)। 'सर्वेऽपि च प्रायेणाहारकामा निशार्धविचारिणो भयानका मासासृग्वसाशिन ।' (सग्रह, उत्तर अ ७) यह वचन भूतो के लिए कहा है; ये भूत कृमि ही है।

'ऋग्यजु सामाथर्ववेदाभिहितै परैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याया भिषजश्च सन्ध्यो रक्षा कुर्यु ।' (सुश्रुत सू २०।२७) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में कहे तथा अन्य आशीर्वादो—कल्याणकारी वचनो—उपायो से उपाध्याय, पुरोहित और वैद्य सन्ध्याकाल मे रक्षा करे। इस रीति वेद में राक्षस या इस प्रकार के अन्य शब्द आयुर्वेद से सम्बन्धित कृमियो के लिए ही है।

कृमि या राक्षस सजीव प्राणधारी सूक्ष्म जीव है जो आँख से नही दिखायी देते, इनके लिए शतपथ मे कहा है—

'वह चर्म को झटक देता है और कहता है कि राक्षसो का नाश हो गया, असुरो का शत्रुओ का नाश हुआ। इस प्रकार विनाशक राक्षसो का सहार होता है।' (शत. ब्रा. १।१।४)।[1]

---

१. 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च

ओषधि चिकित्सा—वनस्पति या ओषधियो के उपयोग से रोग दूर होते है—ओषधि का अर्थ ही वेदना को दूर करनेवाली वस्तु है (ओष रुज धयति इति ओषधि'), ओष नाम रस का भी है, वह रस जिसमें रहता है वह ओषधि है ('ओषो नाम रस सोऽस्या धीयते इति ओषधि') । वेद मे ओषधि के लिए माता शब्द आता है (ओषधी रीति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे ।' ऋग्वेद १०।९७।४) ओषधियो के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त है, जिसमे से कुछ अश यहाँ दिया जाता है।

'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा।
मनै नु बभ्रुणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ (ऋ. १०।९७।१)'

जो ओषधि या वनस्पति और देवो से तीन युग पहले उत्पन्न हुई थी, उन भरण-पोषण करनेवाली ओषधियो के सौ और सात स्थान या जातियाँ है; ऐसा मै जानता हूँ।

भू-मण्डल पर प्रथम वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई थी । इसके पीछे तीन युग व्यतीत होने पर (जल-जन्तुयुग, सर्पयुग, पशुयुग) मनुष्ययुग उत्पन्न हुआ । इन ओषधियों के एक सौ अथवा सात सौ या सौ और सात वर्ग है । (चरक मे पाँच सौ ओषधियो का उल्लेख है ।)

'ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे ।
सनेयमश्वं गां वास आत्मान तव पूरुष ॥' (ऋ १०।९०।४)

ओषधियाँ माताएँ है, देवियाँ—हित करनेवाली माताएँ है, देव की शक्ति धारण करनेवाली देवियाँ है (इसी से चरक में दिव्य ओषधियाँ पृथक् वर्णित है—"अय च शिव कालो रसायनाना दिव्याश्चौषधयो हिमवत्प्रभवा प्राप्तवीर्या, तद्यथा–ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या ..पयसा प्रयुक्ता षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्व स्वरवर्णसम्पत्तिम् मेधा स्मृतिमुत्तमबलमिष्टाँश्चापरान् भावाना-वहन्ति सिद्धा"—सू० अ० १।४।६) ।

'ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥' (ऋ १०।९१।२२)

यातुधान्यो धराचीः परासुव ॥' (वा. य. १६।५) इसमें वैद्य का लक्षण कहा गया है—रोग बीजो का नाश करनेवाला, राक्षसो का संहार करनेवाला, योग्य मार्ग का उपदेश करनेवाला, बचानेवाला वैद्य होता है। यह मत्र रुद्रसूक्त में है ; इस लिए रुद्र को 'दिव्यवैद्य' कहा है । यातुधान शब्द राक्षसों के लिए है ।

ओषधियाँ सोम राजा से कहती है कि हे राजन् ! जिस रोगी के लिए ब्रह्म का ज्ञान धारण करनेवाला वैद्य हमारी योजना करता है, उस रोगी को रोग से हम पार कर देती है।

इस मत्र मे वैद्य का मुख्य लक्षण लोभी—अर्थलोभी न होना बताया गया है, उसे सच्चा ब्राह्मण होना चाहिए (ब्राह्मण का अर्थ आत्मज्ञानी है)।

ओषधियो से रोग नाश—वीर्यवती ओषधियो के सेवन से रोग के बीजो का नाश होता है। यथा—

'यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीव गृभो यथा॥' (ऋ. १०।९७।११०)

वाजयन् शब्द वाजीकरण नामक आयुर्वेद के एक अग को सूचित करता है, वाज का अर्थ बल है, घोडा बलवान् होता है, उसे वाजी कहते है, शक्ति के माप की इकाई को भी "हौर्स पावर" कहते है। "अवाजिन वाजिन कुर्वन्ति अनेन इति वाजीकरणम्। वाजो वेग, वाज शुक्रम्।" ओषधि को बलवती करके सेवन करने से रोग का बीज नष्ट होता है।

हे मरुत् ! जो तुम्हारी रोगनाशक ओषधियाँ निर्मल है, तुम्हारी जो ओषधियाँ अतिशय सुखकारी है और जिन ओषधियो को हमारे पिता मनु ने पहचाना है, उन ओषधियो को—जिनका रुद्र से सम्बन्ध है, जो रोग को शान्त करती है, उनको मै चाहता हूँ। (ऋ. २।३३।१३)

हे अश्विनौ ! दूर देश मे और समीप मे तुम से सम्बन्धित रोग का शमन करनेवाली जो ओषधियाँ है, उनके साथ हमारे घर में आकर प्रकृष्ट ज्ञानवाले तुम विमदवत्स के लिए उन्हें अवश्य दो। (ऋ. ८।९।१५)

रोगों का नाश—भिन्न भिन्न अगो से रोग का निकालना—

'अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां चुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामिते॥' (ऋ. १०।१६४।१)

यक्ष्म-रोग से पीडित व्यक्ति ! तेरी आँखो से, कानो से, चिबुक से, सिर से, मस्तिष्क से और जिह्वा से रोग को पृथक् करता हूँ। यह मत्र अथर्ववेद मे भी है।

'ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्य. कीकसाभ्यो अनूक्याऽत्।
यक्ष्मं दोषण्य मंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते॥' (ऋ. १०।१६४।२)

रोग से पीडित मनुष्य ! तेरी ग्रीवा से, उष्णिहा—धमनियो या नाड़ियो से,

अस्थियो से, अस्थि-सन्धियो से दोष्णो से (?), असो से, बाहुओ से रोग को जड से निकालता हूँ।

'अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्म त्वचस्य तव य कश्यपस्य विवर्हेण विष्वञ्च विवृहामसि।'
'ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्या पार्ष्णिभ्या प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्म भसद्यं श्रोणिभ्यां भासद भससो विवृहामि ते॥' (अथर्व. २।३३।५)

अथर्ववेद का यह मत्र ऋग्वेद मे भी (१०।१६४।४-६ में) थोड़े परिवर्त्तन के साथ है। इनमें अगो के नाम लिखे है। इन अगो से, लोमो मे से, पर्व-पर्व में से, त्वचा में से रोग को निकालने का उल्लेख है।

जलचिकित्सा—वैदिक मत्रो मे मरुत्, अग्नि, सूर्य, अप् इनको भी देवता माना गया है। इनके द्वारा मनुष्य तथा दूसरे प्राणियो का जीवन चलता है। यास्क ने देवता अन्तरिक्ष स्थान (मध्यस्थान) या पृथ्वी स्थान और द्यु स्थान पर रहनेवाले बताये है। अप् भी इनमें एक देवता है, उससे भी आरोग्य की कामना की गयी है—

'सोम ने मुझसे कहा कि जल के अन्दर सम्पूर्ण औषधियाँ है। जल ही सब ओषधि है, अग्नि सब को आरोग्य रूप देनेवाला है (ऋ १।२३।२०)। पानी मे अमृत है, पानी में औषध है (ऋ १०।१३७।६)।

'जल नि सन्देह औषध है, जल नि संशय रोगो को दूर करनेवाला है, जल सब रोगो की एक ही दवा है, यह जल तुम्हारे लिए औषध है।'

इस मत्र मे स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण रोग एक जल के ही प्रयोग से दूर हो सकते है, आर्यो की सन्ध्या मे (जो कि दिन मे तीन बार, दो बार या एक बार की जाती है) प्रथम मत्र मे जल की स्तुति है—"शनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। श योरभिस्रवन्तु न।"—जल शरीर की शुद्धि करनेवाला है, ओषधियो में भी यही जल सोमरूप मे स्थित है (सोमो भूत्वा रसात्मक—गीता)। जलचिकित्सा का विकास इसका उदाहरण है।

प्रसूति सम्बन्धी ज्ञान—गर्भाशय तथा योनि के रोगो को दूर करने के लिए ऋग्वेद में अग्नि तथा अन्य साधनो का उपयोग बतलाया गया है—

'ब्रह्म-मत्र के साथ एक-मत हुई, राक्षसो का नाश करनेवाली अग्नि इस स्थान से राक्षसो को दूर करे। जो राक्षस रोगरूप होकर तेरे गर्भाशय मे रहते है, उनको मारे, दुर्नाम रोग जो तेरी योनि मे—गर्भाशय मे है उसे नष्ट करे, जो दुर्नाम तेरी योनि

में है उस मासाशी राक्षस को अग्नि सम्पूर्ण रूप से नष्ट करे।[1] हे योषित् ! तेरे गर्भाशय में रेत रूप मे जाकर रहनेवाले गर्भ को जो राक्षस आदि नष्ट करते है; तीन मास के गतिशील गर्भ को जो राक्षस नष्ट करते है, दशम मास में उत्पन्न तेरे शिशु को जो राक्षस नष्ट करते है, उनको इस स्थान से अग्नि नाश कर दे।[2] हे योषित् ! तेरे पादमूलो में जो राक्षस आदि गर्भनाश के लिए चिपके है, पति-पत्नी के बीच मे जो सोते है, जो योनि मे घुसकर प्रविष्ट रेत को चाटते है, उन सबको मै नाश करता हूँ।' (ऋ १०।१६२।१-४)।

इन मंत्रो मे कृमि या सक्रमण के गर्भाशय मे पहुँचने के मार्गों का तथा उनसे गर्भाशय को होनेवाली हानियो का उल्लेख है। इसमे अग्नि का उपयोग कहा गया है। आयुर्वेद में अग्निकर्म का महत्त्व है, क्योकि १—इससे जलाये रोग पुन उत्पन्न नही होते, २—औषध, शस्त्र और क्षार द्वारा असाध्य रोग इससे साध्य होते है, इसलिए अग्निकर्म महत्त्वपूर्ण है (सुश्रुत. सू अ १२।३)। राक्षस-कृमियो को मारने तथा उनके विष सक्रमण को नाश करने का सबसे उत्तम उपाय अग्नि ही है। यही इन मंत्रो में बताया गया है।

सौर-चिकित्सा—सूर्य की किरणो द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, उसे सौर चिकित्सा कहते है। कृमि—जिनके लिए वेद और आयुर्वेद में रक्ष या राक्षस,

---

१. अर्श—'केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुख-[illegible]क्षि वर्त्मानि त्वक् चेति।' 'सर्वेषां [illegible] मेदो मांसं त्वक् च।' (चरक. चि. अ. १४।६)

चिकित्सा—'तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम्।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना।
अस्त्येतद् भूरितंत्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः॥

२ 'चतुर्थे (मासे) सर्वांगप्रत्यंगविभागः प्रव्यक्तो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्ति-भावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति। कस्मात् तत्स्थानत्वात्। तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मासि अभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते।' (सुश्रुत शा. अ. ३।१८)

'तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवममासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमात् मासात्।' (चरक. शा. अ. ४)

निशाचर या यातुधान शब्द आये है, वे सूर्य से नष्ट होते है। इसी से वेद में कहा गया है—'उद्यन्नादित्य क्रमीन् हन्ति'—उदित होता हुआ सूर्य क्रमियो को मारता है। सूर्य के प्रति वेदमत्रो मे प्रार्थना है—

'नः सूर्यस्य सदृशे मा युयोथाः ॥' (ऋक्. २।३३।१)

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥' (ऋक् १।११५।१)

सूर्य के प्रकाश से हमारा कभी वियोग न हो। सूर्य स्थावर-जगम की आत्मा है। उपनिषद् मे सूर्य को प्राण कहा गया है ('आदित्यो ह वै प्राण.'—प्रश्न उप० १।५)। भारत में घरो का द्वार बनाने मे पूर्व या उत्तर दिशा को ही पसन्द किया जाता है, जिससे सूर्य का प्रकाश पूर्णरूप से पहुँच जाय ('प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागार कारयेत्'—चरक सू० अ० १४।४६'; 'प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा सूतिकागार कारयेत्'—चरक शा० अ० ८।३३)।

वायु चिकित्सा—वायु, मातरिश्वा भी देवता है। उपनिषद् मे कहा गया है कि वायु ही प्राण बनकर शरीर मे आकर रहता है ('वायुर्ह वै प्राणो भूत्वा शरीरमाविशत्')। वायु मे अमृत का खजाना है, ऐसा ऋग्वेद मे कहा गया है (१०।१८६)।

'आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥' (ऋक्. १३७।३.)

हे वायु! अपनी दवाई ले आओ और यहाँ से सब दोष दूर करो; क्योंकि तुम ही सब ओषधियो से युक्त हो।

प्राण और अपान इन दोनो वायुओ के लिए वेद मे निर्देश है। प्राण से शरीर में बल भेजने और अपान से शरीर के पाप-रोगो को बाहर निकालने के लिए कहा गया है—

'द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।

दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥' (ऋ. १०।१३७।२)

ये दो वायु—पुरोवात (प्राण) और पश्चाद्वात (अपान) समुद्र से लेकर अथवा समुद्र से भी अधिक दूर से (सिर से लेकर पैर के नख तक सम्पूर्ण शरीर में) चलती है। इनमें एक वायु (प्राण) तुझ स्तोता के अन्दर बल का सचार करे और दूसरा (अपान) वायु शरीर का पाप बाहर करे। गीता मे इन्ही दोनो प्राण, अपान को नियन्त्रित करने को कहा है ('प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। यतेन्द्रियमनोबुद्धिः मुनिर्मोक्षपरायण ॥' 'कोई योगी अपान में प्राण का यज्ञ करता है; दूसरा प्राण में प्राण का यज्ञ करता है—प्राणायाम द्वारा वायु का अवरोध करके प्राण—अपान

को रोकता है' (गीता ४।२९)। मनुस्मृति में कहा गया है कि प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियो के मल उसी प्रकार से नष्ट हो जाते है, जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओ के मल नष्ट होते है।

मानस-चिकित्सा—रोग के दो ही अधिष्ठान है—मन और शरीर। मन के दो दोष है—रज और तम। शरीर में रोग होने से पूर्व मन रुग्ण होता है। कई बार शरीर स्वस्थ दीखता है, परन्तु मन ही अस्वस्थ रहता है, (यथा ज्वर के पूर्वरूप मे—'वैचित्र्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्')। उन्माद, अपस्मार रोगो का सम्बन्ध मन और बुद्धि से ही है (चरक नि अ ७।५)। इसलिए मन को ही मुक्ति तथा बन्धन का कारण माना गया है। इस मन की चिकित्सा का भी उल्लेख वेदो में है—

'दस शाखाएँ जिनकी है ऐसे अपने दोनो हाथो से तुमको स्पर्श करता हूँ। ये मेरे हाथ निरोग करनेवाले है। साथ में अपनी वाणी को भी प्रेरित करता हूँ।' (ऋ. १०।१३७।७)

आत्मबल और मन के बल से चिकित्सा होती है। (इसी से सुश्रुत मे रोगी के मन को स्वस्थ रखने के लिए कहा है (सु सू अ १९।७–८)। चरक में भी इसी से कथा, आख्यायिका, इतिहास, स्तोत्रपाठ करनेवालो को रोगी के पास रखने के लिए कहा गया है—"तथा गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलान्भिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविद पारिषद्यांश्च।" (चरक सू अ १५।७)

मन की महत्ता यजुर्वेद मे निम्न प्रकार से बतायी गयी है (यजु ३४)—

मन प्राणियो के अन्दर अमृतरूप है। मन के बिना कोई भी कर्म किया नही जा सकता। मन के द्वारा सप्त-होता यज्ञ फैलाया जाता है। (दो कान, दो नाक, दो आँख और एक मुख ये ही सात होता हैं। इनसे पुरुषरूपी यज्ञ मन के द्वारा चलाया जाता है।) उत्तम सारथि जिस प्रकार से घोडो को चलाता है, उसी प्रकार यह मन मनुष्यो को चलाता है।' उपनिषद् में आत्मा को रथी, रथवाला कहा गया है, मन को इसका सारथि बताया है, इन्द्रियाँ घोडे है। मन ही इन्द्रियो को वश में रखता है; जिस प्रकार कि सारथि घोडे को काबू मे रखता है। भयकर तूफान आने पर समुद्र में जहाज को जैसे लगर स्थिर रखता है, उसी प्रकार विचारो के ऊहापोह में गोता खानेवाले मन को प्राणायाम ही नियन्त्रित करता है। मन को वश में करने का साधन प्राणायाम है और इन्द्रियो को वश में रखनेवाला मन है। मन के बल से बहुत से रोग नष्ट होते है।

हवन-चिकित्सा—अत्रिपुत्र ने राजयक्ष्मा की चिकित्सा में यज्ञविधान बताया है—

'जिस यज्ञ के द्वारा राजयक्ष्मा पूर्व काल में नाश किया गया है, उसी वेदविहित यज्ञ को आरोग्य को चाहनेवाला रोगी करे।' (चरक चि अ ८।१८९)

यज्ञ-हवन से रोग नाश होते है। इसका उल्लेख अथर्ववेद मे है —

'हवन के द्वारा अज्ञात रोग से तथा क्षयरोग से भी तुमको दीर्घ जीवन के लिए छुडाता हूँ (अथर्व० ३।११।१)।' यज्ञ से वायु की शुद्धि होती है, जहाँ सामान्य वस्तु नही जा सकती वहाँ सूक्ष्म वायु-धूम पहुँच जाता है। इसी लिए नगरा मे पानी के नल बैठाते समय नलो की सन्धि परीक्षा धूम से की जाती है। अत्रिपुत्र ने छाती के स्रोतो मे छिपे हुए कफ को निकालने के लिए धूम का विधान किया है। यही एक ऐसी वस्तु है, जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतो मे पहुँचती है ('लीनश्चेद् दोषशेष स्याद् धूमैस्त निर्हरेद् बुध,—चरक चि अ १७।७७)। इसलिए रोगी के कमरे मे उसके पास बराबर यज्ञ की धूमाग्नि रहनी चाहिए। इससे वायुमण्डल की शुद्धि तो होगी ही, साथ ही रोगी के शरीर मे यह सुवासित धूम रोग के कीटाणुओं को नष्ट कर देगा। क्षय रोग मे धूम का विशेष महत्त्व है। इसी से अत्रिपुत्र ने वेदविहित यज्ञ का विधान किया है।

यजुर्वेद में आयुर्वेद

यजुर्वेद के दो भाग है—एक तैत्तरीय शाखा और दूसरी वाजसनेयी शाखा। इनका सम्बन्ध मुख्यत कर्मकाण्ड से है, इसलिए शरीर के अगो के नामो का उल्लेख शत-पथ ब्राह्मण मे मिलता है। यजुर्वेद के वर्ण्य विषय का ज्ञान एक मात्र वाजसनेयी सहिता के अध्ययन से हो सकता है। इस सहिता मे ४० अध्याय हैं।

ओषधिसूक्त—यजुर्वेद में ओषधियो के लिए बहुतेरे मत्र आये है, इनसे स्पष्ट है कि ओषधियो [illegible] तथा स्वास्थ्य के लिए विशेष होता था। ओषधियो से नाना प्रकार की प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद के मत्र भी इस सहिता मे बहुत आये हैं। यथा—

'ओषधियाँ जो कि तीन युगों से पहले उत्पन्न हुई, उन भरण-पोषण करनेवाली ओषधियो के सौ और सात स्थान हैं, ऐसा मैं जानता हूँ। हे माता ओषधियो (माता के समान स्नेह और रक्षा देनेवाली)! तुम्हारे अपरिमित जन्मस्थान है, तुम्हारे प्रोद्गम असख्य है, तुम्हारे कर्म असख्य है। इसलिए तुम मुझको रोगरहित करो।'[1]

---

[1] **ओषधियाँ अनन्त हैं; इसका स्पष्टीकरण विनयपिटक-वर्ती जीवक की कथा से स्पष्ट होता है। जब उसके आचार्य ने उसे कुदार देकर तक्षशिला के चारो ओर सात कोस**

हे ओषधि ! तुम माता के समान हो, इसलिए हे देवि ! तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुमको मैं घोडो, गायो तथा अपने लिए ओषधि रूप मे—रोगनाश करने के लिए देता हूँ। जो फलवाली, जो फलरहित, जो पुष्परहित और जो पुष्पवाली है; जिनको बृहस्पति (परमात्मा) ने उत्पन्न किया है, वे मुझे पाप-रोग से छुडायें।[१] हे ओषधियो ! तुमको खोदनेवाला नष्ट न हो, और जिसके लिए मै खोद रहा हूँ वह व्यक्ति भी नष्ट न हो। दो पैरवाले मानव एव चार पैरोवाले पशु सब रोगरहित हो। हे ओषधि ! तू श्रेष्ठ है, तेरे सब वृक्ष अध शायी है; जो हमारा नाश करना चाहता है या करता है, वह तेरे नीचे आये।' (वा० स० १२।७५-७९,८९,९५)

ओषधियो को केवल नाम और रूप से जानने का महत्त्व नही। नाम और रूप से तो ओषधियो को जगल मे गाय-भेड़ चरानेवाले चरवाहे तथा अन्य पर्वत-अरण्यवासी भी जानते है। इनके उपयोग को देश-काल के अनुसार एव प्रत्येक पुरुष की विवेचना करके जो जानता है, वही सच्चा भिषक् है। (चरक सू० अ० १।१२०-१२३)

ओषधियो की महत्ता और उनके प्रति पूज्यभाव पण्डितराज जगन्नाथ के श्लोक मे स्पष्ट है —

तक जाकर ऐसी ओषधि लाने को कहा जिसमें कोई गुण न हो; तब वह घूमकर निराश लौटा और कहा कि ऐसी कोई औषधि नहीं जिसमें गुण न हो। इसी से अत्रिपुत्र ने है कहा—"नानौषधिभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते ता तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य॥" (चरक.) सू. अ. २६।१२।

१. औद्भिद तु चतुर्विधम्—

'वनस्पतिस्तथा वीरुद् वानस्पत्यस्तथौषधिः।
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि॥
ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः॥' (चरक. सू. अ. १।७०।७२)

फलवाली ओषधियाँ वनस्पति है, इनमें फूल दृश्य नहीं होता, यथा गूलर; 'तेषामपुष्पाः फलिनो वनस्पतय इति स्मृताः,—हारीत)। पुष्प आने के पीछे जिनमें फल आता है, वे वानस्पत्य है, आम, नारगी आदि। फल आने पर जिनका नाश हो जाता है, वे ओषधियाँ है, यथा—मूँग, तिल आदि। प्रतानवाली लता आदि वीरुध है, यथा—चमेली-मालती आदि।

'धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां घर्मव्यथां वहति शीतभवा रुजश्च ।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥'
(भामिनीविलासः)

जो वृक्ष फूल-पत्ते और फलो के बोझ को उठाये हुए धूप की तपन और शीत की पीडा सहन करता है, तथा दूसरे के सुख के लिए अपना शरीर अर्पित कर देता है, उस वन्दनीय श्रेष्ठ तरु के लिए नमस्कार हे । यही उदात्त भावना वेद मत्रो मे है । इस महान भावना का आदिम स्रोत वेद की ऋचाएँ ही हैं । वेद मे ओषधियो को राज्ञी कहा गया है ('या ओषधी सोमराज्ञीर्बह्वी. शतविचक्षणा.।' यजु. १२।९२) । ओषधियाँ माता की तरह रक्षा करती हैं । जिस मनुष्य को ओषधियो का सम्यक् ज्ञान होता है, उसे ही भिषक् कहा जाता है । राजा लोग जिस प्रकार समिति (आस्थानमण्डप) मे एकत्रित होते हैं, उसी प्रकार जिसमे ओषधियां एकत्र रहती हैं वही विप्र सच्चा भिषक् है, और वही राक्षस और रोगो को दूर कर सकता है[1] । (यजु. १२।८)

वेद में ओषधियो की माता को इष्कृति (सर्वेषा रुग्णाना निष्कर्त्री) सब रोगो को निकालनेवाली कहकर प्रार्थना की गयी है । 'हे ओषधियो ! तुम भी मेरे रोगो को निकालो' (यजु. १२।८३) ।

'अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः ॥' (यजु. १२।९१.)

ओषधियाँ कहती है कि आकाश-द्युलोक से आती हुई हम जिस व्यक्ति के पास पहुँच जाती हैं, वह किसी तरह भी नष्ट नही होता ।

दिव्य वैद्य—जो रोगो को जड़ से नष्ट करता है, राक्षसो को मारता है, वह वेद मे दिव्य भिषक् कहा गया है —

'कम न होनेवाले, सदा बढनेवाले रोगबीजों को नष्ट भ्रष्ट करनेवाला और सब राक्षसो को नीचे की ओर से निकालनेवाला है, वह उपदेशक पहला दिव्य वैद्य है ।' (यजु. १६।५)

अथर्ववेद में आयुर्वेद

अथर्ववेद में आयुर्वेद का विषय विशेष विस्तार से आया है । अथर्ववेद का सम्बन्ध ही आयुर्वेद उपांग से है —

---

१. इसी अर्थ को अग्निपुत्र ने भी कहा है (चरक. सू. अ. १।१२०-१२३)

'तत्र भिषजा पृष्टेनैव चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्ति-रादेश्या। वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादि-परिग्रहाच्चिकित्सा प्राह। चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते ॥"

(चरक सू अ ३०।२१)

काश्यप संहिता मे औषध और भेषज का भेद बताते हुए कहा है कि दीपन आदि गुणवाली वस्तुओ के लिए औषध शब्द आता है, हवन, व्रत, तप, दान रूपी शान्ति-कर्म के लिए भेषज शब्द आता है (काश्यपसंहिता, औषध-भेषजेन्द्रियाध्याय)। अथर्ववेद मे शान्ति कर्म विशेष रूप से है। इसी से कुछ सज्जन इसका सम्बन्ध जादू-टोने से लगाते है। शान्ति कर्म—स्वस्ति-पाठ आदि भी चिकित्साकर्म है। सूतिकागार मे प्रवेश करने से पूर्व अथवा शस्त्रकर्म करने से पूर्व स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ करने का विधान है, चरक. शा. अ ८।३५; सुश्रुत चि अ ७।३०.)।

अथर्ववेद मे वनस्पतियो का स्पष्ट नामोल्लेख, कृमि सम्बन्धी जानकारी, शल्य-चिकित्सा और प्रसूतिविज्ञान आदि विषय मिलते है। अथर्ववेद का सम्बन्ध मनुष्य-जीवन के साथ क्रियात्मक रूप में होने से आयुर्वेद का सम्बन्ध इसी से विशेष है।

कृमिविज्ञान—कृमियो से अभिप्राय रोगोत्पादक सूक्ष्म जीवाणुओ से है, जो कि सामान्यत आँख से दृश्यमान नहीं हैं। ये मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं। इनमें से बहुतेरे सर्प—सर्पणशील, रेंगनेवाले हैं, इनको नष्ट करने के लिए कहा गया है। ये कृमि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में रहते हैं। (यथा—यजुर्वेद मे कहा गया है—"नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्य सर्पेभ्यो नम ॥' १३।६) इन कृमियो को नाश करने का उल्लेख अथर्ववेद में विशेष रूप से है—

'रक्त और मास को दूषित करनेवाले जन्तुओं को बहुत बडे मारने के साधनो से मारता हूँ। जो जन्तु मेरे द्वारा बनायी औषधी आदि मे पीडित है या जो नही पीड़ित है, वे सब सूख गये है। जो बच गये, पहले नही मरे, उनको मत्र के बल से मारता हूँ जिससे इनके बीच मे कोई भी न बचे।' (अथर्व २।३१।३)

अनुक्रम से आन्त्रों में उत्पन्न, सिर मे उत्पन्न और पीठ मे उत्पन्न कृमियो को नष्ट करता हूँ। जो कृमि नीचे जाने के स्वभाववाले, या नाना मार्गों मे पहुँचते है, इस प्रकार के नाना प्रकार के कृमियो को मत्र से मारता हूँ। पर्वत आदि मे जो कृमि है वे हमारे शरीर मे व्रण-मुख से या अन्न-पानादि द्वारा प्रविष्ट हो गये है, उन सबको मत्र से मारता हूँ।' (अथर्व २।३१।४-५)

'उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणो से कृमियो को मारे। अस्त होता हुआ

सूर्य अपनी किरणो से कृमियो का नाश करे।[१] जो कृमि गौओ के शरीर मे रहते हैं, उनको नष्ट करे। हे कृमियो! तुमको अत्रि के समान, कण्व के समान, जमदग्नि के समान मत्र सामर्थ्य से मै भी मारता हूँ तथा अगस्त्य के मत्र से मैं कृमियो को इस प्रकार से नाश करता हूँ जिससे वे फिर उत्पन्न न हो। हमसे प्रयुक्त ओषधियो और मत्र द्वारा कृमियो का राजा नष्ट हो गया है, इन कृमियो का मत्री भी मारा गया, माता भी नष्ट हो गयी, बहिन भी जाती रही, भाई भी मारा गया। (अथर्व. २।३२।१-४)

इस कृमिकुल के निवेशस्थान मुख्य घर को नष्ट करता हूँ, इस कुल के चारो ओर के अन्य घरो को भी नष्ट करता हूँ। बीजावस्था में—सूक्ष्म रूप मे ही इन सब कृमियो को नष्ट करता हूँ। हे कृमि! तेरे सीगो (प्रवर्धन) को नष्ट करता हूँ, जिन दो सीगो से तू विशेष रूप मे पीडा करता है।[२] तेरे कुसुम्भ—अवयवविशेष को नष्ट करता हूँ। जिस अवयव में विष रहता है, उस अवयव को नष्ट करता हूँ।' (अथर्व. २।३२।५।६)

(जिस प्रकार सॉप के मुख की थैली मे और बिच्छू के पीछे की थैली में विष रहता है, ऐसे अवयव को 'कुसुम्भ' कहते हैं।)

कृमियो से द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरी रक्षा करें, सरस्वती देवी मेरी रक्षा करे, इन्द्र और अग्नि मेरी रक्षा करे, इन कृमियो को पीस डाले। जो कृमि आँख में, नासिका मे तथा मध्य भाग में पहुँचते है, उनको नष्ट करता हूँ। जिन कृमियों का पेट श्वेत है, जिनका पेट काला है, जिनकी भुजाएँ श्वेत है, और जो कृमि नाना रूप बदलते है (मलेरिया के जीवाणु का जीवनचक्र इसका अच्छा उदाहरण है—यह कितने रूप बदलता है), उन कृमियो को नष्ट करता हूँ। सब पुरुष कृमियों

---

१ जो गायें धूप में बाहर चरने जाती है, अधिक समय धूप में बिताती है, उनको क्षयरोग नहीं होता। भारतवर्ष में आधुनिक दुग्धशाला की प्रथा नहीं, गायें चरागाह में देहातों में बाहर रहती है, इसलिए भारत में गाय के दूध से होनेवाले क्षयरोग का रोगी अभी नहीं मिला। इस दृष्टि से गायों को बाहर खुले मैदान में भेजना जरूरी है।

२ कृमि के मुख के पास दो लम्बे नोकीले प्रवर्धन होते हैं (जैसे कि झींगुर के होते है), इनसे तथा अपने डंक से यह मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते है, उसके साथ सम्बन्ध जोड़ते है।

का, सब स्त्री-जाति कृमियो का सिर पत्थर से पीसता हूँ, इनके मुख को अग्नि से जलाता हूँ।' (अथर्व ५।२३।१,३,५)

'येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णिपुरोमुखाः
ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभा. करुमा स्त्रिभाः।
तानोषधे! त्व गन्धेन विषूचीनान् विनाशय॥' (अथर्व ८।६।१५, १०)

'जिन कृमियो के पैर पीछे को और एडी आगे को तथा मुख सामने है, ऐसे कृमियो को नष्ट करता हूँ। जो कृमि कुछ स्थूल, जो कृमि बढे हुए पेटवाले, जो कृमि सुख के दुश्मन—सुखनाश करनेवाले है, स्त्रिभा-रोग को उत्पन्न करते है, जो सायकाल मे गधे के समान शब्द करते है (यथा—मच्छर, मलेरिया का मच्छर सायकाल मे ही आक्रमण करता है), जो कृमि सायकाल के समय गोशाला, भोजनशाला, पाक-शाला आदि स्थानो मे नाचते है, उन सबको तथा उडकर रोगो को लानेवाले सब दुष्ट जन्तुओ को, हे ओषधि! तू अपनी गन्ध से नष्ट कर दे।'

इसलिए वस्तुओ को कृमिरहित करने के लिए सुगन्धित द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, गरम कपडो को कीडो से बचाने के लिए प्राचीन काल मे चन्दन, कूठ, कपूर, देवदारु का उपयोग होता था, और आज फिनायल की गोली बरती जाती है। अत्रिपुत्र ने बच्चो के वस्त्रो को इसी लिए सुगन्धित द्रव्यो से धूप देने का विधान किया है (चरक. वि. अ ८।६१)। सूतिकागार मे भी होम का विधान है (चरक शा अ ८।४१)।

अथर्व वेद में वनस्पतियाँ—अथर्ववेद मे कुछ वनस्पतियो का उल्लेख नाम से है, इनमे कुछ ओषधियाँ स्पष्ट है और बहुत-सी अनिर्णीत है। वनस्पतियो का उपयोग अलग-अलग स्वतत्र रूप मे ही मिलता है, इनको मिश्रित रूप मे नही बरता जाता था।

पिप्पली—पिप्पली ओषधि जीवन के लिए उपयोगी है। पिप्पली कहती है कि जो मनुष्य हमारा उपयोग करता है, वह कभी नष्ट नही होता। पिप्पली वातरोग, और उन्माद अपस्मार (जिनमे चित्त उत्क्षिप्त हो जाता है) की उत्तम ओषधि है। (अथर्व ६।१०९।१–३)

इसी अर्थ को अत्रिपुत्र ने स्पष्ट किया है, पिप्पली 'आपातभद्रा' है, सब प्रकार से मगलकारी है, इसे सब ऋषियो ने बरता है, किसी भी रूप मे यह हानि नही कर सकती। फिर भी इसका अति उपयोग निषिद्ध है।

पिप्पली कटु रसवाली होने से विपाक मे मधुर है, गुरु है, मध्य दर्जे में स्निग्ध और उष्ण है, शरीर मे क्लेद उत्पन्न करती है, वैद्यो को मान्य है, यह जल्दी ही

शुभ-अशुभ परिणाम करती है, ठीक प्रकार से प्रयोग करने पर नितान्त कल्याण-कारी है। अधिक उपयोग से यह दोष सचय को उत्पन्न करती है—निरन्तर इसका उपयोग भारी और प्रक्लेदी होने से कफ को कुपित करता है। गरम होने से यह पित्त को दूषित करती है, वात का भी शमन नही करती है क्योकि इसमे स्नेह कम होता है, गरमी भी कम होती है। पिप्पली योगवाही है (जिस वस्तु के साथ दी जाती है, उसके गुण को बढाती है)। इसलिए पिप्पली का अधिक सेवन नही करना चाहिए (पिप्पली का अति प्रयोग मसाले आदि के रूप मे खान-पान मे निषिद्ध है)। (चरक-वि० अ० १।१६)

अपामार्ग—इसको देहात मे 'चिरचिटा' या 'ओगा' कहते हैं। अथर्ववेद की यह ओषधि अवश्य महत्त्वशाली है, इसी से अत्रिपुत्र ने अपने दूसरे अध्याय का प्रारम्भ 'अपामार्ग-तण्डुलीय' अध्याय से किया है।

> **'क्षुधामारं तृष्णामारं तथा अनपत्यताम्।**
> **अपामार्ग! त्वया वय सर्वं तदपमृज्महे॥**
> **अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।**
> **तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥'** (अथर्व. ४।१७।६-८)

अपामार्ग क्षुधा, तृष्णा, अनपत्यता मे प्रयुक्त होता है (अपामार्ग के चावलो की खीर खाने से भूख और प्यास नही लगती)। सम्पूर्ण ओषधियो की अपेक्षा अपामार्ग के ही ये काम होते है।

अत्रिपुत्र ने शिरोविरेचन-द्रव्यो मे अपामार्ग को सर्वश्रेष्ठ कहा है ('प्रत्यक् पुष्पी शिरोविरेचनानाम्'—सू० अ० २५)। पुत्रोत्पत्ति के लिए अपामार्ग का उपयोग आयुर्वेद ग्रन्थो मे है—'शिफा र्बाहिशिखायास्तु क्षीरेण परिपेषिताम्। पिबेद् ऋतुमती नारी गर्भधारणहेतवे।' शोढल, पृष्ठ ६१३। अपामार्ग के बाल को दूध के साथ पीसकर ऋतुमती स्त्री गर्भ धारण के लिए पिये। भूख को नष्ट करने के लिए भी इसका उपयोग है। दूध और गोह के मास-रस मे अपामार्ग के चावलो से बनाया गया पायस भूख को नष्ट करता है। (चरक० सू० अ० २।३३)

पृश्निपर्णी—(पिठवन)—'हे पृश्निपर्णी! तू न दीखनेवाले, खून को पीनेवाले, उन्नति को रोकनेवाले, गर्भ को खाने या ग्रहण करनेवाले रोग को दूर कर, सहन कर।' (अथर्व २।२५।३)

इस मत्र से उन रोगो के उल्लेख का पता लगता है, जिनका सम्बन्ध रक्त से है;

रक्त स्राव या जिनमें रक्त नही बढता उन रोगो में पृश्निपर्णी का उपयोग किया जाता है। आयुर्वेद मे पृश्निपर्णी दशमूल, लघुपचमूल की एक ओषधि है। रक्तस्तम्भन के लिए तथा निर्बलता को दूर करने के लिए इसका उपयोग है। (चरक० सू० अ० २।२१)

रोहिणी—(मासरोहिणी)—रोहिणी नामक जो वनस्पति है, उससे मासादि की शीघ्र वृद्धि होती है। मज्जा से मज्जा, मास से मास, चर्म से चर्म, अस्थि से अस्थि इस वनस्पति द्वारा बढते है। यदि शत्रु का शस्त्र लगने से अथवा पत्थर लगने से व्रण हुआ हो तो इस वनस्पति से शीघ्र ठीक होता है, जिस प्रकार कि उत्तम तक्षक (बढई) रथ के अगो को ठीक करता है, उसी प्रकार से रोहिणी वनस्पति शरीररूपी रथ को शीघ्र ठीक करती है। (अथर्व ४।१२)

"तस्मान्मासमाप्यायते मासेन भूयस्तरमन्येभ्य शरीरधातुभ्यस्तथा लोहित लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्जया, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण।'

वेद के इस मत्र को अत्रिपुत्र ने बहुत ही सुन्दरता से स्पष्ट किया है —

'सर्वदा सर्वभावाना सामान्य वृद्धिकारणम्'—समान-समान को बढ़ाता है, इसी नियम से मास मास से अधिक बढता है, रक्त रक्त से, मेद मेद से, वसा वसा से, अस्थि अस्थि से, मज्जा मज्जा से, शुक्र शुक्र से बढता है, गर्भ आम गर्भ से बढ़ता है। इस अर्थ में रोहिणी नामक ओषधि प्रत्येक वस्तु का रोहण करती है।[1]

अनेक औषधियाँ—

'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षा शिखण्डिनः।
तत् परेता अप्सरसः प्रति बुद्धा अभूतन॥
यत्र वः प्रेंखा हरिता अर्जुना उत।
यत्राघाटाः कर्कर्यः संवन्ति॥
तत्परेता अप्सरसः प्रति बुद्धा अभूतन॥
एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती।
अजशृंग्यराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषतु॥' (अथर्व. ४।३७।४-६)

जहाँ पर अश्वत्थ (पीपल), न्यग्रोध (बरगद) ये महावृक्ष अपने पत्रो के साथ

---

१. 'रोहिण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्यो रोहणी। रोह[illegible]।' (अथर्व. ४।१२।१) इस मंत्र में रोहिणी मांसरोहिणी के लिए कहा गया है।

प्रसन्नता से रहते हैं, अर्जुन, पिलखन, अघाट, कर्करी, अजशृंगी, अराटकी, तीक्ष्णशृंगी ये वृक्ष एव वनस्पतियाँ रहती है, वहाँ पर पानी में चरनेवाले विषजन्तु नही रहते।

सुश्रुत में पानी की दुर्गन्ध को दूर करनेवाली कुछ वनस्पतियो का उल्लेख है ('प्रसादन च कर्त्तव्य नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभानेभिश्चाधिवासनमिति'—सु० अ० ४५।१२)। ये सब पुष्प बागो के है, वेद के वृक्ष जंगल के है, जगल मे इन वृक्षो के पत्तो से पानी स्वच्छ होता है। इन वनस्पतियो से पानी में फैलनेवाले जन्तु नष्ट होते हैं।

किलास कुष्ठ रोग का ही एक रूप है—कुष्ठ का अर्थ कुत्सित रूप-वर्ण है। पलित बालो का श्वेत होना, किलास—श्वेत कुष्ठ (श्वित्र) इन रोगों को श्यामा ओषधि नष्ट करती है। 'त्वचा के समान रग करनेवाली श्यामा ओषधि पृथ्वी में उत्पन्न हो गयी है। यह इस रोग के रूप को ठीक करके फिर से पूर्व की भाँति कर दे।' (अथर्व० १।२।४)

श्यामा के सिवाय रामा, कृष्णा, असिक्नी ये तीन ओषधियाँ किलास-पलित (श्वेत वर्ण या श्वेत बिन्दु, सफेद छोटे-छोटे दाग जो त्वचा में होते है) को नष्ट करती है।[1]

'हे रोहिणी! तुम फैलनेवाली हो; स्तम्भ रूप हो, एक शुग—एक शाखा-वाली हो, प्रतानोवाली हो, अशुवाली हो, कण्ठोवाली—शाखावाली हो; शाखा-रहित हो, वीरुध रूप हो, समस्त दिव्य गुणो से युक्त हो, पुरुष को जीवन देनेवाली हो।' (अथर्व० ८।७।४)

'तेरे हृदय की जलन और पीलापन सूर्य के पीछे चला जाय। गौ के अथवा सूर्य के उस लाल रग से तुझे सब प्रकार से हृष्ट-पुष्ट करते हैं। लाल रगो से तुझको दीर्घ आयु के लिए घेरते है, जिससे यह निरोग हो जाय और पीलक रोग से मुक्त हो जाय। जो दिव्य लाल रग की गाय है और जो लाल रग की किरणे है उनसे सुन्दरता

---

१. 'नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥
किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय॥'
'पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत।
समातर इव दुहामस्मा अरिष्टतातये।' (अथर्व. ८।७।२७)

और बल के अनुसार तुझे घेरते हैं। तेरे पीलक रोग को तोते और पौधो के रंग धारण कराते हैं और तेरा फीकापन हम हरी वनस्पतियो में रख देते हैं।' (अथर्व० १।२२।१-४)

लाल रग आरोग्य देता है। लाल रग की गाय अच्छी होती है ('रोहिणीमथवा कृष्णाम्र्व्वन्नग्नीमदारुणम्'—चरक० चि० अ० २।३।४)। लाल रग स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। हरा और पीला रग जो कि पित्त विकार को बताता है; रक्त की कमी का सूचक है, वह सूर्य की किरणो से दूर होता है। आज जो महत्त्व सूर्य चिकित्सा—अल्ट्रावायलेट किरणो तथा इन्फ्रारेड किरणो का है, वह अथर्ववेद में वर्णित है। इसी से प्राचीन आर्यसभ्यता में स्नान करके आर्द्र शरीर, नग्न शरीर से सूर्य को अर्घ देने की प्रथा है, इसी लिए कहा गया है—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' सूर्य से स्वास्थ्य की कामना करनी चाहिए।

किलास वा कुष्ठ रोग की चिकित्सा—इसके लिए श्यामा ओषधि का उल्लेख पहले आ चुका है। परन्तु अन्य ओषधियों का भी उपयोग इसमें होता था—

'अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि।
दूष्याकृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम्॥
आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत्त्वचम्॥
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥
श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता।
इदं सु प्रसाधय पुना रूपाणि कल्पय॥' (अथर्व. १।२३।२४)

किलास के तीन नाम हैं—दारुण, अरुण और श्वित्र। दोष के रक्त में आश्रित होने से रंग लाल होता है, मेद में आश्रित होने से श्वेत वर्ण होता है, मांस में आश्रित होने से ताम्र वर्ण होता है—

'दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः।
विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत्॥
दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मां[illegible]
श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम्॥' (माधव)।

केशवर्धन—अथर्ववेद में बालों को बढाने और मजबूत करने के लिए ओषधियो से प्रार्थना की गयी है। ओषधियों को खोदकर इस काम के लिए लाया जाता था—

हे ओषधि ! जिसे जमदग्नि ने खोदा था उसी बालों को बढानेवाली ओषधि को मैं खोदता हूँ। बाल नड (नडसर) की तरह बढे। नडसर काटने पर बहुत जल्दी बढता है और बहुत लम्बा-सीधा जाता है। बाल भी बहुत लम्बे बने।' (अथर्व० ६।१३७–१–३)

क्लीवत्व नाश—वेद मे ओषधि से प्रार्थना की गयी है कि हे ओषधि! इस पुरुष की क्लीवता को नष्ट कर दो—

'त्वं वीरुधं श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे !
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥
क्लीवं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
क्लीवं क्लीवं त्वाकारं वध्रे वध्रि त्वाकरमरसारसम् ।
कुरीरमस्य शीर्षाणि कम्ब चाधि निदध्मसि ।' (अथर्व. ७।१३८-१-२-३)

हे ओषधे ! तुम सबसे श्रेष्ठ वीरुध हो—इस पुरुष की क्लीवता को नष्ट कर दो। क्लीवता को नष्ट करके पुरुष को कुरीर करो।[1] कुरीर से 'कुरीरश्रृगी' (कर्कटश्रृगी) लेनी चाहिए। वैसे कुरीर पक्षी चटक जाति का है। चटक मे वृष्यता रहती है। कुरीरश्रृगी भी क्लीवतानाशक है; यथा—'कुरीरश्रृग्या कल्कमालोड्य पयसा पिबेत्। सिताघृतपयोऽन्नाशी स नारीषु वृषायते ॥' (सग्रह ५०) तृप्ति चटकमासाना गत्वा योऽनुपिबेत्पय ।' (चरक चि अ २।१।४६)

चटक-मास खाकर पीछे दूध पीने से वृष्यता आती है। यह कुरीर क्लीवता को नष्ट करता है।

सौभाग्य वर्धन—ओषधियो के विषय मे कहा गया है कि हे ओषधि ! तुम सुभग करो, तुम्हारे सैकडो प्रतान है, तेंतीस नितान है और हजारों पत्ते है।

हे ओषधि ! तुम फलवाली, भूरे रग की कल्याणकारी हो। इस पति और मुझ पत्नी को समान हृदयवाले करो। जिस प्रकार नकुल साँप को काटकर टुकड़े

---

१ कुरीर पक्षी से चटक ही लिया जाता है; वैसे इसका स्पष्टीकरण टिटिहरी डाक्टर अग्रवाल ने किया है, यथा—

'बायें कुरारी दाहिन कूचा, पहुँचै भुगुति जैसा मनरूचा। (पद्मावत)

बायीं ओर कुररी और दाहिनी ओर क्रौञ्च पक्षी बोलने लगे। इससे ज्ञात होता था कि मन में जो अभिलाषा थी वैसा भोग प्राप्त होगा।

करके फिर से जोड देता है; इस प्रकार से हमारे विरोध को हटाकर हमें फिर जोड़ दो। (अथर्व ६।१३९)

हृदयरोग तथा कामला रोग की चिकित्सा—हृदय रोग तथा कामला रोग की चिकित्सा का वेद में स्पष्ट उल्लेख है। यह चिकित्सा सूर्य की किरणो से होती है, इसका देवता सूर्य है।

मूढ़ गर्भ चिकित्सा—गर्भाशय को चीरकर गर्भ को बाहर करने तथा रुके हुए मूत्र को मूत्राशय से बाहर निकालने का उल्लेख अथर्ववेद में स्पष्ट है, यथा—

'वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्॥'
(अथर्व. १।११।५.)

हे गर्भिणी! तेरे मूत्र प्रवाहण द्वार का विदारण करता हूँ, तेरी योनि को भी विदीर्ण करता हूँ जिससे गर्भ बाहर आ जाय तथा योनि के पार्श्ववर्त्ती गवीनिको का भी (बाहर आने में रुकावट देनेवाली नाडियो का भी) विदारण करता हूँ। माता और पुत्र दोनो का विदारण करता हूँ। (कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती है, जब कभी माता को जीवित रखने के लिए पुत्र को नष्ट करना होता है, और कभी पुत्र को जीवित रखने के लिए माता की उपेक्षा करनी होती है।) जरायु से पुत्र को पृथक् करता हूँ, गर्भाशय से जरायु पृथक् हो।

अश्मरी तथा मूढगर्भ रोग में मूत्राशय और गर्भाशय का विदारण करना अनिवार्य हो जाता है। (सुश्रुत० चि० अ० ७।३०-३८, सुश्रुत० चि० अ० १५।१२-१३)

अश्मरी या मूत्राघात चिकित्सा—मूत्राशय में मूत्राशय की पार्श्ववर्त्ती गवीनी (यूरेटरस) में या वृक्को में यदि मूत्र रुका हो तो उसे वहाँ से शस्त्रकर्म या अन्य प्रकार से बाहर किया जाता है, यथा—

'यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संस्रुतम्।
एव ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥
प्रते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्।
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥' (अथर्व. १।३।६-९.)

आत्रों में (उदावर्त्त के कारण वायु रुक जाने से) जो मूत्र रुका है, बाहर नही आता, अथवा गवीनीयो में या वस्ति, मूत्राशय में जो मूत्र रुका है; वह मूत्र इन स्थानो से निकलकर बाहर आये। जिस प्रकार पल्लव में रुके हुए जल को पल्लव को विदीर्ण करके बाहर कर देते है, उसी प्रकार मेहन मे रुके मूत्र को मै बाहर कर देता हूँ। (प्रोस्टेट ग्रन्थि की वृद्धि के कारण जब मूत्र रुक जाता है, तब प्रोस्टेट ग्रन्थि को काटकर मूत्र निकलने का मार्ग किया जाता है, मेहन शब्द से प्रोस्टेट वाला भाग अभिप्रेत है।) रोग के कारण मूत्राशय मे जब मूत्र रुक जाता है,तब मूत्राशय को विदीर्ण करके मूत्र बाहर करना होता है (यथा, मूत्राशय मे अश्मरी होने पर)। जिस प्रकार से धनुष से निकले बाण बिना किसी रोक-टोक के सीधे अपने लक्ष्य पर जाते हैं, उसी प्रकार से तुम्हारा मूत्र बहे, उसमें कुछ भी रुकावट न हो।

रक्त संचार—शरीर मे दो प्रकार की रक्तवाहिनियाँ है; एक तो शुद्ध लाल रक्त को बहाती है और दूसरी दूषित नीले रक्त का वाहन करती है। इन दोनो प्रकार की वाहिनियो के स्वस्थ रहने के लिए प्राथना की गयी है।

'अमूर्या यान्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव [illegible]न्तु हतवर्चसः॥' (अथर्व. १।१७।१.)

स्त्री सम्बन्धी ये दृश्यमान लाल रक्त की निवासभूत नाडियाँ–सिराएं रोग के कारण विकृत हो गयी है, ये शिराएँ इस चिकित्सा कर्म से नष्ट होकर स्वस्थ रूप में रहें। जिस प्रकार कि भाई-रहित बहिन पितृकुल में रहती है। (मनुस्मृति में कहा है कि जिस कन्या का भाई न हो उससे विवाह न करे, क्योकि इस विवाह से आगे कन्या ही होने की सम्भावना है।)

अब धमनी की प्रार्थना की जाती है—'शरीर के अधोभाग में रहनेवाली शिरा, तुम शस्त्र आदि से निकले हुए रक्त को रोककर वही रहो—रक्त बन्द हो जाये। शरीर के ऊर्ध्व भाग की शिरा का भी रक्त बन्द हो जाय; शरीर के मध्य भाग की भी धमनी का रक्त बन्द हो जाय। कनिष्ठिका, सूक्ष्मतर (कैपीलरी, केशिका) धमनियो में तथा बडी धमनियो मे—शिराओ मे रक्त बन्द हो जाय।'

'शत सख्यावाली धमनियो तथा हजार संख्यावाली शिराओ (अनन्त शिरा-धमनियो) में, तथा इनकी मध्यवर्त्ती धमनी-शिराओ मे (इन दोनो को मिलानेवाले भाग के) रक्तस्राव बन्द हो जायँ; तथा जो बची है, वे सब पूर्व की भाँति स्वस्थ रहें।' (अथर्व० १।१७।२–३)

शरीर में धमनी-नाडी-सिरा शब्द जिस प्रकार आधुनिक चिकित्साशास्त्र में पृथक्

है, उस प्रकार से प्राचीन साहित्य मे पृथक् स्पष्ट नही है। प्रकरण के अनुसार इनका अर्थ करना होता है। (यथा आर्तव शब्द एव ऋतु शब्द का प्रकरण के अनुसार अर्थ करना होता है, आर्तव शब्द ऋतुस्राव और स्त्रीबीज दोनो के लिए आता है।) उपनिषदो मे नाडियो की सख्या बहुत बतायी गयी है ('हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशत नाडीना तासा शत शतमेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्तति प्रतिशाखा नाडी-सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥'—प्रश्न० ३।६)।

अंगों के नाम—अथर्ववेद मे शरीर के निर्माण के सम्बन्ध मे पूछा गया है, तथा इनका उत्तर भी दिया गया है। इस प्रकार से प्राय सब अगो के नाम आ गये है। यथा, 'इस पुरुष शरीर मे किसने एडियो को भरा ? किसने मास और गुल्फ बनाये ? किसने अँगुली और किसने पेशनी (पाददल) बनाये ? किसने इन्द्रियाँ बनायी ? किसने पुरुष के गुल्फो को नीचा बनाया और जानुसन्धि को ऊपर किया ? किसने जघाएँ बनायी और जानुसधि किसने बनायी ? इस कबन्ध—छाती और पेट को चार ओर से किसने जोडा (दो हाथ और दो टाँग) ? श्रोणी और ऊरू को किसने बनाया, जिससे यह सन्धियाँ मजबूत बनी है ? वे देव कौन और कितने थे, जिन्होने पुरुष की छाती और ग्रीवा को बनाया ? स्तनो को, कोहनियो, स्कन्धों पीठ को किसने बनाया ? इस पुरुष के मस्तिष्क को, माथे को, ग्रीवा को, कपाल को कौन बनाकर आकाश में चला गया ? किसने इसमे रूप बनाया ? किसने इसको महत्ता या नाम दिया ? किसने इसे बोलने की शक्ति दी ? किसने पुरुष के चरित्र को बनाया ? किसने इसमे प्राणो का सचार किया ? किसने इसमे अपान और व्यान को बनाया ? समान वायु को किसने इसमे प्रतिष्ठित किया ? किसने इस पुरुष के वीर्य का आधान किया—जिससे वह आगे सतान परम्परा का विस्तार करता रहे। मेधा, सत्य को किसने इसमे बनाया ?' (अथर्व–१०।२)

रोगो के नाम—अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न अगों से होनेवाले रोगो के नाम भी मिलते है, यथा—

सिर की पीडा, सिर के रोग, कर्णशूल, रक्त की कमी को, सिर के सब रोगो को बाहर निकालता हूँ। कानो से, कानो के अन्दर के भाग मे से कर्णशूल को निकालता हूँ। मुख में जो यक्ष्मा रोग बढ रहा है, उसे निकालकर बाहर करता हूँ। अगभेद, अंगो के ज्वर—सम्पूर्ण अगो के पीडाकारक रोग, सिर के सब रोगो को बाहर निकाल देता हूँ। जो रोग ऊरू मे, गवीनियो में फैलता है; उस रोग को तेरे अन्दर के अगो से बाहर करता हूँ। तेरे अंगो मे से हरे रग को, उदर के अन्दर से यक्ष्मा रोग को बाहर

करता हूँ। उदर से, क्लोम से, नाभि से, हृदय से रोगो के सब विषो को निकालता हूँ। जो बढनेवाले रोग तेरे अगो को पीडित करते है उन सबके विष को तेरे शरीर से बाहर करता हूँ। सिर, कपाल, हृदय को जो रोग पीडित करते है, उन शिरोरोगो को उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणो से दूर करे।"[1] (अथर्व–९।१३।२२)

अथर्ववेद मे कुछ अगो का उल्लेख स्पष्ट है, और कुछ का अभी निश्चित अर्थ नही मिला, यथा—'इन्द्राणी भसद् वायु पुच्छ पवमानो बाला ।' (अथर्व ९।१२।८) 'धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जधा गन्धा अप्सरस कुष्टिका अदिति शफा ।' (९।१२।१०) 'क्षुत् कुक्षिशिरा वनिष्ठु पर्वता प्लाशय ।' (९।१०।१२) इनका शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्टीकरण करने का यत्न किया गया है, परन्तु फिर भी निश्चित रूप से निर्णय नही हुआ। कर्मकाण्ड मे सामान्यत अगो का उल्लेख है, परन्तु बहुत विस्तार और बारीकी से नही है।

इसके सिवा अथर्ववेद में निम्न काण्ड तथा मत्र आयुर्वेद के सम्बन्ध में देखे जा सकते है—

रोग के विषय में—तक्म (ज्वर) रोग का वर्णन (६।२११।१-३); इसके भेद सतत, शारद, ग्रीष्म, शीत, वार्षिक, तृतीयक आदि का निर्देश (१।२५।४, ५।२२।१-२४), मन्या, गण्डमाला का भेद, ग्रैव्य गण्डमाला, स्कन्ध गण्डमाला और इसके भेद (६।२५-१-३), अपची के भेद (६।८३।१-३); शीर्षामय, कर्णशूल, विलोहित, अगभेद, अंगज्वर, बलास, हरिभ, यक्ष्मा, हृदयगत यक्ष्मा, अलजी आदि रोग (९।१३।१-२२) उसमें मिलते है।

रोगप्रतीकार के विषय में—मूत्राघात मे शर-शलाका द्वारा मूत्र निकालना ('यथेषुका परापतदवसृष्टाधिधन्वन । एवा ते मूत्र मुच्यतां बहिर्बालितिसर्वकम् ।।' तुलना कीजिए—'मूत्रे विवृद्धे कर्पूरचूर्णं लिङ्गे प्रवेशयेत ।' यह चूर्ण दूर्वा या सरकण्डे से प्रविष्ट किया जाता है—आयुर्वेदसग्रह), जल से धोने पर व्रण का उपचार (५।५७।१–३), अपचित व्रण मे लवण का उपयोग, अपचित पिडिकाओ का शलाका वेधन (७।१०।१-२, ७।७८।१–२), नाना कृमियो का वर्णन (२।३२।१–६), हृदय रोग मे हिमालय की नदियो के जल का व्यवहार (६।२४।१–३); आरोग्य वर्णन (२।१०।१-८) अथर्ववेद मे है।

---

१. विस्तार के लिए—'रसयोगसागर' का उपोद्घात देखा जा सकता है।

ओषधियों के विषय में—वल्मीक में मिलनेवाली ओषधि विशेष से अतिसार, अतिमूत्र आदि रोग शान्ति (२।३।१–६); हरिणश्रृंग और उसके चर्म से क्षय, कुष्ठ, अपस्मारादि नाशन (३।७।१–३), शतवीर्या, दूर्वा से दीर्घायुष्य, नाना रोग शान्ति (३।११।१–८); वृषा शुष्मादि ओषधियो से वृष्यत्व (४।४।१–८); कुष्ठ ओषधि का वर्णन (६।९५।१–३), गुग्गुल धूप की गन्ध से यक्ष्मनाशन (१९।३५।१–३, तुलना कीजिए—सुश्रुत सूत्र० अ० ५।१८ में दिये धूपन द्रव्यो मे गुग्गुल के नाम से), विष से ही विष का प्रतीकार (७।८८।१; तुलना कीजिए—'तस्माद् दष्ट्राविष मौल हन्ति मौल च दष्ट्रिजम्।' चरक० चि० अ० २३।१७), विष दोहन विद्या से विष का प्रतीकार (८।५।१–१६); मृत्युभय की निवृत्ति लिए दर्भ-मणि बन्धन (१९।३२।१–२) आदि विषय अथर्ववेद में आये है।[1]

अथर्व का सिर तथा अयोध्या नगरी—वेद में सिर की विशेष महत्ता है; अत्रि-पुत्र ने सिर को सब अगो से श्रेष्ठ कहा है ('यदुत्तमागम ङ्गाना शिरस्तदभिधीयते'—चरक)। इसी सिर को 'देवकोश' कहा गया है।

[अ–थर्व–] स्थिरचित्त योगी अपने मस्तिष्क के साथ हृदय को सीता है। सिर में मस्तिष्क के ऊपर अपने प्राण को भेज देता है। यह ही अथर्व का सिर है, जिसको देवो का कोश कहा जाता है, इसकी रक्षा प्राण, मन और अन्न करता है। अमृत से परिपूर्ण इस नगरी को जो जानता है, उसको ब्रह्मा और इतर देव चक्षु, प्राण और पूजा द्रव्य देते है। आठ चक्र और नौ द्वारो से युक्त यह देवो की अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरो से युक्त और तीन स्थानो पर रहे हुए उस तेजस्वी कोश में जो पूज्य आत्मा है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते है।

इस पुरुषशरीर को अयोध्या रूप में वर्णित किया गया है, जिससे कोई भी लड नही सकता (न योद्धु शक्या अयोध्या); इस अयोध्या नगरी में आठ चक्र और नौ द्वार हैं, यह देवताओ की नगरी है, इसमें हिरण्य का कोश है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, आज्ञा आदि आठ चक्र है, दो आँखें, दो कान, दो नाक, मुख, उपस्थ और गुदा ये नौ द्वार है। इसमें आँख-कान, मन, चन्द्रमा, प्रजापति आदि देवता रहते है, हिरण्य ज्ञान है। शरीर इस तरह ही अयोध्या है, कोई भी रोगरूपी शत्रु इस नगरी से नही लड सकता। (अथर्व० १०।२।३२)।

---

१. विस्तार के लिए—'अथर्ववेद संहिता' श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रकाशित तथा काश्यप संहिता को देख सकते हैं।

अथर्व-चिकित्सा—अथर्वा ऋषि ने इस चिकित्सा को कहा है, यह चिकित्सा चार प्रकार की है, आथर्वणी, आगिरसी, दैवी और मानुषी। इनमे मानुषी चिकित्सा ओषधियो से सम्बन्धित है।" दैवी चिकित्सा–वायु-जल-पृथ्वी आदि से सम्बन्ध रखती है। आगिरसी चिकित्सा मानसिक शक्ति से सम्बन्ध रखती है। आथर्वणी चिकित्सा जप-होम-दान-स्वस्तिवाचन आदि से सम्बन्ध रखती है।

'आथर्वणीरांगिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥'

हे प्राण! जब तक तू प्रेरणा करता है, तब तक ही आथर्वणी, आगिरसी, दैवी और मानुषी ओषधियाँ फल देती है। प्राण रहने पर ही ओषधियो से लाभ होता है।

'या ते प्राण प्रिया तनूर्या ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे॥'

हे प्राण! जो तेरा प्रिय शरीर है और जो तेरे प्रिय भाग हैं तथा जो तेरी औषध है, उसे दीर्घजीवन के लिए हमको दे।

प्राण या जीवन का नाम ही आयु है। इसी आयु का सम्बन्ध इन चारो चिकित्साओ से है।

इस चिकित्सा को अथर्वा ऋषि ने कहा है—

"वेदोह्याथर्वणो ...।नस्वस्त्ययनबलिमंगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवास-
मंत्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह; चिकित्सा चायुषो हित[illegible]।'

—चरक. सू. अ. ३०।२१.

आयु का ज्ञान ही आयुर्वेद है। यह आयु प्राण से सम्बन्धित है। इसी से कहा गया है—

'आथर्वणी—अथर्वा महर्षि से बनायी शान्ति-पुष्टि आदि क्रियाएँ; आङ्गिरसी—कृत्या, उत्थापन आदि क्रियाएँ जो आगिरस ऋषि ने बनायी ('श्रुतीरथर्वाऽङ्गिरसी कुर्यादित्यभिचारयन्। वाक्छस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्विज॥'—मनु ११।३३)—मनुष्यजा—स्वस्ति, बलि, उपनयन, नमस्कार आदि क्रियाएँ; दैवी—वायु, जल आदि की क्रियाएँ औषधियाँ है।' (रसयोगसागर, उपोद्घात पृष्ठ ५९)

अथर्ववेद के अनुसार चरकसहिता मे एक पुरानी कथा का उल्लेख है। राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति बताते हुए चरक में कहा गया है कि प्रजापति की अट्ठाईस कन्याएँ थी। इनका विवाह प्रजापति ने राजा चन्द्रमा के साथ कर दिया था। चन्द्रमा ने इन सबके साथ समानता का व्यवहार नही किया, इसलिए प्रजापति ने शाप देकर उसे

रोगी (यक्ष्मा से पीडित) कर दिया। रुग्ण होने पर उसका सब तेज चला गया, और अन्त मे अश्विनौ ने उसे स्वस्थ किया (चि० अ० ८।१-१०)। इसका उल्लेख काठक सहिता (११।३) में है—

'वह चन्द्रमा तृण के समान सूखने लगा। वह प्रजापति के पास पहुँचा और शेष पुत्रियो को माँगने लगा। उसने कहा, सब नक्षत्रो मे समान रूप से वास करो तो, यक्ष्मा रोग से तुमको मुक्त कर दूँगा। इससे चन्द्रमा सब नक्षत्रो में समान रूप से वास करता है।'

प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओ के नाम—

कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, फाल्गुनी (पूर्वा), फाल्गुनी (उत्तरा), हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, आषाढा, राधा, श्रवण, श्रविष्ठा, शतभिषज, प्रोष्ठपदा, प्रोष्ठपदा उत्तरा, रेवती, अश्वयुज, भरणी, अभिजित् ये अट्ठाईस नक्षत्र प्रजापति की दुहिताएँ है (अथर्व० १९।७)।

चन्द्रमा प्रति नक्षत्र मे निवास करता हुआ अपना मार्ग पूरा करता है, यही चन्द्रमा का प्रजापति की पुत्रियो मे अभिगमन है। दूसरे और नक्षत्रो की अपेक्षा रोहिणी नक्षत्र में कुछ काल अधिक निवास करता है। यही चन्द्र की रोहिणी मे आसक्ति है। चन्द्र की कलाओ का क्रमश. अपक्षय ही चन्द्रमा का क्षय रोग है। (स्त्रियो मे अधिक अभिगमन से शुक्रक्षय होता है, जिससे यक्ष्मा होता है, इसको स्पष्ट करने के लिए यह कथानक है)।

अथर्ववेद में राजयक्ष्मा नाम पृथक् आया है ('यक्ष्माद् उत राजयक्ष्मात्'—अथर्व० ३।११।१), इससे स्पष्ट है, यक्ष्मा और राजयक्ष्मा दोनो शब्द अलग अर्थ में प्रयुक्त होते थे। यक्ष्मा रोग को कहते है, रोगो का राजा राजयक्ष्मा है। यह यक्ष्मा शरीर के सब अगो मे हो सकता है, इसलिए ऋ १०।१६३ मे शरीर के भिन्न-भिन्न अगो में से रोग नाश की प्रार्थना की गयी है। साथ ही इस सूक्त मे अगो के नाम भी आये है—'आँतो से, गुदा से, वनिष्ठु (उण्डूक), उदर, दो कुक्षियो में से, प्लाशी (प्लीहा) और नाभि से यक्ष्मा को दूर करता हूँ। दोनो ऊरुओ, जानुओ, दोनो पार्ष्णियो, प्रपदो, भसद्य (शिश्न) से, श्रोणियो से, भासद (शिश्नमणि) और भसस. (योनि) से यक्ष्मा-रोग को दूर करता हूँ।' (ऋ १०।१६३।४-५)

इसी प्रकार अथर्ववेद (९।८) मे सिर के तथा कान के रोगो का नाम लेकर दूर करने का उल्लेख है। शरीर के अन्दर के अवयवो से भी रोग निवारण की बात कही

गयी है। नवें मत्र मे कामला रोग, आवा (अतिसार या प्रवाहिका) रोग को उदर एव अगो मे से दूर करने का वर्णन है।

वात, पित्त और कफ का उल्लेख—वेद में रोग के तीन कारण बताये गये है, १—शरीरान्तर्गत विष, जिसके लिए 'यक्ष्म' शब्द आता है ('यक्ष्मणां सर्वेषा विषं निरवोचमहम्', सब रोगो के विष को दूर करता हूँ। अथर्व ९।८।१०), २—रोगों के कारण कृमि—यातुधान, (अथर्ववेद ५।२९।६-७ के अनुसार अन्न, जल, दूध आदि पदार्थों मे प्रवेश करके कृमि-जीवाणु शरीर मे जब पहुँचते है, तब पुरुष को रोगी कर देते है। यजुर्वेद १६।६ मे लिखा है कि जल आदि के जूठे पात्रो मे कृमि लगे रहते है। इन पात्रो मे भोजन करनेवाले के शरीर में ये कृमि पहुँचते है); ३—वात-पित्त-कफ तीसरा कारण रोगो का है। अथर्ववेद मे पिप्पली को वातरोग नाशक कहा है ('वातीकृतस्य भेषजी'—६।१०९।३)।

वेद मे वायु को प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान भेदो मे वर्णित किया गया है। पित्त को पित्त शब्द ने और कफ को कफ या [illegible] शब्द से कहा गया है। यथा—

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानम्।
समानमस्मिन् को देवोऽधिशिश्राय पूरुषे॥' (अथर्व. १०।२।१३)
देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा॥' (यजु. १।२०)

किस देव ने इस पुरुष में प्राण, अपान, व्यान को बुना। किस देव ने समान वायु को आश्रय दिया। देवो को तुम्हे प्राण, व्यान, उदान के लिए देता हूँ।

'अग्ने पित्तमपामसि' (यजु. १७।६; अथर्व. १८।३।५)
'यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्।'
(यजु. १९।८५)

'चाषेन पित्तेन' (यजु. २५।७)
'सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधे जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥' (अथर्व. १।२४।१)

अग्ने! तू जलो का पित्त (तेज) है (सुश्रुत मे अग्नि और पित्त एक ही माने गये हैं, 'न खलु पित्तव्यतिरिक्तोऽग्निरुपलभ्यते')। वरुण वायव्य पदार्थों से यकृत्, क्लोम, मतस्न (गवीनिका) की चिकित्सा करता हुआ अपित्त को नष्ट नही करता। प्रथम सुपर्ण—उत्तम पत्तोवाली वनस्पति उत्पन्न हुई। उससे तूने पित्त (उष्णिमा) प्राप्त की।

'विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।' (अथर्व. ६।१२।७।१)
'यो बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्चितौ।' (अथर्व. ६।१२७।२)
'आसो बलासो भवतु।' (अथर्व. ९।८।१०)
'नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।
अथोशतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी॥' (यजु. १२।९७)
मास्मैतान् सखीन्कुरुथा बलासं कासमुद्युगम्।' (अथर्व. ५।२२।११)

हे वनस्पते! विद्रधि, बलास और रक्त के रोग का नाश कर। जो बलास दोनो कक्षो में और जो कफ दोनो मुष्को मे ठहरा है (उसे दूर करता हूँ)। हे ओषधे! बलाश, अर्श और अन्य उपचित रोगो की तू नाशिका है। सैकडो रोगो का नाश करनेवाली है। हे ज्वर! बलास, कास, हिचकी रोग को अपना साथी न बना। (ये वात, पित्त, कफ आयुर्वेद शास्त्रसम्मत त्रिधातु ही है—यह नही कहा जा सकता।)

कृमियों के नाम—कृमि वर्णन वेदमत्रो में बहुत प्रकार से आया है। ऐसे शब्द इसके रूप और कार्य को बताते है। यथा राक्षस—'रक्षो रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षिणोति इति वा रात्रौ नक्षत इति वा।' (निरुक्त ४।१८) कहा गया है कि इससे बचना चाहिए, एकान्त में मारता है, रात्रि मे चलता है। पिशाच—'पिशितमश्नाति' कच्चा मास खाता है ('मासशोणितप्रियत्वाद् नित्य व्रणमुपसर्पन्ति'—सुश्रुत)। यातुधान—'यातुं (गन्तु) धीयते (अभिधीयते इति)' यह चलनेवाला कहा जाता है। अथवा 'यातना दु ख तदादधति ते यातुधाना.' जो पीडा पहुँचाते हैं, वे यातुधान है। असुर—'असून् प्राणान् राति आददाति इति' प्राणो को जो हरता हैं वह असुर है। किमीदी—'किमिदानीमिति चरते' (निरुक्त ६।११) छिद्रान्वेषण बुद्धि से विचरने-वाला; अथवा अब क्या खाऊँ—यही जिसे इच्छा रहती है। गांधर्व—'गा वाणी धारयति' सदा गूँजता रहता है—मच्छर। अप्सरा—'अप्सारिणी भवति' (निरुक्त ५।१३) पानी पर फैलनेवाला कृमि।

अत्रिण —(अ. ६।३२।३) भक्षण करनेवाला, अराति—(अथर्व ५।२३।२) शत्रु; अर्जुन—(२।३२।२) श्वेत वर्णवाला, अलिश—(८।६।१) चिपटनेवाला; क्रव्याद. (५।२९।८), कच्चा मास खानेवाला। इस प्रकार के लगभग एक सौ से अधिक नाम श्री रामगोपाल शास्त्री ने कृमियो के लिए वेदो में से एकत्र किये है।[1]

---

१. श्री रामगोपाल शास्त्री ने 'वेद में आयुर्वेद' पुस्तक बहुत विवेचना से लिखी है—उसे विस्तार के लिए देखें।

रोगों के नाम—वेद मे ज्वर के लिए 'तक्म' शब्द आता है (तकि कृच्छजीवने)। जिस प्रकार ज्वर, यक्ष्म, रोग सामान्य रोग अर्थ मे चलने के साथ-साथ विशेष अर्थ में भी बरते जाते है, उसी प्रकार 'तक्म' शब्द है, जिसका अर्थ सामान्य रोग भी है, और विशेष अर्थ ज्वर भी है ('अधरा च प्रहिणोमि नम कृत्वा तक्मने'—अथर्व० ५।२२।४) तक्म के लिए नमस्कार करके मै उसे नीचे भेजता हूँ।

'ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मस्तावानसि वल्हिकेषु न्योचरः॥' (अथर्व. ५।२२।५)

इस तक्म का स्थान मूजवान् है, इसका स्थान महाबल है। हे तक्मन्! जबसे तू उत्पन्न हुआ है, वल्हिको मे ही रहता है। मूजवान् इस पर्वत का वाजसनेयी सहिता (३।६१), तैत्तिरीय (१।८।६।२); काठक (९।७), मैत्रायणी (१।४।१०।२०); शतपथ (२।६।२।१७) और सुश्रुत (२९।५,३० चिकित्सा) मे उल्लेख है।

महाबल—जहाँ पर वर्षा अधिक होती है, सम्भवत. कश्मीर, इस देश का राजा हृत्स्वाशय था, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (३।४०।२) मे इसका उल्लेख है। वाह्लीक वदख्शा प्रदेश है।

अर्चि (अथर्व० १।२५।२)—ज्वाला, तपु (६।२०।१) तपानेवाला शोक (१।२५।३) चिन्ता करानेवाला, पाप्मा (६।२६।१) पापरूप, रुद्र (६।२०।२) रुलानेवाला, अगज्वर अगभेद (९।८।५) अगो मे रहनेवाला, अगो मे पीडा करनेवाला, अन्येद्यु (१।२५।४) अन्येद्युष्क; उभयद्यु; (१।२५।४) दो दिन होनेवाला (चातुर्थिक विपर्यय); तृतीयक (५।२२।१३) तीसरे दिन होनेवाला आदि लगभग रोगो के चालीस नाम श्री शास्त्रीजी ने सगृहीत किये है।

ओषधियों के नाम—रोग शान्ति के लिए वेद मे प्राकृतिक, खनिज, समुद्रज, प्राणिज तथा उद्भिज्ज द्रव्यो का ओषधि रूप मे प्रयोग मिलता है। प्राकृतिक ओषधियो मे सूर्य, चन्द्र (अथर्व. ६।८३।१), अग्नि (१०।४।२), मरुत (ऋ २।३३।१३), जल (ऋ १।२३।९), खनिज द्रव्यो मे अजन (अथर्व ४।९।९), सीसा (१।१६।४), सामुद्रज मे शख (अ ४।१०।४), प्राणिजो मे मृगशृग (अ ३।७।१); उद्भिज्जो में अनेक वीरुधो का वर्णन आता है।

ओषधि के पर्य्याय मे वीरुध (अ ८।७।२), भेषजी (८।७।८), वनस्पति (८।७।१६) आते है। ये ओषधियाँ जीवन प्रदान करनेवाली है। पुरुषजीवनी (अ ८।७।४) अग-अग से रोग निकालती है—('यस्यौषधी प्रसर्पथाङ्गमङ्गपरुष्परु। ततो यक्ष्म विबाधध्वम्'—ऋ० १०।९७।१२), ('यक्ष्ममेनमङ्गादङ्गादनीनशन्।'

(८।७।३), सुचारु रूप से प्रयुक्त ओषधि निष्फल नही जाती–'यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि' (ऋ० १०।९७।२२), 'य जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुष । (ऋ० २१०।९७।१७), वे सब प्रकार के रोग और सब प्रकार के कृमियो का प्रभाव दूर करती है 'अमीवा सर्वा रक्षास्यपहन्तु । (अ ८।७।१४), इनके सेवन से दीर्घायु पाप्त होती है 'यथा सञ्छतहायन (अ ८।७।२२) ।

[illegible] हे। जिसके घर मे इनका सग्रह रहता है और जो इनका ठीक प्रयोग जानता है, वही बुद्धिमान् भिषक् है (ऋ० १०।९७।६) । जिस समय वैद्य हाथ मे ओषधी को पकडता है, रोग उसी समय दूर भागना प्रारम्भ कर देता है (ऋ० १०।९७।११) ।

ओषधियाँ आय का साधन है । वैद्य को अपनी जीवनयात्रा के लिए ओषधियो से धन, गाय, अश्व, वस्त्र आदि प्राप्त होते हैं (ऋ० १०।९७।८) ।

औषधियो का विक्रय होता था । सामान्यत अत्रिपुत्र ने दुकानदारी के रूप मे इस विद्या का उपयोग निषिद्ध किया है; विशेषत केवल धन बटोरने के लिए । परन्तु इसके साथ ही उचित रूप मे इसका व्यवसाय करने का विधान किया है— (चरक सू अ ३०।२९), 'चिकित्सितस्तु सश्रुत्य यो वाऽसश्रुत्य मानव । नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृति ।। कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम् । ते हित्वा काञ्चन राशि पाशुराशिमुपासते ।।' (चि अ. १।४।५५-५९)

इसीलिए ओषधियो का एक विशेषण 'अपक्रीता' (अ ८।७।११) आता है; ये अमूल्य है, क्रय नही की जा सकती । ओषधियो को मूल्य से या परस्पर विनिमय से प्राप्त किया जाता था। कुष्ठौषधि धन से खरीदी जाती थी ('धनैरभि श्रुत्वा यन्ति— अ. ५।४।२), वरणावती ओषधि पवसा (सम्मार्जनी तृण) तथा मृगचर्मो के विनिमय से प्राप्त की जाती थी 'पवैस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत'—अ ४।७।६) । एक स्थान पर इसको बिकाऊ भी लिखा गया है ('प्रकीरसि' अ ४।७।६) ।

ओषधियों का ज्ञान—किन-किन रोगो मे अमुक ओषधी लाभ करती है, इसका ज्ञान परम्परा से होता था–'ये त्वा वेद पूर्व ईक्ष्वाको ये वा त्वा कुष्ठकाम्य । ये वा वसो यमात्स्यम तेनासि विश्वभेषज ।' (अथर्व १९।३९।९) । अगिरा द्वारा जानी गयी ओषधियो को 'आङ्गिरसी' कहा जाता है । ब्राह्मण, ऋषि और देव ओषधियो को पहले से जानते चले आये है—'यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवै' विदित पुरा' (६।१२।२); जंगलवासी भी ओषधियो को जानते हैं–'–कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।' (अ १०।४।१४, तुलना कीजिए- ''गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः ।

मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥' सुश्रुत सू अ ३६।१०)। ओषधियो के गुणो का ज्ञान पुरुषो को पशु, पक्षी आदि प्राणियो से होता है। इन प्राणियो मे गौ, अजा, अवि (अ ८।७।२५), वराह, नकुल, सर्प, गन्धर्व (८।७।२३); गरुड, रघट, हस (८।७।२४) का नाम लिखा है। इनके अतिरिक्त सब पक्षी (सर्वे पतत्रिण) तथा सब पशुओ (मृगा) से ज्ञान करने का उल्लेख है। पशु-पक्षियो के स्वभाव से वनस्पतियो के विषय मे ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

ये ओषधियाँ प्राणि-सृष्टि से पहले उत्पन्न हुईं—'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा।'

ऋग्वेद (१०।९७) तथा अथर्ववेद के (८।७) सूक्त मे ओषधियो के गुणबोधक बहुत नाम आये है। यथा—अशुमती '(८।७।४), दीप्तिवाली; अग्र आप', जिनका मुख्य जीवन जल है; अपागर्भ, जलो को गर्भ में धारण करनेवाली; अपुष्पा (ऋ० १०।९७।१५) पुष्परहित; अफला (फलरहित); एकशुगा (८।१७।४), एक सीगवाली; कृत्यादूषणी (८।७।१०), कृत्यानाशक, गो-भाज. (ऋ १०।९७।५), भूमि से जीवन लेनेवाली, दिव्य, दिव्य गुणोवाली, पर्णवसति (१०।९७।५), पत्तो पर जिनका निवास है (वृक्षो की श्वास-प्रश्वास क्रिया पत्तो से ही होती है; इस-लिए पत्तो पर मिट्टी जमने नही देनी चाहिए। पानी पत्तो पर से देना चाहिए।) प्रचेतस अन्त चेतनावाली, प्रतन्वती—विस्तृत; प्रसूमती—बढनेवाली, प्रसूवरी—उत्पादक, प्रस्तृणवती—फैलनेवाली, मधुमती—मधुरतायुक्त, मातर—माता के समान, विशाखा—नाना शाखाओवाली, सहस्रपर्ण्य—अनेक पत्तोवाली आदि अनेक नाम आते हैं।

कृत्या वर्णन—सुश्रुत में कृत्या का उल्लेख आता है (सूत्र अ ५।२०), यथा—कृत्या का अर्थ अभिचार-जनित राक्षसकर्म या मारक प्रयोग है, उसकी शान्ति के लिए रक्षा कर्म करने की विधि है। कृत्या के लिए अथर्ववेद मे आता है—

'शं नोभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः शं नो निखाता बलगः।'

(अथर्व. १९।९।९)

कृत्-हिंसायाम् धातु से 'कृत्या' शब्द बना है, जिसका अर्थ हिसक क्रिया है। कृत्या के अर्थ मे अभिचार और वलग शब्द भी आते है ('वलगं वा निचख्नु'—अथर्व. १०।१।-१८)। वलग यह एक घातक प्रयोग है जो शत्रुओ के वध के लिए बाहु प्रदेश मात्र भूमि खोदकर नीचे गाड दिया जाता है। अभि-पूर्वक 'चर' धातु से अभिचार शब्द बना है, मारने के लिए जो कर्म किया जाता है वह अभिचार है।

कृत्या दो प्रकार की है—आगिरसी और आसुरी ('या कृत्या आगिरसीर्या कृत्या आसुरी'—अथर्व ८।५।९)। कृत्या के प्रयोक्ता विद्वान्, साधारण पुरुष, ब्राह्मण, राजा, शूद्र, स्त्री आदि होते हैं (अ १०।१।३)। कृत्या की आकृति बनाकर प्रयुक्त की जाती है, इसे सिर, नाक, कान और पादोवाली लिखा है (अ ११।१०।६)।

कृत्या प्रभाव नाशक द्रव्य—आजन ('नैन प्राप्नोति शपथो न कृत्या'—अ ४।९।५), अपामार्ग ('अनयाहमोषध्या सर्वा कृत्या अदूदषम्'—अ ४।१८।५, 'अपाघमपकिल्विषमपकृत्यामपोरप। अपामार्ग त्वमस्मदप दुस्वप्न्य सुव॥' यजु ३५।११), जगिडमणि ('कृत्यादूषिरिय मणि'—अ २।४।६); प्रतिसरमणि ('प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीर'—अ ८।५।२)। कृत्या के प्रभाव को नाश करने के लिए यह मणि प्रयुक्त होती थी (अ ८।५।५)। वेद में कृत्या, अभिचार तथा वलग प्रयोगो की निन्दा की गयी है (अ १०।१।३१)।[1]

आजन—वेद मे अजन के लिए आजन नाम आता है। त्रिककुद् पर्वत पर उत्पन्न होने से इसे त्रैककुद और यमुना मे उत्पन्न होने से यामुन कहते थे। त्रिककुद् को आजकल तिकोट कहते हैं (डा० अग्रवाल का पाणिनिकालीन भारत)।

यह आजन पुरुष, अश्व तथा गौओ के लिए लाभकारी है ('परिपाण पुरुषाणा परिपाण गवामसि। अश्वानामर्वता परिपाणाय तस्थिषे।'—अ ४।९।२); इसके सेवन से आयु बढती है ('आयुषो-सि प्रतरणम्'—१९।४४।१)। कष्ट निवारण के लिए इसे आँखो मे आँजते थे, शरीर पर बाँधते थे, शरीर पर लेप करते थे और खाते थे ('आश्चैक मणिमेक कृणुस्व स्नाह्येकेनापिबैकमेषाम्।'—अ. १४।४५।५)। यजु ३०।१४ मे आजनकारी, ऋग्वेद १०।१४६।६ में आजनगन्धी, काठक सहिता में आजनगिरि, शाखायन ब्रा (३।४) में आजनहस्ता, ऐतरेय ब्रा (१।३) मे 'तेजो वा एतदक्ष्योर्यदञ्जनम्' मे इसका उल्लेख है।

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड और ९ वे प्रपाठक मे ऋषि भृगु देवता त्रैककुदाजन से कहते है—

"हे आजन! प्राणीमात्र की रक्षा करता हुआ तू मेरे पास आ, तू पर्वत की आँख है, पर्वत पर उत्पन्न होता है, सब देवो ने तुझे दिया है, तू जीवो के जीवन की परिधि

---

१. कौटिल्य अर्थ शास्त्र के सांग्रामिक प्रकरण १५०-१५२, अ ३ सूत्र ५० में इसका उल्लेख है—"पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयु:"—पुरोहित पुरुष कृत्या देवता के द्वारा अभिचार करायें।

है। हे आजन ! जो तुझे धारण करता है उसे शाप, कृत्या और अभिशोक प्राप्त नही होते, न उसे विष्कन्ध-रोग होता है। हे आजन ! तेरे ये सब गुण मै जानता हूँ, सत्य कहूँगा, झूठ नही। हे रोगी पुरुष ! तेरी आत्मा को बचाता हुआ घोड़े और गौ को प्राप्त करूँ। हे पुरुष ! चतुर्वीर अजन तेरे लिए बाँधा जाता है, तेरे लिए सब दिशाएँ अभय हो। हे आर्य्य ! सूर्य की भाँति दृढ खडा रह, ये प्रजाएँ तेरे लिए बलि लाये।" (अथर्व १९।४५।४)

सीसा—वैदिक काल मे स्वर्ण, चाँदी, लोह, सीसक आदि धातुओ का प्रयोग होता था—('हिरण्य च मेऽयश्च मे श्याम च मे लोह च मे सीस च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' यजु १८।१३), इनमे सीसक का प्रयोग ही खाने मे मिलता है। सीसा इन्द्रियो के लिए बलदायक है ('सीसेवदुह इन्द्रियम्'—यजु २१।३६, तुलना करे—'नागो हि नागसममेव बल दधाति।' धन्व नि)। सीसा राक्षसो को नष्ट करता है ('इद बाधत अत्रिण या जातानि पिशाच्या।'—अ १।१६।३)।

'हे कृमि ! यदि तू हमारी गाय, घोडे और पुरुष की हिंसा करता हो, तो तुझे हम सीसे से बीधते है, जिससे तू हमारे वीरो को मारनेवाला न रहे। सीसे पर मल रखकर, सिर की पीडा को सिरहाने रखकर, काली भेड़ को साफ करके यज्ञ के योग्य पवित्र बनो।' (अथर्व १।१६।४)

सद्वृत्त—अत्रिपुत्र ने चरक में सद्वृत्त का लाभ बताते हुए कहा है—'सद्वृत्त का पालन करने से एक साथ आरोग्य और इन्द्रियजय दोनो मिलते है, इसलिए उसका पालन करना चाहिए। उसके पालन करने से इहलोक और परलोक दोनो मे कीर्त्ति होती है' (सू अ ८)। यही सद्वृत्त वेद मे भी है। यथा—

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम' (ऋ ५।५१।१५) कल्याण पथ पर चले। 'सत्य वदन् सत्ये कर्मन्' (ऋ ९।११३।४) सत्य बोले, सच्चे कर्म करे। 'सत्योक्ति परिपातु विश्वत' (ऋ १०।३७।२) सत्य वचन सब ओर से रक्षा करे। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्' (यजु ४०।१७) सुनहले पात्र से सत्य का मुख ढँका है। 'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत' (ऋ १०।७३।६) दुष्ट सत्य के पथ पर नही चलते। 'मधुमती वाचमुदेयम्' (अथर्व १६।२।२) मीठे वचन बोलें। 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' (यजु ९।२१) आयु परोपकार में लगाये। 'तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु' (यजु ३४।१) मेरा मन शुभ सकल्पवाला हो। 'दिवमारुह तपसा तपस्वी' (अ १३।२।२५) तपस्वी तप से ऊँचा उठता है। 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' (अथर्व ११।७।१९) ब्रह्मचर्य और तप से देव मृत्यु को जीत लेते है। 'मा गृध कस्यस्विद् धनम्' (यजु ४०।१) किसी के

धन पर आँख न लगा। 'न स सखा यो न ददाति सख्ये' (ऋ १०।११७।४) वह मित्र नही, जो मित्र की सहायता नही करता। 'कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सत्य आहित.' (अ ७।५२।८) पुरुषार्थ मेरे दाये हाथ मे है और विजय बाये हाथ मे है। 'उद्यान ते पुरुष नावयानम्' (अ ८।१।३) हे पुरुष, तू उन्नति की ओर कदम बढा, अवनति की ओर नही। 'अक्षैर्मा दीव्य' (ऋ १०।३४।३) जुआ मत खेल। 'ईर्ष्यो मृत मन:' (अथर्व ५।१८।२) ईर्षा से मन मरता है, इत्यादि।

रोग विज्ञान—वेदो मे कुछ रोगो के नाम तथा कुछ रोगो के लक्षण स्पष्ट आते है। उदाहरण के लिए ज्वर के लिए 'तक्मन' शब्द आता है। श्री दुर्गाशकर भाई ने 'तक्मन' का शीत ज्वर (मलेरिया) अर्थ किया है। इस ज्वर के अन्येद्युष्क और तृतीयक भेद बताये है। ज्वर एक भयकर रोग है ('भीमास्ते तक्मन हेतय.'—अ वे. ५।२२।१०)। चरक मे ज्वर सब रोगो मे प्रबल कहा गया है। यह सब प्राणियो मे होता है, उत्पत्ति और मृत्यु के समय भी होता है। (चरक नि अ १।३५)

ज्वर का ज्ञान अथर्वा ऋषि को अच्छी प्रकार था। शरद् ऋतु मे इसका विशेष प्रकोप होता था ('तृतीयक वितृतीय सदिन्दुमथ शारदम्'—अ वे ५।२२।१३)। ज्वर के उपद्रव कास, जुकाम, सिर दर्द आदि का भी उल्लेख है। ज्वर के कारण होनेवाले कामला रोग का भी उल्लेख है। तक्म नाशन (ज्वरहरण) के लिए कुष्ठ (कूठ) का विशेष वर्णन है।[1]

जलोदर—यह रोग इस देश मे पुराना है। वरुण के अपराध के कारण यह होता है। अथर्ववेद के तीन सूक्तो मे (१-१०, ७-८३, ६-२४) इस रोग का उल्लेख है। अथर्ववेद के छठे सूक्त मे (६।२४।१) हृदय रोग का उल्लेख है। इसमे बताया गया है कि जलोदर रोग हृद्रोग का परिणाम है। अथर्ववेद मे 'आस्राव' नामक रोग आया है (अ वे १।२, २।३।, ६।१४)। टीकाकारो ने इसका अ[illegible] किया है परन्तु इससे मूत्रातिसार, रक्तस्राव आदि का भी निर्देश माना जा सकता है। 'विषूची' का उल्लेख अथर्ववेद मे (६।९०) है। वहाँ पर इसका अर्थ पेट का विकार ही है, न कि हैजा, जैसा कि अत्रिपुत्र ने विसूचिका को आमदोष बताया है ('त द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिपज विसूचिकाम्, अलसक च'—चरक वि अ २।१०)। अवरुद्ध मूत्र को निकालने के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त है (१।३)। क्षेत्रिय रोग को भी दूर

---

१ **ज्वर के लिए देखिए—अ. वे.** १।२५; ५।२२; ६।२०; १९।३९; ५।५; ९।८।६; ७।११६.

करने की प्रार्थना अथर्ववेद मे है (२।८; २।१०; ३।७)। किसी ओषधि को भी क्षेत्रिय नाशनी कहा गया है।

यक्ष्मा शब्द सामान्यत रोगवाचक है (ऋग्वेद १०।१६३, 'तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्'—चरक नि अ १।५)। अथर्ववेद मे भिन्न-भिन्न अगो मे यक्ष्मा को नाश करने के लिए प्रार्थना की गयी है[1]। वाजसनेयी सहिता मे एक सौ प्रकार के यक्ष्मा का उल्लेख है (१२।९७), वहाँ पर बहुत-से रोग विवक्षित है।

राजयक्ष्मा—(क्षय) शब्द ऋग्वेद (१०।१६३) तथा अथर्ववेद (३।११।१) मे आया है। सायण ने राजयक्ष्मा से वर्तमान कालीन क्षयरोग ही लिया है, इसके लिए तैत्तिरीय सहिता का वचन है–'राजा अर्थात् चन्द्रमा को क्षयरोग पहले हुआ। इसलिए इसे राजयक्ष्मा कहते है, (तै स २।५-६; तुलना कीजिए—'राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामय। तस्मात्त राजयक्ष्मेति केचिदाहु पुनर्जना ॥' सुश्रुत उ अ ४१।५)।[1]

यजुर्वेद की सहिताओ मे यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति बताते हुए उसको तीन प्रकार का कहा गया है, राजयक्ष्मा, पापयक्ष्मा और जायान्य (तै स २।३।५२, का सं.१३।२, मै स २।२।७, श ब्रा. ४।१।३९) अथर्ववेद में राजयक्ष्मा के साथ अज्ञात यक्ष्मा शब्द भी है, जिसका अर्थ न पहचाना हुआ रोग है। 'जायान्य' शब्द अस्पष्ट है, इसके भिन्न-भिन्न अर्थ विद्वानो ने किए है, जैसे, सिफलिस, गठिया आदि।

अर्श—वाजसनेयी-सहिता के एक ही मत्र मे बलास, अर्श, उपचित् और पाकारु इन चार रोगो का उल्लेख है। इनमे अर्श शब्द स्पष्ट है (अरिवत् शाति-हिनस्ति इति अर्श—शत्रु के समान पीडा देता है)। उपचित् से अपची अर्थ ले सकते है, क्योकि अपची का अन्यत्र (अ वे ६।८३) उल्लेख है। बलास शब्द अथर्ववेद मे रोग अर्थ मे आता है (४।९।८, ५।२२।११, ६।१४।१ आदि मे)। सायण ने एक स्थान मे

---

१ चरक में राजयक्ष्मा की उत्पत्ति एक अलकारिक रूप में बतायी गयी है (चि. अ. ८।३-१०); राजा चन्द्रमा का विवाह प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओ से होता है।

इस कथानक में प्रजापति की अट्ठाईस कन्याएँ अट्ठाईस नक्षत्र है। इनमें रोहिणी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का विशेष सम्बन्ध कुछ अधिक देर रहता है। इसी को आसक्ति कहा है। अधिक स्त्री प्रसंग से राजयक्ष्मा रोग होता है, यह स्पष्ट करने के लिए ही यह कथानक है। अग्निवर्ण को भी राजयक्ष्मा इसी कारण से हुआ था—"आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥" (रघुवंश १९।४८।)

बलास का अर्थ सन्निपात किया है और अन्य स्थान पर (अ वे १९।३४।१०) क्षय अर्थ किया गया है। ज्वर के साथ कास और बलास का उल्लेख अथर्ववेद मे (५।२२।११) है। पाकारु का अर्थ मैकडानल और कीथ ने व्रण किया है।[1]

जम्भ—अथर्ववेद मे (२।४।२, ८।१।१६) जम्भ शब्द का उल्लेख है। इस रोग मे दोनो जबडे जुड़ जाते है। इसके तथा कौशिक सूत्र के विनियोग के आधार पर बेवर, ब्लूमफील्ड आदि विद्वानो के मत से बालको मे होनेवाले आक्षेप या अपतन्त्रक, अपतानक (मृगी-हिस्टीरिया-कन्वलशन्न) की स्थिति स्पष्ट होती है। कौशिक सूत्र के आधार पर यह बालको की ग्रहपीडा प्रतीत होती है, जैसा कि सुश्रुत मे कहा गया है—('एव ग्रहा समुत्पन्ना बालान् गृह्णन्ति चाप्यत। ग्रहोपसृष्टा बालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मता ॥' उत्तर अ ३७।२०)

अप्वा (अथर्व ९।८।९) का अर्थ मरोडा या अतीसार है। **ग्राह** का उल्लेख शतपथ (३।५।३।२५) तथा अथर्ववेद (११।९।१२) मे है। अथर्ववेद मे इसका अर्थ ऊरुस्तम्भ है। **ग्रैव्य** (अ वे ६।२५।२) का अर्थ गण्डमाला किया जा सकता है। **पामा** (अ वे ५।२२।१२) का पाठान्तर पामन् भी है। आयुर्वेद मे यह शब्द कुष्ठ के एक भेद के लिए प्रसिद्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी यह शब्द आता है ('सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश'—४।१।८)। यहाँ पर यह शब्द कुष्ठ रोग के लिए ही आया है। अथर्ववेद के **विकिलन्दु** (१२।४।५) का अर्थ ब्लूमफील्ड जुकाम करते है। **विल्हित** (अथर्व ९।८।१, १२।४।४) रोगवाचक शब्द है, ब्लूमफील्ड इसका अर्थ नाक से बहनेवाला रक्तस्राव करते है, ह्वीट इसका अर्थ पाण्डुरोग करते है। **विशर** अथर्ववेद मे (२।४।२) आता है, जीमर ने इसका अर्थ ज्वर से होनेवाला अगो की पीडा (अगमर्द) किया है। **वातीकर** (९।८।२०) का अर्थ वायु से होनेवाली पीडा है। ब्लूमफील्ड भी यही अर्थ मानते है। अथर्ववेद मे अनेक स्थानो पर **'विष्कन्ध'** शब्द आता है (३।९।६)। इसका अर्थ स्पष्ट नही, सन्धिवात, राक्षस, तथा सामान्य रोगवाचक कई अर्थ विद्वानो ने किये है।

सिर के रोगो के लिए अथर्ववेद में 'शीर्षक्ति' और 'शीर्षामय' शब्द आते है

---

१ 'नाशयित्री बलासस्यासि उपचितामपि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशिनी ॥' (वा. सं. १२।९)

महाभारत में भी त्रिधातु शब्द आता है—'आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते।'—उद्योग पर्व

(१।१२।३; ९।८।१; ५।४।१०)। **श्लोण्य** शब्द तैत्तिरीय सहिता मे (३।९।१७।२) आता है। मैकडोनल और कीथ इसका अर्थ लँगडापन करते है। **श्वित्र**—पंचविश ब्राह्मण मे (१२।११।११) श्वित्र शब्द आता है, जिसका अर्थ श्वेत रोग (श्वेतकुष्ठ) है। अथर्ववेद (१।२३।४) और वाजसनेयी सहिता (३०।२१) एव पचविश ब्राह्मण (१४।३।७) मे आया 'किलास' शब्द आयुर्वेद का किलास रोग ही है।

सिध्मल—वाजसनेयी सहिता (३०।१७) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१०) मे रोग वाचक अर्थ में आता है। आयुर्वेद में सिध्म को कुष्ठ का एक भेद कहा गया है। सम्भवत सिध्म ही सिध्मल है, सिध्म रोगवाले को भी सिध्मल कहते है। ऋग्वेद के **'सुराम'** (१०।१३१।५) शब्द का अर्थ मैकडानल और कीथ ने मदात्यय किया है। हरिमत् शब्द ऋग्वेद (१।५०।११) तथा अथर्ववेद (१।२२।१, ९।८।९) मे पीलेपन कामला रोग के लिए आया है। हृदामय, हृद्रोग और हृद्योत शब्द वेद में हृदय के रोगो लिए आते है (ऋग्वेद मे १।५०।११ और अथर्ववेद में १।२२।१, ५।३०।९)। हृद्रोग पीछे से चला है।

रोग निदान—वेद मे त्रिधातुवाद की मान्यता है। तीन धातुओ की विषमता से रोग होते है (ऋ० १।३४।६)। अथर्ववेद मे एक स्थान पर अभ्रज, वातज और शुष्म तीन प्रकार के रोग कहे गये है।[1] इनमें वातज रोग स्पष्ट है, अभ्रज का अर्थ कफज और शुष्म का अर्थ पित्तज रोग सायण ने किया है।

वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थो में शारीरिक और आगन्तुक ये दो कारण रोगो के माने गये है। आगन्तुक कारणो को राक्षस, यातुधान, सर्प नाम दिया गया है। कायिक रोगो के लिए रोग, अमीवन् शब्द आता है; वैद्य हरिप्रपन्नजी की ऐसी मान्यता है।

शल्यतन्त्र—क्षत (अ वे ७।७६।४); विद्रधि (६।१२७।१); छिन्न-भिन्न (४।१२), व्रण (२।३) आदि रोगो का वेद में उल्लेख है। टूटी या कटी अस्थियों को जोडनें; जुडे हुए या कटे हुए अग को ठीक करने तथा पृथक् हुए मास और मज्जा को स्वस्थ करने की ओषधि से प्रार्थना अथर्ववेद में है (४।१२)। रक्तस्राव के लिए पट्टी बाँधने (१।१७) तथा रेत से भरी थैलियो से दबाव देने का उल्लेख है। एक मत्र में व्रण पकाकर उससे पूय-स्राव करने का उल्लेख है(अथर्व. २।३।५)। अपची

---

१ चरक में भी तीन प्रकार के रोगों का उल्लेख है—"अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति–आग्नेयाः सौम्या वायव्याश्च॥' (चरक. नि. अ. १।४)

रोग के लिए वेधन और छेदन उपचार कहा गया है (७।७४।२)। परन्तु मुख्यत वनस्पति, पानी और मत्र से चिकित्सा का काम लिया गया है।[1]

अगद तत्र—ब्राह्मणो, सूत्रो और उपनिषदो मे सर्पविद्या का उल्लेख है (श. ब्रा १०।१५।२।२०, सा श्रौ सू. १६।२।२५; आ श्रौ सू १०।७।५, छा उ. 'सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि'—७।१)। यह विद्या विशेषत आथर्वण विद्या है। अथर्ववेद मे सर्पविष सम्बन्धी कई सूक्त है (५।१३, ५।१६, ६।१६, ७।५६)। विषयुक्त आहार का भी अथर्ववेद मे उल्लेख है (४।६)।

रसायन—अथर्ववेद तथा अन्य वेदो मे आयुष्य-सूक्त पर्याप्त आते है, श्रौत और गृह्य-सूत्रो मे आयुष्य सम्बन्धी मत्र पुष्कल मिलते है। 'जीवेम शरद शतम्' की भावना अनेक मत्रो में मिलती है। अथर्ववेद मे आयुष्यवर्धक अनेक मत्र है।

रसायन विद्या से वय स्थापन, आयु तथा बल मिलता है और रोगो को दूर करने की सामर्थ्य आती है। इसके लिए 'ब्रह्मचर्य' एक मुख्य आचरण है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य मे विशेष मिलता है।[2]

वाजीकरण—अथर्ववेद मे वाजीकरण ओषधियो का स्पष्ट उल्लेख है। वाजीकरण का अर्थ जिसमे शक्ति या वीर्य न हो उसमे शक्ति या वीर्य उत्पन्न करना है ('अवाजिन वाजिन कुर्वन्ति, येन वा अत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्र तद् वाजीकरणम्, वाजो वेगः प्रस्तावात् शुक्रस्य, स विद्यते येषा ते वाजिन, ते क्रियन्तेऽनेन इति वाजीकरणम्, वाजः शुक्र सोऽस्यास्ति इति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरणम्')।

---

१. 'अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्धृतम्।
तदास्रावस्य भेषज तदु रोगमनीनशत्॥' (अ. वे. २।३।५)
'विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्या मासामाच्छिनद्मि स्तुकामिव॥' (अ. वे. ७।७४।२.)

२. रसायन, दीर्घायु के लिए ब्रह्मचर्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी से उपनिषद् में ब्रह्मचर्य का विशेष महत्त्व बताया गया है (छा. उ. ८।४)। इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्मा के विषय में पूछने के लिए जब गये, तब उन्होंने पहले ३२ साल ब्रह्मचर्य पालन किया। इसके बाद पुनः पूछने जाने पर इन्द्र ने ३२, ३२ वर्ष दो बार तथा अन्तिम बार पाँच साल ब्रह्मचर्य पालन किया था (छा. उ. ८।६)। इसी से कहा है—
'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयपरायणम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्॥' (सं. हृदय वाजीकरण)।

अथर्ववेद मे ओषधियो के सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख नही है, परन्तु "जिसका वीर्य क्षीण हो गया है, इस प्रकार के वरुणदेव के लिए गन्धर्वों ने जिस ओषधि को खोदा था, उपस्थ को उत्तेजना देनेवाली उस ओषधि को मै खोदता हूँ।" इन शब्दों मे स्पष्ट वाजीकरण का उल्लेख है।[1] इसी सूक्त मे ओषधि के बाद मत्र शक्ति द्वारा वाजीकरण शक्ति बतायी गयी है। वाजीकरण का उपयोग प्रजा-सतान की उत्पत्ति के लिए होता था। यह बात इस सूक्त और गर्भाधान सूक्त (अ वे. ५।२५) से स्पष्ट है।

गोपथ ब्राह्मण मे भेषज को ही अथर्व कहा गया है ('येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्'—३।४)। जो अथर्वा है, वह भेषज है। भेषज का एक पर्य्याय 'प्रतिषेध' है। यथा—

'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः' (निरुक्त. ११।१९)

'थर्वति' का अर्थ गति है, उसका जो प्रतिषेध करे वह अथर्वा है। औषधि बढ़ते हुए रोग को रोकती है, इसलिए उसे अथर्वा कहते है। यही अथर्वा आयुर्वेद के साथ सम्बद्ध है।

स्वर्ण का चिकित्सा में उपयोग—अत्रिपुत्र ने स्वर्ण के लिए कहा है कि जो व्यक्ति स्वर्ण का सेवन करता है, उसके शरीर में विष नही लगता, जिस प्रकार से कमलपत्र के ऊपर पानी का स्पर्श नही होता (चि. २३।२४०)। स्वर्ण आयुवर्धक, ओजवर्धक है, जैसा कि यजुर्वेद मे कहा गया है—

'यह सोना आयु के लिए हितकारी है, कान्तिदायक है, धन-समृद्धि से पुष्ट करता है, सब रोगो का भेदन करनेवाला है, वर्चस्व-तेज देता है। रोगों से जय प्राप्त करने के लिए यह मुझे प्राप्त हो।' (यजु ३४।५०)

सोने से न राक्षस बच सकते है और न पिशाच, इसको कोई भी लाँघ नही सकता। स्वर्ण से कोई रोग नही बच सकता। जो व्यक्ति दाक्षायण स्वर्ण का सेवन करता है, या कराता है, उस करनेवाले और करानेवाले दोनो को दीर्घ आयु मिलती है। (यजु ३४।५१)

सर्प-चिकित्सा—अत्रिपुत्र ने स्थावर और जगम दो प्रकार के विष कहे है। ये दोनो विष परस्पर विरोधी है; स्थावर विष (मूलज विष) ऊर्ध्वगामी है और जगम विष अधोगामी है। इसलिए स्थावर विष जगम को और जंगम स्थावर विष को नष्ट

---

१. **'यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे।**
तां त्वा वयं खनाम्यस्योषधिं शेफहर्षणीम्॥' (अ. वे. ४।४।१)

करता है ('तस्माद् दष्ट्राविष मौल हन्ति, मौल च दष्ट्रजम्'—चरक. चि अ. २३)।[१] यह वेद मे भी कहा गया है कि 'विष विष को नष्ट करता है'—

'चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येऽवु त्वा विषम् ॥' (अथर्व. ५।१३।४)

हे सर्प ! आँखो के तेज से तेरी आँखो को नष्ट करता हूँ और विष से (स्थावर विष से) तेरे विष को नष्ट करता हूँ। हे साँप ! मर जा, मत जी ।

'कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आमे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपिष्ठाता श्रावयन्तो निविषे रमध्वम् ॥'
(अथर्व. ५।१३।५)

हे कैरात ! पृश्नि, उपतृण्य, वभ्रु, असित और अलीक नामवाले सर्प ! तुम मेरे मित्र के घर मे न ठहरो और खटका सुनने ही विषैले स्थान पर रमण करो ।

सुख प्रसव के लिए प्रार्थना—'जिस प्रकार से वायु बिना रुकावट के बहती है, जितनी तेजी से मन चलता है, जिस प्रकार सुखपूर्वक पक्षी उडते हैं, इस प्रकार दसवें मास में हे गर्भ ! तू गर्भाशय से बाहर आ जा।' (अथर्व १।११।६)

अथर्ववेद में आये हुए आयुर्वेद सम्बन्धी विषयो की सूची निम्नलिखित है, जिससे चिकित्सा विषयक सूक्तो की विस्तृत जानकारी मिल जाती है—

---

१. महाभारत में भी स्थावर विष की चिकित्सा जंगम विष से कही गयी है। दुर्योधन द्वारा भीम को दिये हुए विष की शान्ति नागों के काटने से हुई थी। इस घटना से स्पष्ट है ('हृतं सर्पविषेणैव स्थावर जंगमेन तु'—आदि. १२७।५७)। महादेव शिव के गले में पिये हुए हलाहल का प्रतिकार उसमें लिपटे हुए साँप ही कर रहे हैं। गंगा की शीतल धारा उनके सिर पर गिरकर विष की गरमी दूर करती है, माथे पर स्थित चन्द्रमा विष की नीलिमा, कालिमा को अपनी द्युति से धो रहा है। तभी महादेवजी आज भी जीवित हैं। सिकन्दर का सेनापति नियार्कस लिखता है कि यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते थे; परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पडे, उन सबको भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया।' मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ११२

उपनिषदों में सर्पविद्या और देवजन विद्या का उल्लेख विद्याओं में आता है ('सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि'—छांदोग्य ७।१।२)। शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।-१४ भी देखिए।

अजन ७।३०।३६, अपामार्ग ४।१७, ४।१८, ४।१९, अपाभेषज १।४, ५, ६, ६।२३, २४, अक्षिरोग भेषज ६।१६, आञ्जन ४।९, १९।४५, आप १।३३ ३।१३, ७।३९, १९।२, ६९, आस्राव की ओषधि २।३, ओषधि ८।७, ६।५९, कुष्ठौषधि ६।९५, केशवृहण ६।१३६, केशवर्धन ६।१३७, केशवर्धनी ओषधि ६।२१, गर्भसस्राव २०।९६, ११-१६, पिप्पली भैषज्य ६।१०९, पृश्निपर्णी भैषज्य ६।२२, ५२, ८३, १९।४४, रोहिणी वनस्पति ४।१२, लाक्षा ५।५, वनस्पति ३।१८, वाजीकरण ४।४, विष भैषज्य ७।५६, सौभाग्यवर्धन ६।१३९।

रोगादि निवारण—इषु निष्कासन ६।९०, उन्मत्तता मोचन ६।१११, कास-शमन ६।१०५, कुष्ठ-तक्म नाशन ५।४, कुष्ठनाशन १९।३९, क्लीवत्व नाशन ६।१३८, गर्भबृहण ६।१७, गर्भदोष-निवारण ८।६, गण्डमाला-चिकित्सा ७।७४-७६; चिकित्सा ६।९६, जल-चिकित्सा ६।५७, ज्वरनाशन १।२५, ७।११६; तक्म नाशन ५।२२, दुस्वप्न नाशन २०।९६, नारी सुखप्रसूति १।११, बलास नाशन ६।१४; मूत्र मोचन १।३, यक्ष्म नाशन १।१२, ३।७, ३१, ६।२०, ८५, ९१, १२७, १२।२; १९।३८, २०।९६, ६-१९, १७-२३, रुधिरस्राव को रोकने के लिए धमनी को बाँधना १।१७, रोग नाशन ६।४४, रोग निवारण ४।१३, रोगोपशमन १।२, ५।१५, वृष रोग नाशन ५।१६, श्वेत कुष्ठ नाशन १।२३, २४, सुमगल दन्त ६।१४०, हृद्रोग; कामला शमन १।२२, क्षेत्रियरोग निवारण २।८।

कृमि नाशन—कृमिघ्न ५।२३, कृमि जम्भन २।३१, कृमि नाशन २।३२, ४।३७।

विष नाशन—विषघ्न ४।६, विष दूषण ६।१००, विष नाशन ४।७, सर्पविष दूरीकरण १०।४, सर्पविष नाशन ५।१३, ७।८८, सर्पविष निवारण ६।१२, साँपो से रक्षा ६।५६।

अरिष्ट नाशन—अरिष्ट क्षपण ६।२७-२८-२९-८०, अलक्ष्मी नाशन १।१८; असुर क्षपण ६।७, १९।६६, ईर्ष्या विनाशन ६।१८, ७।४५, कृत्यादूषण १०।१; कृत्या परिहरण ५।१४-३१, दस्यु नाशन २।१४, पिशाच क्षपण ४।२०, मन्यु शमन ६।४३, यातुधान नाशन १।७-८, यातुधान क्षपण ६।३२, रक्षोघ्न १।२८।५२९।

(अथर्ववेद सहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित)

इस प्रकार से आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयो का अथर्ववेद मे विस्तार से वर्णन होने के कारण आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है।

सक्षेप मे आयुर्वेद के सब अगो का उल्लेख वेदो मे मिल जाता है, अन्यो की अपेक्षा अथर्ववेद मे अधिक उल्लेख है; क्योकि यह वेद पीछे बना। तब तक लोगो को

रोग तथा उसके उपायो की जरूरत विशेष रूप से अनुभूत नही हुई थी। वेद कोई आयुर्वेद के स्वतन्त्र ग्रन्थ नही, उनमे तो जीवन के लिए उपयोगी (कृषि, वस्त्र बुनना आदि) तथा अध्यात्मसम्बन्धी सब प्रकार के विषय बीजरूप मे मिलते है। पीछे से इन विद्याओ का [illegible] हुआ।

कौशिक सूत्र—अथर्ववेद का सूत्रग्रन्थ कौशिक है। ब्लूमफील्ड ने कौशिक सूत्र को पिछले सूत्रकाल का ग्रन्थ माना है। इसका समय ३००-४०० ईसवी पूर्व माना जा सकता है। कौशिकसूत्र मे वनस्पति सम्बन्धी जानकारी विशेष रूप से दी गयी है। रोगो के नाम इसमे मिलते हैं। उदावर्त्त का उल्लेख है (४।२५।१९), औषध निर्माण मे फाट का उल्लेख है(४।२५।१८)। जलौका लगाने का, नस्य देने का (४।२६।८)विधान है। 'वरुण-गृहीत' शब्द का अर्थ टीकाकार ने जलोदरी किया है, जो ठीक है। वरुण के कोप से जलोदर रोग होने का आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्र उपाख्यान से समर्थित है। सर्पविष के ऊपर हल्दी के चूर्ण को घी मे मिलाकर पिलाने का उल्लेख कौशिक सूत्र मे है (४।२८।४), परन्तु साथ मे अथर्ववेद के मत्रो से अभि-मत्रण करना चाहिए।

अथर्ववेद मे राजयक्ष्मा रोग के साथ अज्ञात यक्ष्मा रोग का भी उल्लेख है। सूत्रकार ने अज्ञात यक्ष्मा का ग्राम्य रोग अर्थ किया है। ग्राम्य रोग से टीकाकार मैथुन सम्बन्धी रोग लेते हैं, इससे अधिक स्पष्टीकरण नही। सभवत ग्राम्य रोग से सुश्रुत में लिखा उपदश रोग विवक्षित हो (भावप्रकाश मे कहे गये या आज जिस रोग के लिए उपदश सामान्यत प्रचलित है वह नही)। अथवा अत्रिपुत्र ने 'ग्राम्य' शब्द शहरी जीवन के लिए बरता है ('ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्ध च', 'ग्राम्यो हि वासो मूल मशस्तानाम्'—चरक० चि० अ० १।४।४), उस जीवन से सम्बन्धित रोग विवक्षित हो।

कौशिक सूत्र का लक्ष्य भी वैद्यक नही है, उसका सम्बन्ध अभिमंत्रण क्रिया से है, जैसा कि इसके टीकाकार केशव ने कहा है—

'भेषजशान्तिर्भैषज्यशब्देनोच्यते। तत्र द्विविधा व्याधय। आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्च। तत्र अहारनिमित्तेषु चरकवाहटसुश्रुतेषु शमन भवति। अशुभनिमित्तेषु अथर्ववेदविहितेषु शान्तिकेषु व्याध्युपशमन भवति।' (कौ० सू० अ० ४ क० २५ की टीका)। केशव का वचन काश्यप सहिता के वचन से मिलता है। 'चिकित्सा दो प्रकार की है, औषध और भेषज रूप मे। दीपन आदि द्रव्यो के योग का नाम औषध है और हवन-व्रत-तप-दान शान्तिकर्म को भेषज कहते हैं' (का० स० औषध भेषजेन्द्रिय अध्याय) अत्रिपुत्र ने इनके युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय

नाम दिये है (चरक० सू० अ० ११।५४)। इसके अतिरिक्त सत्त्वावजय तीसरी चिकित्सा मानी है। पूर्व जन्मकृत पापो से उत्पन्न रोगो की चिकित्सा के लिए अथर्ववेदोक्त शान्तिकर्म ही करने चाहिए। अथर्ववेद के समय मे सम्भवत चिकित्सा में इस प्रकार का पार्थक्य न रहा हो। उस समय शान्तिकर्म (भेषज) तथा औषधकर्म (औषध) ये एक मे ही मिले थे, जो इनको जानता था, उसे भिषक् कहते थे। पूर्व जन्मकृत पाप से रोग होते हैं, उनकी चिकित्सा के लिए भेषज चिकित्सा है।

सक्षेप मे, वैदिक काल के अन्त मे तथा सूत्रग्रन्थो के समय तक आयुर्वेद मे विकास क्रम प्रारम्भ हो गया था। वेदो मे वर्णित रोगो और वनस्पतियो के सम्बन्ध मे जिज्ञासा, खोज प्रारम्भ हो गयी थी। वनस्पति सम्बन्धी ज्ञान का विकास बुद्धकाल मे कितना अधिक बढ गया था, इसे जीवक की शिक्षा के समय में देखेंगे। रोगो के लक्षण, उनकी पहचान, चिकित्सा का क्रम क्रमश विकसित होता गया, जो कि बुद्धकाल मे अपने पूर्ण यौवन पर पहुँच गया था। बुद्धकाल से पूर्व आथर्वण वैद्य ही सब प्रकार की चिकित्सा करने थे। इनकी चिकित्सा सीमित थी (वेदो मे सौ या सवा सौ वनस्पतियो का ही उल्लेख है), सम्भवत उस समय रोग भी इतने नही थे, क्योंकि जीवन सादा और सरल था (देखिए चरक० चि० अ० १।४।५ मे इन्द्र का वचन)। पीछे से इस ज्ञान का विकास हुआ। शतपथ-ब्राह्मण में अगो के नाम, याज्ञवल्क्य स्मृति मे अस्थियो की विवेचना मिलने लगती है। इस प्रकार से यह ज्ञान ६०० ई० पूर्व तक पर्याप्त विकसित हो चुका था।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदो की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थो मे है, प्रत्येक वेद का अपना ब्राह्मण है, इनका प्रधान विषय 'यज्ञ' ही है। शब्दो की व्युत्पत्ति और सृष्टि सम्बन्धी विचारो का भी कथा-रूप में विवेचन है। ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्मा द्वारा कहे गये नियम है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और कौषीतकी। शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण एक सौ अध्यायो का विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे यज्ञो के वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यानो और सामाजिक विषयो का भी वर्णन है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। सामवद के ब्राह्मण ताण्ड्य और छान्दोग्य हैं। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है।

ब्राह्मणो मे विधि और अर्थवाद रूप में याज्ञिक क्रियाओ का वर्णन है। विधिवाद मे यज्ञ विधि है और अर्थवाद में इतिहास, आख्यान, पुराण, रूप में क्रियाओ तथा

प्रार्थनाओ की व्याख्या है। व्याधियाँ ऋतु सन्धिकाल मे होती है। वर्तमान ऋतु का अन्तिम सप्ताह और अग्रिम ऋतु का प्रथम सप्ताह ऋतुसन्धि होती है। इसमे रोग विशेष होते है।

ऋतुसन्धि मे पूर्व ऋतुसन्धि की विधि धीरे-धीरे छोडकर नयी विधि धीरे-धीरे लेनी चाहिए। यदि सहसा नयी विधि ले ली जाय तब रोग होता है। इसलिए इससे बचने का विधान ब्राह्मण ग्रन्थो मे है।

ऋतु सन्धि मे होनेवाले रोगो से बचना—रोगो से बचने के उपाय यज्ञ बताये गये है। इन यज्ञो मे जो सामग्री बरती जाती है, वह भी प्रत्येक ऋतु के अनुसार ही होती थी। जिस प्रकार प्रत्येक ऋतु का अपना खान-पान, रहन-सहन आयुर्वेद शास्त्र मे कहा गया है, उसी प्रकार ब्राह्मणो में प्रत्येक ऋतु के लिए पृथक्-पृथक् सामग्री का विधान यज्ञो के लिए किया गया है।

इस सामग्री मे चार प्रकार के द्रव्य होते है—१. सुगन्धित—कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि, २ पुष्टिकारक—घी, दूध, फल, कन्द (विदारी आदि), अन्न—चावल, गेहूँ, उडद, आदि, ३ मिष्ट द्रव्य—शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि, ४ रोगनाशक द्रव्य—सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ—स्वामीदयानन्द। इन रोगनाशक औषधियो में अन्य कूठ आदि औषधियाँ ऋतु के अनुसार मिलायी जाती हैं। रोगनाशक औषधियो मे कूठ, वच, नीम, कुलञ्जन आदि तीक्ष्ण सुगन्धित द्रव्य तथा अन्य औषधियाँ मिलायी जाती है।

इस प्रकार की सामग्री से हवन करने का उल्लेख ब्राह्मणो मे है—

'भैषज्य यज्ञा वा एते। तस्मा दृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते॥' (गोपथ ३।१।१९)

ये ओषधियो के ही यज्ञ है। इसलिए ऋतुओ की सन्धियो मे यज्ञ किये जाते है; क्योकि ऋतु सन्धियो मे रोग होते है।

रोग को उत्पन्न करनेवाले राक्षस (वर्त्तमान मे रोगोत्पादक जीवाणु) बहुत ही सूक्ष्म होते है। ये आँखो से दिखाई नही देते।

'तदवधुनोति। अविधूत रक्षः। अविधूता अरातयः, इति।
तन्नाष्ट्रा एवैतद् रक्षास्यतोऽपहन्ति॥' (शत. ब्रा. १।१।४)

वह चर्म को झटक देता है, और कहता है कि राक्षसो का नाश हो गया। इस प्रकार से विनाशक राक्षसो का सहार होता है।

इन अदृश्य राक्षसो का नाश करने के लिए यज्ञ से उठी सूक्ष्म वायु ही समर्थ है। इसकी चर्चा पृष्ठ १५ पर की जा चुकी है। सुश्रुत मे व्रणवाले रोगी के पास दोनो समय सरसो, नीम के पत्ते और घी से धूम करने के लिए कहा गया है।

'रक्षोघ्नैश्च मंत्रैः रक्षां कुर्यात्'—सुश्रुत सू. ५।१७

"ततो गुग्गुल्वगरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णै लवणनिम्बपत्रमिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्, आज्यशेषेण चास्य प्राणान् समालभेत्।

'नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः।
अभिद्रवन्ति ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः।
दिक्षुवास्तु [illegible] पान्तु त्वां ते नमस्कृताः॥'

—सुश्रुत. सू. अ. ५।१८-२०-२०।

इन सूक्ष्म आँखो से अदृश्य जीवाणुओ, राक्षसो का नाश करने में यज्ञीय धूम ही समर्थ है, इसलिए यज्ञो का विधान है। इनका विशेष प्राबल्य ऋतुसन्धि में होता है। इसलिए ऋतु सन्धि मे यज्ञ करने का मुख्य विधान है। बडे-बडे यज्ञ प्राय इसी काल मे होते है। यथा, होली के समय नवशस्येष्टि यज्ञ होता है। इस समय नया अन्न (गेहूँ, चना आदि) पैदा होता है। उस समय बडा भारी यज्ञ होता है। इसी यज्ञ का विकृत रूप होली दाह है। यह समय वसन्त ऋतु का है, वसन्त ऋतु मे ही प्राय. दानेदार ज्वर होते है। यथा-चेचक, खसरा, टाईफाईड आदि। इसलिए चेचक को बँगला मे वसन्त या वासन्तिक ज्वर भी कहते है। इससे बचने के लिए नव शस्येष्टि यज्ञ है। इसी प्रकार प्रत्येक पौर्णमासी एव अमावास्या के दिन विशेष बडे यज्ञ होते थे। इन्ही यज्ञो का विधान ब्राह्मण ग्रन्थो में है। इन यज्ञो में जो सामग्री बरती जाती थी वह रोगनाशक होती थी।

अस्थिसंख्या—अत्रिपुत्र ने शरीर के अगो का विभाजन छ भागो मे किया है। दो बाहु, दो टाँगे, एक शिर, ग्रीवा; तथा अन्तराधि (मध्यभाग)। अस्थियो की सख्या तीन सौ साठ बतायी गयी है ('त्रीणि षष्टीनि शतान्यस्थ्ना दन्तोलूखलनखेन' —चरक० शा० अ० ७।६)। सुश्रुत में यह तीन सौ साठ की सख्या वेदवादियो के नाम से कही गयी है। वेदवादी अस्थियो की सख्या तीन सौ साठ मानते है, परन्तु इस शल्यतंत्र में तो तीन सौ ही है ('त्रीणि षष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि—सू० अ० ५।१८)।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी अस्थियो की सख्या तीन सौ साठ ही बतायी गयी है, अंगो का विभाग भी छ भागो मे किया गया है[1]।

शतपथ ब्राह्मण मे भी अस्थियो की सख्या तीन सौ साठ ही मानी गयी है। पुरुष की सवत्सर के साथ तुलना करते हुए लिखा है —

'पुरुषो वै सवत्सर । पुरुष इत्येक सवत्सर इत्येकमत्र तत्सम । द्वे वै सवत्सर-स्याहोरात्रे द्वाविमौ पुरुषे प्राणावत्र तत्समम् । त्रय ऋतव सवत्सरस्य त्रय इमे पुरुषे प्राणा अत्र तत्समम् । . त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च सवत्सरस्य रात्रयस्त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्यास्थीन्यत्र तत्समम् । त्रीणि च शतानि षष्टिश्च सवत्सरस्य-हानि, रात्रयस्त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पुरुषस्य मज्जातोऽत्र तत्समम् ॥' शत० १२।३।२।

शतपथ के इस वचन का आधार अथर्ववेद का मत्र है—

'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानिक उतच्चिकेत ।
तत्राहतस्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥
—अथर्व. १०।८।४.

कालरूपी वर्षचक्र में बारह मास परिधि रूप में हैं। वर्षा, शीत और ग्रीष्म ये तीन ऋतुएँ नाभि रूप में है, और वर्ष की तीन सौ साठ रात्रियाँ इस चक्र की खील है, जिनसे यह चक्र स्थिर है, मजबूत है, ढीला नही होता ।

अथर्ववेद के इस मन्त्र को शरीर के साथ सम्बद्ध करने में पाँच अग्नि और सात धातु मिलकर बारह परिधियाँ होती हैं। पाँच अग्नि—"भौमाप्याग्नेयवायव्या पञ्चोष्माण सनाभसा । पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ।' २—सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः । यथा स्वमग्निभि. पाक यान्ति किट्ट-प्रसादत ॥' च० चि० १५।१३-१५ । ये पाँच अग्नि और सात धातु (धारणात् धातव) इस पुरुष की परिधि, बाह्य सीमा है। तीन नाभि के स्थान पर तीन दोष—वात, कफ, पित्त है। तीन सौ साठ शंकु के रूप में पुरुष मे तीन सौ साठ अस्थियाँ है। पुरुष को सवत्सर कहा गया है (पुरुषो वै सवत्सर),इसलिए उसमे इसकी समानता है।

शरीर के अंगो के नाम शतपथ ब्राह्मण में विशेष रूप से मिलते है, इसके लिए 'रसयोगसागर' का उपोद्घात देखना चाहिए।[2]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति में सम्पूर्ण शरीर के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन चरक के अनुसार ही मिलता है।

२. 'रसयोग सागर' में शरीर सम्बन्धी बहुत से शब्दों के नाम वेद,शतपथ ब्राह्मण तथा सुश्रुत से दिये गये हैं, जिससे उनकी समानता का पता चलता है।

कृमियों के सम्बन्ध में—जो आँख से नही दीखते ऐसे सूक्ष्म प्राणियो के लिए वैदिक साहित्य में कृमि, यातुधान, राक्षस आदि साभिप्राय शब्द आते है। इन्ही के लिए 'सर्प' शब्द भी आया है, ये सरकते है, अथवा ये अतिक्रूर होते हैं, या खानेवाले होते है अथवा विष का कारण होते है, इसलिए सर्प है। इनके लिए नमस्कार है—

'नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥' (वा. सं. १३।६)
या इषवो यातुधानाना ये वा वनस्पतीं रनु।
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः।' (वा. सं. १३।७.)

जो सर्पणशील कृमि पृथिवी, पार्थिव द्रव्यो की सहायता से, जो अन्तरिक्ष में, वायुमण्डल मे, जो द्युलोक मे–आकाश परमाणुओ मे सब ओर घूमते है, उन सब को मेरा नमस्कार है। मेरे नमस्कार से प्रसन्न होकर मुझे हानि न पहुँचाये। जो कृमिसृष्टि यातुधानो की नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करनेवाली यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि को बाणो के समान पीडा देनेवाली है, जो सब प्राणियो के आहार साधन वनस्पतियो मे तथा अवटेषु, अवनत प्रदेशो में रहते है, उन सब सर्पों को नमस्कार है।

शतपथ ब्राह्मण मे इसकी व्याख्या मे है—

"अथ सर्पनामैरूपतिष्ठते। इमे वै लोका सर्पास्ति ह्यऽनेन सर्वेण सर्पन्ति। . . . यद्वेन मर्पनामैरुपतिष्ठत इमे वै लोका सर्पा यद्धि किं च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते। यैवेषु लोकेषु नाष्ट्रा (अतिक्रूरा·) यो व्यद्वरो (व्यदनशीलो दन्दशूकादि) या शिमिदा (विषहेतुर्लूतावृश्चिकादि) तदेतत्सर्वं शमयति॥"—शतपथ २७।

ऐतरेय ब्राह्मण में—अश्विनौ को देवताओं का चिकित्सक कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियो का वर्णन है (५।२२), ओषधियो से रोग निवारण (३।४०); अजन से नेत्र रोगो की निवृत्ति (१।३), शापादि से उन्माद, कुष्ठादि रोगो की उत्पत्ति; शुनशेप के उपाख्यानो मे वरुण के कोप से जलोदर रोग, साम विधान ब्राह्मण में साँपो से रक्षा (२।३।३), भूताक्रान्ति (२।२।२); रोगाक्रान्ति (२।२।३) है। तैत्तिरीय आरण्य मे कृमिवर्णन (४।३६।१) है:

श्रौत सूत्रो मे जिनका सम्बन्ध श्रुति (वेद) से है, कर्मकाण्ड का विशेष उल्लेख है। इसमें आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणात्य इन तीन अग्नियो के आधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्यादि यज्ञो का वर्णन है। इनमे आश्वलायनीय मे यज्ञीय पशुओ में त्याज्य रोगो का निर्देश है। आपस्तम्ब में कृमियो का वर्णन

(१५।१९।५), आश्वलायन-गृह्यसूत्र मे सूर्योदय और सूर्यास्त मे सोना रोग का कारण कहा गया है (३।७।१।२), यजमान में त्याज्य रोगो का उल्लेख (१।२३।२०) पशु रोगो की निवृत्ति (४।८।४०) हे । शाङ्खायन मे—शारीरिक पीडा के समय वेद मत्र गाने का निषेध (४।७।३६), सब रोगो की निवृत्ति (५।६।१–२)। गोभिलीय मे रोग निवर्त्तक मत्रो का उल्लेख (४।६।२), आपस्तम्ब में अर्धावभेदक-आधा सीसी में कृमि के कारण, बालक के अपस्मार रोग मे कुक्कुर भूत का उल्लेख, बालक मे क्षेत्रीय रोग का परिहार[1] (६।१५।४)। पारस्कर में शिर पीडा मे मर्दन से रोग शान्ति (३।६) हिरण्यकेशी में अग्नि से रोग नाश होना, (१।२।२८); बालक के क्षेत्रीय रोग की शान्ति (२।३।१०)। खादिर गह्यसूत्र मे कृमिवर्णन (४।४।३), गायो के रोग की शान्ति के लिए उनको यज्ञीय धूम प्रदेश मे चराना (४।३।१३), सर्पदश की चिकित्सा (४।४।१) आदि विषय न्यूनाधिक रूप से मिलते है।[2]

कौशिक सूत्रो मे रोग शान्ति मे मत्रो का विनियोग मिलता है। "अथ भैषज्यानि" इससे प्रारम्भ करके रोग प्रतिकार के वर्णन मे उन-उन मत्रो द्वारा जल, औषध आदि को अभिमत्रित करके पिलाना, हवन, मार्जन आदि बहुत से उपाय लिखे गये है। वातिक तक्म रोग में मास-मेद का पान, कफ रोग में मधुपान; वातपित्तज मे तैल पान, धनुर्वाताङ्ग कम्प शरीरभगादि वात रोगो में घृत का नस्य एव पान। (तुलना कीजिये अर्दित रोग में—"अर्दिते नावन मूर्ध्नि, तैल तर्पणमेव च", मन्यास्तम्भ मे "रूक्ष-स्वेदस्तथा नस्य मन्यास्तम्भे प्रयोजयेत्", विश्वाची और अवबाहुक रोग मे—"बाहुशीर्षगते नस्य पानञ्चोत्तरभक्तिकम्"—आयुर्वेदसग्रह से), रक्तस्राव के अधिक होने पर या स्त्री के अति रज स्राव होने पर मिट्टी का पान [१ 'मृच्छख-हेमामलकोदकानाम्', २ 'पक्वस्य लोष्ठस्य च य प्रसाद, सशर्कर क्षौद्रयुत सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देय।' चरक: चि० अ० ४, ३ 'मधुना छागदुग्धेन कुलालकरकर्द्दम.। अवश्य स्थापयेद् गर्भ चलित पानयोगत'—आयुर्वेदसग्रह]।

---

१. क्षेत्रीय रोगों से अभिप्राय उन रोगो से है, जो कि गर्भाशय से बच्चे में आते है। गर्भाशय की शुद्धि के लिए क्षेत्रीकरण शब्द आता है। इसकी शुद्धि इसी लिए की जाती है कि बच्चे में ये रोग न आयें। क्षेत्रीय रोगों का उत्तम उदाहरण आजकल का सिफलिस रोग है। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है। देखिए—'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पुस्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से प्रकाशित।

२. विस्तार के लिए काश्यप सहिता का उपोद्घात देखें।

हृदय रोग और कामला मे रोगी को हल्दी और चावल का भोजन ["निशाचूर्णं कर्षमित दघ्न पलमित तथा। प्रात ससेवन कुर्यात् कामलानाशनं परम् ॥"—आयुर्वेदसग्रह। २ 'लिह्याद् हरिद्रा त्रिफलान्विता वा'—अत्रिपुत्र], श्वेतकुष्ठ मे गोबर से इतना घिसे कि त्वचा लाल हो जाय, फिर भृ गराज, इन्द्रवारुणी, हल्दी और नीली के पुष्पो को पीस कर लेप करना, वातरोग मे पिप्पली का सेवन, शस्त्र लगने पर रक्त बहने पर अथवा रोग के कारण शरीर के अन्दर से रक्त आने पर लाक्षा का उपयोग ["उरो मत्वा क्षत लाक्षा पयसा मधुसयुताम्। सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात् सशर्कराम् ॥" –चरक चि० अ० ११।१५]। राजयक्ष्मा, कुष्ठ, शिरोरोग, सम्पूर्ण अगो में वेदना होने पर मक्खन में मिलाये कुष्ठ के चूर्ण से रोगी के शरीर पर लेप करना, गण्डमाला में शख को घिसकर लेप करना। (स्वर्जिजकामूलकक्षार शखचूर्ण-समन्वित.। प्रलेपो विहितस्तीक्ष्णो हन्ति ग्रन्थ्यर्बु दादिकान् ॥ आयुर्वेदसंग्रह)। जलौका लगाकर रक्त प्रवाहण (तुलना कीजिए—"नृपा ढ्यबालस्थविर भीरु दुर्बल नारी-सुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽय शोणितावसेचनोपायोऽभिहतो जलौकस ॥" सुश्रुत० सू० १३।३)। रक्त न निकलने पर सैन्धव नमक का रगड करना। (लवण-तैलप्रगाढं व्रणमुखमवघर्षयेत्—एव सम्यक् प्रवर्त्तते ॥ सुश्रुत० सू० अ० १४।३५), व्रण में गोमूत्र से व्रण को मलना, आदि उपाय दिये गये हैं।

प्राचीन काल मे शरीर धातुओ की विषमता का कारण राक्षस, भूत, पिशाच, तथा रुद्र आदि देवताओ का प्रकोप, इनको ही रोग का कारण समझा जाता था। इस-लिए इन देवताओ की स्तुति होती थी। इसी प्रकार जिन ओषधियो से या जल से या अन्य वस्तु से रोग रूपी कष्ट से मुक्ति मिलती थी उसको देवता कहा गया है (लोक में आज भी देखते है, कि जब निराश रोगी को कोई चिकित्सक अच्छा कर देता है, वह उसको सर्वमान्य देवतारूप में गिनता है, यही बात उस समय भी प्रतीत होती है)।

उपनिषदों में आयुर्वेद

उपनिषद् का अर्थ ही समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना है। इसी से कहा गया है—

"परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्नास्त्य कृतः कृतेन।
तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥'

—मुण्डक. २।१२.

गुरु के पास हाथो मे समिधा लेकर पहुँचे। तब गुरु उसको ब्रह्म ज्ञान देता है। यह ज्ञान परा और अपरा नाम से जाना जाता है। अपरा मे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष है।[1] परा मे ब्रह्म ज्ञान—जिससे ब्रह्म जाना जाता है। उपनिषदो का मुख्य विषय ब्रह्म ज्ञान है; जैसा कि सनत्कुमार के पास जाकर नारद का ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना, प्रजापति के पास इन्द्र और विरोचन का जाना, जनक का बहु दक्षिणावाले यज्ञ मे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ज्ञानी का पता लगाना आदि से स्पष्ट है।

उपनिषद् और आरण्यक वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग है। अत इनको वेदान्त भी कहते है। भारतीय अध्यात्मशास्त्र के देदीप्यमान रत्न उपनिषद् है। उपनिषदो की सख्या दो सौ तक है, परन्तु इनमे मुख्य उपनिषद् ग्यारह है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। भारत के सभी दर्शनों का उदय और विकास उपनिषदो की परम्परा से हुआ है। उपनिषदो से ही ज्ञान के प्रति उदारता का पता चलता है, जब कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण अपनी शका-सदेह को दूर करने के लिए क्षत्रिय राजाओ के पास पहुँचते है। यही क्षत्रिय राजा आगे धर्म के प्रवर्त्तक—धर्मोपदेशक, बुद्ध और महावीर के रूप मे हमारे सामने आते है।

ब्रह्मज्ञान का आधार शरीर है। इसलिए शरीर के धारण करनेवाले अन्न के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर उल्लेख है। यथा—

अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति'–तैत्तिरीय २।

अन्न न निन्द्यात्—तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राण. प्रतिष्ठित। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेन। महान् कीर्त्या।' तैत्तिरीय। ७।

अत्रिपुत्र ने भी अन्न के लिए ये शब्द कहे हैं—"न कुत्सयन्नकुत्सित ...... अन्नमाददीत—सू०अ० ८।२० तथा सू० अ० २७।३४९–३५०।

अन्न का पाचन—शरीर में अन्न के पाचन को गन्ने के रस से गुड बनाने की प्रक्रिया द्वारा बताया है। गन्ने का रस पकाते समय तीन कडाहो का उपयोग होता है। पहले

---

१. कौटिल्य ने चार विद्याएँ कही हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति। नैषध में चौवह और अठारह विद्याओं का उल्लेख है—इनमें उपवेद मिलाने से तथा धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, न्याय मिलाकर अठारह हैं।

अन्तिम कडाहे में रस डालते है। वही पर गरम होता रहता है। गरम होने से बहुत मैल निकल जाती है। इसमे से गरम रस लेकर पहले कडाहे में डालते है। इसमें बाकी की मैल निकलती है और रस गाढा हो जाता है। साफ और गाढा हो जाने पर इसे बीच के कडाहे मे लाकर पकाते है। जब यह पक जाता है तब इसको मिट्टी के चाक पर फैलाकार गुड शक्कर या राब बनाते है।[1]

यही तीन प्रकार का स्थूल, सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म पाक अन्न का होता है—

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥ आपः पीतस्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽल्पिष्ठः स प्राणः ॥" छान्दो० ५।

'स्थूलः सूक्ष्मस्तन्मलश्च तत्र तत्र त्रिधा रसः।
स्वस्थूलांशः परं सूक्ष्मस्तन्मलो याति तन्मलम् ॥'—आयुर्वेद सग्रह।

इसी को अत्रिपुत्र ने रस और किट्ट दो भागो मे लिखा है। रस के ही स्थूल और सूक्ष्म दो भाग होते है। इनसे ही सम्पूर्ण शरीर पुष्ट होता है। (चरक सू० अ० २८।४)।

पामा रोग—छान्दोग्य मे रैक्व की कथा आती है। जानश्रुति रैक्व के पास ज्ञान की इच्छा से जाता है, उसने रैक्व को गाडी के नीचे पामा रोग से पीड़ित देखा—और अपनी जिज्ञासा प्रकट की। (छान्दो० ४।१।८)।

पामा कुष्ठ का एक भेद है, इसमे श्वेत, लाल, काले रग की पिडकाएँ होती हैं। इनमें अतिशय खाज रहती है। धूप में पसीना आने से अतिशय खाज होती है, इसलिए छाया में बैठा था। गाडी चलाने का उसका धधा था, परन्तु था तत्त्वज्ञानी, जैसा कि रैक्व कथा से पता चलता है।

घोड़े का शिर लगाना—आथर्वण ऋषि नें मधुविद्या का उपदेश अश्विनौ को दिया है। अश्विनौ नें दधीची ऋषि को दिया। परन्तु इस उपदेश-परम्परा में एक कथा दी गयी है। आथर्वण ने यह मधुविद्या अपने मुख से नही दी थी। अश्विनौ ने उसके शिर को काटकर घोडे का सिर लगाया। उसनें जब मधुविद्या का उपदेश अश्विनौ को दिया तब वह सिर गिर पडा। उस पर अश्विनौ ने पुन आथर्वण का सिर जोड दिया। आथर्वण को कहा गया था कि इस मधुविद्या का यदि तुम उपदेश

---

१ इसका उल्लेख ऋग्वेद १।११७।२२ मंत्र में भी है।

करोगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा। इसलिए घोडे का सिर लगाया गया था। (बृहदारण्य० ५।१७)।

यज्ञ का सिर अश्विनौ ने जोडा था। इसमें रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया था। इसके लिए देवता अश्विनौ के पास जाकर कहने लगे कि 'आप दोनो हम सब मे श्रेष्ठ होगे, आप यज्ञ का शिर फिर जोड दीजिए। उन्होने कहा 'ऐसा ही सही' उन्होने शिर जोड दिया इसके लिए इन्द्र ने इनको यज्ञभाग प्रदान करके प्रसन्न किया (सुश्रुत० अ० १।२७) 'यज्ञस्य हि शिरश्छिन्न पुनस्ताभ्या समाहितम्। एतैश्चान्यैश्च बहुभि. कर्मभिर्भिषगुत्तमौ॥ बभूवतुर्भृ श पूज्याविन्द्रादीना महात्मनाम्॥' (चरक० चि० अ० १।४।)।

हृदय की क्रिया का वर्णन—'हृदय' मे तीन अक्षर है; 'हृ' का अर्थ आहरण करना है, यह सारे शरीर का रक्त लेता है, सब शरीर का रक्त हृदय में पहुँचता है। 'द' यह सारे शरीर को रक्त देता है, 'य'—सारे शरीर की क्रियाओ को नियमित करता है। एक सेकण्ड के लिए बन्द नही होता, निरन्तर चलता रहता है। हृदय के ये सब कार्य इसके नाम से स्पष्ट है।

"एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म तत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृइत्येकमक्षरमभिहरत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एव वेद। यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गलोक य एवं वेद॥ (बृहदा० ५।३।)

चरक—चरक के विषय में उपनिषद् में उल्लेख होने से यह स्पष्ट हो गया कि 'चरक' बहुतो के लिए आता है। जो लोग विचरण करते रहते हैं, उनको 'चरक' कहते थे। वैशम्पायन के अन्तेवासियो के लिए भी चरक शब्द आया है। शालीन, यायावर ऋषियो की भाँति चरक भी ऋषियो का ही एक भेद है—

'शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वत्या वरमायातीति यायावरत्वम्।
अनुक्रमेण चारणत्वाच्चरत्वम्।'— बाधायनधर्मसूत्र (११वाँ प्रकरण)

शालीन और यायावर ऋषियो का उल्लेख चरक में आता है (चि० अ० १।४।३); जो ऋषि लगातार घूमते रहते थे, वे 'चरक' थे। जैसे, अत्रिपुत्र अग्निवेश के गुरु, जिनको कि कभी हिमालय में, कभी कैलाश में और कभी काम्पिल्य में देखा जाता था। इन चरको का उल्लेख उपनिषदो में भी आया है।

"अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम। (बृहदा. ३।३।१)

चरकसंहिता के भिन्न-भिन्न वाद—चरकसंहिता में रोग और पुरुष की उत्पत्ति का निर्णय करने मे जितने मत या वाद बताये गये है, वे सब उपनिषद् में मिलते है। ये सब वाद बुद्ध के समय प्रचलित थे। ये वाद (सम्प्रदाय) लगभग ६२ थे। (जैन-ग्रन्थो मे इनकी सख्या ३६३ है)। इनमें से कुछ निम्नलिखित है —

आजीविक, जटिलक, मुण्डसावक, परिव्राजक, गोतमक, मागन्धिक, तेदण्डिक। बुद्ध के अतिरिक्त उस काल में अन्य प्रचारक भी थे। पुराण कस्सप, मक्खलिपुत्त-गोशाल, निगण्ठ नाटपुत्त, अजित केशकम्बिलन्, प्रबुद्ध कच्चायन; सञ्चय वेलट्ठ-पुत्त। (भारतवर्ष का इतिहास—त्रिपाठी। पृष्ठ ७६)।

पूरण कस्सप—अक्रियावाद या अकर्म के प्रचारक थे। मक्खलिगोशाल; इनका सिद्धान्त कर्म और कर्मफल दोनो का निराकरण था। इनका मत नियति (भाग्य) वाद था। अजित केशकम्बलि—इनका मत था कि मृत्यु के बाद सब नष्ट हो जाता है। कर्म द्वारा फल की सम्भावना नही। इनका मत उच्छेदवाद था। प्रबुद्ध कच्चायन—इनका मत है कि सत का नाश नही होता और असत् से कुछ उत्पन्न नही हो सकता। इनके मत में व्यक्ति का कोई उत्तरदायित्व नही।

चरकसंहिता मे इन्ही वादो की समीक्षा है— यथा, चरक सू० अ० २५ में रोग और पुरुष की चर्चा मे। सुश्रुत में इन सब वादो को एक श्लोक मे ही कहा गया है—

वैद्यके तु—

> **'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।**
> **परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः॥'** (शा. अ. १।११.)

वैद्यक शास्त्र में स्वभाव, ईश्वर, काल, इच्छा, नियति और परिणाम इनको स्थूलरूप में कारण मानते है। यही वाद चरकसंहिता में स्पष्ट रूप में भिन्न-भिन्न ऋषियो के मुख से सुनने मे आते है। इन्ही सब वादो का समावेश श्वेताश्वतर में किया गया है —

> **"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।**
> **संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥**
> **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।**
> **यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥"**
>
> **(श्वेताश्वतर १।२-३.)**

परिषदें—किसी विषय का निर्णय करने के लिए या समझने के लिए मिलकर

विचार होता था, इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है कि "वैद्यसमूहो नि सशयकराणाम्"—(चरक० सू० अ० २५।४०)। इस प्रकार की गोष्ठी या परिषद् का उल्लेख चरक में कई स्थानो पर आता है, (यथा—चरक सू० अ० १२; अ० २५, अ० २६)।

इन परिषदो या सम्मिलित कथाओ में विषय की विवेचना परस्पर होती थी। ये परिषदें अपनी शाखा या चरण की रक्षक होती थी। परिषद् के बिना कोई परिवर्त्तन नही हो सकता था। काश्यप सहिता में 'इतिपरिषद्' कहकर इस बात को कहा है।

यह परम्परा उपनिषदो की है—उपनिषदो में राजा जनक का ब्रह्म ज्ञान का निश्चय करने के लिए सभा सगठित करना और पञ्चालो की परिषद् का उल्लेख आता है। (बृहदा० ६।२।१, छान्दो० ३।१)।

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जन; शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैं ते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमासां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति'—छान्दोग्य० (अ० ५। ११। १)

इसकी तुलना के लिए देखिए—चरक, सू० अ० २६।३–७

ज्ञानप्राप्ति के उपायो में अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसम्भाषा ये तीन उपाय चरक में कहे गये है (वि अ ८।६)। महाभाष्य में आगम काल, स्वाध्यायकाल, प्रवचन काल और व्यवहार काल ये चार प्रकार विद्या ग्रहण के बताये गये है।

आगन्तुक उन्माद—चरक में देवता आदि के प्रकोप से उत्पन्न उन्माद को आगन्तुक उन्माद कहा गया है। इनमें देवता लोग देखने से उन्माद उत्पन्न करते है; गुरु, वृद्ध, सिद्ध, महर्षि, शाप देकर; पितर अपने को दिखाकर और गन्धर्व स्पर्श करके उन्माद करते हैं।(चरक नि अ ७।१२)।

उपनिषद् में गन्धर्व से गृहीत स्त्री का उल्लेख है। बृहदारण्यक (३।७।१); इससे स्पष्ट है कि उस समय भूतविद्या का अस्तित्व था।

भूतविद्या से अभिप्राय—भूतविद्या का उल्लेख नारद ने भी किया है—"देवविद्या ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।" (छान्दोग्य ७।१।२)

"भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्ष पिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसा शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्।' (सुश्रुत सू अ. १।८।४)

देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के आवेश से दूषित मनवालों के लिए शान्तिकर्म, बलिहरण आदि ग्रहों की शान्ति के लिए किये जानेवाले कर्म 'भूतविद्या' नाम से कहे जाते हैं।

इनके अतिरिक्त हृदय की नाडियो का उल्लेख (अथवा एता हृदयस्य नाडचस्ता ... शुक्लस्य, नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा ।' छान्दोग्य अ ८।६।१), अगो के वर्णन (नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मासानि। अवध्य सिकता सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता 'बृहदारण्य अ १।१।१), का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। उसी के लिए आवश्यक चर्चा आयुर्वेद के वाक्यो की की गयी है।

उपनिषदो में जहाँ भी विद्याओ का उल्लेख स्पष्ट आता है, वहाँ आयुर्वेद का स्वतंत्र उल्लेख नही है।

सम्भवत वेद के उपागो में या अथर्ववेद के पढने के साथ ही आयुर्वेद का ज्ञान होने से इसका पृथक् उल्लेख इन विद्याओ में नहीं किया गया है। फिर भी उपनिषदो में आयुर्वेद के विचारो की छाया दीखती है। उस समय की विचार परिपाटी चरकसंहिता के उपदेश के समय तक मिलती है। सुश्रुत में मिलकर विचार करने की पद्धति का उल्लेख नही है। न उसमे स्थानचक्रमण मिलता है। चरक की परिपाटी स्पष्ट रूप से उपनिषदो की छाया है।

दूसरा अध्याय

रामायण और महाभारत काल

रामायण का समय

रामायण और महाभारत के समय के विषय में इतिहास के पण्डितो मे तथा अन्य श्रद्धालु विद्वानो में बहुत मतभेद है। श्रद्धालु विद्वान् उपलब्ध वाल्मीकि रामायण और महाभारत को पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व का मानते है, उनकी दृष्टि से ये त्रेता और द्वापर युग की रचनाएँ है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से ये ग्रथ इतने प्राचीन नही दीखते। उनकी मान्यता के अनुसार रामायण का समय ईसा से ५०० वर्ष पूर्व माना गया है। क्योकि रामायण में कोशल प्रदेश की राजधानी 'अयोध्या' का ही उल्लेख है। बुद्ध के समय में इसका साकेत नाम हो गया था, बौद्ध ग्रन्थो मे साकेत को ही कोशल की राजधानी कहा गया है। बौद्धकाल के प्रसिद्ध 'पाटलिपुत्र' का भी उल्लेख रामायण में नही है, मिथिला का ही उल्लेख है। पाटलिपुत्र को मगध नरेश अजातशत्रु ने ५०० ईस्वी पूर्व बनाया था। अजातशत्रु ने इस नगर को गगा और शोण के सगम पर बसाया था।

रामायण में वर्णित विशाला और मिथिला दो स्वतत्र राज्यो का अस्तित्व बौद्ध काल में समाप्त हो गया था। उसके स्थान पर वैशाली गणतत्र बन गया था। महाभारत में वर्णित विस्तृत मगध राज्य को जिसका राजा जरासन्ध था, रामायण मे छोटा राज्य लिखा है। रामायण में भारत का दक्षिण भाग बीहड जगलो से भरा तथा राक्षसो के रहने का स्थान बताया गया है, परन्तु महाभारत मे दक्षिण विजय के समय सहदेव को यहाँ के चोल और पाण्डय राजाओ से बहुत धन सम्पदा, सुन्दर वस्त्र, मोती आदि मिलने का उल्लेख है। महाभारत मे रामोपाख्यान है, जिससे स्पष्ट है रामायण महाभारत से पूर्व का ग्रन्थ है।

रामायण—सस्कृत का आदि काव्य कहा जाता है। इससे पूर्व वशानुचरित (जिसका प्राचीन नाम नाराशसी है और पिछला नाम इतिहास है)[1] का लिपिबद्ध

---

१. अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में विद्याओ का परिगणन करते हुए कहा गया है—
'तमितिहासश्च पुराणं च गाथा च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् इतिहासस्य च वै स

इतिहास नही मिलता। रामायण मे राजा क्रमागत बताया गया है। रामायण पिछले काव्यो, नाटको का आदि स्रोत है। कालिदास, अश्वघोष ने इसी से प्रेरणा ली है। इसकी उपमाएँ, इसके वचन, उनकी रचनाओ मे मिलते है।[1] रामायण काव्यमय ऐतिहासिक रचना है। इस रचना में प्रसगवश चिकित्सा सम्बन्धी कुछ वचन मिलते हैं, ये वचन मुख्यत शल्य चिकित्सा से सम्बन्ध रखते है। यथा—

मेषवृषण—इन्द्र के नामो मे एक नाम मेषवृषण भी है। गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र के वृषण निकम्मे हो गये थे। इसलिए उसके लिए अश्विनौ ने मेष के वृषणो को लगाया था। इसी से उसका नाम 'मेष वृषण' हुआ। (वा रा बा. ४९।८, १०, १२)

मूढ गर्भ में शल्यकर्म—सुश्रुत ने फँसे अग को काटकर निकालने की सूचना दी है (यद्यदङ्ग हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद् भिषक्। सम्यग् विनर्हरेत् छित्वा रक्षेन्नारी च यत्नत ॥'—चि अ १५।१३)। सीता ने भी अपने दु ख का वर्णन करते हुए हनुमान को इसी रूप मे सन्देश दिया है—

यदि राम जल्दी नही आयेगे तो अनार्य राक्षस रावण मेरे अगो को अवश्य तेज शस्त्रो से बहुत जल्दी काट देगा, जिस प्रकार कि शल्य चिकित्सक गर्भस्थ शिशु के अगों

पुराणस्य च गाथाना च नाराशसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥'—अथर्व. १५।६; ११-१२.

'मनोन्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन पितृणा च मन्मभिः ॥'—यजु. ३।५३.

नर का आशसन करनेवाले गानों से और अपने पूर्व पुरुषों के महत् ज्ञान का चिन्तन करने से हम अपने भीतर मन का निर्माण करते हैं।

१. वाल्मीकि रामायण की उपमा अश्वघोष के काव्य में मिलती है—

'इदं ते चारु सजातं यौवनं ह्यतिवर्त्तते।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः शीघ्रमपामिव ॥'—वा.रा. सुन्दर. २०।१२.

अश्वघोष ने भी इसी उपमा को कहा है—

'ऋतुर्व्यतीतः परिवर्त्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु संनिवर्त्तते जलं नदीना च नृणां च यौवनम् ॥'
—सौन्दरानन्द. ९।२८.

'अश्वघोष की काव्यशैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व के थे। भास उनका अनुकरण करते हैं और उनका शब्द-भंडार यह सिद्ध करता है कि वह कौटिल्य के निकटवर्ती है।'—बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १३७।

को काटकर बाहर करते है, मुझ दु खी के लिए इससे अधिक क्या दु ख है ? जिस प्रकार बलि के लिए बाँधे गये पशु को तथा वध्य चोर को रात्रि के अन्तिम भाग में दु:ख होता है, उसी प्रकार का कष्ट मुझे है, (वा रा सुन्द २८।६-९)

तैल द्रोणी—भारतीय प्रथा में वस्तुओ को सुरक्षित रखने का उपाय तैल और मधु है। घरो में अचार, लकडी आदि तैल से ही सुरक्षित रखे जाते है। राजा दशरथ के शव को भी भरत के आने तक तैल में ही सुरक्षित रखा गया था। (वा रा. अयो. १४।१६)

वृक्ष वनस्पति—रामायण मे वर्णित वृक्ष वनस्पति प्राय स्पष्ट है—कुटज, अर्जुन, कदम्ब, सर्ज, नीम, सप्तच्छद, अशोक, असन, सप्तवर्ण, कोविदार, बन्धुजीव आदि प्रचलित नाम रामायण में मिलते है। वेदो की भाँति अप्रचलित वनस्पतियो या वृक्षो का उल्लेख रामायण में नही है। इस दृष्टि से रामायण मे वनो का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में वनो का वर्णन वनस्पति या वृक्षो की दृष्टि से महत्त्व का नही है।

आसव तथा पानभूमि—रामायण मे रावण की पानभूमि का उल्लेख है। इसमें दिये गये आसवो के नाम, पानभूमि का वर्णन, मद्य और मास का सम्बन्ध पूर्णतः आयुर्वेद ग्रन्थो की भाँति है—

'रावण की पानभूमि अग्नि के बिना भी जलती हुई दीखती थी। इसका अनेक प्रकार से सस्कार किया गया था। नाना तरह के ठीक प्रकार से बनाये गये अनेक मास वहाँ थे। नाना प्रकार की निर्मल प्रसन्न-सुरा, शर्करासव, माध्वीक, पुष्पासव, फलासव वहाँ पर थे। नाना प्रकार के सुगन्धित चूर्ण रखे हुए थे। बहुत-सी मालाएँ वहाँ थी। सोने और स्फटिक के पात्र वहाँ पर थे। जाम्बूनद के पात्र ओले बर्फ के अन्दर रखे थे। चाँदी, मिट्टी तथा स्वर्ण के पात्रो में सुरा रखी थी। कही पर आधे खाली पात्र पडे थे, कहीं पर बिलकुल खाली पात्र थे और कही पर बिना पिये भरे पात्र पड़े हुए थे। कही पर नाना प्रकार के भक्ष्य थे, और कही पर अनेक प्रकार के पेय थे।' अत्रिपुत्र ने शर्करासव शेष आठ आसवो से पृथक् कहा है ('शर्करासव एक एवेति'—चरक. सू. अ. २५।४९)। पुष्पासव और फलासव की आठ प्रकार की आसवयोनियो में गणना की गयी है। माध्वीक आसव भी फलासव का एक भेद है ('माध्वीक पिबतोऽपि च' —चरक चि. अ. ८।१६३)।

पानभूमि या मधुशाला का वर्णन अष्टांगसंग्रह में आता है (सग्रह चि. अ ९)। इसमें मद्य और मास का सम्बन्ध बताया गया है—'आनूप या जागल मास ठीक तरह से बना होने पर भी मद्य की सहायता के बिना ठीक तरह से नही पचता।' इसी से

अत्रिपुत्र ने यक्ष्मा रोग चिकित्सा में कहा है—'प्रसन्ना वारुणी सीधुमरिष्टानासवान्मधु। यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मासानि भक्षयन्।।' (च. चि अ ८।१६५)। सग्रह का यह वर्णन गुप्त काल का है।

ओषधि पर्वत—रामायण के युद्ध काण्ड मे ओषधि पर्वतानयन अध्याय है, जिसमे हनुमान् ओषधिपर्वत को लका में लाये थे। ओषधिपर्वत की पहचान बताते हुए हिमालय के पास काञ्चन पर्वत (स्वर्ण पर्वत) और कैलास के शिखर का वर्णन किया गया है। इनके बीच मे सब ओषधियो से युक्त पर्वत है।

ये ओषधियाँ मृतसजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी तथा सधानकरणी हैं[1]। इन सबको लेकर हनुमान जल्दी ही आ गये थे। इन ओषधियो के आने से सब मृत वानर शल्यरहित, पीडारहित हो गये। इन ओषधियो की गन्ध सूँघते ही सब मृत वानर ऐसे उठे मानो नीद से उठे हो[2]।

मृत और जीवित की परीक्षा—शक्ति लगने पर लक्ष्मण जब मूर्च्छित हो गये तब राम ने उनको मृत समझा। उस समय सुषेण वैद्य ने उनके जीवित होने के निम्न-लिखित चिह्न बताये, यथा—

इसका मुख नही बदला, न काला पडा और न कान्ति रहित हुआ; वह अच्छी प्रभा-युक्त है, प्रसन्न है, हथेलियाँ लाल कमल के समान हैं, आँखे निर्मल हैं, मृत व्यक्तियो का ऐसा रूप नहीं होता। हे राम! आपका भाई दीर्घायु है, लम्बी आयुवालो का ही ऐसा मुख होता है। (वा रा युद्ध १०२।१५-१७) मरणशील व्यक्ति के लक्षण इसके विपरीत होते है, यथा—'वैवर्ण्य भजते काय कायच्छिद्र विशुष्यति। धूम. सजायते मूर्ध्नि दारुणाख्यश्च चूर्णक ।।' (चरक इन्द्रिय अ १२)

लक्ष्मण को जीवित करने के लिए ओषधिपर्वत से दक्षिण किनारे की ओषधियो को लाने का निर्देश हनुमान् को दिया गया था। हनुमान् ओषधि को न पहचानकर पर्वत के एक भाग को ही ले आये। सुषेण वैद्य ने ओषधि को उखाडकर वानरो को दिया।

---

१. 'मृतसंजीवनीं चैव विशल्यकरणीमपि।
सावर्ण्यकरणीं चैव सन्धानकरणीं तथा।
ताः सर्वा हनुमन् गृह्य क्षिप्रमागन्तुमर्हसि ।।' (वा.रा. युद्ध. ७४।३३)

२. 'तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ त गन्धमाघ्राय महौषधीनाम्।
बभूवतुस्तत्र तदा विशल्यावुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीराः।।' (वा. रा. युद्ध. ७४।७३)

वानरो ने इसे कूटा, इसका नस्य सुषेण ने लक्ष्मण को दिया। इसे सूंघकर लक्ष्मण पीड़ा रहित होकर उठ खड़े हुए। (वा.रा युद्ध ६।१०२)।

रामायण मे आयुर्वेद सम्बन्धी उद्धरण यत्र-तत्र थोड़े ही है। यह एक सस्कृत काव्यमय रचना है—कथाप्रसग मे जो भी उल्लेख मिलता है, उससे तत्कालीन चिकित्सा-ज्ञान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। शल्य चिकित्सा, औषध चिकित्सा उस समय पर्याप्त उन्नति पर थी इसमें सन्देह नही।

वैद्यशब्द—वैद्य शब्द रामायण में सम्भवत सबसे पहले आता है, वेद में 'भिषक्' शब्द है—'प्रधान साधक वैद्य धर्मशील च राक्षस। ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते शूर परिभवन्ति च॥' (वा रा. युद्ध १६।४)।

महाभारत मे आयुर्वेद साहित्य

महाभारत (भारत सावित्री) के विषय में डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने जो लिखा है, वह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है—

'महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञान सहिता है। सदा उत्थानशील कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने विशाला बदरी के एकान्त आश्रम मे बैठकर भारतीय ज्ञानसमुद्र का अपनी विशाल बुद्धि से मन्थन किया, जिससे महाभारतरूपी चन्द्रमा का जन्म हुआ। जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नो की खान है, उसी प्रकार यह महाभारत है। जो इसमें है, वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहाँ नही है वह अन्यत्र भी नहीं।' चरक सहिता के अन्तिम श्लोको में भी यही वचन है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।' (सि. अ. १२।५४) यह बात सम्भवत कायचिकित्सा के सम्बन्ध में ही है।

महाभारत के पहले पर्व में उसके इतिहास और पुराण दोनो नाम दिये गये है—('द्वैपायनेन यत्प्रोक्त पुराण परमर्षिणा'—आदि १।१५; 'भारतस्येतिहासस्य पुण्या ग्रन्थार्थसयुताम्'—आदि १।१७।१९)। ऐतिहासिक और सृष्टि सम्बन्धी अनुश्रुतियो पर विचार करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले विद्वानो को और मेधावी ऋषियो को पुराणवित् कहा गया है (अथर्व ११।८।७)। अतीत काल को जाननेवाले पुराणवित् होते थे, क्योकि विश्व के सब पदार्थों का अन्तर्भाव नाम और रूप में होता है, रूप नष्ट हो जाता है, नाम ही शेष रह जाता है। इन्ही पुराणविदो को आजकल के शब्दो में ऐतिहासिक कह सकते है। पुराणकाल के वृत्तान्तो का पारायण करनेवाले विद्वानो की कल्पना उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी (अथर्व १५।६, ११-१२)। इस प्रकार इतिहास-पुराण की परम्परा या प्राचीन जनश्रुतियो का अति विशिष्ट संकलन और

अध्ययन वैदिक सहिताओ का व्यास करनेवाले एव लोकविधान के तत्त्वज्ञ महामुनि कृष्ण द्वैपायन ने किया।

भारत और महाभारत ये दोनो नाम पहले कुछ समय तक पृथक् थे। जैसा कि पाणिनि के सूत्र (६।२।३८) से पता चलता है। कुछ समय पीछे, सम्भवतः शुगकाल में भारत ग्रन्थ अपने ही बृहत्तर रूप महाभारत में अन्तर्लीन हो गया। व्यास का मूल ग्रन्थ भारत २४,००० श्लोको का था और उसमे उपाख्यान नही थे (आदि १।६११)। पीछे से पुराणो के, वेदो के उपाख्यान इसमें जोड दिये गये, जिससे कथा मे रस आ गया और गूढ विषय सर्वसाधारण के लिए बुद्धिगम्य हो गया।

महाभारत का समय--वैदिक साहित्य--ब्राह्मण, उपनिषदो मे महाभारत का नाम नहीं, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी नाम मिलते है। महाभारत मे ये विषय कुछ परिवर्तित रूप मे अवश्य मिलते है। कुरुक्षेत्र की मुख्य घटना का उल्लेख किसी वैदिक साहित्य में नही है। परीक्षित-पुत्र जनमेजय तथा शकुन्तला-पुत्र भरत का वर्णन ब्राह्मणो में मिलता है। यजुर्वेद के ग्रन्थो में यत्र-तत्र कुरु-पचाल तथा विचित्रवीर्य के पुत्र युधिष्ठिर के यज्ञो का वर्णन मिलता है। परन्तु समस्त वैदिक साहित्य में पाण्डु, दु शासन, युधिष्ठिर, दुर्योधन, कर्ण आदि महाभारत के प्रमुख पात्रो का नाम नहीं मिलता (एक ब्राह्मण ग्रन्थ मे 'अर्जुन' नाम आया है, वह वहाँ इन्द्र के लिए है)। कौरव और पाण्डवो के युद्ध का निदश सबसे प्रथम पतञ्जलि ने किया है। युधिष्ठिर, अर्जुन का नाम पाणिनि के सूत्रों में आता है।

त्रिपिटको में भी महाभारत का उल्लेख नही है। जातक कथाओ मे कृष्ण की कथा को भुलाने का प्रयास दीख पडता है; फिर भी हरिवंश और महाभारत के मौसल पर्व की कहानियों का सकेत मिलता है। जातको में धनजय, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, विदुर आदि नाम मिलते हैं, द्रौपदी, धनजय तथा विदुर के वर्णन आये हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत की रचना वैदिक काल के पीछे और बौद्ध साहित्य से पूर्व हुई है। इसलिए ईसा से ४०० वर्ष पूर्व इसका अस्तित्व था। इसी से सूत्र ग्रन्थो, साख्यायन तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में इसके उद्धरण मिलते है। जो पाली साहित्य इस समय से पूर्व रचा गया था उसका परिचय महाभारत से नही था। महाभारत की वहुत-सी उपदेशात्मक कथाएँ वैदिक साहित्य से ली गयी हैं। महाभारत की बहुत-सी कथाएँ जैन और बौद्ध साहित्य में है। पाणिनि को महाभारत का ज्ञान था। पाणिनि का समय ४०९ ईसा पूर्व है, अत इससे पहले महाभारत वन गया था।

महाभारत का पहला नाम 'जय' था--'इसमे पुराणसश्रित कथाए, धर्मसश्रित

कथाएँ, राजर्षियो के चरित-जैसे मुख्य विषयो का ताना-बाना कुरु-पाण्डवो के 'जय' नामक इतिहास के चारो ओर बुन दिया गया है। ययाति और परशुराम के बडे-बडे उपाख्यान, जिन्हें व्याकरण में 'यायात' और 'आभिराम' कहा गया है; जो किसी समय लोक मे स्वतत्र रूप से प्रचलित थे, और फिर महाभारत मे सगृहीत होते गये। (भारत सावित्री) इस प्रकार से इसका आकार बढ गया, जो गुप्तकालीन शिलालेखों में 'शतसाहस्री' नाम से लिखा गया है। महाभारत मे भी यह उल्लेख है—

'इदं शतसहस्रं तु श्लोकाना पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्॥'

महाभारत मे अश्विनौ का उल्लेख चिकित्सा के सम्बन्ध मे आता है—'तमुपाध्याय प्रत्युवाच, अश्विनौ स्तुहि। तौ देवभिषजौ त्वा चक्षुष्मन्त कर्त्ताराविति। स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे वाग्भि ऋग्भि॥'—आदि ३।५६।

आयुर्वेद के आठ अंग—आयुर्वेद आठ अगों मे विभक्त है। ये आठ अग शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, कौमारभृत्य, भूतविद्या, रसायन, वाजीकरण और विष-गर-वैरोधिक प्रशमन है। महाभारत के सभापर्व में (लोकपाल सभाख्यान पर्व में) नारद युधिष्ठिर को प्रश्न के रूप में शिक्षा देते हुए कहते है—

'हे युधिष्ठिर! क्या तुम शरीर के रोगो की चिकित्सा औषध सेवन और पथ्य से करते हो? मानसिक रोगो को वृद्धो के सेवन से तथा उनके सत्सग से दूर करते हो? (तुलना कीजिए—'मानस प्रति भैषेज्य त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्। तद्विद्यसेवा विज्ञान-मात्मादीना च सर्वश।'—चरक. सू अ. ११।४५) क्या तुम्हारे वैद्य चिकित्सा के आठो अंगो में निपुण है? तुम्हारे शरीर के सम्बन्ध में क्या मित्र लोग अनुरक्त है? वे तुम्हारे स्वास्थ्य का ध्यान रखते है?' (सभा. १५।९०-९१)

स्थावर विष को जंगम विष नष्ट करता है—विष के दो भेद है, स्थावर और जगम। इनमें जगम विष अधोभाग म जाता है और स्थावर विष ऊर्ध्वगामी होता है। इसलिए जगम विष को (साँप आदि के विष को) स्थावर विष (अहिफेन, सखिया आदि) नष्ट करता है। भगवान् शिव की कल्पना में इसी बात को ध्यान में रखा गया है। समुद्र मन्थन से उत्पन्न हलाहल विष को उन्होने पिया। उनके गले पर साँप लिपटे हुए है; जिनके विष के प्रभाव से वह नीचे नही जा सकता। उसका प्रभाव सिर पर हुआ। उसकी गरमी को कम करने के लिए गगा की शीतल धारा गिरने की कल्पना की गयी और विष के प्रभाव की कालिमा को दूर करने के लिए माथे पर चन्द्रमा को स्थापित किया गया; जिसकी द्युति से यह कालिमा छिप गयी।

दुर्योधन ने भीम को जब विष दे दिया और उसके मूर्च्छित होने पर उसे नदी मे गिरा दिया, तब वहाँ साँपो ने उसे काटा। साँपो के दश से उसका विष नष्ट हो गया था।

पापी दुर्योधन ने भीन के खाने की वस्तुओ में विष मिला दिया जिससे भीम मर जाय। विष के वेग से मूर्च्छित, निश्चेष्ट हुए भीम को लतापाशो से दुर्योधन न स्वय बाँधकर स्थल से जल में धकेल दिया। वहाँ पर साँपो के काटने से कालकूट विष नष्ट हो गया, क्योकि स्थावर विष को जगम विष नष्ट करता है। विष के उतरने पर भीम जाग उठा और उसने अपने सब बन्धन तोडकर साँपो को मारना प्रारम्भ किया। (आदि १२७।५३-५९)

लोक मे यह प्रचार है कि अफीम खानेवाले को साँप का विष नही चढता। सम्भवत. इसका यही आधार हो कि स्थावर विष पर जगम विष का प्रभाव नही होता।

विष पर मंत्र का प्रभाव—विष प्रतिकार के उपायो मे मत्रशक्ति का महत्त्व आयुर्वेद में वर्णित है—

'देवर्षि और ब्रह्मर्षियो से कहे, तप-सत्यमय मत्र कभी व्यर्थ नही होते। ये अति भयकर विष को भी नष्ट कर देते हैं। सत्य-ब्रह्म-तपवाले तेजस्वी मत्रो से जिस प्रकार विष नष्ट होता है, वैसा औषधो मे नही होता।'[1] (सुश्रुत. कल्प अ ५।९-१०)

महाभारत में मंत्रो का प्रभाव काश्यप द्वारा तक्षक साँप से काटे हुए वृक्ष को पुन. जीवित करने से स्पष्ट होता है—

'सातवाँ दिन आने पर ब्रह्मर्षि काश्यप राजा परीक्षित के पास जाने लगे। रास्ते में तक्षक ने काश्यप को देखा और पूछा कि हे ब्रह्मन्! कहाँ इतनी तेजी से जा रहे हो। काश्यप ने कहा कि कुरुओ के राजा परीक्षित के पास जा रहा हूँ, आज उसको तक्षक साँप काटेगा और मै उसको जीवित करूँगा। तक्षक ने कहा कि मै ही तक्षक हूँ—मेरे काटे हुए को तुम जीवित नही कर सकते। मै इस वृक्ष को काटता हूँ, तुम इसे जीवित कर दोगे? यह कहकर तक्षक ने वृक्ष को काटा। काश्यप ने उस वृक्ष की सारी राख को एकत्र करके पुनः उसे जीवित कर दिया[2]।'

---

१. योगदर्शन में भी मंत्र और ओषधि से सिद्धि प्राप्त करने का उल्लेख है—'जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः॥'—(४।१)

२. 'यद् वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै।
नूनं मंत्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात्॥'—(आदि. ५०।३४)

परीक्षित ने साँप से बचने के लिए जो साधन एकत्र किये थे—उनमें मन्त्र सिद्ध ब्राह्मण; ओषधियाँ और वैद्य भी थे ('रक्षा च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च। ब्राह्मणान् मन्त्रसिद्धाश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥' आदि ४२।३०)।

राजयक्ष्मा रोग—अत्रिपुत्र ने यक्ष्मा रोग का कारण अधिक स्त्री-सेवन से होनेवाला शुक्रनाश बताया है। इसे समझाने के लिए राजा चन्द्रमा और प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओं के विवाह का एक दृष्टान्त उन्होंने दिया है। सत्यवती-पुत्र विचित्रवीर्य भी अधिक स्त्री-सेवन से यक्ष्मा रोग से आक्रान्त हुए थे। भिषकों से चिकित्सा कराने पर भी यह रोग नष्ट नहीं हुआ और अन्त में उनकी मृत्यु का कारण बना। यथा—

'ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणोयक्ष्मणा समगृह्यत ॥
सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥'—

(म. भा. १। १०२।८०-७१)

चैत्ररथ वन—चैत्ररथ वन की प्रसिद्धि संस्कृत साहित्य में बहुत पुरानी है। कादम्बरी में महाश्वेता वर्णन-प्रसंग में चित्ररथ गन्धर्व द्वारा इसके बनाने का उल्लेख है ('तेनैव चेद चैत्ररथ नामातिमनोहरं कानन निर्मितम्'—कादम्बरी।) गीता के विभूतिपाद में भगवान् ने गन्धर्वों में अपने को चित्ररथ बताया है ('गन्धर्वाणा चित्ररथ')। घोषयात्रा प्रसंग में द्वैतवन के अन्दर दुर्योधन-कर्ण आदि का चित्ररथ गन्धर्व के साथ युद्ध होना प्रसिद्ध है।

कालिदास ने मेघदूत में चैत्ररथ को वैभ्राज नाम से कहा है ('वैभ्राजाख्य विबुधवनितावारमुख्या सहाया'—उत्तर मेघ)। महाभारत में भी वैभ्राज शब्द आता है (आदि. ८५।९)। रघुवंश में भी कालिदास ने चैत्ररथ वन का उल्लेख किया है।

इसी चैत्ररथ वन का उल्लेख चरकसंहिता में अत्रिपुत्र ने किया है—जहाँ पर ऋषियों के साथ बैठकर रस-विनिश्चय किया गया था—(चरक सू अ २६।६)।

यह चैत्ररथ देवताओं और ऋषियों के रहने का स्थान था। इसका उल्लेख आयुर्वेद में भी आया है। आधुनिक चित्राल ही चैत्ररथ बन है, ऐसा भी कई विद्वान् मानते हैं।

युद्ध में वैद्य—वाहट ने संग्रह में और धन्वन्तरि ने सुश्रुत संहिता में राजा के समीप वैद्य को रहने का उल्लेख किया है। वैद्य को सदा राजा के खान-पान तथा अन्य वस्तुओं की देखरेख करनी चाहिए। राजा को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए,

क्योकि श्रेष्ठ हाथी भी विना अकुश के पूजनीय नही होता ('न हि भद्रोऽपि गजपति-निरङ्कुश श्लाघनीयो जनस्य'—सग्रह ८।५)।

वैद्य का स्थान सेना-पडाव मे राजा के समीप होता था। उसके डेरे पर एक ध्वजा (विशेष चिह्न, रेडक्रास) लगी रहती थी, जो दूर से दीखती थी, जिससे लोग तुरन्त उसके पास पहुँच सके। वहाँ उसके पास सब उपकरण—साजसज्जा रहती थी। यह वैद्य सब अगो मे निपुण होता था, कुलीन, आस्तिक, उत्तम परिजनोवाला, आलस्यरहित, क्रोधरहित, चतुर, समझदार होता था।[1] कौटिल्य ने भी स्कन्धावार मे चिकित्सको को रखने के लिए कहा है। (कौटिल्य अर्थ १०।६२)

युधिष्ठिर ने अपनी सेना मे सैकडो शिल्पी तथा शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रखे थे, वे सब उपकरणो से युक्त थे, (उद्योग[2]। ५२।१२)

भीष्म की चिकित्सा के लिए शल्य चिकित्सक—भीष्म जब शरशय्या पर गिर पड़े उस समय उनकी चिकित्सा के लिए दुर्योधन शल्य निकालने में निपुण, सब साधनो से युक्त वैद्यो को लेकर पहुँचा। ये सब वैद्य कुशल और सुशिक्षित थे। इनको देखकर भीष्म ने दुर्योधन से कहा कि 'इनको अब धन देकर वापस कर दो। इस अवस्था में पहुँच जाने पर अब वैद्यो की क्या जरूरत?' यह सुनकर दुर्योधन ने धन देकर वैद्यो को वापस कर दिया। (भीष्म १२०।५५-५९)

महाभारत में आयुर्वेद के वचन रामायण की भाँति यत्र-तत्र ही मिलते है। युद्ध की तैयारी में अन्य वस्तुओ के साथ वैद्यो की भी जरूरत होती थी, क्योकि शत्रु लोग यवस, आसन, भूमि, जल, वायु आदि को विषमय कर देते है, उनका चिकित्सा-प्रतीकार करने के लिए वैद्य का साथ में रहना आवश्यक है (सु. क. अ. ३।६)। इसलिए युधिष्ठिर ने वैद्यो को साथ में रखा था। रामायण और महाभारत भारतीय सस्कृति के पृष्ठवश है।

---

१. 'स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
भवेत्सन्निहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्।
उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यमर्यादिताः॥'—(सुश्रुत. २४।१२-१३)

२. तस्माद् भिषजो राजा राजगृहासन्ने निवेशन कारयेत्।
तथाहि सर्वोपकरणेषु नृपतिशरीरोपयोगिस्वपरोक्षवृत्तिर्भवति।'
—(संग्रह. ८।७)

संजीवनी विद्या—महाभारत के आदिपर्व मे (अ ७०) ययाति के चरित्र वर्णन में एक सरस लघु कथा बृहस्पति पुत्र कच और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की है। एक बार ऐश्वर्य के लिए देवता और असुरो मे युद्ध हुआ। देवासुर सग्राम में विजय पाने की इच्छा से देवताओ ने [illegible] और असुरो ने शुक्राचार्य को। दोनो पुरोहितो मे लाग-डाट थी। देवता जिन दानवो को युद्ध मे मारते उशना अपनी सजीवनी विद्या के बल से उन्हे पुन जीवित कर देते थे। बृहस्पति के पास सजीवनी विद्या नही थी। इसी से देवताओ ने बृहस्पति के पुत्र कच को शत्रु शुक्राचार्य के पास सजीवनी विद्या सीखने के लिए भेजा।

कच ने देवताओ की यह बात स्वीकार की और शुक्राचार्य के पास जाकर ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके पाँच वर्ष वहाँ रहकर सजीवनी विद्या सीखी। जब दानवो को इस भेद का पता लग गया तो उन्होने उसे मार दिया। परन्तु शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री देवयानी के कहने मे उसे पुन जीवित कर दिया। इसी प्रकार दो बार हुआ। शुक्राचार्य कच की भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे सजीवनी विद्या का वरदान दिया।

कच विद्या सीखकर जब गुरु घर से लौटने लगा तब देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया, परन्तु कच ने गुरुकन्या होने से पूजनीय मानकर उसके प्रस्ताव को न माना। इससे रुष्ट होकर उसने कहा कि तुम्हारी यह विद्या फलवती नही होगी। इस पर कच ने उससे शान्त भाव से कहा कि 'तुम्हारा यह वचन काम के कारण है, धर्म से नही; इसलिए मै जिसको यह विद्या सिखा दूँगा उसको फलवती होगी—

'फलिष्यति न ते विद्या यत् त्व मामात्थ तत् तथा।'
'अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति ॥'–(महा. १।७७।२०)

सजीवनी विद्या से यह ज्ञात होता है कि वह मृत व्यक्ति को फिर से जीवित करने का ज्ञान था, इसका क्या रूप था, यह अज्ञात है।

शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के रोग (शान्ति पर्व अ. १६।८-९)तथा शीत, उष्ण और वायु ये तीन शारीरिक रोगो के कारण तथा सत्त्व, रज तम, ये तीन मन के गुण कहे है (शा अ १६।११-१३)।

कुष्ठ रोग—शान्तनु के बडे भाई देवापि को कोढी होने से राजगद्दी नहीं मिली थी ('न राज्यमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रिय'—बृहद्देवता ८।१५६)। उनका कुष्ठ रोग असाध्य रहा होगा—जिस प्रकार कि विचित्रवीर्य का यक्ष्मा रोग ठीक नही हुआ था।

पाणिनीय व्याकरण मे आयुर्वेद साहित्य[1]

पाणिनीय व्याकरण अपने समय के इतिहास पर कुछ प्रकाश डालता है। व्याकरण में लोक के अन्दर प्रचलित शब्दो का उल्लेख है। इन शब्दो में कुछ शब्द ऐसे है, जिनसे आयुर्वेद साहित्य का परिचय मिलता है, जैसे, रोगो के नाम। ये शब्द यद्यपि कम है, फिर भी उस समय की झलक देने के लिए पर्याप्त है।

पाणिनि का समय—गोल्डस्टूकर ने इस आधार पर कि पाणिनि केवल तीन वैदिक सहिताओ और निघण्टु (यास्क के निरुक्त) से परिचित थे, उनका काल ७वी सदी ईसा पूर्व माना था। डॉ. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का भी यही मत था; कारण कि पाणिनि के ग्रन्थ में दक्षिण भारत का अधिक परिचय नही पाया जाता। (चरक सहिता में भी दक्षिण भारत का परिचय नही मिलता। सुश्रुत संहिता में दक्षिण का परिचय स्पष्ट आता है—'श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा।' चि. अ. २९।२७।) मैकडानल के मतानुसार पाणिनि का काल ३५० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है परन्तु इनके प्रमाण बहुत सन्दिग्ध है। शायद यह कहना अधिक निरापद है कि ५०० ई० पू० के लगभग या बाद पाणिनी हुए थे। ('वैदिक सभ्यता'–पृष्ठ १२१, पाणिनि कालीन भारत वर्ष, अ. ८)।

चरक सहिता मे आये जनपद, चरक आदि शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ पाणिनि-व्याकरण से ज्ञात होता है। चरक सहिता मे एक अध्याय 'जनपदोद्ध्वसनीय' (वि अ. ३) नाम का है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भारत मे बहुत से जनपद थे। यह स्थिति महाभारत काल के पीछे तथा बुद्ध से पूर्व की है। सूत्रकाल का जनपद शब्द भारतीय भूगोल में बहुत महत्त्व का है।

जनपद—सूत्र काल में भारत बहुत से जनपदो में विभक्त था, इनकी विस्तृत सूचियाँ भुवनकोश के नाम से लिपिबद्ध कर ली गयी थी—जो महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो में सुरक्षित है (भीष्मपर्व ९; मार्कण्डेयपुराण अ ५७)। पाणिनि के समय जनपदो का ताँता सारे देश में फैला हुआ था। काशिकाकार ने ग्रामो के समुदाय को जनपद कहा है। ग्राम शब्द नगर का भी द्योतक है। जनपदो की सीमा नदी पर्वत आदि थे। दो पड़ोसी जनपदो के नाम जोडे के रूप मे भी प्रसिद्ध थे। जैसे सिन्धु-सौवीर, कुरु-पचाल, मद्र-केकय आदि (चरक सहिता में पचाल क्षेत्र का उल्लेख

---

१. डाक्टर वा. वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' के आधार पर।

है—(वि अ ३)]। पाणिनि के व्याकरण मे जो जनपद आये है, उनमें पचाल का नाम नही है, वे नाम मगध, काशी, कोशल, वृजि, कुरु, अश्मक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज है। बुद्ध के समय जनपदो की सख्या सोलह थी, यथा— काशी, कोशल, अग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार और कम्बोज। पचाल का नाम बुद्ध के पूर्व प्रसिद्ध जनपदो की सूची में है। सम्भवत पचाल प्रदेश का उस समय तक पृथक् महत्त्व समाप्त हो गया होगा अथवा कुरु के अन्दर ही सनाविष्ट हो गया होगा। पचाल का एक नाम प्रत्यग्रथ है (पाणिनि अष्टाध्यायी ४।१।१७३)। महाभारत में यह नाम नही मिलता। पाणिनि मे पचाल नाम भी नही मिलता। मध्यकालीन कोशो के अनुसार पचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी। चरक सहिता में काम्पिल्य राजधानी बतायी गयी है—पञ्चालक्षेत्रद्विजातिवराध्युषित–काम्पिल्यराजधान्याम्–' वि अ ३०३।३ जिसकी पहचान आजकल फर्रुखाबाद से होती है। पचाल का नाम कुरु के साथ जोडे के रूप मे ही प्राय आता है। जोडे के रूप में उन्ही देशो के नाम आते है जिनकी भाषा और रीति-रिवाज मिलते हो। इसलिए पंचाल जनपद कुरु जनपद का पडोसी था।

जनपद के आधार पर शिल्पशिक्षा—पेशेवर लोगो की शिक्षा को जानपदी शिक्षा कहा गया है और शास्त्रीय शिक्षा को भूयसी विद्या नाम दिया गया है ('जानपदीषु विद्यात. पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्य प्रशस्यो भवति'–यास्क)।

चरक—शिष्य तीन प्रकार के होते थे—माणव, अन्तेवासी और चरक। पाणिनि ने माणव और चरक इन दोनो का एक साथ उल्लेख किया है ('माणवचरकाभ्या खञ्'–५।१।११)। वैशम्पायन का नाम भी चरक था। सम्भवत. एक से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान प्राप्त करने या ज्ञान प्रचार करने के लिए उनकी यह सज्ञा थी। माणव के लिए दण्डमाणव शब्द भी आता है (अष्टा. ४।३।१३०)। जब तक उपनयन नही होता था; शिष्य दण्ड धारण करके गुरु के पास रहता, तब तक वह माणवक था। उपनयन होने के बाद गुरु के पास रहने से अन्तेवासी छात्र होता था। अनेक चरणो मे घूम-घूमकर ज्ञान प्राप्त करनेवाला छात्र चरक कहलाता था[1]। ऐसे विद्यार्थी अल्पकाल के लिए ही गुरु के समीप रहते थे। वैशम्पायन का नाम भी चरक था, जिसके कारण

---

१. 'तक्कसिलं गत्वा उगाहित सिप्पाततो निक्खमित्वा सब्ब समय सिप्पज् च देस चारित्रण च जानिस्सामाति अनुपुब्बेन चारिकं चरन्ता।' (जातक भा. ५ पृष्ठ ३४७)

उसके शिष्य भी चरक कहलाये ('कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च'—४।३।१०४, चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिन चरका इत्युच्यन्ते—काशिका)। आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त करके उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो विचरते थे उनके लिए 'चरक' यह अन्वर्थ सज्ञा थी। जातको मे तक्षशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो के लिए 'चारिक चरन्ता' कहा गया है (सोनक जातक ५।२।४२७)। बृहदारण्यक उपनिषद् में भुज्यु लाटचायनिने याज्ञवल्क्य से कहा कि मद्रदेश में वह अपने साथियो के साथ चरक बनकर विचर रहा था ('मद्रेषु चरका: पर्यव्रजाम '—३।३।१)। श्युआन चुआङ ने भी पाणिनि के लिए लिखा है कि उन्होंने सम्पूर्ण शब्द सामग्री लम्बी यात्रा तथा विद्वानो से मिलकर प्राप्त की, यही उनका चरक रूप था।

रोग नाम—रोग और औषधियो से सम्बन्धित कुछ शब्द अष्टाध्यायी मे आते हैं। रोग के पर्याय गद (६।३।७०) और उपताप (७।३।६१) थे। छूत की बीमारी को स्पर्श रोग (३।३।१६) कहते थे। वैद्य के लिए अगदकार शब्द बरता जाता था (६।३। ७०)। नैषध में भी यह शब्द मिलता है ('द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतु।' ४।११६)। जडी-बूटी 'ओषधि' और तैयार दवाई 'औषध' कहलाती थी ('ओषधेर-जातौ'—५।४।३७)। 'सिध्मादिभ्यश्च' (५।२।९७) से सिध्मल; 'अर्श आदिभ्योऽच्' (५।२। १२७) से अर्शस, 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्य शने लच.' (५।२।१००) से पामन—पामावाला शब्द बनता है।

रोग की चिकित्सा करने के लिए ('रोगाच्चापनयने' ५।४।४९) रोग के नाम के साथ तस् प्रत्यय जोडकर कृ धातु से शब्द बनाये जाते थे, यथा—प्रवाहिकात कुरु, कासत कुरु, छर्दिकात कुरु। इनका अर्थ यह होता था कि प्रवाहिका की चिकित्सा करो, कास की, छर्दि की चिकित्सा करो।

दूसरे या चौथे दिन आनेवाले ज्वर के लिए द्वितीयक और चतुर्थक शब्द आते हैं ('कालप्रयोजनाद् रोगे'—५।२।८१)। सर्दी देकर चढनेवाले ज्वर को 'शीतक' और गर्मी से आनेवाले ज्वर को 'उष्मक', विषपुष्प से उत्पन्न ज्वर को 'विषपुष्पक' कहते थे (औषधि गन्ध से उत्पन्न ज्वर का उल्लेख सुश्रुत मे भी है—'औषधिगन्धविषजौ विषपित्त-प्रसाधनै।' उत्तर अ ३८।२६८)।

रोगवाची शब्द बनाने में विशेष पद्धति पायी गयी है। धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय जोडकर रोगवाची शब्द एक ही ढग से बनाये जाते थे, जैसे, प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचर्चिका। रोग के नाम से रोगी का नाम रखने की प्रथा चल पडी थी (५।२२८), जिसके आधार

पर कुष्ठी किलासी, वातकी, अतिसारकी ('वातातिसाराभ्यां कुक् च' ५।२।१२९) कहते थे। रोग से मुक्त किन्तु निर्बलता से पीडित व्यक्ति के लिए 'ग्लास्नु' शब्द आता है—(३।२।१३९), चरक में भी यह शब्द आता है—'भूयिष्ठ ग्लास्नाव'—वि १।१८ परन्तु अर्थ भिन्न है। कात्यायन ने रोग से पीडित व्यक्ति के लिए 'आमयावी' शब्द का उल्लेख किया है (५।२।१२२)। शरदृऋतु में उत्पन्न रोग—उत्तर भारत में वर्षा की समाप्ति पर शरदृऋतु के प्रारम्भ में ज्वरादि रोगों का बड़ा प्रकोप होता है ('वैद्यानां शारदी माता' यह विचार इसी लिए है)। पाणिनि ने इनके लिए शारदिक शब्द कहा है ('विभाषा रोगातपयो' ४।३।१३)।

त्रिदोष—पाणिनिसूत्र 'तस्य निमित्त संयोगोत्पातौ' (५।१।३९) पर कात्यायन ने वात-पित-कफ का उल्लेख किया है। वात के रोगी को वातकी (५।२।१२९) कहा गया है। पित्त सिध्मादिगण (५।२।९७) में और श्लेष्मा पामादिगण में (५।२।१००) पठित है।

आचार्यों के नाम—पाणिनि के सूत्र 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) के गर्गादि गण में जतूकर्ण, पराशर, अग्निवेश शब्दो का उल्लेख है। 'कथादिभ्यष्ठक्' (४।४।२) के कथादि गण के आयुर्वेद शब्द से 'तत्र साधु' इस अर्थ में 'आयुर्वेदिक' शब्द निष्पन्न हुआ है।

इस तरह ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व भी इस ज्ञान का उल्लेख मिलता है।[1]

---

१. महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी भाष्य में कुछ रोगों के नाम लिखे हैं। यथा—'नड्वलोदक. पादरोगः, दधित्रपुषं प्रत्यक्षो ज्वरः।' 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' (५।१।३९) इस पर कात्यायन के वार्तिक "वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुप-सख्यानं कर्त्तव्यम्, सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्" के वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार से 'रः स्पास्तम्भोः पूर्वस्य' (८।४।६१) का उत्कन्दको रोगः; 'ह्वः सम्प्रसारणम्, (६।१।२२) 'का दधित्रपुस प्रत्यक्षो ज्वरः' है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गाँवो में आज भी प्रसिद्ध है कि छाछ के साथ फूट—बड़ा कचरा खाने से ज्वर होता है; नड्वलोदक पादरोगः—राजस्थान में बाल नाम का कृमि (Tope worm) प्राय. होता है। ये सब उदाहरण प्राचीन काल में प्रसिद्ध रोगों के हैं।

तीसरा अध्याय

बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद

महाजनपदो का युग [लगभग १४२५ से ३६३ ई० पूर्व]

भारतवर्ष का तिथिक्रम के अनुसार शृंखलाबद्ध इतिहास इसी समय से मिलता है। इस समय देश की स्थिति वैदिक काल से बहुत बदल गयी थी। बुद्ध के समय यह क्रान्ति राजनीतिक, धार्मिक सब रूपो मे हो चुकी थी। महाभारत का सार्वभौम सम्राट्-शासन टूट चुका था। उस समय देश सोलह जनपदो मे विभक्त था। इनमें चार राज्य मुख्य थे—(१) मगध, जिसमें अग शामिल था, जिसका राजा बिम्बसार था, (२) कोशल, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जिसमे काशी सम्मिलित थी, जिसका राजा प्रसेनजित था, (३) कौशाम्बी, जिसका राजा वत्सराज उदयन था, (४) अवन्ती, जिसका राजा चण्ड प्रद्योत था। इस काल के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक का सम्बन्ध मगध के राजा बिम्बसार और अवन्ती के राजा चण्ड प्रद्योत के साथ था, जैसा कि आगे हम देखेंगे।

धार्मिक क्रान्ति ठीक वही थी, जिसकी झलक चरक सहिता मे मिलती है, पुनर्जन्म है वा नही, कर्म-कर्मविपाक है वा नही, नियतिवाद आदि। इस क्रान्ति को करनेवाले मुख्य शास्ता छ थे, उनके नाम—अजितकेश कम्बल, पूरण कस्सप, पकुध कच्चायन, मक्खलि गोसाल, सजय वेलट्ठिपुत्त, निगठ नातपुत्त। अजितकेश कम्बल के मत से न दान है, न इष्टि, न हुत, न सुकृत और न दुष्कृत कर्म का फलविपाक है। न इहलोक, न परलोक, मनुष्य चातुर्भौतिक है। सजय का कहना था कि प्राणातिपात (वध), अदत्तादान (स्तेय), मृषावाद, परदार-गमन से पाप नही होता, दान-यज्ञ आदि से पुण्य नही होता। मक्खलि गोशाल नियतिवादी थे। गोसाल आजीवक सम्प्रदाय के सस्थापक थे। ये अचेलक थे—अनेक प्रकार के कृच्छ्र तप करते थे। ये पचाग्नि तापते थे, उत्कुटिक थे, चमगादड की भाँति हवा मे झूलते थे। पालिनिकाय में इनको मुक्ताचार कहा गया है। बुद्धघोष के अनुसार पूरण कस्सप आत्मा को निष्क्रिय और कर्म को नही मानते थे (तुलना कीजिए "निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन्! विद्यते कथम्" चरक. शा १।६)। अजित नास्तिक थे और कर्मविपाक नही मानते थे। गोसाल नियतिवादी

थे---ये कर्म और कर्मफल दोनो का प्रतिषेध करते थे (तुलना कीजिए---'दृष्ट न चाकृत कर्म यस्य स्यात् पुरुष फलम्' सू अ २५, कर्म-कर्मफल न च सू अ ११।१४)।

यह बात ध्यान मे रखने की है कि बुद्ध के समय मे आस्तिक का अर्थ ईश्वर मे प्रतिपन्न नही था और न वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहते थे। पाणिनि के निर्वचन के अनुसार नास्तिक वह है जो परलोक मे विश्वास नही करता। ('अस्ति नास्ति दिष्ट मति'--यह सूत्र पाणिनि का है, तुलना कीजिए चरक सहिता में पुनर्जन्म की विवेचना से--'पातकेभ्य पर चैतन् पातक नास्तिकग्रह'---सूत्र अ ११।१५, 'सन्ति ह्येकप्रत्यक्षपरा परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिता'--सू अ ११।६)।

इस प्रकार से उस समय की स्थिति देश मे अनेक वादो की थी, जैसा कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने अपनी पुस्तक 'बौद्धधर्म दर्शन' के प्रारम्भ में लिखा है---

'जिस समय भगवान् बुद्ध का लोक में जन्म हुआ, उस समय देश मे अनेक वाद प्रचलित थे। विचार-जगत मे उथल-पुथल हो रही थी (इसका उदाहरण उपनिषदों में आत्मा, ब्रह्म आदि प्रश्नो का विचार है---लेखक)। लोगो की जिज्ञासा जाग उठी थी। परलोक है या नही, मरण के अनन्तर जीव का अस्तित्व रहता है या नही, कर्म है या नही, कर्म विपाक है या नही, इस प्रकार के अनेक प्रश्नो मे लोगो को कुतूहल था। इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए लोग उत्सुक थे।' (१ पृष्ठ)

बौद्धो के चार ब्रह्म विहार है, यथा--मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा (बौद्धधर्म दर्शन--पृष्ठ ९४), चरक में यही चार प्रकार की वैद्यवृत्ति कही गयी है (सू अ ९।२६)।

आयुर्वेद साहित्य---बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत से बाहर दूर तक हुआ। इसलिए इसका साहित्य भारत के बाहर भी मिला है। जिसमें मध्य एशिया मे प्राप्त 'नावनीतकम्' है, जो कि पूर्णत आयुर्वेद की रचना है। यद्यपि इसके सम्पादक कविराज बलवन्तसिंह मोहन वैद्यवाचस्पति इसको ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का मानते हैं, परन्तु विवेचना से यह गुप्तकाल का ज्ञात होता है। इसका लशुनकल्प अष्टाग-सग्रह के लशुनकल्प से बहुत मिलता है। छद रचना, बौद्ध देवताओं की स्तुति ये सब बाते इसके गुप्तकाल से पहले का सिद्ध होने में बाधक हैं। 'नावनीतकम्' का हिन्दी अर्थ 'मक्खन' है।

इसी शृखला मे दूसरा ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक' है। यह भी मध्य एशिया में मिला था। कमल शुद्धता और पूर्णता का चिह्न है, पक में उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार से कमल उससे उपलिप्त नही होता, उसी प्रकार से बुद्ध इस लोक मे उत्पन्न होने पर भी उससे निर्लिप्त रहते थे। यह ग्रन्थ चीन, जापान आदि महायानधर्मी देशो में बहुत पवित्र माना जाता है। ('बौद्धधर्म दर्शन')

इस ग्रन्थ मे २७ अध्याय (परिवर्त्त है), इसके पाँचवे औषधि-परिवर्त्त का सम्बन्ध आयुर्वेद मे है—जो कि बहुत थोडा है। यथा—'जिस प्रकार इस त्रिसाहस्र महासाहस्र लोक-धातु मे पृथ्वी, पर्वत और गिरिकन्दराओ मे उत्पन्न हुए जितने तृण, गुल्म, ओषधि, वनस्पतियाँ है, उन सबको महाजल मेघ समकाल मे वारिधारा देता है, वहाँ यद्यपि एक धरणी पर ही तरुण एव कोमल तृण, गुल्म, ओपधियाँ, महाद्रुम भी प्रतिष्टित है और वे एक तोय से अभिष्यन्दित है, तथापि अपने-अपने योग्यतानुरूप ही जल लेते है और फल देते है (बौद्धधर्म दर्शन पृष्ठ १४६[१]) चरक मे भी चार ही प्रकार के औद्भिद् द्रव्य माने गये है—'वनस्पतिस्तथा वीरुद् वानस्पत्यस्तथौपधि'—चरक सूत्र १।७१, इसमे वीरुध से गुल्म लिया गया है 'लता गुल्माश्च वीरुध.'—चक्रपाणि)। 'यथा वात पित्तश्लेष्माण एव रागद्वेपमोहा । द्वाषष्टि च दृष्टिकृतीनि द्रष्टव्यानि। यथा च तासु ओषधयस्तथा शून्यता निमित्ताप्रणिहितनिर्वाणद्वार च द्रष्टव्यम् ॥' (ओषधि परिवर्त)

तीसरा मुख्य ग्रन्थ 'विनयपिटक' है, इसमे भिक्षुओ के आचरण सम्बन्धी नियम है, इसका सम्बन्ध मुख्यत आयुर्वेद साहित्य से है। इसी के आधार पर चरकसहिता के

---

१ 'तद् यथापि नाम काश्यपास्यां त्रिसाहस्र महासाहस्रया लोकधातौ यावन्तस्तृणगुल्मौषधिवनस्पतयो नानावर्णा नानाप्रकारा ओषधिग्रामा नानानामधेया पृथिव्या जाताः पर्वतगिरिकन्दरेषु वा मेघश्च महावारिपरिपूर्ण उन्नमेद् उन्नमित्वा सर्ववती त्रिसहस्रमहासहस्रां लोकधातुं संछादयेत् सछाद्य च सर्वत्र समकाल वारि प्रमुञ्चयत्।' (ओषधि परिवर्त्त.)

'यथाहि कश्चिज्जात्यन्धः सूर्येन्दुग्रहतारकाः ।
अपश्यन्नेवमाहासौ नास्ति रूपाणि सर्वशः ॥
जात्यन्ध तु महावैद्यः कारुण्यं सनिवेश्य ह ।
हिमवन्त स गतवान् तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥
सर्ववर्णरसस्थाना नागाल्लभत ओषधी. ।
एवमादीश्चतस्रोऽथ प्रयोगमकरोत्ततः ॥
दन्तै संचूर्ण्य काचित्तु पिष्ट्वा चान्या तथापराम् ।
सूच्यग्रेण प्रवेश्याङ्गे जात्यन्धाय प्रयोजयेत् ॥
स लब्धचक्षुः संपश्येत् सूर्येन्दुग्रहतारका. ।
एव चास्य भवेत्पूर्वमज्ञानात्तदुदाहृतम् ॥' (५४-५८.)

कुछ शब्द एव उस समय की चिकित्सा का सही परिचय मिलता है, जिससे पता चलता है कि उस समय आयुर्वेद के आठो अग पूर्णत अपने यौवन मे थे। मस्तिष्क और पेट के शल्यकर्म उस समय मे होते थे, आयुर्वेद को सात साल निरन्तर पढ लेने पर भी इसकी समाप्ति, इसका छोर नही मिलता था।

चौथा ग्रन्थ 'मिलिन्द प्रश्न' है, जो कि विशेष उपयोगी तो नही, परन्तु उसमे भी आयुर्वेद विषय का सक्षिप्त उल्लेख मिलता है। जैसे—वेदनाओ के आठ प्रकार बताये गये है, इन प्रकारो मे वायु का बिगडना, पित्त का प्रकोप होना, कफ का बढ जाना, सन्निपात दोष हो जाना, ऋतुओ का बदल जाना, खाने-पीने मे गडबड होना, बाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव आदि।

विनयपिटक मे आयुर्वेद साहित्य[1]

विनय, अनुशासन का अर्थ नियम है। इस पिटक मे भिक्षु-भिक्षुणियो के आचार सम्बन्धी नियम तथा उनके इतिहास और व्याख्याओ को एकत्र किया गया है, इसलिए इसका नाम विनयपिटक है। इसमे 'महावग्ग' और 'चुल्लवग्ग' नाम के दो खन्धक (स्कन्ध) है। सर्वास्तिवादी इनको क्रमश विनय-महावस्तु और विनय-क्षुद्रकवस्तु कहते है। स्थविरवादी खन्धक नाम देते है। धम्मपद की अट्ठकथा मे कथा के लिए वत्थु (=वस्तु) शब्द का प्रयोग आता है। इसलिए सर्वास्तिवादियो का महावस्तु और क्षुद्रकवस्तु नाम बहुत उपयुक्त है।

स्वेदकर्म और चीर-फाड—आयुर्वेद की पद्धति मे स्वेद चिकित्सा का महत्त्व है। इसका विशेष महत्त्व वातरोग मे है। आयुष्मान् पिलिन्दिवच्छ के शरीर मे वात-रोग था। भगवान् बुद्ध से यह बात कही गयी। उस समय बुद्ध ने स्वेदकर्मचिकित्सा (पसीना निकालने की चिकित्सा) करने को कहा था। इस चिकित्सा मे चार प्रकार के स्वेद बताये गये है (विनयपिटक—६।२।१)—

(क) सम्भार स्वेद (अनेक प्रकार के पसीना लानेवाले पत्तो के बीच मे सोना)—यह स्वेद सस्तर-स्वेद का रूप है, जिसमे दोष आदि की अपेक्षा से एरण्ड आदि स्वेदन-द्रव्यो को उबालकर इनको चटाई पर बिछाकर उस पर कम्बल, कौशेय या वातहर पत्र बिछाकर रोगी लेटता है। (सग्रह-सूत्र अ. २६।९)

---

१. यह सम्पूर्ण विवरण श्री राहुल सांकृत्यायन के 'विनयपिटक' से लिया गया है।

(ख) महास्वेद—इसमें पोरसा (पुरुष प्रमाण) भर गड्ढा खोदकर उसे अगारों से भरकर तथा मिट्टी, बालू से मूँदकर उस पर नाना प्रकार के वातहर पत्तो को बिछाकर शरीर मे तेल लगाकर इस पर लेटकर पसीना निकालना पडता था।

यह स्वेद आयुर्वेद में वर्णित कूपस्वेद से मिलता है इसमें पुरुष-प्रमाण से दुगुना गड्ढा खोदकर इसे अन्दर से साफ और समान करके, इसमें हाथी, घोडा गाय, गदहा और ऊँट की विष्ठा जलाते है। जब इसमे से धुआँ निकलना बन्द हो जाय, तब इसके ऊपर चारपाई रखकर या इसे बन्द करके पत्ते बिछाकर स्वेद लेते है। (सग्रह सू. अ २६। १३, चरक सू अ १४।५९-६०)

(ग) उदककोष्ठक—गरम पानी से भरे बरतन जिस कोठरी मे रखे हो, उसमे बैठकर पसीना लेना।

यह स्वेद बहुत कुछ कुम्भी-स्वेद से मिलता है—वातहर द्रव्यो से युक्त पानी को हडी मे उबालकर उस हडी से लगकर स्वेद ले ('पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि [illegible] परिलिप्योपविष्टस्तद्वदुष्माणं गृह्णीयात्—सग्रह सू अ २६।११)[1]।

(घ) भगोदक—पत्तो के काढे से सीच-सीचकर पसीना निकालना।

इस स्वेद का उपयोग अत्रिपुत्र ने अर्शरोग मे बताया है—('पत्रभगोदके शौच कुर्यादुष्णेन वाऽम्भसा'—चरक चि अ १४।१९९; 'वृषार्कैरण्डविल्वाजा पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत्'—अ १४।४४) पत्रभग के लिए केवल भग शब्द आया है।[2]

जन्ताघर—उक्त चार स्वेदो के अतिरिक्त जेन्ताक-स्वेद का भी उल्लेख है। विनय-

---

१. संग्रह और चरक में इस स्वेद का दूसरा रूप भी दिया गया है; यथा—

'कुम्भीं वातहर[illegible] भूमौ निखानयेत्।
अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि॥
स्थापयेदासनं वाऽपि नातिसान्द्रपरिच्छदम्।
अथ कुम्भ्यां सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान्॥
पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम्॥' (चरक.)

२. प्रसाधन में भी पत्रभंग शब्द आता है। यथा—कादम्बरी में 'किमिति च हरिण इव हरिणलाञ्छनेन लिखितः कृष्णागुरुपत्रभंगः पयोधरभारः।' इसमें पत्ते (तेजपात, चमेली आदि) [illegible] कपोलों या स्तनों पर लगाये जाते थे, अथवा अगरु, चन्दन आदि के लेपों से अगो पर चित्रकर्म (भक्ति, लेखा) किया जाता था।

पिटक मे जेन्ताक के स्थान पर 'जन्ताघर' नाम दिया गया है। यह एक प्रकार का घर होता था, जिसमे 'धूमनेत्र' मकान के मध्य मे या एक पार्श्व मे होता था। इसको पर्याप्त गरम करके इसका उपयोग किया जाता था।

सम्भवत जन्ताघर का ही रूप जेन्ताक है। मोहनजोदरो मे एक स्नानगृह खुदाई मे मिला है। यह स्नानगृह सार्वजनिक बताया जाता है, जैसा कि इसके विशाल आकार से पता चलता है। सम्भवत जन्ताघर का अर्थ सार्वजनिक घर हो।

'चुल्लवग्ग' मे भगवान् ने भिक्षुओ को चक्रम और जन्ताघर करने की आज्ञा दी है। ये ऊँची कुर्सी पर बनाये जाते थे, इनकी चिनाई ईट, पत्थर और लकडी से होती थी। इन पर चढने के लिए सीढियाँ होती थी, इनके अन्दर किवाड, बिलाई, देहरी, सरदल, खूँटी होती थी। जन्ताघर मे धूमनेत्र रहता था; यह धूमनेत्र छोटे जन्ताघर मे एक ओर रहता था और बडे जन्ताघर मे बीच मे रहता था। जन्ताघर का अग्नि-मुख मिट्टी से ढँका रहता था। यह घर अन्दर से मिट्टी से लिपा होता था, इसमें पानी निकलने की नाली रहती थी। इसमे एक चौकी होती थी, यह चारो ओर से घिरा होता था। (विनयपिटक ५।२।२)

यह वर्णन आयुर्वेद के जेन्ताक के वर्णन से बहुत मिलता है, केवल कार्यभेद है। अत्रिपुत्र ने जो जेन्ताक-स्वेद बताया है, उसमे धूमनेत्र बीच मे रहता था। इसमे भी धूमनेत्र पर ढक्कन लगाने को कहा है ('अङ्गारकोष्ठकस्तम्भ सपिधान कारयेत्')। इसमे स्वेद लिया जाता है, इसलिए नाली की जरूरत नही। कार्य दोनो का एक ही है। एक प्रकार से ये दोनो घर उष्णवात सुरक्षित घर थे। इसलिए बौद्धसाहित्य का 'जन्ताघर' ही आयुर्वेद साहित्य में जेन्ताक बन गया प्रतीत होता है।

रक्तमोक्षण—आयुष्मान् पिलिन्दिवच्छ को पर्ववात (गठिया) का रोग था; इसमे भगवान् ने सीग से खून निकालने की अनुमति दी थी।

अन्य उपचार—इसी प्रकार से फोडे के रोग पर शस्त्रकर्म करने की, काढा पीने की, तिलकल्क बाधने की, पट्टी बाँधने की धुआँ देने की, बढे हुए मास को नमक की ककरी से काटने की, घाव न भरने पर तेल की वर्त्ती (विकासिका) अन्दर भरने की अनुमति दी गयी है।(विनय ६।२।५)

सर्प चिकित्सा मे चार महाविक्कटो को खिलाने (पाखाना, मूत्र, राख और मिट्टी देने) की अनुमति दी गयी थी। पाण्डुरोग मे गोमूत्र की हर्रे खिलाने की, जुलपित्ति रोग (खुजली, छविदोष) मे गन्धक लगाने की अनुमति दी थी। घी, मक्खन, मधु, तेल और खॉड ये पाँच सामान्य औषधियाँ भी थी। इनको सात दिन के लिए रख सकते थे।

भगन्दर में शस्त्रकर्म का निषेध—राजगृह के वेणुवन कलंदक निवाप में रहते हुए एक भिक्षुक को भगदर-रोग हो गया था। आकाशगोत्र वैद्य शस्त्रकर्म करता था। भगवान् ने इस स्थान पर शस्त्रकर्म करने का निषेध किया, क्योकि इस स्थान का चमड़ा कोमल होता है, घाव मुश्किल से भरता है, शस्त्र चलाना कठिन है। इसलिए गुह्य स्थान के चारो ओर दो अगुल तक शस्त्रकर्म नही करना चाहिए। (विनयपिटक ६।३।१३)

रोगी की सेवा सम्बन्धी सूचनाएँ—निम्न पाँच बातो से रोगी की सेवा करना मुश्किल होता है—१ साथियो के अनुकूल न होने से (इसी लिए परिचारक के लिए 'अनुरागश्च भर्त्तरि' कहा गया है), २ अनुकूल की मात्रा नही जानने से, ३ औषध सेवन नही करने से, ४ हित चाहनेवाले परिचारक से ठीक-ठीक रोग की बात नही बताने से (इसी से रोगी के लिए आवश्यक है—'ज्ञापकत्व च रोगाणामातुरस्य गुणा· स्मृता'), ५ दु खमय, तीव्र, खर, कटु, प्रतिकूल, अप्रिय, प्राणहर शारीरिक पीडाओ को नही सहन करने से (इसी से अभीरुत्व कहा गया है)।

इसके विपरीत पाँच बातो से रोगी की सेवा करना सुगम होता है। यथा—अनुकूल परिचारक होने से, अनुकूल मात्रा जानने से, औषध सेवन करने से, ठीक-ठीक रोग को बता सकने से और शारीरिक पीडाओ को सहने से रोगी की सेवा सुखकर होती है।

परिचारक सम्बन्धी सूचनाएँ—परिचारक मे इन बातो का होना ठीक नही—१ दवा ठीक नही करता, २ अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु को नही जानता; ३. किसी लाभ से रोगी की सेवा करता है, मैत्रीपूर्ण चित्त से नही, ४ मल-मूत्र, थूक, वमन के हटाने मे घृणा करता है, ५. रोगी को समय-समय पर धार्मिक कथा द्वारा समुत्तेजित और आनन्दित नही करता (इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है—रोगी के साथी 'गीत-वादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराण-[illegible] देशकालविद पारिषद्याश्च'—चरक. सू अ १५।७)।

इसके विपरीत परिचारक रोगी की सेवा करने योग्य होता है; जैसे, दवा ठीक करने में जो समर्थ होता है, अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु को जानता है, किसी लाभ से सेवा नही करता; मल-मूत्र, थूक, वमन को हटाने मे घृणा नही करता, रोगी को समय-समय पर धार्मिक कथा सुनाकर आश्वासन और आनन्द देता है। (८।७।४-५)

इसके अतिरिक्त अजन, अजनदानी, अजन की सलाई (६।१।११), कर्णमल-हरिणी (५।३।७), सिर पर तैल (६।१।१२), धूमवर्त्ती का विधान, धूमनेत्र की

अनुमति (६।१।१४), पैरो पर तैल की मालिश (६।२।३), और भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियो की अनुमति (६।१।१—९) भगवान् ने भिक्षुओ को दी थी।

जीवकचरित—बौद्ध काल से लेकर आज तक किसी भी वैद्य या चिकित्सक की कुशलता का, अध्ययन का, इतिहास नही मिलता, जैसा जीवक का मिलता है। जीवक का सब श्रम, यश, धन अपना कमाया हुआ था। यह वर्णन आयुर्वेद के पूर्ण उत्कर्ष को बताता है।

उस समय बुद्ध भगवान् राजगृह मे वेणुवन कालन्दक निवाप में विहार करते थे। उस समय वैशाली समृद्धिशाली, बहुत जनो से आकीर्ण, अन्न-पान सपन्न थी। उसमें ७,७७७ प्रासाद (बडे ऊँचे महल), ७,७७७ कूटागार (लम्बाई-चौडाई के विस्तृत मकान), ७,७७७ आराम (बगीचे), ७,७७७ पुष्करिणियाँ थी। गणिका अम्बपाली दर्शनीय, परम रूपवती, नाच, गीत और वाद्य मे चतुर थी, चाहनेवालो के पास पचास कार्षापण पर रात मे जाया करती थी। तब राजगृह का नैगम (नगरसेठ) किसी काम से वैशाली में आया. उसने समृद्ध वैशाली को देखा।

काम समाप्त कर जब नैगम राजगृह गया तब उसने बिम्बसार से वैशाली के वैभव का वर्णन किया और कहा कि 'देव ! हम भी एक गणिका रखें ?'

'तो भणे ! वैसी कुमारी ढूँढो—जिसको तुम गणिका रख सको।'

उस समय राजगृह में सालवती नाम की कुमारी अभिरूप-दर्शनीय थी। तब राजगृह के नैगम ने सालवती को गणिका चुना। सालवती ने थोडे ही समय में नाच, गीत, वाद्य सीख लिया। चाहनेवालो के पास सौ कार्षापण पर रात को जाया करती थी। तब यह गणिका अचिर में ही गर्भवती हो गयी। गणिका को लगा कि गर्भवती स्त्री पुरुषो को नापसन्द (अप्रिय) होती है। यदि कोई यह जान जायगा कि सालवती गर्भवती है, तो मेरी सब मान-प्रतिष्ठा धूल मे मिल जायगी। इसलिए क्यों न बीमार बन जाऊँ। तब सालवती ने दौवारिक को आज्ञा दी—'कोई पुरुष आये और मुझे पूछे तो उससे कह देना कि बीमार है।'

गर्भ के पूर्ण समय पर सालवती ने एक पुत्र जना। तब दासी से सालवती ने कहा कि 'हजे ! इस बच्चे को सूप में रखकर कूडे के ढेर पर छोड़ आ।' दासी उस बच्चे को ढेर पर छोड़ आयी।

उस समय अभय राजकुमार राजा की हाजिरी के लिए जा रहे थे, उन्होने कौओं से घिरे उस बच्चे को देखकर लोगो से पूछा—'यह कौओ से घिरा क्या है ?' 'देव !

बच्चा है, जीता है।' तब कुमार ने कहा कि इसे हमारे अन्त.पुर मे ले जाकर दासियों को दे आओ और उनसे पोसने के लिए कह देना।

'जीता है'—कहने से इसका नाम जीवक हुआ, कुमार ने पाला था, इसलिए इसका नाम 'कौमारभृत्य' हुआ। जीवक कौमारभृत्य शीघ्र ही विज्ञ हो गया। उसने अनुभव किया कि राजकुल मानी होता है, बिना शिल्प के जीविका करना मुश्किल है, क्यो न मै शिल्प सीखूँ।

उस समय तक्षशिला मे एक दिशाप्रमुख (दिगत प्रसिद्ध) वैद्य रहता था। जीवक राजकुमार से बिना पूछे तक्षशिला गया[1]। जाकर वैद्य से बोला—(वैद्य का नाम नही दिया गया, परन्तु श्री जयचन्द्र विद्यालकार का कहना है कि तक्षशिला के आत्रेय भारतीय आयुर्वेद के पहले प्रसिद्ध आचार्य थे। (इतिहासप्रवेश पृष्ठ ८१)

'आचार्य! मै शिल्प सीखना चाहता हूँ!' आचार्य ने कहा—'तो भन्ते जीवक! सीखो।' जीवक कौमारभृत्य बहुत पढता था, जल्दी धारण कर लेता था, अच्छी तरह समझता था, पढा हुआ उसको भूलता नही था। सात वर्ष तक अध्ययन करने पर

---

१. तक्षशिला का वर्त्तमान नाम शाहजी दी ढेरी है, जो रावलपिंडी जिले में है। पहले यह प्रदेश गन्धार मे था। गन्धार को सिल्यूकस ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को युद्ध की सन्धि में दिया था। गन्धार क्षेत्र उस समय विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र था। पाणिनि का शलातुर जन्मस्थान यही था। गन्धार का राजा नग्नजित् था, इसने पुनर्वसु से विष के सम्बन्ध में पूछा था—

'गन्धारदेशे राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्णमार्गदः।
संगृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्॥
न च स्त्रीभ्यो न चास्त्रीभ्यो न भृत्येभ्योऽस्ति मे भयम्।
अन्यत्र विषयोगेभ्यः सोऽत्र मे शरणं भवान्॥' (भेल. पृ. ३०.)

सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को एरिया (हेरात), ऐराकोशिया (कन्दहार), परोपनिसदी (काबुल की घाटी-पेशावर), गैड्रोसिया (बलोचिस्तान) ये चार प्रान्त दिये थे। सिल्यूकस ने अपने राजदूत मेगस्थनीज को मौर्य-दरबार में भेजा था। तक्षशिला के वृद्ध राजा और उसके पुत्र आम्भि (ओम्फिस) ने बुखारा में ही सिकन्दर के पास दूत भेजकर भारतीय आक्रमण के समय सहायता का वचन दिया था; बदले में अपनी रक्षा की माँग की थी। तब से यह प्रदेश यूनानियों के पास था, जिसे सन्धि में चन्द्रगुप्त को वापस किया गया था।

जीवक को अनुभव हुआ कि बहुत पढा, समझा, परन्तु इस शिल्प का कही अन्त नही मिलता, कब इस शिल्प का अन्त जान पडेगा। तब वह वहाँ गया जहाँ वह वैद्य था। जाकर उस वैद्य से बोला—'आचार्य ! मै बहुत पढता हूँ, याद करता हूँ, कब इस शिल्प का अन्त जान पडेगा।'

आचार्य ने कहा—'तो भन्ते ! खनती (खनित्र) लेकर तक्षशिला के योजन-योजन चारो ओर घूमकर जो अभैषज्य (दवा के अयोग्य) देखो उसे ले आओ।' जीवक गया और आकर बोला—

'आचार्य ! तक्षशिला के योजन-योजन चारो ओर मै घूम आया, किन्तु मैने कुछ भी अभैषज्य नही देखा।'[1]

---

१. जातकों के वर्णन से पता लगता है कि तक्षशिला के अमुक विश्वविख्यात आचार्य के पास पाँच सौ शिष्य थे। विद्या के केन्द्र के रूप में तक्षशिला की कीर्ति ६०० ई० पू० में थी। काशी, राजगृह, मिथिला, उज्जयिनी से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन के लिए आते थे। धनुर्विद्या के एक विद्यालय में १०३ राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। कोशल के राजा प्रसेनजित की शिक्षा तक्षशिला में हुई थी। अटक के पास शलातुर में पाणिनि का जन्म हुआ था, वे भी तक्षशिला विश्वविद्यालय के ही स्नातक रहे होंगे। अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य भी यहीं शिक्षित हुए थे।

उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी तक्षशिला में जाते थे, विद्यार्थी की आयु प्रवेश के समय १६ वर्ष होती थी। सामान्यतः वे आचार्यकुल में अन्तेवासी (सेवाकारी) रहकर अध्ययन करते थे। सम्पन्न विद्यार्थी शुल्क के साथ आवास और भोजन व्यय देते थे। धनी विद्यार्थी, जैसे काशी का राजकुमार; अपने निवास की स्वतंत्र व्यवस्था करते थे। निर्धन विद्यार्थी जो शुल्क नहीं दे सकते थे, दिन में आचार्य की गृहस्थी का कार्य करते थे और रात्रि में विद्या पढ़ते थे।

तक्षशिला में विद्यार्थी कठिन विषयो के अध्ययन के लिए आते थे। यहाँ पर १८ प्रकार के शिल्प सिखाये जाते थे, जिनमें आयुर्वेद, शल्य, व्यापार, धनुर्वेद, ज्योतिष, भविष्यकथन, मुनीमी, कृषि, रथचालन, इन्द्रजाल, नागवशीकरण, गुप्त निधि अन्वेषण, संगीत, नृत्य, और चित्रकला थी। विषयों के चयन में वर्ण का प्रश्न नहीं था। एक ब्राह्मण राजपुरोहित ने धनुर्विद्या सीखने के लिए अपने पुत्र को तक्षशिला में भेजा था। (प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति—अलतेकर)

'सीख चुके भन्ते जीवक ! यह तुम्हारी जीविका के लिए पर्याप्त है।' यह कहकर उसने जीवक को थोड़ा पाथेय (राह खर्च) दिया। जीवक पाथेय लेकर राजगृह की ओर चला। जीवक का यह पाथेय साकेत में समाप्त हो गया। जीवक को पाथेय प्राप्त करने की आवश्यकता हुई।

उस समय साकेत मे नगरसेठ की भार्या सात वर्ष से सिरदर्द से पीडित थी। बहुत बड़े-बडे दिगत विख्यात वैद्य उसे अरोग नही कर सके और बहुत हिरण्य लेकर चले गये। तब जीवक ने साकेत मे आकर लोगो से पूछा—

भन्ते ! कोई रोगी है, जिसकी मैं चिकित्सा करूँ ?' लोगों ने इस नगरसेठ की भार्या को बताया। जीवक गृहपति श्रेष्ठि के घर गया और दौवारिक द्वारा श्रेष्ठी की पत्नी से चिकित्सा की आज्ञा चाही। पत्नी ने उसे युवा समझकर पहले तो मना कर दिया, परन्तु पीछे जीवक के यह कहने पर कि 'पहले कुछ मत देना, अरोग होने पर जो चाहना दे देना'—उसने चिकित्सा करने की अनुमति दे दी।

जीवक ने सेठानी को देखकर रोग को पहचाना और सेठानी से एक पसर घी माँगा। जीवक ने पसर भर घी को नाना दवाइयो से पकाकर सेठानी को चारपाई पर उतान लिटाकर नथुनो में दे दिया। नाक से चढाया हुआ घी मुख से निकल पड़ा। सेठानी ने उस घी को पीकदान में से उठवाकर दासी से बर्तन में रखवा दिया, जिससे वह पैरों पर मलने या दीपक मे जलाने के काम आये।

जीवक ने सेठानी का सात वर्ष का सिरदर्द एक ही नस्य से अच्छा किया। सेठानी ने अरोग होने पर जीवक को चार हज़ार कार्षापण दिये। पुत्र ने चार हजार दिये, बहू ने अलग से चार हज़ार दिये, गृहपति ने भी चार हज़ार कार्षापण एक दासी और एक रथ दिया।

जीवक ने इस सारी समृद्धि को ले जाकर राजकुमार के सामने रखा और कहा—'देव ! यह सोलह हज़ार कार्षापण, दास-दासी और अश्व-रथ मेरे प्रथम काम का फल है। इसे देव पोसाई (पोसावनिक) में स्वीकार करें।'

'नही, भन्ते ! यह तेरा ही रहे। हमारे ही अन्त पुर (हवेली की सीमा) में मकान बनवाकर रहो।' जीवक अन्त पुर मे मकान बनाकर रहने लगा।

जीवक का चिकित्सा कौशल—१ उस समय मागध श्रेणिक बिम्बीसार को

तक्षशिला का राजा आम्भि था, इसका अपने पड़ोसी राजा पौरव (पोरस) से द्रोह था, इसी के कारण आम्भि ने लड़ाई में सिकन्दर की मदद की थी।

भगन्दर का रोग था। धोतियाँ (साटक) खून से सन जाती थी। देवियाँ देखकर परिहास करती थी—'इस समय देव ऋतुमती है, देव को फूल उत्पन्न हुआ है, जल्दी ही देव प्रसव करेंगे।' इससे राजा मूक होता था। तब राजा बिम्बीसार ने अभय राजकुमार से कहा—'भन्ते अभय! मुझे ऐसा रोग है जिससे धोतियाँ खून से सन जाती है, देवियाँ देखकर परिहास करती है। तो भन्ते अभय, ऐसे वैद्य को ढूँढो जो मेरी चिकित्सा करे।'

अभय ने कहा—'देव! यह तरुण वैद्य जीवक अच्छा है, यह देव की चिकित्सा करेगा। अभय ने जीवक से कहा—'जीवक! राजा की चिकित्सा करो।'

जीवक नख मे दवा ले जहाँ राजा बिम्बीसार था, वहाँ गया और राजा से कहा—'देव! रोग को देखे।' जीवक ने राजा के भगन्दर को एक ही लेप से निकाल दिया। तब जीवक को बिम्बीसार पाँच सौ स्त्रियो का आभूषण देने लगा। जीवक ने कहा—'यही बस है कि देव मेरे उपकार को स्मरण करे।' 'तो भन्ते जीवक! मेरा उपस्थान (सेवा चिकित्सा द्वारा) करो, रनवास और बुद्धप्रमुख भिक्षुसघ का भी उपस्थान करो।' 'अच्छा देव!' कहकर जीवक ने राजा को उत्तर दिया।

२. राजगृह के श्रेष्ठी को सात वर्ष से सिरदर्द था। बहुत से दिगन्त विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके और बहुत-सा हिरण्य लेकर चले गये। वैद्यो ने उसे दवा करने से जवाब दे दिया था। किसी ने कहा था कि श्रेष्ठी पाँचवे दिन मरेगा और किन्ही वैद्यों ने कहा था कि सातवे दिन मरेगा।

तब राजगृह के नैगम ने राजा बिम्बीसार से श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा कराने के लिए कहा। बिम्बीसार ने जीवक को बुलाकर श्रेष्ठी की चिकित्सा करने की आज्ञा दी।

जीवक ने श्रेष्ठी गृहपति के विकार को पहचानकर उससे कहा—'गृहपति! यदि मै तुम्हे निरोग कर दूँ तो मुझे क्या दोगे?' 'आचार्य, सब धन तुम्हारा हो, और मै तुम्हारा दास।'

क्यो गृहपति! तुम एक करवट से सात मास लेट सकते हो?' गृहपति ने सात मास एक करवट से और सात मास दूसरी करवट से तथा सात मास उत्तान–चित लेटने की शर्त को स्वीकार किया। तब जीवक ने श्रेष्ठी गृहपति को चारपाई पर लिटाकर चारपाई से बाँधकर सिर के चमडे को फाड़कर, खोपडी खोलकर दो जन्तु निकालकर लोगो को दिखलाये।

'देखो यह दो जन्तु है। एक बडा और एक छोटा। जिन्होने गृहपति के पाँचवें

दिन मरने की बात कही थी उन्होंने इस बड़े जन्तु को देखा था। पाँच दिन में यह श्रेष्ठी की गुद्दी को चाट लेता जिससे गृहपति मर जाता। जिन आचार्यों ने सातवे दिन मरने की बात कही थी उन्होंने इस छोटे जन्तु को देखा था।

फिर खोपडी जोडकर सिर के चमड़े को सीकर लेप कर दिया। अच्छा होने पर उसने सौ हजार निष्क राजा को दिये और सौ हजार जीवक को दिये[1]।

३—बनारस के श्रेष्ठी (नगरसेठ) के पुत्र को मक्खचिका (सिर के बल घुमरी काटना) खेलते हुए अँतड़ी में गाँठ पड़ जाने का रोग हो गया था (सम्भवत आन्त्र सम्मूर्छन–इन्ट्रास्टैन्युलेशनरोग होगा–लेखक)। इससे खायी हुई यवागू भी अच्छी प्रकार से नही पचती थी; पेशाब-पाखाना भी ठीक से न होता था। इससे वह कृश, रुक्ष, दुर्बल, पीला, ठठरी (धमनी सन्थत्त गत्त) भर रह गया था।

तब श्रेष्ठी राजा बिम्बीसार से जीवक को माँगकर चिकित्सा के लिए बुलाकर लाया। जीवक ने श्रेष्ठीपुत्र के विकार को पहचान कर, लोगो को हटाकर, कनात घिरवाकर, खभो को बँधवाकर, भार्या को सामने कर, पेट के चमड़े को फाड़कर, आँत की गाँठ निकाल कर भार्या को दिखायी।

गाँठ को सुलझाकर, आँतों को भीतर डालकर, पेट के चमडे को सीकर लेप लगा दिया। बनारस के श्रेष्ठी का पुत्र थोड़े समय में निरोग हो गया। श्रेष्ठी ने जीवक को सोलह हजार निष्क धन दिया।

४—उज्जैन के राजा चण्ड प्रद्योत को पाण्डुरोग की बीमारी थी। बहुत से बडे-बड़े दिगंत विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके और बहुत-सा हिरण्य लेकर चले गये। तब राजा प्रद्योत ने राजा मागध श्रेणिक बिम्बीसार के पास दूत भेजा—
'देव! ऐसा रोग है; अच्छा हो यदि देव जीवक वैद्य को आज्ञा दें कि वह मेरी चिकित्सा करे।' तब राजा ने जीवक से उज्जैन (उज्जयिनी) जाकर राजा की चिकित्सा करने के लिए कहा। जीवक वहाँ जाकर राजा के विकार को पहचानकर बोला—
'देव! घी पकाता हूँ, उसे देव पियें।' राजा ने कहा—भनो जीवक! बस, घी के बिना और जिससे तुम निरोग कर सको, उससे करो, घी से मुझे घृणा, प्रतिकूलता है।

---

१. भोजप्रबन्ध में भी इसी तरह के शल्यकर्म का उल्लेख है—

'ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरः कपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद् भाजने निक्षिप्य सन्धानकरणमुद्रया कपालं यथावदारब्य संजीवन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तदवर्शयताम्'—'[illegible]।'

जीवक ने सोचा कि इस राजा का रोग ऐसा है, जो बिना घी के आराम नहीं किया जा सकता। क्यो न मै घी को कषाय वर्ण, कषाय गन्ध और कषाय रस मे पकाऊँ। तब जीवक ने नाना ओषधियो से घी को पकाया। तब जीवक को यह विचार हुआ कि राजा को घी पीने पर पचते समय उवात (उद्गार, वमन) होता जान पडेगा। यह राजा बडा क्रोधी है, मुझे मरवा न डाले, इसलिए क्यो न मै पहले ही ठीक कर रखूँ।[1]

जीवक ने राजा से जाकर कहा—'देव! हम लोग वैद्य है। विशेष मुहूर्त्त मे मूल उखाडते है, ओषधि संग्रह करते है। अच्छा हो, यदि देव वाहनशालाओ और नगर-द्वारो पर आज्ञा दे दें कि जीवक जिस वाहन से चाहे उस वाहन से जाय, जिस द्वार से चाहे, उस द्वार से जाय, जिस समय चाहे उस समय जाय, जिस समय चाहे उस समय नगर के भीतर आये।'

राजा प्रद्योत ने वाहनागारो और द्वारो पर उक्त आज्ञा दे दी। उस समय राजा प्रद्योत की भद्रवतिका नाम की हथिनी जो दिन में पचास योजन चलनेवाली थी। तब जीवक राजा के पाम घी ले गया और बोला—'देत्र! कषाय पियें।' जीवक राजा को घी पिलाकर भद्रवतिका पर बैठकर नगर से निकल पडा। राजा को घी से उवात हुआ। राजा ने मनुष्यो से कहा—दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है, जीवक को ढूँढो। मनुष्यो ने कहा कि वह भद्रवतिका पर नगर के बाहर गया है।

तब राजा ने काकदास को बुलाया—जो कि एक दिन में साठ योजन चलता था, और उससे कहा—'भन्ने काक! जा, जीवक वैद्य को यह कहकर लौटा ला कि—राजा तुम्हें बुला रहे है। भन्ते काक! ये वैद्य लोग बडे मायावी होते है। उसके हाथ का कुछ मत लेना।'

काक ने जीवक को मार्ग मे कौशाम्बी मे कलेवा करते देखा और कहा कि 'राजा तुम्हें लौटवाते हैं।' जीवक ने कहा—'ठहरो भन्ते काक! जब तक खा लूँ, हन्त भन्ते काक! तुम भी खाओ।'

काक ने कहा—'आचार्य! बस; राजा ने आज्ञा दी है कि वैद्य बहुत मायावी

---

१. पाण्डुरोग—पित्तरोग के लिए घी सबसे उत्तम है; 'पित्तस्य सर्पिषा पानम्।' (संग्रह २१।४)

'नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्त्तते।
यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्॥' (चरक. नि. १।४०)

'पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे॥' (चि. १६।४३.)

होते है, उनके हाथ का कुछ मत लेना।' उस समय जीवक नख में दवा लगा आँवला खाकर पानी पी रहा था। तब जीवक ने कहा—'काक! आँवला खाओ, पानी पियो।' काक ने देखा कि जीवक भी आँवला खाकर पानी पी रहा है, इसमें कोई दोष नही। उसने भी आधा आँवला खाया और पानी पिया। उसका आधा खाया आँवला वही वमन हो गया। तब काक ने जीवक से कहा कि 'आचार्य! क्या मुझे जीना है?

जीवक ने कहा—'भन्ते काक! डर मत—तू भी निरोग होगा, राजा भी। राजा चड है, मुझे मरवा न डाले, इसलिए मैं नही लौटूंगा।' काक को भद्रवतिका देकर जीवक राजगृह की ओर चला। राजगृह पहुँचकर सब वृत्तान्त बिम्बीसार को सुनाया। राजा ने कहा कि अच्छा किया,जो नही लौटे; वह राजा चण्ड है,तुम्हें मरवा भी डालता।

राजा प्रद्योत ने निरोग होने के बाद जीवक के पास दूत भेजा—'जीवक आयें, वर (इनाम) दूंगा।' जीवक वापस नही गया, कहला दिया कि देव मेरा उपकार (अधिकार) याद रखें। उस समय राजा प्रद्योत को हज़ारो दुशालाओ के जोड़ो में श्रेष्ठ प्रवर शिवि देश (वर्तमान स्यालकोट) के दुशालो का एक जोड़ा प्राप्त हुआ था राजा प्रद्योत ने शिवि के इस दुशाला को जीवक के लिए भेजा।

५—भगवान् बुद्ध का शरीर दोषग्रस्त था। तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को सम्बोधित किया—'आनन्द! तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, तथागत जुलाब (विरेचन) लेना चाहते है।'

आनन्द जीवक के पास जाकर बोले—'जीवक! तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, जुलाब लेना चाहते है।' 'तो भन्ते आनन्द! भगवान् के शरीर को कुछ दिन स्निग्ध करे (चिकित्सा करें)। आनन्द ने भगवान् के शरीर को कुछ दिन स्नेहित करके जीवक से कहा कि 'तथागत का शरीर स्निग्ध है। अब जैसा समझो वैसा करो।' तब जीवक ने सोचा—यह मेरे लिए योग्य नही कि मैं भगवान् को मामूली जुलाब दूं। इसलिए तीन उत्पलहस्तो को नाना औषधियो से भावित कर और स्वय जाकर भगवान् को एक उत्पलहस्त (चम्मच) देते हुए जीवक ने कहा—

'भन्ते! इस पहले उत्पलहस्त को भगवान् सूंघें, तो इससे आपको दस बार शौच हो जायगा। इस दूसरे उत्पलहस्त को सूंघने से फिर दस बार शौच होगा; और तीसरे उत्पलहस्त के सूंघने से भी।'[1]

---

१. इससे मिलती जुलती कल्पना अत्रिपुत्र ने भी दी है—
'फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुपरिभावितेन पुष्परजःप्रकाशेन

औषध देने के पीछे जीवक को सूझा कि तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, उनको तीस विरेचन नही होगे—एक कम तीस होगे। विरेचन होने पर जब भगवान् नहायेंगे तब फिर एक विरेचन होगा।

भगवान् को इसी प्रकार से गरम जल से स्नान करने पर एक बार और शौच हुआ। इस प्रकार उन्हे पूरे तीस विरेचन हुए। तब जीवक ने भगवान् से कहा कि जब तक भगवान् का शरीर स्वस्थ नही होता तब तक मै जूस-पिंडपात दूंगा। भगवान् का शरीर थोडे समय में ही स्वस्थ हो गया।

जीवक ने राजा प्रद्योत से मिला हुआ शिबि देश का दुशाला भगवान् को भेंट किया।

'नावनीतकम्'[1]—इसकी पाण्डुलिपि मेजर जनरल एच० बाबर सी० बी० को १८९० में कूचार (मध्य एशिया) में मिली थी। कूचार चीन के रास्ते में पूर्वी तुर्किस्तान का एक क्षेत्र है। इसके साथ उनको छ और भी पाण्डुलिपियाँ मिली थी। इन सात पाण्डुलिपियो में केवल पहली और तीसरी पाण्डुलिपि चिकित्सा विषय से सम्बद्ध है। प्रथम पाण्डुलिपि पाँचवें प्रकरण पर सहसा समाप्त हो जाती है। छठी पाण्डुलिपि का विषय सर्पदश है, यह सम्पूर्ण है।

इन पाण्डुलिपियो की भाषा गुप्तकालीन है। जो बौद्ध साधु दूर-दूर घूमते थे, प्रचार के लिए पहुँचते थे, उनके द्वारा ये पोथियाँ इतनी दूर पहुँची थी। सम्भव है कि ये कश्मीर या उद्यान में लिखी गयी हो। इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध होगा।

नावनीतक एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें बहुत से योग भिन्न-भिन्न ऋषियों के नाम से सगृहीत हैं। नावनीतक का आधार चरक-सहिता भेल-संहिता मुख्यत हैं। भेल पुनर्वसु

चूर्णेन सरसि संजातं बृहत्सरोरुहं सायाह्नेऽवचूर्णयेत्। तद्रात्रिव्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृसरक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफाणितयुक्तमाकण्ठं पीतवन्तमाघ्रापयेत्। सुकुमारमुत्क्लिष्टपित्तकफमौर्ध्वबद्धदोषिणमिति समानं पूर्वेण।' (चरक. क. अ. १।१९)

संग्रह में थोड़ा आगे भी कहा है—'एतेन सर्वमाल्यगन्धप्रावरणपटा व्याख्याताः।' (संग्रह. कल्प. १)

१. नावनीतक—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास ने लाहौर से प्रकाशित, कविराज बलवन्तसिंह मोहन वैद्यवाचस्पति द्वारा सम्पादित के आधार पर।

आत्रेय का शिष्य था। भेलसहिता से १५ योग और चरकसंहिता से २९ योग लिये गये है। ४४ योग अन्य स्थानो के है या स्वतत्र है। इनके विषय में लेखक ने कुछ नही लिखा। इसके अतिरिक्त काकायन, निमि, उशनस, बृहस्पति का नाम भी उसमें है। अगस्त, धन्वन्तरि और जीवक के नाम से भी योग लिखे गये है। काश्यप के नाम से बहुत से योग है। इनमे से बहुत से योग अन्यत्र भी मिलते है, जिससे सम्भव है कि लोक में जो योग बहुत प्रचलित थे, सामान्य जन जानते थे, वे इसमें आ गये है। (जिस प्रकार कि—बिहारी सतसई में सुदर्शन चूर्ण, पद्मावत में सोना साफ करने की सलोनी क्रिया, मालविकाग्निमित्र में सर्पदश चिकित्सा; और जनता में हिंग्वष्टक या लशुनादि वटी के योग प्रचलित हैं।)

नावनीतक की भाषा सस्कृत है जिसमें प्राकृत मिली हुई है (जैसी सद्धर्मपुण्डरीक में है)। इसमें भी प्राकृत की छाया स्पष्ट है (शायमति के लिए शमेति, शामयन्ति के लिए शमेन्ति, धावित्वा के स्थान पर धोवित्वा, प्रतिपाद्ये के स्थान पर प्रति पाद्यामि शब्द आये है।) मुख्यत: इसमें अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और आर्या छद प्रयुक्त हुए है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ लशुन कल्प से होता है। सग्रह एव हृदय में वाहट ने लशुन के लिए प्रशस्ति एवं रसायन प्रयोग दिया है। वाहट ने लशुन की प्रशसा जिस रूप में की है उससे भी सुन्दर श्लोक नावनीतक में मिलते है। लहसुन खाने पर बहुत जोर दिया गया है। लशुन का शब्दार्थ (लवण से न्यून) किया है; लवण-रस को छोड़कर शेष सब रस इसमे है।

इसके सिवा पाचन के योग, रसायन, वाजीकरण योग, आश्च्योतन, मुखलेप आदि प्रथम भाग मे है। द्वितीय भाग में सामान्य रोगो के योग है। पुस्तक का नाम नावनीतक है (मक्खन, जो कि दही को बिलोकर, मथकर मिलता है, उसी प्रकार से आयुर्वेद ग्रन्थो को मथकर जो मक्खन मिला वह यह है)। इसलिए इसमे चुने हुए योगो का सग्रह है। कुछ योग जन सामान्य से एकत्र किये गये है। तृतीय भाग मे भी योग है। चतुर्थ और पाँचवें भाग मे प्रासक हैं, तत्र विद्या है। छठे और सातवे भाग में महामायूरी और विधाराज्ञी सूत्र है, जिनका सम्बन्ध सर्पों से है—मयूर सर्पों का शत्रु है। महामायूरी और धरणी ये दोनो मत्र-प्रार्थनाएँ बौद्धो मे हिन्दुओ के गायत्री मंत्र (गायन्त त्रायत इति गायत्री; बोलनेवाले की रक्षा करती है) के समान रक्षक एव पवित्र है (संग्रह में भी स्थान-स्थान पर धरिणी, महामायूरी, अपराजिता का उल्लेख है। हर्षचरित में बाण ने लिखा है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय उसकी शय्या के पास महामायूरी का पाठ हो रहा था)।

विशेषताएं—नावनीतक की सबसे मुख्य विशेषता लहसुन के खाने का विधान करना है। यह रसायन है, राजयक्ष्मा तथा गण्डमाला के लिए अव्यर्थ औषध है। लहसुन की गन्ध उग्र होने से इसका उपयोग कृमि (जर्म्स, बैक्टीरिया) मारने में होता है। इसको रस्सी मे बाँधकर घर के बाहर की सरदल पर लटकाते है, जिससे कि चेचक आदि वायु से फैलनेवाले रोग नही होते (हर्म्याग्रेष्वथ तोरणेषु वलभी द्वारेषु चाविष्कृता । कन्दाद्या लशुनस्रजो विरचेत् भूमौ (न)थैवार्च्चनम्'—नावनीतक) लहसुन का उपयोग तथा प्रयोग विधि बहुत ही विस्तार से वर्णित है।[1] बावर-पाण्डुलिपि के प्रथम सस्करण के पीछे पश्चिमी चिकित्सा मे लहसुन का महत्त्व समझा जाने लगा। तत्र प्रयोग भी चिकित्सा मे उस समय प्रचलित था, इससे यह स्पष्ट है।

भाषा—नावनीतक की भाषा ललित एवं प्रसाद गुणयुक्त है। हिमालय का वर्णन कालिदास के कुमारसम्भव मे हिमालय की याद दिलाता है। दोनो के भाव, उपमाएँ एक ही है। माधुर्य और अलकार की दृष्टि से नावनीतक की रचना कई स्थानो पर बहुत ही मनोरम है। उदाहरण के लिए लशुन का वर्णन देखिए—

---

१ लशुन के उपयोग का विधान अष्टांगसंग्रह, अष्टागहृदय, काश्यपसंहिता और नावनीतक में है। इसकी उत्पत्ति एक ही प्रकार से बतायी गयी है; इसके न खाने का भी कारण एक ही है। रसोन का उपयोग, उसके सेवन की विधि; तथा उसके गुण प्रायः सबमें एक हैं। सबमें ही इसको रसायन; वातनाशक कहा गया है। संग्रह में इसकी प्रशंसा में कहा गया है—

'अमृतकणसमुत्थं यो रसोनं रसोनं, विधियुतमिति खादेच्छीतकाले सदैव।
स नयति शतजीवी स्त्रीसहायो जरान्तं कनकरुचिरवर्णो नीरुजस्तुष्टिजुष्टः॥'

नावनीतक में भी इसके सम्बन्ध में सुन्दर पद्य रचना है। इसके प्रयोग का समय शीतकाल एवं वसन्त में है (अयमिह लशुनोत्सवः प्रयोज्यो हिमकाले च मधौ च माधवे च—नावनीतक)। काश्यप संहिता में भी लशुन की इसी प्रकार स्तुति है—"न जातु भ्रश्यते जातं नृणां लशुनखादिनाम्। न पतन्ति स्तनाः स्त्रीणां नित्यं लशुनसेवनात्॥ न रूपं भ्रश्यते चासां न प्रजा न बलायुषी। सौभाग्यं वर्धते चासां दृढं भवति यौवनम्॥' काश्यप संहिता—लशुनकल्प "अशोक जब बीमार हुआ था, उसे वैद्य ने प्याज खाने को कहा था—परन्तु उसने यह कहकर निषेध कर दिया था कि मै क्षत्रिय हूँ।"

'वृष्ट्वा पत्रैर्हरितहरितैरिन्दनीलप्रकाशैः कन्दैः कुन्दस्फटिककुमुदेन्दुवशुशंखाभ्र-शुभ्रः उत्पन्नस्थो म [मु] निमुपगतः सुश्रुतः काशिराजं किन्त्वेतत्स्यादथ सभगवानाह तस्मै यथावत् ।'

चरकसहिता के वचनो को अपनी रचना मे कहा है, उदाहरण के लिए—

'मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्ठीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसो गुडूच्यास्तु समूल पुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः ॥'
(चि. १।३।३०.)

नावनीतक में—

'स्वरसेन शंखपुष्प्याः ब्राह्मी मण्डूकपर्णी मधुकानाम् ।
मेधारोग्यबलार्थी जीवितुकामः प्रयुञ्जीत ॥'—(नावनीतक १।५२.)

नावनीतकम् में मातगी विद्या का उल्लेख है। यहाँ पर मातगी विद्या का स्तोत्र दिया गया है, काश्यपसहिता में भी इस विद्या का नाम आया है। इस सहिता में मातगी विद्या का फल बताया गया है, इसमे उसका स्तोत्र है, जो कि लगभग तत्र की भाँति है। इसी प्रकार से महामायूरी विद्या का मत्र तथा फलश्रुति इसमे है, अष्टागसग्रह आदि ग्रन्थो मे इस विद्या का उल्लेख है, परन्तु मत्र या स्तोत्र नही है। वह इसी मे है।

इस प्रकार से बौद्ध साहित्य मे मुख्यत इन चार पुस्तको की सहायता से आयुर्वेद की स्थिति जानी जा सकती है। इसमे विनयपिटक का महत्त्व सबसे अधिक है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध शब्द का चारिका शब्द पाणिनि के 'चरक' शब्द का प्रति-रूप है। चारिका शब्द चक्रम विचरने के लिए आता है। जो भिक्षु चतुर्मास छोडकर शेष मासो मे विचरते रहते थे, उनका नाम चारिक है। इसी प्रकार भिक्षा के अर्थ मे भी चारिका शब्द है। भगवान् बुद्ध का उपदेश था—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय चरत भिक्षुवे, चरत भिक्षुवे।' जो देश मे वास्तविक ज्ञान का प्रचार करते थे, वे चरक थे (हिन्दू सभ्यता—पृष्ठ ११०), जातक मे आता है 'अनुपब्बे न चारिका चरन्त'—जातक भा ५, पृष्ठ २४७। हिन्दी का 'चारण' शब्द भी इसी अर्थ को बताता है, जो कि सदा चलते रहते थे (अथवा चरणो की स्तुति राजा, महाराजाओ का यश कीर्त्तन करते थे, इसलिए चारण कहे जाते थे)।

वास्तव में भारत के इतिहास का प्रारम्भ इसी साहित्य से होता है। यही से तिथिक्रम एव विदेशियो से सम्बन्ध का प्रारम्भ स्पष्ट होता है। यह अवस्था आयुर्वेद साहित्य के लिए पूर्ण यौवन की थी, जो कि इस देश में ही उत्पन्न हुआ था। उस समय

लोग यहाँ पर आयुर्वेद-चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के लिए आते थे। यह अवस्था मध्यकाल तक बनी रही, जैसा कि अरब और भारत के सम्बन्ध मे पुस्तक के लेखक ने स्पष्ट लिखा है, तथा मध्य कालीन भारतीय सस्कृति मे हम देखेंगे।

इस समय से अधिक उज्ज्वल पक्ष चिकित्साशास्त्र का प्राचीन काल मे अन्यत्र नही, और आज तक भी नही। मस्तिष्क का शल्यकर्म इस बीसवी सदी मे भी अभी तक पूर्ण सफलता के साथ नही हुआ। इसलिए इस समय को 'आयुर्वेद का मध्याह्न काल' कहने में कोई भी अतिशयोक्ति मैं नही समझता।

चौथा अध्याय

स्मृति और पुराणों में आयुर्वेद साहित्य

पुराणो की सख्या अट्ठारह निश्चित है। इसका कारण सम्भवत भगवान् वेद-व्यास का नाम जुडा होना है, क्योकि महाभारत काल का सम्बन्ध अट्ठारह सख्या से विशेष है। कौरव-पाण्डव युद्ध मे दोनो पक्षो की सेना की सख्या अट्ठारह अक्षौहिणी थी, महाभारत का युद्ध भी अट्ठारह दिन चला, महाभारत के पर्व भी अट्ठारह है; गीता के अध्याय भी अट्ठारह है, इसलिए पुराणो की संख्या भी अट्ठारह ही प्रतीत होती है।

पुराणो का लक्षण जो मिलता है, उसके अनुसार अनुलोम सृष्टि, प्रतिलोम सृष्टि (प्रलय), ऋषिवंश, मन्वन्तर तथा राजवशो का वर्णन करना पुराणो का लक्षण है।[1] प्राचीन आख्यायन के लिए पुराण शब्द आता है। इन आख्यायनो का ही सबसे अधिक प्रभाव हिन्दू धर्म पर पडा है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना इन पुराणो मे ही की गयी है। इनकी महिमा सर्वत्र गायी गयी है। पुराणो के ये आख्यायन वैदिक काल की कथाओ को स्पष्ट करने के लिए ही हुए है। इनमे लोकाचार सम्बन्धी कथाओ का सग्रह है।

पुराणो का महत्त्व, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से बहुत है। चिकित्सा के इतिहास के सम्बन्ध मे भी इनका महत्त्व है, यद्यपि उतना अधिक नही, जितना भौगोलिक ऐतिहासिक दृष्टि से है (गरुड पुराण मे बहुत से श्लोक चरक, सुश्रुत से सगृहीत है)।

पुराणो के नाम ये है—(१) ब्रह्मा, (२) विष्णु, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) मत्स्य, (६) स्कन्द, (७) कूर्म, (८) लिङ्ग, (९) भविष्य, (१०) पद्म, (११) भागवत, (१२) ब्रह्माण्ड, (१३) गरुड, (१४) मार्कण्डेय, (१५) ब्रह्मवैवर्त्त, (१६) वामन, (१७) वराह और (१८) शिव।

---

१. 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥'

रचना काल—अलबरूनी ने जो कि १०३० ईसवी मे भारत आया था, अट्ठारह पुराणो की सूची दी है, शकराचार्य ने नवी शताब्दी मे, कुमारिल भट्ट ने ८वी शताब्दी में पुराणो का उल्लेख किया है। बाण ने कादम्बरी मे पुराणो का उल्लेख किया है (६२० ईसवी), कौटिल्य अर्थशास्त्र मे पुराणो का उल्लेख है, उन्मादी राजपुत्रो को पुराण उपदेश ग्रहण करने के लिए कहा गया है। अर्थशास्त्र का समय ३०० ईसवी पूर्व है।

साथ ही पुराणो में कलियुग के राजाओ का वर्णन है। विष्णु पुराण में मौर्यवश के राजाओ का (३२६ से १८५ ई० पू०), मत्स्य पुराण में आन्ध्र वश के राजाओ का; वायु पुराण मे गुप्तवश के राजाओ का, आभीर, गर्दभ, शक, यवन, तुषार, हूण आदि म्लेच्छ राजाओ का वर्णन है। इसलिए इनका ठीक समय निश्चित करना कठिन है, परन्तु इतना सत्य है कि इनकी चरम सीमा गुप्त काल है। भले ही इनके प्रारम्भ की सीमा ईसा से छठी शती पूर्व हो या जो हो। इस प्रकार इन तेरह सौ वर्ष के लम्बे समय में इनकी रचना हुई है।

वेद के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे, परन्तु रामायण, महाभारत, पुराण सुनने का अधिकार सबको था। स्त्री और शूद्र भी इसको सुनकर ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। जिस प्रकार जातक कथाओ से बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ, उसी प्रकार पुराणो से हिन्दू धर्म का प्रचार-विस्तार बढा। इनमें ही सगुण उपासना, अवतारवाद तथा अन्य बातो को जन्म मिला। इनमे भक्ति का महत्त्व बताया गया है। कलियुग में भक्ति ही मोक्ष का साधन मानी गयी है। इसी भक्ति माहात्म्य का प्रचार पुराणो में उपाख्यानो से समझाया गया है। पुराणो का पारायण लोमहर्षण सूत या उनके पुत्र उग्रश्रवा ने किया था।

पुराण की प्राचीनता उपनिषद् काल तक जाती है। जहाँ इतिहास पुराण को अध्ययन का मान्य विषय स्वीकृत किया गया है। पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। रामायण, महाभारत के समान पुराण भी जनता के लिए वेद की भाँति थे।

चिकित्सा विषय—१—ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, ब्रह्म खण्ड में आयुर्वेद की उत्पत्ति का निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

> "ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः
> विचिन्त्य तेषामर्थञ्चैवायुर्वेदं चकार सः ॥
> कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः
> स्वतंत्रसहितां तस्मात भास्करश्च चकार सः ॥" इत्यादि इत्यादि।

ब्रह्मा ने आयुर्वेद उत्पन्न किया। इसे आयुर्वेद परम्परा में तथा अन्य स्थानो पर भी कहा है, परन्तु ब्रह्मा ने भास्कर को आयुर्वेद दिया, यह आयुर्वेद ग्रन्थो की परम्परा मे नही मिलता (लोक मे अवश्य प्रसिद्धि है कि 'आरोग्य भास्करादिच्छेत्'—स्वास्थ्य सूर्य से माँगना चाहिए)। भास्कर ने अपने सोलह शिष्यो को आयुर्वेद सिखाया। उन्होने स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाये। इन शिष्यो मे न तो इन्द्र का नाम है, और न भारद्वाज का। धन्वन्तरि, दिवोदास और काशिराज ये तीनो भिन्न बताये गये है; जब कि उपलब्ध सुश्रुत सहिता से ये तीनो नाम एक ही व्यक्ति के प्रतीत होते है।

चरक संहिता मे ब्राह्म रसायन के दो पाठ है (चि अ. १।१), इनमें यह नहीं कहा गया कि इनको ब्रह्मा ने कहा या बनाया था। परन्तु पिछले ग्रन्थो में ब्रह्मा के नाम से कहे गये बहुत योग मिलते है। विशेषत रसशास्त्र में ब्रह्मा के बनाये बहुत योग है[1]। ब्राह्मसहिता कोई थी, इसकी जानकारी भावमिश्र के कहने से होती है।

२—अग्निपुराण मे आयुर्वेद का विषय कुछ विशेष है; परन्तु यह विषय बहुत पीछे का है, इसमे बहुत से श्लोक चरक सहिता से पूर्णत. मिलते है, रोग निदान में भी कुछ भी विशिष्टता नही। घोडो तथा हाथियो की भी चिकित्सा वर्णित है। विष चिकित्सा और बालतन्त्र मे मन्त्र प्रयोग भी दिये गये है (सुश्रुत सहिता मे ग्रहों की चिकित्सा मे मन्त्र जो दिये गये है, वे इनसे सर्वथा भिन्न है)।

अग्नि पुराण मे सिद्धौषधानि (२७८ वाँ); सर्वरोगहराणि औषधानि (२७९); रसादि-लक्षण (२८०), वृक्षायुर्वेद (२८१), नाना रोगहराणि औषधानि (२८२)

---

१ भावप्रकाश में—'ब्राह्म संहिता' एक लाख श्लोक की कही गयी है—

'विधाताऽथर्वसर्वस्वमयाय्युर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥'

वरुण चिकित्सा ग्रन्थ में भी ब्रह्मा का उल्लेख है—ब्रह्मा ने शृंग, जलौका, और तीक्ष्ण शस्त्रो का चिकित्सा में उपयोग किया—

"शृंग षडङ्गुल रक्त जलूक द्वादशाङ्गुलम्।
शस्त्रमङ्गुलमात्रेण ब्रह्मणा निर्मित पुरा॥'

रसौषध ब्रह्मा के द्वारा निर्मित्त; सर्वांग सुन्दर रस (रसेन्द्रसारसग्रह); वात-कुलान्तक (र. सा.सं.); चतुर्मुख रस (र. सा. सं.); विजयानन्द (र. सा. स.), बृहत् अग्निमुख चूर्ण (ग. नि.); बृहत् सारस्वत चूर्ण (ग नि.); चन्द्रप्रभा गुटिका (ग. नि.); आदि बहुत योग ब्रह्मा के नाम से मिलते है। (हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन)

मंत्र रूप औषध (२८३), मृतसजीवनीकर सिद्ध योग (२८४), कल्पसागर (२८५); गज चिकित्सा (२८६), अश्व वाहनसार (२८७), अश्व-चिकित्सा (२८८) शान्त्यायुर्वेद (२९१), गोनसादि-चिकित्सा (२८७); बालाग्रहहर बालतत्र (२९८) चिकित्सा से सम्बद्ध है।

अग्नि पुराण के बहुत से योग तथा पथ्य आयुर्वेद ग्रन्थो मे पूर्णत मिलते है, यथा—

अग्नि पुराण—	चरक तथा अन्य ग्रन्थ
१ [illegible] नोदीच्यनागरै ॥ २७८।४.	मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरै ॥ चि अ ३।१४५
२ मुद्गा मसूराश्चणका. कुलत्थाश्च सकुष्टका ॥ २७८।६	मुदगान्मसूराश्चणकान् कुलत्थान् सम कुष्टकान् ॥ चि अ. ३।१८९
३. रक्षन् बल हि ज्वरित लघित भोजयेद् भिषक्	प्राणाविरोधिना चैन लघनेनोपपादयेत्- चि. अ. ३।१५१

इसी प्रकार से नासा के रक्त को रोकने में दूर्वा का स्वरस, बालको के लिए प्रसिद्ध अवलेह (शृगी सकृष्णातिविषा चूर्णिता मधुना लिहेत्। एका चातिविषा कासच्छर्दि-ज्वरहरी शिशो ॥२८२।२); जगाल, आनूपदेश, वात रक्त में गिलोय का उपयोग; कुष्ठ मे खदिर का उपयोग (कुष्ठिनाञ्च तथा शस्त पानार्थे खदिरोदकम्—२७८।१४; तुलना कीजिए—"यथा सर्वाणि कुष्ठानि हत. खदिरबीजकौ" चि अ ६।१९); कुष्ठ के लेप मे मन शिला और हरताल (२७८।१६), नेत्र रोगो मे त्रिफला का सेवन; आदि योग बताये गये हैं।

घोडो तथा हाथियो की चिकित्सा, उनके प्रशस्त लक्षण इस पुराण में दिये गये है। अग्नि पुराण में कुछ शब्द भाषा के ही है; यथा नाल (२८७।२८); रोकयित्वा (२७८।३९)। अग्नि पुराण मे शल्य चिकित्सा या शालाक्य विषय का उल्लेख नही है; कही-कही पर नेत्ररोग और शिरो रोग के लिए सामान्य उपचार है। आयुर्वेद का विषय बहुत ही सक्षिप्त तथा उथला है। योग भी जो दिये गये है वे सब सामान्य है। दूसरे ग्रन्थो से सम्बन्धित है।

धातुओ का भस्म के रूप में उपयोग इसमें है, (ताम्र मृत मृततुल्य गन्धकञ्च कुमा-रिका। २८५।१३)। आयुर्वेद की प्राचीन सहिताओ में धातुओ का उपयोग सूक्ष्म चूर्ण के रूप में मिलता है; परन्तु भस्म के रूप में नही मिलता। इससे स्पष्ट है यह अश बहुत पीछे का है।

गरुड पुराण में आयुर्वेद सम्बन्धी विवरण पर्याप्त है, यद्यपि यह भी अग्निपुराण

की भाँति बहुत प्राचीन नही है। चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख के अतिरिक्त रत्नो की परीक्षा भी इसमे मिलती है। (गरुड पुराण ६८।९-१०)

रत्नो की उत्पत्ति, उनके गुण दोष, रग धारण करने आदि सम्बन्धी उल्लेख विस्तार से दिया गया है।

चिकित्सा सम्बन्धी अध्याय १४६ से प्रारम्भ होकर दो सौ दो तक चले गये है। इनमे रोगो का वर्णन, हिताहित सम्बन्धी, अनुपान सम्बन्धी, प्रसाधन सम्बन्धी, मुख पर लेप, बालो के लेप, तेल, वाजीकरण, रसायन, वशीकरण, नेत्ररोग आदि विषय वर्णित है। झिञ्जिनीवात (११७।४९); संघातवात (१४७।४८) आदि नये शब्द इसमे है, ये शब्द प्राचीन आयुर्वेद सहिताओ मे नही मिलते।

इसमे सर्वरोग निदान प्रथम अध्याय है। इस अध्याय का प्रारम्भ सुश्रुत को सम्बोधन करके धन्वन्तरि ने किया है। इसमे आत्रेय आदि से वर्णित रोगो का निदान कहा गया है। अध्याय का प्रारम्भ वाग्भट के अष्टाग हृदय के श्लोकों से हुआ है (माघव निदान मे भी ये श्लोक हृदय के निदान स्थान से लिये गये है। अष्टांग हृदय की रचना गुप्त काल की है; इसलिए गरुड़ पुराण या उसका यह भाग इसके पीछे का या इस समय का होना चाहिए।)। सर्व रोग निदान का प्रथम अध्याय सग्रह एवं हृदय में ही मिलता ०, अन्य सहिताओ में नही है। इस अध्याय में रोगों के सामान्य कारणो का उल्लेख किया गया है।

इसके आगे ज्वर निदान है। इसमें पुन सग्रह के आधार पर वचन मिलते है; यथा—वात, पित्त, कफ दोषो के अनुसार क्रमश सात, दस या बारहवाँ दिन ज्वर से मोक्ष के लिए या मृत्यु के लिए होता है। यह अग्निवेश का मत है, हारीत के अनुसार यह मर्यादा १४, २० एवं २४ दिन की है (तुलना कीजिए, सग्रह नि० २।५९–६१)। इसमें रक्तपित्त निदान, कास, श्वास, हिक्का, यक्ष्मा, अरोचक, हृद्रोग, मदात्यय, अर्श, तृष्णा, अतिसार-ग्रहणी, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, विद्रधि, गुल्म, उदर, पाण्डु-शोथ, विसर्पादि, कुष्ठरोग, कृमि निदान, वात व्याधि, वात रक्त निदान हैं। चिकित्सा शास्त्र मे सूत्र-स्थान, सर्वरोगहर नामक योगसार अध्याय है। इसमें त्रिदोष की विवेचना है तथा इसकी सामान्य चिकित्सा है।

हिताहित अनुपान विधि में द्रव्यो के गुण बताये गये है। एक प्रकार से अन्नपान विधि, द्रव्य-विवेचन इसमें किया गया है। ज्वर-चिकित्सा, नाड़ी व्रण, शूल, भगन्दर, कुष्ठादि की चिकित्सा, स्त्रीरोग चिकित्सा, योगसार-रसो के गुण, उनके गुण-धर्म (रस विवेचना) आते हैं। घृत तैलादि प्रकथन, चिकित्सा मे नाना योग है। इसके आग

दो अध्याय नाना प्रकार के रोगो की चिकित्सा के है। तदनन्तर वशीकरण, वन्ध्या गर्भधारण और उच्चाटन है। इसके आगे पन्द्रह अध्याय लगातार विविध ओषधियो के आते है। इनमे वशीकरण भी बीच-बीच मे दिया गया है। अन्तिम चिकित्सा सम्बन्धी अध्याय रोगनाशन वैष्णव कवच है। इसके बीच-बीच मे मत्र प्रयोग भी मिलता है।

पाण्डुरोग में तक्र के साथ लौह चूर्ण का उपयोग दिया गया है (१८४।२९—लौह-चूर्ण तक्रपीत पाण्डुरोगहर भवेत्), दाँतो के योगो मे हिगुल का भी उल्लेख है (हरिताल यवक्षार पत्राङ्ग रक्तचन्दनम्। जाती हिङ्गुलकं लाक्षा पक्त्वादन्तान् प्रलेपयेत् ॥ हरीतकी कषायेण मृष्ट्वादन्तान् प्रलेपयेत्। दन्ता स्यू लोहिता पुस श्वेता रुद्र' नं सशय ॥१७९।१–२)।

लोक में जो सामान्य बातें प्रचलित है, वे भी इसमे मिलती है। यथा—प्रात-काल मुख मे पानी भरकर उससे आँखे धोने पर आँखो के रोग नष्ट होते है (११७।१३), रात मे दही खाना निषेध किया गया है।

सामान्यत गरुड पुराण में या अन्य पुराणो में आयुर्वेद सम्बन्धी चिकित्सा भाग गुप्त काल के पीछे का है। इसमे रसशास्त्र का कथन नही के बराबर है। योग भी सामान्य है। मंत्र प्रयोग शैव सम्प्रदाय की विशेषता है और वह इसमे मिलता है।

आरोग्यशाला—स्कन्द पुराण तथा अन्य पुराणो मे सब उपकरणो से युक्त वैद्य-वाली आरोग्य शाला जो व्यक्ति बनवाता है, उसको जो पुण्य होता है, उसकी कोई सीमा नही है। आरोग्य दान से बढकर कोई दान नही है (तुलना कीजिए—नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते—चरक० चि० अ० १।४।६०)[१]। आरोग्य शालाओ की प्रेरणा दानदृष्टि से पुराणो मे है। ये आरोग्य शालाएँ आजकल के हास्पीटल, सैनेटोरियम ही थे। जहाँ पर रोगी को औषधि खान-पान मिलता था। सम्राट् अशोक ने अपने राज्य मे तथा समीपवर्त्ती राज्यो मे मनुष्य और पशु दोनो के लिए आरोग्य शालाएँ बनवायी थी। आरोग्यशाला का ही एक नाम पुण्यशाला है, क्योकि जीवनदान से बढकर दूसरा दान नही, इससे बढकर कोई पुण्य नही।

---

१. 'आरोग्यशालां यः कुर्यात् महावैद्यपुरस्कृताम्।
सर्वोपकरणोपेता तस्य पुण्यफल शृणु॥
आकाशस्य यथानान्तः सुरैप्युपलभ्यते।
तद्वदारोग्यदानस्य नान्तो वै विद्यते क्वचित् ॥' (स्कन्दपुराण)

आरोग्यशाला मे चिकित्सा के सब सम्भार-साधन होने चाहिए। (देखिए चरक० सू० अ० १५ में उपकल्पनीय अध्याय), इसी से 'महौषध परिच्छदा' कहा गया है। इसमें दवाइयो का भण्डार रहे। यह औषध समूह वनस्पतियो का, प्राणिज तथा खनिज सबका होना चाहिए।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन मनुष्य का स्वास्थ्य-आरोग्य ही है ('शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'—कालिदास)। इसलिए आरोग्य को देनेवाला व्यक्ति सब कुछ देनेवाला है। सब प्रकार की ओषधियो तथा साजशय्या से परिपूर्ण आरोग्यशाला को बनाना चाहिए। इसमें चतुर, होशियार वैद्य रखना चाहिए। बहुत प्रकार के अन्न, खान-पान प्रभूत मात्रा मे सग्रह करना चाहिए (रोगी को खाना-पीना यही से दिया जा सके)। (शब्द कल्पद्रुम)

वैद्य के गुण—वैद्य का शास्त्र अध्ययन ठीक प्रकार से होना चाहिए। शास्त्र को ठीक समझे, बुद्धिमान्, (प्रतिपत्ति कुशल), जिसनें ओषधियो की आजमाइश—परीक्षा कर ली हो, औषधियो की शक्ति की ठीक जाँच की हो। वैद्य औषधि के मूल का वास्तविक ज्ञाता—कहाँ से औषधि आती है, कैसी बनी है, आदि बातें जो पूरी तरह समझे, ओषधियो को किस समय पर उखाडना चाहिए, यह जिसको ज्ञात हो, औषधि के सग्रह काल को जाननेवाला; शालि, गेहूँ, चावल आदि निरामिष तथा मासो के बल-वीर्य-विपाक को जानता हो; त्यागी के समान वृत्ति रखे (लोभ रहित)। वैद्य को मनुष्यो के लिए अनुकूल और प्रियवादी होना चाहिए।

इस प्रकार का वैद्य आरोग्यशाला में जो व्यक्ति रखता है, उसको बहुत पुण्य होता है, वह लोक में धार्मिक, कृतार्थ (सब कुछ जिसने कर लिया—आगे कुछ भी करने को नही रहा); बुद्धिमान् होता है।—(शब्द कल्पद्रुम)

पुराणो में दान की जो महिमा वर्णित है, उसमें आरोग्यशाला बनाना, जीवनदान करना सबसे मुख्य कहा गया है। इसी के लिए मनुष्यो को प्रेरित किया गया है। आज ईसाई धर्म, अपने धर्म-प्रचारको की सहायता से इतना नही फैला, जितना अपने चिकित्साकार्य—जीवनदान से। विशेषत अशिक्षित जनता में जहाँ पर भूत-प्रेत रोग के कारण माने जाते हैं, वहाँ पर चिकित्सा से उनका बहुत प्रचार हुआ है। इसी से आरोग्यशाला के लिए पुराणो में प्रेरणा दी गयी है।

'दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्।
छित्त्वा वैवस्वतस्तान् पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति॥
धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।

न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते[1] ॥
परो भूतदयाधर्म इति मत्वा चिकित्सया ।
वर्त्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥' (चरक. चि. अ. १।४।
६०-६२)

स्मृतियों में आयुर्वेद साहित्य

उपनिषदो की भाँति स्मृतियाँ भी अनेक है। स्मृतियो का आधार श्रुति है ('श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'–रघुवश)। ये ही स्मृतियाँ या धर्मशास्त्र प्राचीन भारत की सभ्यता पर अधिक प्रकाश डालते है। इनमें मुख्य या प्रतिनिधि ग्रन्थ मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य और नारद प्रणीत है। विष्णु स्मृति के अतिरिक्त ये सब श्लोको में हैं। इनका जो वर्त्तमान रूप है उसमें रामायण और महाभारत की भाँति बहुत अंश समय-समय पर पीछे भी जोडा गया है।

चिकित्सा का विषय—मनुस्मृति में उद्भिज्जो का भेद, ओषधि, वनस्पति, वृक्ष और वल्ली के रूप में किया गया है। फल के आने पर जिनका नाश होता है; बहुत पुष्प और फल जिनमें आता है, वे ओषधियाँ है। जिनमे पुष्प नही आता, फल आते हैं, उनको वनस्पति कहते है; पुष्प और फलवाले वृक्ष हो जाते है, गुच्छ-गुल्म जो नाना प्रकार की तृण जातियाँ है, ये वल्ली है। इनके सज्ञा अन्त होती है, ये भी सुख-दु ख का अनुभव करती हैं (अन्त सज्ञा भवन्त्येते सुख-दु ख समन्विता ।१।४९)।

मनुस्मृति के गृहस्थाश्रम वर्णन में जो आचार वर्णित हैं, वही तथा उससे मिलता वर्णन आयुर्वेद की वृद्धत्रयी सहिता में आता है (मनु—४।४३–६४, चरक० सूत्र० अ० ८; सुश्रुत चि० अ० २४; सग्रह सू० अ० ३)।

मनुस्मृति में चिकित्सक के अन्न का ग्रहण करना निषेध किया गया है (पूयं चिकित्सकस्यान्न ४।२२०)। यह अन्न किन कारणो से निषिद्ध हुआ है, यह नही लिखा, परन्तु अस्थि स्पर्श में, मास, रक्तादि के स्पर्श मे प्रायश्चित्त है, सम्भवतः इसलिए निषेध हो।

चिकित्सक की भूल पर दण्ड—चिकित्सक यदि पशु चिकित्सा में मिथ्या वर्त्तन करे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए। मनुष्य की चिकित्सा में मिथ्या

---

१. 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः।
तस्मादारोग्य-दानेन तद्दत्तं स्याच्चतुष्टयम् ॥'
—आरोग्यदान, स्कन्दपुराण।

वर्त्तन करने में मध्यम साहस का दण्ड दें (चिकित्सकाना सर्वेपा मिथ्या प्रचरता दमः। अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यम ॥९।२८४)।

विष्णु स्मृति—यह स्मृति बहुत पीछे की बनी है, कम से कम गुप्तकाल मे पहले की नही है। इसमें दी हुई स्वास्थ्य सम्बन्धी सूचनाएँ (अध्याय ६०, ६१, ६३ और ६४ में) अष्टाग-सग्रह में दी गयी सूचनाओ से प्राय मिलती है (दिनचर्या अध्याय सूत्र० अ० ३)। शौचकार्य सम्बन्धी निर्देश; शौचकार्य मे मिट्टी का उपयोग (मिट्टी की विशेषता—गन्ध लेपक्षयकरम्, —सग्रह मे—लेपगन्धापहम्) एक समान शब्द रचना (नप्रत्यनिलानलेन्द्वर्कस्त्रीगुरुब्राह्मणानाञ्च—विष्णु; न नारी पूज्य गोऽर्केन्दुवाय्वन्नाग्निजल प्रति–सग्रह) है।

दातुन के नियम—किन-किन वृक्षो की दातुन नही करनी चाहिए, यथा—लसूड़ा, रीठा, बहेडा, धव, धन्वन, बन्धूक; सम्भालू, सहजन, तिन्दुक आदि वृक्षो की दातुन नही करनी चाहिए (तुलना कीजिए सग्रह० सू० अ० ३।२०–२१, इनमें न पारिभद्र-काम्लिका 'मोचक' शाल्मलीशाण्जम्—यह पंक्ति पूर्णत सग्रह में—पारिभद्रकमम्ली-कामोचक्यौ शाल्मली शणम्, इस प्रकार हैं')। जिन वृक्षो की दातुन करनी चाहिए, उनमें बरगद, असन, अर्क, खदिर, करंज, सर्ज, नीम, अपामार्ग, मालती आदि है (यह रचना भी दोनो में समान है)।

स्नान के सम्बन्ध में दूसरे के बनाये कुएँ आदि में स्नान करने का निषेध है; अथवा दूसरे के स्नान से बचे पानी में स्नान न करे, यदि स्नान करना हो तो पाँच पिण्ड देकर स्नान करे (विष्णु ६४)[1]। स्नान करके शिर को (संग्रह में बालो को) फटकारना मना किया है—"धुनयान्न शिरोरुहान्।"

सद्वृत सम्बन्धी बातें भी प्राय वे ही हैं, जो आयुर्वेद ग्रन्थो में वर्णित है। यथा-— अधार्मिक, वृषल; शत्रुओ के साथ सगति—मुसाफिरी न करे; केश, तुष, कपाल, अस्थि, भस्म, अगार इनको न लाँघें और न इनके पास सोये। देवता तथा विद्वान् एव वनस्पतियो की प्रदक्षिणा करे। नदी को व्यर्थ में न तैरे ('न वृथा नदी तरेत्' इस

---

१ संग्रह और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी यही उल्लेख है; (याज्ञवल्क्य १।१५९; संग्रह ३।७१)। इसका स्पष्ट अर्थ नहीं है; संग्रह के टीकाकार इन्दु ने लिखा है कि तालाब में से मिट्टी के पाँच पिण्ड निकालकर बाहर फेकें। इससे वह तालाब अपना हो जाता है; फिर स्नान करें; यह अर्थ स्पष्ट नहीं, परन्तु यह वचन समान रूप में तीनों में है।

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥' (१।३४९-३५१)

कर्मसिद्धि दैव और पुरुषकार इन दोनो पर आश्रित है। कभी दैव से, कभी स्वभाव से, कभी काल से और कभी पुरुषकार से और कभी सयोग से काम होता है। जिस प्रकार एक पहियावाला रथ चल नही सकता, उसी प्रकार पुरुषकार के बिना दैव भी सफल नही होता। इसमें अभिव्यक्त कर्म को 'दैव' और पौर्वदेहिक कर्म को 'पौरुष' कहा गया है जो सामान्यत ठीक नही। चरक मे पूर्वजन्म कृत कर्म को दैव अरि इस जन्म में किये गये कर्म को पौरुष कहा गया है (शा० अ० २।४४), इससे स्पष्ट है कि यह पाठ प्रमाद का है।

ये ही विचार चरक सहिता में आये है; यथा—पुरुषकार कर्म बलवान् हो तो वह दुर्बल दैव कर्म को दबा लेता है, और यदि पुरुषकार कर्म निर्बल हो तो उसे दैव कर्म दबा लेता है, इस विचार से कोई आयु को नियत मानते है (वि० अ० ३।३४)। आयु का परिमाण दैव और पुरुषकार कर्म पर स्थित है, आत्मकृत कर्म को दैव कहते है, जो कि पूर्व शरीर में किया होता है। इस जीवन में जो कर्म करते है, उसे पुरुषकार कहते है (वि० अ० ३। २९–३०)। पूर्वजन्म में जो कर्म किया जाता है, उसको दैव शब्द से कहते है; वह भी काल आने पर रोगो का कारण बन जाता है (शा० अ० १।११६)।

नारदीय मनुस्मृति—यह स्मृति बहुत पीछे की है, सम्भवत गुप्त काल के बाद की है। इसका प्रमाण मुख्यत नही माना गया है। परन्तु इसके कुछ श्लोक सभ्य समाज में बहुत सम्मानित है (न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥' व्यवहार ८०)।

इसमें ही प्राड्विवेक के लिए शल्य चिकित्सक का उदाहरण दिया गया है, जिस प्रकार से शल्य चिकित्सक गूढ शल्य को यत्र-शस्त्र द्वारा ढूँढ कर निकाल लेता है; उसी प्रकार से प्राड्विवाक् को चाहिए कि तर्क में से सच्ची बात को निकाल ले। जहाँ पर सब लोग कहें कि ठीक हुआ वही नि शल्य विवाद है; इसके विपरीत सशल्य विवाद है।

बौधायनस्मृति—यह स्मृति भी पीछे की है। इसकी भी प्रतिष्ठा मुख्य स्मृतियो में नही है। इसमें शालीन यायावर आदि ऋषियो के लिए धर्म निरूपण है। चरक में दो प्रकार के ऋषि कहे गये है। एक शालीन और दूसरे यायावर। बौधायन में चक्रचर एक अन्य भेद भी बताया गया है, जो कि उपनिषद् के 'चरक' संज्ञावाले ऋषियों को बताता है। (बौधायन ३।३–४–५)

शाला बनाकर रहनेवाले ऋषि शालीन, श्रेष्ठवृत्ति से गमन करनेवाले या जीवन-यापन करनेवाले यायावर तथा जो नियमत चंक्रमण करते रहते थे वे चक्रचर थे।

वृत्ति नौ प्रकार की है—षण्निवर्त्तनि (छ दिनो में एक बार भोजन); कौद्दाली (कुदाल से खोदकर); ध्रुवा (?), सप्राक्षिलनी (पानी में धोकर खाना); समूहा (सब मिलाकर आहार); पालनी (?); शिला (खेत में से गिरी बाल चुनना—देहाती भाषा में सैला करना); ऊञ्छ (एक-एक दाना चुनना); कापोता (कबूतर की भाँति बिखरे दाने एकत्र करना, चुनना); सिद्धेच्छा (जो मिल गया, स्वयं कोई दे गया); वे नौ वृत्तियाँ है (शिला और उञ्छ को एक मानना चाहिए)। इन वृत्तियो के आधार पर रहते हुए जो ऋषि जीवन यापन करते थे; वे यायावर थे।

पाचवाँ अध्याय

मौर्यकाल में आयुर्वेद साहित्य

(३६३-२११ ई० पूर्व)

इस काल से सम्बन्धित मुख्य साहित्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र और अशोक के शिलालेख है। इन लेखो में उसने अपने राज्य शासन का वर्णन किया है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय देश भिन्न-भिन्न राज्यों मे विभक्त था, जिस तरह कि बुद्ध के समय देश में सोलह जनपद थे। विशेषत: भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में बहुत से पर्वतीय राजा थे। इनमें तक्षशिला, जो कि विद्या का एक बड़ा केन्द्र बौद्धकाल में था, स्वतन्त्र था, उसका राजा स्वतन्त्र था, जिसने सिकन्दर के दूत के आने पर उससे सन्धि कर ली थी। उसने और उसके पुत्र आम्भि ने बुखारा में ही सिकन्दर के पास दूत द्वारा भारतीय आक्रमण के समय सहायता का वचन दिया था और बदले में उसकी रक्षा का वचन माँगा था। तक्षशिला के राजा की पडोसी राजा पौरव (पोरस) से दुश्मनी थी, अत. वह चाहता था कि आक्रान्ता की सहायता लेकर पड़ोसी राज्य को कुचल सकूँ। पौरव का राज्य झेलम और रावी के बीच में था, वह अपना राज्य फैलाने के लिए दोनो नदियो के पार के प्रदेश मे हाथ फैला रहा था। पौरव ने तक्षशिला के राजा की भाँति आक्रान्ता का साथ न देकर उससे लोहा लेना सोचा, इसके लिए उसने पडोसी राज्यो को मिलाया। केवल रावी पार के कठो को वह अपने सगठन में नही ला सका।

इसी प्रकार अष्टक राज्य; अश्वक, आयुध जीवियो, कठ, क्षुद्रक, मालवक आदि बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे और वे सब स्वतन्त्र थे। इन सबके माथ लडते हुए सिकन्दर की सेना का मनोवल एव शारीरिक शक्ति थक गयी थी, इसलिए इसने व्यास से आगे बढ़ना अस्वीकार कर दिया और वापस लौटी। लौटते समय यह शरद् और मूषिक प्रदेश मे से गजरी। यहाँ पर ब्राह्मणों का राजा मुसिकानुस (मुचकर्ण) था। इसकी राजधानी अलोर (वर्तमान सक्खर) थी। ओने सिक्रितस का कहना है कि यहाँ के लोग अपनी आयु और स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध है। ये लोग प्राय १३० वर्ष तक

जीते है। चिकित्सा को वे अन्य सारे विज्ञानो से ऊपर मानते और उसका विशेष अध्ययन करते है—(डा० त्रिपाठी—पृष्ठ १०७)।

जीते हुए प्रदेश को वह भिन्न-भिन्न रूप मे शासित कर गया। झेलम और व्यास के वीच का राज्य पौरव की प्रभुता मे रखा गया, झेलम के पश्चिम में आम्भि और कश्मीर मे अभिसार के राजा को अधिपति बनाया गया और इसके राज्य मे हजारा जिला भी सम्मिलित कर दिया था।

इससे स्पष्ट है कि देश मे स्वतन्त्रता की चाह थी। आयुधजीवी ब्राह्मण-राज्य मे ब्राह्मणो का आधिपत्य था, जो सिहासन के नियन्ता और वहाँ की राजनीति के सूत्र का सचालन करते थे। उन्होने घोषणा की थी कि विदेशी आक्रान्ता का प्रतिरोध करना चाहिए, प्रतिरोध न करनेवाले राजाओ की निन्दा की और गणराज्यो को उभाडा। (हिन्दू सभ्यता)।

यहाँ पर इतना और समझना आवश्यक है कि इन राज्यो मे से एक बडा मार्ग था, जो कि काबुल से चलकर सीधा मगध तक पहुँचता था। भारत के दूसरे छोर पर मगध के नन्दो का बडा भारी राज्य था, जिसकी सीमा गगा का कॉठा था।

यह महापथ ईरान और सिन्ध के रेगिस्तान को बचाता हुआ सीधे उत्तर की ओर चित्राल और स्वात की घाटियो की ओर जाता है। इसी पथ मे 'बलख' पडता है, जो कि हरा-भरा, फलोवाला देश है। यही पर भारतीय, ईरानी, शक और चीनी चारो महा जातियाँ मिलती थी। यही पर व्यापार में आदान-प्रादान होता था। बलख से चलकर महाजनपथ पूर्व की ओर चलते हुए बदख्शा, बखा, पामीर की घाटियो को पार करते हुए काशगर पहुँचता था। बलख के दक्षिणी दर्वाजे से महापथ भारत को जाता था। हिन्दुकुश और सिन्धु नदी को पार करके यह रास्ता तक्षशिला पहुँचता था और वहाँ पाटलिपुत्रवाले महाजनपथ से जा मिलता था। यह महाजन-पथ मथुरा मे जाकर दो शाखाओ मे बँट जाता था, एक शाखा पटना होती हुई ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह को चली जाती थी और दूसरी शाखा उज्जयिनी होती हुई पश्चिम समुद्र तट पर स्थित भरुकच्छ के बन्दरगाह पहुँचती थी [डा० मोतीचन्द्र।]

बलख से होकर तक्षशिला तक इस महा जनपथ को कौटिल्य ने हैमवत पथ कहा है। (चरक में "हिमवत पार्श्वे" पढते है)। यह हैम पथ तीन खडो मे बाँटा जा सकता है, एक बलख खण्ड; दूसरा, हिन्दुकुश खण्ड और तीसरा भारतीय खण्ड।

बलख का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में है। महाभारत से

पता चलता है कि यहाँ पर खच्चरो की बहुत अच्छी नस्ल होती थी। चीन के रेशमी कपड़ो, पश्मिनो, इत्र, गन्ध आदि का व्यापार किया जाता था।

हिन्दुकुश की पर्वतमाला में अनेक पगडडियाँ है, इनमें नदियाँ बहुत है, इसलिए रास्ता नदियो के किनारे-किनारे चलता है। इसी रास्ते के बीच मे कपिश या कपिशा एक प्रसिद्ध स्थान आता है। युवान च्वाङ के अनुसार कपिशा मे सब देशो की वस्तुएँ मिलती थी। इसी स्थान से भारत का मध्य एशिया से व्यापार चलता था। पाणिनि ने अपने व्याकरण में कपिशा का उल्लेख किया है (४।२।९९)। यहाँ की द्राक्षा प्रसिद्ध थी "कापिशायिनी द्राक्षा।" कापिशी से लम्पाक होकर जलालाबाद का प्राचीन रास्ता पजशीर की घाटी को छोड़कर आगे बढता है। युवान च्वाङ ने जलालाबाद को भारत की सीमा कहा है। सिकन्दर ने इसी प्रदेश को जीता था। परन्तु बीस वर्ष बाद सैल्युकस प्रथम ने इसे चन्द्रगुप्त मौर्य को वापस कर दिया था। इसके पीछे बहुत दिनो तक यह प्रदेश विदेशी आक्रान्ताओ के हाथ मे रहा और अन्त मे काबुल के साथ मुगलो के अधीन हो गया। अग्रेजी युग में भारत ओर अफगानिस्तान का सीमान्त प्रदेश बना।

गान्धार की पहाडी सीमा के रास्तो का कोई ऐतिहासिक वर्णन नही मिलता। गान्धार की राजधानी उस समय पुष्करावती थी। पेशावर की नीव तो सिकन्दर के चार सौ बरस बाद पडी। भारत का महापथ अटक पर सिन्ध पार करता है; इस नदी के दाहिने किनारे पर उद्भाड [illegible] नाम का अच्छा घाट था। यहाँ सब पथ मिलते थे। यहाँ से महापथ सीधे पूरब जाकर होती मर्दान पहुँचता था, जहाँ शहबाज गढी में अशोक का शिलालेख है।

बलख से लेकर तक्षशिला तक रास्ते का ज्ञान बौद्ध-साहित्य में कम मिलता है। महाभारत मे अर्जुन के दिग्विजय मे इसका वर्णन विस्तार से है। उत्तर कुरु भी इसी रास्ते पर था, ('विजित्य य प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्य वसु वासवोपम'— भारवि। सुश्रुत में उत्तर कुरु का नाम है; चरक मे नही है)। इसी तरफ पारद, बग, कितव, हारहूर (हैरात के रहनेवाले) रहते थे, जिनके नाम से इन देशो के नाम पडे अथवा इन देशो के नाम से इन जातियो के नाम पडे।

तक्षशिला से होकर महा जनपथ काशी और मिथिला तक चलता था। बनारस से तक्षशिला का रास्ता घने जगलो मे से जाता था, इसमे डाकुओ और पशुओ का बराबर भय बना रहता था। तक्षशिला उस समय भारतीय और विदेशी व्यापारियो का मिलन केन्द्र था। बनारस, श्रावस्ती, सौरेय्य के व्यापारी तक्षशिला मे व्यापार करते थे।

तक्षशिला से लेकर मथुरा तक चलनेवाले रास्ते का विवरण बौद्ध साहित्य में, महाभारत मे ठीक मिलता है। जीवक तक्षशिला में भद्रकर, उदुम्बर और रोहीतक होते हुए मथुरा पहुँचा था। भद्रकर की पहिचान स्यालकोट से की जाती है, उदुम्बर पठानकोट का इलाका था, रोहीतक आजकल का रोहतक है। बक्षुनदी और हिन्दुकुश के बीच के जनपद का नाम वाह्लीक था। यही का वैद्य काकायन था, जिसका उल्लेख चरक संहिता, भेल संहिता, नावनीतक मे है। वाह्लीक का आजकल का नाम बल्ख है। इसके साथ ही मूजान या मूजवान का छोटा-सा राज्य लगता था, इस देश के निवासी मौजायन कहलाते थे (सुश्रुत मे मौञ्जवान, जिस सोम का उल्लेख है, वह यही पर होता था। (सुश्रुत चि० अ० २९।२८–२९)।

कौटिल्य ने इस स्थिति को पहिचाना और तक्षशिला से मगध की यात्रा करके एक बडे राज्य को जन्म देने का प्रयत्न किया। इसमें उसे चन्द्रगुप्त का साथ मिल गया। जिसके लिए उसने प्रथम पश्चिमीय सीमा के पर्वतीय राजा पर्वतेश्वर की सहायता से नन्दराज्य को समाप्त किया, क्योकि प्रजा उससे सन्तुष्ट नही थी। इसके पीछे स्थिति सँभल जाने पर पर्वतेश्वर को भी नष्ट कर दिया। यह सब एक देशप्रेम का उज्ज्वल उदाहरण है। तक्षशिला का वैभव इस समय भी कम नही हुआ था। चाणक्य को यही का विद्यार्थी और पीछे यही का अध्यापक कहा जाता है। जीवक के गुरु आत्रेय को भी यही का अध्यापक बताया गया है। काकायन वाह्लीक भिषक् भी यहीं से अवश्य सम्बन्धित रहा होगा। इसी तक्षशिला में चन्द्रगुप्त विद्याध्ययन के लिए आया था। चाणक्य ने उसे यही से पहचाना और परखा, उसे साथ में लिया और एक नये राष्ट्र को जन्म दिया। उस समय पाटलिपुत्र तक रास्ते का वर्णन तथा चाणक्य के श्रम का उल्लेख जातको में बहुत कुछ मिलता है।

चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित मौर्यवंश में आयुर्वेद से सम्बन्धित घटना 'विषकन्या' तथा 'विषयुक्त भोजन' की है। विषकन्या के द्वारा चाणक्य ने पर्वतेश्वर को मारा था और विष भोजन से नन्दो का नाश किया था। मुद्राराक्षस में एक प्रसिद्ध वैद्य के मारने का भी उल्लेख है, जो कि राक्षस के कहने से चन्द्रगुप्त को मारने के लिए आया था।

चाणक्य ने जब एकछत्र साम्राज्य बनाया तब उसने तक्षशिलावाला इलाका लेने के लिए आक्रमण किया। उस समय सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्युकस के साथ युद्ध हुआ, जिसमें सिल्युकस हार गया। तब जो शर्तें हुईं उसके अनुसार सिल्युकस ने चन्द्रगुप्त को हैरात; कन्दाहार, काबुल की घाटी, और बिलोचिस्तान दिया

था। इसी में कन्दाहार की राजधानी तक्षशिला थी। इस प्रकार मौर्य राज्य की सीमा पश्चिम में सुरक्षित हो गयी थी।

पूर्व में ताम्रलिप्ति बन्दरगाह कलिंग के राज्य का था; इसको जीतने का प्रयत्न नन्द ने तथा चन्द्रगुप्त के पुत्र बिम्बिसार ने किया था। परन्तु इन दोनो को इसमें सफलता नही मिली, अन्त में सम्राट् अशोक ने कलिग विजय किया।

उस समय उत्तरीय भारत मे मगध और कलिंग ये दो बडे राज्य थे। इसीसे इन्हीं के नाम पर दो मान-परिभाषाएँ आयुर्वेद में चलती हैं (कलिंग से मागध-मान श्रेष्ठ है, यह वचन सर्वथा पक्षपातपूर्ण है, दोनो मानो की प्रतिष्ठा थी)। इस प्रकार से मौर्य-राज्य का विस्तार पूर्व, दक्षिण में हो गया। जिससे एक बडा साम्राज्य स्थापित हो गया। इसी राज्य का चिह्न अशोक का सिंहवाला स्तम्भ था, जो हमारे गणराज्य का प्रतीक बना हुआ है।

इस बड़े साम्राज्य को चलानेवाला, उसकी नीव रखनेवाला कौटिल्य-चाणक्य था, जिसने शासनसूत्रो को अपनी अर्थशास्त्र-पुस्तक में अंकित किया है। इसी पुस्तक के आधार पर मौर्यवश का शासन था। चन्द्रगुप्त के राज्यकाल का वर्णन मैगस्थनीज ने अपनी पुस्तक 'इन्डिका' में किया है। वह आज नही मिलती, परन्तु उसके उद्धरण दूसरे स्थानो में मिलते हैं। उनके आधार पर चिकित्सा के विषय में मैगस्थनीज की सूचना निम्न है—

"भारतीय चिकित्सको की प्रशंसा करते हुए मैगस्थनीज ने कहा है कि 'वे अपने शास्त्र के बल पर अनेक सन्तान उत्पन्न करा सकते हैं; तथा दवाइयो द्वारा इच्छानुसार नर अथवा मादा बच्चे भी पैदा कर सकते हैं' (तुलना कीजिए सग्रह शा. १।६०-६१, ६५)। उनके बनाये मलहम और लेप (प्लास्टर) सुप्रसिद्ध हैं। दवाइयो के बजाय वे भोजन को ठीक से सचालित करके रोगो को दूर किया करते हैं।

अर्थशास्त्र में पशुओ के वैद्य को 'अनिकस्थ' और मनुष्यो का उपचार करनेवाले को 'चिकित्सक' कहा गया है। राज्य की तरफ से ब्राह्मणो की तरह चिकित्सको को भी गाँवो में करमुक्त भूमि दी जाती थी, जो इस बात का प्रमाण है कि मौर्य सरकार चिकित्सको को बहुत बढ़ावा देती थी, जिससे वे अपने शास्त्र में कुशलता प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहें।'—[सम्राट्चन्द्र गुप्त मौर्य—पाथरी, पृष्ठ २०६]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र

इस अर्थशास्त्र के कर्त्ता चाणक्य हैं, इनके दूसरे नाम विष्णुगुप्त; मल्लनाग; कौटिल्य; द्रमिल, पक्षिल स्वामी, वात्स्यायन और अगल हैं (अभिधानचिन्तामणि)

चणक का पुत्र होने से चाणक्य, कुटिल गोत्र होने से कौटिल्य कहा जाता है। इस अर्थ-शास्त्र की समाप्ति पर स्वय चाणक्य ने कहा है–'स्वयमेव [illegible] सूत्रञ्च भाष्यञ्च"—स्वय विष्णुगुप्त ने इस शास्त्र का सूत्र और भाष्य लिखा है।[1]

कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र का प्रयोजन कौटिल्य अर्थशास्त्र का सक्षिप्तीकरण बताया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे विष्णुगुप्त को नमस्कार किया है। दण्डी ने दशकुमार चरित में, बाण ने कादम्बरी मे कौटिल्य की नीति का उल्लेख किया है। मल्लिनाथ की टीका मे भी अर्थशास्त्र का उल्लेख है।

मेगस्थनीज राजदूत ने चन्द्रगुप्त के शासनकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, इसमे चाणक्य का कही उल्लेख नही। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध का पता विष्णुपुराण, वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थो से चलता है। मुद्राराक्षस का सारा कथानक चाणक्य और चन्द्रगुप्त को नायक मानकर लिखा गया है। इसमे इतना स्मरण रखना चाहिए कि चाणक्य को स्वत राजकार्य से कोई मतलब नहीं था, उसकी अन्तिम प्रतिज्ञा नन्दवश का नाश और चन्द्रगुप्त को राज्य देना, प्रजा को योग्य शासक सौपना था। राज्य को स्थिर करने के लिए योग्य मत्री राक्षस को सौपकर वह चन्द्रगुप्त से पृथक् होकर अपने स्वाभाविक कर्म अध्ययन-अध्यापन मे लग गया। अर्थशास्त्र के अन्त की पुष्पिका मे स्पष्ट कहा है—

> "येन शास्त्र च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
> अमर्षणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिद कृतम् ॥"

जिसने शास्त्र, शस्त्र और नन्दराज। के अधीन हुई भूमि का क्रोध के कारण बहुत जल्दी उद्धार कर दिया, उसी विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस शास्त्र को बनाया है।

जब राजदूत मेगस्थनीज आया होगा तब मौर्य चन्द्रगुप्त पुराना हो गया होगा। राजुका, पाषण्डेलु, समाज, महामाता आदि पारिभाषिक शब्द अर्थशास्त्र की भाँति अशोक के शासन लेखो मे भी है।

अर्थशास्त्र की रचना चरकसहिता के समान गद्य-पद्यमय है। आपस्तम्ब सूत्र, बौधायन धर्मसूत्र भी इसी प्रकार लिखे गये है। इसका निश्चित क्रम है, एक विषय एक स्थान पर है (चरकसहिता मे यह बात नही मिलती, सुश्रुत मे है)। कुछ पद

---

१ चाणक्य नाम अर्थशास्त्र में नहीं है; परन्तु पंचतन्त्र में है—'अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि, वात्स्यायनका कामसूत्र अर्थशास्त्र की शैली पर है।

पाणिनि के अनुसार नही है, यथा— 'औपनिपत्क' के स्थान पर औपनिपदिक (काम सूत्र मे भी 'औपनिषदिकमाचरेत्' यही पाठ है'), रोचन्ते के स्थान पर रोचयन्ते, चानुराश्रिका के स्थान पर चतुरश्रिका पाठ है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र की बहुत अधिक समानता कामसूत्र से होने के कारण इसको चौथी सदी का भी माना जाता है।

अर्थशास्त्र की आयुर्वेद ग्रन्थो से समानता–(१) अर्थशास्त्र की भापा और शैली चरक से मिलती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार से चरकसहिता मे भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत दिखाकर अन्त मे आत्रेय ने अपना मत स्थापित किया है, उसी प्रकार इसमें भी है। (देखिए सूत्र स्थान अ २६।८, अ २५,) परन्तु अष्टाग सग्रह मे सबके मत दे दिये है, अपना मत स्पष्ट नही किया। यथा, विषप्रतिषेध ४०वे अध्याय में, नग्नजित, विदेहपति, आलम्बायन, धन्वन्तरि का मत दिखाकर कह दिया "मुनिना येन तूक्त तत्सर्वमिह दर्शितम्।"

(२)**तत्रयुक्ति**—चरक सहिता मे ३६ तत्रयुक्तियाँ बतागी गयी है (सि १२।४१)। इन तत्रयुक्तियो से शास्त्र स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार से सूर्य के कारण कमलवन और प्रदीप से घर प्रकाशमान हो जाता है, उसी प्रकार तत्रयुक्तियो से शास्त्र का प्रबोधन और प्रकाशन होता है (सि अ १२।४७)। इसलिए सुश्रुत सहिता और अष्टाग सग्रह में भी तत्रयुक्तियाँ ग्रन्थ समाप्ति मे दी गयी है। सग्रह मे उत्तर स्थान की समाप्ति पर है। सुश्रुत मे तत्रयुक्तियाँ ३२ बतायी गयी है। (द्वात्रिंशत् तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे–उत्तर अ ६५।३,), सग्रह मे तत्रयुक्तियाँ चरक के समान दी गयी है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे ३२ बत्तीस तत्रयुक्तियाँ बतायी गयी है। सुश्रुत सहिता और कौटिल्य की तत्रयुक्तियाँ समान है। सग्रह और चरक की समान है (भट्टारहरिचन्द्रने चार अधिक मानी है, —परिप्रश्न, व्याकरण, व्युत्क्रान्त-अभिधान और हेतु।)

आयुर्वेद विषय—राजपुत्रो से राजा की रक्षा-प्रकरण मे कौटिल्य ने अत्रिपुत्र के जातीसूत्रीय अध्याय (चरक शा अ. ८) का स्पष्ट उल्लेख उद्देश्य रूप मे किया है। चरक के इस अध्याय लिखने का यही अर्थ है कि उत्तम सतान उत्पन्न हो। इसलिए कहा है—

जिन स्त्री-पुरुषो के शुक्र-शोणित और गर्भाशय निर्दोष हो और जो अच्छी सतति चाहते हो; उनके लिए अच्छी संतान प्राप्त करने का उपाय कहते है (अ. ८।३ . ')

अब चाणक्य का वचन देखिए—

"तस्माद् ऋतुमत्या महिष्या ऋत्विजश्चरुमैन्द्रबार्हस्पत्य निर्वपेयु। आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजनने च वियतेत्।" (विनया. १७।२५-२६)

अत्रिपुत्र ने ऋत्विज द्वारा यज्ञ विधान विस्तार से दिया है। उसमे सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट लिखी है (शा. अ ८ १०-१४)। गर्भ रहने पर गर्भ की रक्षा में निपुण वैद्य तथा प्रजनन में निपुण वैद्य इसकी देख-रेख करे।

उद्देश्य दोनो का 'श्रेयसी प्रजा' का है। चाणक्य का अपना मत सबसे पीछे है। इससे पूर्व प्रत्येक आचार्य का मत चाणक्य ने दिया है। चाणक्य ने मूल वस्तु को ही पकडा है, इसी से उसकी जानकारी सही है। अत्रिपुत्र ने भी कहा है कि प्रजापति को उद्देश्य मानकर उस स्त्री की कामना पूर्ण करने के लिए यज्ञ करे ('तस्या. कामपरिपूर्णार्थं काम्यामिष्टि निर्वर्त्तयेद्' 'विष्णुर्योनि कल्पयतु इत्यनयर्चा'—शा अ ८।११)।

भोजन में विष-परीक्षा—राजाओ के शत्रु, मित्रो की अपेक्षा अधिक होते हैं। ये लोग समीपवर्त्ती नौकर. आदि के द्वारा राजा के खान-पान में विष दे देते हैं; स्त्रियाँ सौभाग्य के लोभ में (वशीकरण के लिए) तथा अन्यो के कहने से राजा को विष दे देती हैं। यह विष अन्न-पान के सिवाय वस्त्र, माला, आभूषण, शय्या, स्नानजल, अवलेप आदि के रूप में भी दिया जा सकता है। इसलिए इन वस्तुओ की परीक्षा करनी चाहिए।

परीक्षा करने के लिए राजा को अपने पास कुलीन, स्नेही, विद्वान्, आस्तिक, उत्तम आचारवाले, चतुर, मित्रभूत, निश्चल, पवित्र, नम्र, आलस्यरहित, व्यसनो से दूर, निरभिमानी, अक्रोधी, असाहसिक, वाक्य के अर्थ को जानने में कुशल, आयुर्वेद के आठों अगो में निपुण, शास्त्रानुसार जिसने आयुर्वेद मे योग और क्षेम प्राप्त किये हो, जिसके पास नाना प्रकार की विषनाशक औषधियाँ (अगद) हो, सब प्रकार के सात्म्य को समझनेवाले वैद्य को रखना चाहिए (सग्रह सू अ. ८।४)। कौटिल्य ने विषचिकित्सा मे निपुण वैद्य के लिए 'जाङ्गली वैद्य' नाम दिया है।[1]

इसलिए विषविद्या को जाननेवाले तथा अन्य चिकित्सक पुरुष भी राजा के समीप रहे। चिकित्सक को उचित है कि वह औषधालय से स्वय खाकर परीक्षा की हुई औषधि को लेकर राजा के सामने ही उस औषधि में से कुछ थोडी-सी, उसके पकाने-

---

१ युद्ध के समय चिकित्सकों को रखने का उल्लेख अर्थशास्त्र में है—"चिकित्सकाः शस्त्रयंत्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियाश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः ॥" (सांग्रामिक. १०।३।६२.)

वाले तथा पीसनेवाले पुरुष को खिलाकर एव स्वय चखकर राजा को दे । इसी तरह से मद्य और पानी को भी समझना चाहिए। (अर्थशास्त्र. विनया. २१।२६)

चाणक्य ने इसी प्रकार राक्षस के भेजे वैद्य के द्वारा बनाये गये विषयुक्त अन्न-पान की परीक्षा करके चन्द्रगुप्त की जान बचायी थी।

चाणक्य ने राजा के स्नान कराने में, अगो के दबाने में, बिस्तर आदि बिछाने मे; वस्त्रो के धोने, माला आदि कार्यों में दासियो को ही नियुक्त करने के लिए कहा है (अ. २१।२८)।

भोजन करने से पूर्व राजा को अग्नि मे तथा पक्षियो को बना हुआ अन्न देकर बलि-वैश्वदेव विधि करनी चाहिए (इससे अन्न की परीक्षा भी हो जाती है)। विष मिश्रित अन्न को अग्नि में डालने से अग्नि की लपटे और धुवाँ दोनो नीले रग के निकलते है; इनमें चट-चट शब्द होता है। विष मिश्रित अन्न खाने पर पक्षियो में विपत्ति और मृत्यु होती है। विषयुक्त अन्न की भाप मोर की गर्दन के समान रंगवाली होती है, तथा विषवाला अन्न बहुत जल्दी ठण्डा हो जाता है, हाथ मे छूने से या जरा तोडने से उसका रग बदल जाता है, उसमें गाँठ-सी पड जाती है और वह अच्छी तरह पकता भी नही। दाल आदि व्यजन विषयुक्त होने पर बहुत जल्दी सूख-से जाते है। यदि इनको फिर आग पर रखकर गरम किया जाय तो फट जाते हैं, झागो का रंग कुछ काला-सा रहता है। इनकी स्वाभाविक गन्ध और स्पर्श नष्ट हो जाता है। द्रव, तरल वस्तुओ में विष मिला होने पर उसमें अपनी आकृति विकृत दीखती है। झागो का समूह अलग और पानी अलग रहता है, इसके ऊपर रेखा-सी दीखती है।

घी, तैल, ईख के रस आदि में विष मिला होने पर नीली रेखाएँ दिखाई देती हैं। दूध में ताम्र वर्ण की, शराब और पानी में काले रग की, दही में श्याम, शहद मे सफेद रग की रेखाएँ दीखती हैं। गीले द्रव्यो मे विष मिला होने पर वे बहुत जल्दी मुर्झा जाते हैं, दुर्गन्ध आने लगती है, काले, नीले या श्यामवर्ग हो जाने है। सूखे द्रव्यो मे विष मिला होने पर वे बहुत जल्दी चूर हो जाते हैं, इनका रग भी बदल जाता है। विष मिला होने पर कठिन द्रव्य मृदु और मुलायम द्रव्य कठिन हो जाता है। विषयुक्त वस्तु के समीप रेंगनेवाले छोटे-छोटे कीड़े आदि की मृत्यु हो जाती है।

बिछाने और ओढने के कपडो पर विष का योग करने पर कपडो पर उस-उस स्थान पर काले या भिन्न वर्ण के धब्बे पड जाते है। उस स्थान पर सूती कपडो के तन्तुओ का और ऊनी कपडो के बालो का रोवाँ उड़ जाता है। सोना-चाँदी आदि

धातुओं की तथा स्फटिक आदि मणियो की बनी वस्तुएँ विषयुक्त होने पर मैली कीचड-जैसी हो जाती है। इनकी स्निग्धता, कान्ति, भारीपन, प्रभाव स्पर्श आदि गुणो का नाश हो जाता है। (अर्थशास्त्र २१।९-२२)।

उपर्युक्त विवरण की तुलना के लिए संग्रह सू अध्याय ८ मे १० से १७ तक की कण्डिका तथा सुश्रुत-कल्पस्थान २८ से ३३ अध्याय १ मे देखा जा सकता है। इनमे विस्तार से अन्नपरीक्षा दी गयी है। घरो मे पशु-पक्षी पालने का उद्देश्य जहाँ मकान की शोभा है, वहाँ पर अन्न की परीक्षा का भी अभिप्राय है (वेश्मनो विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मन सदा। सन्निकृष्टास्तत कुर्याद्राजस्तान् मृगपक्षिण ।। १।३३)।

विष देनेवाले व्यक्ति की पहचान— विष देनेवाले पुरुष का मुख कुछ सूखा-सा तथा विवर्ण हो जाता है, बातचीत करते समय वाणी लटखटाती है, पसीना आ जाता है, घबराहट के कारण शरीर मे जम्भाई और कँपकँपी आती है, साफ रास्ता होने पर भी बेचैनी के कारण वह बार-बार गिर पडता है। यदि कोई दो व्यक्ति अपनी बाते कर रहे हो तो वह ध्यान से सुनने लगता है—कही मेरे सम्बन्ध मे तो बाते नही कर रहे है; कोई बात पूछने पर झट क्रोध आ जाता है, अपने कार्यो मे और अपने स्थान पर उसका चित्त स्थिर नही रहता, इधर-उधर हडबडाया हुआ-सा रहता है (तुलना के लिए सुश्रुत क अ १।१८-२२, सग्रह सू अ ८।१८ से)।

राजा को विष से बचाने के लिए राजा के वैयक्तिक कार्यों मे—स्नान, अनुलेपन, माला, वस्त्र परिधान आदि मे मुख्यत दासियो को नियुक्त करने की सम्मति कौटिल्य ने दी है। दासियाँ स्वय अथवा अपनी आँखो के सामने वस्त्र और माला राजा को दे, जिसमे इनमे विष का सन्देह न हो। स्नान के समय उपयोग की वस्तुएँ—उबटन, चन्दन, पटवास तथा सिर पर लगाने के सुगन्धित वस्तुओ को दासियाँ अपनी छाती और बाहुओ पर लगाकर पहले देख ले फिर राजा के उपयोग मे दे। यही बात अन्य वस्तुओं के विषय मे भी समझे (तुलना कीजिए—सु क अ १।२५-२७, सग्रह सू. अ ८।१४।१७)।

कौटिल्य मे रत्नो और धातुओ की परीक्षा विस्तार से दी गयी है, किस भूमि मे कौन-सी धातु मिलेगी या मिलने की सम्भावना है, इसका भी इसमे उल्लेख है। सामान्यत जिन धातुओ मे अधिक भार होता है, वे अधिक सारवान होती है। सुवर्णाध्यक्ष के कार्यो के उल्लेख मे 'विशिखा' शब्द आया है। यह शब्द बहुत महत्त्व का है। वर्तमान सराफे का नाम विशिखा है। ऐसा श्री उदयवीर शास्त्री जी का मत है। यह शब्द चरकसहिता मे (सू अ २९।९ में) तथा सुश्रुत मे (सू अ. १०

अवलोकितेश्वर

तारा देवी

मे) आता है, वहाँ इसका अर्थ गली (रथ्या) किया गया है[1]। शुद्ध सोने की पहचान मे स्वर्ण कमल के पराग के समान रगवाला, मृदु, स्निग्ध और शब्द रहित श्रेष्ठ बताया गया है।

इस अर्थशास्त्र का कुप्य शब्द चन्दन आदि की बढिया लकडी बाँस तथा छाल आदि के लिए आता है (अनुवादक श्री उदयवीर जी शास्त्री)। कुप्याध्यक्ष को चाहिए कि भिन्न-भिन्न स्थानो के वृक्षो तथा जगलो की रक्षा करनेवालो से बढिया लकड़ी मँगवाये। इन लकडियो मे सागून, तिनिश, धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, साल, शिशप, अरिमेद, राजादन, शिरीष, खदिर, सरल, ताल, सर्ज, अश्वकर्ण, सोमबल्कल, कश (बब्बूल—इसी से कसना शब्द बना है); आम; प्रियक, धव आदि है। ये सब आयुर्वेद मे चिकित्सा कार्य में वर्णित है।

इसी प्रकार कालकूट, वत्सनाभ, हालाहल, मेषशृगी, मुस्ता, कुष्ठ, महाविष, वेल्लितक, गौरार्द्र आदि विषो का उल्लेख है। इसके आगे तोल का उल्लेख है। तोल के लिए जो बटखरे बनाये जायँ वे मगध या मेकल देश मे उत्पन्न होनेवाले पत्थर के बनाने चाहिए (इसी से आज भी गया की पत्थर की खरलें, तामडा पत्थर या उडदिया पत्थर की अच्छी मानी जाती है)।

नागरिक का कर्त्तव्य बताते हुए (नगर की रक्षा करनेवाला नागरिक) कौटिल्य ने कहा है कि 'जो पुरुष हथियार आदि से लगे हुए घावो की चिकित्सा छिपाकर करता है या रोग अथवा जनपदोध्वसक रोगो को फैलानेवाले द्रव्यो का छिपकर उपयोग करता है, इनकी चिकित्सा करनेवाला चिकित्सक यदि गोप या स्थानिक को इनके सम्बन्ध मे सूचना दे देता है, तो वह अपराधी नही समझा जा सकता। परन्तु यदि चिकित्सक सूचना न दे उसे भी अपराधी की भाँति समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस घर में ये कार्य होते हो, उसके मालिक को भी चिकित्सक की भाँति सूचना देनी चाहिए और यदि वह न दे तो उसे भी दोषी समझे (प्रकरण ५६।११)।

---

१ विशिखा शब्द का अर्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकार श्री शास्त्री उदयवीर जी ने 'स्वर्ण का व्यापार करनेवाले व्यापारियों का बाजार' किया है। जो ठीक भी है। श्री डाक्टर वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने बताया है कि बाण ने कादम्बरी के उज्जयिनी-वर्णन में और कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी के वर्णन में सर्राफे का ही चित्र खींचा है। सब बाजारों में सर्राफा का महत्व सबसे अधिक है। इस बाजार से ही देश की

कुष्ठ और उन्माद के रोगियो के विषय में चिकित्सक तथा उनके समीप में रहनेवाले व्यक्ति प्रमाण होते है। नपुसक के विषय में स्त्रियाँ, मूत्र में झाग न उठना; पानी में विष्ठा का डूब जाना प्रमाण है (प्रक. ७२।१२)।

महामारी को फैलने से रोकने के उपाय—वर्षा के बन्द हो जाने पर इन्द्र, गंगा, पहाड, और समुद्र की पूजा करवाये। औपनिषदिक उपायो (आगे १४वें अध्याय में कथित) से कृत्रिम व्याधियो का (जो कि इन औपनिषदिक तथा अन्य रूप से पैदा की जाती हैं) प्रतीकार करे। स्वाभाविक-प्राकृतिक व्याधिभय का वैद्य चिकित्सा के द्वारा तथा सिद्ध, तपस्वीजन शान्ति कर्म और प्रायश्चित्त आदि से दूर करें। मरक (संक्रामक) व्याधियों को दूर करने के लिए भी यही उपाय काम में लाना चाहिए (प्रकरण ७८।२०)।

पशुओ में महामारी फैलने पर स्थान-स्थान पर शान्ति कर्म तथा पशुओं के अपने-अपने देवता की हाथी के लिए सुब्रह्मण्यम्; घोडे के लिए अश्विनी, गाय के लिए पशुपति; भैस के लिए वरुण, बकरी के लिए अग्नि; आदि की पूजा कराये।[1]

सर्प का भय होने पर मत्र और औषधियो के द्वारा विषवैद्य उनका प्रतीकार करे, अथवा नगरनिवासी मिलकर उसे मार डालें, अथवा अथर्ववेद को जाननेवाले पुरुष अभिचार-क्रिया से साँप को मार दें। पर्वपर नागपूजा कराये (प्रकरण ७८।५०)।

आशु मृतक परीक्षा—अर्थशास्त्र का यह प्रकरण अद्यतन जूरिस प्रूडैन्स से सम्बन्धित है। इसमें मृत शरीर की परीक्षा, तथा मृत्यु के कारण, शव को सुरक्षित रखने के उपाय बताये गये है। यथा—

आशु मृतक व्यक्ति (जो सहसा मृत हुआ हो) के शरीर को तैल में डालकर (रखकर) परीक्षा करे (तैल में रहने से वह सड़ता नही)। जिसका मूत्र निकल गया हो, मल निकल गया हो, पेट खाली हो, हाथ पैरो पर सूजन आयी हो, आँखें फटी हो (बाहर निकली हो), गले मे निशान हो तो समझना चाहिए कि गला घोटकर मारा गया हो।

यदि इसकी बाहें और टाँगें सिकुडी हुई हो तो समझना चाहिए कि इसे लेटा कर फाँसी दी गयी है। यदि हाथ-पैर और पेट फूला हो, आँखें अन्दर में धँसी हों। नाभि ऊपर को उठी हो तो समझना चाहिए कि इसे शूली पर चढाकर मारा गया है।

---

१. तुलना कीजिए, सुश्रुत. सू. अ. ६।१९-२०।

जिसकी गुदा और आँख बाहर निकल गयी हो, जीभ कट-सी गयी हो, पेट फूला हो; उसे पानी में डुबोकर मारा समझना चाहिए।

जो खून से भीगा हो, शरीर के अवयव टूट-फूट गये हो उसे लाठियो और रस्सियो से मारा समझना चाहिए। जिसका शरीर जगह-जगह से फट गया हो उसे मकान से गिरकर मरा समझना चाहिए। जिसके हाथ पैर, दाँत, नाखून, कुछ काले पड गये हो, मास, रोएँ और खाल छिन्न हो गये हो, मुख से झाग आती हो, उसे जहर देकर मारा समझना चाहिए।

यदि लक्षण ऊपर के समान ही हो, परन्तु किसी कटे हुए स्थान से रक्त निकल रहा हो तो समझना चाहिए कि इसे साँप ने या किसी विषैले कीडे ने काटा है। जिसने अपने वस्त्र इधर-उधर बिखेर-से रखे हो तथा जिसे कै और दस्त बहुत आये हों उसके विषय में धतूरा आदि उन्मादक वस्तुओ का सन्देह करना चाहिए।

विष से मरे व्यक्ति के विषय में बचे हुए खान-पान की परीक्षा करनी चाहिए (यह परीक्षा पक्षियो से—'वयोभिः' पाठ भी है—करानी चाहिए)। पेट में अन्न का सर्वथा परिपाक होने पर हृदय का (मेरे विचार मे आमाशय के नीचे भाग का, जिसके लिए आजकल कार्डिक औरीफिक शब्द बरता जाता है, क्योंकि यह हृदय के पास रहता है) कुछ हिस्सा काटकर उसे अग्नि मे डाले; इसमे से यदि चिट-चिट शब्द आये एव वर्षाकालिक इन्द्रधनुष के समान नीला लाल रग दिखाई दे तो इसको विषयुक्त समझे। जलाये हुए पुरुष के अधजले हृदय प्रदेश को देखकर या मृत व्यक्ति के नौकरों को वाक्पारुष्य तथा दण्डपारुष्य से पीडित करके विष देनेवाले का पता लगाना चाहिए।

इस सारे प्रकरण मे (८३वाँ प्रकरण) मृत्यु के कारणो को पता लगाने तथा मारने-वाले व्यक्ति के लक्षण, उसके स्वभाव का चित्रण स्पष्ट रूप से मिलता है।

औपनिषदिक अधिकरण—श्री उदयवीर जी शास्त्री के अनुसार औषधि और मत्रो के रहस्य को उपनिषद् कहते है (क्योकि ये दोनो बातें गुरु के समीप में रहकर ही सीखी जाती है—लेखक), इनके लिए यह प्रकरण है। इसमे परघात प्रयोग, प्रलम्भन में (औषधि और मंत्रो के द्वारा भूख, प्यास नष्ट करने या आकृति बदलने से शत्रु को ठगना, प्रलम्भन है) अद्‌भुतोत्पादन एवं प्रलम्भन मे भैषज्य मन्त्र प्रयोग दो प्रकरण पृथक्-पृथक् है। इनके बाद इन उपायो का प्रतिकार बताया गया है।

इन प्रयोगो में भिन्न-भिन्न औषधियो का, पशु-पक्षियो का सहयोग लिया गया है। चरकसहिता तथा अन्य ग्रन्थो मे विरुद्ध अन्न-पान विषय में इस प्रकार की जानकारी दी गयी है (चरक चि. अ २६; सग्रह. सू अ. ८ में)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे यह विषय राजनीति की दृष्टि से आया है। निशान्त प्रणिधि तथा आत्मरक्षा प्रकरण आयुर्वेद से बहुत अधिक मिलते है। इनमें राजा की रक्षा विषप्रयोग से विशेष रूप मे बतायी गयी है। इन्ही विष प्रयोगो का एक रूप विषकन्या भी है, जिसका उपयोग चाणक्य ने पर्वतेश्वर के मारने में किया था।

विषकन्या—का अर्थ विषमयी कन्या से है। इस कन्या के निर्माण मे विशेष उपाय किये जाते थे। [illegible]—जिससे इसको हानि न हो, देना प्रारम्भ करते है। यह विष धीरे-धीरे कन्या के लिए सात्म्य बन जाता है। धीरे-धीरे इसकी मात्रा बढाते जाते है। अन्त मे इसकी मात्रा यहाँ तक पहुँचा देते है, जो कि सामान्यत दूसरो के लिए घातक हो जाती है। जिस प्रकार कि विषैला कीडा अपने विष से नही मरता उसी प्रकार यह कन्या भी इन विष से नही मरती, न इसको कोई हानि होती है। कीडे का विष दूसरे के लिए घातक होता है, उसी प्रकार यह कन्या भी दूसरो के लिए विषमय होती है (आजकल हौर्स सीरम बनाने की भी यही विधि है, इसी विधि से सर्प विष की चिकित्सा के लिए 'एन्टीवीनम' बनता है)। यह विष कन्या के सब अग-प्रत्यगो मे व्याप्त हो जाता है, जिससे जूँ, खटमल आदि जन्तु मर जाते है। पुष्पो की माला त्वचा के सम्पर्क से जल्दी मुर्झा जाती है। यह सामान्य परीक्षा है।[1] [यदल्पमल्प क्रमतो निषेवित विष च जीर्णं समुपैति नित्यश। ततस्तु सर्वं न निबाध्यते नर दिनैर्भवेत्सपृभिरेव सात्म्यकम्—कल्याण कारक]

इसलिए चाणक्य ने राजा के लिए सूचना दी है—

अन्तर्गृहगत. स्थविरस्त्रीपरिशुद्धां देवीं पश्येत्। न कांचिदभिगच्छेत्॥ २७।२२।

---

१. आजन्मविषसंयोगात् कन्या विषमयीकृता।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत् परीक्षणम्॥
तन्मस्तकस्य संस्पर्शात् म्लायते पुष्पपल्लवौ।
शय्याया मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभिः स्नानवारिणा॥
जन्तुभिर्म्रियते ज्ञात्वा तामेवं दूरतस्त्यजेत्॥
न च कन्यामविदिता संस्पृशेदपरीक्षिताम्।
विविधान्कुरुते योगान्कुशलाः खलु मानवाः॥ (संग्रह. सू. अ. ८।)

२. विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाद् जह्यादसून्नरः॥ (सुश्रुत. क. अ. १.)

अन्त पुर में जाकर राजा अपने निवास के ही मकान में विश्वस्त वृद्ध परिचारिका से परीक्षा की हुई देवी राजमहिषी को देखे। किसी रानी को लक्ष्य करके स्वयं ही उसके स्थान पर न जाय।

अशोक द्वारा किये गये आयुर्वेद कार्य—मौर्यवश मे दो ही प्रतापी राजा विशेषत: मुख्य है—एक चन्द्रगुप्त और दूसरा अशोक। चन्द्रगुप्त के राज्य की जानकारी कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर मिलती है। अशोक के राज्य शासन की जानकारी उसके शिलालेखो से होती है। इन शिलालेखो मे लोगो के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जो उसने अपनी आज्ञाओ मे सूचनाएँ उत्कीर्ण करायी है, वे आज भी हमारे गौरव की बात है।

अशोक के मानव-कल्याण के कार्यों मे—

१ पशुवध बन्द करना—अशोक ने धीरे-धीरे अपनी रसोई में शाक को छोड़कर सब पाक बन्द कर दिये और स्वय निरामिष हो गया (प्रथम शिलालेख में)।

२ दूसरे शिलालेख के अनुसार अशोक ने मनुष्य और पशुओ दोनो की चिकित्सा का प्रबन्ध सारे राज्य में किया, इसके लिए देश-विदेश मे अस्पताल बनाये। इस प्रकार चिकित्सा सम्बन्धी प्रबन्ध दक्षिण के पडोसी राज्यो मे चोलों, पाड्य, सात्मि पुत्रो, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी (सिहलन्) तथा यवन राज्यो मे किया (दूसरे और तेरहवे शिलालेख मे)।[1]

३ अशोक ने प्रत्येक आधे कोस पर कूप और विश्रामगृह बनवाये।

४ जहाँ पर औषधियो के पौधे नही थे, वहाँ पर दूसरे स्थानो से पौधे मँगवाकर लगवाये। मनुष्य और पशुओ के लिए ([illegible]) उसने वट वृक्ष और आम्रवन लगवाये।

५ दूतो को उसकी ओर से परार्थ कार्य के सम्पन्न करने की भी हिदायत कर दी गयी थी, जिससे सम्राट् प्राणियो के प्रति अपने ऋण से मुक्त हो सके (प्राचीनभारत का इतिहास—डाक्टर त्रिपाठी)।

मौर्य शासन चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारभ होता है, इसने ३२१ से २९७ ई० पू० तक राज्य किया, इसके पीछे इसके पुत्र बिन्दुसार ने २९७ से २७२ ई० पूर्व तक राज्य किया। विन्दुसार का पुत्र अशोक हुआ, जिसने अपने दूसरे भाइयो को मारकर राज्य प्राप्त किया। इसका राज्यकाल २७२ से २३२ तक चालीस वर्ष का है। इसके आगे

---

१. स्कन्दपुराण में तथा अन्य पुराणो में आरोग्यदान का बहुत महत्त्व बताया गया है; जैसा कि हम पहले लिख चुके है।

कुणाल, दशरथ आदि राजा हुए। अन्तिम राजा बृहद्रथ था—जिसका राज्यकाल १९१ से १८४ ई० पू० है। इनमें प्रतापी सम्राट् अशोक ही हुआ, जिसने अपने राज्य का विस्तार किया, और फिर स्नेह तथा प्रेम से शासन किया। यह प्रेम का शासनभाव कलिंग की विजय के पीछे अशोक में आया था।

मान—कलिंग पूर्व का बन्दरगाह था। पूर्व का सब व्यापार जो समुद्री रास्ते से होता था, वह सब कलिंग बन्दर ताम्रलिप्ति से होता था। इसलिए यह एक स्वतंत्र बलिष्ठ राज्य था। मान के विषय में कहा जाता है कि मान का प्रारम्भ, नाप-तोल के बट्टो का प्रारम्भ, नन्द से हुआ है ('नन्दोपक्रमणिमानानि'–पाणिनिसूत्र २।४।२१) उदाहरण में नन्दोपक्रमण' शूर्य, नन्दोपक्रमण द्रोण, काशिका में उदाहरण दिये हैं; शूर्य और द्रोण दो माप है। शूर्य परिमाण पर ही आज छाज का व्यवहार देहात में होता है। देहातों में भार, छाज, गोणी शब्द आज भी एक मान को बताते है। गोणी से अभिप्राय गधे, टट्टू या बैल पर लादनेवाली बोरी से है, जिसमे अनाज भरते हैं। इसको कुम्हार या गडेरिये ऊन से बनाते है। इसका एक निश्चित मान लम्बाई-चौड़ाई का होता है। भार भी इसी प्रकार एक वजन है। खेतो मे गेहूँ आदि अनाज कट जाने पर इसके भार बाँधे जाते हैं। इनमें से एक-एक भार काटनेवाले को दिया जाता है। यह भार प्राचीनकाल में अन्दाजे से तोल में बँधते थे। वही शब्द तोल सख्यक आज देहातो में चलता है, यही बात शूर्य-छाज के साथ है, यह भी तोलवाची है)।

प्राचीन काल में मगध और कलिंग ये दो मान इन दोनो राज्यो के कारण प्रसिद्ध थे जैसा कि हम पूर्व पृष्ठो पर लिख चुके है। इनमे श्रेष्ठता की कल्पना (मगध मान श्रेष्ठ बताया गया है) पीछे की है। वास्तव मे कोई भी मान न श्रेष्ठ है और न कम है। नन्द का राज्य बहुत विस्तृत था, इसलिए माप-तोल के लिए बटखरो का प्रारम्भ नन्द ने किया, तभी से मागध मान प्रसिद्ध हुआ। कलिंग जनपद स्वतन्त्र था, इसलिए उसकी परम्परा अलग से चलती रही (डाक्टर अग्रवाल का पाणिनि कालीन का भूगोल)।

पशु चिकित्सा—हाथियो के सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि जहाँ अधिक गरमी हो वहाँ हाथियो को न ले जाय क्योकि इनका पसीना बाहर न निकलने से इनमें कुष्ठ हो जाता है। पानी में न नहाने से, पर्याप्त जल न पीने से अन्दर का दाह बढ़कर इनको अन्धा कर देता है (हस्तिनो ह्यन्त. स्वेदा. कुष्ठिनो भवन्ति। अनवगाहमानास्तोयमपिबन्तश्चान्तरवक्षाराच्चान्धी भवन्ति ॥ अभि॰॰ास्य कर्म. ९।४८-४९)।

मिनाण्डर और मिलिन्द प्रश्न

मौर्य सम्राटो की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होने लगी थी। अशोक के पीछे कोई भी प्रतापी राजा नही हुआ। ऐसी स्थिति म पास के पडोसी राजाओ ने भारत पर आक्रमण किया। इनमे मुख्य आक्रान्ता मिनाण्डर था (जिसका पाली नाम मिलिन्द है)। इसकी राजधानी साकल (वर्त्तमान स्यालकोट) थी। मिनाण्डर यवन था, इसके आक्रमण के समय मगध की गद्दी पर पाटलिपुत्र मे पुष्यमित्र राजा था। वह शुग वश का था। इसके समय में महा भाष्यकार पतञ्जलि हुए है। उन्होने अपने महाभाष्य में 'जिन यवनो का निर्देश किया है, वह इनके लिए ही है, यथा—'अरुणद् यवन माध्यमिकाम्', 'अरुणद् यवनो साकेतम्'। 'माध्यमिका' नामक गाँव मथुरा के पास है। यह सम्भवत प्राचीन मुख्य नगर था, जिसे मिनाण्डर ने जीता था। इसी प्रकार से साकेत, अयोध्या को जीता था। इसके आगे ये नही बढे। गार्गीपुराण में भी मथुरा और पचाल देश जीतने का उल्लेख है। यह समय सम्भवत. ईसा से प्रथम शती पूर्व का है।

साकल नगर मद्र देश मे था। मद्र देश का उल्लेख महाभारत और छान्दोग्य उपनिषद् (३ ३१; ७।१) मे है। पाण्डवो का मामा शल्य मद्र देश का ही था। मद्र देश चिनाब और रावी के बीच में स्थित था। सिकन्दर ने यही पर दूसरे पौरव को पाया था; प्रथम पौरव जिसके साथ उसका सग्राम हुआ था उसका राज्य जेहलम और चिनाब के बीच के द्वाबे मे था, जिसकी सीमा इससे छूती थी। शाकल दो बार विदेशियो के हाथ में गया—एक बार सिकन्दर के समय और दूसरी बार मिनाण्डर के समय। मौर्य सम्राटो की शक्ति के क्षीण होने के साथ भारतवर्ष की पश्चिम सीमा कमजोर हो गयी थी। काबुल, पुष्कलावती, तक्षशिला के प्रान्त यवनो के (इन्डोग्रीक, भारत यूनानी) हाथो में चले गये थे।

मिनाण्डर के राज्य के विस्तार का पता बहुत कुछ उसके सिक्को से चलता है। इसके सिक्के काबुल से लेकर मथुरा-बुन्देलखण्ड तक पाये गये हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि भडौच तक उसके सिक्के ईसा की प्रथम शती के तीसरे चरण तक चलते थे। उत्तर में कश्मीर में सिक्के मिले है। सिक्को पर राजा की शकल बहुत सुन्दर आयी है; लम्बी नाक के साथ मूर्त्ति बडी ही सजीव मालूम पडती है। कुछ सिक्कों पर शकल तरुण अवस्था की है और कुछ पर वृद्धावस्था की। इससे पता चलता है कि इसका राज्यकाल बहुत लम्बा था। सिक्को के एक तरफ ग्रीक भाषा में और दूसरी

और पाली भाषा मे अभिलेख है, (महरजस तद्रतस मेनन्द्रस)। कुछ सिक्को पर दौडते घोडे, ऊँट, हाथी, सूअर, चक्र या ताड के पत्ते खुदे है। चक्रवाले सिक्को से यह प्रमाणित होता है कि यह बौद्ध था। एक सिक्का जो मिला है, उसमे एक तरफ पाली मे 'महरजस धर्मिकस मेनन्द्रस' लिखा है। धर्मिकस शब्द धार्मिकस्य का पाली रूप है। इससे स्पष्ट है कि वह बौद्ध था (श्री जगदीश काश्यप)। यह राजा बहुत न्यायी था। इसके फूलो (भस्मावशेष) पर बडे-बडे स्तूप बनवाये गये।

सागल (साकल, स्यालकोट) नगर का वर्णन—यवनो का वाणिज्य व्यवसाय का केन्द्र सागल नाम का एक नगर था। वह नगर नदी और पर्वतो से शोभित रमणीय भूमि भाग मे बसा, आराम, उद्यान, उपवन, तडाग, पुष्करिणी से सम्पन्न, नदी, पर्वत और वन से अत्यन्त रमणीय था*। उस नगर का निर्माण दक्ष कारीगरो ने किया था। अनेक प्रकार की विचित्र दृढ अटारी और कोठे थे। नगर का सिहद्वार विशाल और सुन्दर था। भीतरी गढ, गहरी खाई और पीले प्राकार से घिरा हुआ था। सडक, आँगन और चौराहे सभी अच्छी तरह बँटे थे। दुकाने अच्छी तरह सजी-सजाई और बहुमूल्य सौदो से भरी थी। जगह-जगह पर अनेक प्रकार की सैकडो सुन्दर दानशालाए बनी थी। यह नगर सभी प्रकार के मनुष्यो से गुलजार था। बडे-बडे विद्वानो का केन्द्र था। काशी-कोटूम्बर आदि स्थानो के बने कपडो की बडी-बडी दुकाने यहाँ पर थी। सभी प्रकार के धन-धान्य और उपकरणो से भण्डार कोष-पूर्ण था। उत्तर कुरु की तरह उपजाऊ और आलकनन्दा देवपुर की भाँति शोभा सम्पन्न यह नगर था।

जिस प्रकार गगा नदी समुद्र से जा मिलती है, उसी प्रकार सागल नामक उत्तम नगर में राजा मिलिन्द (मिनान्दर) नागसेन के पास गया। अन्धकार को नाश करनेवाले, प्रकाश को धारण करनेवाले तथा विचित्र वक्ता (नागसेन के पास) राजा ने जाकर अनेक विषयो के सम्बन्ध में सूक्ष्म प्रश्न पूछे।

जो प्रश्न पूछे गये उनको लेकर ही मिलिन्द प्रश्न नामक ग्रन्थ की रचना हुई है। इन प्रश्नो का उत्तर अभिधर्म, विनय, सूत्रो के अनुकूल, उपमाओ तथा न्यायो से दिया

*** आराम, बडे-बड़े बाग, उद्यान, फुलवाड़ी, उपवन, बगीचा, छोटा बाग—जहाँ पिकनिक के लिए जाते है। काशी में इनके लिए बगीची शब्द चलता है। तडाग, कहीं खोदे हुए या पक्के बने बड़े-बड़े तालाब, पुष्करिणी, छोटे तालाब जिनमें सीढियाँ हों, जो घर के समीप या उसमें ही होती है।**

गया है। इनमे से आयुर्वेद या चिकित्सा से सम्बन्धित प्रश्न और उनका उत्तर यहाँ पर दिया गया है।[1]

स्वप्न के विषय में—भन्ते नागसेन! सभी स्त्री-पुरुष स्वप्न देखते है, अच्छे भी बुरे भी, पहले का देखा हुआ भी और पहले का नही देखा हुआ भी, पहले का किया हुआ भी और पहले का नही किया हुआ भी, शान्ति देनेवाला भी और घबडा देनेवाला भी, दूर का भी और निकट का भी और भी अनेक प्रकार के, हजारो तरह के। यह स्वप्न है क्या चीज? कौन इनको देखता है?

महाराज! स्वप्न चित्त के सामने आनेवाली निर्देश-सूचना (निमित्त-काश्यप) है। महाराज छ प्रकार के स्वप्न आते है—१ वायु भर जाने से स्वप्न आता है, २ पित्त के प्रकोप से, ३ कफ बढ जाने से स्वप्न आते है, ४ देवताओ के प्रभाव मे आकर स्वप्न आते है, ५ बार-बार किसी काम को करते रहने से उसका स्वप्न आता है, ६. भविष्य मे घटनेवाली बातो का भी कभी-कभी स्वप्न आता है। महाराज इन छ मे जो अन्तिम भविष्य मे होनेवाली बातो का स्वप्न आता है, वही सच्चा होता है, बाकी दूसरे झूठ (पृष्ठ ३६५)। गाढी नीद के हलकी हो जाने पर जो एक खुमारी की-सी अवस्था होती है उसीमे स्वप्न आते है। चित्त के काम करने पर स्वप्न आते है।

(इसकी तुलना कीजिए—"नातिप्रसुप्न पुरुष स्वप्नफलानफलास्तथा। इन्द्रियेण मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा॥ दृष्ट श्रुतानुभूत च प्रार्थित कल्पित तथा। भाविक दोषज चैव स्वप्न सप्तविध विदु॥ तत्र पञ्चविध पूर्वमफलभिषगादिशेत्॥ चरक इ अ ५।४२, ४३, भाविकम्-भाविशुभाशुभफलसूचकम्, दोषजम्-उल्वणवातादि-दोपजन्यम्—चक्रपाणि)।

इसके आगे दर्पण का उदाहरण देकर स्वप्न को नागसेन ने समझाया है (३६५-३६८)।

काल मृत्यु और अकाल मृत्यु—भन्ते नागसेन! जितने जीव मरते है, सभी काल मृत्यु से ही मरते है या कुछ अकाल से (जिन्दगी पूरा होने के पहले ही) भी?

महाराज! कुछ काल मृत्यु से भी और कुछ अकाल मृत्यु से भी।

भन्ते नागसेन! कौन कालमृत्यु से मरते है और कौन अकाल मृत्यु से?

---

१. यह विषय श्री जगदीश काश्यप की पुस्तक 'मिलिन्द प्रश्न' के आधार पर है।

(नागसेन ने अनेक उदाहरण देकर महाराज को यह बात समझायी। यथा—फल पकने पर और पहले भी गिर जाते है)।

महाराज ! क्या आपने देखा है कि आम के वृक्ष से, जामुन के वृक्ष से, या किसी दूसरे फल के वृक्ष से फल पक जाने पर भी गिरते है और पकने के पहले भी ?

हाँ, भन्ते देखा है।

महाराज ! वृक्ष से जो फल गिरते है, वे सभी काल से ही गिरते है, या अकाल से भी ?

भन्ते ! जो फल पक कर और बढकर गिरते है वे काल से गिरते है; किन्तु जो कीड़ा खा जाने, लाठी चलाये जाने, आँधी, पानी या भीतर ही भीतर सड़ जाने से गिरते है, वे अकाल से गिरते हैं।

महाराज ! इसी तरह जो पूरे बूढे होकर मरते है, वे काल मृत्यु से मरते है और जो अपने कर्म के कारण, बहुत चलने-फिरने के कारण, या काम के अधिक भार रहने के कारण मरते है उनकी अकाल मृत्यु समझनी चाहिए (तुलना कीजिए—"एव वादिनं भगवन्तमग्निवेश उवाच—किन्तु खलु भगवन्! नियतकालप्रमाणमायु सर्वं नवेति। त भगवानुवाच—इहाग्निवेश—भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते। २ तस्मादुभयतृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु। निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्याम ।। वि अ. ३।३३—३८; कालाकालमृत्य्वोस्तुखलु भावाभावयोरिदमध्यवसित न—"य कश्चिन् म्रियते स काल एव म्रियते, नहि कालच्छिद्रमस्ति" इत्येके भाषन्ते, तच्चासम्यक्। २—लोकेऽप्येतद् भवति—काले देवो वर्षति अकाले देवो वर्षति, काले शीतमकाले शीत; काले तपत्यकाले तपति, काले पुष्पफलमकाले पुष्पफलमिति। तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च, नैकान्तिमत्र ।। शा अ ६।२८)।

सात कारणो से अकाल मृत्यु—१. भोजन न मिलने से, २. पानी न मिलने से; ३. साँप का काटा आदमी योग्य उपचार न मिलने से, ४ जहर दिया आदमी उचित औषध न मिलने से, ५ आग मे पडा आदमी, ६ पानी मे डूबा आदमी, ७. तीर लगा आदमी अच्छा वैद्य न मिलने से घाव के कारण मर जाता है।

मृत्यु के आठ कारण—महाराज ! जीव आठ प्रकार से मरते है—१. वायु के उठने से, २ पित्त के बिगड जाने से; ३. कफ के बढ़ जाने से, ४. सन्निपात हो जाने से; ५ मौसम के बिगड जाने से (तुलना कीजिए—हेतुस्तृतीय परिणामकाल—चरक. शा. अ. २।४०), ६. रहन-सहन मे गडबड होने से (तुलना कीजिए—प्रज्ञापराधो विषमास्तथाऽर्था—शा. अ २।४०); ७ किसी भी बाहरी कारण से;

८. कर्म फल के आने से, (तुलना कीजिए—१ जितेन्द्रिय नानुतपन्ति रोगास्तत्काल-युक्त यदि नास्ति दैवम्।। २।४२, २ निर्दिष्ट दैव शब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते।। चरक. शा. अ. १।११६)।

व्रण-चिकित्सा—हिंसा को समझाते हुए नागसेन ने कहा कि "कल्पना करो कि एक व्रण की चिकित्सा करते हुए एक अनुभवी वैद्य और शल्य चिकित्सक तेज गन्धवाली और काटनेवाली खुरदरी मलहम का लेप कर देता है, उससे व्रण की सूजन मिट जाती है; कल्पना करो कि वह उस व्रण को नश्तर से चीर देता है और क्षार से जला देता है। इसके पीछे वह इसको किसी क्षारीय द्रव से धुलवा कर एक लेप लगा देता है, जिससे अन्त में घाव भर जाता है; और वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।

हे राजन्! अब बताओ, क्या चिकित्सक ने मलहम का लेप, नश्तर से चीरना, क्षार से जलाना, क्षार से धोना, यह सब कार्य हिंसा से प्रेरित होकर किये थे।

इसके आगे भन्त नागसेन ने राजा को प्यासे, आग की ढेरी; भारी मेघ, साँप का विष, तीर का निशाना, थाली की आवाज़, धान की फसल, आदि की उपमा देकर काल मृत्यु और अकाल मत्यु को समझाया। ("भन्ते नागसेन! आश्चर्य है, अद्भुत है! आपने कारणो को अच्छा दिखाया है। अकाल मृत्यु होती है, इसे प्रमाणित करने के लिए कितनी उपमाएँ दी। अकाल मृत्यु होती है, इसे साफ़ कर दिया।' (पृष्ठ ३७९)।[1]

वैद्य की शिक्षा—सुश्रुत में चिकित्सा कर्म की शिक्षा के विषय में एक अध्याय है (योग्यासूत्रीय)। इसका अभिप्राय क्रियात्मक शिक्षा में शिष्य को निपुण करना है, क्योंकि बहुत श्रुत होने पर भी कर्म में अयोग्य होता है।

इसी बात को भदन्त नागसेन ने उपमा रूप में कहा है—

'महाराज! कोई वैद्य या जर्राह पहले किसी गुरु को खोजकर उसके पास जाता है। फिर उसे अपनी सेवाएँ देकर या वेतन देकर सारी विद्या सीखता है—छुरी कैसे पकड़ी जाती है, कैसे चीरा जाता है, कैसे निशान लगाया जाता है; कैसे छुरी चलायी जाती है, चुभे हुए को कैसे निकाला जाता है; घाव को कैसे धोना चाहिए; उसे कैसे सुखाना चाहिए, उस पर कैसे मलहम लगाना चाहिए, रोगी को कैसे उलटी कराना चाहिए; कैसे जुलाब देना चाहिए, कैसे रसायन देना चाहिए। उसकी शिष्यता में

---

१. 'सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः।'—वा.रा. ५।२८।३; 'ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते'—(वा. रा. २।२०।५१.)

सब बाते सीखने के पीछे ही वह स्वतत्र रूप से किसी रोगी का इलाज अपने हाथ में लेता है (पृष्ठ ४३४)।

वेदनाओ का मूल क्या है ? अग्निवेश ने भी अत्रिपुत्र से पूछा था कि "कारण वेदनाना कि—शा अ १।१३, इसका उत्तर अत्रिपुत्र ने दिया है "धीधृतिस्मृति-विभ्रश सप्राप्ति कालकर्मणाम्। असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दु ख हेतव ।।" शा अ १।९८। बुद्धि-भ्रश, धृति-भ्रश, स्मृति-भ्रश, काल-सम्प्राप्ति, कर्म-सप्राप्ति, असात्म्यार्थ सयोग ये दु खो के कारण है। इसी को भन्त नागसेन तथा मिलिन्द के प्रश्न उत्तर मे देखते है—

'भन्ते ! बिना कर्मो के रहे सुख या दु ख नही हो सकता। कर्मों के होने से ही सुख और दु ख होते है। यह भी एक दुविधा आपके सामने रखी गयी है, इसे खोलकर समझाये।

नही, महाराज ! सभी वेदनाओ का मूल कर्म ही नही है। वेदनाओ के होने के आठ कारण है। वे आठ कौन से है ? (१) वायु का बिगड़ जाना, (२) पित्त का प्रकोप होना, ३ कफ का बढ जाना, ४ सन्निपात दोष हो जाना, ५ ऋतुओ का बदल जाना, ६ खाने-पीने मे गडबड होना, ७ बाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव और ८ अपने कर्मों का फल होना, इन आठ कारणो से प्राणी नाना प्रकार के सुख-दु ख भोगते है। महाराज ! जो ऐसा मानते है कि कर्म के ही कारण लोग सुख-दु ख भोगते है, इसके अलावे कोई दूसरा कारण नही है, उनका मानना गलत है।

महाराज ! यदि सभी दु ख कर्म के कारण उत्पन्न होते है, तो उनको भिन्न-भिन्न प्रकारो मे नही बाँटा जा सकता। महाराज ! वायु बिगडने के दस कारण होते है, १ सर्दी, २ गर्मी, ३ भूख, ४. प्यास, ५ अति भोजन, ६ अधिक खडा रहना, ७. अधिक परिश्रम करना, ८ बहुत तेज चलना, ९. बाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव, १० अपने कर्म का फल। इन दस कारणो मे पहले नौ पूर्व जन्म या दूसरे जन्म मे काम नही करते, किन्तु इसी जीवन मे काम करते है। इसलिए यह नही कह सकते कि सब सुख और दु ख कर्म के कारण ही होते है।

महाराज ! पित्त के कुपित होने के तीन कारण है—१ सर्दी, २. गर्मी, ३. कुसमय भोजन करना। महाराज—कफ बढ जाने के तीन कारण है, १. सर्दी, २. गर्मी, ३ खीने-पीने मे गड़बडी करना। इन तीनो दोषो मे किसी के बिगडने से खास-खास कष्ट होते है। मूर्ख लोग सभी को कर्मफल से ही होनेवाले समझते हैं। इनके सिवाय पुनर्जन्म (८९ पृ०), काल के विषय मे (६३), संसार की उत्पत्ति और उससे

मुक्ति (पृ० ६५), आत्मा का अस्तित्व प्रश्न (६८), कर्मफल के विषय में (९०); पेट मे कीडे (१२६), कड्वी दवा, गोमूत्र का उपयोग (२१२); आदि विषय सक्षेप से स्थान-स्थान पर आये है ।[1]

भदन्त नागसेन से ही प्रभावित होकर मिनाण्डर बौद्ध बना था और अशोक की भाँति उसने बौद्ध धर्म के प्रचार मे शक्ति लगायी थी ।

दिव्यावदान

अवदान (प्राकृत-अपादन) बौद्ध साहित्य में महायान से सम्बन्धित कथाएँ है । जातको मे भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित कथानक ही है । अवदान मे बुद्ध के अतिरिक्त दूसरो की भी कथाएँ है । ये एक प्रकार से हिन्दुओ के पुराणो की भाँति है । इन कथाओ से मनुष्यो को धर्मोपदेश दिया गया है ।

अवदान शतक' का समय ईसा की दूसरी शती माना जाता है, क्योकि तीसरी शती में इसका चीनी अनुवाद प्राप्त था । यही समय दिव्यावदान का है । अवदान मे बहुत से प्रचलित श्लोक मिलते है । उदाहरण के लिए निम्न श्लोक दिव्यावदान मे दो स्थानो पर आता है—

'त्यजेद् एकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥' (सधनकुमारावदान पृ० ४२५.)

यह श्लोक पचतन्त्र मे भी इसी रूप मे मिलता है (काकोलूकीयम्—८२) । इसी प्रकार से रुद्रायणावदान (पृ० ५३७) मे यही श्लोक इसी रूप मे मिलता है। चूडा-पक्षावदान में (पृष्ठ ४७४) मृत मूषक वणिक् की कथा बहुत प्रसिद्ध है । इस प्रकार से इस अवदान मे पचतन्त्र तथा अन्य देशो मे प्रसिद्ध कथाओ, श्लोको का उल्लेख मिलता है।

पचतन्त्र की रचना गुप्त काल के आसपास मानी जाती है। अवदानो की रचना का काल भी ईसा की दूसरी शती से लेकर चौथी शती के बीच का या इसके आसपास माना गया है। इन कथाओ में कही-कही पर आयुर्वेद सम्बन्धी उल्लेख है। उसके कुछ उदाहरण यहाँ है—

आयुर्वेद सम्वन्धी विषय

ऊर्ध्व गुद रोग—इस रोग का उल्लेख अप्टाग सग्रह मे हुआ है । इस रोग में अर्श,

---

१. ये विषय चरक सहिता और सुश्रुत संहिता में भी मिलते है। चरक संहिता में इनका विस्तार से उल्लेख है।

गुल्म, कफ आदि से रुको वायु ऊपर मुख मे आती है, जिससे मुख में दुर्गन्ध आती है, इसको ऊर्ध्वगुद रोग कहते हैं[1]।

कुनालावदान (२७) मे अशोक को यह रोग होने का उल्लेख है। राजा अशोक ने जब कुनाल को तक्षशिला में भेज दिया तब उसको महान् रोग उत्पन्न हुआ। इसमें उसके मुख से मल आने लगा, सब रोमकूपो से दुर्गन्ध आने लगी, इसकी चिकित्सा न हो सकी। यह देखकर राजा ने कहा—कुनाल को बुलाओ, उसे राज्य सौपूंगा। इस प्रकार की जिन्दगी से क्या लाभ? यह सुनकर तिष्यरक्षिता चिन्ता में पड गयी। उसने सोचा यदि कुनाल को राजगद्दी मिल गयी, तब तो मै मरी। उसने अशोक से कहा—'मै तुमको स्वस्थ करूँगी, किन्तु वैद्यो का आना रोक दो।' राजा ने वैद्यो का आना बन्द कर दिया। अब तिष्यरक्षिता ने वैद्यो से कहा 'यदि कोई व्यक्ति इसी प्रकार के रोग से पीडित आये वह स्त्री या पुरुष हो, उसे मुझे दिखाना। कोई आभीर इसी रोग से आक्रान्त हुआ। उसकी पत्नी ने वैद्य के पास जाकर उसके रोग की चर्चा की। वैद्य ने कहा 'रोगी ही यहाँ आये, रोग देखकर औषधि दूंगा।' पत्नी पति को वैद्य के पास ले गयी। वैद्य उसे तिष्यरक्षिता के पास ले गया। तिष्यरक्षिता ने इसको गुप्त स्थान मे ले जाकर मार दिया। मरने के बाद पेट चीरकर उसने उसके पक्वाशय स्थान को देखा। वहा उसे आन्त्र मे बडा कृमि मिला। जब यह कृमि ऊपर को जाता है तब दुर्गन्ध आती है, नीचे जाने पर नीचे दुर्गन्ध आती है। उसने मरिच पीसकर इस पर डाली, फिर भी यह नही मरा। इसी प्रकार पिप्पली और सोठ पीसकर डाली, (उससे भी इसे कुछ नही हुआ)। फिर बहुत मात्रा में प्याज दी, उसके लगने से कृमि मर गया। मल मार्ग से बाहर निकल गया। उसने यह सब बात राजा से कही, और कहा, 'देव! आप प्याज खाये, आप स्वस्थ हो जायेंगे।' राजा ने कहा—'देवि! मैं क्षत्रिय हूँ, कैसे पलाण्डू खाऊँगा[2]।' देवी ने कहा—'देव! खाना ही चाहिए, जीवन के लिए औषध है।' राजा ने प्याज खायी। वह कृमि मरकर मल मार्ग से निकल गया, राजा स्वस्थ हो गया। राजा ने प्रसन्न होकर तिष्यरक्षिता को वर दिया।[3]

---

१. अधः प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्म कफादिभिः।
यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गन्ध्यं कुर्वन्नूर्ध्वगुदस्तु सः॥—(संग्रह. उत्तर. अ. २५.)

२. "द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्"—राहु के गले से गिरी रक्त के बूंदो से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रसोन लहसुन और पलाण्डु नहीं खाते। (संग्रह. उत्तर. अ. ४९.)

३. दिव्यावदान—(डा० वासुदेवशरण अग्रवाल सम्पादित, पृष्ठ ३८६)।

अत्यग्नि—धर्मरूच्यवदान (१८) मे, श्रावस्ती के एक ब्राह्मण की पत्नी की कथा है। ब्राह्मणी के गर्भवती होने पर उसे अत्यग्नि की शिकायत हो गयी। सब कुछ खा लेने पर भी इसकी तृप्ति नही होती थी। ब्राह्मण दु खी होकर ज्योतिषियो और वैद्यो के पास तथा तत्रविदो के पास गया और उनसे कहा कि आप चलकर देखें कि उसको क्या रोग है अथवा भूत ग्रह प्रवेश है या अन्य मरण चिह्न है। उसके अनुसार ही उपचार करूँ। उन्होने ब्राह्मणी की इन्द्रियो मे कुछ भी वैपरीत्य नही देखा। तब उन्होने ब्राह्मणी से पूछा कि कब से यह शिकायत तुमको हुई। उसने कहा—गर्भवती होने के साथ ही यह शिकायत आरम्भ हुई है। तब ज्योतिषी और वैद्यो ने कहा कि इसको और कोई बीमारी नही, न भूतग्रह प्रवेश है। इसको गर्भावस्था के कारण ही अत्यग्नि है।[1]

कृमि—बुद्ध के उपदेश को बताते हुए कृमि और सूर्य की उपमा दी गयी है। जब तक सूर्य उदय नही होता तभी तक कृमि चमकता है। सूर्य के उदय होने से कृमि भी नही चमकता। इसी प्रकार से जब तक तथागत नही बोलते तभी तक तार्किक जोर दिखाते है, ज्ञानी के बोलने पर न तो तार्किक चूँ करता है और न श्रोता। सब चुप हो जाते है।

गोशीर्ष चन्दन[2]—गुप्तकाल में इस चन्दन की बहुत प्रशंसा है, कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी चन्दन के बहुत से भेदो का उल्लेख है। इनकी पहचान दी गयी है। इसमे गोशीर्ष चन्दन का भी उल्लेख है (गोशीर्षक कालताम्रगन्धि च—२।११।४५)। इसी गोशीर्ष चन्दनवाले एक वणिक् की कथा है। इस गोशीर्षक से राजा का ज्वर शान्त हुआ (अत्रान्तरे सौपीरकीयो राजा दाहज्वरेण विक्लवीभूत। तस्य वैद्यैर्गोशीर्षचन्दनम् उपदिष्टम्। गोशीर्षचन्दनेनासौ राजा स्वस्थीभूत.—पूर्णावदान, पृ० २९)

सुप्रियावदान (आठवाँ, पृ० ९७) मे दिव्य ओषधियो के प्रकरण मे शखनाभी का उल्लेख है। शखनाभी नामौषधी दिवा धूमायते रात्रौ प्रज्वलति)।

अवदान-कथाएँ धर्म का उपदेश करनेवाली है, इनमें आयुर्वेद का विषय उतना ही आता है, जितना सामान्य रूप मे प्रचलित था या आवश्यक था, इसलिए ये संक्षिप्त उदाहरण है।

---

१. देखिए, अत्यग्नि. चरक. चि. अ. १५।२१७-२२८.

२. गोशीर्ष चन्दन की विशेष जानकारी के लिए अत्रिदेव विद्यालंकार की "प्राचीन भारत के प्रसाधन" पृ० १३५ देखें।

छठवाँ अध्याय

कुषाण काल

(२१० ई० पूर्व से १७६ ई० तक)

कनिष्क और चरक संहिता—अशोक के समय में भारत और चीन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। अशोक ने अपने धर्म प्रचारक चीन भेजे थे। चीनियो ने कुछ भारतीय नाम अपना लिये थे। सीता (यारकन्द) नदी के भारतीय नाम को अपनाकर चीनी लोग उसे आज तक सीतो कहते है। तारीम के कोठे मे भारतवर्ष की जनता और सभ्यता बहुत अधिक जम गयी थी, इसलिए प्राचीन इतिहास मे इसे चीन हिन्द (Ser-India) कहते है। इस इलाके मे ऋषिक (यूचि) लोग रहते थे। हूणो से भगाये जाने के कारण ऋषिक लोग धीरे-धीरे हिन्दूकुश के इस पार भी उतरने लगे। कम्बोज देश से हिन्दूकुश के घाटो को पारकर स्वात और सिन्ध की दूनो मे होकर वे सीधे गान्धार की तरफ आ निकले। हिन्दूकुश के दक्खिन उनकी पाँच छोटी-छोटी रियासतें बनी। कुछ समय पीछे कुषाण नाम का एक शक्तिशाली व्यक्ति उनमे सरदार बन गया। उसने बाकी चारो रियासतो को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। पीछे से पह्लवराज्य के कमजोर होने पर उसने समूचे अफगानिस्तान, कपिश, पश्चिमी-पूरबी गान्धार (पुष्करावती, तक्षशिला) को जीत लिया। बलख, कम्बोज तथा चीन हिन्द के कुछ हिस्से पर तो उसका अधिकार पहले ही था। कुषाण को इतिहास में कफ्स कहते है। दीर्घ शासन के बाद अस्सी वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई (अन्दाजन ३० ई० में)।

कुषाण का बेटा विम कफ्स था। कुषाण बौद्ध था और विम शैव था। इसने समूचा पजाब, सिन्ध और मथुरा जीत लिया। इसकी राजधानी बदख्शा थी। इसका राज्यकाल अन्दाजन ३० से ७७ ई० है।

कनिष्क—विम कफ्स का उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ है। उसने खेतान के राजा विजयकीर्त्ति के साथ मिलकर फिर मध्य देश पर चढाई की। उन्होने साकेत (अयोध्या) को घेर लिया और उसके बाद पाटलिपुत्र को भी जीता। यहाँ से कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को अपने साथ ले गया। मध्यदेश और मगध

पूरी तरह कनिष्क के हाथ में आ गये और वहाँ उसके क्षत्रप राज करने लगे। प्रसिद्ध शक सवत् जो ७८ ईसवी मे शुरू होता है, कनिष्क का चलाया हुआ है।

कनिष्क ने प्राय बीस वर्ष राज्य किया। इसी समय (७३-१०२ ई०) चीन के एक सेनापति ने सारे मध्य एशिया को जीतकर बडा साम्राज्य बनाया। कनिष्क को भी चीन-हिन्द मे उस सेनापति से हारना पडा। उसने पुष्करावती से हटकर पुरुषपुर (पेशावर) बसाया और बदख्शा से अपनी राजधानी वहाँ उठा लाया। पेशावर और अन्य स्थानो पर उसने अपने स्तूप, विहार आदि बनवाये। अपनी राजधानी को उसने विद्या का केन्द्र बनाया। महाकवि अश्वघोष के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसकी सभा में थे (डाक्टर त्रिपाठी के अनुसार मातृचेट, नागार्जुन, वसुमित्र, पार्श्व भी थे)। कनिष्क की प्रेरणा से चौथी बौद्ध सगीत कश्मीर में श्रीनगर के पास हुई। उसके सिक्कों पर उसका नाम 'कनिष्क शाहानुशाह' अर्थात् शाहो का शाह लिखा होता है। शको के सरदार शाहि कहलाते थे। (इतिहास प्रवेश, जयचन्द्र विद्यालंकार के आधार पर)।

चरक सहिता

वर्त्तमान उपलब्ध चरक सहिता में (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) मुख्य पृष्ठ पर निम्न वाक्य लिखे मिलते है—

'महर्षिणा पुनर्वसुनोपदिष्टा, तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीता चरकदृढबलाभ्या प्रतिसंस्कृता चरक सहिता'

प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ की पुष्पिका में निम्न वचन मिलते है—प्रथम अध्याय का नाम और नीचे दूसरा वचन—"इति ह स्माह भगवानात्रेय."

प्रत्येक अध्याय की समाप्ति मे पुष्पिका का प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है—

इत्याग्निवेशकृते तन्त्रे चरक सस्कृते...नाम—अध्याय—समाप्त ॥

ग्रन्थ समाप्ति की अन्त.पुष्पिका का यह क्रम चिकित्सा स्थान के चौदहवें अध्याय तक चलता है। पन्द्रहवें अध्याय से यह बदलता है—

इत्यग्निवेश कृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबल सपूरिते नाम अध्याय ॥[1]

---

१. यह क्रम निर्णयसागर की प्रकाशित चरकसंहिता के आधार पर है; कलकत्ता से प्रकाशित पुस्तकों में चिकित्सा स्थान के कुछ अध्यायों में व्यतिक्रम है। इसका विचार आगे किया गया है।

इससे पुस्तक का सम्बन्ध पुनर्वसु, आत्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढबल इन पाँच के साथ आता है। पुनवर्सु और आत्रेय इन दो से एक ही व्यक्ति अभिप्रेत है, क्योकि चरक सहिता में बहुत स्थानो पर "पुनर्वसुरात्रेय" एकत्र पाठ है। यथा, सू अ. २२।१३। पुनर्वसु नाम इनका पुनवर्सु नक्षत्र मे उत्पन्न होने से पडा और आत्रेय नाम अत्रिपुत्र होने से हुआ। शिशु का एक नाम नक्षत्र के ऊपर भी रखने का विधान चरक सहिता मे है (द्वे नामनी [illegible] अ ८।५०)। इसलिए वास्तव मे चार ही व्यक्ति है, जिनका सम्बन्ध वर्त्तमान चरक सहिता से है। आत्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढबल।

आत्रेय गुरु या उपदेष्टा है, और अग्निवेश शिष्य या पूछनेवाला है। सूत्र स्थान के प्रारम्भ मे अग्निवेश के साथी पॉच और भी शिष्य है, यथा—भेल (ड़) जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि। इन छ शिष्यो को आत्रेय ने शाश्वत हेतु लिंग और औषध तीन स्कन्धोवाला आयुर्वेद सिखाया। इन सब ने अपनी-अपनी सहिताएँ बनायी। इनमें मुख्य तत्र अग्निवेश का ही बनाया हुआ था—उसी का अधिक प्रचार हुआ। [illegible] थी, ऋषि के उपदेश मे कोई अन्तर नही था (सू अ ३२)।

आत्रेय ने समान रूप से सबको शास्त्र का ज्ञान कराया था। शास्त्र का ज्ञान उस समय अनेक प्रकार से कराया जाता था। उपनिषद् काल मे ज्ञानप्राप्ति की परिपाटी भिन्न थी। इसमे शिष्य गुरु के आश्रम मे रहकर, उसके समीप बैठकर ही ज्ञान प्राप्त करता था। इसमे ज्ञानदाता ऋषि प्राय शालीन थे—वे शाला बनाकर रहते थे—शिष्य लोग ज्ञानपिपासा से उनके पास पहुँचते थे।

दूसरा ढग ज्ञान देने का बुद्ध भगवान् का था। इसमे वे स्वय ज्ञान पिपासा से आलारकालाम और उद्दक रामपुत्र के आश्रम में गये थे। परन्तु वे स्वत कभी आश्रम बनाकर नही बैठे। केवल चतुर्मास के लिए एक स्थान पर रहते थे। आनन्द, शारिपुत्र, मौद्गलायन आदि शिष्यो को साथ में लेकर चारिका (चक्रम, भ्रमण) करते थे और इसी समय कभी-कभी उपदेश, ज्ञान, शिक्षा देते थे। इसमें शिष्य प्रश्न करते थे और वे उसका समाधान करते थे तथा समय-समय पर स्वत भी शिक्षा देते थे।

इस प्रकार की शिक्षा मे वे अपने एक शिष्य को ही केन्द्र बनाकर उसे ही सम्बोधन करके शिक्षा देते है। बुद्ध भगवान् ने जो भी वचन कहे वे प्राय आनन्द को सम्बोधन करके कहे है। इन्ही वचनो का उनके समय या उनके पीछे संग्रह करके लिपिबद्ध किया गया है। ये सब संग्रह भगवान् बुद्ध के पीछे के है। इन्ही सग्रहो का विषय क्रम से पृथक्-

पृथक् सग्रह करके ग्रन्थ लिखे गये है। यथा—सूत्र विनय और अभिधम्म। इनको त्रिपिटक (तीन पिटारी) कहते है। प्रवचनकाल और ग्रन्थ प्रणयन काल मिश्रित था।

भगवान् बुद्ध ने भिन्न-भिन्न स्थानो पर अनेक लोगो को विभिन्न परिस्थितियो में जो उपदेश दिये थे उनका सग्रह सूत्र पिटक मे किया गया है। विनय पिटक मे भिक्षुओ की रहन-सहन के नियमो का सग्रह है—आचार्य्य के प्रति कर्त्तव्य शिष्य के प्रति कर्त्तव्य, मठ मे रहने आदि के नियम है। अभिधम्म पिटक के ग्रन्थ गूढ और गम्भीर है। बौद्ध साहित्य मे ये तीनो पिटक अलग-अलग है।

चरक सहिता मे भी यही चारिका (चक्र भ्रमण) क्रम से अग्निवेश को आत्रेय ने शिक्षा दी है। आत्रेय एक स्थान पर नही रहते थे। वे हिमालय कैलाश, काम्पिल्य मे घूमते फिरते थे। इन वचनो को पुन इनके शिष्यो ने अपनी बुद्धि के अनुसार लिपिबद्ध किया। लिपिबद्ध करके इनको ऋषियो के सामने सुनाया (सू अ १।३३)।

चरकसहिता के अनुसार आत्रेय के वचनो को अग्निवेश ने लिपिबद्ध किया था। ये वचन पीछे सस्कृत हुए, जिस प्रकार कि बुद्ध के वचनो का सस्कार भिन्न-भिन्न समयो में होनेवाली सगीतियो मे हुआ था। परन्तु चरक सहिता में जिस प्रकार से आत्रेय के वचनो को गूँथनेवाले अकेले अग्निवेश है उसी प्रकार प्रतिसस्कर्त्ता भी अकेला चरक है, और उसके पीछे दृढबल उसे पूर्ण करता है।

आत्रेय कौन थे—इसका विचार आयुर्वेद परम्परा प्रकरण में विस्तार से किया जायगा। यहाँ पर इतना ही स्पष्ट करना आवश्यक है कि चरक संहिता मे पुनर्वसुरात्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षुक आत्रेय, तीन आत्रेय आते है। भिक्षुक शब्द वानप्रस्थी के लिए आता है; (गौतम ने भिक्षु शब्द तृतीय आश्रम के लिए प्रयुक्त किया है—हिन्दू सभ्यता १३३)। कौटिल्य ने वानप्रस्थी के लिए अग्निहोत्र आवश्यक कहा है। 'वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्य भूमौ शय्या जटाजिनधारणमग्निहोत्र वन्यश्चाहार:'–१।३।११) इसी से आत्रेय को अग्निहोत्र करता हम पाते है (चि. १४।३, चि १९,२ चि. २९।३)

पुनर्वसुरात्रेय और कृष्णात्रेय दोनो एक है। चरकसहिता मे ये शब्द पर्य्यायवाची है (त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टा कृष्णात्रेयेण धीमता—च सू अ ११)। भेलसहिता में कृष्णात्रेय नाम अपने गुरु के लिए कई बार आया है (कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रु मंहर्षय—पृष्ठ २८; अशीतिक नर विद्यात् कृष्णात्रेयवचो यथा—पृ ९८)। महाभारत मे भी कृष्णात्रेय नाम आता है ('गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। देवर्षिचरित गार्ग्यं. कृष्णात्रेयश्चिकित्सनम्'—शा अ. २१०)। इसलिए दो ही आत्रेय रहे, पुनर्वसुरात्रेय और भिक्षुकआत्रेय। पुनर्वसुरात्रेय का तीसरा नाम 'चन्द्रभागि'

है, चन्द्रभागाया अपत्यं चान्द्रभागि या चान्द्रभाग ये दो रूप बनते हैं (एक में बाह्वादिदिभ्यश्च—पा अ ४।१।९६ से अपत्य अर्थ में इञ् हुआ, जिससे चान्द्रभागि बना; शिवादिभ्योऽण्—पा अ ४।८।११२ से अण् होने पर चान्द्रभाग बनता है। इससे कुछ विद्वान् आत्रेय की माता का नाम चन्द्रभागा कहते हैं (यथा प्रश्न भगवता व्याहृत चान्द्रभागिना—चरक सू अ १३, सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच हे (भेल. पृ ३९)।

इसमे यह सम्भव है कि आत्रेय का सम्बन्ध चन्द्रभागा नदी से, जो कश्मीर से निकलती है, (वर्त्तमान चनाब) रहा है। वे उस देश मे उत्पन्न हुए हो। कुछ भी हो भिक्षुरात्रेय और पुनर्वसुरात्रेय, इन्ही का आयुर्वेद से सम्बन्ध था।

तक्षशिला में जब जीवक पढने गया था, वहाँ पर आयुर्वेद के आचार्य आत्रेय थे, ऐसा कई विद्वान् कहते है (तक्षशिला के आत्रेय भारतीय आयुर्वेद के पहले प्रसिद्ध आचार्य थे—'इतिहासप्रवेश' में जयचन्द्र विद्यालकार)[1] पाणिनि की जन्मभूमि भी इसी तरफ शलातुर (वर्त्तमान यूसुफ जई के इलाके में आता है) नामी गाँव था। बौद्ध ग्रन्थो मे जीवक के गुरु का नाम न देकर 'दिशा प्रमुख आचार्य' नाम दिया गया है। यदि इनकी सगति बिठानी हो तो तक्षशिला का आचार्य भिक्षुक आत्रेय को मान सकते है, और पुनर्वसुरात्रेय को काम्पिल्य, पञ्चाल क्षेत्र, चैत्ररथवन; पचगङ्ग, धनेशायतन, कैलास, हिमालय के उत्तरपार्श्व में घूमनेवाला मान सकते हैं। यही पुनर्वसुरात्रेय अग्निवेश के गुरु थे, जो घूमते हुए शिष्यो को उपदेश देते थे, चारिका करते हुए शिक्षा का दान करते थे। भिक्षुक आत्रेय तक्षशिला में आयुर्वेद पढाते थे। चरकसहिता में तक्षशिला का उल्लेख नही है, इसलिए पुनर्वसुरात्रेय का सम्बन्ध तक्षशिला से नही रहा, यह स्पष्ट है।

पुनर्वसुरात्रेय का अध्यापन क्षेत्र विस्तृत था। वे अपने साथ शिष्य समुदाय को लेकर चारिका (चक्रमण) करते हुए उपदेश देते थे। इसी उपदेश को अग्निवेश ने लिपिबद्ध किया। चरक ने इसका प्रतिसस्कार किया। प्रतिसस्कर्ता के कार्यों का उल्लेख चरक सहिता के अन्त में दिया गया है—

---

१. भिक्षु विशेषण इनको शालीन वानप्रस्थी या बौद्ध सिद्ध करता है; उपसम्पदा लेने पर भिक्षु संज्ञा होती है। आत्रेय के साथ लगा कृष्ण विशेषण पुनर्वसु का कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध बताता है। इसी कृष्ण यजुर्वेद से चरक भी सम्बन्धित थे। वैशम्पायन के अन्तेवासी चरक कहाते थे। वैशम्पायन का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है।

'विस्तारयति लेशोक्त संक्षिप्यातिविस्तरम् ।
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराण च पुनर्नवम् ।।' (चरक. सि. अ. १२।३६.)

सस्कर्त्ता वस्तु को सक्षेप में नही, विस्तार से समझा देता है, जो वस्तु विस्तार से नही हो, उसे सक्षिप्त कर देता है, इस प्रकार से पुराने तत्र को फिर से नया (समयानुकूल) बना देता है। इसी दृष्टि से कई लोगो की मान्यता है कि इस सहिता में 'भवति चात्र या भवन्ति चात्र नाम से जो वचन आये है, वे सस्कर्त्ता के है। परन्तु यह ग्रन्थकर्त्ता की अपनी परिपाटी है। यह सभव है कि ग्रन्थ के अन्त मे तत्र श्लोका, या तत्र श्लोकौ से आये वचन सस्कर्त्ता के हो। क्योकि ज्वरनिदान के अन्त में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि गद्य मे वर्णित वस्तु को जब पुन श्लोक (पद्य मे) में कहा जाता है, उस पुनर्वचन नही समझना चाहिए। यह तो स्फुट तथा सुगम करने के लिए होता है (नि अ १।४१)। इसके आगे श्लोको में अध्याय का सक्षेप आ जाता है। सम्भवत यह सक्षेप सस्कर्त्ता का है।

एक मत यह भी है कि बुद्ध के उपदेश वचनो में से भिन्न-भिन्न वचन प्रकरण एव विषय क्रम से पृथक् करके ही सूत्र, विनय, अभिधम्म तीन त्रिपिटक बने थे। इसलिए सम्भवत अग्निवेश द्वारा सगृहीत वचनो को चरक ने विषय अनुसार क्रमबद्ध किया हो। परन्तु इस विषयवार क्रम की छँटनी अग्निवेश ने स्वत की है। यह अधिक सगत है, क्योकि भेल सहिता का कोई सस्कर्त्ता नही है। उसमें भी विषय-विभाग इसी प्रकार से है। इसलिए सस्कर्त्ता के वचन चरक मे अध्याय के अन्तिम वचन "तत्रश्लोका" रूपी है। इसीलिए अन्त मे स्थान-स्थान पर पढते है—"भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसु (नि. अ. १।४४); आत्रेयेणाग्निवेशाय भूताना हितकाम्यया—(चि. अ. १। ३४६)। ये वचन तीसरा व्यक्ति ही कह सकता है, यह तीसरे व्यक्ति प्रतिसस्कर्त्ता चरक थे।

चरक कौन थे ? इसका विवेचन 'आयुर्वेद-परम्परा' मे विस्तार से किया गया है। यहाँ पर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि चरक एक शाखा का नाम है, जिसका सम्बन्ध वैशम्पायन से है। वैशम्पायन के साथ होने से इनका सम्बन्ध स्वत. कृष्ण यजुर्वेद से है (पुनर्वसुरात्रेय भी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित थे, इसलिए उनके नाम के साथ कृष्ण विशेषण लगा था, जिससे वे दूसरे आत्रेय से भिन्न प्रतीत हो)। इस शाखावाले चरक कहाये थे। उनमे से किसी एक ने इस सहिता का प्रतिसस्कार किया है।

इसी शाखावाला चरक कनिष्क का राजवैद्य था। 'चरक' शब्द उपनिषद् मे बहुवचन में आया है।' 'मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम (बृहद्. ३।३।१।) मद्र से अभिप्राय

स्यालकोट के इलाके से है जो कि रावी और जेहलम के बीच का है। गान्धार देश भी इससे बहुत दूर नही। इस प्रदेश में चरक शाखा के लोग रहते होंगे, जो चिकित्सा कार्य में निपुण होते थे। कनिष्क का राज्य भी इसमे था, उसकी राजधानी पेशावर भी इसी प्रदेश के समीप में है। इसलिए इस शाखा का कोई चरक कनिष्क का राजवैद्य रहा होगा। उसीने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया, यह निश्चित नही कहा जा सकता। ग्रन्थ में कनिष्क की या उसके राज्यकाल की झलक जिस प्रकार से अश्वघोष की उपलब्ध रचनाओ मे नही मिलती, उसी प्रकार इस संहिता में भी नहीं है। यह भी सम्भव है कि इस शाखा के किसी अन्य चरक ने इस संहिता का संस्कार किया हो, और कनिष्क का राजवैद्य दूसरा चरक रहा हो। 'आत्रेय' शब्द भी बहुवचन में मिलता है, परन्तु चरक संहिता से सम्बन्धित आत्रेय के साथ पुनर्वसु एवं कृष्ण विशेषण लगा होने से स्पष्ट हो जाता है। चरक के साथ कोई विशेषण नही। इसलिए किसी एक के प्रति निश्चित नही कह सकते। कनिष्क का राजवैद्य चरक था। इसके मानने में कोई आपत्ति या बाधा नही, परन्तु इसी ने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया यह सन्दिग्ध है, क्योंकि चरक शब्द बहुवचनान्त मिलता है, जो कि एक शाखा से सम्बन्ध रखनेवालो का सूचक है।

दृढबल—का दूसरा नाम 'कापिलबलि' था। (चरक चि. अ. ३०)। कपिलबल का पुत्र होने से इनका यह नाम पडा। ये पचनदपुर के रहनेवाले थे (चरक चि. सि. १२)। पचनदपुर कश्मीर देश में था, जैसा राजतरंगिणी मे कल्हण ने लिखा है" (राज. २४६, २५०)।

वितस्ता और सिन्धु नदी जहाँ पर मिलती है, जहाँ पर आज पञ्जपनोर (पञ्चनीर) नाम का स्थान है, वही 'पचनदपुर' था। इसलिए दृढबल को कश्मीर देश का कह सकते है।

पञ्जपनोर नाम का स्थान कश्मीर नगर से उत्तर में साढे तीन कोस की दूरी पर त्रिगाम्य-वितस्ता (जेहलम)—सिन्ध-क्षीरभवानी और आञ्चार इन पाँच नदियो के संगम के पास स्थित है। ऐसा श्री जीयालाल जी ने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य को बताया है। संग्रह में 'कपिलबलस्त्वाह' कहकर कपिलबल का उल्लेख किया गया है (सू. अ २० पृष्ठ १६४) कपिलबल दृढबल के पिता थे।

दृढबल का समय वाग्भट से पूर्व का है, क्योकि अष्टाग संग्रह मे उसके वचन उद्धृत मिलते हैं। जैज्जट ने भी अपनी निरन्तरपदव्याख्या नामक चरकटीका में दृढबल के वचन प्रमाण रूप में उपस्थित किये है। वाग्भट और जैज्जट का समय चौथी शताब्दी

है। इसलिए उससे पूर्व इसका समय होना चाहिए। दृढबल से पूरित भाग में जया, विष्णु, वासुदेव, कृष्ण का नाम आता है। इससे स्पष्ट है कि गुप्तकाल में जब कृष्ण वासुदेव की पूजा चल पडी थी, उस समय इसकी रचना हुई है। मंत्रो में 'हिलि' शब्द का प्रयोग गुप्तकाल में प्रसिद्ध मातगी विद्या का द्योतक है (देखिए—नावनीतक में मातंगी विद्या)। मंत्र रचना गुप्तकाल की है—

'पिष्यमाण इमं चात्र सिद्धं मंत्रमुदीरयेत्।
मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता।
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च॥
नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे।
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च॥
तेजो वृषाकपेः साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे।
यथाहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम्।
मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम्।
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदोह्ययम्।
हिलिमिलि संस्पृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा॥'

(चि.अ.२३।९०-९४.)

२—वाग्भट में मद्यपान का वर्णन दृढबल के मद्यपान की ही छाया है—जो कि स्पष्ट गुप्तकाल के वैभव की उत्तम झाँकी है—

'देशे यथर्तुकेशस्ते कुसुमप्रकरीकृते।
सरसा संमते मुख्ये धूपसंमोदबोधिते॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने।
उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः॥
सौवर्णै राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि।
भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा॥
रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः।
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः॥
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः।
संवाह्यमान इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम्॥'

(चरक. चि. अ. २४।१३-२०)

वाग्भट का वर्णन इससे मिलता है—

"स्नातः प्रणम्य सुरविप्रगुरून् यथास्वं, वृत्तिं विधाय च समस्त परिग्रहस्य।
आपानभूमिमथ गन्धजलाभि[illegible] पसमोपगतां श्रयेत।
स्वास्तृतेऽथ शयने कमनीये, मित्रभृत्[illegible]तः।
स्वं यशः कथकचारणसंघैरुद्धृतं निशमयन्निति लोकम्॥
विलासिनीनां च विलासशोभि गीतं सनृत्यं कलतूर्यघोषैः।
का[illegible] णीकैः क्रीडाविहङ्गैश्च [illegible]॥
मणिकनकसमुत्थैराननैर्यैर्विचित्रैः सजलविबिधलेखाक्षामवस्त्रावृता[illegible]ः।
अपि मुनिजनचित्तक्षोभसम्पादिनीभिश्चकितहरिणलोलप्रेक्षणीभिः प्रियाभिः॥
यौवनासवमत्ताभिर्विलासाधिष्ठितात्मभिः सम्वार्यमाणं युगपत्तन्वङ्गीभिरितस्ततः॥"

(हृदय. चि. अ. ७।७५-७८; ८०.)

इससे स्पष्ट है कि दृढबल गुप्तकाल के प्रारम्भ में वाग्भट से पूर्व हुआ। इसका समय चतुर्थ शती का पूर्वभाग या तृतीय शती का उत्तरार्द्ध होगा।

दृढबल की देन—चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के अन्त में दृढबल ने कहा है कि इस संहिता में सत्रह चिकित्सा अध्याय, कल्पस्थान और सिद्ध स्थान नही मिलते थे। उनको दृढबल ने भिन्न-भिन्न स्थानो से एकत्रित करके पूर्ण किया, जिससे यह तत्र पूरा हो जाय।

चिकित्सा स्थान के सत्रह अध्यायो में विवाद है, कि कौन-से सत्रह अध्याय दृढबल ने पूरे किये। चिकित्सा स्थान में दो क्रम मिलते हैं।

प्रथम क्रम निर्णय सागर का (बम्बई का) क	द्वितीय क्रम कलकत्ता प्रकाशन में ख
१ रसायन	१ रसायन
२. वाजीकरण	२ वाजीकरण
३ ज्वर	३ ज्वर
४ रक्तपित्त	४ रक्तपित्त
५ गुल्म	५. गुल्म
६ प्रमेह	६. प्रमेह
७ कुष्ठ	७ कुष्ठ
८ राजयक्ष्मा	८. राजयक्ष्मा

९ उन्माद	९ अर्श
१० अपस्मार	१० अतिसार
११ क्षत	११ विसर्प
१२ शोथ	१२ मदात्यय
१३ उदर	१३ द्विव्रणीय
१४ अर्श	१४. उन्माद
१५ ग्रहणी	१५ अपस्मार
१६ पाण्डु	१६ क्षत
१७ श्वास	१७ शोथ
१८ कास	१८. उदर
१९ अतिसार	१९ ग्रहणी
२०. छर्दि	२० पाण्डु
२१ विसर्प	२१ श्वास
२२ तृष्णा	२२ कास
२३ विष	२३ छर्दि
२४ मदात्यय	२४ तृष्णा
२५ द्विव्रणीय	२५ विष
२६. त्रिमर्मीय	२६ त्रिमर्मीय
२७ ऊरुस्तम्भ	२७ ऊरुस्तम्भ
२८ वातव्याधि	२८ वातव्याधि
२९ वातशोणित	२९ वातशोणित
३० योनिव्यापद्	३० योनिव्यापत्

प्रथम आठ अध्यायो मे एकमत है, पिछले पाँच अध्याय दृढबल के है, इसमें दोनो सस्करण समान है। चक्रपाणि का कहना है कि प्रथम आठ अध्याय और द्वितीय क्रम के नौ से तेरह अध्याय छोडकर शेष को दृढबल ने पूरा किया है। माधवनिदान के टीकाकार विजयरक्षित ने २६,२७,२८ अध्यायो को दृढबल से सम्बन्धित बताया है। इसके अतिरिक्त (क) विभाग के ५,१६,१७,२२,२३ या ख भाग के १९,२०,२१,२४ और २५ को पिछले लेखको ने दृढबल के नाम से उद्धृत किया है।

अष्टागहृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने ग्रहणी रोग की टीका मे (क भाग का १५ वाँ अध्याय) दृढबल का मत दिखाते हुए कहा है—

रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः॥
इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत्।
रसाद् रक्तं विपद्यात् कथं देहेऽभिजायते॥

चार पाण्डु, श्वास, तृष्णा, विषको (क भाग के–१६,१७,२२ और २३ को) विजय-रक्षित ने माधवनिदान की टीका में उद्धृत किया है।[1]

अब केवल बारह अध्याय रहते हैं, जिनके विषय में सन्देह है। अर्श, अतिसार, विसर्प, का (क भाग के १४, १९, २१) उल्लेख नावनीतक में हुआ है। नावनीतक का समय भी दृढबल का समय है; (गुप्तकाल के आसपास का समय है) इसलिए ये अध्याय सम्भवतः दढबल से पूर्व के हों[2]।

मदात्यय और द्विव्रणीय (क भाग के २४ और २५) अध्यायों को चरक के टीकाकार जज्जट ने अपनी निरन्तरपदव्याख्या में चरकाचार्य से सम्बन्धित बताया है—

---

१. व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।
निषेव्यमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुतां नयन्ति॥
रक्तमित्युपलक्षणं, तेन त्वक् मांसमपि दूष्यत्वेन दृढबलेन पठितम्। (मा. नि. टीका.)
हिक्काश्वास—यदाह दृढबलः—कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ।
च. चि. अ. १७.

तृष्णा—दृढबलेन तु पञ्चतृष्णा पठिता, वातपित्तश्लेष्मासोपसर्गजा इति।
मूर्च्छा (विष)—यदुक्तं दृढबलेन—

लघुरूक्षमाशुविशदं व्यवायी तीक्ष्णं विकाशी सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ (मा. नि. १७-१५ टीका.)
ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्राः सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतराः।
अतस्तैलादिभिर्न मोहः, किन्तु विषमद्याभ्यामिति। (मा. टीका)

२. जामनगर से प्रकाशित चरकसंहिता (भाग १, पृष्ठ १०४ में) नावनीतक का समय दृढबल से पूर्व माना गया है। परन्तु नावनीतक में अष्टांग संग्रह की भाँति लशुन की प्रशस्ति है। गुप्तकाल के ग्रन्थों में लशुन की प्रशस्ति, इसके खाने पर विशेष जोर देना यह इस समय की विशेषता है, जिस प्रकार कि इस समय के बारीक झीने वस्त्र, उनकी घूमट विशेष है। इसलिए नावनीतक दृढबल के पीछे का होना चाहिए।

२४ वाँ अध्याय—चरकाचार्यसंस्कृतश्चायमध्यायः।

२५ वाँ अध्याय—आचार्यप्रणीतश्चायमध्यायः।

इस प्रकार से ख भाग के ९, १०, ११, १२, १३ ये पाँच अध्याय चरक के पक्ष में आते हैं। इस प्रकार से कलकत्ता से मुद्रित (ख भाग) पोथी के पिछले सत्रह अध्याय दृढबल से पूर्ण किये गये हैं। इनमे भी ग्रहणी, पाण्डु, श्वास, तृष्णा, विष ये पाँच अध्याय टीकाकारो के अनुसार दृढबल से पूर्ण किये गये है। इसलिए केवल सात ही अध्याय सन्दिग्ध रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रपाणिदत्त के समय तक (११वी शताब्दी तक) क्रम सुरक्षित था। इसके पीछे क्रम बदला। कलकत्ता की छपी पुस्तक (देवेन्द्र-नाथसेन, उपेन्द्रनाथ सेन द्वारा प्रकाशित) में ख भाग का ही क्रम है। बम्बई की प्रकाशित पुस्तको में क भाग का क्रम है।

दृढबल ने सुश्रुत का श्लोक पूर्णत. लिया है (चरक चि अ २६।११३-११४; 'आन ह्यते यस्य विशुष्यते च' आदि सुश्रुत उत्तर अ २२।६ से उद्धृत है।)

इस प्रकार पुनर्वसुरात्रेय से उपदेश की गयी अग्निवेश की बनायी, चरक द्वारा प्रतिसस्कृत और दृढबल से पूरी की गयी वर्त्तमान चरक सहिता आज उपलब्ध है।

संहिता की रचना—अन्य सहिताओ से भिन्न है। वैदिक सहिताओ में मत्र रचना छन्दोबद्ध है। इस रचना मे गद्य और पद्य दोनो मिले हैं। कृष्ण यजुर्वेद मे मत्रो तथा विनियोग दोनो का मिश्रण है; शुक्ल यजुर्वेद मे केवल मत्र-भाग सगृहीत है। इस दृष्टि से चरक संहिता की रचना का साम्य कृष्ण यजुर्वेद के साथ है।[1]

१—सहिता की रचना का ढग अपनी विशेषता लिये है। अष्टाग सग्रह में कौटिल्य

---

१. यह किवदन्ती है कि एक बार वैशम्पायन मुनि के हाथ से ब्रह्महत्या हो गयी थी। गुरु ने शिष्यों से प्रायश्चित्त करने को कहा। याज्ञवल्क्य ने कहा कि मै अकेला प्रायश्चित्त कर लूंगा, शेष शिष्यों को छोड़ दीजिए। इस पर गुरु क्रुद्ध हो गये और उससे विद्या वापस मांगी। याज्ञवल्क्य ने उसे वमन कर दिया; जिसे तित्तिरों ने चुग लिया। याज्ञवल्क्य को सूर्य ने पुनः वेदाध्ययन कराया। इससे इनकी संहिता वाजसनेयी हुई और तित्तिरों से चुगी विद्या की तैत्तरीय संहिता बनी। जिन शिष्यो ने आचार्य वैशम्पायन का प्रायश्चित्त किया था; वे चरक या चरकाध्वर्यु कहलाये। शतपथ में चरक या चरकाध्वर्यु शब्द प्रतिपक्षी, विरोधी के लिए कहीं-कहीं आता है। ब्रह्महत्या करनेवाले को कुछ वर्षों तक बराबर फिरना होता था यही उसका चरक था।—श्री हरिदत्तजी शास्त्री, ऋक्. सूत्रसग्रह की भूमिका में।

अर्थशास्त्र की भाँति प्रथम अध्याय मे सब अध्याय क्रम, विषय निरूपण दे दिया गया है। सुश्रुत मे भी इसी परिपाटी का अनुसरण हुआ है। कामसूत्र मे भी जो कि चौथी शती का है, यही प्रथा अपनायी गयी है। परन्तु चरक सहिता मे विषय सूची, अध्याय-नाम, सूत्र-स्थान के अन्तिम अध्याय मे पीछे से दिया गया है। इसमें सूत्र-स्थान के लिए 'श्लोक-स्थान' शब्द का भी व्यवहार हुआ है, जो कि आयुर्वेद की अन्य सहिताओ मे नही मिलता।

२—इसमें, पाषण्ड शब्द का उल्लेख नही है। गो, ब्राह्मण इनके प्रति सम्मान, पूजा भाव मिलता है। सुश्रुत सहिता मे गो शब्द पूजा के लिए नही आता। वहाँ अग्नि, विप्र और भिषक् तीन का ही उल्लेख है, इसमे भी दधि, अक्षत, अन्न, पान और रत्न से पूजा करने का उल्लेख है (सूत्र अ ५।७), परन्तु चरक सहिता में इस रूप में पूजा का उल्लेख नही है, और गो-ब्राह्मण शब्द एक साथ मिलता है। अन्य स्थानो पर 'द्विज' शब्द से ब्राह्मण ही लेना ऐसा कोई नियम नही है। द्विज शब्द पूजा अर्थ के लिए है (चरक-सूत्र अ १५।९)। जिस प्रकार से विप्र शब्द ब्राह्मण अर्थ को ही नियमित करता है, उस प्रकार से द्विज शब्द नही है; (सस्काराद् द्विज उच्यते) जिनके सस्कार होते है, वे द्विज है, इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनो के लिए यह शब्द है। इसी से काम्पिल्य के वर्णन मे "द्विजातिवराध्युषिते"—(वि अ ३।३) शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने 'महाजनसेविते' किया है। महाभारत मे यक्ष के "क पन्था" प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने लोक व्यवहार मे व्यवहार का निर्णय करने के लिए कहा है "महाजनो येन गत स पन्था"—आरण्यकपर्व। इसी बात को उपनिषद् में आचार्य शिष्य से समावर्त्तन के समय कहता है "अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिन युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा: स्यु यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्तेथा"—(तैत्तिरीय ११।३)। इसलिए दोनो सहिताओं मे समय का बहुत अन्तर है। सुश्रुत मे ईश्वर शब्द भगवान् तथा कर्त्ता के रूप में है (यथा-अग्नि के लिए—जाठरो भगवानग्नि ईश्वरोऽन्नस्य पाचक। (सूत्र अ ३५।२७) २ स्वभावमीश्वर कालम्—शा अ १)। पाषण्ड शब्द भी सुश्रुत में है (पाषण्डाश्रमवर्णाना सपक्षा[illegible]-सिद्धये—सू अ २९।५)। चरक सहिता में ईश्वर शब्द भिन्न अर्थ मे है। ईश्वर शब्द की कल्पना परमात्मा के अर्थ मे पीछे की गयी है। चरक में प्रजापति, ब्रह्मा शब्द मिलते है, परन्तु इस अर्थ मे ईश्वर शब्द नही "या पुनरीश्वराणा वसुमता वा सकाशात्—(सू अ ३०।२९) में आया ईश्वर शब्द ऐश्वर्यशाली अर्थ में है।

३—चरकसहिता में मुख्यत उत्तरीय भारत का उल्लेख है। इसमें भी मुख्यत,

उत्तरीय पश्चिमीय प्रदेश का। पूर्व मे काम्पिल्य अन्तिम सीमा है। वाकटिक काल में (२४८ से २४० ईसवी) काम्पिल्य का नाम सुनाई नही देता, इसके स्थान पर 'अहिच्छत्रा' नाम प्रचलित होता है। काम्पिल्य नाम सहिताओं में बहुत पुराना है (तैत्तिरीय सहिता ६-४।१९।१, मैत्रायणी सहिता ३।१२।२०, काठक सहिता ४।८, आदि मे)।

इसके अतिरिक्त वाह्लीक, पह्लव; चीन, शूलीक, यवन और शक ये सब नाम जो चरक सहिता मे (चि अ ३०।३१६ मे) मिलते है; वे सब पश्चिम भारत की जातियाँ है। हिन्दूकुश पर्वत और वक्षु नदी के बीच का बडा जनपद 'वाह्लीक' था। जिसे आजकल बल्ख कहते है।

वाह्लीक से मध्य एशिया की ओर चलने पर पह्लव जनपद पड़ता है, जिसकी भाषा पहलवी (ईरानी) है। पहलवी का आर्य भाषा से बहुत सम्बन्ध है, पारसियों का धर्मग्रन्थ अवेस्ता इसी भाषा मे है। अन्वक और वृष्णीक नाम भी चरक में है ('चण्डालद्रविडान्ध्रकै'—इण्डिय० ५।२९)।

पार्थव जाति को पुरानी फारसी और संस्कृत मे पह्लव कहते थे। इन पह्लवो ने अपना राज्य शक स्थान से हरऊवती की तरफ बढाया, वहाँ से बढकर काबुल के यूनानी राज्य को जीता और गान्धार तथा सिन्ध को भी शको मे छीन लिया (लगभग ४५ ई० पू०)। शको का राज्य कही पर भी न रह गया। हरऊवती के पह्लवो ने लगभग ईसवी सन् के शुरू तक अफगानिस्तान, पजाब और सिन्ध पर राज्य किया।

इन पह्लव राजाओ में श्पलिरिष, उसके बेटे अय या अज और अय के बेटे गुदफर का विस्तृत राज्य रहा। श्पलिरिष ने काबुल जीता। अज और गुदफर समूचे उत्तर पश्चिम भारत के राजा थे। पह्लव राजा प्राय बौद्ध थे, हिन्दूकुश के दक्खिन के या यूनानी सिक्को की तरह शकस्थान के इन राजाओ के हरऊवती में चलनेवाले सिक्को पर भी प्राकृत जरूर लिखी रहती थी। इसका अर्थ यह है कि काबुल और कन्दहार के प्रदेश तब स्पष्ट रूप से भारत मे गिने जाते थे—(जयचन्द्र विद्यालकार)।

शक और चीन—हमारे देश में जिस समय अशोक राज्य करता था, लगभग उसी समय में चीन में एक बड़ा राजा हुआ, जिसने वहाँ की छोटी-छोटी नौ रियासतो को जीतकर सारे चीन को एक कर दिया। चीन के उत्तर इर्तिश और आमूर नदियों के बीच मे हूण रहते थे। ये लोग चीन पर आक्रमण करते थे। इनसे बचाने के लिए इसने अपने समूचे देश की उत्तरी सीमा पर एक दीवार बनवायी थी। तब हूणो ने पश्चिम की तरफ रुख किया। तुर्क और हूण एक ही जाति के दो नाम हैं। मध्य एशिया से कास्पियन और काले सागर के उत्तर मे जो जातियाँ रहती थी वे सब शक परिवार

की थी। शक लोग भी आर्य थे, परन्तु तब तक वे जगली और खानाबदोश थे। शको से मिलनेवाली एक और जाति इनसे सटे प्रदेश कासून (तिब्बत और मगोलिया के बीच चीन का जो भाग गर्दन की तरह निकला है) मे रहती थी इस जाति को चोर्ना लोग यूचि' कहते थे। सस्कृत की पुस्तको मे इसी को 'ऋषिक' कहा गया है। यूचि या ऋषिको के प्रदेश में तारीम नदी के उत्तर [illegible] लोग रहते थे।

हूणो ने पश्चिम हटकर ऋषिको पर हमले किये (१७६-१६५ ई० पू०) और उन्हे मार भगाया। ऋषिक लोग वहाँ से भाग कर लुखार देश मे जा पहुँचे और वहाँ के राजा बने। जब वहाँ से भागना पडा तब लुखारो को अपने साथ खदेडते हुए वे पश्चिम की ओर बढे, और थियानशान पर्वत को पार कर गये (कुछ विद्वान थियान शान पर्वत को ही 'उत्तर कुरु' कहते हैं, उत्तरकुरु का नाम सुश्रुत मे है चि अ। परन्तु चरक मे नही है)। वहाँ से उनकी एक शाखा दक्खिन झुककर कम्बोज देश अर्थात् पामीर बदख्शा की तरफ बढी और दूसरी शाखा ने सुग्ध दोआबा में शको की खास बस्ती पर हमला किया। ऋषिको की अपेक्षा लुखारो की सख्या अधिक थी, इसी से इतिहास मे लुखार अधिक प्रसिद्ध है।

सुग्ध से खदेडे जाकर शक हरात से घूमकर लूटमार करते हुए शक स्थान की पुरानी बस्ती मे जाने लगे। हरात और शक स्थान तब पार्थव राज्य में थे। इसलिए सबसे पहले पार्थवो से वास्ता पडा। दो पार्थव राजा लडाई में मारे गये। (१२८-१२३ ई० पू०)। किन्तु पीछे से इनका दमन मिथ्रदास (रथ) ने किया। उसके आक्रमण से घबरा कर शको ने भारत की ओर मुख किया और हमारे सिन्ध प्रान्त पर अधिकार कर लिया (लगभग १२०-११५ ई०पू०)। सिन्ध मे उनकी ऐसी सत्ता जम गयी कि वहाँ पर शक द्वीप कहलाने लगा और पश्चिमी लोग उसे हिन्दी शकस्थान कहने लगे। यहाँ से वे उज्जैन, मथुरा, पजाब में फैले।

यवन—पुराणो के अनुसार इस देश का नाम भारतवर्ष है। यह हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर कहा गया है। भरतो की प्रजाओ का निवास होने से इसका नाम भारतवर्ष है। इसमे कुल सात पर्वत है, महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत्, ऋक्ष गोडे-वाना के पहाड, (गोडवाना के पहाड) विन्ध्य और पारिपत्र (विन्ध्य का पश्चिम भाग अरावली तक), जहाँ भरत के वशज रहते है। इसके पूर्व मे किरात और पश्चिम में यवन बसते है। मध्य मे आर्य बसते है।

शूलीक—चीन से आगे मध्य एशिया का प्रदेश शूलीक है, यहाँ की भाषा का नाम शूली है। आजकल इसको कास्कर कहते है।

इससे स्पष्ट है कि चरक सहिता का मुख्य सम्बन्ध भारत की पश्चिम सीमा से तथा उत्तर में हिमालय पर्वत से (पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश) सम्बन्ध रहा है। इसी से उनका वाह्लीक भिषक् काकायन के साथ विचार विनिमय करने का उल्लेख कई स्थानो पर मिलता है (सू स्थान अ १, सू अ १२, सू. अ २५, सू अ. २६, शा अ ६ मे)। चरक के अनुसार वाह्लीक मे और भी वैद्य थे, उनमे कोकायन की ख्याति अधिक थी (सू अ. २६।५)। तक्षशिला भी इसी प्रदेश में था, जो विद्या का केन्द्र था—जहाँ पर दिक् प्रमुख आचार्य रहते थे। आत्रेय का नाम आयुर्वेद के आचार्य के रूप में तक्षशिला के साथ सम्बद्ध कहा जाता था। सम्भवत भिक्षु आत्रेय से इसका अभिप्राय हो। पुनर्वसु आत्रेय भी इसी समय इसी प्रदेश में हुए हो और यही स्थान उनका मुख्य विचरने का हो। क्योंकि इस स्थान की जानकारी, हिमालय की दिव्य औषधियो का वर्णन जितना मिलता है, उतना अन्य स्थानो का नही है। काम्पिल्य को छोड़कर शेष सम्पूर्ण चरक सहिता मे आत्रेय को हिमालय मे या उसके प्रदेशो में विचरता पाते हैं। चरक सहिता में मलयाचल, पारिपत्र, विन्ध्य तथा सह्याद्रि पर्वतमाला से उत्पन्न नदियो के जलो का उल्लेख है (सू. अ २७।२१०-२१२)। सम्भवत यह वचन सुनने से हो या प्रतिसस्कर्त्ता हो; क्योंकि इसके अधिक नाम भी है—सात्म्य दक्षिणत पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे (चि. अ. ३०।३१८) में दक्षिण शब्द राजपूताने, दक्षिण की जानकारी नही, अन्धक, द्रविड कच्छ, काठियावाड के अर्थ मे आया है, आज भी वहाँ राबडी, लप्सी का अधिक रिवाज खाने में है। मध्य देश मे अश्मक अवन्ति का स्थान है। यह उल्लेख बहुत सक्षेप मे है, सम्भवत व्यापार के सिलसिले में जो लोग इन स्थानो से उधर आते थे उनकी जानकारी से यह लिखा हो, अथवा प्रति सस्कर्त्ता चरक ने इसे बढाया हो, मूल वचन 'क्षीरसात्म्यश्च सैन्धवा'—(३१६।½) तक ही हो। इसलिए चरक का उपदेश काल बुद्ध के [illegible],तब का है, जो कि लगभग ६०० ई० पू० का आता है। प्रतिसस्कर्ता चरक का समय कनिष्क का हो सकता है। बुद्ध के समय [illegible] इसलिए काशी आदि जनपदो से शिष्य वहाँ पर शिक्षा के लिए जाते थे। उसी समय की तथा उसी स्थान की जानकारी चरक सहिता मे मिलती है।

चरक सहिता में अर्थशास्त्र के शब्द—राज्यो की छोटी इकाई से लेकर बडी से बडी इकाई का क्रम से नाम कीर्त्तन किया गया है। इनके साथ विशेष प्रान्तो का भी उल्लेख किया गया है—

१. क्षार का अधिक उपयोग नही करना चाहिए। इस प्रसंग में—

'ये ह्येन ग्रामनगरनिगमजनपदा सततमुपयुञ्जते त आन्ध्यषाण्ढ्यखालित्य-पालितभाजा हृदयापकर्तिनश्च भवन्ति। तद्यथा प्राच्याश्चीनाश्च।' (वि अ १।१७)।

२ लवण का अधिक उपयोग नही करना चाहिए—इस प्रसग मे—

'ये ह्येन ग्रामनगरनिगमजनपदा सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नाव शिथिल-मासशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। [illegible] सैन्धव-सौवीरका ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति ॥' (वि अ १।१८)।

ग्राम सबसे छोटी इकाई थी, उसके पीछे नगर, फिर निगम तब जनपद था।[1] इनका स्पष्टीकरण 'हिन्दूसभ्यता' मे देखिए।

सिन्धुजनपद—सिन्धु नदी के पूर्व मे सिन्ध सागर दुआब का पुराना नाम सिन्धु था। सिन्धु मे जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिन्धुजनपद से था, उसकी सज्ञा सैन्धव थी। (सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ—४।३।९२) काशिका मे सक्तुसिन्धु और पानसिन्धु उदाहरण दिये गये हैं। ये दोनो नाम भोजन की आदतों के अनुसार है। चरक मे इनको दूध पीनेवाला कहा गया है (क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवा –चि अ. ३०।३१७)। महाभारत मे सिन्धु के राजा जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है (द्रोण पर्व ७।७।१८) जयद्रथ सौवीर (आधुनिक सिन्ध का उत्तरी भाग) और उसके ऊपर दक्षिण सिन्धु जनपद का राजा था। क्षीर भोजन दक्षिण-सिन्धु की विशेषता समझी जाती है (ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति–(चरक वि अ १।१८), काठियावाड, कच्छ में आज भी खिचडी दूध के साथ खाने की चलन है)।

सौवीर—वर्त्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कोठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। भारतीय साहित्य मे सिन्धु-सौवीर यह दो जनपदों का नाम जोडे के रूप में प्रसिद्ध था। भौगोलिक दृष्टि से दोनो की सीमाएँ परस्पर सटी हुई थी। सौवीर जनपद की राजधानी रोरुव (सस्कृत सरौक) वर्त्तमान रोडी है। यहाँ पर पुराने शहर के भग्नावशेष है। रोडी के उस पार सिन्धु के दक्षिण किनारे पर सक्खर

---

१. पाणिनि ने कहीं तो ग्राम और नगर में भेद माना है जैसे, प्राचा ग्रामनगराणाम्" (७।३।१४) सूत्र में और कही पर ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है—जैसे, वाहीक ग्राम (४।२।११७) उदीच्य ग्राम (४।२।१०९ में)। पतजलि ने कहा है कि कितनी जनसंख्या होने से ग्राम और कितनी जनसंख्या होने से नगर कहलाते हैं; इस विषय में लोक को प्रमाण मानना चाहिए (न नु च भो य एव ग्रामास्तन्नगरम्। कथ ज्ञायते? लोकतः। तत्राति निर्बन्धो न लाभ ७।३।१-४)। 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' से।

प्रसिद्ध नगर है, जिसका पुराना नाम शार्कर था। यहाँ के गोत्रो में आनी प्रत्यय लगता है (जैसे, वास्वानी, कृपलानी, गिडवानी)। प्राचीन काल मे 'मैमतायनी'—इसका उदाहरण है, जिसका नाम चरकसहिता के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में आया है (मैत्रेयो मैमतायनि —१।१७)।

सौराष्ट्र—सिन्ध के ठीक दक्षिण में कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यो को काच्छक कहा है। पाणिनि के समय कच्छ नाम प्रसिद्ध था, चरक के समय सौराष्ट्र नाम प्रसिद्ध हुआ। काशिका मे कच्छ देश से सम्बन्धित तीन उदाहरण दिये है—काच्छक हसितम् (कच्छवालो के हँसने का ढग), काच्छक जल्पितम् (कच्छवालो के बोलने का ढग); काच्छिका चूडा (कच्छवालो के सिरकी चुटैया का ढग)।

वाह्लीक—हिन्दुकुश के उत्तर पच्छिम में वाह्लीक, उत्तर-पूर्व मे कम्बोज, दक्षिणपूर्व में गधार और दक्षिण पश्चिम में कपिश था। इस प्रकार गन्धार, कपिश, वाह्लीक और कम्बोज इन चार जनपदो का एक चौगड्डा था। वाह्लीक का आजकल का नाम बदख्शा है। कम्बोज के पच्छिम में वक्षु के दक्षिण और हिन्दुकुश के उत्तर पश्चिम का प्रदेश वाह्लीक जनपद था। महरौली स्तम्भ के लेख के अनुसार चन्द्र-नामक राजा ने वाह्लीक तक अपना विस्तार किया था। इस चन्द्र की पहिचान चन्द्र गुप्त द्वितीय से की जाती है। चरक मे काकायन को वाह्लीक भिषक् कहकर याद किया गया है पादताडित में वाह्लीक देश के काकायन गोत्री ईशानचन्द्र वैद्य के पुत्र हरिचन्द्र का नाम आता है (देखिए चरक सहिता के टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र)।

चरक संहिता में नये शब्द—चरक सहिता में कुछ शब्द उस समय के प्रसिद्ध लोक साहित्य से सीधे आये है, यथा—उपनिषद्, शल्य, सूत्र, शाखा आदि। सूत्र, शब्द तत्र के अर्थ में आया है, सूत्र शब्द ग्रथित पुष्पो के धागे के अर्थ मे है—

"तत्रायुर्वेदः शाखा-विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्र, लक्षण तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्—

(सू अ. १०।३१)

यथा सुमनसां सूत्रं सग्रहार्थं विधीयते।

सग्रहार्थं तयाऽर्थानामृषिणा सग्रह- कृतः॥ (सू अ ३०।८९)

२ 'ससग्रहव्याकरणम्'—यह शब्द इसी रूप मे काशिका मे आता है। ससग्रह व्याकरणमधीते"—सग्रह का अर्थ वहाँ वार्त्तिको से है, व्याकरण को वार्त्तिको के साथ पढता है, चरक सहिता मे यह शब्द "त्रिविधायुर्वेदसूत्रस्य ससग्रहव्याकरणस्य सत्रि-विधौषधग्रामस्य प्रवक्तार" (सू. अ २९।७) मे आया है; यहाँ पर सग्रह और व्याकरण का अर्थ चक्रपाणि ने सामान्य, विशेष किया है, परन्तु यह विशद समाधान नही दीखता।

त्रिविध सूत्र-हेतु लिङ्ग-औषधि को सक्षेप और विस्तार या भाष्य के साथ कहनेवाला यह अर्थ अधिक सगत है।[1]

३ चरक मे अध्यापन के लिए शिष्य का नासावश का सीधा होना आवश्यक कहा गया है। चीनी और मगोलियनो का नासावश दबा रहता था (आर्यप्रकृति- [illegible] अ ८।८)। इसलिए सम्भवत. उस समय आयुर्वेदाध्यापन आर्य लोग ही करते थे।

४ चरक सहिता मे कुछ शब्द बौद्ध साहित्य से सीधे आये है, यथा खुड्डुक शब्द, यह शब्द खुद्दक का रूपान्तर है (खुद्दक निकाय), इसका शुद्ध रूप क्षुद्रक है। इसी प्रकार जेन्ताक के लिए विनय पिटक मे जन्ताक शब्द आता है। इस घर में भी धूमनेत्र इसी प्रकार बनाने का उल्लेख है।

बौद्धो मे चार ब्रह्म विहार है। यथा–मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (बौद्धधर्म दर्शन, नरेन्द्रदेवजी कृत, पृष्ठ ९४)। चरक सहिता मे भी कहा है—

'मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधेति॥' (सू. अ. ९।२६)

योग दर्शन मे भी (समाधि पाद ३३ सूत्र) इनका उपयोग चित्त प्रसादन के लिए बताया गया है। ये चारो ब्रह्म विहार कहे जाते है।[2]

इन सब विचारो से यह निश्चित है कि पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश को उपदेश बुद्ध के समय के आस-पास दिया है। अग्निवेश ने उसे लिपिवद्ध किया। चरक ने कनिष्क के समय इसका प्रति सस्कार किया और उस समय का सात्म्य आदि नयी बातें इसमे मिलायी। [illegible] के नही मिले (सम्भवत चरक को नही मिले, अथवा इसके पीछे लुप्त हो गये हो) उनको दृढबल ने अपने काश्मीर प्रदेश के आस-पास से ढूँढकर पूरा किया। इन भागो का मिलना पश्चिमोत्तर प्रान्त मे ही सुलभ था, क्योकि आत्रेय का मुख्य जीवन उधर ही बीता था और वही पर तक्षशिला विद्या का बडा केन्द्र था। कनिष्क की राजधानी भी उधर ही थी। कनिष्क का वैद्य चरक भी वही था। इसलिए सामग्री मिलने का वही स्थान था, जहाँ से दृढबल ने सामग्री एकत्र करके इस सहिता को पूरा किया।

---

१. शास्त्र की परीक्षा में कहा गया है—'सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्'—इससे सक्षेप और भाष्य दोनों का ज्ञान वैद्य को होना उचित है।

२. इस सम्बन्ध में "चरकसंहिता का अनुशीलन", पृष्ठ १५० देखना चाहिए।

'अलब्धार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे।
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम् ॥
सप्तदशौषधाध्यायं सिद्धिकल्पैरपूरयत् ॥'

उञ्छ और शिला वृत्ति से—कही पर तो कण-कण चुनकर और कही पर सम्पूर्ण वाक्य या पद अथवा वाक्यसमूह तन्त्रो में से एकत्रित करके दृढबल ने चिकित्सा के १७ अध्याय, सिद्धि और कल्प सम्पूर्ण पूरे किये।

इस प्रकार से उपलब्ध चरक सहिता का सम्बन्ध पुनर्वसुरात्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढबल इन चारो से है और इनमें से अग्निवेश को यदि छोड दे तो तीनो का सम्बन्ध भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त से है।

चरक संहिता का विश्लेषण—चरक संहिता मे दो रूप उपदेश के मिलते है, एक में पुनर्वसुरात्रेय स्वत शिष्यो को उपदेश देते है, यथा, विमान स्थान के तृतीय अध्याय में "वनविचारमनुविचन् शिष्यमग्निवेशमब्रवीत्; दृश्यन्ते हि खलु सौम्य!" इसमें स्वतः शिष्य को उपदेश दिया है, शिष्य के लिए सौम्य विशेषण उपनिषद् के सम्बोधन का स्मरण करा देता है (यह सम्बोधन सुश्रुत मे नही है, उपनिषदो के "सदेव सौम्येदमग्रमासीत्" आदि वचनों में शिष्य के लिए सौम्य शब्द आता है)। दूसरे प्रकार के उपदेश में अग्निवेश पूछता है और आत्रेय उसका उत्तर देते है, यथा—इसी अध्याय में कालमृत्यु-अकालमृत्यु सम्बन्धी प्रश्न, ज्वर रोगी के लिए गरम पानी क्यो दिया जाता है, ये प्रश्न अग्निवेश ने किये और आत्रेय ने उनका उत्तर दिया।

इन दो प्रकार के व्याख्यानो के अतिरिक्त सम्भाषा रूप में भी विषय का प्रतिपादन मिलता है, (यथा—सू अ २५, सूत्र. अ. २६, शा अ ३ में)। पुनर्वसुरात्रेय ऋषियों के साथ बैठकर जब विचार करते थे, उस समय जो वचन-प्रतिवचन चलते थे, उनको अग्निवेश ने अपनी स्मृति मे लिपिबद्ध किया। इस प्रकार के विचार विनिमय से जो लाभ होते है, और क्यो शिष्य को इनके समय उपस्थित रहना चाहिए, इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण स्वत सहिता में किया गया है। (वि अ. ८।१५)। इसलिए चरक सहिता में यह परिपाटी मिलती है। सुश्रुत में इस प्रकार का वचन-प्रतिवचन, सभाषा विधि नही मिलती।

चरक सहिता का क्षेत्र काय चिकित्सा तक सीमित है। इसलिए जहाँ पर भी दूसरे शास्त्र का विषय आता है, वहाँ पर उस शास्त्र के ज्ञाता से सहायता लेने को कहा अथवा वस्तु का सक्षेप में प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि पराधिकार, दूसरे के अधि-

कार के विषय में विस्तार से कहना ठीक नही। परन्तु शिष्य को समझाने के लिए विषय का उल्लेख किया है।

चरक संहिता की भाषा—भाषा और शैली दोनो ही सरल है। भाषा में लम्बे वाक्य भी है (यथा, कल्प स्थान में आनूप देश का वर्णन) और छोटे भी वाक्य है, (यथा, सूत्र स्थान के आठवें अध्याय मे सद्वृत्त का उल्लेख)। भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न, स्वाभाविक है। इसमें कठिन शब्दो का प्रयोग नही है। सामान्यत बोलचाल की भाषा तथा प्रतिदिन आँखो के सामने आनेवाले उदाहरण दिये गये है।

शैली की विशेषता मे ऋषियो के साथ बैठकर विचार करना है। चरक सहिता में जितने ऋषियो का उल्लेख हमको मिलता है, उतना किसी भी आयुर्वेद-पुस्तक में नही है। बहुत-से ऋषियो का नाम बहुत प्राचीन है। यथा—जमदग्नि, वशिष्ठ, भृगु, अगस्त्य आदि); कुछ ऋषियो के नाम नये है (यथा–वडिश, शरलोमा, काप्य, कैकशैय, हिरण्याक्ष (काशिक), भरद्वाज के साथ कुमारशिर विशेषण नया है।

इनमें से कुछ ऋषि स्वतत्र रूप से वाद-विवाद में भाग लेते है, (यथा, भरद्वाज का शारीरस्थान में गर्भावक्रान्ति प्रकरण में), और कहीं पर समूह में विचार चलता है (यथा सूत्र. अ २५ और २६ में) कही पर गुरु स्वत ही विषय के सम्बन्ध में शकाएँ बताकर उनका समाधान करते है (यथा सू अ ११ में पुनर्जन्म के विषय मे), कही पर अग्निवेश ही बहुत-से प्रश्न पूछ बैठते है (यथा शा. अ १ और २ मे) और पुनर्वसु आत्रेय उनका समाधान करते है। समाधान में बहुत ही सरल मार्ग अपनाया गया है, यथा—

अतीत, अनागत और वर्त्तमान इन तीन वेदनाओ मे भिषक् किस वेदना की चिकित्सा करता है ? अग्निवेश के इस प्रश्न का उत्तर आत्रेय ने बहुत ही सरलता से दिया है—'वैद्य तीन कालो की वेदनाओ की चिकित्सा करता है। 'लोक मे हम देखते है कि कहा जाता है कि यह तो वही पुराना शिरदर्द है, यह तो पहलेवाला ज्वर है, इन प्रसिद्ध वचनो से बीती हुई बीमारी का फिर से आना पता चलता है। इनमें अतीत रोगो की चिकित्सा होती है।

पहले भी पानी की बाढ आयी थी। इस बार फिर नही आयी, इसलिए अभी से बाँध बनाना चाहिए। यह सोचकर जैसे धर्बा बाँधा जाता है, उसी प्रकार से पिछली बीमारी लौट न आये, इसके लिए वैद्य प्रथम से ही उपाय करता है। यह अनागत चिकित्सा है। रोगो के पूर्वरूप दीखने पर ही जो चिकित्सा की जाती है, वह अनागत है।

वर्त्तमान वेदनाओ में सुख कारण के सेवन से दु खो की एक लम्बी पक्ति समाप्त हो जाती है और सुख भी होता है (सामान्य सर्दी लगने पर यदि इसकी चिकित्सा प्रारम्भ

मे ही कर ली जाय तो इससे होनेवाले ज्वर, खाँसी, गले मे सूजन आदि रोगो की लम्बी परम्परा टूट जाती है और यदि चिकित्सा न की जाय तो यह परम्परा बनती जाती है)।

इसी प्रकार वमन-विरेचन सिद्धि को बहुत सरल उदाहरण देकर स्पष्ट किया है (सि अ २)।

दार्शनिक विचार—चरक सहिता के दर्शन पर सबसे प्रथम श्री सुरेन्द्रनाथदास ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ् इण्डियन फिलासफी' के भाग १ और २ मे प्रकाश डाला है। उसमे उन्होने स्पष्ट किया है कि उपलब्ध साख्यकारिका से पहले चरक-सहिता में प्रकृति का विचार हुआ है। चरक मे प्रकृति और पुरुष को एक स्वीकार कर चौबीस तत्त्व माने गये है, क्योकि दोनो ही अव्यक्त है। साख्य में प्रकृति और पुरुष को पृथक् मानकर पच्चीस तत्त्व माने गये हैं। चरक सहिता में तन्मात्र शब्द नहीं है (सुश्रुत में तन्मात्र शब्द है), उसके लिए सूक्ष्म शब्द आया है। चरक सहिता में भी साख्य की भाँति ईश्वर का उल्लेख नही है। साख्य में इन्द्रियो को सात्त्विक कहा गया है, परन्तु आयुर्वेद में इनको भौतिक कहा गया है। चरक संहिता से पूर्व साख्य दर्शन का निर्देश पहले देखने में नही आता।

चरक सहिता में साख्यवादियो का उल्लेख बहुत स्थानो पर आया है। साख्य-वादियो के मौलिक और अपर दो भेद है। चरक सहिता में मौलिक साख्यवादियो के लिए ही सम्भवत आदि शब्द आया है (साख्यैराद्यै प्रकीर्त्तित —सूत्र अ. २५।१५) इसके पीछे अपर साख्य हुए जो कि पच्चीस तत्त्व मानते है (देखिए साख्य कारिका)। इससे स्पष्ट है कि चरक मौलिक साख्यो के चौबीस तत्त्व मानता है (शा अ १, १६-१७)। बौद्धदर्शन के अनात्मवाद, क्षणिक विचार (शा. अ १) तथा निर्हेतुक विनाश (सूत्र अ. १६।२७-२८) इसमे दीखते है, जो इस बात को स्पष्ट करने के प्रमाण है, यह ग्रन्थ उपनिषदो के अन्तिम समय में उपदेश किया गया है, क्योकि उपनिषदो में भी अनात्मवाद मिलता है, आत्मा के लिए विचिकित्सा है। न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तो का उल्लेख है। (सूत्र अ १। और २५)

वैशेषिक दर्शन मे आत्मा का लक्षण चरक-सहिता मे वर्णित आत्मा के लक्षणो का पूर्णत. अनुकरण ही है (शा अ १।७०-७३)। मन का लक्षण उसका अस्तित्व न्याय-दर्शन मे चरक के अनुसार है। चरक मे अनुमान सिद्ध करने के लिए हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगम का उल्लेख है, परन्तु व्याप्ति का उल्लेख नही, जो कि न्याय के अनुमान का प्राण है। अर्थापत्ति के लिए अर्थप्राप्ति शब्द दिया है। चरक मे अभाव की सत्ता नही। चरक ने युक्ति को प्रमाण माना है। न्याय-दर्शन मे अनुमान के अन्दर युक्ति

का समावेश है। वादमार्गों में चरक मे प्रतिष्ठापना, जिज्ञासा, व्यवसाय, वाक्यदोष, वाक्यप्रशसा, उपालम्भ, परिहार, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तर, अर्थान्तर आदि पद नये है, न्याय दर्शन मे इनका विचार नही। जाति और निग्रह-स्थान के भेद भी न्याय-दर्शन की भाँति चरक मे नही है।

न्यायदर्शन की भाँति ईश्वर की सत्ता पृथक् चरक में नही है। कार्य और कारण सम्बन्ध को आत्मा की सिद्धि के लिए माना है। न्याय ने इन्हे ईश्वर सिद्धि मे लगाया है। योगदर्शन सम्मत ईश्वर भी चरक मे नही आया। योग दर्शन मे अष्ट विध ऐश्वर्य का उल्लेख दूसरे रूप से ही चरक में आया है। (शा अ १) योग को मोक्ष का प्रवर्त्तक माना है। योग-ज्ञान में सब प्रकार की वेदनाओ की समाप्ति कही गयी है।

चरक सहिता में पुनर्जन्म, पुरुष और रोग की उत्पत्ति, आत्मा सम्बन्धी प्रश्नो का विचार बहुत ही स्वतत्र रूप मे है। चरक सहिता में आस्तिक का अर्थ है, जो पुनर्जन्म को माने और पुनर्जन्म को जो नही मानता वह नास्तिक है। यह अर्थ पाणिनि के सूत्र "अस्ति नास्ति दिष्ट मति." (४।४।६०), के अनुसार ठीक है, परन्तु मनुस्मृति के अनुसार जो कि वेद को न माननेवाले व्यक्ति को नास्तिक कहते है,—ठीक नही है ('योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज । स साधुभि बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक ॥' —मनु २।११)।

चरक सहिता में वेद को ही आप्तागम (आप्तो का शास्त्र) माना है, इसकी प्रामाणिकता स्वतत्र रूप से स्वीकार की है, इसके साथ वेद के साथ जिसका मेल बैठता हो, परीक्षा करनेवालो ने जिसको बनाया हो, (अच्छी प्रकार से जाँच-पडताल करने पर जो निश्चय हुआ हो), सज्जनो ने जिसका समर्थन कर दिया हो, लोक के कल्याण, उपकार के लिए बनाया हो (धन के लिए या स्वार्थवश न बना हो), ऐसा शास्त्र विषय भी आप्तागम होता है (सू अ ११।२७ स्वामी दयानन्दजी को भी यही मान्यता है कि वेद स्वत प्रमाण है; शेष ग्रन्थ वही तक प्रमाण है, जहाँ तक वे वेद के साथ अनुकूल है)

चरक का दर्शन किसी एक दर्शन के ऊपर निर्भर नही है, साख्य, योग, न्याय और वैशेषिक इन सब का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। साथ ही स्वतत्र विचारो का भी प्रतिपादन दीखता है। ईश्वर सम्बन्धी मान्यता इसमें नही है। आचार सम्बन्धी सदाचार पर ही जोर है, जैसा कि भगवान् बुद्ध का सिद्धान्त और उपदेश था।

प्रत्यक्ष ज्ञान किन कारणो से नही होता, इस विषय मे चरक सहिता और साख्यकारिका का मत एक ही है। यथा—

"सतां चरूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात् मनोऽवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धि ।।' (सू अ ११।८)

'अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ।।' (सांख्य ७)

वस्तु के बहुत दूर और बहुत समीप होने से, इन्द्रिय के नष्ट होने से, मन के ठीक प्रकार न लगने से, सूक्ष्म होने से, रुकावट होने से, किसी से अभिभूत होने पर (दिन में चन्द्रमा का दिखाई न देना), और समान वस्तुओ के होने से वस्तु का प्रत्यक्ष नही होता। वास्तव में चरक सहिता का दर्शन उपलब्ध साख्यकारिका से प्राचीन है। चरक में तन्मात्र शब्द नही है। सुश्रुत में तन्मात्र शब्द है।

चरक सहिता में देवतावाद है, परन्तु यह वैदिक देवताओ से ही सम्बद्ध है (क अ. १।१४) पुराण कल्पनावाले महादेव, विष्णु और ब्रह्मा का उल्लेख आया अवश्य है (ज्वर चिकि अ ३ में—ज्वर की उत्पत्ति मे शिव–१५-२५,) वृषभध्वज की पूजा, सि अ १२।१९।१), ज्वर की शान्ति में विष्णु–३१० से ३१३), साथ में गङ्गा, मरुद्गण की पूजा का भी उल्लेख है। विष्णु सहस्र नाम का पाठ करने के लिए भी कहा गया है। ये सब बातें तात्कालिक मान्यता को स्पष्ट करती है। यह विचार रोग की मुक्ति के सम्बन्ध में है। सामान्यत सद्वृत्त मे आचार पर ही जोर है, (यथा, चरक. सू अ ८ में)। परन्तु राक्षस, भूत, पिशाच आदि का नाम लेकर बच्चे को भयभीत करने का निषेध भी है (शा अ ८।६४)। भूत सम्बन्धी ग्रहो का प्रतीकार भी इसमें है (शा अ २।९-१०)।[1]

चरक और सुश्रुत—जन्म से जाति की कल्पना चरक सहिता में नही है, अध्ययन, एवं कर्म से जाति उत्पन्न होती है (चि अ १। ५२-५३)। चरक सहिता में सुश्रुत की भाँति जाति का प्रश्न नही है (सुश्रुत मे अध्ययन सम्बन्ध में—सू अ २।५, सूतिकागार में घर और शय्या के निर्माण में जाति विचार–शा अ १०।५ है)। चरक में ब्राह्मण भोजन का उल्लेख नही है; (सुश्रुत में है, चि अ ४।२९ मे–'ब्राह्मणम्हल भोजयेत्')। सुश्रुत ने चरक की भाषा के वाक्य पूरे के पूरे उठाये है, सु अ ४।५, मे चरक के सू अ. १५।५. का पूरा वाक्य लिया गया है, इसी प्रकार अन्य स्थल भी है। चरक संहिता में योगदर्शन सम्मत ईश्वर का उल्लेख नही।

---

१. 'मणयश्च धारणीयाः कुमारस्य खड्गरूरुगवयवृषभाणां जीवतामेव दक्षिणेभ्यो विषाणेभ्योऽग्राणि गृहीतानि स्युः ।।' (शा. अ. ८।६२.)

चरक सहिता में अन्न, पान के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी गयी है, लगभग बीस-पच्चीस तरह के चावलो का उल्लेख है। कश्मीर में आज भी प्रसिद्ध राजमाष का उल्लेख है; गेहूँ और जौ, मूँग, चावल का प्राय उपयोग होता था। मास वर्ग का विभाग पक्षियो के रहन-सहन की प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है। यह विभाग बहुत सरल और सक्षिप्त है (सू अ २७।५३-५५)। शाक वर्ग में प्राय पत्रशाक या द्रवाश बहुल शाको का ही उल्लेख है। फलवर्ग में फलो के गुण विवेचन तो है, परन्तु चिकित्सा में अनार के सिवाय दूसरे किसी फल का उपयोग नही है; केले का उपयोग विशेष रोग (स्त्री रोग में) में है। द्राक्षा का उपयोग मुख्य रूप से है। सुरावर्ग में नाना प्रकार के मद्यो का वर्णन है। जलवर्ग में आकाश से गिरा पानी देश-काल के अनुसार किस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, इसका उल्लेख है। इसके आगे गोरस वर्ग है—जिसमें दूध, दही, घी आदि का गुण-दोष विवेचन है। इक्षुवर्ग मे गन्ने के रस तथा इससे बनने-वाली वस्तुओ के गुड, मत्स्यण्डिका (राब); खण्ड शर्करा (मोटी मिश्री, कालपी या मुलतानी मिश्री) का उल्लेख है। इसी में मधु के चार प्रकारो का वर्णन है। इसके आगे कृतान्न वर्ग, बनी हुई वस्तुओ के विषय में है। स्नेहो तैल, लवण-क्षार का आहार योगी वर्ग में उल्लेख किया है। मूली आदि जो वस्तुएँ हरी खायी जाती है, उनका हरितवर्ग में उल्लेख है। अन्त में आहार-सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन करके यह अध्याय समाप्त किया है।

वैद्य-भेद—चिकित्सा व्यवसाय में उस समय भी ठगी चलती थी, इसी से कहा गया है—"राज्ञा प्रमावात् चरन्ति राष्ट्राणि"—(चरक. सू. अ. २९।८)। इसलिए सामान्य जनता को छद्मचर वैद्यों का पता बताने के लिए उनकी विशेष पहचान बताई गयी है- (सू. अ. २९।९)। इनको लोक के लिए काँटा कहा गया है; जिस प्रकार रास्ते में पडे काँटे से बचकर चला जाता है; उसी प्रकार इनसे बचकर रहना चाहिए। ये रोगो को शरीर में प्रविष्ट कराते है, रोग बढाते है और प्राणो को बाहर निकालते है। सुश्रुत में राजा की सम्मति चिकित्सा कर्म में लेना आवश्यक बताया गया है (राज्ञानु ज्ञातेन, सू. अ १०।३)।

इनके दो भेद है—छद्मचर और सिद्धसाधित। छद्मचर वैद्य तो वैद्यों का रूप बनाकर, उनके समान दिखावा रखकर मनुष्यो को ठगते है। सिद्ध साधित वैद्य—जिन वैद्यो ने धन, मान, प्रतिष्ठा पायी है जिनके ज्ञान की ख्याति होती है, उनके नाम के बहाने से (अपना नाम वैसा रखकर या अपने को उनका शिष्य बताकर) कमाते है (सू अ. ११।५०-५१-५२)। इनसे मनुष्यो को बचना चाहिए।

इनके विपरीत जो वैद्य प्राणो को शरीर में प्रविष्ट करते है और रोगो को बाहर निकालते है, जो प्रयोग के ज्ञान-विज्ञान-सिद्धि में सिद्ध है; उनको 'प्राणाभिसर' कहा गया है। ऐसे वैद्यो के लिए नमस्कार है। (तेभ्यो नित्य कृत नम)।

इस प्रकार के वैद्य भी जब कभी बहुत जोखम का काम करते थे—जिसमें प्राणो का सशय होता था, उस समय सब भाई बन्धुओ के सामने सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट करके राजा को सूचित करके चिकित्सा कर्म करते थे, जिससे पीछे अपयश या बदनामी न हो। (चि अ. १३।१७५-१७७)।

किसी बड़े रोग से रोगी के स्वस्थ होने पर उसे सब जाति-बन्धुओ को दिखाया जाता था, जिससे वैद्य को यश मिले (चरक सहिता में वैद्य के लिए चिकित्सा कर्म मे धन का इतना महत्त्व नहीं जितना मान का है, स्थान-स्थान पर मान-यश की रक्षा रखने का विधान है) अच्छी तथा परिश्रम से किसी औषध के सिद्ध होने पर उसका विज्ञापन, सूचना देने का उल्लेख भी चरक में है [सि. अ. १२।१९-(१)]।

वैद्य के लिए या अन्य व्यक्तियो के लिए धन की आवश्यकता का उल्लेख चरक सहिता मे है 'नह्यत पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायु" (सू अ. ११।५), बिना साधनो के जीवन बिताना सबसे बडा पाप है। साधनो के लिए धन एकत्र करे। इसके लिए सज्जनो से सम्मानित वृत्तियो का अवलम्बन करने को कहा है।

पेशे और साथी—चरक के समय जीवन के उपयोगी सब पेशे चालू थे। यथा—पाचक, स्नापक, स्नान करानेवाले, चापी करनेवाले संवाहक, उठाने-बिठानेवाले, उत्थापक, सवेशक, औषधि पेषक, गाने-बजानेवाले, किस्से-कहानी सुनानेवाले; श्लोक सुनानेवाले, इतिहास-पुराण में कुशल देशकाल को समझनेवाले व्यक्ति रोगी के पास रहते थे (सू अ. १५।७)।

कलाओ में कुशल, धन धान्य से समृद्ध, परस्पर अनुकूल रहनेवाले; समान प्रकृति, एक ही आयु के, कुल-माहात्म्य-दाक्षिण्य-शील-पवित्रता से युक्त, नित्य प्रति काम में लगे, प्रसन्न चित्त, शोक-चिन्ता से मुक्त, प्रिय बोलनेवाले, समान शील, विश्वासी, जिनके सामने केवल एक ही कार्य हो (नाना उलझनो में न फँसे हो) ऐसे साथी चुनने चाहिए।[1]

चरक सहिता का ढाँचा—चरक सहिता का ढाँचा एक विशेष क्रम से बना है। सम्पूर्ण सहिता को आठ स्थानो में बाँटा है। यथा—सूत्र (श्लोक) स्थान, निदान स्थान, विमान स्थान, शारीरिक स्थान, इन्द्रिय स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिए चरकसहिता का अनुशीलन (सांस्कृतिक) देखना चाहिए।

और सिद्धि स्थान। अध्यायो की कुल सख्या एक सौ बीस है। यही सख्या सुश्रुत सहिता में भी है। मनुष्य की आयु एक सौ बीस वर्ष पाँच दिन मानी गयी है,[1] लोक मे भी प्रचलित है—साठा सो पाठा—साठ का होने पर पकता है। इसमे पाँच दिन छोड दिये जायँ तो उसी दृष्टि से इन सहिताओ मे अध्याय सख्या निश्चित की गयी है। सूत्र स्थान और चिकित्सा स्थान मे तीस-तीस अध्याय है, विमान स्थान. निदान स्थान, शारीरिक स्थान मे आठ-आठ अध्याय, इन्द्रिय स्थान, कल्प स्थान और सिद्धि स्थान मे बारह-बारह अध्याय है।

सूत्र स्थान सबसे मुख्य स्थान है। इसमे सहिता का सम्पूर्ण विषय सूत्र रूप में आ गया है। जिस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकार के कुसुमो को सूत्र मे पिरो दिया जाता है; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न विषयो को इस सूत्र मे अत्रिपुत्र ने पिरो दिया है। यह सूत्र-स्थान चार-चार अध्यायो मे विभक्त करके सात विषय प्रतिपादित किये है। यथा—प्रथम चार अध्याय भेषज चतुष्क है, अगले चार स्वस्थ वृत्तिक, इसके आगे क्रमश चार-चार अध्याय-निर्देश सम्बन्धी, प्रकल्पना चतुष्क, रोगाध्याय, योजना चतुष्क; अन्नपान चतुष्क है। शेष दो अध्याय सग्रह अध्याय हैं। यह क्रम अन्य किसी सहिता में इस रूप में नही है।

निदान स्थान मे मुख्य आठ रोगो का उल्लेख है। विमान स्थान में—दोष-भेषज का विशेष ज्ञान कराया गया है। शारीर स्थान में शरीर सम्बन्धी ज्ञान कराने में आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का, योग तथा अन्य आध्यात्मिक विषय तथा शरीर सम्बन्धी ज्ञान दिया गया है। इसी में उत्तम सतान की उत्पत्ति, पालन सम्बन्धी विषय आता है। अगला इन्द्रिय स्थान है। इन्द्रिय का अर्थ आत्मा है। इसलिए इसमे मृत्यु सम्बन्धी लक्षणो का उल्लेख है।[2] चिकित्सा स्थान के प्रथम दो अध्याय रसायन और वाजी-करण से सम्बन्धित है। शेष अध्यायो मे प्रथम निदान स्थान मे कहे गये आठ अध्यायो

---

१. 'समा: षष्टिर्द्विधा मनुज करिणा च पञ्चक निशा:'—ज्योतिष; हाथी का यौवनकाल साठवें वर्ष में आता है; यथा—"भद्राणा षष्टिवर्षाणां प्रश्रुतानामनेकधा। कुञ्जराणां सहस्रस्य बल समधिगच्छति।" सुश्रुत. चि.अ.२९।१६.

२. 'रिष्टसमुच्चय'—दुर्गदेवाचार्यकृत, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित हुई है। इसमें रोगो के रिष्ट वर्णित है। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। इसका कर्ता जैन था। इसमें नाना प्रकार के मत्र दिये गये है।

रिष्ट के तीन भेद कहे गये है। यथा—

की चिकित्सा कहकर अन्य रोगो की चिकित्सा कही गयी है (कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तको मे बम्बई से प्रकाशित पुस्तको के अध्याय क्रम में यहाँ अन्तर है)। कल्प स्थान मे वमन-विरेचन की कल्पना कही गयी है। सिद्धि स्थान मे वमन-विरेचन वस्तु के विषय मे विस्तृत जानकारी है। इसमे इनसे होनेवाली व्यापदो की औषधि से सिद्धि बतायी गयी है (सम्यक् प्रयोग चैव कर्मणा व्यापन्नाना च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूप-देक्ष्याम –सू अ ४)।

इन सब स्थानो में आयुर्वेद के हेतु, लिंग और औषध इन तीन सूत्रो में वर्णित किया गया है। इस वर्णन मे उस समय की सास्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक जान-कारी विशेष रूप में मिलती है। चरक सहिता केवल आयुर्वेद-चिकित्सा का ही प्रति-पादन करती है, ऐसी मान्यता ठीक नही। यही सही कि प्राचीन या आधुनिक व्याख्या-कर्त्ताओ का ध्यान इस ओर नही गया। इस सहिता से उस समय की अध्यापन विधि, भाषा, विश्वास रूपी मान्यता है, देवतावाद-पूजा आदि बातो पर बहुत उत्तम प्रकाश पडता है।

यह सहिता इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वाग्भट ने अपने ग्रन्थ अष्टाग सग्रह तथा अष्टाग हृदय मे "इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय"–इस वचन से अध्याय का प्रारम्भ किया है।

टीकाएँ—चरक सहिता पर बहुत-सी टीकाएँ हैं। इनमें से निम्नलिखित प्रसिद्ध है—

१ भट्टार हरिचन्द्र की बनायी चरकन्यास नामक व्याख्या। बाण ने हर्षचरित में भट्टार हरिचन्द्र के गद्य की प्रशसा की है।[1] इस टीका का कुछ अश श्री मस्तराम

'पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं भवति त्रिविकल्पम्।
जीवस्य मरणकाले रिष्ट नास्तीति सन्देहः॥' १७॥

(चरक में—'नत्वरिष्टजातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते। मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम्॥' इन्द्रि. २।५.

१. 'पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥' (हर्षचरितः, प्रथमोच्छ्वासः १२।)

वाक्पति के बनाये गौड़वहा नामक प्राकृत काव्य में—(छाया रूप से)—

'भासे ज्वलनमित्रे कुन्तिदेवे च यस्य रघुकारे।
सौबन्धवे च बन्धे हारीचन्द्रे च आनन्दः॥'

तीसटाचार्य विरचित चिकित्सा कलिका में तीसटाचार्य के पुत्र चन्द्रट ने कहा है–

शास्त्री ने छापा था। महान विश्यामलक विरचित पादताडित (जो कि गुप्त-काल की रचना है) मे वाह्लीक के रहनेवाले काकायन गोत्री वैद्य ईशानचन्द्र के पुत्र हरिचन्द्र का नाम आता है। महेश्वर विरचित विश्वप्रकाश कोश के अनुसार यें साहसाङ्क नृपति के राजवैद्य थे। राजशेखर ने काव्य मीमासा मे हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त का विशाला अर्थात् उज्जयिनी में एक साथ उल्लेख किया है—(चतुर्भाणिक— पृष्ठ १७९)।

२. जैज्जटाचार्य विरचित निरन्तरपदव्याख्या नामक टीका। इसको लाहौर से मोतीलाल बनारसीदास ने छापा था। इसका कुछ अश बीच से त्रुटित है। जैज्जट वाग्भट का शिष्य था। (इति वाग्भटशिष्यस्य जेज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्यायां चिकित्सा स्थाने रसायनाध्याय समाप्तिमगमत्)। जैज्जट ने मदात्यय चिकित्सा में भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, इसलिए जैज्जट इनके पीछे हुए।

३ चक्रपाणिदत्त की आयुर्वेद दीपिका व्याख्या। यह टीका आजकल विशेष सम्मानित है। चक्रपाणिदत्त गौड देश में वैद्य जाति के अन्दर लोधुवली सज्ञक दत्तकुल मे उत्पन्न हुए थे। गौडाधिपति नयपालदेव की पाकशाला के अधिकारी एवं मन्त्री नारायणदत्त के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम भानुदत्त था। नयपाल का राज्यकाल ग्यारहवी शती का मध्य है। चक्रपाणिदत्त के बनाये चिकित्सा-सग्रह (चक्रदत्त), द्रव्यगुण-संग्रह बहुत प्रसिद्ध है। इन्होने सुश्रुत संहिता

'व्याख्यातरि हरिश्चन्द्रे श्रीजैज्जट नाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्टर्यं समावहति॥'

विश्वप्रकाश कोष के प्रारम्भ में—भट्टार हरिचन्द्र के वंशधर महेश्वर ने कहा है—

'श्रीसाहसाङ्क नृपतेरनवद्यवैद्य-विद्यातरंग पदमद्वयमेव विभ्रत्।
[illegible] हरिचन्द्र नामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥
(विश्वप्रकाश १।५).

साहसाङ्क नृपति से द्वितीय चन्द्रगुप्त अभिप्रेत है। इसका राज्यकाल ३७५ से ४१५ ईस्वी तक था। भट्टार हरिश्चन्द्र का भी यही समय था। विशेष जानकारी के लिए निर्णयसागर की प्रकाशित चरकसंहिता में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की भूमिका देखनी चाहिए। महान् विश्यामलक विरचित 'पादताडितकम्' में कांकायन गोत्री ईशानचन्द्र वैद्य के पुत्र हरिचन्द्र का उल्लेख है। इस पर डा० अग्रवाल की टिप्पणी देखिए (पृ० १७९).

के ऊपर भी भानुमती टीका की थी। मुक्तावली तथा शब्दचन्द्रिका ये दो ग्रन्थ इनके बनाये कहे जाते है। मुक्तावली आयुर्वेद का शब्द-कोष है। इसमें आयुर्वेदीय औषधियो के गुण और धर्म वर्णित है। चक्रपाणि टीका में आयुर्वेद के तथा इससे सम्बन्धित पचास से ऊपर आचार्यों के नाम तथा उनके ग्रन्थो का उल्लेख आया है। आज इनमे से कई ग्रन्थ प्राय. नही मिलते।

४. शिवदास सेन विरचित तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या—शिवदास सेन गौड देश (बगाल मे) मालञ्चिका ग्राम में उत्पन्न हुए थे,[1] इनके पिता का नाम अनन्त सेन था। बार्बरशाह, गौडदेश के अधिपति के समाश्रित थे। बार्बरशाह का राज्यकाल १४५७ से १४७४ ईस्वी तक था। मालञ्चिका गाँव पवना जिले में है।

शिवदास सेन ने चरक पर तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, चक्रदत्त पर तत्त्व-चन्द्रिका व्याख्या, द्रव्यगुण सग्रह पर द्रव्यगुण सग्रह व्याख्या, अष्टागहृदय पर अष्टागहृदय-तत्त्वबोध नामक व्याख्या की है।

५. नवीन व्याख्यानकारो में श्री योगीन्द्रनाथ सेन की चरकोपस्कार तथा श्री गङ्गाधर कविरत्न की जल्पकल्पतरु व्याख्या है। इसमें चरकोपस्कार व्याख्या अपूर्ण है, परन्तु विद्यार्थियो के लिए बहुत ही हृदयङ्गम, सरल है। जल्पकल्पतरु व्याख्या दार्शनिक व्याख्या है।

भेल संहिता

पुनर्वसु आत्रेय के छ शिष्य थे—अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर, क्षीरपाणि, भेल और हारीत। इन सबने अपनी-अपनी सहिताएँ बनायी और ऋषियो समेत बैठे आत्रेय को सुनायी थी। इनमें से केवल दो सहिताएँ मिलती है, एक अग्निवेश की बनायी चरक से प्रतिसंस्कृत चरकसहिता और दूसरी भेलसहिता। भेलसहिता त्रुटित रूप में है, जितना भी अश मिला है, उससे स्पष्ट है कि यह सहिता अग्निवेश के सहपाठी की ही है। इसमें बहुत से वचन उसी सहिता के उसी रूप में मिलते है।

---

१. मालाञ्चकाग्रामनिवा. भूमौ गौडावनीपालभिषग्वरस्य।
अनन्तसेनस्य सुतो विधत्ते टीकामिमां श्री शिव[illegible]:॥'
(चक्रदत्त टीका)

योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापां छत्रमप्यतुलकीर्त्तिरवाप।
गौडभूमिपतेर्बार्बकसाहात् तत्सुतस्य सुकृतिनः कृतिरेषा॥
(द्रव्यगुण संग्रह व्याख्या)

अध्यायों का नामकरण भी बहुत मिलता है, शंकाएँ भी एक-जैसी ही है। इस सहिता का प्रचार बहुत नही हुआ, जैसा कि अष्टागहृदय के वचन से स्पष्ट है (भेडाद्याः–कि ·)।

भेलसहिता की छपी पुस्तक कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह ग्रन्थ त्रुटित है। इस सहिता में पृथिवीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेज काय आदि शब्दो का उल्लेख है, (पृष्ठ ८७), बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय (१ से ५५ पृष्ठ) में पृथिवीकाय, आपोकाय, ब्रह्मकाय, देवकाय आदि शब्द मिलते है।

भेलसहिता में कुछ नये विचार भी है। यथा—मन मस्तिष्क में रहता है, इसके बिगडने से उन्माद होता है (चित्त हृदयसश्रितम्—चित्त हृदय मे रहता है। हृदय से मस्तिष्क लेना या दिल लेना यह स्पष्ट नही। श्री दुर्गाशकर भाई जी ने मस्तिष्क लिया है। सबसे प्रथम मन दूषित होता है, फिर चित्त, चित्त के पीछे बुद्धि दूषित होने से उन्माद होता है—चि अ ८)।

हृदय का वर्णन सुश्रुत के वर्णन से मिलता है। यथा—

'पुण्डरीकस्य सस्थानं कुम्भिकायाः फलस्य च।
एतयोरेव वर्णं च विभर्त्ति हृदय नृणाम्॥
यथा हि संवृत्तं पद्म रात्रौ चाहनि पुष्यति।
हृत्तदा संवृत्त स्वप्ने विवृत्तं जाग्रतः स्मृतम्॥' (भेल. सूत्रस्थान अ. २१).

सुश्रुत मे हृदय का उल्लेख (शा अ ४।३२) इसी के आधार पर है। हृदय से रस (रक्त) निकलता है और फिर शिराओ द्वारा इसी में लौट आता है। यह बात चरक-सुश्रुत मे नही है। चरक मे हृदय का ऐसा उल्लेख भी नही है।[1]

भेलसहिता का प्रचार किसी समय अवश्य रहा होगा, क्योकि इसके कुछ योग नावनीतक में आते है।

डल्लन ने भेल सहिता का उल्लेख किया है "इदानी भेलभालुकिपुष्कलावतादीना शल्यतत्रविदा मतेन विषमज्वरोत्पत्तिमभिधाय . .. (सुश्रुत. उत्तर तत्र ३९। अ. में टीका)।

---

१ श्री दुर्गाशकर केवलराम जी शास्त्री जी की मान्यता है कि सुश्रुत के उत्तर तंत्र के पीछे और नावनीतक के पूर्व ३०० ईस्वी के आस-पास इस संहिता की रचना हुई है। यह विचार अधिक सम्मत नहीं लगता, क्योकि इस काल की भौगोलिक, सांस्कृतिक झलक उपलब्ध भेलसंहिता में नही है; जब कि इस समय के दूसरे ग्रन्थों में वह है।

भेल सहिता का पाठ टीकाकारो ने उतारा है, यथा—माधवनिदान मे ज्वर रोग की टीका में विजय रक्षित ने—"भेलोऽपि पैत्तिक पठ्यते ।

आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जागतोऽपि वा ।
कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च ॥'

शिवदास सेन जी ने भी इस सहिता का पाठ उद्धृत किया है—

'नागरं देवकाष्ठं च धन्याकं बृहतीद्वयम् ।
दद्यात् पाचनकं पूर्वं ज्वरिताय ज्वरापहम् ॥'

भेल संहिता का काल—भेल सहिता का वर्तमान चरक संहिता का काल अर्थात् ६०० ई० पू० है (भेल संहिता की भूमिका)। आत्रेय का शिष्य होने से इसकी रचना प्राय अग्निवेश के बनाये चरक से मिलती है। चैत्ररथ वन का उल्लेख, गर्भ का कौन-सा अग प्रथम बनता है; भरद्वाज और आत्रेय का गर्भावक्रान्ति प्रश्न पर एक समान विवाद, इसको उसी समय का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

भेल संहिता का विश्लेषण—भेल सहिता की रचना चरकसहिता के समान सूत्र स्थान, निदान, विमान, शारीर, चिकित्सा, कल्प और सिद्धि स्थान रूप मे है। इस सहिता की बहुत-सी बाते चरक सहिता से मिलती है और कुछ अधिक भी है, (यथा —गुल्म पदार्थ और उसका स्वभाव—"दुष्टाना हन्तुकामाना परप्राणभृता यथा। हस्त्यश्वरथयानाना सघातो गुल्म इष्यते ॥ एव देहरसादीना धातूना विप्रकर्षणम्। ससर्गो गुल्म इत्युक्त सघातो गुल्म उच्यते ॥ स्तम्भिनिस्तम्भिनीनातु (?) वल्लीना वीरुधामपि। सघातो गहन गुल्मस्तद्वद्गुल्मस्तु देहिनाम् ॥ अमूर्त्तत्वाद्धि वा तस्य सवृत्तिर्नोपजायते। सुधाय पित्तश्लेष्माणौ मारुतो गुल्मता व्रजेत् ॥ मधूच्छिष्टमय पिण्ड चिन्वन्ति भ्रमरा यथा। तथा रो (को)ष्टे (ष्ठे)षु पवनो धातूस्तान् विचिनोत्यपि ॥" 'सुधाय' शब्द इसमे स्पष्ट नही)।

चरक सहिता में महा, चतुष्पाद अध्याय मे (सू अ १०) आत्रेय और मैत्रेय का सवाद चिकित्सा की सफलता एव निष्फलता के विषय मे है। भेल सहिता मे यही प्रश्न आत्रेय और भद्र शौनक के बीच मे है (न त्वेता बुद्धिमात्रेय शौनकस्यानुमन्यते)॥

'पक्तये कारणं पक्तुः यथा पात्रं धनानि (त्रेन्धनानलाः) ।
विजेतुर्विजयो(ये) भूमिः(मे)श्चभूः (म्वः) प्रहरणानि च ॥
मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकाराहते यथा ।
नावहन्ति गुणान् वैद्यादृते पादत्रयं भिषक् ।
विद्यात्तस्मात् चिकित्साया प्रधानं कारणं भिषक् ॥' (सूत्र. नवाँ)

चरक सहिता में ये श्लोक इसी प्रकार सू अ ९ में ही आते है। इसी प्रकार गर्भ का कौन-सा अग प्रथम बनता है, इस सम्बन्ध मे चरक सहिता की भाँति भिन्न-भिन्न ऋषियो के मत दिये गये है। इन मतो में कुछ ऋषियो के मत दोनो सहिताओ में समान है (पक्वाशयो गुदमिति भद्रशौनक —चरक, पश्चा (क्व) द्गु (गु) द इति शौनक —भेल, २—नाभिरिति-भद्रकाप्य –चरक, नाभिरिति खण्डकाप्य-भेल, ३—शिर पूर्वमभिनिवर्त्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाज.—चरक, शिर इति भरद्वाज–शरीरस्य तन्मूलत्वात्—भेल)। कुछ नाम नये भी है, यथा, पराशर का मत, चरक मे यह मत काकायन का कहा गया है। भेल में आत्रेय का जो मत इस विषय मे दिया गया है, वह चरकसहिता के मत से भिन्न है।

उदररोग की चिकित्सा में शस्त्रकर्म दोनो सहिताओ में एक ही प्रकार का है। सर्प विषवाले फल से भी चिकित्सा समान रूप से कही गयी है।

कुष्ठरोग में खदिर का उपयोग विशेष रूप से दिया गया है। कुष्ठ मे खदिर का विशेष उपयोग सुश्रुत में भी है (चि अ. ९।७०)। चरकसहिता मे खदिर का उपयोग अवश्य आता है, परन्तु इसके लिए इतना जोर नही मिलता जितना भेल और सुश्रुत में है।

भेल सहिता मे आत्रेय के लिए कृष्णात्रेय, पुनर्वसुरात्रेय, चान्द्रभागि शब्द प्राय. आते है। जिससे स्पष्ट है कि इस भेल संहिता का सम्बन्ध अग्निवेश के गुरु आत्रेय से है; जैसा कि संहिता मे भी कहा गया है "इति ह स्माह भगवानात्रेय."।

हारीत सहिता

वर्त्तमान काल में उपलब्ध हारीत सहिता बहुत अर्वाचीन है। कलकत्ते में १८८७ में यह छपी थी। पीछे गुजराती और हिन्दी मे छपी। इसकी भाषा, रचना-शैली पूर्णत. अनार्ष है। चक्रपाणि, विजयरक्षित आदि ने हारीत सहिता के जो उद्धरण दिये है, वे इसमें नही मिलते।

इसी प्रकार से अग्निवेश के नाम से कहा जानेवाला अंजननिदान भी नवीन कृति है, क्योकि इसके कुछ पाठ सुश्रुत सहिता में है, चरक सहिता में नही हैं।

अग्निवेश संहिता, जतुकर्ण सहिता; पाराशर सहिता, क्षीरपाणि संहिता प्राचीन काल में थी। इनके पाठ टीकाकारो ने उद्धृत किये हैं। आज वे उपलब्ध नही है। विशेष जानकारी के लिए प्रत्यक्ष शारीरम् तथा काश्यपसहिता का उपोद्घात देखना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

नागवंश

भारशिव-वाकाटक और सुश्रुत संहिता

(लगभग १७६-३४० ई०)

पृष्ठ भूमि—अशोक के बाद के मौर्य राजा निकम्मे और कर्तव्य-विमुख निकले। उन्होने अपनी कमजोरी को अशोक की क्षमा नीति से ढाँपने का झूठा प्रयत्न किया। २१० ई० पू० में यह साम्राज्य टूटने लगा और भारत वर्ष चार मण्डलों मे बँट गया, मध्यदेश, पूरब, दक्षिण और उत्तरापथ। इनमें नये राज्य उठ खडे हुए।

सबसे प्रथम दक्षिण और पूरब के मण्डल स्वतत्र हुए। दक्षिण में सिमुल नाम के एक ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। इसके वश का नाम सातवाहन (= साल-वादन प्राकृत) है। इसका प्रारम्भ महाराष्ट्र में हुआ। पीछे से यह आन्ध्र में भी फैल गया और आन्ध्रवश कहलाने लगा (वाकाटक वश भी वाकाट स्थान से उत्पन्न होने के कारण वाकाटक कहलाया)। इस वश का राज्य अनेक उतार-चढाओ के साथ ४५० बरस तक बना रहा। कलिग मे २१० ई० पू० एक क्षत्रिय ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

मौर्य साम्राज्य की निष्क्रियता से ऊबकर प्रजा और सेना बिगड़ गयी थी। इसी से सेनापति पुष्यमित्र शुग ने समूची सेना के सामने बृहद्रथ राजा को मारकर शासन सँभाला। इसने मद्रदेश (स्यालकोट) तक विजय की। बौद्धो का दमन किया। इसका बेटा अग्निमित्र था (जिसको लेकर कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक लिखा)। इसका पौत्र वसुमित्र था। पुष्यमित्र के पीछे शुगो का आधिपत्य मथुरा तक जरूर बना रहा। इसके सामन्त मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, भारहुत में राज्य करते थे (इस समय पाचाल क्षेत्र की राजधानी अहिच्छत्रा थी, काम्पिल्य नही—इसे स्मरण रखना चाहिए, चरक में काम्पिल्य राजधानी कही गयी)। शुग राजा पाटलिपुत्र के बजाय अयोध्या में और कभी-कभी विदिशा (भेलसा) मे भी रहते थे।

उत्तर की तरफ पर्याप्त उतार-चढाव हुए जिससे अफगानिस्तान और पश्चिमी पजाब मे चार यवन राज्य बन गये थे। एक कापिशी में, दूसरा पुष्करावती में, तीसरा

तक्षशिला में, चौथा शाकल मे। इन सब राज्यो के बहुत से सिक्के अब तक मिलते है। शाकल का राजा मिनाण्डर (महेन्द्र था)।

इन यूनानी राज्यो और शुग साम्राज्य के बीच पूर्वी पजाब, राजपूताना, काठियावाड में बहुत-से गणराज्य बन गये थे। इनमे सतलज के निचले कोठे पर यौधेय नाम का एक मजबूत गणराज्य था। कुणिन्द नाम का शक्तिशाली राज्य हिमालय की तराई मे व्यास से जमुना तक था। दक्षिण मे सातवाहन वश के राजा राज्य करते थे। परन्तु पश्चिम मे ऐसी कोई शक्ति नहीं उठी। इसी कारण इसकी राजधानी उज्जैन के लिए चारो तरफ की शक्तियो मे छीना-झपटी रही (क्योकि यह मुख्य स्थान था, यहाँ से दक्षिण-पूरब का रास्ता खुलता है)। इसलिए उज्जैन कई शताब्दियो तक रणस्थली रहा। शको का पहला धावा काठियावाड और उज्जैन पर हुआ। शको ने १०० ई० पू० में सम्भवत उज्जैन जीता और ५८ वर्षों तक राज्य किया। तब प्रतिष्ठान (पैठन) से आकर राजा विक्रमादित्य ने (गौतमी पुत्र शातकर्णी) इनको हराया। शको का सहार करके विक्रम सवत् चलाया।

दूसरी शती ई० पू० मे भारत में चार बडी शक्तियाँ थी, पाँचवी शक्ति के रूप में शक आये थे। मध्यदेश के शुग राज्य और उत्तरापथ के राज्यो को शको ने मिटा दिया था (कनिष्क शक था)। तब केवल दो शक्तियाँ बची थी, एक शक और दूसरी सातवाहन। सातवाहनो की समृद्धि अद्वितीय थी। सातवाहनो ने शको को जड से उखाड फेका था। गौतमीपुत्र का बेटा वासिष्ठी पुत्र पुलुभावी बहुत योग्य राजा था। सातवाहनो मे से एक राजा हाल में बहुत प्रसिद्ध हुए जिनकी बनाई सप्तशती है।

सातवाहनो का राज्य दूसरी शती के अन्त मे टूटने लगा। आन्ध्र देश मे इस समय ईक्ष्वाकु वश ने राज्य किया, उसकी राजधानी श्री पर्वत (कृष्णा नदी के दक्षिण नालमलै पर्वत गुण्टूर जिले में) थी। काठियावाड मे छोटे-छोटे गण राज्य बन गये।[1]

भारशिवों का उदय—दूसरी शती ई०पू० के अन्त में विदिशा (भेलसा) मे क्षत्रियो का राज्य था। नहपान शक ने जब विदिशा जीता तब वे सिन्ध और पार्वती के सगम पर पद्मावती (आधुनिक पदमपवाया) मे चले गये। ७८ ई० मे भारत मे ऋषिक-तुखारो का (कुषाणो का) साम्राज्य स्थित होने पर स्वतत्रता की रक्षा के लिए नर्मदा के दक्षिण जगलो मे जा बसे। इन्ही नाग क्षत्रियो के नाम से नागपुर बसा। दूसरी शती के मध्य मे (लगभग १४०-१७० ई०) मे राजा नवनाग हुआ। उसने अपने जगल

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार के 'इतिहास प्रवेश' के आधार पर।

के आसरे से आधुनिक बघेलखंड के रास्ते गगा-कोठे की तरफ बढ़कर तुखार साम्राज्य के पूर्वी छोर पर चोट की। कौशाम्बी को जीत [illegible] (मिर्जापुर के पास आधुनिक कन्तित) मे अपना नया राज्य बनाया। कान्तिपुर के राजा शिव के उपासक थे, इन्होने अपने वश का नाम भारशिव रखा*। नवनाग के उत्तराधिकारी वीरसेन (लगभग १७०-२१० ई०) ने मथुरा से भी तुखार सत्ता उठा दी। पद्मावती और मथुरा में भी नाग राजवश की शाखाएँ स्थापित हो गयी। इनके लिए ताम्र पत्र पर लिखा है —

"अशभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वाहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवशानाम् पराक्रमाधिगत-भागीरथी अमलजलमूर्छाभिषिक्तानाम् दशाश्वमेध अवभृतस्थानानाम् भारशिवानाम्"

उन भारशिवो (के वश) का, जिनके राजवश का आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होने शिव लिगो को अपने कधे पर वहन करके शिव को भलीभाँति परितुष्ट किया था, वे भारशिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था, जिसे उन्होने

---

* इस विषय को डाक्टर के० पी० जायसवाल ने बहुत ही विस्तार से 'अन्धकार युगीन भारत' में स्पष्ट किया है। कुषाण काल से गुप्तवंश के बीच का समय इससे पहले अन्धकार में था।

भारशिवों की शिव के साथ बहुत समानता थी। इनके नामों के पीछे नाग शब्द आता था, शिवजी के चारो ओर जैसे गण रहते थे—इनके राज्य के चारो ओर भी गणराज्य थे। जिस प्रकार शिवजी बराबर योगियो की तरह रहते हैं, उसी प्रकार भारशिवों का शासन भी बिलकुल सरल था। उनकी कोई भी बात शानदार नहीं थी। उन्होंने कुशन साम्राज्य के सिक्को और उनके ढंग की उपेक्षा की और फिर से पुराने हिन्दू ढंग के सिक्के बनाने आरम्भ किये। उन्होंने शानशौकत नहीं बढ़ायी। शिव के समान उन्होने जान-बूझकर दरिद्रता अंगीकार की। उन्होने हिन्दू प्रजातंत्रों को स्वतंत्र किया और उन्हें इस योग्य कर दिया कि वे अपने यहाँ के लिए जैसे सिक्के चाहें, वैसे सिक्के बनायें और जिस प्रकार चाहें, जीवन निर्वाह करे। ये लोग अश्वमेध करते थे, परन्तु एकराट् या सम्राट् नहीं बनते थे। सदा राजनीतिक शैव बने रहे और सार्व राष्ट्रीय दृष्टि से साधु और त्यागी रहे।—'अन्धकार युगीन भारत' पृष्ठ ११०।

अपने पराक्रम से प्राप्त किया था, वे भारशिव जिन्होने दस अश्वमेध करके अवभृथ स्नान किया था।

दूसरे राजाओ ने दो या चार अश्वमेध यज्ञ किये थे; इन्होने दस अश्वमेध यज्ञ किये थे, इसीलिए ये मूर्धाभिषिक्त कहे गये हैं। ये दस अश्वमेध सम्भवत बनारस के दशाश्वमेध घाट पर ही किये गये हो, क्योकि इनकी राजधानी कान्तिपुर इसी के पास है। काशी–शव का निवास स्थान माना जाता है।

भारशिवो ने गगा तट पर पहुँचकर अपने देश को राष्ट्रीय सकटो से मुक्त करने का भार अपने ऊपर लिया था। (कुशाणो के राज्यकाल मे हिन्दूजाति बौद्धो को जिस दृष्टि से देखती थी, उसका उल्लेख महाभारत वन पर्व १८८ मे आया है। यथा—उस समय आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, कम्बोज, वाह्लीक और आभीर शासन करेंगे। वेदो के वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। शूद्र लोग ब्राह्मणो को 'भो' कहकर बुलायेंगे; ब्राह्मण इनको आर्य कहेंगे। लोग इहलौकिक बातो में बहुत अनुरक्त होगे। सब कर्मकाण्ड और यज्ञ लुप्त हो जायेंगे। उस समय सब एक वर्ण हो जायेंगे। देवताओ की पूजा वर्जित कर देंगे, हड्डियो की पूजा करेंगे—(यह स्पष्ट सकेत बुद्ध या मिलिन्द के अस्थि शेषो पर बने स्तूपो से है, देवताओ के पवित्र स्थानो पर एडूक—बौद्ध स्तूप बनेंगे—जिनके अन्दर हड्डियाँ रखेंगे, यह सकट था)।

भारशिव राजाओ के समय बौद्ध धर्म की बहुत अधिक अवनति हो गयी थी। उसने अहिन्द स्वरूप धारण कर लिया था। इसका कारण यही था कि उसने कुशानों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इससे इनकी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी थी। परन्तु स्थिति इतनी बदल गयी थी जिससे न वैदिक समाज वापस आ सकता था और न वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में (कर्मकाण्ड) मे लौट सकता था। बौद्ध धर्म के कारण जनता के विचारो में बहुत परिवर्तन आ गये थे। इसलिए वैदिक धर्म को जगाने की जो लहर उठी वह बौद्ध धर्म के सुधार की सब प्रवृत्तियो को लेकर चली।

बौद्ध धर्म आचार प्रधान था। ईश्वर और देवताओ की पूजा के लिए उसमे जगह न थी। जन साधारण का नाम बिना देवता के चल नही सकता था। अनार्यों में भी जडपूजा का स्थान और मान है। शूरसेन देश मे वासुदेव कृष्ण की पूजा चलती थी। भारत में जितने भी देवता पूजे जाते थे, उनमे विष्णु, शिव, सूर्य, स्कन्द आदि की भिन्न-भिन्न शक्तियो के सूचक विभिन्न रूप है। यही अवतार वाद की कल्पना बनी। पहले देवताओ की पूजा यज्ञो द्वारा होती थी; अब उनकी मूर्त्ति बनाकर मन्दिरो में पूजा की जाने लगी। मूर्त्तियाँ देवताओ की शक्ति का प्रतीक समझी जाने लगी।

वैदिक देवता में इन्द्र मुख्य थे। अब विष्णु और शिव की प्रधानता हो गयी। ऐतिहासिक कृष्ण की पूजा मे अब वैदिक प्रकृति-देवता विष्णु की पूजा मिल गयी। यही सातवाहन युग का भागवत धर्म था। विष्णु के अतिरिक्त शिव और स्कन्द की पूजा उस समय के पौराणिक धर्म में बहुत प्रचलित थी। भागवत धर्म और शैव धर्म को विदेशी भी अपना लेते थे।

पौराणिक धर्म का प्रभाव फिर बौद्धो और जैनो पर भी पडा। इन्होने बुद्ध और महावीर के भी अवतार की कल्पना की। बौद्ध धर्म का यह नया रूप महायान कहलाया, पुराना बौद्ध धर्म (थेरवाद) हीनयान कहलाने लगा।

साहित्य—पौराणिक धर्म की तरह नये सस्कृत साहित्य का विकास पहले-पहल सातवाहन-युग मे हुआ। पुष्यमित्र शुङ्ग के समय पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा। शुगो के समय (अन्दाजन १५० ई० पू० में) मनुस्मृति लिखी गयी। इसी कारण इसमें बौद्धविरोध भाव बहुत हैं। इसके २५० या ३०० साल पीछे याज्ञवल्क्य स्मृति लिखी गयी। भास कवि भी इसी समय हुए। नागार्जुन, अश्वघोष, चरक ये सब इसी पहली शताब्दी के आस-पास हुए। नागार्जुन ने एक लौहशास्त्र लिखा और पारे के योग बनाने की विधि निकाल कर रसायन के ज्ञान को बढाया।

मीमासा-दर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनि, वैशेषिकदर्शनकार कणाद, अक्षपाद गौतम, वेदान्त के प्रवर्त्तक वादरायण भी इसी युग मे हुए। अमरकोश भी इसी समय लिखा गया। उसका लेखक अमरसिंह बौद्ध था। संस्कृत के साथ प्राकृत में भी रचना हुई—राजा हाल ने हालसप्तशती लिखी। एक सातवाहन राजा के समय गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत मे बृहत्कथा लिखी थी, जो अब नही मिलती।

यवन और शुग राजा का समय २१० से १०० ई० पू० है, और सातवाहन युग २१० ई० पू० से १७६ तक है। इसके आगे भारशिव और वाकाटक युग ४५५ ईस्वी तक है।

श्रीपर्वत—चरक सहिता मे दक्षिण प्रदेश का उल्लेख नही आता। परन्तु सुश्रुत सहिता मे दक्षिण प्रदेशो का उल्लेख आता है (श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा—चि अ २९।२७)। श्रीपर्वत अपने चमत्कार के लिए प्रसिद्ध है।* इसी प्रकार चि. अ

---

* 'सफलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपार्वतो'—हर्षचरित।

[२] श्री पर्वतश्चाश्चर्यवार्त्तासहस्राभिज्ञेन जरद्द्रविडधार्मिकेण—कादम्बरी।

४।२९ में "दक्षिणपथगाश्च गन्धा वातघ्नानि"—सुगन्धित द्रव्य दक्षिण में ही होते हैं —इसलिए उनका उल्लेख है।

श्रीपर्वत का वर्तमान नाम नालमलै है। गुंटूर जिले में कृष्णा नदी के किनारे नागार्जुन-कोंड अर्थात् नागार्जुन की पहाड़ी पर कई शिलालेख मिले हैं। इनके आधार पर श्रीपर्वत की ठीक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। इन पहाड़ियों के बीच में एक उपत्यका या घाटी है, इन पहाड़ियों पर उन दिनों किलेबन्दी थी। सैनिक कार्यों के लिए यह स्थान बहुत ही उपयुक्त था, एक दृढ गढ़ का काम देता था। इस स्थान पर बौद्धों के सगमरमर के कुछ स्तूप मिलते हैं, उनके आधार पर इस स्थान का नाम 'श्रीपर्वत' निश्चित किया गया है। यह अनुश्रुति बहुत पुरानी है कि सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु और विद्वान् नागार्जुन श्रीपर्वत पर चला गया था। उसकी मृत्यु यहीं पर हुई थी। इसी से उस पहाड़ी को आजतक नागार्जुनी कोंड कहते हैं। युवानच्वांग ने लिखा है कि नागार्जुन सातवाहन राजा के दरबार में रहता है। (हर्षचरित में भी बाण ने इसका उल्लेख किया है—"नागलोक से वासुकी से प्राप्त मोतियों की एक लड़ी मन्दाकिनी नामकी माला को लाकर अपने मित्र समुद्राधिपति सातवाहन नामके राजा को नागार्जुन ने दी थी। वही माला आचार्य दिवाकर ने हर्ष को दी थी)। नागार्जुन और सातवाहन की मैत्री का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। नागार्जुन ने सातवाहन राजा को बौद्ध धर्म का सार एक पत्र में लिखकर भेजा था। सुहृल्लेख नामक उस पत्र का अनुवाद तिब्बती भाषा में सुरक्षित है।

सातवाहन काल दूसरी और तीसरी शताब्दी का है। नागार्जुन का समय भी इसी के आस-पास होना चाहिए। नागार्जुन सिद्ध थे, उनका निवास श्रीपर्वत था, इसलिए सिद्धि प्राप्ति के लिए वह महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा।[1] वज्रयान (महायान

---

[1] 'भगवति, सेवानीं सौदामिनी समासादिताश्चर्यमन्त्रसिद्धप्रभावा श्रीपर्वते कापालिकव्रते धारयति ॥'—मालती माधव।

'अद्य किल भर्त्ता श्री पर्वतादागतस्य श्रीखण्डनामधेयस्य धार्मिकस्य सकाशादकाल कुसुमसंजननदोहदं शिक्षयित्वात्मनः परिगृहीतां नवमल्लिकां कुसुमसमृद्धिशोभितां करिष्यतीति तत्रैव वृत्तान्तं ज्ञातुं देव्या प्रेषितास्मि ॥'—रत्नावलि २रा अंक।

१. महाभारत में, आरण्यपर्व में, श्री पर्वत का उल्लेख है—

'श्री पर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥

से निकला—बौद्ध वाममार्ग पन्थ) छठी ई० मे आन्ध्र देश के श्रीपर्वत पर पहले पहल प्रकट हुआ। वज्रयान ने बुद्ध को वज्रगुरु बनाया। वज्रगुरु उसे कहते है, जिसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो। सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए अनेक गुह्य साधनाएँ करनी पडती थी।

वाकाटक—समुद्रगुप्त की विजयों से प्राय एक सौ बीस वर्ष पूर्व वाकाटक राज्य की नीव पडी। आजकल के पन्ना शहर के पास किलकिला नामक छोटी-सी नदी है, जो आगे केन में जा मिलती है। इस किलकिला प्रान्त में भारशिवो का एक सामन्त और सेनापति रहता था, जो विन्ध्यशक्ति के नाम से प्रसिद्ध था। यही वाकाटक या विन्ध्यवश का था।

भारशिव साम्राज्य की सब शक्ति वाकाटको के हाथ में चली गयी थी। भारशिव राज्य में मालवा प्रान्त, बघेलखण्ड से बस्तर तक का इलाका और दक्खिन कोशल का छत्तीस गढ था। वाकाटको ने अब दक्षिण प्रदेश जीते। इससे सातवाहन, इक्ष्वाकु राजवंश (जिसका सम्बन्ध श्रीपर्वत से था) की समाप्ति हुई। वाकाटक और पल्लव वश का आपस में बहुत सम्बन्ध था।

विन्ध्यशक्ति के बेटे प्रवरसेन ने ६० वर्ष तक राज्य किया इसके समय साम्राज्य की बहुत उन्नति हुई। भारशिव सम्राट् भवनाग ने अपनी इकलौती बेटी प्रवरसेन के बेटे गौतमीपुत्र वाकाटक को दी थी और अपने दोहते को उत्तराधिकारी बनाया था। इस प्रकार से दोनो वश एक हो गये। प्रवरसेन के पीछे जितने राजा हुए उन सब के नामो के पीछे सेन शब्द आता है। प्रवर सेन के बाद उसका पोता रुद्र सेन गद्दी पर बैठा था। रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथिवी षेण हुआ। पृथिवी षेण की राजनीति, बुद्धिमत्ता वीरता और उत्तम शासन की बहुत प्रशसा की जाती है। इसने कुन्तल के राजा को जीता था और इसकी कन्या से विवाह किया था। कुन्तल देश कर्नाटक देश (कदम्ब देश) का एक अग था। इस पृथिवी षेण प्रथम के पुत्र रुद्र सेन द्वितीय का विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती से हुआ था। इस प्रभावती गुप्त का जन्म सम्राज्ञी कुबेरनागा के गर्भ से हुआ था, जो नागवश की राजकुमारी थी।

श्री पर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः।
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैर्वृतः॥' ८६।१६-१७.

आठवीं से ग्यारहवीं शती तक ८४ सिद्ध हो चुके थे। इनमें ही एक सिद्ध नागार्जुन था, जिसका सम्बन्ध वज्रयान से था। सिद्ध होने से इसे सिद्धियाँ प्राप्त थीं। इसने ही रसायनशास्त्र को जन्म दिया था। आयुर्वेद में रसशास्त्र का विकास इसी से हुआ।

वाकाटको ने त्रिकूट, कुन्तल, आन्ध्र राजाओ पर विजय प्राप्त कर ली थी, भारशिवो से उत्तराधिकार मे जो मिला था वह इससे अलग था। इनकी राजधानी का नाम चनका या काचनका था। वाकाटको मे प्रवर सेन और रुद्र सेन ये दो बहुत प्रतापशाली हुए। यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे ही पृथिवी षेण प्रथम और रुद्र सेन द्वितीय हुए थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक नयी नीति चलायी थी। जो राज्य किसी समय उसके वश के शत्रु थे उनके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करता था। इसी से उसने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह वाकाटक शासक रुद्रदमन द्वितीय के साथ कर दिया था। कदम्ब राजा की एक कन्या का विवाह अपने वश के एक राजकुमार से कर दिया था। स्वय उसने अपना विवाह कुवेरनागा के साथ किया जो कि नाग राजकुमारी थी।

वाकाटको का जिस भाग में प्रत्यक्ष शासन था, उसकी सीमा दक्षिण में कुन्तल की सीमा से मिलती थी। दक्षिण के आन्ध्र पल्लव भी वाकाटको के समान भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। पल्लवो से पहले इक्ष्वाकु वश राज्य करता था, इनकी राजधानी श्री पर्वत थी। सातवाहनो के पतन के बाद इनका अभ्युदय हुआ। समुद्रगुप्त ने पल्लवो को जीता था।

पृथिवी षेण का दूसरा पुत्र अपने पिता के पीछे गद्दी पर बैठा था। इसका नाम प्रवर सेन द्वितीय था। इसका पुत्र नरेन्द्र सेन आठ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा था। इसने योग्यता से शासन किया था। इसका विवाह कुन्तल के राजा की कन्या 'अज्झिता' के साथ हुआ था। इससे स्पष्ट है कि इसका कुन्तल पर प्रभाव था या उससे घनिष्ठ मैत्री थी।

इस प्रकार दक्षिण से सम्बन्ध विशेष रूप में वाकाटक काल में होता है। यही समय सुश्रुत सहिता का होना चाहिए क्योकि इसमें दक्षिण देश का उल्लेख, बौद्धो के प्रति घृणा ब्राह्मणो के प्रति विशेष आदर, वर्णभेद आदि बातें मिलती है।

सुश्रुत सहिता

सुश्रुत सहिता में उपदेष्टा काशिराज धन्वन्तरि है। श्रोता रूप मे सुश्रुत-औपधेनव, वैतरणी, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित आदि है। सम्पूर्ण सुश्रुतसहिता सुश्रुत को सम्बोधन करके कही गयी है। सुश्रुत के लिए 'वत्स' विशेषण प्राय आता है (उपनिषदो मे शिष्य के लिए सौम्य सम्बोधन प्राय आता है)। सुश्रुत ने शल्यशास्त्र के अध्ययन की इच्छा प्रकट की थी, इसलिए धन्वन्तरि ने इसी अग का उपदेश दिया। इस अग की प्रमखता का कारण भी बता दिया है क्योकि प्राककाल में देवताओ

असुरो के सग्राम मे व्रणो का रोहण इसी चिकित्सा से हुआ था, यज्ञ का शिर भी इसी शास्त्र की सहायता से जुडा था। इस शास्त्र मे यह विशेषता है कि इसमे उपचार बहुत शीघ्र हो जाता है। यत्र, शस्त्र आदि से रोग को सीधा देखा जा सकता है, शेष काय-चिकित्सा आदि तत्रो को भी इसकी अपेक्षा रहती है, इसलिए यह मुख्य है, इसी की शिक्षा दीजिए।

सुश्रुत के पाँच स्थानो मे (सूत्र, निदान, शरीर, चिकित्सा और कल्प मे) शल्य विषय ही प्रधान है; उत्तर तत्र मे कायचिकित्सा से सम्बन्धित ज्वर, कास आदि रोगो का वर्णन है। मुख्यत इसका सम्बन्ध शल्य से है, इसी लिए कुछ लोगो ने 'धन्वन्तरि' शब्द का अर्थ ही शल्य मे पारगत किया है (धनु शल्य तस्य अन्त पारमियर्त्ति गच्छतीति धन्वन्तरि)।

वर्त्तमान उपलब्ध सुश्रुत का उपदेष्टा धन्वन्तरि है। धन्वन्तरि एक सम्प्रदाय है, जिसका सम्बन्ध शल्य शास्त्र से है। जो भी शल्यशास्त्र मे निपुण होते थे, वे सब धन्वन्तरि शब्द से कहे जाते थे। इसी से चरकसहिता मे 'धन्वन्तरीयाणा' बहुवचन मिलता है। आदि उपदेष्टा धन्वन्तरि थे। उन्ही के नाम से यह अग कहा जाने लगा। इस सुश्रुत का प्रतिसस्कर्त्ता डल्हण के अनुसार नागार्जुन है। नागार्जुन कई हुए है। अन्तिम नागार्जुन सातवाहन राजा का मित्र था, जिसका उल्लेख बाण ने अपने हर्षचरित मे एक लडी मोतियो की माला के प्रसग मे किया है। सातवाहन दक्षिण का राजा था। यह समय लगभग दूसरी शताब्दी के आसपास का है। इस समय प्राकृत का स्थान सस्कृत ने ले लिया था। ब्राह्मण धर्म का फिर से प्राबल्य हो गया था। बौद्ध धर्म के प्रति द्वेष हो गया था, जन्म से जाति का प्राधान्य हो गया था। इसी से सुश्रुत सहिता मे ये बाते मिलती है, यथा—

सूतिकागार ब्राह्मण के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए लाल, वैश्य के लिए पीली, और शूद्र के लिए कृष्ण मृत्तिका पर बनाना चाहिए। पलग भी ब्राह्मण के लिए बिल्व का, क्षत्रिय के लिए न्यग्रोध (बरगद) का, वैश्य के लिए तिन्दुक का और शूद्र के लिए भिलावे की लकडी का बनाना चाहिए। (शा अ. १०।५)।

२ अध्यापन के विषय मे भी शूद्र के लिए मत्र छोडकर उपनयन करके आयुर्वेद का अध्यापन करने का उल्लेख एक आचार्य के मतरूप मे दिया गया है। (शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्न मत्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके—सू अ २।५)।

३. औषध निर्माण हो चुकने पर उसकी पूजा करके ब्रह्मभोज कराने का उल्लेख है (चि अ ४।२९)। चरक सहिता मे ऐसा उल्लेख नही आता।

४. बौद्ध भिक्षुओं के बरतनेवाले वस्त्र सघाटी को (दो चादरें सीकर ऊपर-ओढने का वस्त्र जो कि कटि से ऊपर ओढा जाता है) घृणित वस्तुओ के साथ पढा है, पुरीष कौक्कुट केशाश्चर्म सर्पत्वच तथा। जीर्णा च भिक्षुसघाटी धूपनायोपकल्पयेत् ॥ (उत्तर ३३।६) डल्हण ने भिक्षु का अर्थ शाक्य भिक्षु बौद्ध परिव्राजक किया है। यही श्लोक काश्यप सहिता मे भी आया है—("कुक्कुटस्य पुरीष च केशाश्चर्म पुराणकम्। जीर्णां च भिक्षुसघाटी सर्पनिर्मोचन घृतम् ॥ धूपमेत प्रयुञ्जीत सन्ध्याकाले सुखङ्करम ॥ बालगुरुचिकित्सा पृष्ठ ७०)। संहिता में इस प्रकार का उल्लेख नही आता।

५ सुश्रुत सहिता में राम-कृष्ण का नाम स्पष्ट आता है (महेन्द्र रामकृष्णाना ब्राह्मणाना गवामपि। तपसा तेजसा वापि प्रशाम्यध्व शिवाय वै ॥ चि अ ३०।२७)। इसमें राम से बलराम और कृष्ण भी—भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख ज्ञात होता है, जो कि शूरसेन देश मे विशेष प्रचलित था। हिन्दू धर्म का यह रूप दूसरी क्रान्ति में आया जो कि प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी के बीच का समय था। यह लहर चली थी पुराने वैदिक धर्म को जगाने के लिए, परन्तु इससे नया पौराणिक धर्म चल पडा (इतिहास प्रवेश)।

सुश्रुत का प्रतिसस्कर्त्ता नागार्जुन था, इसमे कोई भी प्रमाण नही मिलता। डल्हण ने किस आधार पर यह निश्चय किया, इसकी भी साक्षी नही मिलती। यदि बौद्ध नागार्जुन जिसे चौरासी सिद्धो मे भी गिना गया है, इस उपलब्ध सुश्रुत से सम्बन्धित था; इसके लिए कोई भी पुष्ट प्रमाण नही है।

सुश्रुत का दक्षिण भारत और उत्तर भारत भूमि से परिचय—चरक सहिता का भौगोलिक क्षेत्र मुख्यत भारत का पश्चिमोत्तर प्रान्त है। सुश्रुत का परिचय लगभग सारे भारत से है। पूर्व में कलिंग देश से है। सुश्रुत में जो मान दिया है, वह कलिंग मान के अनुसार ही है। उत्तर में काश्मीर नाम (चि अ ३०।३२), उत्तरकुरु (चि अ २९।१७) का उल्लेख आता है। उत्तर कुरु को आजकल यानशान कहते है, जिसका अर्थ देवताओ का पर्वत है। डाक्टर मोतीचन्द्र जी ने उत्तर कुरु का अपभ्रश रूप क्रारैन माना है। जिसकी पहिचान चीनी इतिहास के लूलान से की है; यह शक शब्द है (सार्थवाह पृष्ठ ११)।

हिमालय पहाड की चोटी पर, सह्याद्रि, महेन्द्र पर्वत, मलयाचल, श्रीपर्वत, देवगिरि, सिधु नदी, आदि है। (चि. अ. २९।२७-३०)।

चरक संहिता में इतना विस्तृत भूगोल नहीं है। चरक के समय भारत का इतना परिचय ऋषि को नहीं था। उनका विचरण पश्चिमोत्तर प्रान्त में ही रहा था। सुश्रुत के समय तक उत्तर भारत का सम्बन्ध दक्षिण से अच्छे प्रकार हो गया था; लोगों का परस्पर आवागमन व्यापार था, इसलिए सम्पूर्ण देश की जानकारी, कौन वस्तु, औषध कहाँ उत्पन्न होती है, इसका उल्लेख है। कश्मीर नाम भी चरक में नहीं है, वहाँ पर जातियों के नामों का उल्लेख है। केशर के लिए भी वाल्हीक ही नाम है ("वाह्लीकातिविषे बिल्व । " चि० अ० ३०।९१), आज भी ईरान से केशर आता है। कालिदास ने रघु के वर्णन में वाल्हीक के केशर का ही उल्लेख किया है (रघुवंश ४।६७)। केशर का नाम 'काश्मीर' जो पीछे आया है। सुश्रुत के समय कश्मीर नाम प्रसिद्धि में था। चरक में केसर के लिए कुंकुम और वाह्लीक ये दो ही शब्द आये हैं। सुश्रुत में भी केसर के लिए "काश्मीरम् या काश्मीरज" नहीं है, परन्तु काश्मीर शब्द है। भाव प्रकाश में केसर की उत्पत्ति कश्मीर में कही गयी है (कश्मीर-देशजक्षेत्रे कुंकुम यद् भवेत् हितत् । भा० प्र०)।

देवगिरि, सह्याद्रि, श्रीपर्वत ये नाम महाभारत में भी हैं। सहदेव ने दक्षिण की विजय भी की थी। पाण्ड्य, चोल राजाओं के जीतने का उल्लेख है, परन्तु यह पीछे मिलाया हुआ पाठ है (सभा० २८।४८, भारत सावित्री पृष्ठ १४२ पर)। आन्ध्र सातवाहन युग में ही हमारा दक्षिण से विशेष परिचय हुआ है। उसी समय सुश्रुत का निर्माण हुआ, यह मानना अधिक समीचीन है।

सुश्रुत संहिता का ढाँचा—इसमें भी एक सौ बीस अध्याय हैं। इस गणना में उत्तर तंत्र के अध्यायों को नहीं गिना गया। उत्तरतंत्र एक प्रकार का परिशिष्ट या खिल स्थान होता था, जो कि ग्रन्थ को पूर्ण करने के लिए था। यह संख्या मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष मानकर है। हाथियों की भी आयु इतनी ही होती है। साठ वर्ष की आयु में हाथी पूर्ण युवा होता है, लोक में मनुष्य के लिए भी कहा जाता है, कि साठ वर्ष में मनुष्य को बुद्धि आती है (साठा सो पाठा, पका)[1]। सम्भवत इसी से एक सौ बीस अध्याय बनाये गये हों।

---

१. **"समाःषष्टिर्द्विघ्ना मनुज करिणां पंच निशाः"—(बृहत्संहिता)।**
'भद्राणा षष्टिवर्षाणा प्रसुतानामनेकधा।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति ॥' (सुश्रुत चि. अ. २९।१)।
भद्र जाति के हाथी श्रेष्ठ होते हैं (ईदृशो भद्रजातिस्यात् कुञ्जरो विजयावहः

संहिता का विभाग—सूत्रस्थान मे ४६ अध्याय, निदान-स्थान मे १६; शारीर स्थान मे १०, चिकित्सास्थान मे ४०, कल्पस्थान मे ८, और उत्तर तत्र मे ६६ अध्याय है। उत्तरतत्र को छोडकर मुख्य शल्यतन्त्र शेष अध्यायो मे वर्णित है।

सुश्रुत का प्रवक्ता एक राजा है, इसीलिए इस प्रवचन में अभिमान है (अह धन्वन्तरिरादिदेवो—सू० १।३१), आयुर्वेद का दान करने के लिए माँगनेवालो के लिए—अर्थिभ्य –याचको के लिए देना कहा है। चरक सहिता या अन्य सहिताओ मे ऐसे वचन नही मिलते, अपितु रोग शान्ति के उद्देश्य से—आरोग्य के हेतु इसका प्रचार मिलता है। काशिराज का उपदेश एक ही स्थान पर बैठकर है स्थान-स्थान विचरण करते हुए नही है। इस समय अध्ययन उपनिषद् की भाँति अन्तेवासी रूप में होता है, चरको की भाँति नही होता, जो कि गुरु के साथ घूम-घूम कर विद्याध्ययन करते थे।

सुश्रुत मे चरक सहिता के समान ऋषि समूह के साथ विचार विनिमय, ऋषियो के भिन्न-भिन्न मत नही मिलते। न इसमें न्याय, वैशेषिक, योग आदि दर्शनो का चरक जिनका उल्लेख मिलता है। साख्य मत से पुरुष की उत्पत्ति बतायी गयी है। इन्द्रियो को पच महाभूतो से सम्बद्ध माना है। साख्य में इन्द्रियो की उत्पत्ति अहकार से मानी गयी है (साख्यकारिका २२—प्रकृतेर्महास्ततोहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशक) साख्य में वैकारिक अहकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत मे पचतन्मात्राओ की उत्पत्ति भूतादि अहकार से मानी गयी है। यह दोनो में भेद है।

सुश्रुत के समय मे भी भिन्न-भिन्न वाद प्रचलित थे। वैद्यक शास्त्र में इन सब वादो का उपयोग किया गया है। भिन्न-वाद—

'स्वभावमीश्वरं काल यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणाम च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः।' (शा. अ. १।११)

स्थूल बुद्धिवाले प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूप मे समझते है। कोई इसको स्वभाव रूप में जानता है, कोई इसका कर्त्ता ईश्वर मानता है, कोई काल, कोई यदृच्छा अपने आप बनी रहती है। कोई इसे नियति, भाग्य का परिणाम गिनता है और कोई इसे परिणाम रूप मानता है। आयुर्वेद मे इन सब मान्यताओ का उपयोग कही पर मिलता है, यथा—काँटो मे तीक्ष्णता, मृत-पक्षियो में चित्र-विचित्र रग स्वभाव का परिणाम है। मनुष्य जड है। आत्मा सुख-दुःख का स्वामी है, यह ईश्वर की

मानसोल्लास अ. ३।४।२३०); इसका यौवन साठ वर्ष में आता है; इसकी आयु १२० वर्ष होती है। यौवनकाल वय का मध्यकाल है।

सत्ता बताता है। सृष्टि का प्रलय ऋतु चक्र यह काल से होता है। तृण और अरणी के सयोग से अग्नि की उत्पत्ति यदृच्छा है। उत्पत्ति मे धर्म-अधर्म को कारण मानना नियति वाद है। प्रकृति से महान्, महान् से अहकार की उत्पत्ति परिणाम-वाद है।

शल्य तत्र का क्रियात्मक ज्ञान से सम्बन्ध अधिक होने के कारण इसकी शिक्षा देने के लिए "योग्यासूत्रीय" अध्याय सुश्रुत मे दिया गया है। इसमे किस कर्म का किस वस्तु पर अभ्यास करे, इसका विशेष उल्लेख है, यथा—कूष्माण्ड, दूधी, तरबूज, खीरा, ककडी आदि वस्तुओ मे छेदन कर्म का अभ्यास दिखाना चाहिए। ऊपर को काटना, नीचे को काटना आदि कार्य भी इन्ही पर दिखाना चाहिए। मश्क, वस्ति, प्रसवेक (चमड़े की थैली) आदि पानी एव कीचड़ से भरी वस्तुओ मे भेदन कर्म दिखाये। बालवाली खाल पर लेखन कार्य को, मरे हुए पशुओ की सिराओ में तथा कमलनाल मे वेधन कर्म को दिखाये। घुण से खायी लकडी मे, सूखी तुम्बी के मुख मे ऐषण कार्य को, कटहल, बिम्बी, बिल्वफल की मज्जा मे एव मृत पशु के दाँतो में आहर्य कार्य को दिखाये। सूक्ष्म-घट्ट दो वस्त्रो में, कोमल त्वचाओ मे सीवन कार्य का अभ्यास कराये। पुस्त (मिट्टी या लकड़ी के बने मौडल), के अग-प्रत्यगो पर पट्टी का अभ्यास करना चाहिए। मृदु मास के टुकडों पर अग्नि और क्षार का अभ्यास कराये। (सू० अ० ९।४)।

शवच्छेद सीखने का भी उपाय बताया गया है। शल्य शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान विना सशय के जाननेवाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह मृत शरीर का शोधन करके अगप्रत्यग का निश्चय करे। जो वस्तु आँख से पृथक् देख ली जाती है, शास्त्र से भी जिसे समर्थन प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार दोनो प्रकार से जानना ही ज्ञान को बढाता है। इसलिए सपूर्ण अगोवाले, विष से न मरे हुए, बहुत लम्बी बीमारी से न मरे, एक सौ वर्ष की आयु से कम व्यक्ति के शव में से आत्र और मल निकाल कर पुरुष के शव को बहते हुए जलवाली नदी में पिञ्जरे के अन्दर मूँज, वल्कल, कुश, सन आदि से लपेटकर एकान्त स्थान में रखकर गलाये। भली प्रकार नरम हो जाने पर इसको निकालकर सात दिन तक खस, बाल, बाँस, वल्वज की बनायी किसी एक कूर्च्ची (ब्रश) से धीरे-धीरे रगड़ते हुए त्वचा से लेकर अन्दर और बाहर के प्रत्येक अग-प्रत्यग को देखना चाहिए (शा० अ० ५।४७-४९)।

व्रणितागार (अस्पताल)—रोगी के लिए सबसे प्रथम एक घर चाहिए। इसमें रोगी की शय्या, पीड़ारहित, असंकुचित (पर्याप्त लम्बी-चौडी), सुन्दर गद्देवाली, रमणीय होनी चाहिए। शय्या का सिरहाना पूर्व की ओर रखना चाहिए। इस

पर शस्त्र रखना चाहिए ।[१] इस शय्या के पास मित्र लोग नयी-नयी बातें सुनाकर रोगी के व्रण की तकलीफ दूर करते रहें, ये मित्र उसे बराबर सान्त्वना देते रहे ।

रोगी के पास स्त्रियो का जाना (स्त्री परिचारिकाएँ) निषिद्ध किया गया है । विशेषत गम्य, ग्राम्यधर्म के योग्य स्त्रियो का दर्शन, इनके साथ बात-चीत, इनका स्पर्श सर्वथा ही छोड देना चाहिए (अगम्य स्त्रियो का तो प्रश्न ही नही) । क्योकि कभी अकस्मात् स्त्रीदर्शन से शुक्रस्राव हो जाय तो ग्राम्यधर्म के बिना भी वे विकार उत्पन्न हो जाते है । (सू० अ० १९।१४-१५) ।

रोगी के खान-पान का विधान बताकर उसकी आधिदैविक चिकित्सा भी कही गयी है । यह आधिदैविक चिकित्सा मन की तथा शरीर की पवित्रता से सम्बन्ध रखती है । रोगी को नख और बाल कटाकर साफ़ श्वेत वस्त्र धारण करके रहना चाहिए । मन की शान्ति, मंगल, देवता, ब्राह्मण, गुरु की आज्ञा में सदा तत्पर रहना चाहिए । यह सब इसलिए है कि हिसा में रुचि रखनेवाले, बड़े शक्तिशाली, महेश, कुबेर, कार्तिकेय की आज्ञा पालन करनेवाले राक्षस मांस एवं रक्त की चाह से व्रणी रोगी के पास आते है। इनके आने का उद्देश्य पूजा प्राप्त करना या गतायुष को मारना है । ये अनुचर जितेन्द्रिय, सावधान पुरुष को नही मार सकते । इसलिए सुन्दर घर में (साफ घर में) मगल, सुन्दर, अनुकूल कथाओ को सुनता रहे (यह सब कृमि, जर्म्स के लिए कहा गया है, सग्रह में इनको भूत शब्द से कहा है । सग्रह, उत्तर १७) जर्म्स की एक ही प्रवृत्ति है, केवल आहार प्राप्त करना । दूसरा इनको कोई कार्य नही, आहार भी मास, रक्त, वसा का ही है । सदा ये अन्धकार में रहते है । (आधी रात में या अन्धकार में आक्रमण करते है) । इनसे बचाने के लिए रोगी में आत्मबल, मनोबल लाने के लिए यह उपचार है ।

यंत्रशस्त्र—शस्त्र कर्म के उपयोगी साधनो को यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, जलौका के रूप में चार अध्यायो में वर्णन किया है । यंत्रो की संख्या एक सौ एक बतायी गयी है । इनमें प्रधान यत्र हाथ ही है। मन और शरीर में जिससे कष्ट पहुँचे उसे शल्य

---

१. प्रसवकाल में सूतिका के सिरहाने या उसके पास लोहे की कोई वस्तु कैंची, चाकू, कील आदि रखने का रिवाज आज भी है । सम्भवतः अकेला रहने पर रोगी कभी स्वप्न में या अन्य प्रकार से डर जाय तब शस्त्र पास में रहने से थोड़ा-सा बल मिले इसलिए यह सुविधा की गयी हो ।

कहते है (सुश्रुत के मत से शोक और चिन्ता भी शल्य है) । इन शल्यो को निकालने के लिए यत्र है ।

यत्र छ प्रकार के हैं—स्वस्तिक, सदेश, ताल, नाडी, शलाका और उपयत्र । यत्रकर्म चौबीस प्रकार के हैं, परन्तु चिकित्सक को चाहिए कि अपनी बुद्धि से और भी कर्मों को सोच ले । यत्रो मे बारह दोष होते है, यथा—बहुत मोटा होना, सार न होना (टूट जाना, कमजोर), बहुत लम्बा, बहुत छोटा, पकड में न आना, कठिनाई से पकडा जाना, टेढापन, ढीला रहना, बहुत उठा होना, जोड का ढीला होना, कोमल मुख; पकड ढीली रहना—ये बारह दोष यत्रो के है ।

शस्त्रो की सख्या बीस है । ये सब शस्त्र अच्छी पकडवाले, अच्छे लोहे के, उत्तम धारवाले, देखने मे सुन्दर जिनके मुख आपस मे ठीक तरह मिलते हो, भयानक डरावने नही होने चाहिए । शस्त्र का टेढा, कुण्ठित, टूटा हुआ, खुरदुरी धारवाला (आरी के समान), बहुत मोटा, बहुत छोटा, बहुत लम्बा; बहुत तुच्छ होना दोष है । इनमे आरी का खुरदरी धारवाला होना अच्छा है ।

शस्त्रो की धार चार प्रकार की होती थी । भेदन कार्य में आनेवाले शस्त्रो की धार मसूर के पत्ते के समान मोटी, लेखन कार्य के शस्त्रो की धार मसूर के पत्ते की मोटाई से आधी, वेधनशस्त्रो की धार तथा विस्रावण शस्त्रो की—बाल के समान, छेदनशस्त्रो की धार आधे बाल के समान होती थी । इन शस्त्रो की पायना (पानी चढाना) तीन प्रकार की है, क्षार मे, पानी मे और तेल मे । शस्त्रो को तेज करने के लिए चिकनी शिला होती है । इसका रग उडद के समान काला, धार को सुरक्षित रखने के लिए सिम्बल के डिब्बे होते हैं (विनयपिटक मे भी इस प्रकार के डिब्बे, थैलो का उल्लेख भिक्षुओ के लिए कहा गया है) ।

शस्त्र की तीक्ष्णता की पहचान—जब अच्छी प्रकार से तेज किया शस्त्र बाल को काट सके, अच्छी प्रकार बना हो; ठीक प्रकार से उचित रूप मे बना हो, तब उचित रूप मे पकडकर काम मे लगाना चाहिए । इन शस्त्रो को बढिया लोहे से बनाना चाहिए। इसके लिए अपने कर्म मे होशियार, लुहार से तीक्ष्ण शुद्ध लोहे के शस्त्र बनवाने चाहिए ।

क्षार, अग्नि और जलौका के लगाने-बनाने रखने आदि के विषय मे पूर्ण जानकारी दी गयी है । इसके आगे कर्णबन्धन के विषय मे उल्लेख है । कर्णबन्धन का विषय आगे भी चिकित्सा स्थान मे (चि० अ० २५ मे) आया है । ऐसा पता चलता है कि इस समय कर्णवेधन पर तथा कान की पालि लम्बी करने की प्रथा बहुत विस्तृत रूप में

थी। कान की पाली को बढाने के लिए इसमे छेदन करके इसमें वर्धनक–छल्ले पहनाये जाते थे। इन छल्लो से कई बार पाली कट जाती थी। इस पाली को जोडने के लिए पन्द्रह प्रकार के बन्धन तथा तैल आदि बताये गये है[1]। कानो के बढाने का विस्तृत उल्लेख, इसमे होनेवाले उपद्रव, इनका प्रतिकार सुश्रुत मे जितने विस्तार से है, इतने विस्तार से इससे पूर्व की और इससे पीछे की सहिताओ मे नही है।

प्लास्टिक सर्जरी—इसी प्रसग मे अन्य स्थान से मास काटकर या कपोल के मास से नाक बनाने का उल्लेख है।[2] नासासन्धान विधि के अनुसार ओष्ठसन्धान विधि का भी उल्लेख है। इस प्रसग से स्पष्ट है कि कर्णवेधन की भाँति नासिकावेधन करके इनमे आभूषण पहने जाते थे। सम्भवत ओठ मे भी पहने जाते हो, या जन्म से अथवा किसी अन्य प्रकार से इनका छेदन होने पर इनके बनाने की विधि का उल्लेख है। चिकित्साशास्त्र में सुश्रुत के अन्दर ही सबसे प्रथम लिखित प्रमाण इस सम्बन्ध मे मिलता है।

सुश्रुत मे अश्मरी, अर्श, उदररोग, मूढ गर्भ तथा व्रणो के उपक्रम आदि चीर फाड सम्बन्धी जानकारी स्पष्ट रूप से दी गयी है। भयकर शल्य कर्मों में—जहाँ पर प्राणो का सशय हो, वहाँ पर उत्तरदातृत्व पूर्ण व्यक्ति की रजामन्दी लेकर—अन्यो को (राजा को) सूचित करके शस्त्र कर्म करना चाहिए, जिससे पीछे अपयश न मिले। शस्त्र कर्म करने से पूर्व तथा शस्त्रकर्म के समय तथा इसके पीछे के लिए जो आवश्यक सूचनाएँ है, उन सब के विषय मे सूचना दी गयी है।

---

१. सुश्रुत में 'शूक रोग' नाम से एक रोग का उल्लेख है। शूक एक प्रकार का कीड़ा है, जिसके शरीर पर बाल-बाल होते हैं। इसका उपयोग लिंग, कान आदि बढ़ाने के लिए अन्य वस्तुओं के साथ किया जाता था (सू. नि. अ. १४।४)। इसके उपयोग से रोग होते थे। कानों की पाली बढ़ाने का रिवाज था। यथा—

'लोध्रकासीसमातंग[illegible]द्भवम्।
तैलं संसाधितं लिंगयोनिकर्णविवर्धनम्॥' (अनंग रंग)

२. 'विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बितस्य॥
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य बद्धत्वचं नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रति संदधीत तत् साधु बन्धैर्भिषगप्रमत्तः।' (सु. सू. अ. १६।२७।२८)

कल्पस्थान मे राजाओ की रक्षा विष से कैसी करनी चाहिए, विष का प्रयोग किन-किन स्थानो से और किस-किस प्रकार हो सकता है, इसकी पूरी जानकारी दी गयी है। रसोईघर का प्रबन्ध, भोजन की परीक्षा, धूप, वायु, मार्ग, जल, वस्त्र, माला, खड़ाऊँ, कघी आदि मे विष प्रवेश होने पर इनकी सफाई कैसे करनी चाहिए—ये सब बाते विशेष रूप से लिखी गयी है। इस प्रकरण मे विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वायुमण्डल मे जब विषसचार हो तो नगाडे (दुन्दुभि) पर अगद (विष नाशक औषधियाँ) का लेप करके इसे बजाना चाहिए। इसके बजाने से जो शब्द वायु मे गति उत्पन्न करता है, उससे वायु का विष नष्ट होता है, जहाँ तक इसकी आवाज जायगी वहाँ तक विष नष्ट हो जायगा।[1]

इसी सहिता मे ग्रहो के नाम, उनकी उत्पत्ति तथा अन्य जानकारी सबसे प्रथम सामने आती है। ग्रहो की पूजा जो कि सम्भवत पहली या दूसरी शताब्दी के समय चली थी, इसमे पूर्ण रूप से दी गयी है। ग्रहशान्ति के लिए बलि, चतुष्पथो पर स्नान आदि कर्म बताये गये है। भिन्न-भिन्न ग्रहो की पूजा वर्णित है, नवग्रह पूजा का उल्लेख सुश्रुत मे ही है। चरकसहिता मे पूतना का नाम है, परन्तु सुश्रुत मे पूतना, अन्ध पूतना, शीत पूतना तीन नाम है। चरक मे इस नाम को लेकर बच्चे को डराना मना किया है (शा० अ० ८)।

ग्रहो के अतिरिक्त अमानुषोपसर्ग प्रतिषेध अध्याय मे (उत्तर० अ० ६३)—निशाचरो के सम्बन्ध मे विशेष उल्लेख है। इसमे अदृश्य वस्तु का भविष्य ज्ञान, उसकी अस्थिरता, मनुष्यो से अधिक क्रिया जिस रोगी मे मिलती है उसे ग्रह से आक्रान्त बताया गया है। यह ग्रह विज्ञान सुश्रुत मे सबसे प्रथम मिलता है। इसके आगे इसी समय की काश्यप सहिता में विस्तार से देखने मे आता है।[2]

---

१. 'एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा नानद्यमाना विषमाशु हन्युः।
दिग्धाः पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो विषाभिभूता ह्यविषा भवन्ति॥'
(सु. क. अ. ५।७२).

'अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकां तोरणानि च।
श्रवणाद् दर्शनात् स्पर्शात् विषात् सप्रतिमुच्यते॥' (क. अ. ६।४).

२ काश्यप संहिता में रेवती को ही 'षष्ठी', 'धरणी', मुखमण्डिका कहा गया है। आज जो छठी की पूजा चलती है जिसका बाण ने भी कादम्बरी में उल्लेख किया है, वह यही षष्ठी-रेवती है। 'धरणी' नाम बौद्ध साहित्य में देवता का है।

सुश्रुतसहिता का मुख्य सम्बन्ध शल्य शास्त्र से है। शल्य चिकित्सा में जीवाणु एक मुख्य वस्तु है, इनको सहिता में निशाचर रूप से व्यक्त किया गया है। इनके कार्य को ठीक प्रकार से न समझने पर, इनका प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर इनको ग्रह, देवता से सम्बद्ध बताया गया है। जहाँ भी विचित्रता तथा मनुष्य से अधिक पराक्रम-प्रवृत्ति देखने मे आयी उसे देवता या ग्रह के साथ जोडा गया है। यह प्रथा चरक मे नही है।

सुश्रुत के टीकाकार—सुश्रुत की टीका श्री जैज्जट ने की थी। ऐसा उल्लेख डल्लन और मधुकोश की व्याख्या से ज्ञात होता है। जैज्जट नाम कैयट, मम्मट की भाँति टकारान्त होने से इनको कश्मीर का बताया गया है। यह वाग्भट के शिष्य थे।

सुश्रुत के दूसरे टीकाकार गयदास थे। इनकी टीका का नाम पजिका था। डल्लन ने बार-बार गयदास का नाम लिखा है। गयदास के पाठ का अनुकरण किया है। गयदास जैज्जट के पीछे डल्लन से पूर्व लगभग सातवी या आठवी शती में हुए थे ? गयदास की टीका पजिका या न्यायचन्द्रिका का निदानस्थान की १९३८ की तृतीय आवृत्ति मे निर्णय सागर प्रेस से छपी है। बहुत स्थानो पर डल्लन की टीका से अधिक स्पष्ट और विस्तुत है। गयदास की शरीरस्थान की टीका भी है, ऐसा सुनने मे आता है।

डल्लन—डल्लनाचार्य या डलणाचार्य मथुरा प्रदेश के रहनेवाले थे, ऐसा कविराज गणनाथ सेन जी का कहना है। ये दसवी शती के पास हुए थे। मथुरा के पासवाले भादानक देश के भरतपाल नामक वैद्य के पुत्र और सहपाल राजा के प्रीतिपात्र थे। सहपाल राजा मथुरा प्रदेश के किसी भाग का सामन्त था। डल्लन ने इसको भादनक नाथ कहा है। यह सहपाल भारत के इतिहास मे प्रसिद्ध बगाल के पालवश का सम्भवत महीपाल का पूर्वज होगा; ऐसी मान्यता गणनाथ सेन की है। पाल राजाओ की सत्ता दसवी-ग्यारहवी शती मे बगाल से बाहर भारत में भी फैल चुकी थी, यह इतिहास प्रसिद्ध है। सम्भवत इनमें से किसी का सामन्त हो।

चक्रपाणिदत्त ने डल्लण का नाम अपनी टीका में नही लिखा, परन्तु इसके मत का खण्डन किया है। चक्रपाणिदत्त का समय ग्यारहवी शती का है। इससे डल्हण चक्रपाणि से पहले दसवी शती मे हुए होगे। यह मानना सही है। गणनाथ सेन जी के मत से चक्रपाणिदत्त ने डल्हण का मत बिना नाम लिए बहुत उद्धृत किया है। इसलिए आगे लिखा हालदार का मत चिन्तनीय है।

डल्हण की टीका मे सरलता, प्राचीन पाठो का सग्रह, विद्यार्थियो के लिए उपयोगी टीका है। भानुमती टीका में जो कि चक्रपाणिदत्त की है, पाण्डित्य अधिक है।

इसी से डल्हण की टीका निबन्ध सग्रह का प्रचार सबसे अधिक है। यही सुश्रुत की सम्पूर्ण टीका है।

डल्हण ने अपनी टीका में जैज्जट, गयदास के उपरान्त पजिककार भास्कर, टिप्पनकार माधव तथा ब्रह्मदेव का उल्लेख किया है। कार्त्तिक या कार्तिक कुड, सुधीर, सुकीर का उल्लेख है। इसके सिवाय टिप्पणीकार लक्ष्मण का नाम कही पर मिलता है। इस समय सुश्रुत पर डल्हण की ही सम्पूर्ण टीका मिलती है, गयदास और चक्रपाणिदत्त की अपूर्ण है।

चक्रपाणिदत्त की टीका का नाम भानुमती है। इसका नाम तात्पर्यतिका भी है। इस टीका मे चक्रपाणि ने भट्टार हरिचन्द्र के बहुत से उद्धरण दिये हैं। सरस्वती-भवन पुस्तकालय, बनारस में भानुमती टीका सम्पूर्ण रूप मे थी। वह ब्रिटिश म्यु-जियम मे चली गयी है। (डाक्टर पी० चटर्जी डी० एस० पी०), चक्रपाणि दत्त ने सुश्रुत के रक्तसंचार के सिद्धान्त पर बहुत ही विशद वर्णन लिखा है, (सम्भवत इसी को श्री हाराण चन्द्र कविराज जी ने अपनी टीका मे 'तन्त्रान्तरे' के नाम से उद्धृत किया है। इसमे रक्तसचार का वर्णन आधुनिक रूप मे मिलता है, यथा—'चतु-प्रकोष्ठ हृदय वामदक्षिणभागत । तस्याधो दक्षिणौ कोष्ठौ गृहीत्वाऽशुद्धशोणितम् ॥' इत्यादि)।

टीकाकारो के विषय मे श्री गुरुपद शर्मा हालदार ने अपने ग्रन्थ बृहत्त्रयी मे अच्छा विवेचन किया है। इसमे बहुत-सी बाते ऐसी हैं जिनके विषय मे अभी विचार विनिमय की पर्याप्त गुजाइश है। सक्षेप मे उनकी विवेचना का आधार भी डल्हण की टीका है, जिसमे उसने पूर्व के टीकाकारो का मत या नाम उल्लेख किया है। (यह तिथि नाम का क्रम सन्दिग्ध है, केवल टीकाकारो की जानकारी के लिए लिखा है) यथा—

१ डल्हण ने विप्रचण्डाचार्य का मत लिखा है, कीथ ने इसको प्राकृत प्रकाशक के कर्त्ता वररुचि के समय का माना है जिससे स्पष्ट है कि पाँचवी-छठी शती मे यह जीता था।

२ सातवी या आठवी शती मे वग देश के समीपवर्त्ती शिला ह्रद ग्राम मे माधवकार ने प्रश्न सहस्रविधान नामक अन्य सुश्रुत श्लोक वार्त्तिक बनाया था। प्रोफेसर विल्सन ने 'दी मैटेरिया मैडिका औफ दी हिन्दूज' की भूमिका मे लिखा है कि आठवी सदी मे हारून और मेसूर के राज्यकाल (७७३ ईस्वी) मे चरक, सुश्रुत निदान का अरबी भाषा में अनुवाद हो चुका था। यह अनुवाद मूल भाषा से किया गया था अथवा पारसी भाषा मे किये अनुवादो से उलथा किया गया, इसको

निश्चित रूप से नही कह सकते । श्री डाक्टर पी० सेरे ने भी अपनी पुस्तक 'दी हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री' में इसका समर्थन किया है। यह भी पता चलता है कि खलीफा हारुण-अल-रसीद की सभा में मका नाम का राजवैद्य और अल्बेरूनी नाम का वैयाकरण रहता था। इन्होंने माधवनिदान का अनुवाद अरबी भाषा में किया था।

३ नवी या दसवी शती के बीच मे 'कार्त्तिक कुण्ड' नाम के किसी वैद्य ने सुश्रुत की टीका लिखी थी। यह सुना जाता है कि सिद्धयोग का प्रणेता वृन्द कुण्ड इनका ज्ञातिबन्धु था। कार्तिक कुण्ड ने चरक की भी टीका लिखी है।

४ नवमी शती जैज्जट का समय है (वास्तव मे जैज्जट का समय वाग्भट के साथ ही है जो सम्भवत ५वी शती के आसपास है), इसने भी सुश्रुत की टीका लिखी थी, जो कि बहुत प्रामाणिक थी। श्री हालदार महोदय जैज्जट और जज्जट को भिन्न मानते है। इस दृष्टि से जज्जट का नवी शताब्दी मे होना सम्भव है।

५ दसवी शताब्दी में सुवीराचार्य ने सुश्रुत सहिता की व्याख्या लिखी थी। निश्चल ने चिकित्सा सग्रह टीका रत्नप्रभा मे लिखा है 'तत्र सुविस्तरं सुवीरजेज्जटौ जल्पितवन्तौ, तदसारमिति चन्द्रिकाकार (गयदास)। इससे स्पष्ट होता है कि सुवीर ने भी कोई व्याख्या की थी।

६ दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे भास्कर भट्ट ने [illegible] थी। पञ्जिका का अर्थ हेमचन्द्र ने "टीका निरन्तरा व्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिकेति" किया है। अमरकोष की टीका मे रघुनाथ ने पजिका का अर्थ 'टीका ग्रन्थस्य विषमपदव्याख्यायिका समस्तपदव्याख्यायिका तु पञ्जिकेति" ॥ पजिका व्याख्या अब नही मिलती। परन्तु १६५६ ईस्वी में कवीन्द्राचार्य की ग्रन्थ सूची मे इसका नाम मिलता है।

७ दसवी और ग्यारहवी शती में गयदास हुए हैं। गयदास को [illegible] कहा जाता है। इनकी टीका की बहुत प्रसिद्धि थी। इनकी टीका के नाम बृहत् पजिका, न्याय चन्द्रिका आदि थे। रत्नप्रभा में निश्चल ने लिखा है—"गौडेश्वरान्तरङ्ग श्री गयदासेन दर्शितम्"। सम्भवत गौडाधिपति महीपाल के ये राजवैद्य थे। चक्रपाणि महिपाल के पुत्र नयपाल के प्रधान मत्री थे। इनकी लिखी केवल निदान स्थान की पजिका मिलती है।

८ तीसट के पुत्र चन्द्रट ने भी सुश्रुत की पाठ-शुद्धि की थी ('सुश्रुते पाठशुद्धिञ्च तृतीया चन्द्रटो व्यधात्')। यह न तो व्याख्याकार थे और न प्रतिसस्कर्त्ता।

९ ग्यारहवी शताब्दी मे कुमार भार्गवीय ग्रन्थ के कर्त्ता भानुदत्त के कनिष्ठ भ्राता नक्रगणिदत्त ने सुश्रुत सहिता की भानुमती टीका की थी। टीका के नाम से भानु के साथ इसका सम्बन्ध ज्ञात होता है। डल्हण का समय इससे पूर्व मानना ठीक है। उसने भानुमती टीका का उल्लेख नही किया। हालदार का मत इस सम्बन्ध मे सदेहात्मक है।

१० ग्यारहवी शताब्दी मे ब्रह्मदेव ने सुश्रुत पर टिप्पर्णी और व्याख्या लिखी थी। डल्हण ने ब्रह्मदेव का नाम अपनी व्याख्या मे लिखा है।

११ वगसेन के पिता गदाधर ने सुश्रुत सहिता पर एक व्याख्या लिखी थी। इनका समय ग्यारहवी शती है। माधवनिदान की मधुकोष टीका मे विजयरक्षित ने निदान की व्याख्या इनके नाम से दी है। इन्होने चिकित्सासार सग्रह (वगसेन) बनाना प्रारम्भ किया था, परन्तु पूरा नही किया। इसको वगसेन ने समाप्त किया।

१२ ग्यारहवी और बारहवी शती मे किसी समय गयीसेन ने सुश्रुत की व्याख्या लिखी थी। ये वगदेशवासी विषपाडा ग्राम मे रहते थे ('एक पुनर्गयीसेनो भेदेनैव चतुर्विध। विषपाडाभव श्रेष्ठस्तिकायिपुरजस्तथा ॥' भरत मल्लिक के वैद्यकुल से)।

१३ तेरहवी शताब्दी मे डल्लणाचार्य ने निबन्धसग्रह की व्याख्या लिखी थी। वैद्य समाज मे इसका बहुत आदर है। डल्लण और डल्हण पर्य्याय है। डल्लण ने टीका मे वगभाषा के कुछ नाम दिये है, जिनसे ज्ञात होता है कि ये वगभाषा को जानते थे। यथा—बन्धूक, बादूली (६३ पृ०), पनस, काटल (४४८ पृ०), तरक्षु, जरष (४७९), अश्वतर, वेसर (४७३ पृ०), पानीयविडाल, भोदद्र (४७५), शम्बूक, शामूक (४७७ पृ०)। डल्हण का समय चक्रपाणि-दत्त से पहले दसवी शती है। इसने भानुमती टीका का उल्लेख नही किया है।

१४ १९०५ ईस्वी मे गगाधर के शिष्य श्री हारायण चन्द्रजी ने सुश्रुत की टीका लिखी थी। इसे १९१७ मे पूरा किया।[1]

श्री हालदार महोदय ने सुश्रुत के उत्तर तत्र को प्रतिसस्कर्त्ता का बनाया हुआ माना है। इसके विषय मे जो विवेचना की है, वह हृदयगम नही है। आयुर्वेद ग्रन्थो

---

१ हालदार महोदय का मत अनिर्णीत है। डल्हण चक्रपाणि से पहले दसवीं शती में हुए हैं। उन्होने भानुमती या दूसरों की टीका का उल्लेख नहीं किया, यही प्रमाण उनको दसवीं शती का बताता है।

मे उत्तर तत्र, उत्तर स्थान, या खिलस्थान नाम से परिशिष्ट रूप में भाग मिलते है; जिनमे कि मुख्य भाग से बचे विषयो का सामान्य रूप से वर्णन किया जाता है। हार्नले महोदय का जो वचन प्रमाण रूप में दिया गया है, वह केवल कल्पना मात्र है। 'बृहत् सुश्रुत' इस नाम की सगति जोडने के लिए ही कल्पस्थान में यह नाम देकर उत्तर तत्र को 'यवीय सुश्रुत' या सुश्रुत कह दिया है, जिसकी कोई सगति नही। ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक (सहोत्तर त्वेदधीत्य सर्वं ब्राह्म विधानेन यथोदितेन। न हीयतेऽर्थान् मनसोऽभ्युपेतादेतद्वचो ब्राह्ममतीव सत्यम् ॥ उत्तर० अ० ६६।१७)। इसमे एक सौ बीस सख्या मुख्य ग्रथ की है, उत्तर तत्र तो परिशिष्ट होने से उसके अध्यायो की गणना नही है। यह आज की परिपाटी से भी ठीक है। आयुर्वेद के ग्रन्थो मे एक सौ बीस अध्यायों की एक परम्परा है, जो सुश्रुत के मुख्य भाग मे भी निभायी गयी है।

विलुप्त तंत्र और सहिताएँ

आयुर्वेद के आठ अग है। इन अगो पर पृथक्-पृथक् तत्र बने थे। कुछ सहिताएँ जिस शाखा मे बनी थी, उसी ऋषि के नाम पर प्रसिद्ध हुईं। प्राचीनकाल में शिक्षा पद्धति का विकास चरणो और शाखाओ मे हुआ है; इसीसे आयुर्वेद के पर्यायो मे शाखा और सूत्र मे पर्याय रूप से दिये गये है (तत्रायुर्वेद शाखा, त्रिद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तिरम्—सूत्र अ० ३०।३१)। शाखा और चरण का नाम ऋषि के नाम में होता था। एक शाखा या एक चरण में कई विषयो के ग्रन्थ बनते थे, और ये सब ग्रन्थ उसी शाखा या चरण के नाम से कहे जाते थे। एक प्रकार से ये शाखा और चरण उस समय के ज्ञान के विद्यापीठ थे (जिस प्रकार आज एक ही विश्व-विद्यालय मे कई विषयो की पढाई होती है, और उसके सब स्नातक उसी विद्यापीठ के नाम से प्रसिद्ध होते हैं)। इसलिए एक ही ऋषि के नाम पर श्रौत सूत्र, और आयुर्वेद ग्रन्थ दोनो मिलते हैं, यथा—आश्वलायन और आलम्बायन ऋषि के नाम पर दोनो विषयो के ग्रन्थ मिलते है। इसका इतना ही अभिप्राय है कि ये एक शाखा में बने है, न कि एक ऋषि के बनाये है।[1] इस दृष्टि से देखने पर नामो की बहुत कुछ समस्या सुलझ जाती है।

ग्रन्थो का नाम टीकाओ में आये नामो से सग्रह करके कविराज गणनाथ जी ने 'प्रत्यक्ष-शारीरम्' के उपोद्घात मे एक पूर्ण जानकारी वचनो को उद्धृत करके दी है।

---

१. 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष'—(डाक्टर अग्रवाल) इस विषय में देखा जा सकता है।

उसके आधार पर तथा अन्य जानकारी से यहाँ पर केवल तन्त्रो का नाम लिखा जाता है–

कायचिकित्सा सम्बन्धी तंत्र—१-अग्निवेश सहिता, २-भेड सहिता, ३-जतुकर्ण सहिता ४-पाराशर सहिता (सग्रह में इसका मत बहुत स्थानो पर उद्धृत है, यथा—अ० २१।१७); सू० ५-हारीत सहिता (आज जो छपी सहिता हारीत के नाम से मिलती है; उससे यह भिन्न है; क्योकि हारीत के नाम से उद्धृत वचन उपलब्ध संहिता में नही है। प्रकाशित हारीत नहिता आधुनिक समय की है, भाषा बहुत सामान्य है), ६-क्षारपाणि सहिता; ७-खरनाद सहिता, ८-विश्वामित्र सहिता, ९-अरिन्द्र सहिता, १०-अत्रि सहिता, ११-मार्कण्डेय सहिता, १२-आश्विन सहिता, १३-भारद्वाजसंहिता, १४-भानुपुत्र सहिता।

शल्य चिकित्सा सम्बन्धी तंत्र—१-औपधेनव तन्त्र, २-औरभ्र तन्त्र, ३-बृहत्सुश्रुत तत्र; ४-सुश्रुत तत्र, ५-पौष्कलावत तंत्र, ६-वैतरण तत्र, ७-वृद्ध भोज तंत्र, ८-भोज तंत्र; ९-कृतवीर्य तन्त्र, १०-करवीर्य तन्त्र, ११-गोपुररक्षित तत्र, १२-भालुकी तन्त्र, १३-कपिलबल तत्र, १४-सुभूति गौतम तत्र।

शालाक्य सम्बन्धी तंत्र—१-विदेह तत्र, २-निमि तत्र; ३-काकायन तत्र; ४-गार्ग्यतन्त्र, ५-गालवतन्त्र, ६-सात्यकि तत्र, ७-भद्र शौनक तत्र, ८-शौनक तन्त्र; ९-कराल तन्त्र, १०-चक्षुष्य तन्त्र; ११-कृष्णात्रेय तत्र, १२-कात्यायन तत्र।

भूत विद्या सम्बन्धी तंत्र—१-अथर्वतन्त्र (कविराज गणनाथ सेनजी का कहना है कि इसका पृथक् तन्त्र नही है, सुश्रुत, चरक मे ही ग्रहो का जो वर्णन है, वह इससे सम्बन्धित है। काश्यप सहिता में रेवती कल्प या रेवती ग्रह सम्बन्धी अध्याय इसी विषय से सम्बन्धित है)।

कौमार भृत्य सम्बन्धी तंत्र—१-वृद्धकाश्यप सहिता (काश्यप सहिता के उपोद्घात में पण्डित हेमराजशर्मा जी ने चार काश्यप लिखे है—कौमार भृत्याचार्य, वृद्धकाश्यप और काश्यप दो, अगदतन्त्राचार्य-वृद्धकाश्यप और काश्यप दो। रावणकृत प्राचीन बालतंत्र में काश्यप और वृद्धकाश्यप दो नाम आते है। इस कौमारभृत्यतत्र में आचार्य रूप से वृद्धकाश्यप ही अभिप्रेत है। काश्यप से अभिप्राय सम्भवत कौमारभृत्याचार्य काश्यप से है। डल्हण ने सुश्रुत की व्याख्या में काश्यप का नाम लिखा है। मधुकोश में वृद्ध काश्यप के नाम से दो श्लोक उद्धृत किये गये है। ये श्लोक अगद तत्र विषयक होने से दोनो काश्यप भिन्न दीखते हैं। एक का सम्बन्ध (काश्यप का) अगदतत्र से और दूसरे का (वृद्धकाश्यप का) कौमार भृत्य से है; ऐसा प्रतीत होता है। चरक

और अष्टागसंग्रह में कश्यप और काश्यप दो ही आचार्य कहे गये है—"अगिरा जामदग्निश्च वसिष्ठ कश्यपो भृगु । काकायन कैकशेयो धौम्यो मारीचिकाश्यपौ" ॥ सू०अ० १, अष्टाग सग्रह मे 'धन्वन्तरिभरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपा' —सू० अ० १ ।

२-काश्यपसहिता, ३-सनकसहिता, ४-लाट्यायनसहिता, ५-आलम्बायन सहिता, ६-उशन सहिता, ७-बृहस्पतिसहिता ।

रसायन तत्र १–[illegible] २–व्याडितत्र, ३–वशिष्ठतत्र, ४–माण्डव्यतत्र ५–नागार्जुनतत्र ६–अगस्त्य तत्र, ७–भृगु तत्र, ८–कपिञ्जल तत्र, ९–कक्षपुट तत्र, १०–आरोग्यमजरी, (कक्षपुटतंत्र और आरोग्य मजरी का सम्बन्ध तत्र नागार्जुन से कहा जाता है)

वाजीकरण तंत्र—कुचुमार तन्त्र (यह आधुनिक दीखता है, १९२२ मे महामहोपाध्याय श्री मथुराप्रसाद दीक्षित जी ने इसे प्रकाशित किया है।)

इन विलुप्त तत्र या सहिताओ के अतिरिक्त बहुत से नाम और भी है, जो कि टीकाओ मे आते है। इन नामो मे मनुष्य का नाम ही मिलता है; सहिता का उल्लेख नही। नाम [illegible] होगा। उदाहरण के लिए—

अष्टागसग्रह मे दारुवाही, नग्नजित्, का नाम आता है। अरुणदत्त के अष्टागहृदय की टीका मे और भी नाम आये है। वृन्दकृत सिद्धयोग की टीका मे श्रीकण्ठ ने बहुत से आचार्यों का नाम लिखा है। इसी प्रकार से शिवदास सेन जी और चक्रपाणि ने जिन ग्रन्थो या आचार्यों का उल्लेख अपनी टीकाओ मे किया है, उनके भी ग्रन्थ उस समय प्राप्य होगे। सामान्यत उनका अध्ययन नही होता होगा। ये पुस्तके आज की दृष्टि से सहायक या स्पष्टीकरण के रूप मे बरती जाती थी। मूल ज्ञान के लिए प्रसिद्ध सहिताएँ ही थो। इस से आज हमारे सामने कायचिकित्मा सम्बन्धी चरकसहिता, अष्टागसग्रह; शल्यचिकित्साओ मे सुश्रुत सहिता, कौ[illegible]रभृत्य विषय मे जीवनतत्र या काश्यपसहिता अवशिष्ट है।

काश्यपसहिता या वृद्धजीवक तत्र

नेपाल के राज्य गुरु श्री प० हेमराज शर्मा जी ने अपने ग्रन्थ सग्रह मे से इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवाया है। यह ग्रन्थ खडित रूप मे है। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस सहिता का सम्बन्ध कौमार भृत्यतत्र से है।

काश्यपसहिता की भी चरक-सुश्रुत के समान परम्परा है। जिस प्रकार चरक सहिता का मूल उपदेशक पुनर्वसु आत्रेय है, उसी प्रकार काश्यप सहिता के उपदेष्टा

मारीच काश्यप है। ऋचीक के पुत्र जीवक ने काश्यप के बनाये तंत्र का सक्षेप किया है। कलियुग मे यह तत्र नष्ट हो गया था; पीछे से जीवक के वशज वात्स्य ने इसका प्रतिसस्कार किया है।[1]

चरक सहिता मे मारीच काश्यप नाम तीन स्थानो पर आता है (सू अ. १।१२, सू अ १२। शा. अ ६।२१,)। दारुवाह का नाम काश्यपसहिता मे आता है। (सू वेदना); (सू. रोगाध्याय)। (चक्रपाणि ने भी दारुवाह का उल्लेख किया है। चि अ ३।७४ की टीका में)। आत्रेय के शिष्य रूप में भेल और नग्नजित् का नाम है (गान्धारभूमौ राजर्षिमग्न (नग्न) जित्स्वर्गमार्गग। सगृह्य पादौ प्रपच्छ चान्द्रभाग पुनर्वसुम्॥) नग्नजित् के पुत्र स्वर्जित का उल्लेख शतपथब्राह्मण में है। इस प्रकार से पुनर्वसु आत्रेय, भेल, नग्नजित्, दारुवाह, वार्योविद, मारीच, काश्यप ये सब वैद्य विद्या के आचार्य ऐतरेय-शतपथ काल से अर्वाचीन नही, थोड़ा बहुत आगे-पीछे के है। यह मान्यता श्रीहेमराज जी की है।

बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध जीवक से यह वृद्धजीवक भिन्न है, क्योकि दोनो के कार्य मे अन्तर है। यह जीवक बालरोग की चिकित्सा का उपदेश करता है। महावग्ग के जीवक ने शस्त्रकर्म किये है। कौमारभृत्य के आचार्य रूप मे जीवक का उल्लेख नावनीतक में है। उपलब्ध सहिता के उपदेष्टा भले ही अग्निवेश के समय के हो, परन्तु प्रतिसस्कर्त्ता वात्स्य बहुत पीछे के है। कनखल का नाम इस सहिता मे है ('गगाह्रदे कनखले निमग्न पचवार्षिक।' कनखल का नाम कालिदास के मेघदूत में आता है— 'तस्माद् गच्छेरनुकनखल शैलराजावतीर्णां'—पूर्वमेघ ५३), कालिदास का समय चौथी शताब्दी है, उसके आस-पास ही इसके प्रति सस्कर्त्ता का समय होना चाहिए। इस सहिता के काल विभाग में उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी-जैसे जैन साहित्य के पारिभाषिक शब्दो का होना, मातगी विद्या का उल्लेख, अव्यक्त से अहकार आदि सोलह विकारो की उत्पत्ति सुश्रुत के अनुसार साख्यमत से उल्लेख, कृतयुग के मनुष्यो का गर्भ में केवल

---

१. 'जीवको निर्गततमा ऋचीकतनयः शुचिः।
जगृहेऽग्रे महातंत्रं सञ्चिक्षेप पुनः स तत्॥
ततः कलियुगे तंत्रं नष्टमेतद् यदृच्छया।
अनायासेन यक्षेण धारितं लोक भूतये॥
वृद्धजीवकवंश्येन ततो वात्स्येन धीमता।
अनायासं प्रसाद्याथ लब्धं तंत्रमिदं महत्॥'

सात दिन रहना, अभेद्य, अच्छेद्य, अस्थि रहित शिर, जन्म से ही सब कार्यों के करने की क्षमता आदि अद्भुत कल्पनाओ का उल्लेख इसके प्रति सस्कर्त्ता का सुश्रुत के पीछे होना प्रामाणित करता है (श्री दुर्गाशकर शास्त्री)।

काश्यपसंहिता कालीन भूगोल और समय—काश्यप सहिता मे भिन्न-भिन्न देशो तथा भिन्न-भिन्न जातियो का उल्लेख है। ये जातियाँ प्राय वर्णसकर या म्लेच्छ है। यथा—सूत, मागध, वेन, पुक्कस (पुलकस), इस जाति की स्त्रियाँ पर सौती घर मे डगरिन का काम करती थी—छोटी जात–मिलिन्द प्रश्न), प्राच्यक, चण्डाल, मुष्टिक आदि ये जातियाँ देश मे उस समय तक उत्पन्न एव प्रसिद्ध थी। कुलिन्द, किरात आदि जातियो का निवास स्थान यमुना का उद्गम स्थान है, जहाँ पर यह नीचे मैदान मे आती है। हिमालय की तराई मे ये सब जातियाँ थी।

देशों के नाम—कुरुक्षेत्र, कुरु, नैमिषारण्य, पाञ्चाल, माणीचर, कौसल, हारीत-पाद, चर, शूरसेन मत्स्य, दशार्ण (इसका उल्लेख मेघदूत मे भी है), शिशिराद्रि, सारस्वत, सिन्धु, सौवीर, विपाद् (व्यास), और सिन्धु के बीच के छावे के लोग, कश्मीर, चीन, अपरचीन, खश, वाह्लीक, दासेरक, शात सार, रामण (रामठ); तथा इनसे अगले देशो के मनुष्यो के सात्म्य का उल्लेख किया गया है (कल्प-भोजनकल्प–४१।४३)।

काशी, पुण्ड्र, अग, कवग, काच, आनूपक (कोकण), कौशल देशवासियो को तीक्ष्ण द्रव्य देने चाहिए। कलिंग, पट्टनवासिन, दक्षिण देशवासी, नर्मदा के पास के व्यक्तियो के लिए पेया सात्म्य होती है।

मातंगी विद्या, लशुनकल्प—अष्टाग सग्रह में रसोन का उपयोग विशेष रूप में वर्णित है। रसोनका उपयोग कल्परूप मे रसायन दृष्टि से करने का उल्लेख है। नावनीतक का प्रारम्भ ही लशुनकल्प, लशुन सेवन से हुआ है। काश्यपसहिता में भी लसुन कल्प विस्तार से दिया गया है। लशुन का उपयोग मुख्यत शक-कुषाणो के ससर्ग से चला है। इसकी गन्ध के कारण द्विज इसे नही खाते थे। इसका प्रचार हो, इसीलिए तीसरी सदी के समय की काश्यप सहिता मे तथा गुप्तकाल के सग्रह नाव-नीतक मे इस पर जोर दिया गया है। लशुनकल्प या लशुन के उपयोग का इतना विस्तृत उल्लेख प्राचीन सहिताओ मे नही है।

बौद्धो की महामायूरी विद्या का उल्लेख सग्रह मे (महाविद्या च मायूरीं शुचिस्त श्रावयेत्सदा—उत्तर अ ८) तथा नावनीतक (छठे प्रकरण) में आता है। काश्यप सहिता मे मातगी विद्या का उल्लेख किया गया है। यह भी बौद्धो की एक विद्या है जो कि

दैवी बाधा, रोग आदि कष्टो को दूर करने के लिए पढी जाती है ('मातगी नाम विद्या-पुण्या दुःस्वप्नकलिरक्षोघ्नी पापकल्मशाभिशापमहापातकनाशनी'—रेवतीकल्प)। इस विद्या का उपयोग वरतने को विद्या पूर्ण रूप से वर्णित है। महामायूरी विद्या (नावनीतक, पृ १४४) से विद्या बहुत मिलती है (रेवतीकल्प, पृ. १६७)।

भाषा—काश्यप सहिता की भाषा सामान्य संस्कृत है, परन्तु इसमें कुछ विशेषता भी है। यथा—"नास्या लिगनी जातहारिणी भवति; या एवं वेद।' रेवतीकल्प।

जो ऐसा जानता है, (य एव वेद)—यह वचन इस रूप मे प्राचीन सहिताओ मे नही है। उपनिषद् मे इसी रूप मे मिलता है (अन्नादो भवति य एव वेद—छान्दो ३।१३।) इसके साथ ही भद्रकाली नाम (लशुनकल्प १०८) भी आता है, जो कि निश्चित गुप्तकाल के आसपास का है। सामान्यत. भाषा में अन्य भाषा के शब्द नही। भाषा तथा रेवतीकल्प, ग्रहो का उल्लेख; लिंगनी, परिव्राजिका, श्रमणका, कण्डनी, निर्ग्रन्थी, चीरवल्कलधारिणी, तापसी, चारिका, जटिनी, मातृमण्डलिकी, देवपरिवारिका, वेक्षणिका, जातहारिणी का उल्लेख है। ये सब सम्प्रदाय उस समय प्रचलित थे। इसमे हिन्दू, जैन, बौद्ध सब का उल्लेख है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियो का उल्लेख विस्तार से इसमे मिलता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न तापसो का उल्लेख यहाँ पर है (रेवतीकल्प.)।[1]

इनमें से कुछ पहचाने जा सकते है। यथा-लिंगनी—इसके लिए भारवि के किरात का पहला श्लोक सहायक है "स वर्णलिङ्गी विदत समाययौ"—इसमे लिंग, चिह्न धारण करनेवाला साधु अनुमोदित है। इसी प्रकार तापस, जो कि तप करते थे, यथा पचाग्नि-तप या वृक्ष की भाँति (स्थाणु रूप में) होकर तप करते थे, परिव्राजिका—सन्यासिनी; श्रमण का—भिक्षुणी, चीरवल्कल धारिणी—चीथडे या वल्कल को टुकडे करके पहनने वाली चरिका—घूमनेवाली, जटिनी—जटा रखनेवाली मातृमण्डलिकी—सप्तमाताओ की पूजा करनेवाली; देवपरिवारिका—वासुदेव, कृष्ण, बलराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न की पूजा करनेवाली, वेक्षणिका (ईक्षतेर्नाशब्दम् के अनुसार प्रत्यक्ष को ही माननेवाली); जाताहारिणी (?)। काश्यप सहिता मे एक श्लोक सुश्रुत संहिता का मिलता है। यथा—

---

१. बाण ने हर्षचरित में बहुत-से सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यथा—'आर्हत, मस्करी, श्वेतपट, पांडुरिभिक्षु, भागवत, वर्णी, केशलुंचन, कापिल, जैन, लोकायतिक, कणाद, औपनिषद्, ऐश्वर, कारणिक, कारन्धमी (धातुवादी, रसायन बनानेवाले), धर्मशास्त्री, पौराणिक, साप्ततन्तव, शाल्य, पांचरात्रिक; इनके सिवाय अन्य भी मत-मतान्तर माननेवाले थे।' (हर्षचरित, आठवाँ उच्छ्वास)

"कुक्कुटस्य पुरीषं च केशांश्चर्म पुराणकम् ।
जीर्णां च भिक्षुसङ्घाटी सर्पनिर्मोचनं घृतम् ॥'
(बालग्रह. चिकि. काश्यप)

'पुरीषं कौक्कुटं केशांश्चर्म सर्पत्वचं तथा ।
जीर्णां च भिक्षु सङ्घाटी धूपनायोपकल्पयेत् ॥' (सुश्रुत उ. ३३।६)

दोनो के पाठ साम्य से काश्यप सहिता सुश्रुत के पीछे की है। भौगौलिक उल्लेख तथा [illegible] है। लशुन-कल्प का या लशुन और पलाण्डु का प्रचार गुप्तकाल के साहित्य मे ललित भाषा मे मिलता है। नावनीतक, सग्रह, हृदय इनमे इस पर विशेष बल दिया गया है। मातंगी विद्या, तथा सग्रह की महामायूरी विद्या, नावनीतक मे महामायरी विद्या का पाठ इस बात को पुष्ट करता है कि कुषाण-काल के पीछे बनी है।

काश्यप सहिता की विशेषता—भारत मे पुत्र जन्म के पीछे छठी की जो पूजा प्रचलित है, इसका उल्लेख सहिता मे स्पष्ट रूप मे विस्तार से दिया गया है—

षष्टी के पाँच भाई है, जिनमे एक भाई स्कन्द है। तुम भाइयो के बीच मे रहने से षण्मुखी होगी, नित्य लालन की जायेगी। तुम छठी हो, इसलिए छठी सदा पूजा की जायेगी। इसलिए सूतिका षष्ठी (छठी), पक्ष षष्ठी की पूजा करनी चाहिए।

'भ्रातृणा च चतुर्णां वै पञ्चमो नन्दिकेश्वरः ।
भ्राता त्वं भगिनी षष्ठी लोके ख्याता भविष्यसि ॥
यथा मां पूजयिष्यन्ति तथा त्वां सर्वदेहिनः ।
अस्मत्तुल्यप्रभावा त्वं भ्रातृमध्यगता सदा ॥
षण्मुखी नित्यललिता वरदा कामरूपिणी ।
षष्ठी च तिथिः पूज्या पुण्या लोके भविष्यति ॥
तस्माच्च सूतिका षष्ठीं पक्षषष्ठीं च पूजयेत् ।
उद्दिश्य षण्मुखीं षष्ठीं तथा लोकेषु नन्दति ॥'
(बालग्रहचिकित्सा, पृष्ठ ६७)

इसी प्रकार दाँतो के नाम, इनकी उत्पत्ति, दन्तसंपत् (सूत्र अ. २०) का विस्तृत उल्लेख इसी सहिता में है। मनुष्यो के दाँत बत्तीस होते है। इनमे से आठ दाँत तो (अकल की दाढ) अपने आप एक बार उत्पन्न होते है। शेष चौबीस दाँत द्विज, दूसरी बार उत्पन्न होते है। जितने मासो में दाँत बैठते है, उतने ही दिनो मे फूटते है। जितने मासो मे उत्पत्ति के पीछे निकलते है, उतने ही वर्षों मे गिरते है (प्रथम दाँत का

उद्गम छठे मास मे होता है; छठे वर्ष मे प्रथम दाँत गिरता है) । मध्य के ऊपर के दो दाँतो का नाम राजदन्त है, ये पवित्र है । इनके टूटने पर श्राद्ध करने योग्य नही रहता। मनुष्य अपवित्र होता है । इनके पार्श्व के दाँत वस्त है। इसके आगे दाढ है, और शेष दांत हानव्य (हनुप्रदेश मे उत्पन्न) कहे जाते है। कन्याओं के दाँत जल्दी निकलते है । इनके निकलने में पीडा कम होती है, क्योकि इनके मसूडे पोले और कोमल होते है। लडको के दाँत देर में निकलते है, और इनमे पीडा होती है।

दाँतो का भरा होना, समान होना, घनता (ठोसपन), शुभ्रता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरामयता, रोग रहित होना; क्रमश कुछ ऊँचे होते जाना, मसूडो की समता, रक्तता, स्निग्धता, बडा-ठोस-मजबूत जड का होना दाँतो की सम्पत्ति है। दाँत का कम होना, टेढा या बढा होना, काला होना, मसूडो का दाँतो से पृथक् न दीखना अप्रशस्त है ।

फक्क रोग—जिसे आजकल 'रिकैट' कहा जाता है, इसी सहिता में सबसे प्रथम आता है। जिस धात्री का दूध कफ से दूषित होता है, उसे फक्का कहते हैं। इस दूध के पीने से बच्चे मे फक्क रोग हो जाता है। जिससे बच्चा एक साल का होने पर भी पैरो से नही चल सकता। यह फक्क रोग तीन प्रकार का है—१ दूध से पैदा होनेवाला, २ गर्भ मे उत्पन्न, ३ किसी रोग के कारण होता है। जब माता गर्भवती हो, तब दूध मे सहसा परिवर्त्तन आ जाता है। इस दूध के पीने से बच्चे में यह रोग हो जाता है।

इस रोग की चिकित्सा मे कल्याणक, षट्पल, ब्राह्मी घृत देने का विधान है (ब्राह्मी घृत शूद्र के लिए निषिद्ध है, क्योकि इस घृत के पीने से शूद्रा के बच्चे मर जाते हैं) ।

कटु तैल कल्प—तैल का रोग मे इतनी बडी मात्रा में उपयोग बहुत कम है। चरक सहिता मे तैल की महिमा वर्णित है । तैल के प्रयोग से दैत्य लोग वृद्धावस्था से शून्य, रोगरहित, श्रम से न थकनेवाले (जितश्रमा), युद्ध में अति बलवान् हुए थे। (सू अ. २७।२८८)। रोग मे विना औषधियो का तैल इतनी बडी मात्रा मे इसी सहिता में बरता गया है। इसके पीछे की सहिताओं मे भी यह नही है।

इस तैल का उपयोग प्लीहा की वृद्धि मे बताया गया है। प्लीहा रोग की शान्ति के लिए इससे उत्तम औषध दूसरी नही है। रोगी को कल्याणक या षट्पल घृत से स्निग्ध करके कटु तैल पिलाना चाहिए। तैल को रोगी के अग्निबल के अनुसार देना चाहिए, सामान्यत बडी मात्रा ४८ तोला (१२ पल) है और मध्यम मात्रा २४ तोला (छै पल) छोटी मात्रा १६ तोला (चार पल) है। रोगी की प्रकृति के अनुसार इसको औषधियों

से सस्कृत देने का भी विधान लिखा गया है। कटु तैल के समान शतावरी, शतपुष्पा-कल्प भी इस संहिता की अपनी विशेषता है।

काश्यप संहिता का ढांचा और भाषा—काश्यप संहिता की रचना चरक संहिता एव सुश्रुत संहिता की रचना की भाँति हुई है। इसमें उत्तरतंत्र के स्थान पर खिल स्थान है। प्राप्त काश्यप संहिता में सूत्रस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान, इन्द्रियस्थान, चिकित्सास्थान, सिद्धिस्थान, कल्पस्थान और खिलस्थान है। निदानस्थान मिला नही, क्योंकि विमानस्थान को तीसरा स्थान लिखा गया है। सिद्धिस्थान कल्पस्थान से पहले आया है।

काश्यप संहिता के विमानस्थान की रचना चरक संहिता के विमान स्थान से बहुत मिलती है परन्तु साथ ही कुछ अधिक भी दिया गया है। यथा शिष्योपक्रमणीय विमान मे ब्राह्मण को हविष्य ओदन की दक्षिणा देना, गुरु के अग का स्पर्श आदि विचार अधिक है।

शिष्य का अनुशासन चरक संहिता का अनुकरण करता है। वाद सम्बन्धी जितना पाठ काश्यप संहिता का उपलब्ध है, उसमे भी चरक संहिता का अनुसरण है। आयुर्वेद सम्बन्धी, आयु क्या है ? आयुर्वेद के अंग, किनको पढ़ना चाहिए, किसलिए पढ़ना चाहिए, इसका प्राथमिक तंत्र क्या है, किस वेद से इसका सम्बन्ध है, नित्य है या अनित्य, अतीत-अनागत-वर्त्तमान इन तीन वेदनाओ में भिषक् किस वेदना की चिकित्सा करता है, आदि प्रश्न चरक संहिता की भाँति हैं। इनका उत्तर भी लगभग उसी प्रकार है।

इन्द्र ने कश्यप, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियों को आयुर्वेद सिखाया था। यह शास्त्र चारो वर्णों के लिए है। आयुर्वेद के आठो अगो में कौमारभृत्य अग सब से मुख्य है। इसमें भी आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद से बताया गया है। वेदो का आश्रय आयुर्वेद ही कहा गया है (आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदा)। जिस प्रकार से दक्षिण हाथ में अंगूठा चारो अँगुलियो से नाम और रूप में पृथक् रहता हुआ भी इन चारों अँगुलियो पर आधिपत्य करता है, उसी प्रकार आयुर्वेद भी चारो वेदो से नाम और रूप में पृथक् रहता हुआ भी इन पर शासन करता है। वेदो में भी धर्म-अर्थ-काम युक्त पुरुष निश्रेयस का विचार किया जाता है। इसमें भी त्रिवर्ग के सारभूत पुरुष निश्रेयस का विचार होता है। जिस प्रकार देश को न जाननेवाले मनुष्य देश को जाननेवाले के पास जाते है, इसी प्रकार वेदना होने पर शिक्षा, कल्प, सूत्र, निरुक्त, आदि के ज्ञाता आयुर्वेदज्ञ के पास पहुँचते हैं। इसलिए हम कहते है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से पाँचवाँ आयुर्वेद है।

चरक संहिता में जिस प्रकार अत्रिपुत्र के अग्निहोत्र करने का उल्लेख है (हुताग्नि-

होत्रम्–चि. अ. १९); उसी प्रकार काश्यप सहिता मे हुताग्निहोत्र शब्द आता है (हुताग्निहोत्रमासीनम्–विशेषकल्प २ हुताग्निहोत्र–विसर्प)। 'हेतुलिगौषध' शब्द चरक सहिता में इसी रूप मे मिलता है। (सू अ. १।२४), काश्यपसंहिता मे भी यह शब्द इसी रूप में मिलता है। (हेतुलिगौषधज्ञानै –विशेषकल्प)।

जातिभेद—चरक सहिता मे वर्णभेद से चिकित्सा भेद नही है। सग्रह और हृदय मे भी नही है। यह भेद सुश्रुत सहिता मे सबसे प्रथम मिलता है (शा अ. १०) उसके बाद इस सहिता में है। यथा—

शूद्र को ब्राह्मी घृत नही पीना चाहिए, उससे इसका नाश होता है। यदि शूद्र स्त्री इस घी को पीती है, तो उसकी सतान मर जाती है, मरने के पीछे स्वर्ग नही पहुँचते इनका धर्म लुप्त हो जाता है (फक्क चिकित्सा)। (स्वर्ग को जाने की भावना चरक एवं सग्रह में नही है)।

नये शब्द—ऋतु उत्पत्ति बताते हुए उत्सर्पिणी (उन्नतिकाल), अवसर्पिणी (अवनतिकाल) इन दो शब्दो का उल्लेख आता है। ये शब्द जैन शास्त्र मे मिलते है। इसके आगे कृतयुग मे मनुष्यो के शरीर का नाम 'नारायण' कहा गया है। इसका गर्भ मे वास सात दिन कहा गया है। उत्पन्न होते ही यह सब कार्यो को करने मे समर्थ होता है। इसको भूख, प्यास, थकान, ग्लानि, भय, ईर्षा, कुछ भी नही होता। न यह स्तन पीता है; धर्म-तप-ज्ञान-विज्ञान बहुत होता है। त्रेता मे जो शरीर उत्पन्न होते है, उनका नाम अर्धनारायण है, इनमें एक अस्थि होती है। शरीर सिकुड और फैल नही सकता। गर्भावस्था का समय आठ मास है। यह स्तन्य (दूध) पीता है। द्वापर मे कैशिक नामक शरीर उत्पन्न होता है। कलियुग मे प्रज्ञप्ति पिशित शरीर उत्पन्न होता है। इसमे ३६३ अस्थियाँ होती है (भेल सहिता में भी यही सख्या है)।

नारायण शब्द सबसे प्रथम इस सहिता मे आता है। पीछे की सहिताओ में (सग्रह-हृदय मे) यह शब्द नही देखा जाता।

पचमहाभूत, इन्द्रियो की उत्पत्ति का क्रम साख्य दर्शन से सम्मत है। मन को अतीन्द्रिय माना गया है। महदादि सब क्षेत्रो को अव्यक्त कहा गया है। क्षेत्रज्ञ को नित्य, अचिन्त्य और आत्मा नाम दिया गया है। शरीर, इन्द्रिय, आत्मा, सत्त्व के समुदाय को पुरुष कहते है। ज्ञान का होना और न होना मन का लक्षण है, मन एक और अणु है; इत्यादि विवेचना चरक सहिता के आधार पर है।

अध्यायो का नामकरण भी चरक सहिता के अनुसार प्राय मिलता है। यथा—अतुल्य गोत्रीय-चरक मे, असमानगोत्रीय शारीर-काश्यप में; गर्भावक्रान्ति, जातिसूत्रीय नाम दोनो में एक समान है।

धूपदान (अर्वेदादित्यमुद्यन्त गन्धधूपार्घ्यवार्जपै । क्षीयमाण च शशिनमस्त्यान्त च भास्करम् ।। नपश्येद् गर्भिणी नित्य नाप्युभौ राहुदर्शने ।)के योग काश्यपसहिता मे बहुत है। नाना प्रकार के धूप—कौमारधूप, माहेश्वर, भद्रङ्कर, रक्षोघ्न, दशाग, गृहधूप आदि है। धूपदान विधि विस्तार से दी गयी है (धूपकल्प)। धूपो की उत्पत्ति अग्नि से बतायी गयी है। इनका मुख्य उपयोग राक्षस, भूत, पिशाच और रोगो को दूर करने मे है।

सातवाँ अध्याय

गुप्त काल

पूर्व गुप्त साम्राज्य

समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त

वाकाटक प्रवर सेन के मरते ही समुद्रगुप्त ने वाकाटक साम्राज्य पर हमला कर दिया। तीन-चार चढ़ाइयो में ही उसने वाकाटक राज्य को जीत लिया। इसके पीछे समूचे गुजरात काठियावाड को जीतकर सारे भारत का 'महाराजाधिराज' बन गया। इसकी विजय का वृत्तान्त इलाहाबाद किले में कौशाम्बीवाली लाट पर खुदा है। समुद्रगुप्त के सिक्के काठियावाड तक मिलते हैं।

मगध और अन्तर्वेद को जीतकर समुद्रगुप्त ने दक्खिन-पूरब तक मुख किया। मगध-कोशल (छत्तीस गढ), महाकान्तार (बस्तर) जीतता हुआ वह आन्ध्र देश की तरफ बढा। यहाँ इसका कलिंग, आन्ध्र के सरदारो तथा काची के पल्लवराजा सिंह-वर्मा के छोटे भाई विष्णु गोप ने मुकाबला किया। युद्ध में ये हार गये और अधीनता स्वीकार करने पर छोड दिये गये। इस प्रकार वाकाटक राज्य के दो पहलू जीतकर समुद्रगुप्त ने इसके केन्द्र पर चढाई की। जिसमें प्रवरसेन का बेटा रुद्रदेव मारा गया। इस प्रकार से समुद्रगुप्त का राज्य काबुल-सिंहल तक छा गया था। सबने उसे अपना अधिपति मान लिया था। इस विजय के उपलक्ष में उसने अश्वमेध किया। वह स्वयं विद्वान् तथा काव्य एव सगीत में निपुण था। वह और उसके वंशज विष्णु के उपासक थे (इतिहास प्रवेश के आधार पर)।

समुद्रगुप्त के पिता का नाम चन्द्रगुप्त था, जो कि घटोत्कच का पुत्र था। घटोत्कच को गुप्त (श्री गुप्त) का उत्तराधिकारी कहा जाता है। गुप्तवश का अभ्युदय वास्तव में चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में हुआ। इसकी उपाधि महाराजाधिराज थी। यह इसके वश में चलती रही। सिक्कों पर इसका नाम तथा इसकी रानी कुमारदेवी का नाम अकित है। कुमारदेवी लिच्छवी वंश की कन्या थी, इसलिए समुद्रगुप्त लिच्छवियो का दौहित्र था। इसी सम्बन्ध से लिच्छवियो की सहायता मिलने पर समुद्रगुप्त ने मगध में वाकाटक राज्य को परास्त किया। अशोक के बाद प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ही

हुआ। समुद्रगुप्त ने लम्बे समय तक राज्य किया। इसकी मृत्यु ३८० ईस्वी के आस-पास हुई थी। समुद्रगुप्त की विजय कीर्त्ति इलाहाबाद के स्तम्भ पर जो हरिषेण ने खुदवायी है, वह उत्तम साहित्य का गद्य-पद्यमय रचना का सुन्दर उदाहरण है।

समुद्रगुप्त के पीछे प्रतापी राजा इसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ, जिसने अपने भाई की वधू ध्रुवदेवी की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा था। पीछे इसने चन्द्रगुप्त द्वितीय से विवाह कर लिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने [illegible] यात्रा की, इसने पश्चिम को प्रथम जीता। इसका मुख्य अभियान गुजरात और काठियावाड के शको के प्रति था। इसमे चन्द्रगुप्त बहुत समय तक मालवा मे रहा। इसकी पुष्टि भेलसा के पास उदयगिरी के स्तम्भ से होती है। इसमें रुद्रदामन तृतीय केवल हारा ही नही, उसका सारा राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। यह सम्भवत पाँचवी शताब्दी का समय है। पश्चिम मे जो क्षत्रप ३०० साल से राज्य कर रहे थे, इस समय उनका अन्त हुआ। इस प्रकार से इसका राज्य बगाल की खाड़ी से लेकर अरब समुद्र तक पश्चिम मे फैल गया था। इस समय पश्चिम देशों से व्यापार सम्बन्ध स्थापित होने के कारण पश्चिमीय सभ्यता का प्रसार प्रारम्भ हो गया था। विक्रमादित्य उपाधि थी, जो इस चन्द्रगुप्त ने धारण किया था। यह उपाधि सम्भवत. समुद्रगुप्त से इनको मिली थी[1]। विक्रमादित्य की सभा के कालिदास आदि नौ रत्न-वाली बात इसी के साथ सम्बन्धित है। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय यात्रा का वर्णन दिल्ली की कुतुबमीनार के पास खड़े लोहे के स्तम्भ पर खुदा है, परन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नही है। सिन्धु को पार करके (सात मास में) इसने वाह्लीक को जीता था। समुद्रगुप्त ने जिन कुशाणो को जीता था, उन्होने उसके मरने के पीछे शिर उठाया था। जिनके साथ लडते समय रामगुप्त कैद हो गया था। अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को

---

१. कालिदास ने रघुवंश में रघु की जिस यात्रा का उल्लेख किया है, वह इसी की विजययात्रा का उल्लेख है, ऐसा बहुत मानते हैं। इसके प्रमाण में वहाँ पर प्रचलित 'स्यापा' रिवाजा का उल्लेख बताते हैं देखिये डा० अग्रवाल का हूण सम्बन्धी लेख।

'तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपालपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥' (रघु. ४।६८.)

इस पद में 'कपोलपाटला' पाठ के स्थान पर ऊपर का पाठ मानते हैं एवं 'सिन्धुतीरविचेष्टनैः' के स्थान पर 'वंक्षुतीरविचेष्टनैः' पाठ मानते हैं।

देने पर छूटा था। इस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त किया था; जिससे प्रसन्न होकर ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त से शादी की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पड़ोसी राजाओं से विवाह सम्बन्ध करके मित्रता बढ़ायी। उसने नाम वश में विवाह किया, अपनी कन्या प्रभावती का रुद्रसेन द्वितीय से विवाह किया।

इसी समय चीनी यात्री फाईयान आया था; जो कि लगभग दस वर्ष तक भारत में रहा (४०० से ४११ तक)। दौर्भाग्य से उसने इस समय के विषय में कुछ नहीं लिखा। चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय गुप्तकाल का यौवन था। इस समय कला, विज्ञान; साहित्य की उन्नति चरम सीमा पर थी। इसका श्रेय समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय को है; जिससे यह समय 'स्वर्णयुग' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। समुद्रगुप्त ने विजय यात्रा को प्रारम्भ किया था; उसके पुत्र चन्द्रगुप्त ने इसको पूरा किया और समुचित संघटित बनाया।

साहित्य के क्षेत्र में कालिदास इसी समय के कवि हैं; ज्योतिष में वराहमिहिर इसी समय हुए।[1]

अष्टांग सग्रह और वाग्भट

इस समय की अकेली पुस्तक वाग्भट की बनायी अष्टागसग्रह है। अष्टागहृदय इसी का पद्यमय सक्षिप्त रूप है। चरक और सुश्रुत के पीछे यही संहिता है। अष्टाग-सग्रह और अष्टागहृदय ये दोनों एक ही लेखक की कृतियाँ हैं (जिस प्रकार आजकल गोदान से सक्षिप्त गोदान बनाया गया है—दोनो के कर्त्ता प्रेमचन्द्र ही हैं)। सग्रह में गद्य और पद्य मिला है। उसे वृद्ध वाग्भट कहा जाता है। वाग्भट के पिता का नाम सिंह-गुप्त था। इसके पितामह का नाम वाग्भट था। गुरु का नाम अवलोकितेश्वर था। यह बौद्धधर्म को माननेवाला था। इत्सिग ने इसके सम्बन्ध में लिखा है, जिससे कुछ विद्वान् इसको ७वी सदी में ले जाते हैं, जो उचित नही जँचता, जैसा हम आगे देखेंगे। अष्टागहृदय सहिता का अनुवाद तिब्बती भाषा में भी हुआ है।[2] गुप्तकाल में पिता-

---

१. 'दी क्लासिकल एज'—पुस्तक भारतीय विद्या भवन के आधार पर—
'धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशं[illegible] घटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो व[illegible]मिहिर[illegible] नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

२. इसी समय हस्त्यायुर्वेद, अश्वशास्त्र (शालिहोत्र) की रचना हुई थी।

मह का नाम रखने की प्रवृत्ति मिलती है। यथा, चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त, समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ।

इस समय भारतीय साहित्य मे पश्चिमीय विज्ञान ने प्रवेश कर लिया था। वराह-मिहिर की पच सिद्धान्तिका मे पितामह, रोमक, पौलिस, वासिष्ठ और सूर्य के सिद्धान्त हैं। इनमे पिछले चार सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक है। कुछ लोगो की मान्यता है कि चार सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष से लिये गये है (इसी से शायद कहा है—'म्लेच्छा हि यवना-स्तेपु सम्यक्शास्त्रमिद स्थितम्। ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते कि पुनर्दैवविद्द्विज ॥ वृहत्सहिता २।) ४)। इसमे दूसरे और तीसरे नाम के विषय मे कोई सन्देह का स्थान नही है।

इसी प्रकार चिकित्सा पर भी पश्चिम का प्रभाव दीखता है। इसमे पलाण्डु के वर्णन मे वाग्भट ने कहा है—

'यस्योपयोगेन शकाङ्गनाना लावण्यसारादिविनिर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥'

(संग्रह. उत्तर. अ. ४९)

शक स्त्रियो की कपोलकान्ति से चन्द्रमा भी लज्जित होता है। यह कपोल कान्ति पलाण्डु के सेवन से आयी है। शक स्त्रियो की कपोल कान्ति की प्रशसा कालिदास ने भी की है—

'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमद न सः।
बालातपमिवाजानामकालजलदोदयः ॥' (रघु. ४।२१).

पलाण्डु-मद्य-मास तीनो का सम्बन्ध इसी ग्रन्थ कर्त्ता ने बताया है। इनमे एक भी वस्तु बिना दूसरे और तीसरे के पूर्ण नही होती ('सुतीव्रमारुतव्याधिघातिनो लशु-नस्य च। मद्यमासवियुक्तस्य प्रयोगे स्यात् कियान् गुण ॥' 'आनूप जागल मास विधिनाप्युपकल्पितम्। मद्य सहायमप्राप्य सम्यक् परिणमेत् कथम् ॥' (सग्रह चि. अ ९)।

इसी समय नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी। बौद्ध यात्री इत्सिग दस वर्ष तक नालन्दा मे रहा था। उसने लिखा है कि "पहले (वैद्यक) की आठ शाखाए आठ पुस्तको मे थी, परन्तु अब एक व्यक्ति ने उन सब का सग्रह करके एक पुस्तक बनायी है। हिन्दुस्तान के वैद्य उसका अनुसरण करके चिकित्सा करते है (रिकार्ड औफ बुद्धिस्ट प्रैक्टिस—में डा हार्नले)। इत्सिग का ऊपर का कथन वाग्भट के अष्टागसग्रह के ऊपर घटता है। इत्सिग का समय ६७५ से ६८५ के आस-पास है। परन्तु वाग्भट इससे पूर्व हुए हैं। व्याकरण से सम्बन्धित वाग्भट इससे भिन्न हैं, जिसके विषय में भर्तृहरि ने

कहा है—"हन्ते कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तमर्थे तु सप्तमी । चतुर्थी वाधिकारागुरून्नूर्णि-भागुरिवाग्भटा ॥' (महाभाष्यदीपिका), अष्टागसग्रह के टीकाकार वाग्भट के शिष्य इन्दु ने उत्तरतत्र अ. ५० की टीका मे लिखा है—

पदार्थयोजनास्तु व्युत्पन्नाना प्रसिद्धा एवेत्यत आचार्येण नोक्ता । तासु च भवतो हरे श्लोकौ—

'संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचितिर्देशः कालो व्यक्ति स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' अनयोरर्थः—

इसमें प्रथम कारिका भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय २।३१७ मे उपलब्ध होती है। दूसरी कारिका यद्यपि काशी सस्करण में उपलब्ध नही होती, तथापि प्रथम कारिका की पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६ पक्ति १६ से द्वितीय कारिका की व्याख्या छपी है। इसीसे प्रतीत होता है कि द्वितीय कारिका मुद्रित ग्रन्थ में छूट गयी है। वाक्यपदीय के कई हस्तलेखो में द्वितीय कारिका उपलब्ध है (संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास पृष्ठ. २६१)।

प्रख्यात ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर जो शक संवत् ४२१ [५५६ ईस्वी] में हुआ है, उसने बृहत्सहिता के कार्दपिक प्रकरण [अ० ७६] में माक्षिक आदि औषधियो का एक पाठ दिया है, जो कि अष्टाग सग्रह में से [उत्तार स्थान अ० ४९] लिया गया है। इस लिए वाग्भट का समय पाँचवी शती के आसपास निश्चित है। 'कलौ-वाग्भटनाम्ना तु' कलियुग मे वाग्भट नाम का धन्वन्तरिका अवतार होगा या प्रसिद्ध वैद्य होगा ऐसी दन्त कथाएँ इसकी ख्याति बताती हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि में कहा गया है कि वाग्भट ने राजा भोग का यक्ष्मा रोग औषध की गन्ध से अच्छा कर दिया था। ये सब दन्त कथाएँ इसकी ख्याति के लिए है [श्री दुर्गाशकर जी शास्त्री]।

वाग्भट का जन्म स्थान सिन्धु था। इनके पिता का नाम सिंह गुप्त और पितामह का नाम वाग्भट था। गुरु का नाम अवलोकितेश्वर था, उनका धर्म बौद्ध था। इतना परिचय ग्रन्थ कर्त्ता ने स्वत. दिया है।[1]

---

१. "भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य ।
सुतो भवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥
समधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया ॥'
(सग्रह. उत्तर. अ. ५०).

अष्टागसंग्रह और अष्टांगहृदय—वाग्भट का नाम इन दोनो सहिताओ के साथ जुडा है। अष्टागसग्रह पद्य और गद्य दोनो में है, अष्टागहृदय केवल पद्य मे है। दोनो में पद्य-लालित्य तथा गद्य की रचना उत्तम कोटि की है। विषय का वर्णन इसमें विशेष आकर्षक है। मद्यपान के लिए जो सुन्दर श्लोक बनाये गये है, यह इसकी अपनी विशेषता है। ये श्लोक दोनो सहिताओ में एक-से है। इसके अतिरिक्त बहुत से वाक्य एव वस्तु एक ही मिलते है। हेमाद्रि ने अपनी टीका में अष्टागसग्रह का पाठ पूर्णत उठाया है, जिससे विषय साफ हो जाता है।

दोनो सहिताओ मे 'अलिञ्जर' शब्द आता है (अलिञ्जरा पद्मपुटाभिधाना—सग्रह चि अ ९), यह शब्द गुप्तकाल का ही है, जिसका अर्थ बडे मटके है। इसी प्रकार रचना में भिन्न-भिन्न छन्दो का योग, लम्बे-लम्बे वाक्यो की सुन्दर रचना (सू अ. २१।४ मे) इनको गुप्त कालीन सिद्ध करती है।[1] गुप्त काल की कला का सजीव चित्रण वाग्भट ने मदात्यय-प्रकरण में किया है।

वाग्भट ने प्रथम यौवन काल में सुश्रुत-चरक तथा अन्य सहिताओ के आधार पर (जैसे—पराशर, आदि का मत—सू अ २१ में, नग्नजित्—विदेह का मत—विषप्रतिप्रतिषेध मे) सग्रह को बनाया। सग्रह बहुत विस्तृत हो गया था। हृदय बनाया, जैसा स्वय उन्होने लिखा है—इसके बाद आठ अगोवाले आयुर्वेद समुद्र का मन्थन करने से जो अष्टागसग्रह रूप बडी अमृत राशि मैने प्राप्त की थी, उसी के आधार पर जो व्यक्ति थोडे परिश्रम से बहुत अधिक फल की इच्छा करते है, उनके लिए यह अष्टागहृदय पृथक् ग्रन्थ बनाया है। इस हृदय को पढ लेने पर सग्रह ठीक प्रकार से समझकर अच्छी प्रकार चिकित्सा कर्म का अभ्यास करके वैद्यो से नही घबराता। चरक आदि अन्य बडे-बडे ग्रन्थो को पढनेवाला दूसरे वैद्यो को यदि पराजित कर देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नही है। (हृदय अ ४०।८०, ४०।८३) दोनों सहिताओ का कर्त्ता एक है, केवल आयु-एव काल का भेद है। मनुष्य आयु ज्यो-ज्यो बढती है, त्यो-त्यो उसका अनुभव ज्ञान विकसित होता जाता है और उसके विचारो मे प्रौढता तथा परिपक्वता आ जाती है। यह प्रौढता और परिपक्वता अष्टागहृदय मे स्पष्ट है। उस समय पुन सस्करण होने की इतनी सम्भावना नही थी, जितनी आज है। इसलिए हृदय मे जो नयी वस्तु या कुछ योग मिलते है, वे पिछले अनुभव एव ज्ञान के परिणाम रूप ही है। दोनो का कर्त्ता एक

---

१. **संग्रह में बच्चों का जो वर्णन आया है, वह कालिदास के शिशु वर्णन से मिलता है।**

ही है। नाम साम्य; भाव साम्य, वाक्य साम्य, रचना साम्य और क्रम साम्य ये सब बातें इनमें भेद नही बताती।

बौद्ध वाग्भट—वाग्भट स्वय बौद्धधर्म का अनुयायी था। इसीलिए उसने वैदिक मन्त्र देने के साथ बौद्धो का मन्त्र भी दिया है। (सग्रह. सू. अ. २७।१३-१४) बौद्धो के दशकर्म का उल्लेख सग्रह में है—

"दशकर्मपथान् रक्षन् जयन्नभ्यन्तरानरीन्।' (सू. अ. ३।१६).

सौन्दरानन्द में भी इन दश कर्म पथो का उल्लेख है—

'इति कर्मणां दशविधेन परमकुशलेन भूरिणा।
भ्रंशिनि शिथिलगुणोऽपि युगे विजहार तत्रमुनिसंश्रयान् जनः॥'
(सौन्दर. ३।३७).

१ प्राणातिपात विरति; २ अदत्तदान दानविरति; २. काममिथ्याचार विरति; ४. मृषावाद विरति; ५ पिशुनवचन विरति; ६. परुषवचन विरति; ७. प्रलाप विरति, ८ अभिध्या विरति, ९ अव्यापाद; १०. असम्यक् दृष्टि विरति। इन दस प्रकार के पापो को छोड़ना चाहिए।

इसी प्रकार 'शास्ता' (सू. अ ३।१२०) बुद्ध का नाम लेकर अपनी शय्या पर जाय, धारणी जो बौद्धो का मत्र (सू. अ. ८।१०१,९९) आर्या-अवलोकितेश्वर और आर्यतारा ये बोद्धो के देवता है (सू अ. ८।९४), आर्या-अवलोकितेश्वर तो बुद्ध के रूपान्तर है, एक बोधिसत्त्व की सज्ञा है, जो वर्त्तमान कल्प के अधिष्ठाता है।

'आर्यावलोकितं पर्णशबरीमपराजिताम्।
प्रणमेदार्यतारां च [illegible]॥' (चि. अ. २).

इस अवतरण में आर्यावलोकित, पर्णशवरी, अपराजिता, आर्यतारा आदि सब बौद्ध देवताओ का उल्लेख है। इसी प्रसग में चरक में विष्णुसहस्रनाम, महादेव की पूजा का उल्लेख है ('सोम सानुचरेदेव समातृगणमीश्वरम्। पूजयन् प्रयत. शीघ्र मुच्यते विषमज्वरात्' चि. अ. ३।३१०)।

उत्तर स्थान में एक स्थान पर द्वादशभुजी अवलोकितेश्वर का उल्लेख है—

'ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सां च जपन् सर्वगुहान् जयेत्॥' (उत्तर. अ. ८).

इसमें आर्यावलोकित के साथ ईश्वर नाम जोडकर पूरा नाम आर्यावलोकितेश्वर होता है। इसकी द्वादश भुजाओ की मर्त्ति की कल्पना वाग्भट के समय हो गयी थी।

देवी अपराजिता—इसका उल्लेख उत्तर तंत्र मे आया है (भूर्जे रोचनया विद्या लिखितामपराजिताम्। विधिना साधिता भूतै सर्वैरप्यपराजिताम्'। ८)। गोरोचना से भूर्जपत्रपर लिखकर पूजा करे।[1]

संग्रह के मगलाचरण मे "बुद्धाय नस्मै नम " कहकर बुद्ध को नमस्कार किया है। हृदय के मगलाचरण मे साक्षात् बुद्ध का नाम न लेकर नमस्कार करने की प्रथा गुप्त-कालीन है। 'अपूर्व वैद्य' शब्द ही गुप्तकाल मे बुद्ध के लिए प्रचलित था, इसीलिए सग्रह मे स्थान-स्थान पर 'भैषज्यगुरवे' शब्द आता है (सू अ २७।१४)। "नमश्च-क्षुपरिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सबुद्धाय"—(सू अ ८) मे बुद्ध को नमस्कार किया है। बुद्ध के लिए वैद्यराज शब्द आता है (स वैद्यराजोऽमृतभेषज-प्रद —ललितविस्तर) अमृत औषध देकर भवरोग के हरनेवाले वैद्यराज है।

रोग समूह को नष्ट करनेवाले उत्तम वैद्य के लिए कहा गया है कि उसका कर्म उसी प्रकार प्रशसनीय है, जैसे—महाबोधिसत्त्वो के चरित (सग्रह उ. ५०)।

सग्रह और हृदय दोनो में महामायूरी विद्या का उल्लेख मिलता है (सग्रह उत्तर अ ८, हृदय उत्तर ५।५१)। महामायूरी बौद्धो के पाँच बडे मत्रो मे से एक थी जो पचरक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। चौथी और आठवी शती के बीच मे कई बार सस्कृत महामायूरी का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ है। पहिला अनुवाद भिक्षुपो श्रीमित्र ने ३१७ और ३२२ के बीच में किया। दूसरी बार कुमार जीव (४०२ से ४१२) ने महामयूरी का नया अनुवाद प्रस्तुत किया। इन अधूरे अनुवादो के तीन पूरे चीनी अनु-वाद भी मिले है। पहला सघवर्मन ने (५१६ ईस्वी), दूसरा इत्सिग ने (७०५ ईस्वी), तीसरा अमोघवज्र ने (७४६-७७१ मे) किया है। तिब्बती भाषा में भी शिलेन्द्रबोधि, ज्ञानसिद्धि और शाक्यप्रभ के लिए महामायूरी के अनुवाद तजूर के संग्रह में मिले है। इसमे ज्ञात होता है कि चौथी शती से ७वी शताब्दी तक महामयूरी का अत्यधिक प्रचार था। वाग्भट और बाणभट्ट दोनो के उल्लेख इस पृष्ठ भूमि में समझे जा सकते है।

सग्रह में बौद्ध पारिभाषिक शब्द 'धारिणी' का भी उल्लेख आया है (धारिणीमिमा धारयन्—सू. अ ८), धारणी का अभिप्राय देवता के ध्यान मत्र से है।" "मायूरी, महा-मयूरी आर्या, रत्नकेतु, धारिणी" इनको दोनो समय सूतिकागार मे पढने के लिए कहा गया है। (उत्तर० अ० १)।

---

१. बौद्ध ग्रन्थों में गणेश को पददलित करनेवाली देवी अपराजिता कही गयी है। इसकी मूर्त्तियाँ भी मिलती है।

सग्रह के दूतादि विज्ञानो में १०८ मगल गिनाये गये हैं। इनमें मणिभद्र का नाम आया है; पुनश्च दोनो ग्रन्थो में वायविडग, आवला, हरड़, दन्ती और गुड को मिलाकर महीने भर खाने का सिद्ध योग माणिभद्र यक्ष का बताया हुआ कहा गया है ('सिद्ध योग प्राह यक्षो मुमुक्षोर्भिक्षोः प्राणान् माणिभद्रः किलेमम् । (सग्रह कुष्ठ. चि. अ. २१) माणिभद्र यक्षो के राजा थे। बौद्ध साहित्य मे, महाभारत में और पुरातत्त्व की मूर्त्तियो में भी इनका नाम लगभग तीसरी शती ईस्वी पूर्व से आने लगता है। वाग्भट के समय में भी माणिभद्र की पूजा रही होगी।

संग्रह में एक स्थान पर 'जिन जिनसुततारा भास्कराराधनानि" यह उल्लेख आता है। इसमें जिन (बुद्ध); जिन सुत (राहुल), तारा और सूर्य की पूजा का उल्लेख है। बुद्ध के लिए 'जिन' शब्द बाण के हर्ष चरित में भी आया है। बौद्ध भिक्षु को जिन और जैन साधु को अर्हत् कहा गया है। जैन का अर्थ हर्ष चरित के टीकाकार शकर ने 'शाक्य' किया है। बौद्ध साहित्य में बुद्ध को प्राय 'जिननाथ' कहा गया है।

जिस समय इन दोनो ग्रन्थों का संकलन हुआ है, उस समय बुद्ध, अवलोकितेश्वर, तारा, अपराजिता, महामायूरी, पर्णशवरी, भैषज्यगुरु आदि विभिन्न बौद्ध धर्म सम्बन्धी देवी-देवताओ की पूजा का लोगो मे प्रचार था। प्रत्येक महान युग में लोगो की आवश्यकता पूर्त्ति के लिए विभिन्न शास्त्रो के प्रामाणिक सग्रह ग्रन्थ तैयार होते है। गुप्त काल में भी इस प्रकार के विविध ग्रन्थ तैयार किये गये। जैसे—व्याकरणशास्त्र मे काशिका; कोषों म अमरकोष, ज्योतिष (गणित) में आर्यभटीय, ज्योतिष मे बृहत्संहिता, वास्तु और शिल्पशास्त्र मे मानसार, पुराणो में विष्णुधर्मोत्तर पुराण; अलकारो मे दण्डी का काव्यादर्श, नीति ग्रन्थो मे शुक्रनीति, हस्त्यायुर्वेद मे पालकाप्य [illegible], इसी प्रकार आयुर्वेद क्षेत्र में इस युग की आवश्यकतानुसार अष्टाग सग्रह और अष्टाग हृदय दो ग्रन्थ प्राचीन शास्त्रो का मन्थन करके तैयार किये गये है। जैसा कि स्वय कर्त्ता ने कहा है—"युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते"—(सू अ १।२०) 'न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्। तेऽर्था स ग्रन्थबन्धश्च सक्षेपाय क्रमोऽन्यथा ॥' (सू अ १।२२, अर्थात् युग के अनुसार आयुर्वेद के सन्दर्भ को विभागो मे बाँट कर इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हू। इसमें एक भी मात्रा शास्त्र से विरुद्ध नही है, वे ही अर्थ है, और वही ग्रन्थ रचना है, केवल सक्षिप्त करने के लिए दूसरा क्रम अपनाया है। इस प्रकार प्राचीन आयुर्वेद ग्रथो का ही बौद्ध रूपान्तर अष्टाग सग्रह और अष्टाग हृदय है। जैसा कि स्वय ग्रन्थो के अन्त में लेखक ने लिखा है—ब्रह्मा से कहे हुए आयुर्वेद शास्त्र को स्मरण करनेवाले पूर्व ऋषि थे। इस समय गुरु से पढनेवाले व्यक्ति हुए है। जिन्होने स्मरण

किया और जिन्होने गुरु से सुनकर इनमें से किस में श्रद्धा करनी चाहिए ? यह समझना चाहिए (स्मरण करनेवालो की अपेक्षा सुननेवालो का ज्ञान प्रत्यक्ष होने से अधिक प्रामाणिक है, मैंने गुरु अवलोकितेश्वर से सुना है; इसलिए मेरी रचना अधिक प्रामाणिक है)। अथवा जिन्होने स्मरण किया था, उन्ही की परम्परा से मैंने इस शास्त्र को पढा है। इसलिए अभिधाता वक्ता का विचार करना व्यर्थ है। मैनफल वमन कराता है; त्रिवृत्त विरेचन कराता है; इसको मै कहूँ या अत्रि कहें तो वक्ता के कहने से गुणो में अन्तर नही आता। जिसमें ठीक और बुरा पहिचानने की बुद्धि नही होती, वही लोक में प्रचलित रेखा का अनुसरण करता है—रेखा का फकीर होता है (साध्व साध्विविधिविवेकयुक्तोलोकपक्तिकृतभक्तिविशेष ।' ऐसा व्यक्ति मूर्ख ही होता है; विद्वान तो अच्छी कही बात को पसन्द करता है (वालिशो भवति नो खलु विद्वान् सूक्त एवं रमते मतिरस्य—सग्रह उत्तर)।

सग्रह मे कही गयी यह बात हृदय में और भी स्पष्ट तथा जोर देकर कही गयी है—यदि केवल चरक ही पढ़ते हो तो सुश्रुत में वर्णित रोगो को नही समझ सकते, यदि सुश्रुत को पढते हो तो चरक मे कही दोष दुष्य काल, बल, आदि का ज्ञान ठीक से नही होता। वस्तु के पक्षपात मे जिसका मन फँसा हो, ऐसा मूर्ख अच्छे कहे वाक्य में आदर न रखकर सारी आयु भर ब्रह्मा से कहे प्रथम आयुर्वेद को भले पढता रहे। वक्ता के कहने से ही द्रव्य की शक्ति मे भिन्नता नही आती। इसलिए मत्सर बुद्धि को छोड़कर मध्यस्थता निरपेक्षता का सहारा लेना चाहिए। वात को तैल, पित्त को घी, कफ को मधु शान्त करता है; इसमे वक्ता कहने मात्र से अन्तर नही आता।

यदि यह हठ है कि ऋषि प्रणीत ही ग्रन्थ पढने है, तो चरक-सुश्रुत को छोडकर भेल, जतुकर्ण आदि के ग्रन्थ क्यो नही पढते—वे भी ऋषि प्रणीत है। इसलिए अच्छे वचनो को, बिना वक्ता का विचार करके ग्रहण करो (हृदय उत्तर. अ ४०-८४-८८)।

अन्त मे दोनो सहिताओ मे एक ही प्रकार से ससार की मगल कामना की गयी है, जिसमे भगवान् बुद्ध का वचन 'बहुजन हिताय, बहुजनसुखाय चरत भिक्षवे, चरत भिक्षुवे' का ही भाव है, यथा—

> 'हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङमयपयोधेः ।
> कृत्वा यच्छुभमाप्त शुभमस्तु पर ततो जगतः ॥' (हृदय. उत्तर. अ. ४०।९)
> इति मुनिवचनाना जीवितोपश्रयाणामभिलषितसमृद्धौ कल्पवृक्षोपमानाम् ।
> यदुदितमिह पुण्य कुर्वतो मेऽनुवादं भवतु विगतरोगो निर्वृतस्तेन लोकः॥'
> (उत्तर.)

ग्रन्थ में मंगल कामना नाटको के अन्तिम भरत वाक्य का स्मरण दिलाती है, जो गुप्तकाल की प्रथा है। इसी समय प्राय. नाटको की रचना हुई है।

संग्रह की रचना—वाग्भट ने संग्रह के प्रारम्भ में स्पष्ट कर दिया है कि सब तंत्रो का संग्रह करके उनसे सार भाग लेकर मै अष्टाग सग्रह बनाता हूँ। इस संग्रह में अस्थान, अति विस्तार सक्षेप, और पुनरुक्ति दोष नही है। सग्रह में जो परम्परा दी गयी है, उसमें पुनर्वसु के साथ धन्वन्तरि, भारद्वाज, निमि; काश्यप, कश्यप सबका उल्लेख इन्द्र के पास जाने में किया है। इनके शिष्यो में अग्निवेश, हारीत, भेड के साथ माण्डव्य, सुश्रुत, कराल का नाम भी सुना जाता है। इसलिए इन सबके शास्त्रों का संग्रह जरूर कर्त्ता ने किया है। उदाहरण के लिए भेल सहिता से तथा चरकसंहिता से मिलाकर इसे लिखा है; यथा—

'स्नानं सुगन्धैः स्नानीयैः कृत्वा [illegible]नम्।...इत्यादि

भेल के "कान्ता सुमध्यवयस." के स्थान पर, "मध्यं वय. किञ्चिदिव स्पृशन्त." संग्रह ने रखा है। दोनो की रचना गुप्तकालीन संस्कृत का भेद स्पष्ट कर देती है।

इतना ही नहीं विविधगणसंग्रह अध्याय (सू. अ १६) में ओषधियों का सूखा विषय ऐसे सुन्दर छंदों में वर्णित किया गया है, जिससे याद करने में कठिनाई नही होती। इसी प्रकार चरकसंहिता का महाकषाय की औषधियाँ भी छंदोबद्ध कर दी गयी जिससे इनको याद कर लिया जाय।

चरक सहिता का सम्पूर्णत. अनुकरण करते हुए भी विषय को स्पष्ट किया गया है। यथा, चरक में शरीर के उपस्तम्भ आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य कहे गये हैं (सू. अ. ११)। सुश्रुत में ब्रह्मचर्य के कारण क्लीबता कही गयी है; चरक में भी वीर्य के प्रतिघात से क्लीवता का उल्लेख है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ स्पष्ट कर दिया; यह अर्थ वही है, जो कि मनुस्मृति का है अर्थात् ऋतुकाल में सहवास करने पर भी गृहस्थ ब्रह्मचारी ही रहता है; इसी से कहा "मन: शरीरस्थितिमात्रमेव सेवेद्व्यवाय न च तत्पर : स्यात्'—यह बीच का मार्ग निकाल दिया। इस प्रकार से दोनो चरक-सुश्रुत की सगति बनायी गयी है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति के 'पंचपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिणि'—इस वाक्य को इसी रूप में ले लिया है (सू. अ. ३।७१)—दूसरे के बनाये तालाब में से मिट्टी के पाँच पिण्ड निकाल कर ही स्नान करना चाहिए।

अष्टांग संग्रह में अपने समय के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन बहुत ही सरलता से किया गया है, यथा—वात, पित्त, कफ इन दोषों में सन्निपात होने पर किस दोष का

प्रथम शमन करना चाहिए इसके लिए भिन्न-भिन्न विचार दिये गये है (सू. अ. २११-१६-२५)।

पराशर का मत है कि वात-पित्त-कफ के सन्निपात में समान बल होने पर प्रथम वायु का शमन करना चाहिए, क्योकि वायु ही इन सबको चलानेवाला है। नेता के जीत लेने पर उसके साथ सम्पूर्ण सेना हार जाती है। दूसरे आचार्य स्थान के अनुसार दोष का शमन कहते है। उनके मत से प्रथम कफ को जीतना चाहिए। शिर, छाती, कण्ठ ये कफ के स्थान हैं, कफ के इन स्थानो मे रहने से अन्न में रुचि नही हो सकती। रुचि न होने से औषध-अन्न का पाचन नही होगा। इसलिए प्रथम कफ को शान्त करना चाहिए, यही कफ शरीर के द्वार का अर्गल है। अत पित्त या वायु का शमन करना चाहिए। तीसरा विचार सुश्रुत का है—सुश्रुत का कहना कि सब रोगो मे एक ही विचार सर्वत्र नहीं है। ज्वर, अतिसार मे पित्त, कफ, वायु इस क्रम से दोषो को शान्त करना चाहिए। चौथा विचार कि ज्वर में प्रथम कफ, फिर पित्त और अतमें वायु को शान्त करना चाहिए। क्योकि आमाशय के ज्वर मे उत्क्लेशित होने से पित्त के लिए दी गयी औषधि कफ को और भी बढायेगी। इसलिए जब ये दोष अपने स्थान मे स्थित हो तब कफ, पित्त और वायु इस क्रम से इनको शान्त करना चाहिए।

इस प्रकार से उस समय के भिन्न-भिन्न विचार स्पष्ट कर दिये गये है। इसी प्रकार विष के वेगो में नग्नजित और विदेह के मत दिये गये हैं (सप्तमे मरण वेग इति नग्नजितो मतम् । २ सप्तेति वेगामूर्च्छाद्या विदेहपतिना स्मृता। ३. आश्रय. सप्त-सप्तानामित्यालम्बायनोऽब्रवीत्। ४ वेगान् धन्वन्तरिस्त्वष्टत् सर्पदष्टस्य मन्यते॥ मुनिना येन यत्तूक्त तत्सर्वमिह दर्शितम्)। यह कहकर सब आचार्यों के मत दिखा दिये गये है।[1]

वस्तु का प्रतिपादन तथा उसमें विप्रत्तिपत्ति बहुत ही सुन्दरता से समझायी गयी है। यथा—आँख तेज का प्रतिनिधि है, यही चक्षु सूर्य या धूप से फिर कैसे दूषित होती

---

१. संग्रह के टीकाकार इन्दु ने इस पर बहुत अच्छा श्लोक दिया है—

'स्मर्त्तारो वयमागमस्य न पुनः कर्तुं व्यवस्था क्षमाः
क्रान्ते धर्मनि तैर्न भावगहने बुद्धिः प्रविच्छत्यलम्।
पारावारदृशः करामलकवत् पश्यन्ति भावान् सुखं,
ये तेषां रसना प्रयातु गदितं यद्युक्तमप्रास्फुटम्॥'

है ? इसे चाकू या शस्त्र और पत्थर के उदाहरण से समझाया है (अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता। उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजस ॥ हृदय सू अ २३।२१)। लोहा पत्थर से ही निकलता है, पत्थर से ही तेज होता है और पत्थर पर गिरकर ही कुण्ठित हो जाता है।

इसी प्रकार गर्भ धारण के समय जीव के आने को मणि (लैन्स) में सूर्य की किरणो ः आने से समझाया है। सूर्य की किरणें लैन्स मे आती नही दीखती है, परन्तु तिनके आदि जलाने के कार्य से उनका आना स्पष्ट होता है। इसी प्रकार जीव का आना न-निदिन आनेवाली वृद्धि ने ज्ञान होता है ('तेजो यथार्करश्मीना स्फटिकेन तिरस्कृतम् नेन्धन दृश्यते गच्छत्सत्त्वो गर्भाशय तथा॥' हृदय शा १।३)।

ये दोनो उदाहरण अष्टाग हृदय मे है, जो ग्रन्थकर्त्ता के प्रौढ विचारो की पुष्टि एव अनुभव के द्योतक है, क्योंकि विषय को सरल बनाने के लिए ही ये उदाहरण है। सग्रह मे जितने ऊहापोह विचार विनिमय, भिन्न-भिन्न मत मिलते है, हृदय मे वे नही है। हृदय में विषय बहुत ही सरल ढग से प्रतिपादित किया गया है। हृदय के अध्याया की सख्या भी एक सौ बीस है, जो आयुर्वेद प्रणाली से युक्तिसगत है। सग्रह मे अध्याय सख्या एक सौ पचास है। इसमें सुश्रुत का शल्य अग तथा चरक का काय चिकित्सा अग एव उस समय के भिन्न-भिन्न विचार सबका सग्रह किया गया है। इसलिए ग्रन्थ का कलेवर बढना स्वाभाविक है।

चरक के सिद्धिस्थान मे दी गयी बस्तियो का चलन सम्भवत सुश्रुत के समय में ही कम हो गया था। सग्रह के समय मे तो इनका अवश्य बहुत प्रचार नही दीखता। बस्तियाँ ही आवश्यक है—चरक से सम्मत है। सुश्रुत के शल्य अग में विस्तार, नये यत्र शस्त्र तथा नवीन क्रिया का उल्लेख मिलता है। अजन के विषय मे अजन शोधन, अजन लगाना इसके सम्बन्ध मे सग्रह से अधिक विवेचना अन्यत्र नही है। योनि व्रणेक्षण यत्र तथा पलको के बाल उखाडने के लिए तथा सूक्ष्म शल्य को निकालने के लिए एक सदेश का अधिक उल्लेख किया है। दूसरा यत्र मुचुण्डी (मोचना) है, शल्यनिर्घातनी यत्र नया वाग्भट ने कहा है, इसका उपयोग शरीर मे गहरे घुसे शल्य को निकालने मे किया जाता था। वाग्भट ने यत्रो-शस्त्रो तथा शल्यचिकित्सा का पूर्णत क्रियात्मक रूप वर्णित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के पढने से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्त्ता ने प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष किया है, कोई भी वस्तु या वाक्य ऐसा नही जिसमे कठिनाई, अस्वाभाविकता की झलक दीखे। यदि चरक-सुश्रुत के प्रति ऋषि या आर्ष का प्रश्न हटा दिया जाय तो सग्रह ग्रन्थ अकेला ही दोनो शास्त्रो का सम्यक् ज्ञान करा सकता है।

चिकित्सा कर्म क सम्बन्ध में जो ग्रन्थकर्त्ता ने कहा है कि "स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः, आकम्पयत्यन्यविशालतन्त्र" ठीक ही है।

अष्टाग हृदय के व्याख्याकार—भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराड़कर का कहना है कि अष्टागसग्रह पर जैज्जट आदि की बनायी दो-तीन टीकाएँ थी । इस समय इन्दु की शशिलेखा टीका मिलती है। यही एक टीका सम्पूर्ण है। त्रिचूर के मंगलोदय प्रेस से वैद्य टी० रुद्रपारशव ने १९२६ मे इसे प्रकाशित किया था।

इन्दु की टीका का नाम शशिलेखा है, शशिकला रूप से शकर को नमस्कार किया है "प्रोद्भासि स्वच्छशखस्फुटशशिकलोद्दामवैशद्यहृद्या" इससे स्पष्ट है कि इन्दु ब्राह्मण था वैदिक सस्कृति को मानते थे। वाहट की उक्तियाँ कठिन हैं, उनका परिष्कार करने के लिए इसने व्याख्या की है—

'दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः ।
सन्तु संवित्तिदायिन्य:सदागमपरिष्कृताः ॥'

इन्दुका उल्लेख हेमाद्रि की अष्टागहृदय की टीका (सू अ. ७। श्लोक ४०) में है ।[1] इससे पुराना उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए १३वी शती से पूर्व इन्दु की स्थिति निश्चित है। इसके साथ ही केरल के वैद्यो में प्रचलित दन्तकथा के आधार से तंत्रयुक्तिविचार नामक ग्रन्थ के लेखक वैद्य नील मेघ ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्दु और जैज्जट को वाग्भट का शिष्य कहा है। इन्दु ने अष्टाग हृदय पर भी टीका की थी, ऐसी हरिशास्त्री पराडकर जी की मान्यता है। दक्षिण मे अष्टाग सग्रह का विशेष प्रचार है—उनका कहना है कि—

'अष्टांगसंग्रहे ज्ञाते वृथा प्राक्तंत्रयोः श्रमः ।
अष्टांगसग्रहेऽज्ञाते वृथा प्राक्तत्रयोः श्रमः ॥'

अष्टांग हृदय के टीकाकार—अष्टागहृदय पर सबसे अधिक टीकाएँ हुई है। आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ पर शायद इतनी अधिक व्याख्याएँ नही हुईं। चरक, सुश्रुत के टीकाकार जैज्जट जैसे विद्वानो ने इसकी टीका की है। शिवदास सेन जी ने चरक, चक्रदत्त, द्रव्यगुण सग्रह की टीका क साथ इस पर भी टीका लिखी है, जिसका उत्तर तंत्र जयपुर से प्रकाशित हुआ है। इसमें पराड़कर जी ने हरिश्चन्द्र को भी अष्टाग

---

१. मधु क्षौद्रम्, मार्द्वीकम् इत्यरुणदत्तः, मैरेयो धान्यासवः, इति चन्द्रनन्दनः, खर्जरासवः इत्यरुणदत्तः इन्दुश्च । मैरेयो धातकीपुष्पगुडधान्यक्षसंहितः—इति माधवकारः ॥

हृदय का टीकाकार माना है। किस आधार पर यह लिखा है, यह पता नही, हरिश्चन्द्र तो वाग्भट से पहले हो गये हे। अरुणदत्त और हेमाद्रि ने अष्टागसग्रह के कुछ वचन अपनी टीका में ऐसे दिये है, जो प्रकाशित सग्रह मे नही मिलते।

पराडकर जी ने ३४ टीकाओ का उल्लेख किया है; जिनमें ११ के कर्त्ताओ का पता नही। इस तालिका मे कर्णाटो, द्राविडी, केरली आदि टीकाओ का उल्लेख है। इन टीकाओ मे से ३ टीकाएँ छपी है। सर्वांग सुन्दर तथा आयुर्वेद रसायन। शेष मे से नौ टीकाओ का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

१. आशाधर की उद्योत टीका—इसका उल्लेख पीटर्स ने आशाधर के ग्रन्थो का उल्लेख करते हुए किया है। परन्तु ओफ्रेट के 'केटलोगस कैटलाग' मे इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नही। आशाधर सपादलक्ष का जैन विद्वान् था और १२४० ई० में विद्यमान था।

२. चन्द्रनन्दन की पदार्थचन्द्रिका—ओफ्रेट में इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख है। श्री पराड़कर के पास इसकी हस्तलिखित प्रति है। चन्द्रनन्दन का हेमाद्रि और डल्लन ने उल्लेख किया है; इसलिए यह दसवी शती से पूर्व हुए है।

३. रामनाथ की टीका की हस्तलिखित प्रति का भी ओफ्रेट में उल्लेख है; सूत्रस्थान की टीका वैंकटेश्वर प्रेस मे छपी है।

४. टोडरमल की टीका का उल्लेख भी इसी में है। श्री पराडकर जी को भी इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी। यह टोडरमल मुगल बादशाह अकबर के मत्री थे। इनके नाम पर 'टोडरानन्द' नाम का वैद्यक ग्रन्थ बना है।

५ पाठ्या नाम की एक टीका का भी इसमे उल्लेख है।

६-७. हृदय प्रबोधिका और बालप्रबोधिका—इन दो टीकाओ का भी इसमे उल्लेख है।

८. भट्ट नरहरि या नृसिह कवि भट्ट शिवदेव के पुत्र की वाग्भट खडन-मडन टीका का भी इसमें उल्लेख है।

९ दामोदर की स[illegible]जरी का भी इसमें उल्लेख है।

१० अरुणदत्त की सर्वांगसुन्दरी टीका सम्पूर्ण मिलती है। यह अरुणदत्त मङ्गलदत्त का पुत्र आयुर्वेद तथा सस्कृत साहित्य का अच्छा ज्ञाता था। इसने अनेक आयुर्वेद तत्रो में से उतारा किया है। टीका में अरुणदत्त ने अपने बनाये पद्य भी लिखे है। अरुणदत्त वैदिक धर्मावलम्बी था, यह वस्तु मगलाचरण से स्पष्ट है।

अरुणदत्त का समय—वाचस्पति ने माधवनिदान पर आतकदर्पण नाम की टीका

लिखी है। इस टीका के प्रारम्भ में उसने लिखा है कि स्वयं विजयरक्षित और श्रीकण्ठ की मधुकोश टीका देखी है । विजयरक्षित ने चक्रदत्त का उल्लेख किया है, तथा आँख की रचना मे अरुणदत्त के मत का खण्डन किया है, यहाँ पर अरुणदत्त का नाम नही लिखा, परन्तु अरुणदत्त के दिये मत से सर्वथा विपरीत मत है (अ हृ उ अ १२, श्लोक १ की टीका)।

वाचस्पति ने टीका के आरम्भ श्लोक मे कहा है कि उनके पिता हम्मीर राज्य की सभा में और इनके बडे भाई महम्मद राजा की सभा मे थे। हर्नले का विचार है कि महम्मद से महम्मद गोरी लेना चाहिए (११९३ से १२०५ई०)। परन्तु विजयरक्षित का समय १२३९ ई० योगरत्नमाला के लेखक गुणाकर ने लिखा है। परन्तु यह उल्लेख देखने मे नही आया (श्री दुर्गाशंकर जी का कहना है)। इसके आधार पर हर्नले तीनो विद्वानो का समय इस प्रकार मानते है—

अरुणदत्त—१२२० ई के लगभग, विजयरक्षित १२४० ई० के लगभग, वाचस्पति १२६० ई० के लगभग।

विजयरक्षित का समय हर्नले ने १२४० ही माना है, यह शकास्पद है। विजयरक्षित के शिष्य श्रीकण्ठ ने हेमाद्रि का उल्लेख किया है। इसलिए विजयरक्षित और श्रीकण्ठ का १३०० ई० से पूर्व होना सम्भव नही और वाचस्पति को इनके पीछे १४०० ई० मे होना चाहिए। उनके लिखे मुहम्मद मुहम्मदगोरी नही, परन्तु पीछे के दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन मुहम्मदशाह (१२९६ से १३१६ ई०) या मुहम्मद तुगलक (१३२५ से १३५१) इनमें से कोई एक होना चाहिए। हम्मीर रणथम्भोर के चौहान हम्मीर का समय १२८२ से १३०१)होना चाहिए। ऐसा सब विवेचना से स्पष्ट होता है।

अरुणदत्त का समय जिसका उल्लेख हेमाद्रि ने किया है, १२२० ई० से पूर्व होना चाहिए। क्योकि उसने सातवी शती के बाण और आठवी शती के माघ का उल्लेख किया है; परन्तु उसके पीछे के किसी कवि का उल्लेख नही किया। इसलिए सम्भवत वृन्द एव चक्रपाणि के समय का होना चाहिए, जो कि १२०० के समय सम्भावित है।

हेमाद्रि—अष्टागहृदय पर दूसरी टीका हेमाद्रि की है। इस टीका का नाम आयुर्वेदरसायन है, यह सूत्रस्थान, कल्पस्थान पर पूरी है। निदान चिकित्सा स्थान पर पाँच छ अध्यायो की है।

यह हेमाद्रि चतुर्वर्ग चिन्तामणि ग्रन्थ के कर्त्ता के नाम से सं[illegible] के इतिहास मे प्रसिद्ध है। यह देवगिरी के यादव राजा महादेव (१२६० से १२७१ ई० तक)और उनके अनुयायी रामचन्द्र (१२७१ से १३०९ ई०) का मत्री था। इसने बहुत से

संस्कृत ग्रन्थ लिखे हैं। हेमाद्रि या हेमोदपन्त के नाम से महाराष्ट्र मे बहुत से पुराने बोध काम हुए हैं। हेमाद्रि ने आयुर्वेद रसायन टीका चतुर्वर्ग चिन्तामणि बनाने के पीछे (१२७१ से १३०९) लिखी है, ऐसा विचार श्री पी० के गोडे का है। उनका यह आधार आयुर्वेद रसायन के प्रारम्भिक श्लोको के ऊपर है।[१] हेमाद्रि की टीका विद्वत्ता की सूचक और उल्लेखो उद्धरणो से भरी है। इस टीका मे अष्टागसग्रह का बहुत भाग आ जाता है। लेखक को अष्टागमग्रह का हिन्दी अनुवाद करने मे पर्याप्त पाठ इसी से मिला है। इसमे मूल अष्टाग हृदय के अध्यायो का क्रम बदलकर पृथक् पृथक् स्थानो के अध्यायो को प्रकरणवार लेकर टीका की है। यह फेरफार उसन 'सुख सग्रहण' के लिए अपने आप किया है, ऐसा उनका अपना कहना है (सम्भवत अष्टाग का वचन "सक्षेपाय क्रमोऽन्यथा" यह वचन अनुसृत किया है)।

हेमाद्रि ने अपना परिचय चतुर्वर्गचिन्तामणि के प्रारम्भ मे दिया है। मन्दिर-निर्माण की विशेष पद्धति हेमाद्रि ने चलायी थी। सुधा चूर्ण लेपादि के बिना भी शिला जोडी जा सकती है।

शिवदास सेन की टीका—अष्टाग हृदय पर श्री शिवदाससेन जी की टीका उत्तर स्थान पर श्री ज्योतिषचन्द्र सेन ने जयपुर मे स्वामी लक्ष्मीराम जी ट्रस्ट से पकाशित करायी है। इस टीका में सरलता है, तथा टीका सक्षिप्त है। इसमे कही-कही पर पाठ परिवर्तन भी है जिससे अर्थ स्पष्ट होता है (उत्तर स्थान अ ३० के ३८वे श्लोक मे 'वूगस्य पत्र' के स्थान पर 'पूगस्य पत्रम्' दिया है)। इससे अर्थ स्पष्ट हो गया है।

---

१. हेमाद्रिणा चतुर्वर्गचिन्तामणिविधायिना।
तदुक्तव्रतदानादिसिद्धङ्गारोग्यसिद्धये ॥२॥
क्रियतेऽष्टांगहृदयस्यायुर्वेदस्य सुग्रहा।
टीका चरकहारीतसुश्रुतादिमतानुगा ॥ ३ ॥
हेमाद्रिर्नाम रामस्य राज्ञः श्री करणेष्वधिः ॥

अरुणदत्त हेमाद्रि से पहले हुए हैं। हेमाद्रि ने सू अ. ७।४० की टीका में अरुणदत्त का नाम लिखा हे। हेमाद्रि की टीका का कौशल सू. अ. १।१८, सू. अ. ३।१; सू. अ. ५।२३; सू. अ. ६।७५; सू. अ. ६।१०५-११२-१५८ आदि में देखा जा सकता है। टीका में कुछ विषय ऐसे भी हैं जो प्रकाशित सग्रह में नही मिलते।

हेमाद्रि ने चतुर्वर्ग चिन्तामणि के सिवाय आयुर्वेद रसायन टीका (अष्टांग हृदय की), कैवल्यदीपिका मुक्ताफल टीका; शौनक कृत प्रणवकल्प की टीका लिखी है।

(लेखक ने अष्टांगहृदय के अनुवाद में इसका उपयोग किया है)। शिवदाससेन जी ने सुश्रुत का पाठ अपनी टीका मे स्थान-स्थान पर दिया है।

संग्रह में वावची, कुक्कुटी (इसका उल्लेख काश्यप संहिता में भी है) का उल्लेख किया है। संग्रह में भी काष्ठौषधियो का ही विशेष उल्लेख है। धातुओ का उपयोग भस्म के रूप मे नही है। चरक-सुश्रुत की भाँति सूक्ष्म रज के रूप मे माना जा सकता है। स्वर्ण का उपयोग घिसकर करने का उल्लेख है। लोह के उपयोग करने के लिए लोहे के पतले पत्र (तिल के समान) बनाकर इनको अग्नि में लाल करके इक्कीस बार आँवले के स्वरस मे भिगोये। फिर इनको आँवले के रस मे डुबोकर एक मास तक राख की ढेरी मे दाब देना चाहिए। बीच-बीच मे निकाल कर लोहे के दण्ड से इसको चलाना चाहिए। जब रस सूख जाय तब और डाल दे। इस प्रकार से जब यह रस एक साल में द्रव बन जाये तब इसका उपयोग करे। इसी प्रकार तावाँ, चाँदी, सुवर्ण से भी पृथक्-पृथक् बनाये (रसा. ४९)। इसके अतिरिक्त स्वर्ण का उपयोग अन्य रूप में भी दिया गया है, जिसमे सम्भवत सुवर्ण को घिसकर या इस प्रकार से बनाकर उपयोग किया जाता होगा या वर्क बनाकर सीधा उपयोग करते होगे। जो मनुष्य दीर्घायु चाहते हैं, वे सुवर्ण को शखपुष्पी के साथ खायें, मेधा की इच्छा रखनेवाले वचा के साथ, लक्ष्मी की चाह रखनेवाले कमलगट्टे के साथ, वाजीकरण चाहनेवाले विदारी के साथ स्वर्ण का उपयोग करे।

अष्टांग हृदय की रचना—यह हृदय संग्रह का ही सार रूप है। इसके अध्याय एक सौ बीस है। इसका विभाग संग्रह के अनुसार है—सूत्रस्थान, शारीरस्थान, निदान स्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान और उत्तर तन्त्र। उत्तर तन्त्र पर श्री शिवदास सेन जी की टीका भी है। अष्टाग संग्रह का प्रचार सबसे अधिक हुआ। इसकी जितनी टीकाएँ मिलती है, उतनी टीकाएँ किसी भी संहिता की नही। तिब्बती भाषा मे अनुवाद हुआ, जर्मनी में इसका अनुवाद हुआ। यही इसके प्रसार का प्रमाण है। ग्रन्थकर्त्ता वाग्भट ने इसको इसी उद्देश्य से बनाया था। इसके लिए लघु वाग्भट नाम प्रचलित है, बृहत् वाग्भट नाम संग्रह के लिए है।

वाग्भट ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने के लिए स्पष्ट रूप से इसी मे लिखा है "अनुयायात् प्रतिपद सर्वधर्मेषु मध्यमाम्"—कदम-कदम पर सब धर्मों मे मध्दम मार्ग को पकडे। इसी से वैदिक मत्रो के साथ बौद्ध मंत्रो का भी उल्लेख है। स्वयं भी लोगो के लिए कहा है कि "माध्यस्थ्यमवलम्बताम्" निरपेक्ष रूप से सचाई का पालन कीजिए, किसी के प्रति विशेष आग्रह न रखिए।

इन दोनो सहिताओ मे अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, पचतन्मात्र आदि सृष्टि क्रम साख्य विचार तथा वाद-प्रतिवाद, गुण, कर्म, द्रव्य, सामान्य आदि न्यायदर्शन के विचार, मोक्ष का साधन योग प्रवृत्ति आदि योग दर्शन विचार इसमे बिलकुल नही किया गया। केवल क्रियात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। इसी से सत्त्व, रज और तम के लिए गुण शब्द प्रयोग न करके महागुण शब्द बरता गया है। शीत-रूक्ष आदि को गुण कहा गया है। सग्रहकार ने पच महाभूत से ही अपना कार्य चला लिया है, इससे पूर्व के तत्त्वो का प्रश्न ही नही उठाया, क्योकि चिकित्सा मे इन्ही पॉच भूतो से काम रहता है।

दोनो सहिताओ मे छद रचना कौशल मिलता है। सग्रह पर केवल इन्दु की ही टीका है। इन्दु वाग्भट के शिष्य थे। हृदय पर पैंतीस से अधिक टीकाएँ है। शिवदास सेन जी तक ने इस पर टीका लिखी थी। इसकी प्रसिद्धि का कारण इसका सरल, लालित्यमय भाषा, गेयश्लोक रचना, सक्षिप्त एव उपयोगी होना है।

वाग्भट मे लिखित बौद्ध देवता

बौद्ध दार्शनिक और तार्किक विद्वान् असग, नागार्जुन दिङ्नाग, वसुबन्धु, आर्यदेव, चन्द्रकीर्त्ति, शान्तिदेव, और धर्मकीर्त्ति के द्वारा प्रशस्त और स्वर्ण दिन इस पॉचवी-छठी शती मे समाप्त हो गये। इस समय स्तोत्र, स्तव के दिन कश्मीर मे सरवज्ञामित्र ८वी शती मे आरम्भ हुए। अब धर्म मे मुद्रा, (हाथो की अँगुलियो की विशेष स्थिति या शरीर की विशेष स्थिति), मण्डल (अलौकिक चित्र) क्रिया (विधि) चर्या (अन्त और बाह्य शुद्धि) आ गयी। यह विशेष प्रकार की साधना कुछ रूप मे यौगिक क्रिया से और कुछ देवी-देवताओ की पूजाओ के साथ सम्मिलित हो गयी थी। अथर्ववेद मे वर्णित अलौकिक शक्ति की आराधना वैदिक प्रक्रिया में प्रचलित थी। इस आराधना को मत्रो से पृथक् करना सरल नही था। बुद्ध ने अपने अनुयायियो को मत्रो से तो पृथक् किया, परन्तु उनकी विचारधारा को किसी रूप में एक स्थान मे केन्द्रित नही किया। जिसमे दीर्घ निकाय मे एक पूरा प्रकरण (रक्षा नामक आत्तनातीय) है, जिसमे यक्ष, गन्धर्व आदि आत्माओ से रक्षा करने का उल्लेख है। महामायूरी, धरणी का उल्लेख विनयपिटक मे है।

धरणी—पीछे से जिनको तत्र कहा गया है, उनका प्रारम्भिक रूप धरणी कहा जाता था। यह महायान सूत्र का एक भाग था। ललित विस्तर या सन्धि निर्मोचन सूत्र (लगभग दूसरी शती ईस्वी) तक धरणी का रूप स्पष्ट नही था। इनको मत्र ही समझा जाता था, जैसा कि ईसा की चौथी शती मे बने कारण्डवव्यूह से स्पष्ट है।

इससे महायान के प्रारम्भ ग्रन्थ स्वर्णप्रभाशसूत्र के एक प्रकरण मे बताया गया है कि देवता सूत्र लिखने पढनवा ो की आपत्तियो से रक्षा करते है। सद्धर्मपुण्डरीक मे कुछ धरणियाँ है, जो मनुष्य की रक्षा करती है। पीछे से बहुत-सी धरणियाँ बनी, जो मनुष्यो की नाग, यक्ष, राक्षस तथा अन्य दुष्ट आत्माओं से रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त ये धरणियाँ राज्यदण्ड, सॉप, हिंस्रक पशु, अग्नि, चोर, रोग, पाप और मृत्यु से बचाती है। इसके पीछे धरणी मृत्यु के समय शान्ति देनेवाली, इच्छित चाह को पूरी करनेवाली, यहाँ तक कि बोधि चित्त-निर्वाण तक देनेवाली मानी जाने लगी। (इसी से प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय महामायूरी के पाठ का उल्लेख बाण ने हर्षचरित मे किया है)। धरणी नाम काश्यपसहिता मे रेवती के बीस नामो मे आया है (काश्यप सहिता पृष्ठ ६७)।

मत्र ताडपत्र पर लिखकर कवच आदि के रूप मे धारण किये जाते थे। पीछे से धरणी मत्रपद बोधिसत्त्व, बुद्धऔर दूसरे देवताओ के लिए बनाये गये। पूजा मूर्त्ति या चित्ररूप मे प्रचलित हुई, जिसकी सूचनाएँ पुस्तको मे दी हुई है। जो व्यक्ति इस पूजा को करवाता था उसे **विद्याधर** कहते थे, जिनसे वह पूजा करता था, उसे धरणी या मत्र कहते थे, और इसी को विशेष शब्दो मे **विद्याराजनी** (महामायूरी विद्याराजनी) कहते थे, जिसके लिए यह पूजा की जाती थी उस व्यक्ति को यजमान कहते थे।

धरणी का प्रादुर्भाव ईसा की चौथी शती से आठवी शती के बीच मे हुआ है। बहुत अधिक धरणीवाली पाण्डु लिपियाँ गिलगित, पूर्वीय तुर्किस्तान ओर मध्य एशिया से मिली है। ये गुप्तकालीन ईसा की सातवी शतो की लिपि मे लिखी है।

धरणी या मत्रपद का तात्रिक गुप्त यौगिक क्रियाओ से बहुत कम सम्बन्ध है। धरणी का महत्त्व मत्र पद के पुन-पुन उच्चारण पर निर्भर करता है, जो कि अवलोकितेश्वर की पूजा के लिए लगभग एक मास तक किया जाता था। इसमे न तो शक्ति की उपासना है और और न मुद्रा, मण्डल, क्रिया या चर्या का उल्लेख है।

अवलोकितेश्वर और तारा—धरणियो में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की पूजा है।[1] अवलोकितेश्वर का स्थान "पोत्तलक" है। यह स्थान दक्षिण मे नदी के धान्यकात्यक (अमरावती) के पास है। ईसा की चौथी शती मे बने कारण्डव्यूह मे बोधिसत्त्व का प्रथम देवता, (आदि बुद्ध, आदिनाथ वज्र) नाम से कहा है। इसमे 'तारा'

---

१. ईश्वर द्वादशभुजं नाथभार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सन्त पन् सर्वगुहान् जयेत्॥ (संग्रह.)

देवी का नाम नही, परन्तु महेश और उमा का उल्लेख है, जो कि अवलोकितेश्वर के रूप है। इससे स्पष्ट है कि महायान मे उस समय उमा-महेश्वर का स्थान था, जो कि पीछे तन्त्रयान मे विकसित हुआ।

इस ग्रन्थ मे सबसे प्रथम हमको "ओ मणिपद्म हुँ"—यह मत्र देखने मे आता है (आज भी लामा अपने चक्र को घुमाते हुए इस मत्र को बोलते रहते है)। यह मत्र अवलोकितेश्वर का हृदय कहा जाता है, इसमे त्रिपिटक का नवाग ज्ञान समाविष्ट कहा जाता है। इसी से इसको साधक 'सारी-महाविद्याराजनी' कहते है।

इससे स्पष्ट है कि ईसा की चौथी शती मे बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर पूजा का मुख्य देवता था और देवी तारा इस समय तक बौद्धिक पूजा मे सम्मिलित नही हुई थी।

'मञ्जुश्रीमूलकल्प' मे बोधिसत्त्व मञ्जु श्रीदेवी की पूजा लिखी गयी है, परन्तु जो मनुष्य दु खो से शान्ति चाहते है, उनके लिए तारादेवी की पूजा भी लिखी है। गुह्य समाज मे बुद्ध विरोचन को प्रथम बुद्ध कहा है, जिससे बहुत से बुद्ध स्त्री रूप में उत्पन्न हुए, इन रूपो के नाम लोचना, मामकी, पाण्डुवासिनी और सम्यतारा थे। मञ्जु श्री मूलकल्प मे तारा के नाम भिन्न आये है। यथा—भृकुटी, लोचना, मामकी, श्वेता, पाण्डुवासिनी, सुतारा, इनको महाभद्रा नाम से कहा गया है[1]। ग्रन्थ मे तारा देवी को विद्याराजनी कहा है, जो दुनिया के कष्टो से छुडानेवाली है। इसका कार्यक्षेत्र यद्यपि पूर्व है, तथापि यह सारे ससार मे घूमती है।

तारा का उद्गम और इसकी अपार शक्ति की प्रशसा सबसे प्रथम 'महाप्रत्यगिरा-धारिणी' में मिलता है। यह ग्रन्थ मध्य एशिया से प्राप्त हुआ गुप्तकालीन सातवी शती की लिपि मे लिखित है। इसका अनुवाद चीनी भाषा मे प्रसिद्ध तान्त्रिक अमोघवज्र ने (७०४–७७४ ईस्वी मे) किया था। इसमे तारादेवी का वर्ण श्वेत, वज्र की माला धारण किये हुए, हाथ मे वज्र लिए, मुकुट मे विरोचन की मूर्त्ति बनी हुई बताया गया है। ईसा की आठवी शती मे होनेवाले कश्मीर देश के कवि सर्वजनमित्र ने तारा-

---

१. सुश्रुत में तारः, सुतारः शब्द आते है (तारः सुतारः स सुरेन्द्रगोप.—कल्प. अ. ३।१४); डल्हण ने इन शब्दों का अर्थ क्रमशः चॉदी, पारा और सुवर्ण किया है। पारे के लिए सुतार शब्द मेरे देखने में नहीं आया। सुतारः-सुतारा यदि माना जाय या सुतारः ही रखें तो भी इस शब्द की समानता सुतारा से बहुत है। बौद्ध साहित्य में सुतारा या तारा शब्द मिलता है। इसलिए सुश्रुत का समय जो निश्चित किया गया है (वाकाटक काल का) वह ठीक ही लगता है।

देवी की स्तुति मे एक स्तोत्र बनाया था। इस स्तोत्र का स्रग्धरा छन्द है। इसमें यह देवी निर्बल व्यक्ति के लिए शक्तिदात्री रूप में बतायी गयी है। कष्टो को दूर करनेवाली, सब दुखो से छुडानेवाली वर्णित है।

ईसा की सातवी शती के बाद से तारास्तोत्र बहुत मिलते है। तारादेवी को प्रज्ञा या प्रज्ञापारमिता नाम दिया गया। इसको सब बुद्धो की माता तुल्य तथा अवलोकितेश्वर की सहचरी कहा गया, जो मैत्री और करुणा के प्रतीक है। हिन्दुओ मे यही तारा और अवलोकितेश्वर दोनो पुरुष और शक्ति के रूप मे पूजित हुए है। ब्राह्मण इन्ही को शिव और शक्ति के रूप मे पूजा करते है। जिसमे शक्ति ससार के बन्धन से छुटाकर मोक्ष देनेवाली है। शिव या पुरुष ससार मे बन्धन का कारण है। बौद्धिक दर्शन भी लगभग इसी बात को बताता है, जिसमे ब्रह्मा की समानता आदि बुद्ध से, शक्ति की समानता तारा या प्रज्ञा से जो मोक्ष का कारण है, शिव की समानता अवलोकितेश्वर से है। इसमे अन्तर केवल इतना ही है शिव या पुरुष ससार-बन्धन का कारण है, और अवलोकितेश्वर मैत्री और करुणा का दूत या प्रेरक है है।

तान्त्रिक सिद्धान्तो मे जल्दी ही ऐसे परिवर्तन हुए जिससे तारा को बुद्ध की शक्ति माना जाने लगा। इससे, बुद्ध और तारा मे वही सम्बन्ध स्थापित हो गया जो शिव का पार्वती के साथ है। आदि बुद्ध को ब्रह्मा माना गया है।[1]

जैनागम पद्मावती पूजा स्तोत्र में आता है—

तारा त्वं सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता।
गायत्री श्रुति शालिनां प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे
मातर्भारति किं प्रभूतभणितैर्व्याप्तं समस्तं त्वया ॥

आर्या—का उल्लेख वाग्भट मे आया है (सग्रह सू अ ८।९४)। डा० अग्रवाल ने कादम्बरी (पृष्ठ ८० मे) मे आर्या से वृद्धा आर्या, विमाता लिया है। लोक मे विमाता की पूजा छठी के दिन होती है। आर्या का अर्थ शिशु माता किया है—"पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथा आर्या प्रमदास्वपि । आर्या माता कुमारस्य पृथक् कामार्थमिज्यते (२१।९-४०)। कुशाण काल मे इस देवी का पद बहुत ऊँचा था। मथुरा मे मिले शिला फलक पर "आयवती प्रतियापिता आर्यवती अर्हत पूजाये"—यह लिखा है (देखिये कादम्बरी पृष्ठ ८० पाद टिप्पणी)।

---

१. दी एज औफ इम्पीरियल कन्नौज—भारतीय विद्या भवन बम्बई से प्रकाशित, पृष्ठ २६०-२६२ के आधार पर।

नावनीतकम्

आयुर्वेद के दो ग्रन्थ इसी समय के दीखते हैं। इनमे नावनीतक की मूल प्रति को मेजर जनरल बावर पाण्डुलिपि कहा जाता है क्योकि बावर ने इसे काश्गर से प्राप्त किया था। इसमें आयुर्वेद के नुस्खो का संग्रह है। इसकी रचना चतुर्थ शती के लगभग मानी जाती है। इसमें आत्रेय, क्षारपाणि; जतुकर्ण, पराशर, भेल, हारीत तथा सुश्रुत का उल्लेख है। इसमे लशुनकल्प सबसे प्रथम दिया गया है। इसमें सात प्रकरण है—

प्रथम प्रकरण मे—लशुनकल्प, सूत्रस्थान, परिभाषा, आश्च्योतन, मुखलेप, अजन, शिरोलेप और मिश्रित योग हैं। द्वितीय प्रकरण मे ग्रन्थ रचना का उद्देश्य यह कहा है—

प्राक्प्रणीतैर्महर्षीणां योगमुख्यैस्समन्वितम् ।
वक्ष्येहं सिद्धसंनिकर्षं नाम्ना वै नावनीतकम् ॥
नानाव्याधि परीतानां नृणां स्त्रीणाञ्च यद्हितम् ।
कुमाराणां हितं यच्च तत्सर्वमिह वक्ष्यते ॥
समासरतबुद्धीनां भिषजां प्रीतिवर्द्धनम् ।
यो[illegible]पं विस्तरज्ञं मनोनुगम् ॥

प्राचीन ऋषियो के मुख्य योगो को मैं नावनीतक—मक्खन रूप मे साररूप में—कहता हूँ (सग्रह रूप मे रचना इस समय से आयुर्वेद मे प्रारम्भ होती है, योगसग्रह सम्बन्धी ग्रन्थो का यही से प्रारम्भ होता है। इसी शृखला मे आगे वृन्दमाधव, योग-तरगिणी, चक्रदत्त, माधव निदान, वगसेन आदि सग्रह ग्रन्थो का सकलन आरम्भ होता है) इसमें नाना प्रकार के रोगो से पीडित पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो के लिए योग कहे गये है। ये योग प्राय. सब पुस्तको से सगृहीत है। चरक-सुश्रुत के साथ भेल सहिता के भी योग इसमे मिलते हैं। इसी प्रकरण में मुख्य योगो का सग्रह है। इसमें चूर्ण, गुटिका, घृत, तैल, प्रकीर्ण योग, वस्ति, वृष्ययोग, अजन विधान, वलीपलित योग, हरीतकी कल्प, शिलाजतुकल्प, चित्रककल्प (लशुनकल्प भी यही चाहिए था, अथवा इस पर जोर देने के लिए इसको प्रारम्भ मे रख दिया है) और मिश्रक योग है। तृतीय प्रकरण मे मिश्रक योग और सिद्ध योग हैं। चतुर्थ प्रकरण मे सिद्धमत्र, पाशक केवली मंत्र है। पाँचवे प्रकरण मे मत्र विषय आता है। छठे प्रकरण मे अगदतत्र और महा-मायूरी मत्र है। सातवे प्रकरण मे आनन्द महामायूरी मत्र है। इसी प्रकरण मे यश मित्र का नाम आता है (अनया आनन्द महामायूरी विद्याराजया तथागतभाषिताया यशमित्रस्य रक्षा करोमि)।

भेलसहिता से १५ योग और चरकसहिता से २९ योग नावनीतक मे लिये गये

है। इनके सिवा और भी योग है। नावनीतक के समय मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। योगो के सम्बन्ध मे एक-एक योग काकायन, सुप्रभ, निमि, उशनस, वाडवली, बृहस्पति के नाम आते है। अगस्त्य धन्वन्तरि और जीवक के नाम से दो-दो योग आये है। काश्यप के नाम से योगो की एक पूरी सूची दी गयी है। इनमे से बहुत मे योग अन्यत्र नही मिलते। सम्भवत नावनीतक लेखक ने लोक में प्रसिद्ध योगो का सग्रह किया है, जैसा कि इसका नावनीतक नाम बताता है। इन सग्रहीत योगो के सिवा लेखक का अपना बहुत कम अश है।

नावनीतक में बौद्धो की मायूरी, महामायूरी विद्या विस्तार से दी गयी है। इस विद्या का प्रचार उस समय अवश्य रहा होगा। इसका उल्लेख वाग्भट ने भी किया है। अमृतप्राश घृत का पाठ चिकित्सा-कलिका और अष्टागहृदय का मिलता है, परन्तु नावनीतक के पाठ में बकरी के मास के रस का उल्लेख नही। यह सम्भवत हिसा की दृष्टि से छोड दिया होगा।

"नमस्तथागतेभ्य" मे तथागत शब्द बुद्धदेव के लिए ही प्रचलित है, यहाँ पर बहुवचन में प्रयुक्त है, सग्रह मे एक ही वचन में है (नमश्चक्षु परिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सम्बुद्धाय—सु० अ० ८।१००)। इसी प्रकार 'उर उद्घातेषु' के स्थान पर 'उरोद्घातेषु' कहा है। 'ह्रीवेर' के स्थान मे 'हिरिवेरम्', तेजस्विनी के स्थान पर 'तेजोवती' कहा है। विभक्ति का व्यत्यय भी हुआ है, प्राग्भक्ताद् के स्थान पर 'प्राग्भक्तम्' कहा। सन्धि व्यत्यय भी है, सूपौदनम् के स्थान पर सूपोदनम्, समास व्यत्यय—रात्र्यन्ध के स्थान पर रात्रिमन्ध आता है। पदव्यत्यय भी मिलता हैं, भाषते के स्थान पर भाषति, आधत्ते के स्थान पर आधत्ति कहा है। इसीलिए श्री हरप्रसाद शास्त्री का कहना है—

[illegible] पदो का अधिकत प्रयोग किया है।"

श्री गुरुपदशर्मा हालदारकी मान्यता है कि नावनीतक का सस्कार पीछे हुआ है। नावनीतक के चौदहवे अध्याय मे जीवक नाम आता है (भार्गी सपिप्पली पाठा पयस्या (मधुनासह)। (श्लैहि) मकया लिहेच्छर्दी इति होवाच जीवक. ॥१४।७४)। जीवक प्राय ईसा से ६०० वर्ष पूर्व हुए थे। ये वचन बहुत पीछे के है। काश्यप के शिष्य जीवक अभिप्रेत होने पर सन्देह नही रहता।

चक्रपाणि ने भी इस पुस्तक का सहिता रूप में उल्लेख किया है। दसवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी के बीच में चन्द्रटाचार्य्य, चक्रपाणि दत्त, निश्चलकार आदि ने इसका उल्लेख कही पर नावनीतक का नाम देकर और कही पर बिना नाम देकर किया है;

सोलहवी शताब्दी मे होनेवाले श्री शिवदास सेन ने चरक-तत्त्वप्रदीप मे इसके श्लोक दिये है। ये श्लोक मूल ग्रन्थ से उद्धृत है अथवा निश्चल प्रणीत रत्नप्रभा से, यह नही कहा जा सकता। कवीन्द्रकृत ग्रन्थसूची मे (१६५६) नावनीतक का नाम नही मिलता, इस समय तक इसका लोप सम्भवत हो चुका होगा। निश्चल तथा शिवदास ने अपने-अपने ग्रन्थो मे नावनीतक का नाम न लेकर यह श्लोक दिया है—

निदिग्धिकायाः स्वरस ग्राह्येद् यत्रपीडितम् ।
चतुर्गुणे रसे तस्मिन् घृतप्रस्थ विपाचयत् ॥

यही श्लोक उपलब्ध नावनीतक मे दूसरे अध्याय में (५३वाँ) है। इसलिए यह स्पष्ट है कि प्राचीनो ने जिस नावनीतक का उल्लेख किया है, वह इससे अभिन्न है। सोलहवी शताब्दी मे इसका पूर्णत. लोप हो गया होगा। क्योंकि उसके बाद इसका कही भी उल्लेख नही मिलता। पीछे 'काशगड्' स्थान से यह प्राप्त हुआ।

प्राचीन काल मे कश्मीराधिपति महाराज कुश ने तिब्बत से उत्तर चीन राज्य को जीतकर इस राज्य की देखरेख के लिए 'कुशगड' नाम से एक विशाल दुर्ग बनवाया था। प्रथम शताब्दी के अन्त मे कश्मीर नरेश का देहान्त होने पर कुशगड राज्य पुन चीन के वश मे आ गया था। इसके पीछे [illegible] ने चीन राज्य को जीतकर इस प्रदेश को अपने अधीन कर दिया, जिससे कुशगड् राज्य भी इसके राज्य मे आ गया था। यहाँ पर कनिष्क ने बौद्धो के बहुत से उपनिवेश बनाये थे। कनिष्क की पुष्पपुर (पेशावर) और कपिशा दोनो राजधानियाँ थी। इन बौद्धो मे कुछ वैद्य भी थे—जिन्होने वहाँ नावनीतक सुरक्षित रखा होगा। इसका प्रचार करने के लिए इसमे सब ऋषियो के नाम कीर्त्तन कर दिये गये। इसमें काशिराज वक्ता और सुश्रुत पूछनेवाले है (उत्पन्नास्थो भ (मु) निमुपगत सुश्रुत. काशिराज, किन्चेतन्स्यादथ स भगवानाह तस्मै यथावत् ॥)

सुश्रुत और काशिराज का सम्बन्ध देखकर श्री हालदार इसका सम्बन्ध सुश्रुत सहिता के साथ जोडते है। परन्तु [illegible] मे रसोन की इतनी प्रशसा या गुण कथन नही है। चरक की भाँति सामान्य उल्लेख है, वह भी रसायन रूप में नही। लशुन का मुख्य वर्णन नावनीतक, काश्यप सहिता, अष्टाग सग्रह और अष्टाग हृदय मे ही मिलता है। यह चारो सहिताओ मे अति विस्तृत रूप मे है, इसके उपयोग के प्रति लोगो को आकर्षित करने के लिए उत्तम छन्दो मे, लालित्यपूर्ण वर्णन किया गया है, यथा—

'दृष्ट्वापत्रैः हरितहरितैरिन्द्रनील प्रकाशैः
कन्दैः कुन्दस्फटिककुमुदेन्दुश शखाभ्रशुभ्रैः ॥' (नावनीतक)

इसलिए नावनीतक का रचनाकाल इन संहिताओं के आसपास ही होना चाहिए, जब कि भारत की संस्कृति से शक-यवनों का सम्बन्ध पूरा हो गया था। वैदिकधर्मावलम्बी प्राय इसको म्लेच्छ वस्तु समझकर नहीं खाते।

'न भक्षयन्त्येनमतश्च विप्राः शरीरसंपर्कविनिःसृतत्वात्।
गन्धोग्रतामप्यत एव चास्य वदन्ति शास्त्राधिगमप्रवीणाः ॥' (नावनीतक)

'राहोरमृतचौर्येण लूनाद्ये पतिता गलात्।
अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागताः ॥
द्विजानाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्।
साक्षादमृतसम्भूतेर्ग्रामिणीः स रसायनम् ॥' (संग्रह)
'एतच्चाप्यमृतं भूमौ भविष्यति रसायनम्।
स्थानदोषात्तु दुर्गन्धं भविष्यत्यद्विजोपगम् ॥' (काश्यप)

लशुन के उपयोग के प्रति लोगों को आकृष्ट करने के लिए इसकी प्रशस्ति विशेष रूप में दी गयी है।

इसलिए सुश्रुत संहिता के साथ नावनीतक का सम्बन्ध सुश्रुत और काशिराज से [illegible] है। यह उल्लेख तो केवल अपने वाक्य में जोर तथा आदर उत्पन्न करने के लिए है। नावनीतक के प्रारम्भ में जो सुन्दर छन्द रचना (कुमार सम्भव के हिमालय वर्णन से मिलता है) है, वह इसको किसी भी प्रकार दूसरी शती तो क्या, तीसरी शताब्दी से पहले नहीं पहुँचाती। इतनी समासबहुल रचना तीसरी शताब्दी के अन्त की है, यही इसे इस काल में रखने का पुष्ट प्रमाण है।

सम्भवत संग्रहग्रन्थों में नावनीतक सबसे प्रथम है; क्योंकि इसमें सबके प्रयोगों का संग्रह है। हरीतकी के विषय में लिखा है :

'हितं हयानां लवणं प्रशस्तं जलं गजानां ज्वलनं गवां च।
हरीतकी श्रेष्ठतमा नराणां चिकित्सिते पङ्कजयोनिराह ॥'

हरीतकी के भेद भी इसमें कहे गये हैं (विजया त्रिवृत्ता रोहिणी चैव पूतनाऽमृता। जीवन्ती चाभया चैव सप्त योनिर्हरीतकी)। इनके लक्षण भी हरीतकी कल्प में दिये गये हैं। नवें अध्याय में नेत्राञ्जन है। अंजन नाना प्रकार के हैं, नेत्ररोग प्रतिकार योग, रात्र्यन्धता प्रतीकारयोग आदि। दसवें अध्याय में केशराज, केशरञ्जन योग दिये गये हैं। शिलाजतुकल्प में शिलाजतु की उत्पत्ति चरक के अनुसार दी है—

'हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवमलं गिरिधातवः।
स्निग्धाभं गुरुभूतत्स्नाभं वमन्ति तच्छिलाजतु ॥' (नावनीतक)

'हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः ।
जत्वाभं मृदुमृत्स्नाभं यन्मलं तच्छिलाजतु ॥' (चरक.)

चौदहवे अध्याय में कुमारभृत्या प्रकरण है; जिसमे प्राय लिखा है कि "काश्यपस्य वचो यथा"। इससे स्पष्ट है कि यह प्रथम योगसंग्रह ग्रन्थ है, जो कि सुगमता के लिए किया गया है। इसका समय लगभग चौथी शताब्दी के आसपास है। नावनीतक के तृतीय खण्ड मे नरवीतैलम्, माणिभद्रतैलम् (चिकित्सा मे माणिभद्र का नाम सग्रह और हृदय में है), आत्रेयसम्मत तैलम्, [illegible] तैल की महत्ता के रूप में दिये गये है, जो कि उस समय की परिपाटी थी।

कामशास्त्र, वात्स्यायन कृत

भारतीय ऐतिहासिक गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहते है। यह काल अनेक प्रतापी राजाओं के उदय हाने के कारण प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इस काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपनी उत्कर्ष सीमा को पहुँच गयी थी।

लोग अपना समय सुख से बिताते थे। फाहियान ने तत्कालीन सुख सम्पत्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि उस समय के लोगो ने अपने रहने के लिए बड़े-बडे महल बनवाये थे। महाकवि शूद्रक ने वसन्तसेना के घर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसका घर एक बहुत बडा महल था, जिसमे सात प्रकोष्ठ (घरो के चौक) बने हुए थे। इन महलो की सीढियो पर अनेक रत्न जडे थे, और बाहर चूने से सफेदी की गयी थी। वसन्तसेना के महल मे आजकल की तरह खिडकियाँ थी।

उस समय उद्यान, पक्षिपालन, वाहन आदि का शौक नागरिको को था। बालों का शृंगार, केश विन्यास पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

सामाजिक जीवन मे आनन्द लाभ के लिए भिन्न-भिन्न उत्सव होते थे। वात्स्यायन ने इनके पाँच विभाग किये हैं—सम्भूतिक यात्रा, समाज गोष्ठी, सभापानक, उद्यान भ्रमण और समस्याक्रीडा (कामसूत्र १।४।१४)। फाहियान ने पाटलिपुत्र के वर्णन मे प्रतिवर्ष होनेवाले रथयात्रा का वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त आखेट, भेडो, भैसो, कुक्कुटो को लडाना, (इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य—मृच्छ अ० ४) मनोरजन के साधन थे। जुआ भी मनोरजन का उत्तम साधन था (द्यूत हि नाम पुरुषस्य असिंहासन राज्यम्—मृच्छ० अ० २)। मृच्छकटिक मे जुआ खेलने का बहुत विशद वर्णन है। कालिदास ने चौपड खेलने का वर्णन किया है (कुमे [illegible] कश्चित् करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन। [illegible] सलीलमक्षान् ॥रघु० ६।११)।

खान-पान भी बहुत आनन्दमय था। मद्यपान की प्रथा थी, सम्भवत इसमे दोष नही था, जैसा सग्रह के वर्णन से स्पष्ट है। कालिदास ने भी मदिरापान का उल्लेख किया है।[1]

इस प्रकार के सुखी जीवन के लिए तीसरे पुरुषार्थ के सूचनार्थ इस समय वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना की है। वात्स्यायन इनका गोत्र नाम प्रतीत होता है, असली नाम क्या था; यह स्पष्ट नही। न्यायसूत्रो पर भाष्य करनेवाले भी वात्स्यायन है। श्री वासुदेव उपाध्याय ने इनका व्यक्तिगत नाम पक्षिल स्वामी लिखा है। ये दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। हेमचन्द्र ने अपने 'अभिधान चिन्तामणि' मे इनका एक नाम द्रामिल दिया है। द्रामिल द्राविड का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। दिङ्नाग ने वात्स्यायन भाष्य का खण्डन किया है, इसलिए इन्हे दिङ्नाग से पूर्व होना चाहिए। डा० तूशी के अनुसार इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी है।

कामसूत्र की रचना कौटिल्य-अर्थशास्त्र के ढग पर सूत्र रूप मे हुई है। अध्यायो के अन्त मे विषय का सक्षेप श्लोको मे दिया है। इस ग्रथ मे आभीरो के समान ही आन्ध्र लोग सामान्य शासक रूप मे वर्णित है। यह घटना २२५ ईसवी के बाद की होगी, जब आन्ध्रो का राज्य नष्ट हो गया था। इसलिए इस ग्रन्थ का समय चौथी या पाँचवी शताब्दी मानने मे कोई आपत्ति नहीं।

इस ग्रन्थ के सात भाग है, जिनमे तत्कालीन हिन्दू समाज के सुसस्कृत (फैशनेबुल) नागरिको के उत्सवप्रिय आनन्दमय विलासी जीवन का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसके वर्णन मे शरीर के स्वास्थ्य की दृष्टि से, आरोग्यशास्त्र के अनुसार अनेक उपयोगी सूचनाए दी है। यह सब मनुष्य के लिए आवश्यक एव उपयोगी होने से लिखा है, जिसका ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए जरूरी है। यथा—

---

१ श्री वासुदेव उपाध्याय "गुप्त साम्राज्य का इतिहास"।

फाहियान ने इसके विपरीत लिखा है—उसका कहना है कि—"सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है; न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज ही खाता है। केवल चाण्डाल ही ऐसा करते हैं। जनपद में न तो लोग सूअर और मुर्गी पालते हैं, और न जीवित पशु ही बेचते हैं, न कहीं सूनागार है और न मद्य की दुकानें हे। केवल चाण्डाल ही मछली मारते हैं, मृगया करते तथा मांस बेचते हैं"—फाहियान का यह वर्णन सम्भवतः ब्राह्मणो के लिए ही है। वे ही लशुन नहीं खाते थे ("द्विजा नाश्नन्तिमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्"—संग्रह. उत्तर. अ. ४०)।

नागरिक का वृत्त—विद्या समाप्त करके व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में आना होता है। गृहस्थ के लिए अपना घर होना आवश्यक है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह नगर मे (८०० ग्रामो के समूह मे), पत्तन मे (राजधानी मे), खर्वट मे (दो सौ ग्रामसमूह मे), महति (चार सौ ग्राम समूह या द्रोणमुख) मे अपना निवास स्थान बनाये। यह ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ सद्गृहस्थ रहते हो अथवा जीविका प्राप्ति सुगम हो।

घर के पास मे जलाशय और वृक्ष, वाटिका लगानी चाहिए। घर मे अलग-अलग कक्षा प्रत्येक कार्य के लिए होनी चाहिए। सामान्यत घर के दो विभाग हो, एक विभाग दिन के लिए और दूसरा अन्त पुर या शयनकक्ष। मकान को नाना प्रकार से सजाया जाय। पलग के सिराहने में कूर्चस्थान (देवतास्थापन—'जयमगला') और चौकी रहनी चाहिए। चौकी पर अनुलेपन, माला, शृगारदान, इत्रदान, बिजौरी की छाल और पान रहने चाहिएं। पास ही वीणा, चित्रफलक आदि वस्तु रखनी चाहिएँ।

नित्यकर्म—प्रात काल उठकर दैनिक कार्य करके, दन्तधावन, अनुलेपन, धूप, माला धारण करके, ओठो पर मोम, हाथ पैरो पर आलक्तक लगाकर दर्पण मे मुख देखकर, पान खाकर काम मे लगे। स्नान तो प्रति दिन करना चाहिए। उबटन दूसरे दिन लगाना चाहिए। तीसरे दिन फेनक (रीठे आदि के पानी) से सिर धोना, चौथे दिन हजामत करानी चाहिए। भोजन पूर्वाह्ण और अपराह्ण मे करना चाहिए। भोजन के पीछे तोता-मैना आदि पक्षियों से विनोद करे बटेर, मुर्गा, मेढो का युद्ध देखे, मुसाहिबो के साथ बैठकर विनोद करे, दिन मे आराम करे। तीसरे पहर गोष्ठी विहार करे। सायकाल मे सगीत सुने। रात्रि में धूप से सुगन्धित घर मे शयन करे।

औपनिषदिक प्रकरण—कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे इस नाम का एक प्रकरण है, वह एक प्रकार से परिशिष्ट रूप में है। कामसूत्र मे यह प्रकरण इसी रूप मे है। इसमें नाना प्रकार की औषधियो का उल्लेख है, यथा—सुन्दरताकारक तगर, कूठ, तालीस पत्र का अनुलेपन, भिन्न-भिन्न वशीकरण औषधियाँ, वाजीकरण प्रयोग मे उच्चटा और मुलहठीयुक्त शर्करा मिश्रित दूध। इसके सिवा मेष-मुष्क, बकरे के अण्ड, विदारी, कौच का उपयोग भी वर्णित है। उरद का दूध मे उपयोग मधु और घृत के साथ करने का विधान है। चरक की भाँति चटकाण्ड रस का चावलो और दूध के साथ सेवन भी लिखा है। शतावरी, गोखरू, श्रीपर्णी का उपयोग भी बताया गया है। अन्त मे कहा है—

'आयुर्वेदाच्च वेदाच्च विद्यातन्त्रेभ्य एव च।
[illegible]बोद्धव्या योगा ये प्रीतिकारकाः ॥
न प्रयुञ्जीत संदिग्धान् शरीरात्ययावहान् ।
न जीवघातसंबद्धान्नाशुचिद्रव्यसंयुतान् ॥'

ऐसे योगों को आयुर्वेद से, वेद से या अन्य तन्त्रों से जानना चाहिए, परन्तु संदिग्ध या शरीर को हानि पहुँचानेवाले योग नहीं बरतने चाहिए। जिन योगों में प्राणियो की हिंसा हो, जो अपवित्र द्रव्यो से बनते हों, उनको नहीं बरतना चाहिए।[१]

पिछले कामशास्त्र के ग्रन्थों में (अनगरंग, पचसायक, कुचुमारतंत्र में) इस प्रकरण को विस्तार से वर्णित किया है। कुचुमारतंत्र में प्राय. योग ही हैं। बल-वृद्धि एवं पुष्टि के लिए अश्वगन्धा का उपयोग तैल, चूर्ण या घी के रूप में बताया है। चक्रदत्त, भावप्रकाश आदि ग्रन्थो में वात्स्यायन के योगो की छाया मिलती है।

बाल काले करने तथा बाल सफेद करने आदि के जो योग दिये हैं, वे कौटिल्य-अर्थशास्त्र से भिन्न होने पर भी इसी अर्थ को सिद्ध करनेवाले तथा अस्थायी हैं। बाल काले करने के लिए मेहदी का उपयोग है। श्वेत बालवाला व्यक्ति हास्यास्पद होता है—

'स्रग्गन्धधूपाम्बरभूषणानां न शोभते शुक्लशिरोरुहाणाम्।
यस्मादतो मूर्द्धजरागसेवां कुर्याद् यथैवाञ्जनभूषणानाम् ॥' (नित्यनाथ)।

बृहत्संहिता

वराहमिहिर गुप्त-काल के सबसे प्रधान ज्योतिषी थे। इनका समय ५०५ ई० है। इनकी बनायी हुई बृहत्संहिता ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वराहमिहिर विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नो में एक थे। इसी सहिता का यह प्रसिद्ध श्लोक है —

---

१. आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में (सुश्रुत में) शूक रोग का उल्लेख है। इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती। कामसूत्र में लिंगवर्धक योगों में शूकों का उल्लेख है—सम्भवतः उनके उपयोग से ये रोग होते होंगे—"एवं वृक्षजानां जन्तूनां शूकैरुपलिप्तं लिङ्गं दशरात्रं तैलेन मृदितं पुनः पुनरुपलिप्तं पुनः प्रमृदितमिति जातशोफं खट्वायामधोमुखस्तदन्तरे लम्बयेत्। ततः शीतकषायैः कृतवेदनानिग्रहं सोपक्रमेण निष्पादयेत्। स यावज्जीव शूकजो नाम शोफो विटानाम् ॥" ७।२।२६। "अश्वगन्धा-शबरकन्दजलशूकबृहतीफलमहिषनवनीतहस्तिकर्णवज्रवल्लीरसैरेकैकेन परिमर्दनं मासिकं वर्धनम् ॥" ७।२।२६

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः ॥

म्लेच्छ-यवन (मुसलमान-ग्रीक) भी इस ज्योतिषशास्त्र को भली प्रकार जानते हैं; वे भी ऋषियों के समान पूजनीय है, फिर दैव को जानने वाले द्विजातियो की बात क्या कहें ?

ज्योतिष का ग्रन्थ होने पर भी इसमें बहुत-सी बातें अन्य विषयो से सम्बन्धित हैं। इसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित विषय भी आये हैं। यथा—

वज्रलेप—प्रासाद या मकान बनाने मे वज्रलेप का प्रयोग किया जाता है, इससे देवालय, वलभी, देवप्रतिमा, कूप, भित्ति आदि हजार वर्ष स्थायी होते हैं। इसको बनाने में वनस्पतियों या धातुओ का उपयोग होता है। यथा—

(१) आम, तिन्दुक, कच्चा कैथ, सेमल के फूल, सल्ल के बीज, धन्वन की छाल, वच; इनका एक द्रोण जल में क्वाथ करे। जब आठवाँ भाग रह जाय तब इसमें श्रीवास का रस (गोंद), गुग्गुल, भिलावा, कुन्दरू, सर्जरस (बिरोजा), अलसी, बेल का गूदा; इनका कल्क मिला दे। यह वज्रलेप है। (२) सीसक आठ भाग, कांस्य दो भाग, पीतल एक भाग; इनको मिलाकर पिघलाये। यह वज्रसंघात है। सम्भवत: प्रतिमाओ को जोड़ने में इसका उपयोग होता होगा।

वाजीकरण प्रयोग—वाजीकरण योगो को "कान्दर्पिकम्" नाम से दिया गया है। प्राय: सारे प्रयोग चरकसंहिता से सम्बन्धित हैं। इनमें नवीनता नही है। यथा— (१) कौंच की जड़ से सिद्ध दूध निर्बलता नही आने देता। (२) उरदो को दूध या घी में पकाकर छ: ग्रास खायें और ऊपर से दूध पियें। (३) विदारी के चूर्ण को विदारी के रस की अनेक बार भावना देकर, इसको चीनी मिले दूध से पिये। (४) आँवले के चूर्ण को आँवले के रस से कई बार भावना देकर खाये, और ऊपर से दूध पिये। (५) सोनामाखी, पारद, मधु, लोहचूर्ण, हरीतकी, शिलाजीत, विडङ्ग, घी इनको मिलाकर इक्कीस दिन खाये। तिल, अश्वगन्धा, साठी चावल, वस्ताण्ड, गोखरू आदि का उपयोग भी वाजीकरण मे है। वाजीकरण औषधियो से अग्निमान्द्य होना सम्भव है, इसलिए उसका उपाय भी बतलाया है कि अजवायन, सैन्धव नमक, हरड, सोंठ, पिप्पली इनके चूर्ण को मट्ठा या गरम पानी के साथ खाना चाहिए।

वाजीकरण औषध सेवन करते समय अति अम्ल, अति तिक्त, नमक, कटु रस, क्षार, अति शाक, अति भोजन नही करना चाहिए, इससे दृष्टि और शुक्र की हानि होती है। जो वस्तु शुक्र को बढाती है, वह दृष्टि को भी लाभदायक है, और जो शुक्र को हानि करती है, वह दृष्टि को भी हानिकारक है।

रत्नपरीक्षा—रत्नो का उपयोग शुभ-अशुभ फल देनेवाला है, इसलिए रत्नो के सम्बन्ध मे ज्योतिष मे बहुत विचार है। शुभ रत्न से शुभ फल होता है और अशुभ रत्न से अमगल होता है। इसलिए परीक्षा करके रत्नो को धारण करना चाहिए।

रत्नो का नाम, इनकी उत्पत्ति आदि विवेचना इस सहिता में है। वेणा नदी के किनारे पर शुद्ध हीरा उत्पन्न होता है। (वेणा नदी सम्भवत वेत्रवती नदी है, जो विन्ध्याचल के पास है, अथवा जो ऋक्ष पर्वत से चेदि देश मे निकलकर गोदावरी मे मिलकर मछलीपत्तन के पास समुद्र में मिलती है वह 'वेन गगा' नदी है)। वेणा नदी के किनारे का हीरा शुद्ध होता है। कोशल देश (सम्भवत दक्षिण कोशल—छत्तीसगढ का इलाका) का हीरा शिरीष फूल के समान होता है। सौराष्ट्र का हीरा ताम्रवर्ण होता है, सोपारा का हीरा काला होता है। लाल-पीला हीरा क्षत्रियो के लिए, श्वेत ब्राह्मणो के लिए, शिरीष के समान हीरा वैश्यो के लिए, काला शूद्रो के लिए शुभ है (आयुर्वेदप्रकाश मे वैश्यो के लिए पीला हीरा शुभ कहा है)।

उत्तम हीरा—सब वस्तुओं से अभेद्य, न कटनेवाला, वजन में हलका, जल मे जिसकी किरणे चमके, स्निग्ध, विद्युत, अग्नि, इन्द्रधनुष के समान कान्तिवाला हीरा उत्तम है। दोष—काकपद (कौए के पैर का चिह्न), मक्षिका (मक्खी), केश का चिह्न होना, कोई और धातु का मेल, शर्करा से युक्त, बुलबुले होना, टूटा होना, आगे को जो हीरे चपटे हो वे अच्छे नही। अशुभ या दोष युक्त हीरा धारण करने से भाई-बन्धुओ की हानि, धननाश होता है। शुभ हीरा धारण करने से विद्युत्, विष, शत्रु-भय का नाश होता है। (अ० ८०)

मोती की उत्पत्ति हाथी, साँप, सीप, शख, बादल, बाँस, तिमि मत्स्य, शूकर से बतायी है।[1] मोती प्राप्ति के आठ स्थान है—सिंहल, पारलौकिक (?), सौराष्ट्र,

---

१. आयुर्वेदप्रकाश में—'अष्टौ मौक्तिकभूमयः-करिकिरित्वक्सारमत्स्याम्बुमुक्कम्बूरगा[illegible]ऽत्र चरमोत्पन्नं पुनर्विश्रुतम् ॥' करी हाथी, किरी वराह, त्वक्सार बाँस, मत्स्य मछली, अम्बुमुक् मेघ, कम्बू शंख, उरग साँप, अतिशुक्ति मोती; ये आठ मोती के स्थान हैं।

हीरे के दोष—'बिन्दुः काकपदं यवः किलमलो रेखेति नाम्नोदिता
दोषाः पंच पवेः ....॥'

हीरे के गुण—'अच्छत्वं लघुताऽष्टफलता षट्कोणता तीक्ष्णता।
एतान् पंच गुणान् गृणन्ति गुणिनो देवोपभोग्ये पवौ ॥'

ताम्रपर्णी, पारशव, कौबेर, पाड्य, हैम (?)। भिन्न-भिन्न स्थानो मे उत्पन्न मोतियो का रग, चमक, आकार भिन्न-भिन्न होते है।

हाथियो, वराहो, साँपो के मोतियो का उल्लेख भी इसी प्रकरण मे हैं। भिन्न-भिन्न सख्यावाली मोतियो की माला के नाम भिन्न-भिन्न है। एक हजार आठ लडी की माला इन्द्रच्छन्द कही है। दो हाथ की माला का नाम विजयच्छन्द है। एक सौ आठ लड़ी की या इक्यासी लडी की माला देवच्छन्द है। जितने चाहिए उतने मोतियो से बनी, हाथ भर लम्बी मोती की माला एकावली-एकलडी कही जाती है। इस माला के बीच में इन्द्रनील आदि कोई दूसरा रत्न हो तो इसका नाम यष्टी हो जाता है।

मुक्ता की भाँति पद्मराग और मरकत की परीक्षा सहिता में दी गयी है।

दातुन—दाँतो को स्वच्छ करने के लिए प्रति दिन दातुन करने का विधान आयुर्वेद मे है (सुश्रुत चि० अ० २४)। किन वृक्षो की दातुन उपयोगी है, यह भी लिखा है। परन्तु बृहत्संहिता में कुछ अधिक सूचनाएँ दी है, यथा—न जाने हुए, पत्तो से युक्त, युग्म-पर्व, गाँठदार वृक्षो की दातुन नहीं करनी चाहिए, जो दातुन बीच से चीरी हो, वृक्ष पर ही सूख गयी हो, जिस पर छाल न हो, उस दातुन को नही बरतना चाहिए। विककत (बैंकड), बेल, गम्भारी की दातुन से दाँतो में ब्राह्मी द्युति आती है, क्षेम वृक्ष (?) से उत्तम भार्या मिलती है, बरगद की दातुन से उन्नति होती है; आक की दातुन से तेज वृद्धि; महुए की दातुन से पुत्र लाभ, अर्जुन वृक्ष की दातुन से प्रियत्व मिलता है। इसी प्रकार शिरीष, करज, पिलखन, चमेली, पीपल, बेर, कटेरी, कदम्ब की दातुन के फल लिखे हैं (अध्याय ८५)।

पटराग—चरकसंहिता मे बच्चो के वस्त्रो को धूप देने के लिए कुछ ओषधियो का उल्लेख है (शा० अ० ८)। बृहत्सहिता मे भी अनेक प्रकार की गन्ध बतलायी है। वास्तव में गन्धो की संख्या असीमित है, एक गन्ध को दूसरी, तीसरी गन्ध से मिलाने पर अनन्त भेद हो जाते हैं। इसी से इसमे भी गन्धो के बहुत से भेद कहे गये है।

गन्ध के द्रव्य प्राय गिने हुए है, यथा—तुरुष्क, व्याघ्रनख, स्पृक्का, अगरु, दमनक, तगर, मुस्ता, बालक, शैलेयक, कर्चूर, कपूर, कस्तूरी, नागपुष्प, चोर, मलय, प्रियंगु, भूतकेशी, मासी, श्रीवास। इन सब वस्तुओ से दो-तीन चीजो को दो-चार भाग की भिन्नता से मिलाने पर नाना प्रकार की सुगन्ध बनती है। धनिया और कपूर की उत्कट गन्ध होने से इनका सदा एक भाग लेने का विधान है, अधिक लेने से ये सब गन्धो को दबा लेते है। राल, गुड, श्रीवास, नख इनकी धूप अलग-अलग देनी चाहिए। पीछे कस्तूरी और कर्पूर मिला देना अच्छा है।

आयुर्वेद में सुगन्ध का उपयोग शरीर और वस्त्रों पर करने का उल्लेख है (चरक, सू० अ० ५।९६–९७)। आयुर्वेद की दृष्टि स्वास्थ्य की है, ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि इस विषय में सौभाग्य, प्रीति, दीर्घायु की है। परन्तु दोनों में इनका उपयोग एक समान कहा गया है; यही इसका अभिप्राय है। आयुर्वेद में उल्लिखित गन्धर्वनगर (चरक० सू० अ० ९।१४) का स्पष्टीकरण भी बृहत्संहिता में मिल जाता है।

उत्तर गुप्तसाम्राज्य और कन्नौज का राज्य

(लगभग ४५५-६६६ ईसवी)

चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र कुमार गुप्त गद्दी पर बैठा। इसने ४० वर्ष (४१५–४५५ ई०) तक शान्तिपूर्वक राज्य किया। बाकाटक राज्य में यही समय प्रभावती के पुत्र प्रवरसेन और उसके पुत्र नरेन्द्रसेन के शासन में बीता। राजगृह और पाटलिपुत्र के बीच नालन्दा स्थान मे कुमार गुप्त ने महाविहार की स्थापना की थी। आगे चलकर यह एक महान् विद्यापीठ बन गया। यह युग अद्वितीय शान्ति और समृद्धि का था।

चौथी शताब्दी के अन्त में हूण टिड्डी दल की तरह संसार पर छा गये। ये जहाँ पहुँचते वहाँ गाँव और बस्तियाँ जलाते, मारकाट मचाते, अपने जगलीपन और बर्बरता का परिचय देते। इनका अभियान मध्य एशिया से प्रारम्भ हुआ था। एक शाखा बोल्गा नदी को लाँघकर यूरोप को गयी और रोम राज्य पर मँडराने लगी। इससे आजकल का प्रसिद्ध नगर हगर (हुगरी) बना और उनके भाई बन्धुओ के नाम से बुलगारिया हुआ।

हूणो की दूसरी बाढ मध्य एशिया के तुखार राज्यो पर टूटी (लगभग ४२५ ई०)। वहाँ की समृद्धि को नष्ट किया। तुखार राज्य को जीतकर हूणो ने ईरान के सासानी राज्य पर हमले किये। सासानी के राजा यज्दगुर्द द्वितीय को हराकर हूणो का एक दल अफगानिस्तान लाँघता हुआ पजाब तक बढ आया। कुमार गुप्त की मृत्यु के समय गुप्तो का राज्य डगमगा गया था। इसका बेटा समुद्र गुप्त एक तरफ हूणो का मुकाबला कर रहा था और दूसरी और मालवा के विद्रोही गणो से जूझ रहा था। तीन महीने के बाद सब पर विजय पाकर समुद्र गुप्त अपनी माँ के पास उसी प्रकार पहुँचा जैसे कृष्ण देवकी के पास गये थे। इसके बारह वर्ष के शासन काल में गुप्त साम्राज्य ज्यो का त्यो बना रहा।

गुप्त साम्राज्य का अन्तिम राजा बालादित्य था, वही शायद भानुगुप्त था। बीच में कोई प्रतापी राजा नही हुआ। ५०० ईसवी के लगभग गन्धार के हूण राजा तोरमाण 'शाही जऊब्ल' ने गुप्त राज्य को कमजोर पाकर पंजाब से मालवा तक का राज्य वश में कर लिया। भानुगुप्त ने इससे युद्ध किया (५१० ई० में) परन्तु पीछे तोरमाण के बेटे मिहिरकुल को अपना अधिपति मान लिया। मिहिरकुल ने अपनी राजधानी शाकल (स्यालकोट) बनायी, वह अपने को पशुपति (शिव) कहता था। भानुगुप्त बालादित्य ने कुछ समय पीछे इस पर पुन चढाई की, जिसमे मिहिरकुल हार गया और कश्मीर में शरण ली। पीछे वहाँ के राजा को छल से मारकर गद्दी पर बैठ गया।

पजाब, थानेसर और मालवा को गुप्तसम्राट् हूणो से न बचा सके, तब वहाँ की सारी प्रजा एकत्र होकर यशोधर्मा नामक व्यक्ति के नेतृत्व मे लडी और उसने हूणो को करारी हार देकर देश का शासन सम्हाला। यशोधर्मा ने बालादित्य को जगल में खदेडा और कमजोर गुप्तो का राज्य वश में किया। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के काँठे से महेन्द्र पर्वत (उडीसा) तक, हिमालय से पश्चिम समुद्र तक समूचा देश उसे अपना राजा मानने लगा। यशोधर्मा का एक विजयस्तम्भ मन्दसोर में है, जिस पर ५३२ ई० लिखा है। इसके साथ इतिहास का प्राचीन काल समाप्त होकर मध्य काल प्रारम्भ होता है—जो एक हजार वर्ष का है।

मौखरि राजा—यशोधर्मा ने अपना कोई राजवश नही चलाया। छठी शताब्दी के शुरू में गुप्त सम्राटो के वश से एक शाखा निकली, जिसके राजाओ ने अगली शतियो तक इतिहास में विशेष भाग लिया। इन को पिछले गुप्त कहते हैं। इनका वास्तविक अधिकार केवल मगध-बगाल पर था। इन गुप्तो के मुकाबले में अन्तर्वेद के ठीक बीच दक्खिन पचाल की राजधानी कन्नौज मे मौखरि नाम का एक नया राजवश उठ खडा हुआ। इसकी राजधानी थानेसर थी। इनकी सबसे प्रथम प्रसिद्धि हूणो के युद्ध में हुई थी। सम्भवत यशोधर्मा की सेना की हरावल में ये रहे हों।

सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा प्रभाकर वर्धन (५९० से ६०५ ई०) हुआ[1]। यह सम्भवत महासेन गुप्त का भानजा था। इसने उत्तरापथ की ओर अपनी शक्ति बढायी। पहले इसने कश्मीर से हूणो को खदेडा, फिर सिन्ध, गुर्जर (पजाब-मारवाड)

---

१. प्रभाकरवर्धन के वंश को 'वर्धन वंश' नाम भी दिया गया है। इसी को पुष्पभूति वंश कहा है। वास्तव में वह बैस वंश का था। (इतिहासप्रवेश)

और गन्धार के राजाओ को वश में किया। तब दक्खिन की ओर झुका और लाट देश (भरुच-सूरत) पर चढाई कर मालवा के राज्य को जीत लिया। मालवा के राजा महासेन गुप्त प्रथम ने अपने दो बेटे कुमार गुप्त और माधव गुप्त उसे सौपे।

प्रभाकर वर्धन की तीन सन्ताने हुई—राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री। राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के बेटे ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। इस समय की समूची जानकारी कवि बाण ने अपने हर्षचरित मे दी है। किस प्रकार छल से राज्यवर्धन को गौड के राजा ने मारा, राज्यश्री को मालवे के राजा ने कैद मे डाला, किस प्रकार से छूटकर वह विन्ध्याचल में गयी, वहाँ पर सती होने के समय हर्ष ने किस प्रकार बचाया, यह सब जानकारी हर्षचरित से मिलती है।

हर्षवर्धन के समय (६३० ई०) युवानच्वाङ नामक एक चीनी यात्री भारत में आया था। वह दस साल यहाँ रहकर ६४० ई० मे अफगानिस्तान, चीनहिन्द होकर वापस गया। हर्ष के साथ भी वह कुछ समय रहा, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमा और उसने अपना यात्रावृत्तान्त लिखा।

राज्यश्री को वापस लाकर हर्ष ने राज्य उसे सौप दिया और स्वय शीलादित्य नाम से उसका प्रतिनिधि होकर देख-देख करने लगा। अब कुरु और पचाल दोनो राज्यो की शक्ति हर्ष के हाथ में आ गयी। अब उसने दिग्विजय प्रारम्भ किया। छ वर्ष तक वह पूर्व से पच्छिम तक समूचे प्रदेशो को जीतता रहा। कामरूप के राजा भास्कर वर्मा का उसने स्वय अभिषेक किया। सिन्धुराज को कुचलकर उसका राज्य छीना। शशाक हर्ष के आगे झुककर बच सका। बलभी के राजा ध्रुवसेन ने हर्ष से हार मानी। हर्ष ने उसे सामन्त बनाकर अपनी इकलौती बेटी उसको ब्याह दी। किन्तु पुलकेशी (द्वितीय) को नर्मदा के किनारे पर हर्ष हरा नही सका, और यहाँ पर उसे पराजय का मुख देखना पडा। नर्मदा ही दोनो राज्यो की सीमा बनी। हर्ष की अन्तिम चढाई ६४३ ई० में उडीसा के गजाम प्रदेश पर हुई।

हर्ष जैसा विजेता था, वैसा योग्य शासक भी था, शीलादित्य उसका नाम सार्थक था, शील और सच्चरित्रता की मूर्ति था। उसने एक-पत्नीव्रत धारण किया और आजन्म उसे निभाया। ६४७ ई० में हर्ष की मृत्यु हुई। गुप्तकाल मे चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय जिस प्रकार साहित्य की उन्नति, विद्वानो का सम्मान, राजाश्रय मिला, उसी प्रकार हर्ष के समय कवि बाण को भी राजाश्रय मिला। हर्ष स्वय विद्वान् एव साहित्य-सेवी था। हर्षवर्धन का अपना कोई पुत्र नही था।

कवि वाण

बाण ने हर्षचरित में हर्ष का और अपना वर्णन करने मे आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ प्रसग दिये है। यथा—

१ हर्षचरित में वाण ने अपने चवालीस मित्रो—सहायको की तालिका दी है। इनमे मत्रविज्ञ और वैद्यो मे भिक्षुकपुत्र मदारक, जाङ्गुलिक (विषवैद्य या गारुडी) मयूरक, मत्रसाधक कराल, धातुवाद-विद् (रसायन या कीमिया बनाने-वाला) विहगम और असुर विवर-व्यसनी लोहिताक्ष—पाताल में घुसने की विद्या जाननवाला भी था।

२ हर्ष स्कन्धावार पार करके राजद्वार पर आया। ड्योढी के भीतर सब लोगो का आना-जाना रोक दिया गया था। जैसे ही वह घोडे से उतरा उसने सुषेण नामक वैद्यकुमार को भीतर से आते हुए देखा और पिता की हालत पूछी। सुषेण ने कहा—अभी तो अवस्था में सुधार नही है, आपके मिलने से शायद हो जाय।

३ प्रभाकरवर्धन की चिकित्सा मे पौनर्वसव (आत्रेय शास्त्र का ज्ञाता) अठारह वर्ष का एक रसायन नामक वैद्य था, जो राजकुल मे वश परम्परा से आ रहा था। यह आयुर्वेद के आठो अगो में निपुण था, इसको राजा ने अपने पुत्र के समान ही पाला था। यह स्वभाव से ही अति चतुर और व्याधियो के पहचानने में निपुण था[1]।

४ बाण ने कादम्बरी में (द्रविड साधु वर्णन प्रकरण मे)पारे से सोना बनाने, पारे के सेवन, असुर विवर प्रवेश और श्रीपर्वत का उल्लेख किया है।[2]

चिकित्साकलिका

चिकित्साकलिका का कर्त्ता तीसट है। इसके पुत्र चन्द्रट ने इसकी व्याख्या की है। इस व्याख्या के साथ मेरे सहपाठी श्री जयदेव विद्यालकार आयुर्वेदाचार्य कृत

---

१. अधिक जानकारी के लिए 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पुस्तक देखनी चाहिए।

२. पारे से सोना बनाने या कीमिया (धातुवाद) की धुन वायु की तरह उसके मस्तक में भर गयी थी। कच्चे पारे का रसायन खाकर उसने काल-ज्वर ही बुला लिया था। श्रीपर्वत से सम्बन्धित अचम्भों की सैकड़ों बातें उसे याद थीं।

परिमल हिन्दी व्याख्या के साथ श्री नरेन्द्रनाथ मित्र जी ने १९८३ विक्रमी में इसे प्रकाशित किया था।

चिकित्साकलिका में तीसट और चन्द्रट का सम्बन्ध स्पष्ट है; यथा—

'तीसटसूनुर्भक्त्या चन्द्रटनामा भिषङ्मतश्चरणौ।
नत्वा पितुश्चिकित्साकलिकाविवृत्तिं समाचष्टे॥
व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्याधार्ष्ट्यं समावहति॥'

इससे स्पष्ट है कि तीसट के पुत्र चन्द्रट ने इसकी व्याख्या की है। टकारान्त नाम होने से इनका कश्मीर देशी होना सम्भावित है (कैयट, मम्मट, जैज्जट आदि नाम कश्मीर मे प्रसिद्ध है)। तीसट को कुछ लोग वाग्भट का पुत्र बताते है। इनका आधार भाण्डारकर प्राच्य सशोधन की 'चिकित्साकलिका' की एक प्रति है; जिसमें ग्रन्थ की समाप्ति पर "इति वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन रचितं चिकित्साशास्त्रम्" यह लिखा है। परन्तु ग्रन्थकर्त्ता और व्याख्याकार दोनो ने ही न तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में न अन्त में वाग्भट का उल्लेख किया है। केवल पिता को नमस्कार किया है। ग्रन्थ समाप्ति में भी सुश्रुत का नाम है, वाग्भट का नाम नही। साथ ही सारी पुस्तक मे वाग्भट की भाँति बौद्ध धर्म की झलक सर्वथा नही मिलती। कही भी एक वस्तु ऐसी नही, जिसमें इसका वाग्भट के साथ सम्बन्ध प्रतीत हो सके।

'सूर्याश्विधन्वतरिसुश्रुतादीन् भक्त्या नमस्कृत्य पितुश्च पादान्।
कृता चिकित्साकलिकेति योगैर्माला सरोजैरिव तीसटेन॥ १॥
हारीतसुश्रुतपराशरभोजभेलभृग्वग्निवेशचरकादिचिकित्सकोक्तैः।
एभिर्गणैश्च गुणवद्भिरतिप्रसिद्धैर्धान्वन्तरीयरचना रुचिरप्रपञ्चैः॥ २॥'

इन नामो मे वाग्भट का उल्लेख नही है। टीकाकार चन्द्रट ने भी आदि शब्द की व्याख्या में वाग्भट का उल्लेख नही किया।[1] इसलिए सग्रह और हृदय के कर्त्ता वाग्भट को तीसट का पिता मानना युक्तिसंगत नही है।

---

१. नावनीतक में देखिए—

'आत्रेयहारीतपराशरभेलगर्गशांबव्यसुश्रुतवशिष्ठकरालकाप्याः।
सर्वौषधिरसयणाकृतिवीर्यनामजिज्ञासवः समुदिताः शतशः प्रचेरुः॥'

इसमें भी जिन आचार्यों के नाम हैं, वे ही आचार्य चिकित्साकलिका में भी वर्णित हैं।

तीसट का समय—तीसट ने अपनी पुस्तक की समाप्ति शुभकामना के साथ की है। यह मंगलमय प्रशस्ति इसे गुप्तकाल का प्रमाणित करती है। ग्रन्थ समाप्ति पर शुभकामना नाटको की परम्परा में है, जो हमको सबसे प्रथम संग्रह और हृदय में मिलती है। इस परिपाटी को टीकाकार चन्द्रट ने भी "आरोग्य तेन गच्छन्तु सन्त सन्मार्गगामिन" कहकर निभाया है। साथ ही यह पंक्ति वाग्भट के प्रसिद्ध श्लोक "भिषजा साधुवृत्ताना भद्रागमशालिनाम्। अभ्यस्तकर्मणा भद्र भद्र भद्राभिलाषिणाम्" की याद कराता है। इससे स्पष्ट है कि इसका समय वाग्भट के आसपास है, और उसकी झलक इसमें है। इसलिए वाग्भट का समय ही या उसके थोड़ा पीछे का इसका समय है।

चिकित्साकलिका का विश्लेषण—यह एक प्रकार का योग-संग्रह है, परन्तु नावनीतक से अधिक विस्तृत है। इसमें प्राय. सब योग काष्ठौषधियो के हैं। शिवा-गुटिका (शीर्षचिकित्सा २७०) इसी में सबसे प्रथम मिलती है, इसको पीछे चक्र-दत्त ने लिया। इसमें चार सौ श्लोक है ('निरूपिता वृत्तशतै चतुर्भिर्योगै स्रगब्जैरिव लीसटेन', लाहौर की छपी प्रति में चार सौ ही श्लोक है, दक्षिण भारत कोटायम की छपी में ४०७ है)। इसमें योग प्राय संगृहीत है। यथा—हिंगुपंचक ('विश्वौषधेन रुचकेन सदाडिमेन स्यादम्लवेतसयुत कृतहिंगुभागम्') भेल मुनि के नाम से संगृहीत है (२४८)। हिंग्वष्टक चूर्ण भी इसी में दिया गया है (२९४)। इसमें लिखित धूप काश्यपसहिता से भिन्न है। यथा—दशाग धूप (३७५) को भृगु के पुत्र शुक्राचार्य का कहा गया है, इसका पाठ काश्यपसहिता के दशाग धूप से सर्वथा भिन्न है (उसमें सरसो श्वेत है—कलिका में नही है, और भी वस्तुएँ भिन्न है)। विजयधूप चिकित्सा-कलिका में नया है। ये धूप भूत-विद्यातत्र में दिये गये है। भूतविद्या नाम से एक अध्याय चिकित्सा कलिका मे है, और भूतविज्ञानीय एव भूतप्रतिषेध नामक दो अध्याय अष्टागसग्रह मे है। चरक और सुश्रुत में इस रूप में पृथक् कोई अध्याय नही। दोनो मे यह समानता है। इसमें आयुर्वेद के आठो अगो की पृथक्-पृथक् चिकित्सा कही गयी है।

चिकित्साकलिका में वाग्भट के सग्रह की भाँति नये-नये सुन्दर छन्द मिलते हैं। यथा—

'सघृतमधु बलात्रयस्य चूर्णं समधुसितायुतमुच्चटोद्भवश्च।
समुद्गमथ मुद्गमाषपर्ण्योरमृतलतामलकत्रिकण्टकनाम्॥' १९७॥

इसमें 'पुष्पिताग्रा' छन्द है। "अमृतलतामलकत्रिकण्टका नाम्" यह पूरा वाक्य कवि लोलिम्बराज ने अपने वैद्यजीवन मे लिखा है। काले तिलो के साथ आँवले का रसायन के रूप मे व्यवहार इसका नया योग है।

काय-चिकित्सा का विषय जितने विस्तार से वर्णित है, शेष अग उतने ही सक्षेप में हैं। रसायन एवं शल्य प्रकरण को बिलकुल सक्षेप मे कहा गया है। बहुत से रसायनो को एक साथ एक ही श्लोक मे कह दिया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे दोषो के विषय मे सम्पूर्ण, परन्तु महत्त्वपूर्ण जानकारी दे दी गयी है। शरीरप्रकरण भी संक्षिप्त है। मुख्य विस्तार चिकित्सा के योगो का है। बहुत-से योग जो आज प्रचलित है (व्याघ्री हरीतकी, भार्गी गुड, चित्रक हरीतकी आदि) वे इसी में से लिये गये हैं। सक्षेप में उस समय जो योग वैद्यो मे मुख्यत बरते जाते थे वे इसमें और नावनीतक में संगृहीत है। नावनीतक के योगो की अपेक्षा इसमें प्रसिद्ध नुस्खे अधिक हैं। इस प्रकार योगसग्रह के ग्रन्थो में यह कृति प्रथम है।

इसकी टीका करते हुए चन्द्रट ने कहा है—

> 'चिकित्साकलिकाटीकां योगरत्नसमुच्चयम्।
> सुश्रुते पाठशुद्धिञ्च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्॥'

चन्द्रट ने चिकित्सा-कलिका की टीका, योगरत्नसमुच्चय तथा सुश्रुत की पाठ-शुद्धि ये तीन कार्य किये। इस समय केवल टीका ही मिलती है, शेष दोनो का पता नही (योगरत्नाकर इससे भिन्न है और बहुत पीछे का है, जिसके कर्त्ता का पता नही)। इतना स्पष्ट है कि उस समय योगसग्रह ग्रन्थो का पर्याप्त आदर था और ऐसे ग्रन्थो की रचना अधिक की जाती थी, क्योकि इससे आर्थिक लाभ अधिक होता था। इसी से ग्रन्थकर्त्ता ने स्वय कहा है—

> 'स्वल्पश्रुतस्य भिषजः किल सुश्रुतादि
> शास्त्रोदधौ मतिरबोधवृढप्रमूढा।
> अस्मद्विधग्रथितयोगसमुच्चये तु
> बध्नाति बुद्धिमबुधः सुभिषग्वरो वा॥'

जिसने थोडे शास्त्रो का अध्ययन किया है, ऐसे वैद्य की बुद्धि सुश्रुत आदि शास्त्र-रूपी समुद्र में अज्ञानवश प्रसरित नही हो सकती, परन्तु हमारे द्वारा बनाये योगसमुच्चय में तो मूर्ख तथा पण्डित दोनो की बुद्धि अच्छी प्रकार प्रसृत होती है।

आठवाँ अध्याय

मध्य काल

(६४७ से १२०० ई०)

शुक्रनीति, माधवनिदान, वृन्दमाधव, चक्रदत्त, वगसेन

हर्ष की मृत्यु ६४७ या ६४८ ईसवी मे हुई थी। उसके पीछे देश में अराजकता फैल गयी (अराजकता को सस्कृत मे मछलियो की दशा कहते हैं—जयचन्द्र)। हर्षवर्धन के मंत्री—ओलनशुन (अर्जुन) ने उसकी गद्दी सँभाली। इसकी शक्ति भी तिब्बत के राजा और नेपाल की सेना ने युद्ध में तोड दी, यह कैद करके चीनी सम्राट् के पास भेजा गया। आसाम मे भास्कर वर्मन् और मगध में माधव गुप्त के पुत्र आदित्य सेन ने (६७२ ई०) स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। पश्चिम और उत्तर पश्चिम की शक्तियाँ भी अब स्वतन्त्र हो गयी। इनमें राजपूताने के गुर्जर, कश्मीर के करकोटक मुख्य थे। इन्होंने अगली शती में राजनीति का सूत्र अपने हाथ मे लिया।

अर्जुन के पीछे कन्नौज के राजा यशोवर्मा का नाम सबसे प्रथम सामने आता है (७२५ से ७४० ईसवी तक)। यशोवर्मा को कश्मीर के राजा ललितादित्य ने हराया था। यशोवर्मा की राजसभा के पण्डित भवभूति थे, जिनको ललितादित्य अपने साथ कश्मीर ले गया था[1]। यशोवर्मा किस वश का था, यह पता नहीं। उसका नाम और सिक्के मौखरियो की शैली के हैं। उसके पीछे के राजा मण्डिकुल के थे। हर्षवर्धन के मामा का लडका और सेनापति भण्डि था। जान पडता है कि यशोवर्मा के पीछे साम्राज्य उसके सेनापति के वश के हाथ मे चला गया। ललितादित्य के उत्तराधिकारी जयापीड ने कन्नौज के नये सम्राट् वज्रायुध को हराकर पहाडो में नेपाल तक राज्य बनाया।

---

१ राजतरंगिणी से पता चलता है (४।१३४) कि भवभूति कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा के सभापण्डित थे—

'कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो राजा यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम ॥'

इस प्रकार कन्नौज का राज्य टूटने पर पाल, गग, राष्ट्रकूट, प्रतिहार राज्यों का उदय हुआ (७४३–७९० ईसवी के लगभग)। मगध और बगाल में जब अराजकता फैली, तो प्रजा ने श्रीगोपाल के हाथ मे राज्यलक्ष्मी सौंप दी—उसे अपना राजा चुना (७४३ ई०)। कलिग (उडीसा) मे इस समय तक गगवश स्थापित हो चुका था। महाराष्ट्र–कर्णाटक के अतिम चालुक्य राजा से सामन्त दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने राज्य छीन लिया था (७५३ ई०)। राष्ट्रकूट का असली अर्थ प्रान्त का शासक है, इसी से पीछे राठौड बना। इसी समय गुर्जर देश के राजा नागभट ने सिन्ध के मुसलमानो को हराकर अपना राज्य स्थापित किया, इसकी राजधानी भिन्नमाल थी। इसके पुरखा किसी राजा के प्रतिहार (द्वारपाल) थे; इसी से इसके वशजो के साथ प्रतिहार शब्द जुड गया।

मगध और गौड राज्य में गोपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र धर्मपाल हुआ (७७०–८०९ ई०)। नागभट के भाई के पोते प्रतिहार राजा वत्सराज ने धर्मपाल को चुनौती दी और उसे युद्ध मे हराया। परन्तु इन दोनो पर राष्ट्रकूट कृष्ण के बेटे ध्रुव-धारावर्ष (७८३–७९३ ई०) ने चढाई की। इसने दोनो को हराया। लाट और मालवा प्रान्तो के लिए राष्ट्रकूटो और प्रतिहारों में लडाई रहती थी।

धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल हुआ (८१०–८५१ ई०)। यह भी योग्य शासक था। पाल राजा सब बौद्ध थे। धर्मपाल ने भागलपुर के पास विक्रमशिला नामक एक महाविहार बनवाया था; यह भी नालन्दा की तरह बाहर के बौद्ध देशो में शीघ्र प्रसिद्ध हो गया। इसके बटे देवपाल ने मगध के राज्य को पूर्वी भारत का साम्राज्य बना दिया। इसके सेनापति ने प्राग्ज्योतिष (आसाम) और उत्कल को जीत लिया। विन्ध्य में अमोघवर्ष से तथा नागभट की मृत्यु के बाद उसके पुत्र रामभद्र से भी लोहा लिया था।

परन्तु ८३६ ईसवी मे पासा पलटा, रामभद्र के बेटे भोज या मिहिर भोज ने कन्नौज को जीता और उसे अपनी राजधानी बनाया। कश्मीर की सीमा तक उसने अपना राज्य बढाया। पालो का राज्य तब केवल राढ देश (पश्चिमी बगाल) और सम-तट पर रह गया था। पूरबी बगाल मे भी एक चन्द्र वश खडा हो गया था, जिसकी राजधानी विक्रमपुर (ढाका) थी। भोज के पचास वर्ष बाद (८३६–८९० ईसवी) मे उसके बेटे महेन्द्रपाल के शासन (८९१ से ९०७ ई०) में कन्नौज की राज्य-लक्ष्मी फिर उठी और वह फिर राजधानी बना। महेन्द्रपाल का बेटा महीपाल गद्दी पर बैठा। इसके समय (९१६ ई०) कन्नौज की फिर अवनति हुई और वह उजड़ा।

बंगाल के पाल-वंशी राजाओं ने ९५० ई० तक मगध को वापस ले लिया; परन्तु बंगाल को वे न ले सके और वहाँ एक कम्बोज वंश स्थापित हो गया। दसवी शती के अन्त तक पालवंशी राजा महीपाल (९७५ से १०२६ ई० लगभग) ने फिर धीरे-धीरे अपने पुरखों का राज्य बना लिया। पहले इसने कम्बोज देश का अन्त कर उत्तरी बंगाल लिया (लगभग ९८४ ई०) और फिर मगध। अपने राज्यकाल के अन्त में इसने मिथिला को भी ले लिया (१०२३ ई०)। महीपाल राजा का पुत्र ही नयपाल था, जिसकी रसशाला-पाकशाला के सूदाध्यक्ष श्री चक्रपाणि दत्त के पिता नारायण थे। पिता के मरने पर चक्रपाणि प्रथम सूदाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए और पीछे से प्रधान मंत्री बने। १०४० ईसवी में नयपाल ने महाराज पदवी धारण की थी।

अन्तर्वेद का साम्राज्य कमजोर होने पर विन्ध्य मेखला के सामन्त स्वतन्त्र हो गये। यमुना के दक्खिन में विदर्भ और कलिंग तक पुराना चेदि देश था। इस युग में दक्खिन का भाग चेदि और उत्तर का भाग जेजाकभुक्ति या जझौती कहलाता था। चेदि के कलचुरी वंश की राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के पास तेवर) थी। जझौती में चन्देल वंश राज्य करता था। इसकी राजधानी पहले महोबा, फिर खजुराहो थी।

चेदि और जझौती के पश्चिम मालवे में परमार राजपूतों का एक राज्य था। इसकी राजधानी धारा थी। उत्तरी राजपूताने में चौहानों का एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था, जिसकी राजधानी साँभर थी। गुजरात में मूलराज सोलंकी ने (९६० ई०) में एक राज्य बनाया, जिसकी राजधानी अणहिल्ल पाटन थी। ओहिन्द के शाहियों का राज्य पंजाब तक फैला था[1]। इन राज्यों के बीच कन्नौज का प्रतिहार राज्य भी बना रहा।[1]

ओहिन्द के शाहियों में ही एक राजा जयपाल (९८६ ई० लगभग) था; जब सुबुक्-तगीन ने अपना राज्य पूरब और उत्तर की ओर बढ़ाना चाहा तब इसने जयपाल के किले जीते। सुबुक्-तगीन के मरने के पीछे जयपाल ने फिर सिर उठाया और अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। इस समय इसका युद्ध सुबुक्-तगीन के पुत्र महमूद गजनवी से हुआ, जिसमें यह हारा और अपने बेटे आनन्दपाल को ओल रखकर कैद से मुक्त हुआ। इस हार से दुखी होकर इसने अपने को आग में जला दिया। तब महमूद ने आनन्दपाल को भी मुक्त कर दिया। यह महमूद की पहली चढ़ाई थी। उसने भारतवर्ष पर कुल १७ चढ़ाइयाँ की थी।

---

१. अटक से १६ मील उत्तर में उदभाण्डपुर है। अब इसे ओहिन्द कहते हैं। पहले यहीं से अटक-सिन्ध नदी पार की जाती थी। (सार्थवाह)

आनन्दपाल के साथ महमूद की कई लडाइयाँ हुई और अन्तिम लडाई में आनन्द-पाल मारा गया। इसके पुत्र त्रिलोचनपाल ने कर देना मजूर किया और अपने दो हजार सैनिक सुलतान की सेवा में दिये। चार वर्ष तक दोनो मे शान्ति रही। महमूद ने १०१४ ई० मे फिर चढाई की। इसमें कश्मीर का राजा तुग और त्रिलोचन पाल दोनो हारे, जिससे महमूद का मुलतान और पजाब पर दखल हो गया। इसके बाद वह और आगे बढने लगा। उसने थानेसर पर धावा बोला, फिर १०१८ मे एक लाख सेना के साथ अन्तवद पर चढाई करके मथुरा और कन्नौज को लूटा। राजा राज्यपाल गगा पार भाग गया था। महमूद की अन्तिम चढाई १०२३ ई० मे हुई, जिसमे उसने सोमनाथ का मन्दिर लूटा। महमूद ने कश्मीर पर १०२१ में चढ़ाई की, परन्तु वहाँ पर हार कर वापस गया। कश्मीर ही इससे बचा था। महमूद की मृत्यु १०२३ ई० मे हुई।

महमूद के ही शासन काल मे अल्बेरूनी भारत में आया था। इसने पेशावर और मुलतान मे पण्डितो से सस्कृत पढी। महमूद के सिक्कों पर कलमे का संस्कृत अनुवाद मिलता है—'अव्यक्तमेक मुहम्मद अव-ार, नृपति-महमूद अय टको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन सवत्'. अर्थात् एक अव्यक्त (ला इलाह इल्लिलाह), मुहम्मद अवतार (मुहम्मद रसूल इल्लाह), राजा महमूद। यह महमूदपुर (लाहौर) की टकसाल मे पीटा गया, जिन (हजरत) के अयन (भागने) का सवत् .।

राजा जयचन्द्र—कन्नौज मे चन्द्र गहड्वार का पोता गोविन्द्रचन्द्र (१११४–११५४), इसका पुत्र विजयचन्द्र और विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र भी प्रबल और योग्य राजा हुए। ये काशी के भी राजा कहलाते थे। राजा चन्द्र की सभा में ही श्रीहर्ष पण्डित थे, जिनके बनाये नैषधचरित से पता चलता है कि उस समय चरक सुश्रुत के पठन का रिवाज था ('देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिल, स्यादस्या नलद बिना न दलने तापस्य कोऽपि क्षम।' (४।११६) इसमे सुश्रुत, चरक और नलद शब्द श्लेष रूप मे है)। बारहवी शती तक मगध और अग गहड्वार के अधीन रहे (११९४ ई०)।

जयचन्द्र ११७० ई० में गद्दी पर बैठा। जयचन्द्र के शासन-काल की सबसे बडी घटना शहाबुद्दीन गोरी का हमला था। ११९१ में पृथ्वीराज ने तलावडी के मैदान मे गोरी को परास्त किया था। इस पराजय का बदला लेने के लिए अगले वर्ष उसने फिर चढाई की, जिसमें पृथ्वीराज मारा गया। इसमें जयचन्द्र लडाई से पृथक् रहा। अगले वर्ष ११९४ में गोरी ने कन्नौज की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावे

के बीच लडाई हुई। युद्ध मे जयचन्द्र मारा गया, इसका राज्य इसके पुत्र हरिश्चन्द्र को लौटा दिया गया। हरिश्चन्द्र ने कब तक राज्य किया इसका पता नही। परन्तु १२२६ ईसवी में गगा यमुना का दोआबा मुसलमानो के हाथ मे था।

चिकित्साकर्म सम्बन्धी उल्लेख—इस समय राजपूत राज्यो मे परस्पर कलह थी। परस्पर लडाई झगडे चल रहे थे। इसी ईर्ष्या से सूर्यमल और पृथ्वीराज (चाचा और भतीजे) ने मालव देश पर आक्रमण किया। इसमे सूर्यमल बहुत जख्मी हुए थे। इन जख्मो की चिकित्सा वैद्यो ने की थी। इसके सम्बन्ध मे लिखा है—

१—"सूर्यमल और पृथ्वीराज दोनों थककर हट गये थे। जिस समय पृथ्वीराज सूर्यमल से मिलने के लिए आए उस समय शस्त्रवैद्य उनके जख्म सी रहे थे। पृथ्वीराज को आया देखकर सूर्यमल उससे मिलने के लिये खडे हुए। इससे उनके सब जख्मो के टाँके टूट गये। पृथ्वीराज ने पूछा——चाचा क्या हाल है? सूर्यमल ने कहा—तुमको देखकर सब कुछ भूल गया हूँ।"—भारतवर्ष का इतिहास—ज्ञानमण्डल से प्रकाशित

२—कन्नौज के राजा जयचन्द राठौर का मृत शरीर उसके कृत्रिम दाँत से ही पहचाना गया था, जब वह शहाबुद्दीन—शम्सुद्दीन के साथ लड़ रहा था (११९४ ई०)। भारतवर्ष का इतिहास—एलिफिंस्टन कृत,[1] पृष्ठ ३५६

---

१. दाँत बनाने के सम्बन्ध में और भी जानकारी मिलती है, यथा—टूटे हुए दाँत को जोड़ने की विधि बहुत समय से भारतीयों को ज्ञात थी। इसके लिए हाथी दाँत को लेकर इसे इस प्रकार से गढ़ा जाता था कि वह टूटे हुए दाँत की भाँति बैठ सके। यह एक दृष्टि से विशेष कारीगरी थी। इसके पीछे मृत शरीर से वास्तविक दाँत लेकर उनका व्यवहार होने लगा। कभी-कभी जीवित व्यक्ति के भी दाँत लेकर इनको सोने, चाँदी से मढ़कर लगाया जाता था। जबड़े में जिस स्थान पर दाँत बैठाना होता था, उसका माप एक कम्पास के द्वारा लिया जाता था। दाँत को हाथीदाँत में खरादकर पीछे आरी से इसे अलग करते थे। मसूड़ों पर एक लेप (Pigment) लगा दिया जाता था। स्थान पर बैठाकर इसे बाहर से छीलकर या कुरेदकर ठीक कर दिया जाता था। भारतीयों में मुख में खराब दाँत के स्थान पर मुक्तासीप, बिल्लौर या सीप के दाँत लगवाने की प्रथा सामान्य थी। मुख में मनुष्य के दाँतों को कृत्रिम प्लेट में बैठाने से पूर्व उनको शिखर पर से काटकर इनकी नली साफ कर ली जाती थी। इसे थोड़ा बढ़ाकर ऐसा बना लिया जाता था कि कृत्रिम प्लेट या अस्थि के (दाँत के) पार्श्व से आनेवाली पिन इसमें जाकर इसे बाँध सके। स्वर्ण की प्लेट के

इस समय के आयुर्वेद साहित्य पर प्रकाश डालते हुए स्वर्गीय गौरीशकर हीराचन्द्र जी ओझा ने लिखा है कि—"इसी समय इन्दुकर के पुत्र माधवकर ने 'रुग्विनिश्चय' या [illegible] नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ आज भी निदान के सम्बन्ध मे बहुत प्रामाणिक समझा जाता है। इसमें रोगो के निदान आदि पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। वृन्द के सिद्धयोग मे ज्वर आदि की विवेचना बहुत विस्तार से दी गयी है। चक्रपाणिदत्त ने १०६० ई० में सिद्धयोग के आधार पर चिकित्सासग्रह नामक ग्रन्थ लिखा था। इस समय के अन्त मे १२०० ई० के लगभग शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधर सहिता लिखी, इसमे अफीम और पारे आदि [illegible] वर्णन के अतिरिक्त नाडीविज्ञान के भी नियम दिये गये है (नाडीविज्ञान का प्रथम उल्लेख इसी में है—लेखक)। पारे का इस समय बहुत प्रचार था। अल्बेरूनी ने भी पारे का वर्णन किया है। वनस्पतिशास्त्र के सम्बन्ध मे कई कोश भी लिखे गये, जिनमे शल्य-प्रदीप और निघण्टु प्रसिद्ध है।"—मध्यकालीन भारतीय सस्कृति—पृष्ठ ११९

पशु-चिकित्सा भी कम उन्नत नही थी। इस विषय पर बहुत ग्रन्थ मिलते है। पालकाप्य कृत गजचिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण (जिसका हेमाद्रि ने उल्लेख किया है), गजपरीक्षा, बृहस्पति रचित गजलक्षण, गो-वैद्यशास्त्र, जयदत्त कृत अश्वचिकित्सा, नकुलकृत शालिहोत्र शास्त्र, अश्वतत्र (इसका उल्लेख राय

लिए छाप (impression) मोम पर लेकर उसका मधूच्छिष्ट प्रतिबिम्ब (cast) बनाया जाता था। मोम को बत्ती की ज्वाला के सामने धीमे-धीमे गरम करके सावधानी के साथ नरम किया जाता था।

—इडियन डैन्टल जर्नल, सं० ३-१९३१ (डैन्टीस्ट्री इन एनसियन्ट इंडिया—एन० एन० बैरी)।

जे० एच० बैड्कौक (J H. Badcock) ने लिखा है कि 'यह भली प्रकार ज्ञात है कि गिरे हुए दांत से जो गड्ढा रह जाता था, उसे भारतीय भली प्रकार से भर देते थे, इस कार्य में वे स्वर्ण के छोटे टुकडे काम में लाते थे, बौन्टीयस (Bontius) ने लिखा है कि युवावस्था में जिनके दाँत गिर जाते थे; वे स्वर्ण के दाँत उनके स्थान पर लगवाते थे। कैरियर (Carrir) ने लिखा है कि 'भारतवर्ष के जिन स्थानों में दाँत का कालापन सौन्दर्य पसन्द किया जाता है, वहाँ पर दाँतो के बीच में स्वर्ण के छोटे-छोटे पत्तर लगा दिये जाते थे। कृत्रिम दाँत बनाने के लिए मोनियो का प्रायः उपयोग होता था। (डैन्टीस्ट्री इन एनसियन्ट इण्डिया—लेखक एन० एम० चौकसी)

मुकुट की .अमरकोश की टीका मे है), गण-रचित अश्वायुर्वेद (सिद्धयोग सग्रह) अश्वलक्षण, हयलीलावती (मल्लिनाथ ने इसका उल्लेख किया है) आदि ग्रन्थ मिलते है। अधिकाश मे ये ग्रन्थ हिन्दू शासन के ही समय के है।

तेरहवी सदी मे पशुचिकित्सा सम्बन्धी एक सस्कृत ग्रन्थ का फारसी मे अनुवाद किया गया था। इसमे निम्नलिखित ग्यारह अध्याय है —

१ घोडो की जाति, २ उनकी सवारी और उनकी पैदाइश, ३. अस्तबल का प्रबन्ध, ४ घोडो का रग और जातियाँ, ५ उनके दोष, ६ उनके अग-प्रत्यग, ७ उनकी बीमारी और चिकित्सा, ८. उनका दूषित रक्त निकालना, ९ उनका भोजन, १० उनको हृष्ट-पुष्ट बनाने के साधन, ११ दाँतो से आयु को जानना।

पशु-चिकित्सा के साथ-साथ पशु विज्ञान और कृमि-शास्त्र भी अत्यन्त उन्नत था। भारतीय विद्वान् पशुओ के स्वभाव, प्रकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे। पशुओ के शरीरविज्ञान को भी वे भली प्रकार जानते थे। घोडे के दाँतो को देखकर उसकी आयु का पता लगाने की प्रथा भारत में पुरानी है। सर्पों की भिन्न-भिन्न जातियाँ इनको मालूम थी। भविष्य पुराण मे पाया जाता है कि वे वर्षा ऋतु के पूर्व सग करते है, और अनुमानत छ मास के बाद सर्पिणी २४० अडे देती है। बहुत से अडे तो माता-पिता खा जाते है; और बचे अंडो से दो मास मे बच्चे स्वय निकल आते है। सात दिन में काले हो जाते है, और १५–२० दिन में उनके दाँत निकल आते है। तीन सप्ताहो में उनमे विष उत्पन्न हो जाता है, छ मास में साँप केचुली उतारते है। उनकी त्वचा पर २४० सन्धियाँ होती है। डल्हण ने लिखा है कि लाटचायन कृमियो और सरीसृपो (रेंगनेवाले जन्तुओ) के विषय मे प्रामाणिक विद्वान् है। उसने कृमियो के भिन्न-भिन्न अगो पर भी विचार किया है,[1] यथा—

'कटुभिर्बिन्दुलेखाभिः पक्षैः पादैर्मुखैर्नखैः।
शूकैःकण्टकलांगूलैः संश्लिष्टैः पक्षरोमभिः॥
स्वनैःप्रमाणैःसंस्थानैः लिंगैश्चापि शरीरगैः।
विषवीर्यैश्च कीटानां रूपज्ञानं विभाव्यते॥'—कल्प

---

१. सिकन्दर के सेनापति निर्आकस ने लिखा है कि—'यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते थे, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयो ने ठीक कर दिया।' हिस्ट्री औफ मेडिसन-वाइज। दाहक्रिया और उपवास चिकित्सा में भी भारतीय प्रवीण थे।

हमारे समय के आस-पास के जैन पण्डित हंसदेव का लिखा 'मृग-पक्षी शास्त्र' भी अपने विषय का बहुत उपयोगी और प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसमें सिंहो का वर्णन करते हुए उनके छः भेद—सिंह, मृगेन्द्र, पचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि कहकर उनकी विशेषताएँ बतायी है। शेर के अतिरिक्त हंसदेव ने व्याघ्र, चरख, भालू, गैडे, हाथी, घोडे, ऊँट, गधे, गाय, बैल, बकरी, भैंस, हरिण, गीदड, बदर, चूहे आदि अनेक पशुओ और गरुड, हस, बाज, गिद्ध, सारस, कौआ, उल्लू, तोता, कोयल आदि नाना पक्षियो का विस्तृत विवरण दिया है। इनकी किस्मे, वर्ण, युवावस्था, सभोग योग्य अवस्था, गर्भ-काल, इनकी प्रकृति, जाति, आयु तथा इनके भोजन, निवास आदि विषयो पर प्रकाश डाला गया है। हाथी का भोजन गन्ना बतलाया है।

भारतीयो ने ही सबसे पहले औषधालय और चिकित्सालय बनाना प्रारम्भ किया था। फाहियान (४०० ई०) ने पाटलिपुत्र के एक औषधालय का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ सब गरीब और असहाय रोगी आकर इलाज कराते है। उनको आवश्यकतानुसार औषध दी जाती है। उनके आराम का पूरा खयाल रखा जाता है। यूरोप में सबसे पहला औषधालय विसेंट स्मिथ के कथनानुसार दसवी सदी में बना था। ह्युआन च्वाग ने भी तक्षशिला, मतिपुर, मथुरा और मुलतान आदि की पुण्यशालाओ के नाम दिये है, जिनमे गरीबो और विधवाओ को मुफ्त औषध, भोजन और वस्त्र दिये जाते थे।

वर्तमान यूरोपियन चिकित्साशास्त्र का आधार भी आयुर्वेद है। लार्ड एपथिल ने एक भाषण में कहा था कि मुझे यह निश्चय है कि आयुर्वेद भारत से अरब में और वहाँ से यूरोप में गया। अरब का चिकित्साशास्त्र संस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद पर निर्भर था। खलीफाओ ने कई सस्कृत ग्रन्थो का अरबी में अनुवाद कराया। भारतीय चिकित्सक चरक का नाम लैटिन मे परिवर्तित होकर अब भी विद्यमान है। नौशेरवाँ का सम-कालीन बर्जोह्येह (Barzohyeh) भारत मे विज्ञान सीखने आया था। प्रो० साचू के अनुसार अल्बेरूनी के पास वैद्यक और ज्योतिष विषयक सस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद विद्य-मान थे। अल्मनसूर ने आठवी सदी मे भारत के कई वैद्यक ग्रन्थो का अरबी मे अनु-वाद कराया। प्राचीन अरब-लेखक सैरेपिन ने चरक को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उसका वर्णन किया है। हारूँ रशीद ने कई वैद्यो को अपने यहाँ बुलाया था। आयु-वद अरब से ही यूरोप मे गया, यह निश्चित है।

अरब और भारत के सम्बन्ध (चिकित्सा विषय में)—भारतवर्ष से अरबों को गणित तथा फलित ज्योतिष के सिवा जो तीसरी विद्या मिली वह चिकित्सा की है।

चिकित्साशास्त्र की कुछ पुस्तकें उम्बी वंश के समय में ही सुरयानी और यूनानी भाषाओं के द्वारा अरबी में आ चुकी थी। हारूँ रशीद की चिकित्सा करने के लिए भारत से मनक (माणिक्य) नामक वैद्य बुलाया गया था और उसके इलाज से खलीफा अच्छे हुए। इस प्रकार से भारतीय चिकित्सा की ओर राज्य का ध्यान गया। बरामकी ने इसके प्रचार मे बहुत मदद की। याह्यि बिन खालिद बरमकी ने अपना एक आदमी इसलिए भारत भेजा कि वह जाकर भारत की जडी बूटियाँ लाये और एक वैद्य को सरकारी विभाग मे इसलिए नियुक्त किया कि संस्कृत की चिकित्सा विषयक पुस्तको का अनुवाद कराया जाय। खलीफा मवफ्फिक और बिल्लाह अल्बासी ने भी हिजरी तीसरी शताब्दी में कुछ आदमी भारत में दवाइयो की जाँच के लिए भेजे थे।

सस्कृत की चिकित्सा सम्बन्धी जिन पुस्तको का अनुवाद अरबी में हुआ उनमें दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, एक सुश्रुत, जिसे अरबी लोग 'ससरो' कहते हैं। यह पुस्तक दस प्रकरणो में थी, इसमें रोगों के लक्षण, चिकित्सा और औषधियों का वर्णन है। याह्यिा बिन खालिद बरमकी की आज्ञा से मनका ने इसका अनुवाद इसलिए किया था कि बरमकी के चिकित्सालय में इसी के अनुसार इलाज हो। दूसरी पुस्तक चरक थी, जिसका अनुवाद फारसी में हुआ था। अब्दुल्लाह बिन अली ने फारसी से अरबी में इसका अनुवाद किया था। तीसरी पुस्तक का नाम इब्न नदीम में 'सन्दस्ताक' और याकूबी की छपी प्रति में सन्धशान है। एक और प्रति में सन्धस्तान है। इसका सस्कृत रूप 'सिद्धिस्थान' है। इब्न नदीम ने अरबी में इसका अर्थ खुलासा कामयाबी और याकूबी ने सूरत कामयाबी बतलाया है। इसका अनुवाद बगदाद के चिकित्सालय के प्रधान इब्न दहन ने किया था। चौथी पुस्तक का नाम याकूबी ने 'निदान' बताया है। इसमें चार सौ रोगो के केवल लक्षण या निदान बतलाये गये है। उनकी चिकित्सा नही बतायी गयी है।

एक और पुस्तक थी जिसमें जडी-बूटियो के भिन्न-भिन्न नाम थे। एक-एक जड़ी के दस-दस नाम दिये गये थे। सुलेमान बिन इसहाक के लिए मनका पण्डित ने इसका अरबी में अनुवाद किया था। एक और पुस्तक थी जिसका विषय था कि भारतीय और यूनानी दवाओ में से कौन दवाएँ ठण्डी है और कौन-सी गरम है, किस दवा की क्या शक्ति और क्या प्रभाव है? इसका अरबी अनुवाद हुआ था।

रूसा नाम की हिन्दू विदुषी की एक पुस्तक का भी अनुवाद हुआ था, जिसमे

---

१. 'अरब और भारत के सम्बन्ध'—सैय्यद सुलेमान नदवी, पशुचिकित्सा तथा अधिक जानकारी के लिए इसे देख सकते हैं।

विशेषत स्त्री-रोगो की चिकित्सा दी गयी थी। एक पुस्तक में गर्भवती स्त्रियों की चिकित्सा लिखी थी, एक में जडी-बूटियो का सक्षिप्त परिचय था, एक में नशे की वस्तुओं का उल्लेख था।

मसऊदी ने लिखा है कि राजा कोरश के लिए चिकित्साशास्त्र की बडी पुस्तक लिखी गयी थी, जिसमे रोगो के कारण, चिकित्सा, औषधियो की पहचान और जडी-बूटियो के चित्र बनाये गये थे। यूनानी दवाओ मे एक प्रसिद्ध दवा 'इतरी फल' है, मुहम्मद ख्वारिज्मी ने (हि० चौथी शताब्दी मे) इसे तिरीफल (त्रिफला) लिखा है। उसकी दूसरी दवा अबजात है जो आम से बनती है। सबसे विलक्षण शब्द बहत (या भत्त ?) है, ख्वारिज्मी का कहना है कि यह रोगियो का भोजन है। यह सिन्धी शब्द है, यह एक प्रकार का भात है जो दूध और घी में चावल पकाकर बनाया जाता है। इसे खीर भी समझ सकते है।

मसाले ओर औषधियों के नाम—सन्दल (अरबी), चन्दन (सस्कृत या हिन्दी), सन्दल (उर्दू)। जायफल को यही कहा जाता है। भल्लातक को अरबी मे बलादर, हरीतकी को हलीलज, सोठ को जजीबल, एला को हेला, पिप्पली को फिल-फिल, नीलोत्पल को नीलोफर कहते है।

साँपों की विद्या (गारुडी विद्या)—भारत के लोग साँपो के प्रकार जानने और उनके काटे की झाड-फूंक और जन्तर-मन्तर करने के लिए प्रसिद्ध है। राय नामक एक पण्डित की लिखी हुई इस विद्या की एक पुस्तक का अरबी मे अनुवाद हुआ था, जिसमें साँपो के भेदो और विषो का वर्णन था। अरबी मे एक और भारतीय पण्डित की पुस्तक का उल्लेख है, जो इसी विद्या पर थी (उयूनल अम्बा फी तब्बकातुल अतिब्बा —पृ० ३३, मिस्र)।

विष विद्या—जकरिया कजवीनी ने अपनी आसारुल् बिलाद नामक पुस्तक में हिन्द या भारत के प्रकरण मे बेश (विष)नामक एक जडी का उल्लेख किया है। इसके द्वारा राजाओ की आपस मे मित्रता के छल से एक दूसरे को मारने की कथा लिखी है। यह बेश हिन्दी का विष है। युद्ध विद्या के सम्बन्ध मे अरबी मे चाणक्य या शानाक पण्डित की जो पुस्तक है, उसका नाम पहले आ चुका है। [illegible] भोजन और विष के सम्बन्ध में था। जान पडता है कि इसके सिवा इसकी कोई और भी पुस्तक थी, जिसमे विशेष रूप से विषो का वर्णन था और जो हिजरी सातवी शताब्दी (ईसवी तेरहवी शताब्दी) तक अरबी भाषा मे मिलती थी। क्योकि इब्न अबी उसैबअ ने सन् ६६८ हिजरी (१२७० ई०) मे इस पुस्तक का पूरा वर्णन इस प्रकार किया है—

इस पुस्तक में पाँच प्रकरण हैं। याहिया बिन खालिद बरमकी के लिए मनका या माणिक्य पण्डित ने अबू हातिम बलखी की सहायता से फारसी मे इसका अनुवाद किया था। फिर अब्बास बिन सईद जौहरी ने खलीफा मामूँ रशीद (२१८ हि०) के लिए दुबारा अनुवाद किया था। इब्न अदीम की सूची मे इसी प्रकार की एक और पुस्तक का नाम मिलता है (इब्न नदीम), जिसका अरबी मे अनुवाद हुआ था। परन्तु उसमे पुस्तक के मूल लेखक का नाम नही दिया है।

अरबी के लेखो में भारत के जिन पण्डितो और वैद्यो के नाम आये हैं, वे इस प्रकार हैं—बहूला, मनका, बाजीगर (विजयकर ?), फलबर फल (कल्पराय कल ?), सिन्दबाद। ये सब नाम जाहिन (सन् २५५ हि०) ने दिये हैं। इसके आगे उसने आदि-आदि लिख दिया है। इनको याहिया बिन खालिद बरमकी ने भारत से बगदाद बुलाया था। ये सब चिकित्सक और वैद्य थे।

इब्न अबी उसैबअ ने उन वैद्यो मे से मनका और बहूला के बेटे का, जो शायद मुसलमान हो गया था और जिसका नाम सालह था, उल्लेख किया है। इब्न नदीम ने एक और नाम इब्न दहन लिखा है, और यही तीनो बगदाद में उस समय के प्रसिद्ध वैद्य थे। एक दूसरे स्थान पर उसने उन भारतीय पण्डितो के नाम दिये हैं, जिनके चिकित्सा और ज्योतिष के ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद हुआ था। वे नाम इस प्रकार हैं—बाखर, राजा, मनका, दाहर, अनकू, जनकल, अरीकल, जबभर, अन्दी, जबारी।

मनका—इब्न अबी उसैबअ ने अपनी तारीखुल अतिब्बा मे लिखा है कि यह व्यक्ति चिकित्साशास्त्र का बहुत बडा पण्डित था। एक बार हारूँ रशीद बीमार पडा। बगदाद के सब चिकित्सक उसकी चिकित्सा करके हार गये। तब एक आदमी ने भारत के इस चिकित्सक का नाम लिया। यात्रा का व्यय आदि भेजकर यह बुलाया गया। इसकी चिकित्सा से खलीफ़ा अच्छे हो गये। खलीफा ने इसको पुरस्कार आदि देकर मालामाल कर दिया। फिर यह राज्य के अनुवाद विभाग में सस्कृत पुस्तको के अनुवाद का काम करने के लिए नियत किया गया। क्या हम इस मनका को माणिक्य समझे ?

सालेह बिन बहूला—यह भी भारतीय चिकित्सा शास्त्र का पण्डित था। इब्न अबी उसबअ ने इसको भी भारत के उन्ही विज्ञ चिकित्सको मे रखा, जो बगदाद में थे। एक बार जब खलीफा हारूँ रशीद के चचेरे भाई को मूर्च्छा या मिरगी का रोग हो गया और दरबार के प्रसिद्ध यूनानी ईसाई चिकित्सक बखतीशू ने कह दिया कि यह अब नही बच सकता, तब जाफर बरमकी ने इस भारतीय चिकित्सक को उपस्थित

किया और कहा कि इसी का इलाज होना चाहिए। खलीफा ने मान लिया और इसने बड़े मार्के की चिकित्सा की।

इब्न दहन—यह बरमकियों के चिकित्सालय का प्रधान था और उन लोगों में से था जो संस्कृत से अरबी में अनुवाद करने के काम पर लगाये गये थे। प्रोफेसर जखाऊ ने 'इण्डिया' नामक ग्रन्थ की भूमिका में इस दहन नाम का मूल रूप जानने का प्रयत्न किया है। उनकी जाँच का परिणाम यह है कि यह नाम धन्य या धनन होगा। यह नाम शायद इसलिए रखा गया है कि यह नाम धन्वन्तरि से मिलता जुलता है, जो मनु के शास्त्र में देवताओं का वैद्य बताया गया है।

शुक्रनीति

शुक्रनीति का समय नवी शती के आस-पास का माना जाता है। यह राजनीति से सम्बन्धित है। शुक्र का नाम ही उशना है। पचतत्र में आता है—"उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः। स्त्रीबुद्धया न विशिष्येते तस्माद् रक्ष्या. कथ हि ताः॥" (मित्रभेद १९६।) कालिदास ने भी इनके नीतिशास्त्र की प्रशसा की है—

'अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषंस्ते।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः॥' कुमार. ३।६

इन्द्र! यदि आपका शत्रु शुक्राचार्य से भी नीतिशास्त्र पढ़कर आया होगा, तब भी अत्यन्त भोग की इच्छा को ऐसा दूत बनाकर उसके पास भेजूंगा कि वह उसके धर्म और अर्थ दोनो का उसी प्रकार से नाश कर दे जिस प्रकार बरसात में बढ़ी हुई नदी का बहाव दोनों तटो को बहा ले जाता है।

इसलिए शुक्र का नीतिशास्त्र बहुत प्रचलित प्रतीत होता है। नीतिशास्त्र में कौटिल्य की भाँति आयुर्वेद के विषय यत्र-तत्र मिलते हैं। इसकी रचना पद्यमय है जो बहुत साधारण है।

वैद्य का लक्षण—आयुर्वेद में हेतु, लिंग और औषध ये तीन ही मुख्य हैं ("हेतुलिंगौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्। त्रिसूत्र शाश्वत पुण्यं बुबुधे य पितामह॥" चरक० सू० अ० १।२४)। इन तीन के ज्ञान में आयुर्वेद शास्त्र सीमित है ("त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससग्रहव्याकरणस्य ... .प्रवक्तार।" चरक० सू० अ० २९।७)। इसी से तीन सूत्रों के ज्ञाता को वैद्य कहा गया है—

'हे[illegible] व्याधीनां तत्त्वनिश्चयम्।
साध्यासाध्ये विदित्वोपक्रमेत स भिषक् स्मृतः॥' शु० २।८३

जो रोग के कारण, लक्षण और औषधि को वास्तव में पूर्णत. समझता है, साध्या-साध्य विकार को जानकर चिकित्सा प्रारम्भ करता है, वह वैद्य है (तुलना कीजिए, प्राणभिसर वैद्य के लक्षणो में—'सुखसाध्यकृच्छ्रसाध्ययाप्यप्रत्याख्येयाना च रोगाणा .... व्यपगतसन्देहा ।" सू० अ० २९।७) ।

औषधि सञ्चय—राजा को और वस्तुओ के साथ औषधियो का भी सग्रह करना चाहिए । कौन औषधि किस समय सग्रह करनी चाहिए, इनका विशद उल्लेख अत्रि-पुत्र ने किया है ("तत्र यानि [illegible] कालात-दाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्धवर्णरस—स्पर्शप्रभावाणि ... शुक्लवासा सपूज्य देवता अश्विनौ गोब्राह्मणाश्च कृतोपवास प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात्" कल्प अ० १।१०) । इसी प्रकार जनपदोद्ध्वस रोग फैलने से पूर्व औषधियो का सञ्चय करना चाहिए, क्योंकि वायु, उदक, देश, काल में विकार आने से औषधियाँ भी विकृत हो जाती है ("प्राक् च भूमेर्विरसीभावाद् उद्धरध्व सौम्य ! भैषज्यानि यावन्नो-पहतरसवीर्यविपाकप्रभावाणि भवन्ति ।" वि० अ० ३।४) ।

'गृह्णीयात् सुप्रयत्नेन वत्सरे वत्सरे नृपः ।
ओषधीनां च धातूनां तृण[illegible] च ॥' शु० ५।४५

प्रति वर्ष राजा प्रयत्नपूर्वक औषधि, धातु, तृण, काष्ठ आदि का सञ्चय करता रहे ।

आयुर्वेद—आयु जिससे जानी जाती है, वह आयुर्वेद है। आयु के लिए हितकारी और अहितकारी द्रव्य, गुण, कर्मों का जिससे ज्ञान होता है, वह आयुर्वेद है (चरक० सू० अ० ३०।२३) । यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है (चरक० सू० अ० ३०।२१)। शुक्रनीति में आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद कहा है, जिसमें आयु को हेतु, लक्षण और औषधि से जानते है, वह आयुर्वेद है—

'विन्दत्यायुर्वेत्ति सम्यगाकृत्योषधिहेतुतः ।
यस्मिन् ऋग्वेदोपवेदः स चायुर्वेदसंज्ञकः ॥' शु० ४।७७

कला—कामसूत्र मे चौसठ कलाओ की गणना है, उनमें एक कला आसव–मद्य बनाने की भी है, "पानकरसरागासवयोजनम्"—पानक, रस, राग और आसव बनाने की कला को सीखे ! प्राचीन काल में आसवविज्ञान मुख्य ज्ञान था, इसी से अग्निवेश ने अत्रिपुत्र से पूछा—"आसवानामिदानीमनपवाद लक्षणमनतिसक्षेपेणोपदिश्यमान शुश्रूषामहे—इति ।" (सूत्र० अ० २६।४८) इसी कला को शुक्रनीति में कहा है—

'मकरन्दासवादीनां मद्यादीनां कृतिः कला ।
शल्यगूढाहृतौ ज्ञानं [illegible] कला ॥' शु० ४।१२

मकरन्द, आसव आदि मद्यो के बनाने, मूढ शल्य निकालने और शिरावेध के ज्ञान को कला कहते है। कला का अर्थ ज्ञान-विशेष में नैपुण्य प्राप्त करना है।

'पाषाणधात्वादिद्रुतिः तद्भस्मीकरणं कला।
धात्वोषधीनां सयोगक्रियाज्ञान कला स्मृता।
धातुसाङ्कर्यपार्थक्यकरणं तु कला स्मृता।
सयोगपूर्वविज्ञान धात्वादीना कला स्मृता।
क्षारनिष्कासनज्ञान कलासज्ञ तु तत् स्मृतम् ॥'

पाषाण (रत्न, अभ्रक आदि) और धातुओ की द्रुति बनाना, उनका भस्म करना कला है। धातु-औषधियो की सयोगक्रिया का ज्ञान कला है। मिली हुई धातुओ को अलग करना कला है। धातु आदि के सयोग को जानना कला है। क्षार निकालने या बनाने का ज्ञान भी कला है।

वात्स्यायन कामसूत्र ने चौसठ कलाओ मे सुवर्ण-रत्न परीक्षा, मणि-रागाकर ज्ञान, धातुवाद (धातु ज्ञान) को कला कहा है।

इसके अतिरिक्त रजस्वला के नियम (४।६१—६२) वही हैं जो कि सुश्रुत में बताये है, यथा—रजोदर्शन पर स्त्री अपने नित्य कर्मों का त्याग कर दे। घर मे ऐसे स्थान पर बैठे जहाँ उसे कोई न देखे[1]। एक वस्त्र पहने, स्नान और भूषणो का त्याग कर दे, भूमि पर सोये, प्रमाद न करे। तीन दिन के पीछे स्नान करे और पति के मुख का दर्शन करे। (तुलना कीजिए—सुश्रुत शा० २।२५ में "ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाजनाश्रुपातान् .. .परिहरेत्। दर्भसस्तरशायिनी कर-तलशरावपर्णान्यतरभोजिनी हविष्य त्र्यह च भर्त्तु सरक्षेत्। तत शुद्धस्नाता चतु-र्थेऽहन्यहतवास नमऽऽ.फ्ञ: कृतमगलस्वस्तिवाचना भर्त्तार दर्शयेत्।")

ऋषियो के नामो से सम्बन्धित संहिताएँ

आयुर्वेद में बहुत सी सहिताएँ ऋषियो के नाम पर लिखी मिलती है, इन्ही ऋषियो के नाम पर श्रौत्रसूत्र आदि रचनाएँ भी मिलती है। यथा—लाट्यायन सहिता, जिसका उद्धरण डल्हण ने दिया है—

---

१. इस सम्बन्ध में श्री हरिदत्तजी वेदालंकार की 'हिन्दू परिवार मीमांसा' देखनी चाहिए अथवा मेरी लिखी परिवार नियोजन पुस्तक।

'कद्रुभिर्बिन्दुलेखाभिः पक्षैः पादैः मुखैर्नखैः ।
शूकैः कण्टकलागूलैः सश्लिष्टैः पक्ष्मरोमभि ॥' (कल्पस्थान)

इसी प्रकार से शौनकसहिता और आलम्बायन सहिता है। आलम्बायन सहिता का पाठ निदान-टीका मे श्रीकण्ठ ने दिया है—"नैति रक्त क्षताद् यस्य लताघाते न राजिका । न लोमहर्ष शीताद्भि वर्जयेत्त विषार्दितम् ॥"

(तुलना कीजिए—चरक० चि० अ० २३।३३–३४।) आलम्बायन का एक पाठ श्रीकण्ठ ने वृन्द के सिद्धयोग की टीका मे दिया है—"सगृह्य सर्प हस्ताभ्या पुच्छे वक्त्रे च सात्त्विक । स दष्टव्यस्तत सर्पो द्विस्त्रिश्चतुरथापि वा ॥" (६८।५ की टीका)

ये सहिताएँ ऋषियो के नाम पर मिलती है, इसके सम्बन्ध मे डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है कि ये ग्रन्थ इन ऋषियो के नाम से प्रसिद्ध चरण या शाखान्तर्गत है। प्राचीन काल मे ऋषियो के नाम से चरण और शाखा चलती थी, शिष्य उसी से अपनी गुरुपरम्परा का परिचय देते थे। इसमे वे गौरव भी अनुभव करते थे (जिस प्रकार से आज अपनी उपाधि के पीछे विश्वविद्यालय का नाम लिखते है)।

चरण वैदिक विद्यापीठ थे—चरण उस प्रकार की शिक्षा-सस्था थी, जिसमे वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्यसमुदाय करता था और जिसका नाम मूल सस्थापक के नाम पर पडता था। इसका प्रबन्ध सघ के आदर्श पर होता था ("चरणशब्द शाखानिमित्तक पुरुषेषु सुवर्त्तते"—काशिका २।४।३) चरक मे शाखा शब्द आयुर्वेद के अर्थ मे आया है, जिस चरण मे या शाखा में आयुर्वेद-विद्या का अध्ययन होता था, उस चरण के अन्दर बननेवाली सहिता उसी चरण के नाम से प्रसिद्ध होती थी)। वैदिक साहित्य के विविध अगो का विकास चरणो मे हुआ था। पाणिनि के समय से पूर्व ही चरणो मे वैदिक साहित्य का [illegible] (सूत्र ४।२।६६, ४।३।१०५)। श्रौत्रसूत्र या कल्पग्रन्थो के बाद धर्मसूत्रो की रचना भी (आयुर्वेद सहिताओ की भी) चरण साहित्य के अन्तर्गत हो गयी थी। एक ही चरण के छात्र परस्पर सब्रह्मचारी कहलाते थे। विद्वानो को चरण-जनित गौरव—प्रसिद्ध चरणो की सदस्यता के आधार पर समाज मे आदर मिलता था ('काठिकया श्लाघते'—कठ होने के नाते अपना बडप्पन दिखाता है, 'कतर कठ, कतम कठ'—इन दोनो मे कौन कठ है, और इन सबमें कौन कठ है—'पाणिनि कालीन भारत वर्ष')। इस प्रकार आयुर्वेद मे ऋषियो के नाम से मिलनेवाली भिन्न-भिन्न सहिताएँ ऋषियो से बनी होने की अपेक्षा ऋषियो के नाम से प्रसिद्ध चरणो के अन्दर बनी मानना बहुत युक्तिसगत एव बुद्धिगम्य है। इस प्रकार से इनके निर्माण का समय जानना बहुत कुछ सरल हो जाता है।

माधवनिदान और माधवकर[1]

चिकित्साकलिका में तीसट ने अपने ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए कहा है—'जिसने स्वल्प शास्त्रों का अध्ययन किया है—ऐसे वैद्य की सुश्रुत आदि शास्त्ररूपी समुद्र में अज्ञानवश बुद्धि प्रसरित नहीं होती; परन्तु हमारे बनाये हुए योगसमुच्चय में तो मूर्ख और पण्डित दोनों चिकित्सकों की बुद्धि अच्छी प्रकार प्रवेश करती है।' इसी प्रकार इन्हीं कारणों से निदान सम्बन्धी वचनों का पृथक् संग्रह करना पड़ा—

'नानातंत्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति॥' (निदान. ३)

अनेक शास्त्रों के ज्ञान से शून्य अल्प बुद्धिवाले वैद्यों को रोगों का ज्ञान सुगमता से कराने के निमित्त यही रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ सहायक होगा। इसमें कर्त्ता ने ऊपर इतना अधिक कह दिया कि "सद्भिषजां नियोगात्" सद्वैद्यों की प्रेरणा या आज्ञा से मैं यह कार्य कर रहा हूँ। आज यह संग्रह बहुत प्रसिद्ध है (निदाने माधवः श्रेष्ठ)। ग्रन्थकर्त्ता माधव ने अपने ग्रन्थ का नाम रोगविनिश्चय रखा है (निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्); परन्तु लोक में निदान या माधवनिदान नाम ही प्रसिद्ध है। इसमें प्रारम्भ में पञ्च निदान लक्षण देने के पीछे ज्वर, अतिसार आदि रोगों का निदान चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ग्रन्थों में से संग्रह करके एकत्र किया गया है। निदान में आवश्यक वचनों को लिया गया है।

माधवकर का समय—अरबी प्रमाण इसको सातवीं शताब्दी का बताता है, क्योंकि अल्बेरूनी कहता है कि "उससे पहले अल्मासीद खलीफा के समय जिन संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था, उनमें माधवनिदान भी था।" खलीफा हारून् अल्-रशीद की सभा में मनका नाम का राजवैद्य और अल्बेरूनी नामका वैयाकरण था। मनका नामक भारतीय वैद्य ने हारून अल् रशीद को किसी भयानक रोग से स्वस्थ किया था। इसी के उपलक्ष्य में उसे वहाँ प्रतिष्ठा मिली थी। इसने वहाँ पर कई संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया था, जिनमें शरक् (चरक),

---

१. सिद्धसारसंहिता या सारसंग्रह नामक एक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति नेपाल से मिली है। इसका लेखक रविगुप्त है। रविगुप्त बौद्ध था। वैद्य होने के साथ कवि और नैयायिक भी था। सर्वांगसुन्दरी टीका में जिस रविगुप्त के सिद्धसार का उल्लेख है, वह यही है। यह रविगुप्त आठवीं शती में हुआ है (देखिए—जर्नल ऑफ आयुर्वेद—अप्रैल १९२६, पृष्ठ ३७३; श्री दुर्गाशंकर भाई)।

मन्नद् (सुश्रुत) इन ग्रन्थो के साथ निदान भी था (—प्रत्यक्ष शारीर, उपोद्घात)। आठवी शताब्दी में ही सुर्राजद् वैद्य ने माधवनिदान के आधार पर लघुनिदान लिखा था, जिसका उल्लेख मधुकोश की टीका में मिलता है। इससे इनका समय सातवी शताब्दी निश्चित होता है।

माधव ने वाग्भट के वचनो का संग्रह किया है। वृन्द और चक्रपाणि ने रोगविनिश्चय के क्रम से ही अपने-अपने ग्रन्थो मे चिकित्सा कही है। इसलिए इनसे पूर्व और वाग्भट के पीछे इनका समय आता है। चक्रपाणिदत्त का समय ग्यारहवीं शती है। चक्रपाणिदत्त ने अपना चिकित्सासारसग्रह ग्रन्थ वृन्द के सिद्धयोग के आधार पर बनाया है। इसलिए वृन्द का समय चक्रपाणिदत्त से पहले का है। इसके बनाये ग्रन्थो की प्रतिष्ठा देखकर ही इसके ऊपर से रचना की ८। इस ख्याति के लिए यदि एक सौ या दो सौ वर्ष का समय समझे तो वृन्द का समय ९वी शती के आस-पास आता है। वृन्द से एक सौ या दो सौ वर्ष पूर्व माधव का समय आता है, जो सातवी शती के आस-पास का है।

माधव को इन्दु का पुत्र कहा जाता है। नाम के पीछे कर आने से कविराज गणनाथ सेनजी इसको बगाली मानते हैं। माधवकर ने रत्नमाला नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था, तीसरा ग्रन्थ द्रव्य-गुण पर बनाया था (—प्रत्यक्ष शारीर, उपोद्घात)।[1]

टीकाकार—माधवनिदान की दो टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—(१) श्री विजयरक्षित और उसके शिष्य श्रीकण्ठ की मधुकोश टीका, (२) श्री वाचस्पति वैद्य की बनायी आतंकदर्पण टीका। ये टीकाकार चौदहवी शताब्दी मे हुए है। विजयरक्षित और श्रीकण्ठ का समय हेमाद्रि के पीछे है, ये चौदहवी शती के पूर्वार्द्ध मे हुए है, और वाचस्पति चौदहवी शती के उत्तरार्द्ध मे (माधवनिदान, निर्णयसागर प्रेस का उपोद्घात)।

विजयरक्षित की टीका में स्थान-स्थान पर विवेचनात्मक नैपुण्य की झलक मिलती है। इन्होंने आयुर्वेद की संहिताओं का गहन अध्ययन किया था। यह शिवभक्त थे। इनके शिष्य श्रीकण्ठ ने गुरु की अधूरी टीका को पूर्ण करने के अतिरिक्त वृन्द के सिद्धयोग की

---

१. ७८६ ई० में खलीफा हारूनुलरशीद के समय काबुल पर अरबो ने चढ़ाई की और नगर के बाहर एक बिहार को लूटा। पुराने रिश्ते के कारण खलीफा भारत से विद्वानों को बगदाद बुलाते और उन्हें वहाँ वैद्य आदि के पदो पर रखते थे। अरब विद्यार्थियो को वे पढ़ने भारत भेजते थे—इतिहासप्रवेश।

कुसुमावली टीका भी लिखी है। यह भी आयुर्वेद का विद्वान् था। इसने भी अपनी टीका में बहुत-सी संहिताओ का उल्लेख किया है। यह भी शिवभक्त था।

वृन्द-कृत सिद्धयोग

[illegible] वृन्द ने अपना सिद्धयोग बनाया है। इसमे रोगक्रम माधवनिदान के अनुसार रखा है। अपने अनुभव मे आये योगो का सग्रह इसमे किया है।

'नानामतप्रथितदृष्टफलप्रयोगैः प्रस्तावबाक्यसहितैरिह सिद्धयोगः।
वृन्देन मन्दमतिनात्महितार्थिनाऽयं संलिख्यते गदविनिश्चयप्रक्रमेण ॥'

ग्रन्थकर्त्ता ने शिव और चण्डी की प्रार्थना से मगलाचरण किया है ('ध्यात्वा शिवं परमतत्त्वविचारवैद्य चण्डीमभीष्टफलदा सगणं गणेशम्')।

वृन्द ने चरक, सुश्रुत और वाग्भट से योगो का सग्रह तथा अन्य वचन उद्धृत किये हैं (कुष्ठ का मणिभद्र यक्षवाला योग, विरेचनाधिकार ७४।१६-१७-वाग्भट का है)। इसके योग क्रियात्मक हैं (विरेचनाधिकार ७४ में एरण्ड तैल की प्रयोग विधि)। चक्रपाणि ने वृन्द के योगो को अपने ग्रन्थ में लिया है (वृन्द के शूलाधिकार का २६।५८ वाँ श्लोक पूर्णत चक्रदत्त मे है)। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि वृन्द के पीछे हुए हैं। माधव के पीछे होने से रोगक्रम में उसका अनुसरण किया है। स्नायुक रोग का वर्णन माधवनिदान मे नही है। वृन्द ने विस्फोटाधिकार के अन्दर इसका उल्लेख किया है ('शाखासु कुपितो दोष· शोथ कृत्वा विसर्पवत् .. .स स्नायुक इति ख्यात· क्रियोक्ता तु विसर्पवत् ॥'१५-१७)। इसकी चिकित्सा भी दो श्लोको में दी है। चक्रदत्त ने वृन्द के शब्दो में ही स्नायुक रोग की चिकित्सा लिखी है। चक्रदत्त ने इस रोग का निदान नही लिखा, परन्तु वृन्द का कहा निदान ही स्वीकार किया है। चक्रदत्त के टीकाकार श्री शिवदास सेनजी ने लिखा है कि 'स्नायुक रोग'—नारू नाम से पश्चिम देश में प्रसिद्ध है; यह रोग रुग्विनिश्चय मे नही, वृन्द ने इसका उल्लेख किया है। वृन्द का पाठ देकर उसकी व्याख्या की गयी है। चक्रदत्त ने स्वय सिद्धयोग में से योग लेना स्वीकार किया है ('य सिद्धयोगलिखितानधिकयोगानत्रैव निक्षिपति केवलमुद्-धरेद्वा')।

चक्रदत्त का समय ग्यारहवी शती है। इसलिए वृन्द का समय लगभग नवी शती या दशमी शती होना सम्भव है। क्योकि इस ग्रन्थ के प्रचार और ख्याति के लिए समय भी चाहिए। सिद्धयोग की ख्याति बहुत हुई होगी, इसी से चक्रपाणिदत्त-जैसे विद्वान् को इसको आधार बनाना पडा।

वृन्द के टीकाकार का कहना है कि पश्चिम मे (मारवाड मे) होनेवाले रोगो का उल्लेख विशेष रूप से ग्रन्थकर्त्ता ने किया है, इसके आधार पर इसका पश्चिम भारत का होना सम्भव है।

ज्वर से लेकर वाजीकरण तक सत्तर अधिकारो मे चिकित्सा के सिद्धान्त प्रारम्भ मे देकर सक्षेप मे निदान देते हुए चिकित्सा क्रम कह दिया हे। पीछे के अध्यायो में स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, वस्ति, धूम, नस्य आदि का वर्णन करते हुए ८१वे अध्याय म स्वस्थाधिकार कहा है। इसमे सद्वृत्त का भी उल्लेख किया है। अन्तिम अधिकार मिश्रकाधिकार है, जिसमे चिकित्सा के चार पाद, मान-परिभाषा आदि विषय है।

इस ग्रन्थ की एक ही टीका—कुसुमावली है, जिसे श्रीकण्ठ ने बनाया है ('श्रीकण्ठदत्तभिषजा ग्रन्थविस्तारभीरुणा। टीकाया कुसुमावल्या व्याख्या मुक्ता क्वचित् क्वचित् ॥')। इनका समय १४वी शती है। इनकी टीका सम्भवत कहीं-कही रह गयी थी, उसे नागर वश में उत्पन्न भाभल्ल के पुत्र नारायण ने पूरा किया। यह आनन्दाश्रम से प्रकाशित पुस्तक के अन्त मे लिखा है।

ग्रन्थ की विशेषता—योग-सग्रह ग्रन्थो मे प्रथम विस्तृत ग्रन्थ सम्भवत यही है इसमें रोग का निदान नही दिया गया है। इसका कारण सम्भवत. माधवनिदान ग्रन्थ की ख्याति थी। इसलिए उसे छोडकर चिकित्सा के दृष्टिकोण से ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसी से परिभाषा प्रकरण को विस्तार से दिया है, यही परिभाषा आज भी मान्य है। इस ग्रन्थ में खनिज धातुओ का प्रयोग बहुत कम है, परन्तु लोह और मण्डूर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। इसमे मण्डूर को चूर्ण करके, अग्नि में जलाकर प्रयोग करने का भी उल्लेख मिलता है—

'गोमूत्रशुद्ध मण्डूर त्रिफलाचूर्णसंयुतम्।
विलिहन्मधुसर्पिभ्यां शूलं हन्ति त्रिदोषजम् ॥' २६।३३
'मण्डूरस्य पलान्यष्टौ गोमूत्रेऽर्धाढके पचेत्।
क्षीरप्रस्थं च तत्सिद्धं पक्तिशूलहरं नृणाम् ॥' २७।२४

इसी प्रकार से मण्डूरवटिका, शतावरीमण्डूर, गुडमण्डूर आदि योग है। लोह का प्रयोग भी पर्याप्त है—

'अक्षामलकशिवानां स्वरसैः पक्वं सुलोहजं रेणुम्।
सगुडं यद्युपयुङ्क्ते मुञ्चति शूली त्रिदोषजं शूलम् ॥
कलायचूर्णस्य भागौ द्वौ लोहचूर्णस्य चापरः ॥
लिह्याद्वा त्रैफलं चूर्णमयश्चूर्णसमायुतम् ॥' २७।३७, ५०।५२

मण्डूर और लोहे का प्रयोग शूल रोग में ही है। इन दो धातुओं के सिवाय अन्य धातु का उपयोग इसमें नहीं है। ज्वर में, शूल में पात्र मे पानी भरकर शरीर के ताप को कम करने या सेक करने का विधान इसमें है, जो पूर्णत: क्रियात्मक है (कास्य-राजत-ताम्राणि भाजनानि च सर्वत। परिपूर्णानि तोयस्य शूलस्योपरि निक्षिपेत् ॥२६।१६, तोयं-शीतं ज्ञेयम्—टीका)। ज्वर में रोगी के दाह, बैचैनी, अधिक उष्णिमा को शान्त करने का क्रियात्मक उपाय—

'उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्रकांस्यादिपात्रं प्रणिधाय नाभौ।
तत्राम्बुधारा बहुला पतन्ती निहन्ति दाहं त्वरितं सुशीता ॥' (१।१०४)

रोगी की नाभि पर ताम्र-कांसा आदि धातु के जो पात्र उष्णिमा के लिए सुवाहक हो उन गहरे पात्रो को रख देना चाहिए। इन पात्रो में शीतल जल की मोटी धार गिरानी चाहिए। इससे रोगी का दाह शान्त होता है। इस प्रकार से इसमें सरल, उपयोगी योगो का संग्रह है।

अष्टाग सग्रह में लिखित प्रसिद्ध शिवागुटिका का उल्लेख चिकित्साकलिका और चक्रदत्त में है, परन्तु वृन्द ने सिद्धयोग में नही दिया है। सम्भवत: इसका कारण इसकी लम्बी विधि है। सिद्धयोग के योग सक्षिप्त एव सरल हैं। रसायन योग भी इसी ढग पर दिये गये है।

भाषा-सुन्दर और ललित है; उपमाएँ मनोहर हैं—

"तिमिरं रागतां याति रागात्काचत्वमेति च।
काचात्संजायते नीली तदाऽन्धो जायते नरः ॥' (६१।११७)
'यस्त्रैफलं चूर्णमपथ्यवर्जी सायं समश्नाति हविर्मधुभ्याम्।
स मुच्यते नेत्रगतैः विकारैर्भृत्यैर्यथा क्षीणधनो मनुष्यः ॥ (६१।१२०)

नागार्जुन से कही अजनवर्त्ति का उल्लेख इसमें है (नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके। नाशनी तिमिराणा च पटलाना तथैव च ॥६।१५०)। इससे स्पष्ट है कि नागार्जुन ने जिस लोह शास्त्र का उल्लेख किया था तथा-जिसका उल्लेख चक्रदत्त ने किया है ('नागार्जुनो मुनीन्द्र शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्। तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरैः ब्रूम।' रसायन, १५) वह विधान वृन्द के समय तक प्रचलित नही था। यो लोह का प्रयोग चरक, सुश्रुत, सग्रह में है; परन्तु वह रसशास्त्र से भिन्न प्रकार का है। लोह, अभ्रक, ताम्र का मारण प्रयोग चक्रदत्त में प्रथम मिलता है।

वृन्द के समय इनका प्रचार प्राथमिक रूप में था। चक्रदत्त में अधिक मिलता है; इसके आगे रसौषध मिलने लगती है।

राजमार्त्तण्ड

भोजराज इसके कर्त्ता कहे गये है भोजराज के नाम से अलकार, ज्योतिष आदि के ग्रन्थ मिलते है, डल्लण ने भोज के जो वचन दिये है, वह भोज इसके कर्त्ता से भिन्न है। विजयरक्षित, श्रीकण्ठ, चक्रपाणि ने भी भोज के वचन उद्धृत किये है (प्रत्यक्ष. उपोद् पृष्ठ २५-२६)। राजमार्त्तण्ड के साथ राज शब्द लगा होने से इसका कर्त्ता राजा भोज कहा जाता है (धारा नगरी के राजा भोज के सिवाय ८३६ ई० में रामभद्र का बेटा भोज या मिहिर भोज हुआ, जिसने कन्नौज को जीतकर भिन्नमाल के स्थान पर अपनी राजधानी कन्नौज को बनाया था। ग्रन्थकर्त्ता अपने को महाराज नाम से कहते है। राजा भोज विद्वानो का आश्रयदाता रूप मे प्रसिद्ध है, सम्भवत किसी पण्डित ने उनके नाम से यह रचना की हो जिस प्रकार श्रीहर्ष के नाम से प्रसिद्ध रत्नावली नाटिका, नागानन्द को बाण का कहा जाता है; परन्तु वास्तव में ऐसी बात नही है, इस अवस्था में यह केवल कल्पना भी हो सकती है)। लेखक ने स्वयं कहा है "योगाना सग्रहोऽयं नृपतिशतशिरोधिष्ठिताज्ञेन राज्ञा।"

राजमार्त्तण्ड में कर्णपालीवर्धन के लिए; लेप-तेल, घृत दिये है। इसी प्रकार श्रोणि वृद्धि के योग दिये है। इस प्रकार के योग सिद्धयोग या चक्रदत्त मे नही है। इस प्रकार के लेप इसको अनगरग के आस-पास का प्रमाणित करते है; जो कि १०वी या ११ वी शती का है। इसमें कुछ प्रयोग सुन्दर है, यथा—आरोपिते मूर्धनि शीतवारिकुम्भे शम गच्छति तत्क्षणेन। असृक्प्रवाह प्रदरामयोत्थ· स्त्रीणा नदीस्रोत इवावरोधात् ॥३०८॥ स्त्रियो के मध्य भाग को पतला करने का योग इसी में मिलता है "अतिमुक्तस्य मूल तक्रेण सम निपीतमबलानाम्। प्रतनु विधत्ते मध्य कसेरुरथवा समध्वाज्य."॥३४७॥ अन्त में पशुरोग चिकित्सा दी है। कबूतरो में रगभेद का कारण इनका खान पान बताया है "पारावतेभ्य क्रमश कुसुम्भमसूरमुद्गै. परिपोषितेभ्य। भवन्त्यपत्यानि सितारुणानि नीलच्छवीनि च वधूप्रसंगात्" ॥४१७॥

चक्रपाणिदत्त का चिकित्सा सार सग्रह [चक्रदत्त]

चक्रपाणिदत्त ने अपना परिचय चक्रदत्त के अन्त में दिया है; जिसमें उसने अपने को गौडाधिपति नयपाल की पाकशाला के अधिकारी नारायण का पुत्र बताया है। इनके बड़े भाई का नाम भानु था। महीपाल का समय लगभग ९७५-१०२६ ई० है।

महीपाल ने धीरे-धीरे अपने पुरखो के राज्य का उद्धार किया। अन्तिम काल (१०२३ मे) इसने मिथिला पर भी अधिकार कर लिया था।[1]

महीपाल के बाद उसका पुत्र नयपाल राजा हुआ। नयपाल का युद्ध कभी कर्ण के साथ हुआ था (१०४१-१०७२ ई०)। इसमे बौद्ध दार्शनिक दीपङ्कर श्रीज्ञान अथवा अतीश ने दोनो पक्षो मे सन्धि करा दी थी। नयपाल का पुत्र विग्रहपाल हुआ। विग्रह-पाल की मृत्यु के पश्चात् इसके तीन पुत्रो में राजगद्दी के लिए झगडे हुए। इस लडाई-झगडे मे पाल राज्य सकुचित होकर छोटा हो गया। विग्रह पाल का तीसरा पुत्र रामपाल अपने दूसरे भाई शूरपाल के मरने के बाद गद्दी पर बैठा। इसने ४५ वर्ष राज्य किया। इस समय पाल राज समाप्ति पर था। इसके मरने के साथ-साथ यह और भी क्षीण हो गया। सामन्त धीरे-धीरे सिर उठाने लगे और वे स्वतत्र हो गये। रामपाल का बेटा कुमारपाल हुआ। इसका मत्री वैद्यदेव स्वतत्र होकर राज्य करने लगा। विजयसेन सामन्त के उदय से मदनपाल को बगाल छोडना पडा था; पालो का अधिकार विहार के एक भाग पर रह गया था। यहाँ पूर्व मे सेनो से तथा पश्चिम गाहडवालो से घिरे हुए अपने दिन पूरे किये। पालवश को अन्तिम झाँकी ११७५ ई० के एक अभिलेख मे मिलती है, जो गोविन्द पाल के शासन के १४ वें वर्ष का है (प्राचीन भारत का इतिहास डा० त्रिपाठी)।

सेन वश—दसवी शती से ही कनाडे सिपाही भारत भर मे प्रसिद्ध थे। १०८० ई० के करीब विजयसेन और नान्यदेव दो कनाड़े सैनिको ने पाल राजाओ से बगाल और तिरहुत छीनकर दो नये राज्य स्थापित किये। इसी विजयसेन से बगाल में सेनवश चला, [illegible] शासनसूत्र चलाया।

विजयसेन ने ६२ वर्ष (१०९५ से ११५८ ई० के लगभग) राज्य किया, युद्ध में अनेक प्रदेश जीते। इसने गौडनरेश मदनपाल पर आक्रमण किया था। (मदनपाल निघण्टु, जो आयुर्वेद का प्रसिद्ध निघण्टु है, जिसका बगाल मे बहुत प्रचार है, वह इसी का बनाया कहा जाता है। बगाल से पालो को विजय सेन ने भगाया था, इसका उल्लेख राजशाही जिले के देवपाडा के एक शिलालेख मे मिलता है। विजयसेन शिव-भक्त और श्रोत्रियो का उपासक था।

विजयसेन के बाद बल्लालसेन गद्दी पर बैठा। इसने राज्य का रक्षण किया। यह

---

[1] **'विद्याकुलसम्पन्नो भिषगन्तरङ्ग उच्यते; लोध्रवली कुलीन—लोध्र वली-सन्नकदत्तकुलोत्पन्नः'—शिवदास सेन।**

भी शैव था। इसके पीछे लक्ष्मण सेन गद्दी पर बैठा। सेन राजकुल का अन्तिम राजा यही था। इसी के समय मुहम्मद इब्न वख्त्यार खिलजी ने ११९७ ई० के लगभग बिहार को जीता और ब्राह्मणो (बौद्ध भिक्षुओ) का वध करता हुआ ११९९ ई० के अन्त में जब थोडी-सी सेना लेकर नदिया के पास पहुँचा, तब बिना किसी विरोध के लक्ष्मण-सेन चुपचाप राजप्रासाद के पिछले दरवाजे से निकल भागा। लक्ष्मण सेन बहुत निर्बल था, अन्यथा १८ घुडसवारो को साथ मे लेकर वख्त्यार कैसे नदिया को ले सकता था। इसके पीछे सेन राज्य गगा पार पहुँचकर पूर्व बगाल मे कायम हुआ। वहाँ पर १२०६ ई० के लगभग उसने राज्य किया। लक्ष्मणसेन ने ११८० मे राज्य किया, इसका प्रबल प्रमाण है, परन्तु उसकी मृत्यु के पचास साल बाद तक ही पूर्व बगाल मे सेन वश का राज्य रहा।

प्राचीन राजाओ की भाँति लक्ष्मण सेन भी साहित्यिको के प्रति उदारता बरतता था। उसकी राज सभा मे पवनदूत का रचयिता धोयिक तथा गीतगोविन्द का प्रणेता जयदेव था। लक्ष्मण सेन स्वय कवि था। (प्राचीन भारत का इतिहास—डाक्टर त्रिपाठी)

पाल और सेनवशी राजाओ के समय में ही बगाल में वैद्यक शास्त्र के नये-नये ग्रन्थ बने। चक्रपाणिदत्त, मदनपाल, बंगसेन आदि प्रसिद्ध ग्रन्थकार इन्ही वंशो के समय हुए और राज्याश्रय के कारण आयुर्वेद साहित्य की वृद्धि कर सके। इनमें सबसे प्रथम चक्रपाणिदत्त हुए है, जिनका समय नयपाल का राज्यकाल है। नयपाल ने १०४० ई० के लगभग महाराज की पदवी धारण की थी।

चक्रपाणि की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, इन्होने बहुत ग्रन्थ बनाये, साहित्य में—माघ की टीका, कादम्बरी की टीका, दशकुमार चरित की उत्तरपीठिका, न्यायसूत्र की टीका, वैद्यकशास्त्र में—वैद्यकोष, आयुर्वेददीपिका नामक चरक की टीका, भानुमती नामक सुश्रुत टीका, व्यग्रदरिद्रशुभङ्करणम्, चिकित्सासग्रह (चक्रदत्त), द्रव्यगुणसंग्रह, सारसग्रह आदि। चरक की प्राञ्जल-विशद टीका के कारण इनको चरक-चतुरानन कहा जाता है। (वृद्धत्रयी—श्री हालदार, इसमें दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका के विषय में सन्देह है—लेखक)

ग्यारहवी शती मे चिकित्सासग्रह बनाया गया। इसके ऊपर बारहवी-तेरहवी शती के अन्तराल में श्री निश्चल ने रत्नप्रभा टीका की थी। इसी रत्नप्रभा का आश्रय लेकर १५वी, १६वी शताब्दी के बीच में शिवदास सेन ने अपनी तत्त्वचन्द्रिका नामक टीका लिखी है। द्रव्यगुणसंग्रह पर भी शिवदास सेन ने टीका लिखी है। चक्रदत्त या चिकित्सासारसंग्रह का आधार वृन्द का सिद्धयोग है। वृन्द की अपेक्षा इसमे योगो

की संख्या अधिक है, भस्मो का, धातुओ का प्रयोग अधिक है। इन प्रयोगों में प्रारम्भिक अवस्था भी मिलती है। यथा—

लोहामृतम्

(१) 'तनूनि लोहपत्राणि तिलोत्सेधसमानि च।
कशिकामूलकल्केन संलिप्य सर्षपेण वा ॥
विशोष्य सूर्यकिरणैः पुनरेवावलेपयेत्।
त्रिफलाया जले ध्मातं वापयेच्च पुनः पुनः ॥
ततः संचूर्णितं कृत्वा कर्पटेन तु छानयेत्।
भक्षयेन्मधुसर्पिभ्यां यथाग्न्ये तत् प्रयोजयेत् ॥'[1]

(२) 'मण्डूर शोधितं पत्रीं लोहजां वा गुडेन तु।
भक्षयेन्मुच्यते शूलात् परिणामसमुद्भवात् ॥'

लोह का स्थाली पाक, भानुपाक, ताम्रमारण, अभ्रक शुद्धि इसमे द. है। इसी से कहा है—

'नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरैर्ब्रूमः ॥'

चक्रपाणि ने वृन्द के योगो मे कुछ परिवर्त्तन भी किया है, फलश्रुति भी कम कही है। नये योग भी मिलाये हैं। उस समय जो नये द्रव्य चिकित्सा मे बरते जाते थे उनको भी लिखा हे। मुख्यत. आदि से अन्त तक सिद्धयोग का अनुसरण किया गया है।

द्रव्यगुणसग्रह मे द्रव्यो का सग्रह, अनुपान आदि बातो की विवेचना है। इसकी टीका श्री शिवदास सेन ने बहुत ही प्रकाण्ड विद्वत्ता से की है। रसवीर्य-विपाक, प्रभाव की विवेचना तथा शूक-धान्य, शालि आदि की टीका इस विषय का पूर्ण ज्ञान कराने में समर्थ है। यद्यपि यह एक प्रकार का सग्रह है, परन्तु इसमे पर्याप्त स्वतन्त्र रचना मिलती है।

चरक पर चक्रपाणिदत्त ने आयुर्वेददीपिका (चरकतात्पर्य) नाम की टीका लिखी है। इसमें इन्होने अपने गुरु का नाम नरदत्त दिया है। ये वगदेश के अन्तर्गत वीरभूमि के समीप मयूरग्राम मे लोध्रवश, दत्तकुल मे उत्पन्न नारायणदत्त के पुत्र थे। इनके पिता गौडाधिपति नयपाल के महानस—पाकशाला के अध्यक्ष थे। पिता

---

१. काशिका, श्वेत आक की जड़।

के मरने पर चक्रपाणिदत्त पहले महानस के अधिकारी बने और पीछे से विद्या-बुद्धि के कारण मत्री हुए—

"गौडाधिनाथरसवत्यधिकारपात्र-नारायणस्य तनयः सुनयोऽन्तरङ्गात् ।
भानोरनुप्रथितलोध्रबली कुलीनः श्रीचक्रपाणिरिह कर्त्तृपदाधिकारी ॥'
(चक्रदत्त)

शिवदास सेन ने पात्र का अर्थ मत्री और अन्तरग का अर्थ विद्या-कुल से सम्पन्न भिषक् किया है। शिवदास सेन मगलाचरण से स्वय वैष्णव प्रतीत होते है। सेनान्त नाम से इनका बगाली होना स्पष्ट है। ये स्वय अपने को गौडदेश के मालचिका ग्राम का निवासी और गौड़ देश के राजा के वैद्य अनन्तसेन का पुत्र कहते है। इनका काल-निर्णय गौड़राज बार्वकशाह से अपने पिता के अन्तरग पदवी और छत्र प्राप्त करने के उल्लेख से हो जाता है। बार्वक शाह का समय १४५७ से १४७४ है। शिवदास ने अष्टागहृदय पर भी टीका की है—

'आसीत् सभायां शिखरेश्वरस्य लब्धप्रतिष्ठः किल साहिसेनः ।
वाणीविलासं कविसार्वभौमं विजित्य यः प्राप यशो दुरापम् ॥
काकुत्स्थसेनस्तनयो ततोऽभूत्तस्यापि लक्ष्मीधरसेननामा ।
तस्मादभूद्धुद्धरणस्तनू[illegible]' जज्ञे ॥
मालञ्चिकाग्रामनिवासभूमेर्गौडावनीपालभिषग्वरस्य ।
अनन्तसेनस्य सुतो विधत्ते टीकामिमां श्रीशिवदाससेनः ॥'

द्रव्यगुण-सग्रह की टीका में थोड़ा अधिक है—

योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापां छत्रमप्यतुलकीर्त्तिमवाप ।
गौडभूमिपतिबार्वकशाहात् तत्सुतस्य सुकृतिनः कृतिरेषा ॥

श्री शिवदास सेन ने चक्रदत्त की टीका में मण्डूकपर्णी का मानामानी नाम दिया दिया है, राढ और बग में इसे थूलकुडि या थानकुनि कहते है। कूचविहार, रगपुर, राजशाही प्रान्तो में मानाभानी कहते है, इससे भी शिवदास सेन वीरभूमि के प्रतीत होते है। (वनौषधिदर्पण का उपोद्घात)

वग सेन

वृन्द के सिद्धयोगसंग्रह और चक्रपाणिदत्त के चक्रदत्त से मिलता वंग सेन का चिकित्सासारसग्रह है। ग्रन्थकर्त्ता अपने को कान्तिकावास में उत्पन्न एव गदाधर का पुत्र कहते है ("कान्तिकावासनिर्जातगदाधरसूनुना। क्रियते वगसेनेन चिकित्सासार-सग्रह ॥") मगलाचरण से ये शिवभक्त तथा सेन नाम से वंगदेशीय प्रतीत होते है।

इन्होंने स्नायुक रोग की चिकित्सा और निदान वृन्द में से लिया है, परन्तु उसमें अपनी ओर से वृद्धिकी है, इसलिए ये वृन्द के पीछे हुए है। चक्रदत्त के ग्रहणी-अधिकार मे 'रसपर्पटी' का पाठ है। इसके विषय मे चक्रपाणिदत्त ने स्वय कहा है-'निबद्धा चक्रपाणिना'-इसे चक्रपाणि ने बनाया है। वगसेन ने रसायनाधिकार में इसी को 'गन्धक-रसपर्पटी' के नाम से लिखा है। इसलिए वगसेन चक्रपाणिदत्त के पीछे हुए है। अभ्रक, लोह, पारद, गन्धक, ताम्र आदि खनिज द्रव्य-धातुओ का उपयोग चक्रदत्त और वगसेन मे प्राय एक-सा है। हेमाद्रि ने वगसेन मे से बहुत उद्धरण लिया है। इसलिए चक्रपाणिदत्त के पीछे और हेमाद्रि से पूर्व इनका समय आता है। बगाल से महाराष्ट्र तक ग्रन्थकर्त्ता की प्रतिष्ठा पहुँचने के लिए कम से कम पचास वर्ष तो अपेक्षित है, इसलिए वगसेन का समय १२०० ईसवी के आस-पास आता है। कविराज गणसेन इनको शार्ङ्गधर के पीछे और भावमिश्र से पहले का बताते है (प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात),। यह विचारणीय है।

वगसेन पीछे का योगसग्रह होने से इसमे अधिक क्रियात्मक रूप आया है। यथा-स्नायुक रोग मे स्नायुक के टूटने से होनेवाले विकारो का उल्लेख है 'बाह्वोर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जघयोरपि। सकोच खञ्जता चापि छिन्न नून करोत्यसौ॥' इसी प्रकार नया जल लगने तथा उसकी चिकित्सा भी कही है-"महार्द्रकयवक्षारौ पीत्वा चैवोष्णवारिणा। नानादेशोद्भवञ्चैव वारिदोषमपोहति॥' इसके अतिरिक्त पानीयभक्त-वटी, खर्पररसायन, लोहाभ्रक, सर्वतोभद्रलोह आदि नये योग इसमे मिलते है। धातुओ का चिकित्सा मे उपयोग चक्रदत्त की अपेक्षा इसमे अधिक है। इसमें कर्त्ता ने द्रव्यगुणसग्रह भी जोड दिया है। लोह की विस्तृत जानकारी, खान की भिन्नता से गुण में भेद, भिन्न-भिन्न देशो के लोहे के गुण (इसी प्रसग मे पाणिदेश का उल्लेख) इसमे जितने विस्तार से मिलते हैं, उतने अन्यत्र नही देखने मे आये। लोह का उपयोग जो आरम्भ काल मे सामान्य रूप से था, वृन्द के समय (नवीं शती) में कुछ बढा, चक्रदत्त ने इसकी पाकविधि का विस्तार किया। वगसेन ने इसकी उत्पत्ति, विशेषता, गुण-धर्म तथा प्रयोग विधि का विस्तार किया। शङ्करलोह नामक योग (अर्शोऽधिकार) इसका प्रसिद्ध है। इसके सिवाय तान्त्रिक प्रयोग भी इस समय अधिक थे। वृन्द के सिद्धयोग में सुख-प्रसव के लिए च्यवनमत्र तथा दूसरे चित्रो को दिखाया दिया है, परन्तु इसमे कछुए का सिर, बिल्ली की आते, बन्दर कुत्ते का पित्त, इनका अजन तथा अन्य रूप मे प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह विषय प्रचलित हो गया था।

वगसेन में ग्रन्थकर्त्ता ने निदान भी जोड़ दिया है। इससे लाभ यह हो गया है कि यह पुस्तक निदान और चिकित्सा दोनो का काम देती है। पीछे से यह परिपाटी भी चली कि दोनो को साथ मे लेकर पुस्तकें बनायी जायँ। इसी से वगसेन ने लिखा है—

'हृदि तिष्ठति यस्यैष चिकित्सातत्त्वसग्रहः।
स निदानचिकित्सायां न दरिद्रात्यसौ भिषक् ॥'

यह चिकित्सातत्त्व-सग्रह पुस्तक जिसको याद है, वह निदान और चिकित्सा म दरिद्र नही बनता। इसी से इसको पूर्ण बनाने के लिए लेखक ने जो भी आवश्यक और उपयोगी विषय समझा वह सम्पूर्ण इसमें सगृहीत किया है। उस समय के प्रसिद्ध रसायन, रसौषध, लोह वर्णन आदि विषय भी जोड़ दिये है। प्रत्येक ग्रन्थ उस समय की स्थिति, और विचार का ज्ञान कराता है। इस दृष्टिसे वगसेन १२वी शतीके आस-पास की चिकित्सा का पूर्ण ज्ञान हमें करा देता है। चिकित्सा में रसादि धातुओ और लोह का प्रयोग विशेष बढ़ गया था। ताम्र, अभ्रक का प्रयोग विस्तृत हो गया था। इनके प्रयोग की कई विधियाँ ढूंढ ली गयी थी। द्रव्यगुण प्रकरण चक्रपाणि के द्रव्यगुणसंग्रह के आधार पर लिखा है। इसमें उसी सग्रह का मुल्य आधार है। एक प्रकार से उस समय चिकित्सा मे योगसग्रह की पुस्तको का अधिक प्रचार था, सामान्य लोग इन पुस्तको के आधार पर चिकित्सा प्रारम्भ करते थे। टोटका विज्ञान या मुष्टियोग का प्रारम्भ भी नवी शती मे ही समझना चाहिए। वृन्द ने सिद्धयोग उस समय के शास्त्रीय अथवा चालू योगो का सग्रह करके लिखा, चक्रपाणि ने उसे कुछ विस्तृत किया, वगसेन ने उसे बहुत आगे बढाया। इससे नयी वस्तुओ का प्रयोग इसमें आ गया है।

सोढल का गदनिग्रह

बारहवी शती में गुजरात में सोढल नाम के एक वैद्य हुए थे, यह जोशी थे। अपने बनाये गुणसंग्रह नामक ग्रन्थ के अन्त मे अपने को इन्होने वत्सगोत्र का रायकवाल ब्राह्मण, वैद्य नन्दन का पुत्र और सघदयालु का शिष्य कहा है ("वत्सगोत्रान्वयस्तत्र वैद्यनन्दननन्दन। शिष्य सघदयालोश्च रायकवालवशज ॥ सोढलाख्यो भिषग् भानु-पदपङ्कजषट्पद। चकारेम चिकित्साया समग्रं गुणसंग्रहम् ॥")। गुणसग्रह एक निघण्टु है। सोढल ने अपने को ज्योतिषशास्त्री भी कहा है (श्री दुर्गाशकर भाई का 'गुजरातनु वैद्यक साहित्य निबन्ध')। १२५६ ईसवी का एक ताम्रपत्र जो कि भीमदेव दूसरे का है, उसमें रायकवाल जाति के ब्राह्मण ज्योति सोढल के पुत्र को दान देने का उल्लेख मिला है। रायकवाल जाति और ज्योतिसोढल इन दोनो बातो से यही

सोढल गदनिग्रह के कर्त्ता निश्चित होते है। इसलिए गदनिग्रह-कर्त्ता का १२वी शती में होना असदिग्ध प्रतीत होता है। रायकवाल जाति गुजरात मे ही है, अत ये गुजराती थे।

सोढल के बनाये गदनिग्रह मे दस खण्ड है। पहले प्रयोग खण्ड मे चूर्ण, गुटिका, अवलेह, आसव, घृत, तैल सम्बन्धी छ अधिकार है। इन अधिकारो मे ५८५ से अधिक प्रत्यक्षफल दिखानेवाले योगोका सग्रह है। इसमे कहे हुए बहुत से प्रयोग प्रकाशित पुस्तको मे नही मिलते। शेष नौ खण्डो में कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्य, भूततन्त्र, बालतन्त्र, विषतत्र, रसायन, वाजीकरण, पञ्चकर्माधिकार नामक प्रकरण है। प्रारम्भ मे सक्षिप्त निदान कहकर चिकित्सा कही गयी है।

सोढल को माधवनिदान के साथ वृन्द की भी खबर थी। चक्रदत्त की खबर सम्भवत सोढल को नही थी। चक्रदत्तवाले रसयोग सोढल मे नहीं है। सोढल वगसेन का समकालीन है, परन्तु यह गुजराती है और वगसेन बगाली है। वगसेन को चक्रदत्त का ज्ञान होना सम्भव है सोढल को चक्रदत्त या वगसेन का ज्ञान होना आवश्यक नही। रसोन का उपयोग बगाल में पहले प्रारम्भ हुआ होगा।

सोढल के गुजराती होने से गुजरात में होनेवाली जो औषधियाँ अन्य निघण्टुओ में नही मिलती। वे इनके बनाये निघण्टु में है। इन वनस्पतियो के नाम वर्त्तमान कालीन नामो से मिलते है।

चिकित्सा में से योगो को पृथक् करने की शैली का प्रारम्भ इस गुजराती वैद्य ने १२वी शती में प्रारम्भ किया, यह इसकी विशेषता है। इसके पीछे शार्ङ्गधर ने इसे अपनाया। प्राचीन सहिताओ की भाँति कायचिकित्सा, शालाक्य आदि विभाग भी इसने रखे, परन्तु इसको पूर्णत निभा नही सका। अश्मरी आदि शल्यतत्र के रोग काय-चिकित्सा में आ गये है। ग्रन्थी, अपची, सद्योव्रण आदि रोगो को शालाक्यतत्र के रोगो के पीछे लिखकर माधव एव वृन्द के प्रसिद्ध क्रम मे अन्तर कर दिया है। शस्त्रचिकित्सा शल्याधिकार मे नहीं है। सक्षेप मे सोढल के ग्रन्थ का प्रचार गुजरात या अन्यत्र कम देखने मे आता है।

ग्रन्थ की विशेषता—पृथक् फार्मेकोपिया भाग होने से औषध निर्माण में सुभीता हो गया। यह विभाग सम्भवत इसलिए किया है कि उस समय एक नाम से कई निर्माण-विधियाँ प्रचलित होगी। इनमे सोढल को जो योग मान्य होंगे वे पृथक् दे दिये है। उदाहरण के लिए, फलघृत स्त्रीरोग में प्रसिद्ध है, परन्तु सोढल ने एक फलघृत बालग्रह के लिए दिया है (प्रयोग खण्ड १।३९३)। वडवानल चूर्ण, अग्निमुख चूर्ण, वैश्वानर

चूर्ण के कई पाठ इसमें दिये है, जो भिन्न-भिन्न रोगो के लिए हैं। इससे स्पष्ट है कि एक योग के नाम से कई नुसखे उस समय चल पडे थे, जिनको कि सोढल ने लिखना प्रारम्भ किया। साथ ही योगो का प्रक्रियानुसार—कल्पना के भेद से पृथक्-पृथक् सग्रह किया।

इसमें कल्प बहुत अधिक दिये गये है। सुवर्णकल्प, कुकुमकल्प, अम्लवेतस कल्प नये कल्प है जो अन्यत्र नही मिलते। अम्लवेतस नाम से जो वस्तु बाजार में मिलती है, वह इसके वर्णन से सर्वथा भिन्न है ("तेषा फलेभ्यो निर्यास सोऽम्लत्वादम्लवेतस.")। इसमें निर्यास को अम्लवेतस कहा है। रसोन, पलाण्डु-कल्प सग्रह-हृदय की भाँति है। रसायन मे तिल का प्रयोग अकेला इसी मे है। आज भी काठियावाड़ में इसका रिवाज है ("दिने दिने कृष्णतिलप्रकुञ्च समश्नत शीतजलानुपानम। पोष्र. शरीरस्य भवत्यनल्पो दृढा भवन्त्यामरणाच्च दन्ता. ॥")। इसकी उपमाएँ बहुत सुन्दर हैं, ग्रन्थकर्त्ता का रसायनप्रकरण सग्रह के आधार पर है।

नवाँ अध्याय

मुगल साम्राज्य और अंग्रेजी संगठन

[११७५ से १८३६ ई० तक]

नाडी ज्ञान तथा संग्रह ग्रन्थ (रसवाले)

महमूद के बाद गजनी की सल्तनत धीरे-धीरे क्षीण होती गयी। गजनी से हरात के रास्ते में फ़रारुद नदी के दून में गोर नामक प्रदेश है। वहाँ के पठान सरदार अला-उद्दीन ने महमूद के वशज बेहराम को हराकर (१११८—५१ ई०) गजनी से भगा दिया, फिर उसके बेटे खुसरो के समय (११५२-६०) मे गजनी को सात दिन तक लूटा और जलाकर खाक कर दिया। अलाउद्दीन का भतीजा शहाबुद्दीन बिन साम या मुहम्मदबिन साम (साम का बेटा मुहम्मद) था, यही इतिहास मे शहाबुद्दीन गोरी के नाम से प्रसिद्ध है।

शहाबुद्दीन ने हिन्दुस्तान जीतने का सकल्प किया। गजनी लेने के पीछे उसने उच्चके राजा की रानी को अपनी तरफ मिलाकर वह राज्य जीत लिया और तब मुलतान और सिन्ध पर भी अधिकार कर लिया। ११७८ में उसने गुजरात पर चढाई की, परन्तु इसमे असफल होकर अजमेर और दिल्ली की ओर मुख किया। गजनी छिन जाने से खुसरो लाहौर भाग आया था, परन्तु गोरी ने उसके बेटे से पजाब छीन लिया (११८५-८६)। फिर दिल्ली प्रदेश की सीमा पर सरहिन्द का किला ले लिया, परन्तु तरावडी के मैदान में (पानीपत के पास) पृथ्वीराज से हारकर लौट गया। परन्तु अगले वर्ष जब इसी मैदान में फिर युद्ध हुआ तो पृथ्वीराज कैद होकर मारा गया। फिर वह सीधा अजमेर गया, दिल्ली में अपने दास तुर्क 'कुतुबुद्दीन ऐबक' को शासन करने के लिए छोड गया और अजमेर को अपने अधिकार में करके लौट गया। अन्तिम बार ११९४ में शहाबुदीन ने कन्नौज पर चढाई की। उसका यह युद्ध कन्नौज के राजा जयचन्द के साथ चन्दावर मैदान में हुआ। इस लडाई मे जयचन्द मारा गया।

अजमेर और कन्नौज के जिन अशो पर मुसलमान [illegible] काबू कर सके वे मुसलिम अमीरो में बाँट दिये गये। ११९७ ई० के बाद मुसलमानो ने चुनार का किला कन्नौज के सामन्तो से ले लिया और मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी नामक तुर्क सरदार को सौंप दिया। चुनार से मुहम्मद ने मगध तक हमले किय। मगध में पिछली शती

चगेज ने तुर्कों से छीन लिया। इसके पीछे पौने दो शताब्दियो तक अफगानिस्तान मगोलो के अधिकार मे रहा। ये मगोल दिल्ली के तुर्कों के लिए सदा आतङ्क का कारण रहे।

पहले पहल १२२१ ईस्वी में ख्वासिज्म (खीवा प्रदेश) के तुर्क शाह जलालुद्दीन का पीछा करते हुए चगेज सिन्ध नदी के किनारे तक पहुचा। जलालुद्दीन सिन्ध मे भाग आया था। चगेज के लौटने पर इल्तुतमिश ने पजाब और सिन्ध प्रान्तो पर कब्जा किया।

मुहम्मद बिन बख्तियार की मृत्यु के पीछे लखनौती की ५-६ साल की मारकाट के बाद खिलजी अमीरो ने गयासुद्दीन उवज को गद्दी पर बैठाया। इल्तुतमिश ने बिहार और गौड को भी जीत लिया। तब से १२८८ ई० तक गौड प्राय दिल्ली के अधीन रहा। उसके पीछे इल्तुतमिश ने मालवा, गुजरात, मारवाड को जीता। इल्तुतमिश की मृत्यु १२३६ ई० में हुई।

इसके बाद इसकी बेटी रजिया सुल्ताना गद्दी पर बैठी। यह कुशल और वीर स्त्री थी। तुर्कों ने स्त्री का शासन नही स्वीकार किया और बगावत हुई, जिसको दबाते हुए १२४० ईसवी में रजिया मारी गयी।

रजिया के पीछे उसके छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी पर ने बैठाया गया। इसने अपना मत्री बलवन को बनाया, जो कि नासिरुद्दीन के पीछे दिल्ली की गद्दी पर बैठा। यह एक योग्य शासक और, वीर था, इसने मगोलो पर निगाह रखने के लिए मुलतान मे अपने बेटे को हाकिम बनाया। पूर्व मे लखनौती का हाकिम अपने बेटे नासि-रुद्दीन महमूद उर्फ बुगरा को बनाया। १२८५ मे मगोलो ने फिर चढाई की, जिसमें मुलतान में इसका बेटा मुहम्मद मारा गया। फारसी और हिन्दी का प्रसिद्ध कवि मलिक खुसरो भी जो मुहम्मद का साथी था—इसमे कैद हुआ। अगले बरस बलवन भी चल बसा। इसके पीछे इसका पोता, बुगरा का लडका गद्दी पर आया। बुगरा के शासन के चार साल बाद इसके सेनापति खिलजी ने इसे मारकर गुलाम वश का अन्त १२९० ई० में कर दिया।

खिलजी वंश—यह १२९० से १३२५ ई० तक रहा। इसका प्रारम्भ जलालुद्दीन खिलजी से हुआ और अन्त ३० वरस के शासन मे हुआ। इसमें प्रसिद्ध शासक अला-उद्दीन खिलजी हुआ, जिसने गुजरात, राजपूताना और दक्खिन को जीता था।

तुगलक वंश (१३२५-१३९८)—इसका प्रारम्भ गयासुद्दीन तुगलक से है। इसकी मृत्यु इसके स्वागत मे शहर के बाहर लकडी के बनाये एक तोरण (कुश्क) के इसके ऊपर गिरने से हुई थी। यह तोरण इसके बेटे जूना (मुहम्मद तुगलक) ने बनवाया

था। पर्वतेश्वर के भाई वैरोचन की मृत्यु भी चाणक्य ने इसी प्रकार करवायी थी।[1] इसमें प्रतापी एवं मशहूर शासक मुहम्मद तुगलक हुआ, जो कि झक्की भी था। यह अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया था, फिर दिल्ली लाया। इसने चीन जीतने के लिए एक लाख आदमियों की सेना भेजी थी, जो रास्ते में ही मर गयी, केवल दस आदमी बचे थे।

मुहम्मद तुगलक के गद्दी पर बैठते ही १३२६ में मेवाड स्वतत्र हो गया था। इसका राजा हम्मीर था जो गुहिलोत वश का था। इसी के यहाँ माधवनिदान की आतकदर्पण टीका बानानेवाले वाचस्पति का पिता प्रमोद था, और वडा भाई मुहम्मद तुगलक के यहाँ था।

तैमूर की चढ़ाई—मुहम्मद के अन्तिम दिनो में उसका शासन ढीला पड गया था। राजपूताना, दक्षिण तथा पूर्व में बहुत से छोटे-छोटे राज्य बन गये थे। मुहम्मद की मृत्यु १३५१ ई० में हुई। इसके पीछे इसका चचेरा भाई फीरोज तुगलक गद्दी पर बैठा, परन्तु इसके वंशज निकम्मे निकले। इनके समय पुरानी दिल्ली और फीरोज खा की बसायी नयी दिल्ली में दो अलग-अलग सुलतान थे। इसी समय मध्य एशिया में एक महान् विजेता प्रगट हो चुका था। इसका नाम तैमूर था। यह चगताई वंश का तुर्क था। इसने १३९८ मे भारत पर चढाई की। इसने अफगानिस्तान जीतकर काबुल नदी के उत्तर का काफिरिस्तान (कापिशी नगरी) को जीता और पजाब होता हुआ दिल्ली आया और दिल्ली से मेरठ होता हुआ हरिद्वार की शिवालिक पहाडियो के रास्ते कागडा, कश्मीर को जीतता हुआ वापिस समरकन्द चला गया। इसने लूट ही की, कोई राज्य नही बनाया। इससे भारत में छोटी-छोटी रियासतें बन गयी, जो राज्य दिल्ली शासन में थे, वे भी अब स्वतत्र हो गये। दिल्ली साम्राज्य मटियामेट हो गया।

प्रादेशिक राज्य (१३९८से १५०९ई०तक)—दिल्ली साम्राज्य टूटने पर जौनपुर, मालवा और गुजरात ये तीन रियासते बहुत शक्तिशाली हो गयी। मेवाड में लाखा का शासन था, उसने उसका जीर्णोद्धार किया। तिरहुत और बगाल का शासन राजा गणेश और शिवसिंह ने सम्भाला। पूरब और दक्खिनी भारत में स्वतत्र राज्य बने। इनमे दक्षिण मे विजयनगर नामक हिन्दू राज्य था, इसके राजा देवराय थे जो योग्य शासक थे। सिन्ध पर तैमूर की चढाई का कोई असर नही पड़ा। कश्मीर भी पीछे स्वतत्र

---

१. 'देवतागृह प्रविष्टस्योपरि यंत्रमोक्षणेन गूढभित्ति शिलां वा पातयेत्।' कौटिल्य० पांचवां अध्याय १६८।१.

हो गया। तैमूर के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारियो के पास केवल काबुल बचा था। इसी समय अर्थात् १४९७ ईसवी मे वास्को दगामा आशा अन्तरीप का चक्कर काटकर पुर्त्तगाल से भारत के पश्चिमी तट कालीकट पर पहुचा। मलाबार के सरदारो ने अपना व्यापार बढाने की गरज से इन आगन्तुको को यहा कोठियाँ बनाकर पैर जमाने का अवसर दिया। १५१० मे पुर्त्तगालियो के सेनापति आलबुकर्क ने बीजापुर से गोवा छीनकर इसे राजधानी बनाया और फिर वे धीरे-धीरे शक्ति बढाने लगे।

सन्त और सुधारक सम्प्रदाय—इस युग में रामानन्द हुए जिनके शिष्य कबीर थे, महाराष्ट्र के पढरपुर में विसोबा खेचर हुए जिनके शिष्य नामदेव थे। गुरु नानक का जन्म (१४६८-१५३८ ई०) पजाब मे हुआ था। बगाल मे सन्त चैतन्य (१४८५ से १५३३ ई०) पैदा हुए। इन्होने वैष्णव धर्म का प्रचार किया, बौद्ध भिक्षु और भिक्खनियो को वैष्णव धर्म की दीक्षा दी। मारवाड की प्रसिद्ध मीरा बाई जो राणा सागा की पुत्रवधू थी, चैतन्य से १३ बरस पीछे हुई (१४९८ से १५४६ ई०)।

साहित्य—चौदहवी-पन्द्रहवी सदी में देशी भाषाओ के साहित्य को प्रोत्साहन मिला। यह प्रोत्साहन सन्तों से तथा मुसलमानो से अधिक मिला। भारतीय विद्वान् अबतक सस्कृत मे ही लिखते थे। मलिक खुसरो ने (१२५३-१३२५ ई०) सबसे पहले खडी बोली मे कविता की। बगाल में चण्डीदास ने बगाला मे, मैथिल विद्यापति ने मैथिली मे कविता की। तामिल में कवि कम्बन् की रामायण इस समय का (१३वी शती का) रत्न है।

मध्य काल का ज्ञान और अर्वाचीन काल का प्रारम्भ—गुप्त युग मे भारतवर्ष का ज्ञान और सभ्यता जहाँतक पहुच चुकी थी उसके एक हजार वर्ष बाद तक ससार मे कुछ उन्नति नही हुई। मगोलो और अरबो द्वारा भारत और चीन का ज्ञान पश्चिमी यूरोप तक इसी समय पहुँचा, जिसमें दस गुणोत्तर गणना अरब ने भारत से ली और और अरब से यूरोप में गयी, हमारे अको को हिन्दसे कहा गया। लकड़ी के ठप्पो से कागज पर छापने की पद्धति चीन से यूरोप में गयी। मगोलो ने यूरोप में बारूद पहुँचायी। छापने की कला मे जर्मनो ने सीसे के ठप्पे पीछे बनाये, जिससे प्रकाशन मे सरलता आ गयी। नाविको के लिए दिग्दर्शक यत्र भी इसी समय बना।

आयुर्वेद साहित्य—इतने बडे समय में केवल टीकाएँ या सग्रह ग्रन्थो के अतिरिक्त कोई बडा ग्रन्थ गुप्त साम्राज्य के पीछे आयुर्वेद साहित्य में नही मिलता। आयुर्वेद साहित्य में इन एक हजार वर्षो के अन्दर और आगे भी नये युग के आने तक कोई विशेष मूल्यवान् ग्रन्थ नही बना। ग्रन्थो की सख्या इस समय बहुत हो गयी, परन्तु वे सब

सग्रह मात्र है। इस समय निघण्टु और रसशास्त्र का विकास पूर्णत हुआ। इन दो विषयो पर स्वतत्र रूप से ग्रन्थ रचना हुई है। वास्तव मे चिकित्सा मे जल्दी सफलता के लिए रसशास्त्र का विकास अब होने लगा था। निघण्टु की रचना सम्भवत मुगलो या तुर्कों के सम्पर्क से प्रारम्भ हुई होगी। उनकी चिकित्सा पद्धति मे निघण्टु शास्त्र का विशेष महत्त्व है। उसी महत्त्व से आयुर्वेद में भी पृथक् निघण्टु शास्त्र बना।

नाडी-विज्ञान का प्रारम्भ भी इसी समय की विशेषता है। रावण के साथ इसका सम्बन्ध जोडना ही इसको स्पष्ट करता है कि यह राक्षसी ज्ञान है। मगोल या दूसरी पश्चिमी जातियो के सम्पर्क मे आने से यह ज्ञान भारत मे भी प्रचलित हुआ। इसलिए इस समय की सहिताओ में तथा ग्रन्थो मे परीक्षा विधि में इसका भी समावेश हो गया।

मुगल साम्राज्य (१५०९-१७२० ई०)—हम्मीर वश का राजा सागा पश्चिमी भारत में जब अपनी शक्ति बढा रहा था, तब उत्तर पश्चिमी पजाब मे तैमूर का एक वशज अपने पैर जमाने की कोशिश में था। यह था बाबर जो कि सागा से एक वर्ष पूर्व पैदा हुआ था। इसकी माँ चगेज खा के वश की थी। बाबर ने ११ बरस की उम्र मे गद्दी सँभाली थी। बाबर को उज्वगो से हारकर समरकन्द से भागना पडा। वहाँ से भाग करके उसने काबुल को वश मे किया। यही से उसने बदख्शा को भी १५०९ ई० में वश मे किया। बाबर ने पाच बरसो मे काबुल के राज्य को संगठित करके १५१९ मे पहली चढाई भारत पर की। इस चढाई मे बाबर ने बन्दूको और तोपो का प्रयोग किया। भारतवासियो के लिए ये वस्तुएँ नयी थी।

उस समय की राजनीति ने इब्राहीम लोदी से तग आकर बाबर को भारत मे बुलाया। पजाब के हाकिम दौलत खा ने, लोदी के चाचा अलाउद्दीन ने तथा राणा सांगा के दूतो ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया कि बाबर दिल्ली तक राज्य शासन ले ले और आगरे तक राणा सागा ले ले। इस दशा में बाबर ने भारत पर चढाई की। बाबर ने दो आक्रमणो मे जमुना तक प्रदेश काबू कर लिया। पानीपत के मैदान मे इब्राहीम लोदी ने बाबर का सामना किया। बाबर के पास ७०० यूरोपियन (फिरगी) तोपे थी, जिससे चार-पाच घटो की लडाई में अफगान सरदार हार गये। बाबर का दूसरा प्रसिद्ध युद्ध राणा सागा के साथ खानवा मे हुआ, जिसमे बाबर जीता। इसी से बाबर उत्तरीय भारत का राजा बन गया था। पूरब को उसके बेटे हुमायू ने जीतकर अवध, जौनपुर और गाजीपुर के इलाके इसमें मिला दिये। पानीपत, खानवा और घाघरा (चेदि) को जीतने से उसका साम्राज्य बदख्शा से बिहार तक फैल गया। १५३० में आगरे में उसका देहान्त हुआ, उसको काबुल में दफनाया गया था।

बाबर के पीछे हुमायू (१५३०-१५५४ ई०) गद्दी पर बैठा। हुमायू के भाई कामरान को बख्शी, कन्दहार का राज्य मिला था। हुमाय् का राज्य अन्तर्वेद में बचा था। पच्छिम में मालवा को जीतना और पूरब में अफगानो को वश मे करना, इन दोनो कार्यों मे उसकी सारी शक्ति समाप्त हो गयी। मालवा-गुजरात मे बहादुरशाह ने और पूरब मे शेरशाह ने उसे तग कर दिया। शेरशाह ने उसे पश्चिम पजाब तक खदेड़ दिया था। शेरशाह से खदेडा जाकर हुमायू सिन्ध की ओर भागा। शेरशाह ने रोहतास नाम का एक गढ नमक की पहाडियो मे बनाना प्रारम्भ किया, जिससे काबुल और कश्मीर के आक्रमणो को रोका जा सके। यह काम उसने टोडरमल खत्री को सौंपा था (सम्भवत इन्ही के नाम पर टोडरानन्द आयुर्वेद की पुस्तक प्रसिद्ध है)।

शेरशाह का साम्राज्य कन्दहार-काबुल और काबुल की सीमाओ से कूचबिहार की सीमा तक पहुँच गया था। पूरवी मालवा को जीत लेने से सीमा गढ-कटका राज्य से मिल गयी थी। शेरशाह बहुत योग्य शासक था। भूमि को मापकर कर लेने की व्यवस्था सबसे प्रथम इसीने भारत में चलायी। बगाल से पेशावर तक सडके आजम इसी की बनायी हुई है। परगने बनाने का काम इसी का पहला था। परगनो में एक शासक शान्ति स्थापना के लिए रहता था और दूसरा अमीन, जो कर वसूल करता था। सैनिको को वेतन नगद दिया जाता था। सडको के द्वारा इसने सोनार गाव से रोहतास होकर अटक को मिला दिया था। आगरा को बुरहानपुर से और चित्तौड से, लाहौर को मुलतान से सडको द्वारा जोड दिया था। सडको पर भोजन और पानी का प्रबन्ध हिन्दू और मसलमानो के लिए किया गया था। अकबर ने इसी की शासन-व्यवस्था की नकल की।

शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ईसवी) के चार मास पीछे ही ईरान के शाह की मदद से हुमायूं ने कन्दहार जीत लिया। कामरान से काबुल छीन लिया। शेरशाह के बाद उसके बेटो का राज्य चला। परन्तु पीछे बिहार-बगाल के पठान स्वतत्र हो गये। इसी समय हुमायू ने लाहौर जीत लिया, वहा से आगे बढकर दिल्ली पर दखल किया। अपने १३ बरस के बेटे अकबर को सेनापति बैराम खाँ की सरक्षकता मे पजाब का हाकिम बनाया और दिल्ली में ६ मास शासन करने के पीछे वह चल बसा।

अकबर को वसीयत में पजाब और दिल्ली मिली और काबुल उसके छोटे भाई को मिला। बैराम खाँ की मदद से अकबर ने दिल्ली का शासन पुन हेमू से छीन लिया था। अकबर ने १५६२ में बैराम खाँ को हज के लिए भेज दिया और स्वय विजय प्रारम्भ की। अकबर के सेनापतियो ने मालवे के सुलतान बाजबहादुर को हराया। धीरे धीरे अकबर

ने राजपूताना, मेवाड, उडीसा जीत लिये। गुजरात और बंगाल जीतकर अकबर उत्तर भारत का एक छत्र सम्राट् बन गया था। १५७६ ई० में अकबर के साम्राज्य के बराबर दुनिया में और कोई भी राज्य न था।

अकबर की शासन व्यवस्था शेरशाह की ही थी। जमीन का बन्दोबस्त वही था, टोडरमल ने इसे ठीक किया, वही इस काम में उसका मददगार था। माप के लिए गज और बीघा का मान ठीक किया गया। अकबर के राज्य मे १५८० ई० में बारह सूबे थे। पीछे से दक्षिण जीतने पर बरार, खानदेश और अहमदनगर तीन नये सूबे बने। अकबर की मृत्यु १६०५ ई० में हुई।

अबुलफजल के लिखे अकबरनामे का एक भाग आइने अकबरी है। अकबर ने सगीत और चित्रण कला को प्रोत्साहना दी। इस समय सन्त साहित्य बहुत बना—सूरदास, तुलसीदास, गुरु अर्जुनदेव, दादू, मलूक, रविदास आदि सन्त इसी समय हुए।

अकबर के पीछे जहागीर, शाहजहा और औरगजेब तेजस्वी बादशाह हुए। इस समय देश की राजनीति प्राय स्थिर रही। औरंगजेब के समय इसमें हिलोलें उठी थी, जिससे उसके पीछे यह साम्राज्य चरम सीमा पर पहुँचकर गिरता चला गया।

१६वी सदी में अराकान के तट पर पुर्तगाली बस गये थे। चटगाव इन फिरगियो का अड्डा था, इनका काम लूट-पाट करना था, ये लूट का आधा हिस्सा राजा को देते थे। १६०० ई० में पूरब का व्यापार तोडने के लिए इग्लैंड मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनी थी। इसे व्यापार करने का एकाधिकार मिला था। अंग्रेजो ने सूरत में व्यापारी कोठी खोली। इनके राजा का दूत सर टामस रो अजमेर में जहागीर से मिला। अंग्रेजो को भारत में व्यापार करने की आज्ञा मिली। १६२२ ईसवी मे फ्रासीसी व्यापारी भी भारत पहुचे।

शाहजहा के शासनकाल में मुगल साम्राज्य का वैभव खूब चमका। उसे देखकर विदेशी चकित थे। तख्ते ताऊस, ताजमहल, आगरे मे मोतीमसजिद, दिल्ली शहर इसी समय बने। इस समय वैभव विलास बढ़ गया था। नये व्यसन और नये रोग इस समय मे आये (भावप्रकाश में फिरग रोग का उल्लेख इसी समय का है)। तमाखू का पहला प्रवेश बीजापुर में १६०५ में पुर्तगालियो से हुआ, जो कि यूरोप में अमेरिका से पहुँचा था। १६१६ ई० मे पजाब में और १६१८-१९ मे दिल्ली-आगरा में ताऊन या प्लेग पच्छिम से आयी।

आयुर्वेद साहित्य—साहित्य में काव्य रचना के सिवाय कुछ नही था। बिहारी की सतसई मुगल काल के वैभव युग की ऐयाशी का पूरा प्रतिबिम्ब है। इस विलास-

मय जीवन का प्रतिबिम्ब इस समय के आयुर्वेद साहित्य में मिलता है। रसौषधियो तथा वाजीकरण योगो की फलश्रुति इसका देदीप्यमान उदाहरण है। सम्भवत. मुगलो के विलासी, ऐयाशी जीवन के लिए ही वैद्यो को ये योग और ये रचनाए बनानी पड़ी। क्योकि मनसवदार प्रथा राज्य मे रहने से, मनसवदारो को बडी-बडी तनख्वाहे मिलती थी। परन्तु इनके मरने के बाद सम्पत्ति का वारिस बादशाह होता था। इसलिए ये लोग अपने जीवन काल मे ही पैसे को खुले हाथ से खर्च करते थे। इसी विलास-मय जीवन को पूरा करने के लिए आयुर्वेद में मकरध्वज आदि रसो की फलश्रुतियाँ बढायी गयी। इस प्रकार के जीवन को निभाने के लिए ही वास्तव में रसशास्त्र का प्रयोग बना, जिससे कि रसौषध में अफीम, संखिया आदि वस्तुओ का मिश्रण हमको इसी समय सबसे प्रथम मिलता है। शुक्रस्तम्भन के लिए अफीम तथा शक्ति के लिए संखिये का उपयोग सम्भवत. मुसलमानो के सम्पर्क से हमने लिया है। पोस्त के डोडे का भी उपयोग हम करने लगे थे ("पोस्तकं तुलसी दीप्य नागवल्लीदलं तथा।" बृह-द्योगतरगिणी—११८।७)। सुश्रुत मे वर्णित उपदश रोग को फिरग रोग ही माना जाने लगा था। ("दद्यात् फिरंगामयके भिषग्भि· स्वेच्छं विधेयं किल पथ्यमस्य। तैला-म्लवर्जं निखिलव्रणघ्न घृतानुपानैरुपदशसूर्यं ॥" बृ० यो० ११७।३७)। चन्द्रोदय आदि रसो की फलश्रुति इसी वैभव को पूरा करने के लिए है।

मुगल काल का अन्त—शाहजहाँ की बीमारी की खबर से चारो तरफ अव्यवस्था फैल गयी। शाहजहाँ की मृत्यु १६५८ में हुई, इसी समय गद्दी के लिए भ्रातृयुद्ध चला, जिसमें सब भाइयो को मारकर १६६१ ई० में औरंगजेब गद्दी पर बैठा। औरंगजेब का जीवन बराबर युद्ध में बीता, अधिक समय दक्खिन मे उलझा रहा, वह उस तरफ से कभी भी निश्चिन्त नहीं रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरी भारत की ओर विशेष ध्यान नहीं रहा। इससे आसाम स्वतन्त्र हो गया। यही बात उत्तर पश्चिमी सीमा पर हुई। यहाँ के पठान हजारा जिले तक बढ आये। औरंग-जेब की धर्मान्ध नीति ने राज्य की नीव को बहुत हिला दिया। दक्षिण में शिवाजी और बुदेलखंड में छत्रसाल ने इसको परेशान कर दिया था।

औरगजेब बहुत वृद्ध होकर मरा। औरंगजेब वसीयत छोड गया था कि उसका साम्राज्य तीनो बेटों में बाँट दिया जाय। परन्तु आजम नही माना और लड़ाई मे मारा गया। दिल्ली की गद्दी पर शाह आलम बहादुरशाह के नाम से बैठा। इसने लगभग दस साल राज्य किया। इसकी मृत्यु के बाद (१७१२ ईसवी) चारों बेटो में परस्पर लड़ाई हुई। सबसे छोटे की जीत हुई। वह जहाँदारशाह के नाम से गद्दी

पर बैठा। जहाँदारशाह को सैयदबन्धुओ की मदद से फर्रुखसियर ने हरा दिया, वह पकडा गया और मारा ग्या। इसके आगे राज्यसूत्र सैयदबन्धुओ के हाथ मे धीरे-धीरे पहुँच गया। सैयदबन्धुओ ने फर्रुखसियर को कैद करके बहादुरशाह के एक पोते को गद्दी पर बैठा दिया, जो कि तपेदिक से मर गया था। उसका एक भाई फिर बादशाह बना। वह भी इस रोग से मर गया।

फर्रुखसियर के विवाह के समय अग्रेज डाक्टर हैमिल्टन आया था, उसने फर्रुखसियर की बवासीर की बीमारी का इलाज किया था (१७१५ ई०)। फर्रुखसियर ने उसे इनाम देना चाहा, तब उसने स्वय कुछ लेने के बजाय यह प्रार्थना की कि बगाल मे अग्रेज जो बिलायती माल बेचे उस पर चुगी न ली जाय।

फर्रुखसियर के बाद बहादुरशाह का तीसरा पोता गद्दी पर सैयदबन्धुओ की सहायता से बैठा। इसका नाम मुहम्मदशाह था। यह बहुत कमजोर और दीन बादशाह हुआ। इसके समय मराठो ने दिल्ली पर चढ़ाई की और नादिरशाह का आक्रमण हुआ। मुहम्मदशाह के बाद अहमदशाह दिल्ली की गद्दी पर आया। इस बीच मे रुहेलो की ताकत पर्याप्त बढ़ गयी थी। साथ ही पूरब में अग्रेजो के और दक्षिण मे फ्रेंच के पैर जम चुके थे।

अहमदशाह की मृत्यु के पीछे आलमगीर द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसके पीछे शाह आलम हुआ। यह डर के मारे इलाहाबाद से ही शासन करता रहा। ये सब नाम मात्र के शासक थे। शाह आलम के समय अग्रेजो ने अवध तक हाथ फैला लिये थे और शाह आलम को दिल्ली की गद्दी दिलवाने में बहुत हिस्सा लिया था। इसी समय दक्षिण से मराठो ने और पश्चिम से अहमदशाह अब्दाली ने कई हमले किये। परिणाम यह हुआ कि शाह आलम एक प्रकार से मराठो का मातहत बादशाह रह गया। चार वर्ष बाद इसने अग्रेजो से सन्धि कर ली। १७८८ में रुहेलो ने इसे अन्धा कर दिया और १८०६ मे अग्रेजो की पैशन खाता हुआ मरा।

शाह आलम के पीछे अकबर द्वितीय (१८०६–१८३७ ई०) और बहादुरशाह (१८३७–१८५७) बादशाह हुए, ये दोनो अग्रेजो के अधीन पैशन पानेवाले थे। बहादुरशाह का शासन दिल्ली में लाल किले के अन्दर ही सीमित रह गया था।

औरगजेब की मृत्यु के पीछे मरहठो की शक्ति, फ्रैंच लोगो की प्रगति दक्षिण में, बगाल मे अग्रेजो के पैर तथा रुहेलखण्ड में रुहेलो की शक्ति पनपी। अंग्रेजो ने अपनी कूटनीति से फ्रैंच लोगो को दक्षिण से बाहर किया, फिर पश्चिम की ओर आगे बढते गये। पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली की और मरहठो की लडाई ने भारत

के भाग्य को पलट दिया । दिल्ली के बादशाह निर्बल हो गये थे, इससे कम्पनी को अवसर मिला । पहले जो कम्पनी व्यापार के लिए भारत में आयी थी, वही अब यहाँ पर पैर जमाकर राजा बनने को सोचने लगी । गद्दी के लिए सौदेबाजी करते हुए वे दिल्ली के ही नही, अपितु सारे भारत के शासक बन गये और मुगल बादशाह लाल किले की चहार दीवारी मे सीमित हो गये । यह सब इन दो सौ साल मे हो गया ।

चिकित्सा सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य

मुगलकाल में चिकित्सा की स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में कुछ थोडा-सा पता आइने अकबरी से चलता है । मुसलमान या तुर्क अपने साथ अपने देश के हकीम लाये; अंग्रेज या यूरोप के दूसरे लोग अपने साथ वही के चिकित्सक लाये । इस प्रकार से उत्तर भारत में वैद्यक देशी चिकित्सा के पनपने की स्थिति नही रही । दक्षिण में महाराष्ट्र के अन्दर हिन्दू राज्य रहने से वहाँ पर देशी चिकित्सा का विस्तार हुआ । वहाँ पर ही इस समय संग्रह-ग्रन्थ अधिक बने । ठेठ दक्षिण में आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रारम्भिक रूप, पंचकर्म विधि, वस्ति चिकित्सा, धारा स्नान आदि जो आज हमको बचा मिलता है, वह इसी का परिणाम है । अष्टांगसग्रह या अष्टाग-हृदय का प्रचार दक्षिण में आज भी अधिक है । महाराष्ट्र में सग्रह ग्रन्थो की चिकित्सा उस समय चलती रही । बगाल के चक्रदत्त या वगसेन का प्रचार कम हुआ, परन्तु इनके ढग पर बहुत से सग्रहग्रन्थ तैयार हुए ।

मुगलो का जीवन विलासी था, उनमें शान-शौकत की अधिकता रही । ऐसी अवस्था मे उनके लिए उसी प्रकार की चिकित्सा चली । जैसा कि जहाँगीर के विषय में लिखा है—

"महमूद ने आबदार से कहा कि हकीम अली के पास जाकर थोड़ा-सा हलके नशे-वाला शरबत ले आ । हकीम ने डेढ़ प्याला भेजा । सफेद शीशी में वासन्ती रग का बढिया मीठा शरबत था । मैने पिया । बहुत ही विलक्षण आनन्द प्राप्त हुआ । उस दिन से शराब पीना आरम्भ किया । फिर वह दिन पर दिन बढता गया । नौ वर्ष में यह दशा हो गयी थी कि दो-आतिशा (दो बार खींची हुई) शराब के १४ प्याले दिन को और ७ प्याले रात को पीता था । सब मिलाकर अकबरी ६ सेर हुई ।"

"यहाँ तक नौबत पहुँच गयी थी कि नशे की अवस्था में हाथ-पैर काँपने लगते थे। प्याला हाथ में नहीं ले सकता था ; दूसरे लोग प्याला हाथ में लेकर पिलाते थे । हकीम अब्दुल फतह का भाई हकीम हुमाम पिताजी के विशिष्ट पार्श्ववर्त्तियो में

था। उसे बुलाकर सारी दशा कह सुनायी। उसने कहा कि पृथ्वीनाथ, आप जिस प्रकार अर्क पीते हैं,—उससे ६ महीने मे रोग असाध्य हो जायगा, फिर कोई उपाय न रहेगा।"

अकबर के पेट मे जब तीव्र दर्द हुआ और उसका सहन करना सामर्थ्य से बाहर हो गया, तब उसे सन्देह हुआ कि मुझे विष दिया गया है, इसमे उसे अपने विश्वसनीय हकीम जैसे व्यक्ति पर भी साजिश मे सम्मिलित होने का सन्देह हुआ।" (दरबारे अकबरी, पृष्ठ १७८,१७९,२०३)

अकबर के राज्य मे कासिम खाँ को जल और स्थल का सेनापति इसलिए बनाया गया कि फूल-पत्ते, जडी-बूटियो की उन्नति हो।

अकबर के समय बहुत-सी पुस्तको का अनुवाद फारसी में हुआ, जैसे—रामायण, महाभारत, हरिवंश। ज्योतिष के ताजक का भी अनुवाद हुआ। खानखाना अबुल फजल ने ज्योतिष पर एक मसनवी लिखी थी। परन्तु आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ का अनुवाद इस समय होने का पता नही चलता। इस समय में चिकित्सा हकीमी ही अधिक चलती थी। उसकी अपनी किताबे थी।

शेख फैजी के मरने के पीछे उसकी पुस्तको का संग्रह शाही खजाने में चला गया। जब उसकी सूची बनी तो प्रथम श्रेणी की पुस्तको में काव्य, चिकित्सा, फलित ज्योतिष और संगीत की पुस्तकें थी (अकबरी दरबार—भाग २, पृष्ठ ३९९)। अबुल फजल ने अपने भाई फैजी के सम्बन्ध मे लिखा है कि "वह कविताएँ करने, पहेलियाँ आदि बनाने या कूट-काव्य, इतिहास, कोश, चिकित्सा तथा सुन्दर लेख लिखने में अद्वितीय था।" (अकबरी दरबार—भाग २, पृष्ठ ३९५)

फैजी की तबीयत १००३ हिजरी में खराब हुई। दमा तग करने लगा। चार महीने पहले यक्ष्मा हुआ था। अन्त समय में उसने सब बातो की ओर से अपना मन हटा लिया था। और भी कई रोग एकत्रित होने लगे थे। फैजी की मृत्यु १० सफर १००४ हिजरी में हुई। फैजी के पिता शेख मुबारक भरदन में फोडा निकलने (सम्भवत प्रमेहपिडिका, कार्बंकल) से मरे थे। ऐसी बीमारी प्राय होती थी। (अकबरी दरबार—भाग २; पृष्ठ ३६५)

इटैलियन लेखक का विवरण

इस समय की चिकित्सा का उल्लेख इटैलियन लेखक निकोलियो मैन्युसी [Niccolao manucci) ने अपनी पुस्तक 'मोगल इण्डिया' (Stori–do–mogor)

में दिया है।[1] लेखक स्वय चिकित्सक था। इसे औरगजेब और शाह् आलम के समय कई बार राजमहल में चिकित्सा कार्य करना पडा। विष के रोगियो की, आँतो के फटने की चिकित्सा के अतिरिक्त कई बार शिरावेध (फस्द खोलने की) चिकित्सा इसने की थी। इसके वर्णन से स्पष्ट है क उस समय वस्ति (एनीमा) का चलन नही था, उसके लिए कोई भी समुचित साधन नही थे, और न इसका उपयोग ही कोई जानता था—जैसा कि लौहर में काजी की औरत की चिकित्सा से स्पष्ट है। शाह आलम के लिए भी जब इसने एनीमा भेजा तब वहाँ भी कोई इसका उपयोग नही जानता था। वस्ति देने के लिए इसने उस समय एक नया तरीका अपनाया। इसने गाय का ऊधस् (Udder) लेकर उसमे हुक्के की नली लगाकर काम चलाया था।

इसके वर्णन से पता चलता है कि राजमहल में बहुत से हकीम थे, ये भिन्न-भिन्न विषयो मे निपुण थे। इनकी विद्या के अनुसार इनके नाम थे, यथा—हकीमी बुजुग (बडा हकीम), हकीम उलमुल्क (राजवैद्य), हकीम बिना (आँख का हकीम), हकीम मुहसिन, हकीम जानबख्श, हकीम मुमीन, हकीमी मुजैयैन, हकीम फाजिल (निर्देशक चिकित्सक), हकीम अब्दुलफतह, हकीम तरकबखान, हकीम सलाह, हकीम नब्ज (नब्ज का हकीम), हकीम अलैयर, हकीम नादिर, हकीम खुदा दोस्त, हकीम बदन (शरीर का चिकित्सक), अफलातून उज़ ज़माना, अरस्तू उज जमाना, जालीनूस उस जमाना, बकरात उज जमाना, आदि कई नाम थे, जो कि इनके पद एव कार्य के सूचक होते थे।

प्लास्टिक सर्जरी—उस समय प्लास्टिक सर्जरी का भी चलन था, उसने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। उसके लिखे अनुसार—"औरगजेब ने बीजापुर पर १६७० ईसवी मे आक्रमण किया। उस समय बीजापुरवाले यदि किसी मुगल को पत्ते काटते या घास-फूस इकट्ठा करते हुए देखते थे, उसे वे पकडकर ले जाते थे। उसको जान से न मारकर इनकी नाक काटकर छोड देते थे। मुगल जर्राह इनकी नाक ठीक कर देते थे। ऐसी कई नाक बनी हुई मैंने देखी हैं। इसके लिए जर्राह भ्रुवो के ऊपर माथे पर से मास काटकर उसे नाक के ऊपर आने देते थे। वहाँ पर इस मास को जोडकर नाक पर इस प्रकार बिठाते थे कि वह दूसरे मास के साथ बैठ जाय। इसके ऊपर वे

---

१. यह पुस्तक कई भागों में है, इसे रायल एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है। ये सब उद्धरण भाग २ से लिये गये हैं।

जख्म को भरनेवाला लेप लगा देते थे। थोडे समय में व्रण भर जाता था। मैंने इस प्रकार की नाकें बनी देखी है।"

सिरा वेध—"पागलपन की अवस्था में तथा कई अन्य अवस्थाओ मे जब शरीर में रक्त का दबाव बढ जाता था (उसने इसे रक्त का बढना लिखा है) तब रक्त निकाला जाता था। उसने इस प्रकार की कई घटनाओ का उल्लेख किया है। रक्त निकलवाने का राजकुमारियो, बेगमो और राजकुमारो मे सामान्य रिवाज़ था। लेखक ने कहा है कि बेगमो और राजकुमारियो के रक्त निकालने पर उसे दो सौ रुपया और एक सराफ़ा उपहार मे मिलता था। राजकुमार का रक्त निकालने पर चार सौ रुपया, एक सराफा और एक घोडा भेंट दिया जाता था। शाह आलम प्रत्येक बार रक्त की मात्रा पूछता था कि कितना रक्त निकाला गया।

इसी प्रकार एक पागल का उल्लेख किया गया है जो उसके दवाखाने में घुस गया था। उसने नौकरो से पकडवाकर उसका सिरा वेध किया, जिससे वह स्वस्थ हो गया था।

प्रसव मे चिमटो के उपयोग और भगन्दर रोग की चिकित्सा का उल्लेख उसने किया है। गोआ के प्रेसीडेन्ट को भगन्दर (Fistula) था, उसने एक डच डाक्टर के द्वारा उसे स्वस्थ करवाया था।

दाहकर्म—महल की एक औरत बीमार हो गयी, इसको आँतों की तकलीफ थी। इस तकलीफ को कोई भी अच्छा नही कर सका था। उस डाक्टर को बुलाया गया, उसने देखा दवाई देने से कोई लाभ नही। इसलिए उसने लोहे के छल्ले को आग मे लाल गरम करके नाभि पर दाग दिया। इससे आँतो मे गति चल पडी, आँते अपना काम करने लगी। इससे उसने समझा कि उदरशूल, वक्षण या आँतो के अवरोध में इस प्रकार का दाह बहुत उपयोगी है।

इसी प्रकार का दाहकर्म हैजा-कालरा (Mort-de-chien) के लिए बताया है। यह उस समय प्रचलित था। इसमे लोहे की शलाका गरम करके उससे एडी के तब तक बीच मे जलाते थे जब तक रोगी गरमी या दाह का अनुभव न करे।

सुश्रुत में भी यही चिकित्सा विसूचिका मे बतायी है—

'साध्यासु पार्ष्ण्योर्दहनं प्रशस्तमग्निप्रतापो वमनं च तीक्ष्णम्।'

(सु. उ. अ. ५६। २.)

महल में बीमारो के लिए अलग स्थान (बीमारखाना) था, वहाँ पर उनकी सेवा-परिचर्या की जाती थी। रोगी वहाँ से अच्छे होकर या फिर मरकर ही बाहर होते थे। जब कोई मर जाता था तब बादशाह मृतक की सब जायदाद ले लेता था।

यदि रोगी कोई अधिकारी होता था, तो बादशाह पहले पहल उसे देखने जाता था। इसके पीछे दूसरो से उसका समाचार पुछवाता था।

मुगल दरबार में चिकित्सक बहुत सोच-विचार कर परीक्षा करके रखे जाते थे। महल में जब उनका प्रवेश होता था, तब उनको सिर से पैर तक ढाप दिया जाता था। महल मे हिंजड़े चिकित्सक को ले जाते थे। परीक्षा के लिए नब्ज दिखायी जाती थी। रक्त निकालने के समय भी केवल वही स्थान नगा किया जाता था, जहाँ से रक्त निकालना होता था। चिकित्सक को कई बार अप्रिय कार्य—विष देना भी करना पडता था। उसने अपनी पुस्तक में शाहजहाँ को विष देने की घटना का उल्लेख किया है, औरगजेब ने हकीम के द्वारा शाहजहाँ को विष दिलाना चाहा, परन्तु हकीम ने उसे स्वयं खाकर प्राण त्याग दिये।

उस डाक्टर की इतनी सफलता देखकर मुसल्मान हकीम उससे ईर्ष्या करने लगे थे। कई बार उससे भी अनुचित काम को कहा गया (यथा गर्भ गिराने, विष देने के लिए)। मिर्जा सुलेमान बेग की चिकित्सा उसने रक्त निकालकर ही की थी, जब कि हकीम उसका गरम इलाज कर रहे थे, जिससे वह मर जाता। इसी प्रकार से उसने महावत खाँ को विष देने का भी उल्लेख किया है, जिसके लिए उसे उत्तरदायी समझा गया, परन्तु पीछे स्पष्ट हो गया कि उसका इसमें हाथ नही था।

इस प्रकार से हम देखते है कि औरगजेब, शाह आलम के समय मे ही राजमहलो में तथा जनता में यूरोपियन चिकित्सा का प्रवेश हो गया था, उनकी प्रतिष्ठा जमने लगी थी। जब रोगी हकीमो से स्वस्थ नही होते थे, तब इनकी सहायता ली जाती थी, उस समय के हकीम भी इनका मुकाबला नही कर पाते थे।

नाड़ी ज्ञान और सग्रह-ग्रन्थ (रसवाले)

नाड़ी ज्ञान—मुगल काल से पहले रोग को जानने के उपाय तीन प्रकार के (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान) अथवा छ प्रकार के ("पचभि श्रोत्रादिभि प्रश्नेन चेति"—सु०अ० १०।४) थे। प्रश्न का सम्बन्ध होने से नाडी ज्ञान की विशेषता नही दीखती। परन्तु मुगलकाल में जब परदे की प्रथा बहुत बढ़ी हुई थी, तब यह परीक्षा सरल न रहने से नाडीज्ञान का विकास हुआ। यह विकास सबसे प्रथम हकीमो में हुआ होगा, क्योकि उनकी स्थिति इसकी उत्पत्ति के लिए सहायक थी। आक्रामको के साथ उनके हकीमो के द्वारा यह भारतवर्ष में भी आया, इसलिए जब शासन स्थिर हो गया, तब यहाँ के निवासियों ने भी इसे अपना लिया। इसी से सबसे प्रथम

नाड़ी ज्ञान हमको शार्ङ्गधर में मिलता है (शार्ङ्गधर, पूर्व, अ० ३ में)। इससे पता लगता है कि इस समय वैद्य के लिए नाडी ज्ञान आवश्यक हो गया था।

स्पर्श परीक्षा को ही विस्तृत बनाकर उससे नाड़ी ज्ञान का विस्तार किया गया (जिस प्रकार आज श्रवण-शक्ति के ज्ञान से स्टैथसकोप द्वारा रोग ज्ञान होता है, उसी प्रकार त्वचा के स्पर्शज्ञान से रोग का ज्ञान किया जाता था)। नाड़ी गति की धीमी या उतावली, भारी या हलकी, कठिन या मृदु तथा पक्षियो की चाल से समता करके रोग ज्ञान किया जाने लगा। यह परीक्षा भी एक प्रकार से अनुमान पर ही आश्रित है। इसमें रोगी के सब अगो की परीक्षा—प्रत्यक्ष ज्ञान परीक्षा को एक प्रकार से छोड दिया जाता था, जो इस काल में विशेषतः स्त्री-जाति की दृष्टि से आवश्यक था। इसलिए नाडी ज्ञान का विकास हुआ। शार्ङ्गधर से कुछ समय पूर्व ही इसका विकास हुआ होगा, क्योकि इससे पहले के ग्रन्थो में इसका उल्लेख नही है।

शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, अथवा दक्षिण भारत की गदसञ्जीवनी, वैद्यशास्त्र, बृहद्-योग तरगिणी, योगरत्नाकर आदि ग्रन्थो में नाडी ज्ञान का प्रकरण होने के अतिरिक्त नाड़ीशास्त्र पर स्वतन्त्र पुस्तके भी लिखी गयी। इनमें कुछ पुस्तके दक्षिण भारत में और कुछ उत्तर भारत मे लिखी गयी है। इनमें कणाद का नाडीविज्ञान बहुत प्रसिद्ध है। बम्बई मे हिन्दी भाषान्तर और कविराज गगाधर की व्याख्या के साथ यह प्रकाशित हुआ है। श्री यादवजी महाराज ने रावणकृत नाडीविज्ञान ग्रन्थ को अपनी आयुर्वदग्रन्थमाला में प्रकाशित किया है। नाडीविज्ञान सम्बन्धी लगभग छोटे-बडे ४६ ग्रन्थ मिलते है, इनमें बहुत से हस्तलिखित है। प्राचीन ग्रन्थो में से आजकल नाडीविज्ञान, नाडीज्ञान-तत्र, नाडीदर्पण, नाडीज्ञानतरगिणी, नाड़ीज्ञान शिक्षा और नाडाज्ञानदीपिका प्रसिद्ध है। इनमे से रघुनाथप्रसाद रचित नाडीज्ञानतरगिणी गुजराती अनुवाद के साथ १९०८ में प्रकाशित हुई है। नाड़ीदर्पण हिन्दी भाषान्तर के साथ बम्बई में छपा है। शेष चारो कलकत्ता में प्रकाशित हुई हैं।

सक्षेप में नाडी ज्ञान का प्रचार इस देश में १३वी सदी से हुआ है। यह विश्वास हो गया था कि वैद्य लोग नाडी देखकर रोग पहचान लेते है।[1] वास्तव में 'नब्बाज' नब्ज देखने में होशियार हकीम ही थे, उनमे ही यह शब्द प्रसिद्ध था।

---

१. इस सम्बन्ध में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित है। हाथ में नाड़ी पर धागा बांधकर रोग पहचानना, नाड़ी से खाये हुए भोजन का ज्ञान करना आदि बहुत-सी बातें हकीमों और वैद्यों के लिए सुनी जाती है।

वास्तव में नाड़ी ज्ञान अभ्यास के ऊपर आश्रित है। जिस प्रकार वीणा के तारो की झकार द्वारा जाननेवाला व्यक्ति कर्णध्वनि से शब्दलहरी के राग को पहचान लेता है, उसी प्रकार अगुली की स्पर्श मे, नाडी स्पन्दन का अनुभव लेकर चिकित्सक अपने ज्ञान से रोग को समझता है।[1] इसके अभ्यास से रोग को समझनेवाले अनुभवी वैद्य और हकीम अब भी मिलते है। जिससे इस परीक्षा, इस ज्ञान का भी महत्त्व है, विशेषत जब स्टैथ्सकोप द्वारा श्रवणेन्द्रिय रोगज्ञान मे सहायक है. उसी प्रकार से अगुली के माध्यम से त्वगिन्द्रिय का भी रोग परीक्षा मे महत्त्व मानना पड़ता है।

रस-योगवाले ग्रन्थ—गुप्त काल के पीछे यदि भारत के चरमोत्कर्ष का कोई समय आया तो वह मुगल काल ही था। देश की सम्पदा शाहजहाँ के समय फूट पडी थी, जिसके कारण यूरोप के लोग ललचाये और इधर आने लगे। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का समय शान्ति तथा ऐश्वर्य का युग था। इस समय भोग-विलास ऐश्वर्य बहुत अधिक बढ गया था। इसी विलासमय जीवन को पूरा करने तथा इससे उत्पन्न रोगो को जल्दी अच्छा करने के लिए रसविद्या का चिकित्सा में प्रवेश हुआ। इससे प्रथम रसशास्त्र कीमियागरी-धातुवाद-सोना या चाँदी बनाने के लिए सिद्धो के पास था। उनमे ही इसका प्रचार था, जो इसको बहुत छिपाकर रखते थे, सर्व-साधारण को उसका ज्ञान नही देते थे। परन्तु इस समय मे इसका उपयोग धीरे-धीरे चिकित्सा मे बढा। इससे पूर्व धातुओ का उपयोग जो मिलता है, वह चूर्ण-रज के रूप मे मिलता है। इसमे भी बहुत कम धातुओ का उपयोग है, प्रवाल का उपयोग चरक मे चि० अ० १८।१२५, चि० अ० २६।५६ मे है, वह भी चूर्णरूप में है—जो वर्त्त-मान पिष्टी है। भस्म तथा पारे का उपयोग इसी काल में प्रारम्भ होता है।

---

१. 'जले स्थले चान्तरिक्षे प्रसिद्धा यस्य या गतिः।
सैवोपमानमत्र स्यात् प्रसिद्धगुणयोगतः॥
न शास्त्रपठनाद् वापि शश्वदध्ययनादपि।
स्पर्शनादिभिरभ्यासादेव नाडीविवेकभाक्॥
नाड़ीगतिरियं सम्यग् अभ्यासेनैव गम्यते।
नान्यथा शक्यते ज्ञातुं बृहस्पतिसमैरपि॥' (आयुर्वेदसंग्रह)

नाडी ज्ञान के सम्बन्ध में जानकारी के लिए ताराशंकर वन्द्योपाध्याय के बँगला में लिखित, साहित्यसंसद अकादमी दिल्ली से हिन्दी में प्रकाशित ('आरोग्यनिकेतन') उपन्यास को इस सम्बन्ध में देखना अच्छा है।

सामान्य रूप से चक्रदत्त में कुछ धातुओ का उपयोग आ गया है, परन्तु पारे के साथ धातुओ का उपयोग इसी समय से प्रारम्भ होता है।[1]

अफीम और सखिया का उपयोग जो इस काल में चला वह स्पष्ट मुसलमान हकीमो की देन है। इससे पूर्व चिकित्सा में इतनी तेज औषधियाँ नही बरती गयी थी। परन्तु रहन-सहन, जीवन के ऐश आराम के लिए इन वस्तुओं का उपयोग प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे इनका चिकित्सा में भी उपयोग बढा। गुप्त काल में मद्य, लशुन, प्याज, मास आया था, इस काल मे मद्य के साथ अफीम, भाग, सखिया चिकित्सा में आते हैं। ये वस्तुएँ हमको हकीमो से मिली है, इसमें कुछ भी सन्देह नही। इनका सबसे प्रथम उल्लेख शार्ङ्गधर सहिता मे मिलता है।

शार्ङ्गधर संहिता

प्रकाशित शार्ङ्गधर संहिता में शार्ङ्गधर को दामोदर का पुत्र कहा गया है ("इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां श्रीशार्ङ्गधरसहितायाम्")। ग्रन्थकर्त्ता ने इस सहिता में अपने विषय में कुछ नही लिखा। परन्तु शार्ङ्गधरपद्धति में ग्रन्थकर्त्ता ने अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार शाकम्भरी देश में हम्मीर नाम का राजा हुआ है, जोकि चौहान वश का था। उसकी सभा में राघवदेव नाम का ब्राह्मण था। उसके तीन पुत्र हुए—गोपाल, दामोदर और देवदास। दामोदर के तीन पुत्र हुए, जिनमे शार्ङ्गधर सबसे बडे, इनसे छोटे लक्ष्मीधर और सबसे छोटे कृष्ण थे। शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधरपद्धति बनायी।

शार्ङ्गधरपद्धति में जिस हम्मीर का उल्लेख है, वह मेवाड का राजा हम्मीर ही दीखता है। वह स्वय विद्वान् और विद्वानो का आदर करता था। उसी के नाम पर हम्मीरकाव्य सस्कृतसाहित्य में प्रसिद्ध है। उसकी सभा में विद्वान् रहते थे। उसका समय १२२६ ई० का है। शाकम्भरी देश से साभर झील का प्रदेश अपेक्षित है।[2] इसलिए शार्ङ्गधरपद्धति के ग्रन्थकर्त्ता दामोदर हैं।

---

१. इस विषय में श्री यादवजी त्रिकमजी लिखित 'रसामृतम्' की भूमिका देखनी चाहिए।

२. 'पुरा शाकम्भरीदेशे श्रीमान् हम्मीरभूपतिः।
चाहुवाणान्वये जातः ख्यातः शौर्य इवार्जुनः॥
तस्याभवत्सभ्यजनेषु मुख्यः परोपकारव्यसनैकनिष्ठः।
पुरन्दरस्येव गुरुर्गरीयान् द्विजाग्रणी राघवदेवनामा॥

शार्ङ्गधरसंहिता में ग्रन्थकर्ता ने केवल इतना कहा है कि मैं शार्ङ्गधर सज्जनों को प्रसन्न करने के लिए मुनियों से कहे और चिकित्सकों से अनुभूत योगों का संग्रह करता हूँ। थोडी आयु और कम बुद्धिवाले जो कि सब ग्रन्थ नहीं पढ़ सकते उनके लिए यह संहिता है (अ० १३।१२९)। इसी से लघुत्रयी में इसका स्थान है। इस संहिता में ग्रन्थकार ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है। इससे यह संहिता पद्धति से भिन्न है।

संहिता और पद्धति ये दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। पद्धति में चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख बिलकुल नहीं हैं। शार्ङ्गधरपद्धति में लोहे पर पानी चढाने (Tempering) का एक योग दिया है जिसमें पिप्पली, सैन्धवलवण, कूठ को गोमूत्र में पीसकर लेप बनायें। इसे शस्त्र पर लगाकर आग में गरम करके पानी में बुझाना चाहिए, इसी को सुश्रुत में पायना कहा है (पिप्पली सैन्धव कुष्ठ गोमूत्रेण तु पेषयेत्)। शार्ङ्गधरसंहिता में ऐसा कोई उल्लेख पायना विषयक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि दोनों का विषय भिन्न है। विषय भिन्न होने से लेखक भी पृथक् मानने होंगे। पद्धतिकार ने अपने को वैद्य नहीं कहा है, केवल कवि कहा है। भाषा, धार्मिक भावना, कवित्व शक्ति दोनों में भिन्न होने से दोनों के कर्ता पृथक् हैं। शार्ङ्गधरसंहिता का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। इस दृष्टि से भी पद्धतिकार से १५० वर्ष के लगभग पूर्व वैद्य शार्ङ्गधर का समय आता है। शार्ङ्गधर में अफीम का उल्लेख होने से यह १२०० ई० के पूर्व की नहीं हो सकती (शुक्त की व्याख्या में हेमाद्रि ने शार्ङ्गधर म० ख० १०।७ में से शुक्त का लक्षण उद्धृत किया है—अष्टांगहृदय सू० ५।७६ की टीका)। हेमाद्रि का समय १२६०—१३०९ ईसवी है।

गाम्भल्यानोदस्येभ्यासमंना बभूवुस्तनयास्तदीयाः।
नेत्रावतारा इव चन्द्रमौलेरपाकृतध्वान्तगणास्त्रयोऽपि॥
तेषां मध्ये यस्तु दामोदरोऽभूदुत्पाद्य श्रीनात्मजान्वीतरागः।
भागीरथ्यां शुद्धदेहं विधाय ज्ञानाद्यात्मन्येव निष्ठां जगाम॥
ज्येष्ठः शार्ङ्गधरस्तेषां लघुर्लक्ष्मीधरस्ततः।
कृष्णोऽनुजस्तेषां त्रयस्त्रेताग्नितेजसः॥

श्री परशुराम शास्त्रीजी ने अपनी भूमिका शार्ङ्गधर संहिता में शाकम्भरी देश से अम्बाले का प्रदेश लिया है, वह ठीक नहीं। शाकम्भरी देवी का मन्दिर सहारनपुर जिले में भी है। शाकम्भरी नाम से साँभर का प्रदेश ही लेना उचित है।

शार्ङ्गधरपद्धति में बाल काला करने के कई प्रयोग दिये गये हैं। यथा—छ: भाग त्रिफला, दो भाग अनार की मूल, तीन भाग हल्दी, इन सबको पीसकर मिला ले; इस में साठी चावल एक भाग तथा भांगरे का रस बीस भाग मिलाना चाहिए। इस सारे को लोहे के पात्र में रखकर लोहे के ढक्कन से ढाँपकर इसे घोड़े की लीद में एक मास तक गाड़ देना चाहिए। फिर इसको निकालकर इसमें दूध मिलाकर इसे सिर और माथे पर लगाना चाहिए। ऊपर से एरण्ड के पत्ते बाँधकर रात को सो जाना चाहिए। प्रातः स्नान करना चाहिए। इस प्रकार करने से बाल काले हो जाते हैं और यदि यही प्रयोग सात-सात दिन छोड़कर किया जाय तो मनुष्य के बाल सदा काले रहते हैं। इसी प्रकार के बाल काला करने के कई योग शार्ङ्गधरपद्धति में हैं। शार्ङ्गधरसंहिता में इस प्रकार के योग नहीं हैं।

शार्ङ्गधरसंहिता तीन खण्डों में है। पहले खण्ड में परिभाषा, औषध लेने का समय, नाड़ी परीक्षा, दीपन-पाचनाध्याय, कल्कादि विचार, सृष्टिक्रम और रोग-गणना के सात अध्याय हैं। मध्यम खण्ड में स्वास, क्वाथ, फाट, हिम, कल्क, चूर्ण, गुग्गुलु, अवलेह, स्नेह, आसव, धातुओं का शोधन-मारण, रसशोधन-मारण, और रसयोग हैं। इस खण्ड में एक प्रकार से औषध-निर्माण प्रक्रिया सम्पूर्ण आ जाती है, साथ ही सब प्रसिद्ध योगों का संग्रह है। शार्ङ्गधर के तीसरे खण्ड में स्नेहपान विधि, स्वेद विधि, वमन विधि, विरेचनाध्याय, वस्ति, निरूह वस्ति, उत्तर वस्ति, नस्य, गण्डूष, कवल, धूमपान, लेप, अभ्यंग, रक्तस्राव विधि और नेत्रकर्म विधि की व्याख्या है।

ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ग्रन्थसमाप्ति में कहा है कि आयुर्वेद में जो बहुत-सी संहिताएँ हैं, उनमें से थोड़ा सार लेकर अल्पबुद्धि एवं थोड़ी आयुवालों के लिए यह रचना की है। इसमें आयुर्वेद का सार भाग जरूरी, अंश पूर्णतः आ गया है। कुछ नवीन विचार भी हैं, जैसे—नाभि में स्थित प्राणवायु हृदयकमल के मध्य भाग को स्पर्श करते हुए विष्णुपदामृत को पीने के लिए कण्ठ से बाहर आता है। विष्णुपदामृत को पीकर पुनः जल्दी से पीछे चला जाता है (प्रथम खण्ड ४८।४९)। आयु का लक्षण शरीर और प्राणवायु का संयोग कहा है (चरक का लक्षण—"शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगो जीवितम्" सू. अ. १।४२ है)। शार्ङ्गधर का लक्षण बहुत सरल है।

शार्ङ्गधर संहिता के ऊपर दो टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। ये टीकाएँ संस्कृत में हैं। इनमें एक आढमल्ल की बनाई दीपिका है, जो रचयिता के नाम से (आढमल्ल नाम से) प्रसिद्ध है। दूसरी टीका काशीराम वैद्य रचित 'गूढार्थदीपिका' है।

इनमें आढमल्ल गोरपुर के श्रीवास्तव्य (संभवतः श्रीवास्तव) कुल के वैद्य

चक्रपाणि के पुत्र भावसिंह के पुत्र थे। इन्होंने हस्तीकान्तपुरी के राजा जत्रसिंह के राज्य में टीका लिखी है। हस्तीकान्तपुरी के पास चर्मण्वती नदी बहती थी (चर्मण्वती-चबल पूर्वी राजस्थान की नदी है)।[1] निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित श्री परशुराम वैद्य द्वारा सम्पादित शार्ङ्गधरसहिता में इनको जो बगाल के प्रसिद्ध चक्रपाणि का वशज लिखा है, वह ठीक नही है। चक्रपाणि लोध्रावली कुल मे उत्पन्न हुए थे, इनका कुल श्रीवास्तव्य है (आज भी इस तरफ 'श्रीवास्तव' लोग मिलते है)। ग्रन्थ के अन्त में शकाब्द दिया है, उसमें ग्यारह के आगे सख्या लुप्त है। यदि इसमे कोई भूल न हो तो इसे ११९९ शक माना जा सकता है, इसके अनुसार १२७७ ईसवी आता है। इस समय में जैसलमेर के अन्दर जैतसी नाम का एक राजा हो भी चुका है। इसलिए आढ़मल्ल का समय तेरहवी शती के पीछे का नही होना चाहिए।

शार्ङ्गधरसहिता के दूसरे टीकाकार काशीराम हैं, जिन्होने शाह सलीम के समय में टीका लिखी है ("श्रीमत्शाहसलेमस्य राज्ये कन्यागते रवौ")। शाह सलीम अकबर का पुत्र। इसलिए इनका समय सोलहवी शती है। यह काशीराम कृष्णभक्त थे।

शार्ङ्गधरसहिता के हिन्दी, गुजराती, बँगला, मराठी में अनुवाद हुए हैं, जिससे पता चलता है कि इसका प्रचार उत्तर भारत तथा मध्य भारत मे विशेष रहा। माधव-निदान के समय से सग्रह ग्रन्थ बनने का जो क्रम चला वह इस समय तक समाप्त नही हुआ—अपितु आगे और भी बढ़ा। उन सग्रहो मे शार्ङ्गधरसहिता भी सम्मिलित कर ली गयी। ये सग्रह मुख्यत. कायचिकित्सा विषयक है। इस प्रकार से बने ग्रन्थो का उल्लेख आगे किया गया है, जिनमें से कुछ मुख्य ग्रन्थो का सामान्य परिचय और शेष केवल नाम दे दिये गये है।

शार्ङ्गधर की भाँति यह एक बडा सग्रह है। इसमें शार्ङ्गधर सहिता से अधिक विषयों का समावेश है। इसमें (११७-३७ मे) फिरग रोग का नाम है इससे स्पष्ट है कि भावप्रकाश से पूर्व इसकी रचना हुई है। इसमे पोस्त, मस्तकी आदि यूनानी औषधियो का उल्लेख है ("पोस्तक तुलसी दीप्य नागवल्लीदलं तथा"–११८।७;

---

१. 'हस्तीकान्तपुरी पुरा पुरजिता काशीव विद्वज्जनै-
र्व्याप्ता यत्र सरः सरिद्गुणवरा चर्मण्वती पापहा।
यस्यां हृद्गतवा[illegible]: क्ष्मापतिः,
ख्यातो धर्म इवास्ति धर्मगतिषु श्रीजैत्रसिंहः प्रभुः॥' (टीका. ९)

बृहद्योगतरंगिणी।

"मस्तकी दरद तुत्थं रजनी च पृथक्-पृथक्" ११८।१३)। इसके साथ अहिफेन, सखिये का उपयोग कई स्थानो पर आता है ("दरदः पारदश्चैव सितमल्लश्च तालक."—५९।४०)।

बृहद्योगतरगिणी में अपने समय के सब ग्रन्थो का उपयोग मिलता है। तीसट से लेकर शार्ङ्गधर संहिता तक इसमें सगृहीत हैं। इस समय तक जो भी रसग्रन्थ प्रसिद्ध थे उनसे भी सग्रह किया गया। इसलिए इसमें रसयोगों का संग्रह बहुत अच्छी तरह मिलता है। रत्नगर्भपोटली रस, राजमृगाक आदि योग इसमें हैं।

इसमें एक सौ अडतालीस तरग है। प्रथम तरंग में चिकित्सा सम्बन्धी तथा रोग सम्बन्धी सामान्य सूचनाएँ हैं। दूसरे तरंग में गर्भरचना, शरीरविज्ञान, तीसरे में मान-परिभाषा, चौथे में औषधियो की आवश्यक जानकारी, परिभाषा है। इसके आगे स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य, धूमपान, रक्तमोक्षण पृथक्-पृथक् तरंगों में कहे हैं, तेरहवें तरग में पाकशाला—भोजन सम्बन्धी विवेचन है। इसके आगे रसोइयो और पाकशाला के अध्यक्ष का वर्णन है। पन्द्रहवें में ऋतुचर्या, सोलहवे में सिद्धान्नादि का गुण कहा गया है। इसमें रोटी, पूरी, बडी आदि वस्तुओं का भी उल्लेख है। इसके आगे दिनचर्या, नस्य, अजन, स्नान तथा भिन्न-भिन्न पात्रो का वर्णन है। अठारहवें में रात्रिचर्या है। उन्नीसवे से प्रारम्भ करके चालीसवे तरग तक निघण्टु का विषय है। इसमें रस, वीर्य, विपाक की विवेचना करने के साथ-साथ प्रत्येक वस्तु के गुण-दोष का वर्णन किया गया है। इकतालीसवे तरग में इस शास्त्र का विषय धातुओ का जारण-मारण आता है। बयालीस में पारद के सस्कार, यन्त्र विचार, मुद्राएँ है। तेतालीसवें में उप-रसों का उल्लेख है। चौवालीसवें में अरिष्ट ज्ञान है। पैंतालीस से तिरपन तक रोगी की परीक्षा विधि है; इसमें नाड़ी, जिह्वा, स्वप्न, दूत, शकुन, वर्ण, स्वर आदि का विचार है। चौवनवें में साध्यासाध्य और पचपनवें में भैषज्य ग्रहण विधि है। छप्पन से लेकर एक सौ सैंतालीस तक रोगो के निदान और उनकी चिकित्सा है। इसके आगे अन्तिम तरंग मे सर्व रोग चिकित्सा और ग्रन्थ-प्रशस्ति है।

इस ग्रन्थ के कर्त्ता 'त्रिमल्ल भट्ट' है। ये तैलग ब्राह्मण थे, इन्होने अपने रहने का स्थान 'त्रिपुरान्तक' का नगर बताया है ("तैलङ्गस्त्रिपुरान्तकस्य नगरे योगैस्त्रि-मल्लो द्विज.")। अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध में स्वय इन्होने कहा है—

'अत्र ग्रन्थे भूरितन्त्रात्तसारे सद्भिर्वत्तं दूषणं भूषणं नः।
छिन्नं दग्धं घृष्टमष्टापदं हि च्छायामच्छामृच्छति स्वेच्छयैव॥'

त्रिमल्ल भट्ट का समय शार्ङ्गधर के पीछे और भावप्रकाश के कर्त्ता भावमिश्र से

पूर्व होना चाहिए। भावमिश्र के वर्णित फिरंग रोग का पृथक् उल्लेख इसमें नहीं है, परन्तु उपदंश रोग के लिए कहे गये 'उपदंशान्ध सूर्यरस' की फलश्रुति में फिरंग रोग का नाम (११७।२७) आता है। साथ ही 'मस्तकी' का उल्लेख जो कि पहले ग्रन्थों में नहीं है, इसमें मिलता है ('विडङ्ग मस्तकी चैव'—११७।३३)। मस्तकी रूमी मस्तकी है; जो कि यूनानी औषधि है। भावमिश्र ने फिरंग रोग का वर्णन विस्तार से किया है। फिरंगी शब्द पुर्तगाल से आए व्यक्तियों के लिए प्रथम प्रचलित हुआ। इनका आने का सबसे प्रथम समय १४९७ ई० है, जब कि वास्कोदगामा कालीकट के किनारे पहुँचा। भावप्रकाश के कर्ता के समय यह फिरंग रोग विशेष रूप से प्रसारित हुआ था; इसी से उन्होंने इसे पृथक् लिखा। त्रिमल्ल भट्ट के समय इसको उपदंश का ही एक रूप समझा जाता था। इसलिए पृथक् उल्लेख नहीं किया। इससे भावमिश्र के समय से पचास साठ वर्ष पूर्व इसका समय रख सकते हैं, जो पन्द्रहवीं शती के अन्त का या सोलहवीं शती के प्रारम्भ का है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति १७३३ शकाब्द की लिखी मिली है। जोली ने लिखा है कि त्रिमल्ल के एक ग्रन्थ की प्रति १४९८ की मिली है (पृ० २)। इसलिए इसका समय सोलहवीं शती के प्रारम्भ का मानना उचित है।

इस ग्रन्थ में वाग्भट, चरक, सुश्रुत, वृन्द, तीसट, शार्ङ्गधर, रसरत्नप्रदीप, राजमार्त्तण्ड, रसमंजरी, रसेन्द्रचिन्तामणि, सारसंग्रह आदि ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं। श्री दुर्गाशंकर शास्त्री जी का कहना है कि शंखद्राव का वर्णन इसी में प्रथम मिलता है। इसमें भावप्रकाश का नाम नहीं है, नाम चक्रदत्त का भी नहीं है। इसका कारण यही है कि ठेठ दक्षिण में बंगाल की पुस्तकों का प्रचार नहीं हुआ था। चक्रदत्त का काम वृन्द के सिद्ध योग से हो गया होगा। इसलिए नाम का इतना महत्त्व नहीं, जितना कि फिरंग रोग तथा शंखद्राव के उल्लेख का है।

ज्वरसमुच्चय और ज्वरतिमिरभास्कर

ज्वरसमुच्चय नाम के ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ नेपाल के राजगुरु स्वर्गीय श्री हेमराज शर्मा के संग्रह में हैं, ऐसा उन्होंने काश्यपसंहिता के उपोद्घात में लिखा है। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि इनमें एक प्राचीन अक्षरों में लिखित, परन्तु अपूर्ण पुस्तक है। इसके अन्त में नेपाली संवत् ४४ दिया है। दूसरी प्रति नेवार अक्षरों में लिखी है; लिपि के अनुसार इसका समय भी ८०० वर्ष होना चाहिए। इसमें आश्विन, भारद्वाज, कश्यप, चरक, सुश्रुत, भेड, हारीत, यात्र, जतूकर्ण, कपिलबल आचार्यों के ज्वर सम्बन्धी वचन उनके नाम के साथ संगृहीत हैं। इसमें ज्वर सम्बन्धी

काश्यप के बहुत से वचन उद्धृत हैं। काश्यपसहिता के उपोद्घात मे ये वचन इसमें से उद्धृत हैं। इससे इतना स्पष्ट है कि प्राचीन काल से पृथक्-पृथक् रोगविषयक ग्रन्थ बनने लगे थे (शार्ङ्गधर के नाम से 'त्रिशती वैद्यक' नाम का एक ग्रन्थ केवल ज्वर से ही सम्बन्धित है, यह बहुत पीछे का है)।

ज्वरतिमिरभास्कर नामक ग्रन्थ भी ज्वरसमुच्चय की भाँति ज्वर से ही सम्बन्धित है। इसके रचयिता का नाम चामुण्डा है। चामुण्डा का ग्रन्थ पीछे का होने से इसमें सन्निपातो का वर्णन है, जिसका उल्लेख पुराने ग्रन्थो मे होना सम्भव नही। बीकानेर में ज्वरतिमिरभास्कर की हस्तलिखित एक प्रति है, जो १४८९ की लिखी है (जोली की मैडिसिन, पृष्ठ ४)। रससकेतकलिका भी चामुण्डा की लिखी होनी चाहिए, क्योकि एक हस्तलिखित प्रति में सवत् १५३१ (१४७५ ईसवी) लिखा है।

त्रिशती

इसी शतक मे, सम्भवत १५वी शती में वैद्य देवराज के पुत्र शार्ङ्गधर ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमे केवल ज्वर का निदान और चिकित्सा ही लिखी है। क्योकि सब रोगो का राजा ज्वर है, इसलिए उसी का ज्ञान कराने के लिए इसे बनाया है। इसमें पशु पक्षी-वनस्पतियो मे होनेवाले ज्वर के नामो का उल्लेख किया हुआ है। ज्वर तीसरे दिन, चौथे दिन क्यो आता है, इसका सुश्रुत के अनुसार वर्णन किया गया है। दोष जिस-जिस प्रकार से आमाशय में पहुँचते है, उसी क्रम से ज्वर होते है (२११-२१४)। सन्निपात ज्वर की चिकित्सा विशेष रूप से है।

शार्ङ्गधर नागर ब्राह्मणो के वश में उत्पन्न हुए थे। यह इसी लिए सम्भवतः गुजरात के रहनेवाले थे। इन्होने कविता का रस देने के साथ-साथ (कवित्वश्रुति-कौतुकात्) ज्वर की चिकित्सा कही है। इसकी सस्कृत टीका वैद्य वल्लभ भट्ट ने की है। टीका का नाम भी 'वैद्यवल्लभा' रखा है। यह ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

वीरसिंहावलोक

आयुर्वेद मे पुनर्जन्म तथा पूर्व कर्म को माना गया है। इसलिए कुछ व्याधियाँ कर्मजन्य मानी गयी है ("निर्दिष्ट दैवशब्देन कर्म यत् [illegible]। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते। न हि कर्म महत् किञ्चित् फल यस्य न भुज्यते। क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगा प्रशम यान्ति तत्क्षयात् ॥" चरक शा अ [illegible])। प्राचीन ग्रन्थो मे इस पर विशेष लेख नही मिलता। पीछे से [illegible] वैद्यक के विचार मिलाकर कर्मविपाक सम्बन्धी ग्रन्थ बने।

ज्योतिष और आयुर्वेद का समन्वय अष्टागसग्रह के समय प्रारम्भ हो गया था। ("आधानजन्मनिधनप्रत्यवराख्य विपत्करे। नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्न. क्लेशाय मरणाय वा॥ ज्वरस्तु जात षड्रात्रादश्विनीषु निवर्त्तते। भरणीषु च पञ्चाहात् सप्ताहात् कृत्तिकासु च॥" इत्यादि सर्वरोग निदान १।२१-३२)। पीछे से हारीत सहिता और वीरसिंहावलोक में विस्तार से इसकी चर्चा मिलती है।[1]

वीरसिंहावलोक में ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रोगो के कारण तथा उपाय लिखित हैं। इस ग्रन्थ के लेखक तोमर वश के वीरसिंह है। इनका समय १३८३ ईसवी है। इसी प्रकार का दूसरा ग्रन्थ 'सारग्राहक कर्मविपाक' है; जिसकी हस्तलिखित प्रति मिली है। जोली के अनुसार इसका समय १३८४ ई० है (पृष्ठ ५)। वीरसिंहावलोक के सम्बन्ध में लेखक ने स्वय कहा है— —

'दैवज्ञागमधर्मशास्त्रनिगमायुर्वेददुग्धोदधी–
नामथ्य स्फुरदात्मबुद्धिगिरिणा विश्वोपकारोज्ज्वलम्।
आलोकामृतमातनोति विबुधैरासेव्यमत्यद्भुतं
श्रीमंतोमरदेववर्मतनयः श्रीवीरसिंहो नृपः॥'

मोहमन विलास

शार्ङ्गधर के समय से पूर्व मुसलमानो का असर वैद्यक-शास्त्र पर आ गया था; इसी से अफीम आदि का उल्लेख मिलता है। महमूद शाह के समय मे (१४११ ई०)

---

१. उपलब्ध हारीतसंहिता बहुत ही अर्वाचीन समय की है। इसमें कर्मजन्य रोगों के लिए विस्तार से लिखा गया है, यथा—

'कर्मजा व्याधयो ये च तान्वद त्वं महामते। आत्रेय उवाच—
कर्मजा व्याधयः सर्वे भवन्ति हि शरीरिणाम्।
सर्वे नरकरूपाः स्युः साध्यासाध्या भवन्त्यमी॥ (२।१।५.)
ब्रह्मघ्नो जायते पाण्डुः कुष्ठी गोवधकारकः।
राजघ्नो राजयक्ष्मी स्यादतिसार्योपघातकः॥
स्वाम्यङ्गनाभिगमने मेहा रोगा भवन्ति हि।
गुरुजायाप्रसंगेन मूत्ररोगोऽश्मरीगदः॥
स्वकुलजाप्रसंगाच्च जायते च भगन्दरः॥' (२।१।१३-१५.)

इनकी चिकित्सा दान, पुण्य, प्रायश्चित्त से बतायी गयी है।

कालपी के मोहमन विलास नामक मुसलिम ने एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका विषय वाजीकरण और स्त्री-बालको की चिकित्सा था (जोली मेडिसिन—५ पृष्ठ)।

शिशु रक्षारत्न

पृथ्वीमल्ल ने बालको की चिकित्सा पर पृथक् ग्रन्थ लिखा था। इसमे मदनपाल-निघण्टु का उल्लेख है। इसलिए जोली इसका समय १४००ई० से पीछे का मानता है।

शिशुरोग पर कल्याण का बालतत्र नामक एक ग्रन्थ है। यह काशी मे १५८८ ईसवी (१६४४ विक्रमी) में बना है। इसके कर्त्ता वैद्य कल्याण का मूल स्थान गुजरात था। ये प्रश्नोरा ब्राह्मण थे। तीसरा ग्रन्थ रावणकृत 'कुमारतत्र' है, जिसका समय ज्ञात नही है। यह ग्रन्थ भाषाटीका के साथ खेमराज श्रीकृष्णदास के यहाँ बम्बई में छपा है।

स्त्री-विलास

सोलहवी शती के अन्त में या सत्रहवी शती के अन्दर गुजरात के श्रीगौड जाति के वैद्य देवेश्वर ने स्त्री-विलास नाम का एक ग्रन्थ लिखा था, इसमे स्त्री-रोग-चिकित्सा का वर्णन है।

काश्यप संहिता

इस नाम से विष-चिकित्सा सम्बन्धी एक ग्रन्थ १९३३ में मैसूर में छपा है, इसका समय निश्चत नही।

भावप्रकाश

शार्ङ्गधर, वगसेन और बृहद्योग तरगिणी के पीछे भावप्रकाश ही हेतु-लिंग-औषध रूप में सम्पूर्ण चिकित्सा का ग्रन्थ है। लघुत्रयी मे इसका स्थान होने से इसका प्रचार भी बहुत हुआ। भावप्रकाश के कर्त्ता भावमिश्रने अपने पिता का नाम श्री मिश्र-लटकतनय कहा है। इससे अधिक अपना परिचय नही दिया। जोली इसको बनारस का रहनेवाला बताते है (जोली मेडिसिन पृ० २)। श्री गणनाथ सेन इसे कान्य-कुब्ज (कन्नौज) का कहते हैं। भाव प्रकाश में फिरग रोग, चोपचीनी, शीतला आदि का उल्लेख मिलता है। फिरगी-पोर्चगीज इस देश में पन्द्रहवी शती मे आये अवश्य, परन्तु उत्तर भारत से इनका सम्बन्ध सोलहवी शती मे हुआ, जब इन्होने बगाल मे व्यापार करना प्रारम्भ किया। व्यापार के सम्बन्ध मे इनका भारतीयो के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध हुआ। जिसके कारण यहाँ जो नया रोग उत्पन्न हुआ, उसका नाम

भावमिश्र ने फिरंग रखा। इसलिए इसका समय सोलहवी शती से पहले नहीं आता। जोली का कहना है कि टुवीन्जन में भावप्रकाश की एक प्रति १५५८ ईसवी की है, इसलिए इससे पीछे का यह नही।

भावमिश्र ने शारीर वर्णन सुश्रुत-चरक में से गतानुगतिक रूप से उद्धृत किया है (प्रत्यक्ष शारीर)। चरक शब्द के अर्थ में मिथ्यावाद इसी से प्रारम्भ हुआ है; जिसमें इनको शेषनाग का अवतार बताकर भ्रम उत्पन्न किया गया है।[1]

वाग्भट के पीछे बने सर्वांग-चिकित्सावाले ग्रन्थों में योगतरगिणी (बृहत्) के बाद यही आता है। शल्य-शालाक्य की विवेचना में उसका ज्ञान बहुत ही संक्षिप्त है। नये प्रचलित योगो का सार लिखा गया है। चोपचीनी का फिरंग रोग में उल्लेख भावमिश्र ने ही किया है। लोक में प्रसिद्ध शीतला का वर्णन इसी ने किया है। शीतलास्तोत्र इन्ही का प्रथम आविष्कार है अथवा कही से उद्धृत किया है, यह पता नही। इतना ठीक है कि उस समय के विचारो का प्रतिबिम्ब इस ग्रन्थ मे पूर्णरूप से मिलता है। आम्रपाक, मदनमजरी वटी आदि नये योग भी इसमें हैं।

भावप्रकाश के पूर्व खण्ड, मध्यम खण्ड और उत्तर खण्ड ये तीन खण्ड हैं। उत्तर खण्ड बिलकुल छोटा है। पूर्व खण्ड और मध्यम खण्ड प्रथम भाग और द्वितीय भागो में विभक्त है। प्रथम खण्ड में अश्विनीकुमार और आयुर्वेद के आचार्यों की उत्पत्ति से प्रारम्भ करके सृष्टिक्रम, गर्भ प्रकरण, दोष और धातु वर्णन, दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि विषय देकर पीछे निघण्टु दिया है। इसमे प्रतिनिधि द्रव्यों का भी उल्लेख है। पक्वान्न का भी उल्लेख इसमें है। निघण्टु क्रम राजनिघण्टु आदि के अनुसार ही है। पूर्व खण्ड के दूसरे भाग में मान परिभाषा, धातुओ का जारण-मारण, पच कर्म विधि है। मध्यम खण्ड में ज्वर आदि रोगो की चिकित्सा है। इस चिकित्साक्रम में शोढल की भाँति शल्य-शालाक्यादि क्रम नही अपनाया। अन्तिम उत्तर खण्ड में वाजीकरण अधिकार है। इस प्रकार से अपने समय की चिकित्सा पद्धति का अनुसरण किया गया

---

१. चरक एक प्रकार के शिष्य होते थे, जो कि गुरु के पास अपना अध्ययन समाप्त करके देश-देशान्तरो में घूमकर ज्ञान प्राप्त करते थे (जैसे पाणिनि)। पाणिनि में 'माणवचरकाभ्यां खञ्' (५।१।११) सूत्र में माणव के साथ चरक का उल्लेख किया है। वैशम्पायन का नाम भी चरक पड़ गया था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ज्ञान प्राप्त करने या देनेवालों के लिए चरक शब्द था (फारसी में चरक चक्र को कहते है)।

है। मुसलमानो के तीन सौ वर्ष के शासन मे भी प्रचलित यूनानी वैद्यक के वैद्यों की आँखो के सामने होने पर भी उसका असर इन पर नही हुआ। सका सबूत यह भावप्रकाश है। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि हममें उदारता की कमी रही और हमने दूसरो से कुछ भी सीखा नही; अपने तक ही सीमित रहे।

भावमिश्र की बनायी 'गुणरत्नमाला' नाम की हस्तलिखित एक पुस्तक इडिया आफिस के पुस्तकालय में है, ऐसा जोली का कहना है (जोली मेडिसिन पृ ३)।

टोडरानन्द

सोलहवी शती का दूसरा ग्रन्थ टोडरानन्द है, इसे अकबर के मन्त्री टोडरमल का लिखा कहा जाता है। अकबरी दरबार में टोडरमल की विद्वत्ता के सम्बन्ध में लिखा गया है—"इनकी विद्या सम्बन्धी योग्यता केवल इतनी ही जान पडती है कि अपने दफ्तर के लेख आदि भली भाँति पढ-लिख लेते थे। लेकिन इनकी तबीयत नियम आदि बनाने और सिद्धान्त निश्चित करने में इतनी अच्छी थी कि उसकी प्रशंसा नही हो सकती।" (भाग ३, पृष्ठ १३९)

इसी में आगे चलकर लिखा है कि "राजा साहब ने हिसाब-किताब के सम्बन्ध में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी। उसी के गुर याद करके बनिये और महाजन दुकानों में और देशी हिसाब जाननेवाले घरों और दफ्तरो के कामो में बडे-बडे अद्भुत कार्य करते है।" (भाग ३, पृष्ठ १४२)

इससे अनुमान होता है कि इनके आश्रित या प्रशसक किसी विद्वान् ने इनके नाम से यह पुस्तक लिख दी है। टोडरमल खत्री थे। इनका जन्म पजाब में हुआ था। एशिया सोसायटी के अनुसार इनका जन्म-स्थान अवध प्रान्त का लहरपुर नामक स्थान है। विधवा माता ने अपने इस होनहार पुत्र को बहुत ही दरिद्रता की अवस्था में पाला था।

योगचिन्तामणि

सोलहवी अथवा सत्रहवी शताब्दी मे जैन हर्षकीर्त्ति सूरि का लिखा योगचिन्तामणि ग्रन्थ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६६६ की प्राप्त हुई है (जोली मेडिसिन पृ० ३)। इसमें फिरग रोग का वर्णन है, इस दृष्टि से यह भावप्रकाश के पीछे बना प्रतीत होता है।

वैद्यजीवन

सत्रहवी शताब्दी में बना, सक्षिप्त परन्तु चमत्कारमय सुन्दर काव्य वैद्यजीवन है। इसके लेखक कवि लोलिम्बराज है। यह ग्रन्थ सक्षिप्त तथा सुन्दर, मनोहर-ललित

भाषा मे लिखा होने से लोक मे बहुत प्रिय हुआ है। इसकी बहुत-सी टीकाएँ हुई हैं, अनेक भाषाओ में अनुवाद किये गये है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६०८ ईसवी की मिली है। लोलिम्बराज के पिता का नाम दिवाकर भट्ट था। लोलिम्बराज ने वैद्यावतस नाम का एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा है।

वाग्भट के समय जो छदालकार-प्रियता हमको मिलती है, उसी की झलक इतने सालो पीछे सोलहवी शती मे वैद्यजीवन मे मिलती है। लोलिम्बराज ने ग्रन्थ के सम्बन्ध मे स्वय लिखा है—

'गदभञ्जनाय चतुरैश्चरकाद्यैर्मुनिभिर्नृणां करुणया यत्कथितम् ।
अखिलं लिखामि खलु तस्य स्वकपोलकल्पितमिहास्ति न किञ्चित् ॥'

लोलिम्बराज की कविता शृङ्गार रसप्रधान है—

'पित्तज्वरे किं रसफाण्टलेपैः किं वा कषायैरमृतेन किं वा ।
पेय प्रियाया मुखमेकमेव लोलिम्बराजेन सदानुभूतम् ॥'

ग्रन्थकर्त्ता की काव्यरचना-चातुरी के लिए निम्न पद्य पर्याप्त है—

'भिन्दन्ति के कुञ्जरकर्णपालिं किमव्ययं व्यक्ति रते नवोढा ।
सम्बोधनं किं नुः रक्तपित्तं निहन्ति वामोरु वद त्वमेव ॥'

"सिहा; न-न , सिंहानन"—अडूसा रक्तपित्त को शान्त करता है। वैद्यजीवन में अपनी पत्नी को सम्बोधन करते हुए कवि ने बहुत-से योग कहे हैं।

वैद्यजीवन के सिवाय सत्रहवी शती में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए जगन्नाथ का योगसग्रह १६१६ में, सुखबोध १६४५ में, कवि चन्द्र का चिकित्सा-रत्नावलि १६६१ ई० में, रघुनाथ पण्डित का वैद्यविलास १६९७ ई० में और विद्यापति का वैद्यरहस्य १६९८ ई० में लिखा गया है।

चिन्तामणि वैद्य का प्रयोगामृत और नारायण का वैद्यामृत अठारहवी शती में लिखे गये है (जोली)। इसी शताब्दी मे माधव ने आयुर्वेदप्रकाश नामक रस-ग्रन्थ की रचना की है। माधव ने भावप्रकाश का उल्लेख किया है। इसकी हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस मे है, जिसका समय १७८६ विक्रमी (१७१३ ईसवी) है।

माधव के नाम से पाकावली नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। गोडल के ठाकुर साहब द्वारा लिखित इतिहास मे जय कवि के लिखे ज्वरपराजय काव्य का उल्लेख है, इसका समय १७९४ ईसवी है।

योगरत्नाकर

वैद्यो में अतिशय बरता जानेवाला ग्रन्थ योगरत्नाकर भी अठारहवी शती का बना

हुआ है। योगरत्नाकर का प्रचार तथा इसकी औषधियाँ महाराष्ट्र में अधिक बरती जाती है। इसके ग्रन्थकर्त्ता का नाम ज्ञात नही, परन्तु इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६६८ शकाब्द की आनन्दाश्रम के पास है। इसलिए १७४६ ई० मे पूर्व यह ग्रन्थ लिखा जा चुका है, इसमे सन्देह नही है।

योगरत्नाकर मे चोपचीनी का नाम तथा इससे बननेवाली औषधियाँ भाव-प्रकाश से अधिक आयी है। चोपचीनी पाक, चोपचीनी चूर्ण इसमें है (उपदंश चिकित्सा)। फिरंगरोग-निदान जो भावप्रकाश मे आता है, वह इसमे नही, परन्तु लिंगार्श, लिंगवर्ति रोगो का उल्लेख है।

इसमे बिरोजा ('कम्पिल्लक विरोजा सिन्दूर. सोरक तथा'—उपदंशचिकित्सा), कबाब चीनी के लिए कबाब ('कबाब गौरी गद तुत्थ बीज'—कुष्ठरोगचिकित्सा) नाम आये है, जो बहुत आधुनिक एव यूनानी नाम है। तम्बाकू के गुण-दोष इसमे वर्णित है। सम्भवत यह पहला ग्रन्थ है, जिसमे तम्बाकू के नाम और हुक्के का उल्लेख है। हुक्के के लिए धूमयंत्र प्रकाशक शब्द आया है। तम्बाकू को दाँत की पीडा का शामक कहा गया है ('दन्तरुक्शमन चैव कृमिकण्डूविनाशनम्')। इसके लिए लिखा है—

'मदपित्तभ्रमकरं वमनं रेचन स्मृतम्।
दृष्टिमान्द्यकरं चैव तीक्ष्णशुक्रकर तथा॥
तस्यैव धूमपानं तु विशेषाद्हृदि शुक्रहृत्।
वमनस्य प्रभावेण वृश्चिकादिविष हरेत्॥'

आयुर्वेदोक्त कामकला का वर्णन तथा इस विषय का उल्लेख इस ग्रन्थ मे विस्तार से दिया गया है। इस विषय मे विस्तार से लिखनेवाला यही प्रथम ग्रन्थ है। इसमें रायपुरी शर्करा का उल्लेख है, सम्भवत यह शर्करा रायपुर (सम्भवत मध्य भारत का रायपुर हो) में बनती होगी (आज भी कालपी मिश्री, मुलतानी मिश्री नाम से बढिया मिश्री मोटी साफ मिश्री मिलती है)।[1] इसमें कूट श्लोक भी आते हैं—

'पानीयं पानीयं शरदि वसन्ते पानीयम्।
नादेयं नादेयं शरदि वसन्ते नादेयम्॥'

शरद् ऋतु मे पानी पीना चाहिए, वसन्त में पानी कम पीना चाहिए। शरद् ऋतु मे नदी का जल पीने योग्य नही होता ऐसी बात नही, अपितु पीने योग्य होता है,

१ इसी से मै अनुमान करता हूँ कि लेखक विदर्भ का रहनेवाला है। महाराष्ट्र में इसका प्रचार इस अनुमान की पुष्टि करता है।

बसन्त ऋतु में नदी का जल नही पीना चाहिए। इसमें नये रस भी आते हैं। यथा—[illegible] रस राजयक्ष्मा रोग के लिए कहा गया है, इस योग का महाराष्ट्र में बहुत प्रचार है।

योगरत्नाकर, बृहद्योगतरगिणी की भाँति का एक सग्रह ग्रन्थ है। इसमें चक्रपाणि के द्रव्यगुणसग्रह का प्रसिद्ध श्लोक शाको के सम्बन्ध में उद्धृत है ('शाकेषु सर्वेषु बसन्ति रोगा: सहेतवो देहविनाशनाय। तस्माद् बुध शाकविवर्जन हि कुर्यात्तथाम्लेषु स नैव दोषः ॥')। इससे स्पष्ट है कि द्रव्यगुणसंग्रह को ग्रन्थकर्त्ता ने देखा है।

योगरत्नाकर का क्रम प्राय: बृहद्योगतरंगिणी के समान है, उसी के अनुसार रोगपरीक्षा, द्रव्यगुण, निघण्टु और रोग वर्णन है। यह वर्णन उसकी अपेक्षा विस्तृत है। इसमें भी अन्य ग्रन्थो से उद्धृत पाठ तथा योग आये है। स्थान-स्थान पर लेखक ने नाम निर्देश भी किया है। वैद्यजीवन के शृगार की झलक भी इसमें मिलती है ('सार भोजनसारं सार सारङ्गलोचनाधरत.। पिब खलु वारं वार नो चेन्मुधा भवति ससार. ॥')। भरता—जो कि बैंगन को आग में भूनकर फिर छीलकर सिल पर पीसकर बनाया जाता है; इस व्यजनविशेष का भी उल्लेख है ('लवणमरिचचूर्णे-नाऽऽवृत रामठाढ्य दहनवदनपक्व निम्बुतोयेन युक्तम्। हरति पवनसघ श्लेष्महन्तृ प्रसिद्धं जठरभरणयोग्यं चारुभोज्य भरित्थम् ॥')। इस प्रकार से नये-नये व्यजनो का उल्लेख भी इसमें मिलता है।

ज्वर चिकित्सा में विदेह, वाग्भट, वृद्ध वाग्भट (अष्टागसंग्रह के लिए), चक्रदत्त के नामो का उल्लेख स्पष्ट मिलता है (बृहद्योगतरगिणी में वृन्द का नाम है, चक्रपाणि का नाम नही है)। योगरत्नाकर में रोगो की पथ्यापथ्य विधि दी गयी है। इससे पहले ग्रन्थो में पथ्यापथ्य सम्बन्धी विचार नही हुआ है। इसी से कर्त्ता ने कहा है—("आलोक्य वैद्यतन्त्राणि यत्नादेष निबध्यते। व्याधितानां चिकित्सार्थं पथ्यापथ्य-विनिश्चियः॥ निदानौषधपथ्यानि त्रीणि यत्नेन चिन्तयेत्। तेनैव रोगा शीर्यन्ते शुष्के नीर इवाङकुरा ॥")। इस समय तक के सग्रह-ग्रन्थो में यही ग्रन्थ अन्तिम और प्रामाणिक है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नही।

तेरहवी शताब्दी से प्रारम्भ करके अठारहवी शताब्दी तक बने ग्रन्थो का संक्षिप्त उल्लेख आ गया है। इससे इन छ सौ वर्षों में बने आयुर्वेद ग्रन्थो का सामान्य परिचय मिल जाता है। इस समय में जो भी प्रसिद्ध ग्रन्थ बने, वे प्रायः संग्रह-ग्रन्थ है और इनमें से कोई भी अकेला ग्रन्थ चिकित्सा का ज्ञान करा सकता है। इनमे हेतु, लिंग और औषध

रूप से चिकित्सा कही गयी है। इसी समय योगसंग्रह-ग्रन्थ बने, जिनसे चिकित्सा सरल हो गयी, एवं बहुत-सी पुस्तकों की जरूरत कम हो गयी।

इस समय के सब ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ नही हुआ, क्योंकि बहुत-से ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं और बहुत-से अभी अप्रकाशित हैं। बहुतों का नामोल्लेख भी अभी सूचियों में नहीं आया। जौली या दूसरे लेखकों ने तिथिक्रम से पुस्तकों का जो उल्लेख किया है, उसी के आधार पर यहाँ लिखा गया है। इसमें जो प्रकाशित एव अप्रकाशित ग्रन्थ नहीं आये, उनका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। उसमें कुछ ग्रन्थ आधुनिक भी है, परन्तु इनकी रचना पुराने ढग की है।[1]

प्रकीर्ण ग्रन्थ

अंजननिदान—अंजनाचार्य कृत रोगविनिश्चय विषयक संक्षिप्त ग्रन्थ है। इसको खेमराज श्रीकृष्णदास ने बम्बई से प्रकाशित किया है। श्री राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा तथा निर्णयसागर प्रेस में शार्ङ्गधरसहिता मूल के साथ प्रकाशित है। अजननिदान का कर्त्ता अग्निवेश को कहा है। यह अग्निवेश आत्रेय के शिष्य अग्निवेश से भिन्न है। इसमें सुश्रुत तथा माधवनिदान के पाठ आये हैं।

अभ्रककल्प—इसका उल्लेख गोडल ठाकुर साहब के लिखे इतिहास में है।

अजीर्णामृतमंजरी—काशिराज कृत निघण्टुरत्नाकर की दूसरी आवृत्ति के प्रथम भाग में प्रकाशित हुई है।

अनुपानतरंगिणी—गुजराती भाषा के साथ महादेव रामचन्द्र जागुष्टे ने प्रकाशित की है।

अनुपानदर्पण—भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

आयुर्वेद-सुषेणसंहिता—भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

अर्कप्रकाश—रावण कृत, भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

आरोग्यचिन्तामणि—पण्डित दामोदर कृत।

कल्याणकारक—उग्रादित्य रचित, १९४० में सोलापुर से प्रकाशित।

---

१. ग्रन्थों की सूची श्री दुर्गाशंकर केवलराम जी शास्त्री के 'आयुर्वेद का इतिहास' गुजराती से ली गयी है। शास्त्री जी ने यह सूची रसयोगसागर में दी पुस्तकों की सूची, गोंडल के ठाकुर साहब के इतिहास में दी हुई तथा वनौषधिदर्पण के आधार पर तैयार की है।

कामरत्न—कर्त्ता का नाम रसयोगसागर मे नही है। वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है, इसमें कर्त्ता का नाम योगेश्वर नित्यनाथ है।

कालज्ञान—भाषा टीका के साथ, वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

कूट मुद्गर—माधव का बनाया सक्षिप्त चिकित्सा ग्रन्थ है। वेकटेश्वर प्रेस में भाषा टीका के साथ छपा है।

गोरक्षसंहिता—इसके कर्त्ता गोरखनाथ है, अप्रकाशित।

गौरीकांचलिका—चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। इसमे मत्र-तत्र, ज्योतिष और चिकित्सा है।

चमत्कारचिन्तामणि—गोविन्दराज कृत—गोडल के इतिहास मे इसका नाम है।

चिकित्साकर्म-कल्पवल्ली—काशीराम चतुर्वेदी सकलित, वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

चिकित्सांजन—वन्द्योपाध्याय कृत, अप्रकाशित।

चिकित्सारत्नाभरण—सदानन्द दाधीच विरचित।

चिकित्सारहस्यम्—हारीत मुनि विरचित।

चिकित्सासार—गोपालदास कृत, अप्रकाशित।

द्रव्यगुणशतक—त्रिमल्ल भट्ट कृत, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

धात्री मंजरी—कर्त्ता का नाम अज्ञात है। गोडल के इतिहास में है।

नरपतिजयचर्या—सवत् १२३२ में धारा के आम्रदेव के पुत्र नरपति द्वारा अणहिलवाडा में लिखा ग्रन्थ है। यह शकुनशास्त्र का ग्रन्थ है। सस्कृत टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है।

नामसागर—इन्द्रदेव का बनाया, अप्रकाशित।

नारायणविलास—नारायण भूपति का बनाया हुआ।

पथ्यापथ्य—महामहोपाध्याय विश्वनाथ कविराज कृत, भाषा टीका के साथ छपा है। ये उड़ीसा के महाराज प्रतापरुद्र गजपति के चिकित्सक थे।

पथ्यापथ्यनिघण्टु—कवि श्रीमुख कृत, गोडल के इतिहास में इसका उल्लेख है।

परिभाषावृत्तिप्रदीप—गोविन्दसेन कृत।

पारदयोगशास्त्र—शिवराम योगीन्द्र कृत।

प्रयोगचिन्तामणि—राममाणिक्य सेन विरचित, कलकत्ता से प्रकाशित। गोंडल के इतिहास में इसका लेखक माधव लिखा है।

प्रयोगसार—गोडल के [illegible] कर्त्ता का नाम नही है।

बालचिकित्सा पटल—कर्त्ता अज्ञात है, अप्रकाशित ।

बालबोधोदय—श्री काशीनाथ चतुर्वेदी विरचित भाषानुवाद के साथ प्रकाशित ।

बालबोध—वामाचार्य कृत, अप्रकाशित ।

भैषज्यसारामृत संहिता—उपेन्द्र विरचित ।

मधुमती—द्रविड देशवासी नीलकान्त भट्ट के पुत्र, रामकृष्ण भट्ट के शिष्य, नरसिंह कविराज का बनाया हुआ द्रव्यगुण तथा चिकित्सा सम्बन्धी अप्रकाशित ग्रन्थ ।

योगचन्द्रिका—लक्ष्मण विरचित, गोडल के इतिहास में इसके लिखने का समय १६३३ लिखा है ।

योगदीपिका—गुजरात के नागर रणकेशरी का लिखा, तीन सौ नब्बे श्लोको का सक्षिप्त सग्रह ग्रन्थ है । यह योगसग्रह पुराना है । वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य के पास है ।

योगमहार्णव—रामनाथ विद्वान् ने बनाया ।

योगमहोदधि—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित ।

योग रत्नमाला—गगाधर यतीन्द्र द्वारा १५७४ संवत् में अहमदाबाद में हाथ से लिखी प्रति इडिया आफिस के पुस्तकालय मे है ।

योगरत्नाकर—नयनशेखर कृत । चौपाइयो में लिखा गया । इसका समय १६८० ईसवी है ।

योगशतक—श्री कण्ठदास रचित, इसके ऊपर वररुचि की अभिधानचिन्तामणि नाम की टीका है ।

योगसंग्रह—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित ।

योगसमुच्चय—गुजराती श्रीगौड़ ब्राह्मण हरिराम के पुत्र माधव का लिखा छोटा ग्रन्थ है ।

योगसमुच्चय—गणपति व्यास द्वारा प्रणीत, जीवराम कालिदास द्वारा प्रकाशित ।

रत्नाकरौषधयोग—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित ।

रसकंकालीय—ककाल योगी विरचित, प्रकाशित ।

रसकल्पलता—मन्नीराम विरचित ।

रसकामधेनु—वैद्य श्री चूडामणि द्वारा सगृहीत, प्रकाशित ।

रसकिन्नर—कर्त्ता अज्ञात ।

रसकौमुदी—शक्तिवल्लभ विरचित ।

रसकौमुदी—ज्ञानचन्द्र विरचित । लाहौर मे यह ग्रन्थ छपा है ।

रसकौमुदी—माधव विरचित ।

रसज्ञानम्—ज्ञानज्योति विरचित ।

रसचंद्रांशु—दत्तात्रेय सगृहीत, प्रकाशित ।

रसचिन्तामणि—अनन्तदेव विरचित, भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस में छपा ।

रसतरंगमालिका—जनार्दन भट्ट कृत ।

रसपारिजात—वैद्य शिरोमणि कृत, रस योग सागर में नाम नही लिखा ।

र[illegible]र्प्पद—प्राणनाथ वैद्य रचित । गोंडल के इतिहास में कर्त्ता का नाम बीसलदेव और संवत् १४८३ लिखा है । भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित ।

रसबोधचन्द्रोदय—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित ।

रसमंजरी—शालिनाथ विरचित, भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित ।

रसरत्नकौमुदी—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित ।

रसरत्नप्रदीप—रामराज विरचित, श्री भानुदत्त विद्यालंकार ने लाहौर से प्रकाशित किया है ।

रसरत्नमणिमाला—वैद्य बाबाभाई अचलजी सगृहीत, अप्रकाशित ।

रसराजशंकर—रामकृष्ण विरचित ।

रसराजशिरोमणि—परशुराम विरचित ।

रसराजसुन्दर—दत्तराम सगृहीत, प्रकाशित ।

[illegible]—गोविन्दराम विरचित ।

रससारसंग्रह—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित ।

रसाध्याय—काशी संस्कृत सीरीज में १९३० में छपा ।

रसामृत—वैद्येन्द्र पण्डित कृत, १४९५ में बना ।

रसायनपरीक्षा—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित ।

रसालंकार—भट्ट रामेश्वर विरचित, अमुद्रित ।

रसावतार—माणिक्यचन्द्र जैन विरचित, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के पास है ।

रसायनप्रकरण—मेरुतुंग नाम के जैन साधु ने १३८७ ईसवी में बनाया ।

रसायनकल्पद्रुम—रामकृष्ण भट्ट विरचित ।

रसेन्द्ररत्नकोश—देवेन्द्र उपाध्याय विरचित ।

रामविनोद—पद्मरंग कृत, रसग्रन्थ ।

रोगनिदान—धन्वन्तरि कृत, अप्रकाशित ।

लोहपद्धति—सुरेश्वर विरचित, आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित ।

वाणीकरी—वाणीक विरचित।

विषोद्धार—ग्रन्थकार अज्ञात, अप्रकाशित, विविध विष-विषयक ग्रन्थ।

वैद्यकल्पद्रुम—रघुनाथप्रसाद कृत, प्रकाशित।

वैद्यकौस्तुभ—श्री मेवाराम विरचित, १९२८ में प्रकाशित हुआ है।

वैद्यचिन्तामणि—कर्त्ता अज्ञात।

वैद्यचिन्तामणि—वैद्य चिन्तामणि (लघु)—दोनो का कर्त्ता अज्ञात।

वैद्यदर्पण—कल्याण भट्ट के पुत्र प्राणनाथ वैद्य द्वारा बनाया गया, अप्रकाशित।

वैद्यरत्न—केदारभट्ट सगृहीत, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

वैद्यवल्लभ—हस्तिरुचि कृत भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस मे छपा है, १६७० ईसवी में लिखा गया, कर्त्ता का नाम गोंडल के इतिहास में इतिहासम्ृि है।

वैद्यवृन्द—नारायण कृत, अप्रकाशित।

वैद्योत्संस—श्री राजसुन्दर वैद्य विरचित, सीलोन मे छपा है।

शतयोग—कर्त्ता अज्ञात।

सर्वविजयी तंत्र—कर्त्ता अज्ञात।

सिद्धान्तमंजरी—अप्रकाशित, वनौषधिदर्पण की उपक्रमणिका में इसका कर्त्ता बोपदेव लिखा है।

सूतप्रदीपिका—कर्त्ता अज्ञात।

हंसराजनिदान—हसराज कृत भाषा टीका सहित, वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

हरिताल कल्प—

हितोपदेश—जैनाचार्य श्री कंठसूरि विरचित, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

हितोपदेश—परमेश्वराचार्य श्री कण्ठशिव पण्डित विरचित, अप्रकाशित।

(इनके सिवाय) **काकचण्डीश्वर तंत्र; बालतंत्र**—शिशु चिकित्सा ग्रन्थ, महीधर-पुत्र कल्याण वैद्य कृत, श्री वेंकटेश्वर प्रेस में छपा। **योगतरंगिणी**—श्री मल्लभट्ट कृत चिकित्सा ग्रन्थ। **नाड़ीप्रकाश**—शकर सेन कृत, प्रकाशित। **नाड़ीपरीक्षा चिकित्सा कथन**—सजीवेश्वर शर्मा के पुत्र रत्नपाणि शर्मा कृत, नाडीविज्ञान और चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **रसेन्द्रकल्पद्रुम**—द्रविड देशवासी वैदिक ब्राह्मण नीलकान्त भट्ट के पुत्र महामहोपाध्याय रामकृष्ण भट्ट विरचित। **वैद्यरहस्य**—वंशीधर के पुत्र विद्यापति प्रणीत चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस मे मुद्रित। **शरीरनिश्चया-धिकार**—गर्भावस्था में स्त्री को किस प्रकार का आहार-विहार करना चाहिए, इसका उल्लेख है। इसके कर्त्ता भवानीप्रसाद के शिष्य रामदास है, अप्रकाशित।

शतश्लोकी—बोपदेव कृत चूर्ण, गुटिका, लोह, घृत, तेल एवं क्वाथ विषयक वात-श्लेष्मकमय ग्रथ—यह वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है। **क्षेमकुतूहल**—कृष्णशर्मा कृत चिकित्सा ग्रन्थ—आयुर्वेद ग्रन्थमाला मे प्रकाशित। **साध्यरोग रत्नावली**—श्यामलाल कृत चिकित्सा ग्रन्थ। **बालचिकित्सापटल**—ग्रन्थकार का पता नही, अप्रकाशित। **सारसंग्रह**—चक्रपाणि कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **निबन्ध, सग्रह**—वैद्यक पारिभाषिक शब्दार्थ विषयक ग्रन्थ, कर्त्ता का नाम अज्ञात, अप्रकाशित। **वैद्यामृतलहरी**—मथुरानाथ शुक्ल कृत, ज्वर चिकित्सा विषयक। **उपवनविनोदन**—शार्ङ्गधर कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **सन्निपातमजरी**—भवदेव कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। **रससंकेतकलिका**—चामुण्डा कृत। **रससारामृत**—रामसेन कृत रस ग्रन्थ, अप्रकाशित। **गूढबोधक**—हेरम्ब सेन कृत, कुछ रोगो के लक्षण और चिकित्सा लिखी है, अप्रकाशित। **रसरत्नाकर**—नित्यनाथ विरचित, बृहत् रस ग्रन्थ। **वैद्यामृत**—नारायण कृत रस ग्रन्थ। **वैद्यकल्पद्रुम**—शुकदेव कृत चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस में छपा। **वैद्यमन उत्सव, वैद्यसंजीवनी**—बम्बई से प्रकाशित। **प्रयोगचिन्तामणि**—राममाणिक्य सेन विरचित, चिकित्सासंग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित। **रसराजलक्ष्मी**—बुक्कदेव राजा के राज्यवैद्य; सायणाचार्य के समकालीन विष्णुदेव पण्डित के पुत्र रामेश्वर भट्ट कृत।

तिथिक्रम से इस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता[1]

१३वीं शताब्दी में—

गोपालकृष्ण भट्ट—रसेन्द्रसारसग्रह के कर्ता।

डल्हणाचार्य—सुश्रुत पर निबन्धसग्रहटीका के लेखक।

नारायण भट्ट—कण्ठप्रकाश और वैद्यचिन्तामणि के कर्त्ता; श्रीकण्ठ कृत कुसुमवल्ली पर भी इन्होने टिप्पणी लिखी थी।

शार्ङ्गधर—शार्ङ्गधरसहिता के लेखक।

१३वीं–१४वीं शताब्दी में—

बोपदेव—केशव भिषक् के पुत्र, मुग्धबोध व्याकरण के कर्त्ता; इन्होने वैद्यक-शास्त्र पर बहुत से ग्रन्थ लिखे थे।

महादेव पण्डित—हिकमतप्रकाश कृत्, हाकिमि चिकित्साकार।

---

१. श्री गुरुपद हालदार शर्मा बी० एल० लिखित 'वृद्धत्रयी' से संकलित।

वाग्भट चतुर्थ—शब्दार्थचन्द्रिका गुप पाठ।

वाचस्पति वैद्य—आतकदर्पण नामक निदान टीका कर्ता।

विश्वनाथ कविराज—पथ्यापथ्य निघण्टु तथा अलकार में साहित्यदर्पण के कर्ता।

नित्यनाथ या सिद्धनाथ—रसरत्नाकर, रसरत्नमाला, कामरत्न, योगसार के कर्त्ता।

आशाधर—अष्टांगहृदय के टीकाकार।

त्रिविक्रमदेव भट्ट—लौहप्रदीप-कारक।

नरहरि पण्डित—राजनिघण्टु नामक वैद्यक कोष कार।

शार्ङ्गधर द्वितीय—वैद्यवल्लभ, ज्वरत्रिशती के कर्त्ता।

हेमाद्रि—अष्टागहृदय पर आयुर्वेद रसायन टीका लिखी।

१४वीं शताब्दी—

काशीनाथ द्विवेदी—रसकल्पलता, चिकित्साक्रमवल्ली, अजीर्णमंजरी, शार्ङ्गधर-संहिता के ऊपर गूढार्थदीपिका टीका इन्होने लिखी।

जयदेव कविराज—रसकल्पद्रुम, रसामृत के कर्ता।

विष्णुदेव पण्डित के पुत्र रामेश्वर भट्ट ने रसराजलक्ष्मी ग्रन्थ बनाया था।

वीरसिंह—वीरसिंहावलोकन ग्रन्थ, दुर्गाभक्तितरगिणी।

१४-१५वीं शताब्दी—

गगादास सूरि—वैद्यसारसग्रह के कर्त्ता, गोपालदास के पुत्र, कृष्णदास के भाई।

गोविन्दाचार्य—रससार, सन्निपातमजरी के कर्त्ता।

नारायणदास कविराज—चिकित्सापरिभाषा, वैद्यवल्लभ के ऊपर सिद्धान्त-संचय तथा ज्वरत्रिशती नामक दो टीकाओ के कर्त्ता।

मदनपाल—मदनपाल निघण्टु के कर्त्ता, सगीत-शास्त्र मे आनन्दसंजीवन ग्रन्थ भी लिखा है।

माधवाचार्य (द्वितीय)—सर्वदर्शनसग्रह के प्रणेता, रसेश्वर दर्शन के कर्त्ता।

रुद्रधर भट्ट—सन्निपातकलिकाकृत्, शार्ङ्गधरसहिता के ऊपर गूढान्तदीपिका टीका इन्होने लिखी (काशीनाथ की टीका का नाम गूढार्थदीपिका है)।

विश्वनाथ सेन—उत्कल के राजा गजपति प्रतापरुद्र के सभापण्डित, पथ्यापथ्य-विनिश्चय के लेखक तथा चक्रपाणि के सर्वसारसग्रह के ऊपर सारसग्रह नामक टीका के लेखक।

१५वीं शताब्दी—

खरे, चिन्तामणि शास्त्री—ने रसरत्नसमुच्चय की सरलार्थप्रकाशनी नामक टीका लिखी।

ढुण्ढुकनाथ—रसेन्द्रचिन्तामणि नामक रसशास्त्र के प्रणेता।

रामकृष्ण भट्ट—रसेन्द्रकल्पद्रुम के कर्त्ता और उसी की वैद्यरत्नाकर टीका लिखनेवाले। यह सम्भावना है कि शृङ्गाररसोदय के प्रणेता रामकवि इनके पुत्र थे।

रामराजा या रामराय—विजयनगर के राजा सदाशिव से इसने सिंहासन लिया था। वैद्यकशास्त्र के रसरत्नप्रदीप, रसदीपिका और नाड़ीपरीक्षा नामक ग्रन्थ लिखे थे,

हेमाद्रि—ईश्वर सूरि के पुत्र, इन्होने १४६८ ईसवी मे लक्ष्मणप्रकाश नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें आयुर्वेद के प्रवर्त्तक बहुत से मुनियों के नाम थे।

१५वीं १६वीं शताब्दी—

मथनसिंह—माल भूमि के राजवैद्य, इन्होंने रसनक्षत्रमालिका नाम का रस-ग्रन्थ लिखा था, स्वच्छन्दभैरव रस की निर्माणपद्धति स्पष्ट की।

शिवदास सेन—मालविका के रहनेवाले, इनके बनाये बहुत से ग्रन्थ है, चरक-तत्त्वप्रदीपिका, अष्टागहृदय के ऊपर तत्त्वबोध टीका, चक्रदत्त के ऊपर तत्त्व-चन्द्रिका टीका, द्रव्यगुणसग्रह की द्रव्यगुणसग्रह टीका, चरक पर टीका।

१६वीं शताब्दी—

टोडरमल—टोडरानन्द के कर्त्ता, टोडरमल-अकबर के सचिव थे।

भावमिश्र—भावप्रकाश और गुणरत्नमाला के कर्त्ता।

रामकृष्ण वैद्यराज—राजा कनकसिंह के सभापण्डित। कनकसिंह-प्रकाशन नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता।

रामचन्द्रदास गुह—रसचिन्तामणि या रसेन्द्रचिन्तामणि, रसरत्नाकर और रसपारिजात के प्रणेता। बगाल के आयुर्वेदजगत् में विशेष सम्मानित है। इनकी बहुत-सी टीकाएँ हैं। इनमें से १८वी शताब्दी मे मीरजाफर के वैद्य रामसेन कवीन्द्रमणि की बनायी विशेष प्रशसनीय है। १३वी शताब्दी में गोपालकृष्ण भट्ट के बनाये रसेन्द्रसारसग्रह के समकक्ष रसेन्द्रचिन्तामणि है।

शुभचन्द्र—जीवक तन्त्र के प्रणेता—इसमें बुद्ध कालीन जीवक का चरित वर्णित है।

१६वीं १७वीं शताब्दी

कवि कण्ठहर—इनका वास्तविक नाम राधाकान्त था, रत्नावली नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता, त्रिलोचन के पुत्र। प्रयोगरत्नाकर नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता।

त्रिमल्ल भट्ट—वल्लभ भट्ट के पुत्र और रसप्रदीप के प्रणेता, शकरभट्ट के पिता। इन्होंने योगतरगिणी, रसदर्पण, सुखलता कृत शतश्लोक की टीका, द्रव्यगुण शतश्लोकी, वैद्यक ग्रन्थ लिखे थे। योगतरगिणी में लेखक का अपना परिचय तथा बहुत-से प्राचीन ग्रन्थो का संग्रह मिलता है।

लोलिम्बराज—वैद्यजीवन नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता, इनकी उपाधि वैद्यराज थी।

१७वीं शताब्दी

राममाणिक्य सेन—प्रयोगचिन्तामणि नामक सग्रह ग्रन्थ के कर्त्ता। वैद्य समाज में यह ग्रन्थ सम्मानित है।

वशीधर—वैद्यरहस्यपद्धति के कर्त्ता एव वैद्यकुतूहल के प्रणेता विद्यापति के पिता, इनके पुत्र विद्यापति ने वैद्यकुतूहल से मिली वैद्यरहस्यपद्धति १६९८ सवत् मे प्रकाशित की थी।

१७वीं १८वीं शताब्दी

जैन नारायण शेखर अथवा नारायण शेखर जैनाचार्य—१६७६ ईसवी में इन्होंने योगरत्नाकर नाम का ग्रन्थ लिखा था। इनके दूसरे ग्रन्थ—वैद्यवृन्द, वैद्यामृत, ज्वरनिर्णय, ज्वरत्रिशती की टीका आदि है।

भरतमल्लिक—रत्नकौमुदी, सारकौमुदी आदि वैद्यक ग्रन्थो के प्रणेता। यशश्चन्द्र इनकी उपाधि थी।

विद्यापति—वशीधर के पुत्र, चिकित्साञ्जन के कर्त्ता। इन्होंने वंशीधर की बनायी वैद्यरहस्यपद्धति को अपने बनाये वैद्यकुतूहल से मिलाकर प्रकाशित किया था।

माधव उपाध्याय—आयुर्वेदप्रकाशादि के कर्त्ता।

१८वीं शताब्दी

आनन्द वर्मा—सारकौमुदी के कर्त्ता।

राजवल्लभ—रत्नमाला, राजवल्लभ पर्यायमाला, राजवल्लभ कृत द्रव्यगुण नामक तीन वैद्यक ग्रन्थ बनाये थे। ये तीनो द्रव्यगुण से सम्बन्ध रखते है। रावल्लभ कृत द्रव्यगुण के ऊपर नारायणदास ने टीका की है।

रामसेन कवीन्द्रमणि—मीर जाफ़र के राजवैद्य। इन्होने गोपालकृष्ण भट्ट के बनाये रसेन्द्रसारसग्रह के ऊपर इसी नाम की टीका लिखी थी। रामचन्द्र गुह कृत रसेन्द्रचिन्तामणि के बहुत लोकप्रिय होने से इन्होने उस पर भी अर्थबोधिका नाम की टीका लिखी थी।

देवदत्त—धातुरत्नमाला के प्रणेता।

१८वीं १९वीं शताब्दी

गगाधर कविराज—इन्होने चरक पर जल्पकल्पतरु टीका, योगरत्नावली, आग्नेय आयुर्वेदीय भाष्य आदि ग्रन्थ बनाये थे। १७९८ ईसवी मे यशोहर ग्राम में उत्पन्न हुए और १८८५ मे इनकी मृत्यु हुई। प्रसिद्ध चिकित्सक थे, इनकी शिष्य-परम्परा बहुत बडी थी। इन शिष्यो में स्वामी लक्ष्मीरामजी जयपुर, श्री योगीन्द्रनाथ सेन कलकत्ता तथा श्री हारायणचन्द्र चक्रवर्त्ती कलकत्तावाले प्रसिद्ध है।

धनपति—दिव्यरसेन्द्रसार नामक रसग्रन्थ कर्ता।

नारायणदास वैद्य—प्रयोगामृत के कर्त्ता चिन्तामणि के गुरु। इन्होने राजवल्लभ कृत द्रव्यगुण पर टीका की थी। मधुमती नामक नाना औषधवाला वैद्यक ग्रन्थ लिखा था।[1]

कवितावली में क्षयरोग और मृगाङ्क

तुलसीदासजी का काल सत्रहवी शती माना जाता है। इस समय तक रसयोगो का (पारा आदि का) उपयोग बहुत प्रचलित था। इसी प्रकार की मृगाङ्क औषध क्षयरोग के लिए आयुर्वेद में प्रसिद्ध है, यथा—

स्याद् रसेन सम हेम मौक्तिकं द्विगुण ततः।
गन्धकञ्च समं तेन रसपादन्तु टंकणम्॥
सर्वं तद्गालकं कृत्वा कांजिकेन च पेषयेत्।
भाण्डे लवणपूर्णाख्ये पचेद् यामचतुष्टयम्॥
मृगाङ्कसंज्ञः स ज्ञेयो रोगराजनिवृत्तनः॥
—आयुर्वेदसंग्रह, राजयक्ष्मारोगाधिकार।

---

१ इस सूची में श्री हालदार महोदय ने बंगाल से सम्बन्धित कविराजों-वैद्यों का ही नाम मुख्यतः दिया है। श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री जी ने गुजरात के वैद्यों की जानकारी अधिकतः दी है। शेष प्रान्तों में भी वैद्य थे, परन्तु उनके सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया।

मृगाङ्क से महामृगाङ्क, राजमृगाङ्क योग बनाये गये है। सम्भवत प्रथम मृगाङ्क ही प्रचलित होगा, पीछे इसमे वृद्धि करके ये दोनो योग बनाये हो। तुलसीदासजी ने भी रावण को राजरोग बताया है। इस रोग की औषधि देवता, सिद्ध, मुनिगण ने बहुत की, परन्तु कुछ लाभ नही हुआ। तब रस-वैद्य हनुमानजी ने लका के सोने और रत्नो को फूँककर मृगाङ्क बनाया—

> **रावनु सो राजरोगु बाढ़त विराट-उर,**
> **दिनु दिनु बिकल, सकल सुख राँक सो।**
> **नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्ध, मुनि,**
> **होत न बिसोक, औत पावै न मनाक-सो॥**
> **राम की रजाई तें रसाइनी समीर सुनु**
> **उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।**
> **जातुधान-बुट पुटपाक लंक जातरूप**
> **रतन जतन जारि कियो है मृगाङ्क सो॥**
> **(कवितावली, सुन्दरकाण्ड २५)**

(इस सम्बन्ध की सूचना डाक्टर जगन्नाथ शर्मा, रीडर हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने दी है, इसके लिए मै उनका आभारी हूँ।)

दसवाँ अध्याय

दक्षिण भारत में आयुर्वेद

बसवराजीयम् और कल्याणकारकम्

अशोक की कलिंग और दक्षिण की विजय के पीछे उत्तर भारत का सम्बन्ध दक्षिण के साथ वाकाटक काल मे मिलता है। भारशिव साम्राज्य गगा-काँठे से नागपुर-बस्तर तक फैला हुआ था। भारशिव साम्राज्य की सब शक्ति धीरे-धीरे वाकाटको के हाथ में चली गयी थी। वाकाटक वश का आदि पुरुष विन्ध्यशक्ति था, जिसने २४८ से २८४ ई० तक राज्य किया। इसके उत्तराधिकारियो ने अब दक्षिण प्रान्त को जीतना प्रारम्भ किया। इस प्रकार से शातवाहन और आन्ध्र के इक्ष्वाकु राजवश का अन्त हुआ। वीरकूर्च्च उर्फ कुमार विष्णु नामक एक सरदार ने, जो नाग सम्राट् का दामाद था, इस समय आन्ध्र देश जीता और तामिल देश पर चढाई कर काची को भी जीता (लगभग २५५-६५ ई०)। वीरकूर्च्च का वश पल्लव वश कहलाया। वाकाटक और पल्लव वश में घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पडता है।

वीरकूर्च्च के बेटे शिवस्कन्द वर्मा ने काची पर अपना अधिकार दृढ किया (लगभग २८०-२९५ ई०)। इस पर भी तामिल राजाओ ने पल्लवो से अपना मुकाबला जारी रखा। शिवस्कन्द वर्मा के पोते विजयस्कन्द वर्मा को काची फिर से जीतनी पड़ी (२९७-३३२ ई०)। दक्षिण-पूर्वी कर्णाटक में इस समय काण्व ब्राह्मणो का एक राजवश पल्लवो के सामन्त रूप में गग-वश नाम से स्थापित हुआ।

खास कर्णाटक में मयूर शर्मा नामक व्यक्ति ने पल्लवो और वाकाटको से स्वतंत्र होकर अपना राज्य स्थापित किया (लगभग ३२५ ई०)। मयूर शर्मा कादम्ब बंश का था, और अपने को चुटु शातवाहनो का अधिकारी मानता था। उसने अपरान्त (कोंकण) तक जीतना चाहा, परन्तु वाकाटको ने महाराष्ट्र और कोकण पर अपना अधिकार जमाये रखा और कादम्ब राज्य कर्णाटक या कुन्तल में ही रहा।

इसी समय मगध में भी नयी शक्ति उठ खडी हुई थी। २७७ ई० के करीब साकेत प्रदेश में गुप्त नामक एक राजा था। गुप्त का बेटा घटोत्कच हुआ। घटोत्कच का बेटा चन्द्रगुप्त था। चन्द्रगुप्त ने ३१९-२० मे राज्य पाया। उसके वंशजो ने तब से गुप्त सवत् का आरम्भ माना। इसका बेटा समुद्रगुप्त ३४० में गद्दी पर आया।

दिग्विजयी समुद्रगुप्त ने सम्राट् प्रवर सेन के मरते ही वाकाटक राज्य पर हमला किया। तीन-चार चढाइयो में वाकाटक राज्य को और एक चढाई में गुजरात-काठियावाड को जीतकर इसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इसके पीछे इसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिण पर चढाई की और उसके राजवश को सदा के लिए मिटा दिया (३९० ई०)।[1] विष्णुपद पहाड पर उसकी इन विजयो की याद में एक लोहे का स्तम्भ खडा किया गया, जिसे ११वी शती मे राजा अनगपाल दिल्ली उठवा ले आया था। वहाँ महरौली में उस लोहे की कीली पर उसकी कीर्त्ति अभी तक खुदी हुई है। इन विजयो के कारण उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।

वाकाटक-नागवश के समय जिस प्रकार उत्तर भारत मे साहित्य और कला का विस्तार हुआ, उसी प्रकार दक्षिण मे भी कला का विकास हुआ। आन्ध्र देश में इक्ष्वाकु राजाओ के समय अमरावती स्तूप को और भी सुन्दर किया गया। नागार्जुनी कोण्डा स्तूप का मूर्त्ति-चित्रो से अलकृत जगला बना। महाराष्ट्र की अजन्ता पहाडी में, जिसमें पिछले मौर्यों, शातवाहनो के समय के दो-एक गुहामन्दिर थे, वाकाटक राजाओ के समय वैसे अनेक नये और विशाल मन्दिर काटे गये। अजन्ता गुहाओ की दीवारो पर गुप्त युग में और बाद मे चित्र भी लिखे गये, जिनमे से कुछ अब तक मौजूद है।

द्रविड़ देश मे आयुर्वेद

दक्षिण मे शकराचार्य, सायण, माधव-जैसे विद्वान्, भारवि, राजशेखर-जैसे कवि हुए। उसी प्रकार से आयुर्वेद का सिद्ध सम्प्रदाय वहाँ विकसित हुआ। इस सिद्ध सम्प्रदाय का प्रारम्भ अगस्त्य से माना जाता है। दक्षिण में सस्कृति का विस्तार करनेवाले अगस्त्य ऋषि माने जाते है। पौराणिक कथा के अनुसार वे विन्ध्याचल पर्वत की ऊँचाई को रोकने के लिए उससे अपने वापस आने तक न बढने का वचन लेकर दक्षिण में चले गये और तब से वही रह गये। वहाँ पर आत्रेय-सुश्रुत के सम्प्रदाय का कोई महत्त्व नही।

---

१. कालिदास ने रघुवंश में रघु की दक्षिण विजय का जो वर्णन किया है वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही है। इसने वहाँ के राजाओं को जीतकर पुनः उनका राज्य दे दिया था।

> 'दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
> तस्यामेव रघोः पाण्डयाः प्रतापं न विषेहिरे॥
> [illegible]स्य मुक्तासार महोदधेः।
> ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सचितम्॥' (रघु. ४।५०-५१)

दक्षिण भारत की श्रुत-परम्परा के अनुसार अगस्त्य सम्प्रदाय का प्रथम महादेव ने पार्वती को उपदेश किया। इसके पीछे नन्दीश्वर को पार्वती ने, नन्दीश्वर ने धन्वन्तरि को, धन्वन्तरि ने अगस्त्य को उपदेश किया। अगस्त्य ने चुलस्त्य को, उसने तेरायर को उपदेश किया और उससे अठारह या बाईस सिद्धो को वैद्यक विद्या प्राप्त हुई। इस परम्परा में अगस्त्य का उपदेशक धन्वन्तरि है, जो कि उत्तर भारत की परम्परा से मिलती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर भारत के सस्कार दक्षिण में भी पहुँचे हैं, इनको ले जानेवाला चाहे अगस्त्य हो या काल; जिसने दोनो का मेल कराया।

अठारह या बाईस सिद्धो के पीछे इनके दो भेद हो गये—(१) बड सम्प्रदाय और (२) तेन सम्प्रदाय। जिन सिद्धो ने संस्कृत भाषा मे ग्रन्थ बनाये अथवा सस्कृत ग्रन्थो का द्रविड़ भाषा में अनुवाद किया, उनको बड साम्प्रदायिक का कहते है और जिन्होने द्रविड भाषा मे ग्रन्थ लिखे है, उनको तेन साम्प्रदायिक कहते हैं।

अगस्त्य-सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे मुख्यत रसकर्म का उपदेश है। इस रसकर्म में रसार्णव में वर्णित प्रक्रिया से भेद है। फिर भी इसमें रसकर्म का प्राधान्य है। इसका प्रारम्भ सिद्धों से है, इसलिए इसे सिद्ध सम्प्रदाय कहते हैं। रसविद्या के प्रचार के साथ ही वहाँ पर अगस्त्य-सम्प्रदाय का प्रचार हुआ है। दक्षिण भारत का यह सिद्ध सम्प्रदाय उत्तर भारत के रस-सम्प्रदाय से प्रक्रिया तथा अन्य बातो में भिन्न है। इसमें उत्तर भारत से पृथक् नये योग मिलते हैं। 'वसवराजीयम्' ग्रन्थ मे, जो कि चिकित्सा का ग्रन्थ है, बहुत-से नये योग दिये है। इसको सस्कृत मे नागपुर के वैद्य श्री गोवर्धन शर्मा छागाणी जी ने प्रकाशित किया है। इसमें कुछ पाठ कल्याणकारक से उद्धृत किये गये है।

नाडीपरीक्षा-विधि वृद्धत्रयी—चरक, सुश्रुत, अष्टांगसग्रह मे नही है। पिछले ग्रन्थो में यह कहाँ से आयी इसका उचित उत्तर नही मिलता। द्रविड भाषा के पुराने गिने जानेवाले ग्रन्थो मे नाडीज्ञान और मूत्रपरीक्षा-विधि दी हुई है, इसको देखने से यह सम्भावना की जा सकती है कि नाडीज्ञान दक्षिण से उत्तर मे आया (अधिक सम्भावना यही है कि उत्तर मे यह ज्ञान मुसलमानो या यवनो के सम्पर्क से आया)।

द्रविड़ प्रदेश से वैद्यक सिंहल द्वीप तक पहुँचा। आनन्दकन्द नामक ग्रन्थ का कर्त्ता मन्थानभैरव सिहल द्वीप की राजसभा का वैद्य कहा जाता है। अनेक रसग्रन्थो को देखकर रसरत्नसमुच्चय की रचना करनेवाले लेखक ने जिस मन्थानभैरव का उल्लेख किया है, सम्भवत. यह वही है। तात्रिक रसवैद्य दक्षिण में ठेठ सिंहल द्वीप तक फैले हुए थे। नागार्जुन कोडा और श्रीपर्वत ये दोनो स्थान दक्षिण में ही है, इनका सिद्ध

सम्प्रदाय एव तंत्रसिद्धि से बहुत सम्बन्ध है। सिद्ध सम्प्रदाय का विकास यही पर हुआ है। द्रविड रसविद्या और उत्तर की रसविद्या के मूलरूप तत्र लगभग एक ही थे, ऐसी सम्भावना है।

सिंहल द्वीप के वैद्यक-साहित्य में ७-८ ग्रन्थो के नाम प० डी० गोपालाचार्लु जी ने गिनाये हैं, इनमें भैषज्यमंजूषा पाली भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसमें अधिक भाग वनस्पतियो का है और थोडा भाग रसयोगो का है। सारसक्षेप सिंहल भाषा में है, सारार्थसंग्रह, भेषजकल्प, योगशतक आदि ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे है। योगशतक के ऊपर सस्कृत टीका भी है, इसमे योगो का सग्रह है। सिंहल द्वीप के वैद्य इसी के अनुसार चिकित्सा करते है। योगरत्नाकर नामक ग्रन्थ मयूरपाद भिक्षु के नाम से प्रसिद्ध वैद्य ने बनाया है, यह भी योगसग्रह है।

केरल मे आयुर्वेद

केरल यद्यपि द्रविड देश नही, तथापि दक्षिण भारत का अन्तिम सिरा है, यहाँ पर अष्टागसग्रह का बहुत प्रचार है। वास्तव में वृद्धत्रयी के अन्दर अष्टांगहृदय का ही पठन-पाठन चलता है। सामान्य लोगो के लिए तो इसके सिवाय दूसरा वैद्यक ग्रन्थ नही, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नही। परन्तु केरल के वैद्यक में कुछ विशेषता है। वहाँ पर स्नेह-स्वेदादि करके वमन-विरेचन आदि पच कर्म करने की प्रथा है। वहाँ की चिकित्सा में इन कर्मों का विशेष महत्त्व है और इन कार्यों के लिए विशेष साधन बरते जाते है। दूसरी विशेषता यह है कि केरल मे कुछ वैद्य गीली और सूखी औषधियाँ बेचने का धधा करते है और केरल मे अगदतत्र का बहुत प्रचार है। कई वैद्यकुटुम्ब पुरातन काल से विषवैद्य का काम करते हैं।

केरल में अष्टवैद्य नाम से प्रसिद्ध आठ वैद्यकुटुम्ब है। इनके मूल पुरुष परशुरामजी (अवतार) से अष्टाग आयुर्वेद के एक-एक अग में पारगत हुए थे, ऐसी दन्तकथा है। ये नम्बूदरी ब्राह्मण है और अच्छी स्थिति के है।[1]

यह सम्भावित है कि केरल के वैद्यक साहित्य मे अष्टाग सग्रह की इन्दु द्वारा शशिकला टीका बनी हो। पीछे से भदन्त नागार्जुन लिखित रसवैशेषिक सूत्र नाम का ग्रन्थ तथा इसके ऊपर नरसिंह कृत भाष्य केरलदेश में लिखा गया है। इस रसवैशेषिक सूत्र में आरोग्य शास्त्र की मीमासा है। रसवैशेषिक सूत्र का कर्त्ता भदन्त नागार्जुन

---

१. यह विषय तथा अगला विषय श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री जी के आयुर्वेद साहित्य से लिखा है।

दूसरे नागार्जुन से भिन्न है, यह केरल का बौद्ध सन्यासी था। इसके टीकाकार नरसिंह भी केरल के है। टीकाकार का समय श्रीशकर मेनोन के अनुसार आठवी शती और सूत्रकार का समय इससे पूर्व पाँचवी से सातवी शती के बीच का है। परन्तु इस समय को निश्चित करने में जो तर्क दिये गये है, वे सचोट नही है।

तंत्रयुक्ति-विचार नामक ग्रन्थ नीलमेघ वैद्य का बनाया हुआ है। नीलमेघ वैद्य का दूसरा नाम वैद्यनाथ था। इस ग्रन्थ के मंगलाध्याय मे इन्दु और जैज्जट को पढ़ाते हुए वाहट का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इसके कर्त्ता वाग्भट और जैज्जट के पीछे हुए है[1], कब हुए यह कहना कठिन है, परन्तु शकर मेनोन नीलमेघ वैद्य को शकराचार्य का समकालीन मानते है। फिर भी इसमें उनकी युक्तियाँ हृदयग्राही नही है। परन्तु अष्टांगहृदय की प्रियता, वाग्भट विषयक दन्तकथा और तन्त्रयुक्तिविचार जैसे ग्रन्थो की रचना केरल में उत्तर भारत के आयुर्वेदिक ग्रन्थो का दक्षिण में प्रचार बताती है।

रसोपनिषद नाम का पार्वती-परमेश्वर संवादरूप अठारह अध्यायो का एक ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज से प्रकाशित है। इसमें रसविद्या द्वारा धातु निकालने तथा कीमियागिरी की बातें रसहृदय आदि ग्रन्थो से भिन्न प्रकार की नही है, इसमे रसयोग नही है। सम्भवत यह रसमहोदधि-जैसे किसी बडे ग्रन्थ का एक भाग होगा। केरल के वैद्यवर कालिदास के नाम से वैद्यमनोरमा नाम का एक रसग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

इनके सिवाय धाराकल्प (स्वेदकर्मपद्धति के लिए उपयोगी), हरमेखला (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज मे प्रकाशित), सहस्रयोग (बेंगलोर से प्रकाशित), आरोग्यकल्पद्रुम, सर्वरोगचिकित्सारत्न, चिकित्सामूल आदि ग्रन्थ केरल में प्रसिद्ध है।

कर्णाटक में आयुर्वेद

पूज्यपाद नाम के जैन आचार्य का पूज्यपादीय नामक सस्कृत ग्रन्थ कर्णाटक में प्राचीन गिना जाता है। परन्तु जैन वैद्य उग्रादित्याचार्य स्वय कहते है कि वे राष्ट्रकूट

---

१. इसके सम्बन्ध में निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

'लम्बश्मश्रुकलापमम्बुजनिभच्छायाद्युतिं वैद्यका-
न्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्तं सदा।
आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितवरालक्ष्योपवीतोज्ज्वलत्
कण्ठस्थागरुसारमज्जितदृशं ध्याये दृढं वाग्भटम् ॥'

राजा नृपतुग के वैद्य थे। इस कारण से नवी शताब्दी के प्रारम्भ में इनका समय है। परन्तु कर्णाटक में कन्नड भाषा में वैद्यक ग्रन्थ लिखनेवाले बहुत-से वैद्य हो गये है। इनमें जैन मगल राज जो १३६० ई० मे हुए हैं, उन्होने विषचिकित्सा सम्बन्धी खगेन्द्र-मणिदर्पण नाम का बड़ा ग्रन्थ कन्नड में लिखा है, जिसमे स्थावर विष चिकित्सा का विषय पूज्यपादजी की पुस्तक में से लेने का स्वय उल्लेख किया है। इसके पीछे ब्राह्मण अभिनवचन्द्र १४०० ईसवी में हुए है। इन्होने चन्द्रराज के ग्रन्थो में से उदाहरण लेकर अश्ववैद्य नामक नवीन ग्रन्थ कन्नड भाषा में लिखा है। जैन देवेन्द्र मुनि ने बालग्रह-चिकित्सा नामक ग्रन्थ लिखा है।

रामचन्द्र, चन्द्रराज आदि ने अश्ववैद्यक, कीर्त्तिमान नामक चालुक्य राजा ने गौ-चिकित्सा और वीरभद्र ने पालकप्य के गजायुर्वेद के ऊपर कन्नड भाषा में टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त वाग्भटचिन्तामणि आदि ग्रन्थो के कन्नड भाषा में पुराने काल से भाषान्तर मिलते है।

आन्ध्र देश मे आयुर्वेद

आन्ध्र देश के वैद्य चिन्तामणि और वसवराजीयम् नाम के दो सस्कृत ग्रन्थों का मुख्यत उपयोग करते है। चिन्तामणि ग्रन्थ का कर्त्ता वल्लभेन्द्र नियोगी ब्राह्मण कुल का वैद्य था। इस ग्रन्थ मे नाडी, मूत्र आदि की परीक्षा के साथ ज्वरादि रोगो की निदानसहित चिकित्सा लिखी है। चिकित्सा में चूर्ण, गुटिका, अवलेह आदि के साथ रसयोग भी है।

इसी प्रकार का दूसरा अति प्रचलित ग्रन्थ वसवराजीयम् है। कर्णाटक में लिंगायत मत के मुख्य प्रचारक १२वी शती के वसव का बनाया यह ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ मे पूज्यपादीयग्रन्थ मे से तथा नित्यनाथ के ग्रन्थ मे से पाठ लिये गये है। रसयोग पुष्कल है, अफीम भी बरती गयी है; इस दृष्टि से यह ग्रन्थ १३ वी शती से पुराना नही हो सकता। ज्वरादि रोगो की निदान-चिकित्सा वर्णन करनेवाला यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे आन्ध्र देश मे प्रसिद्ध कुछ योग भी मिलते है। कुछ योग आन्ध्र पद्य मे है। आन्ध्र मे मिलनेवाली कुछ औषधियाँ इसमे है।

इस ग्रन्थ में माधवनिदान के नाम से रसयोग दिये गये है। यह विचित्रता है। श्री गोवर्धन शर्मा छागाणी जी का कहना है कि लिपिकरो का प्रमाद है, इसके स्थान पर माधव कल्प चाहिए (भूमिका वसवराजीयम् की)।

दक्षिण भारत के वैद्यक साहित्य का उल्लेख करते हुए पं० डी० गोपालाचार्लु जी ने

आयुर्वेदसूत्र का भी उल्लेख किया है। यह आयुर्वेदसूत्र ग्रन्थ [illegible] सहित मैसूर मे १९२२ मे छपा है। परन्तु जो सूत्र ग्रन्थ देखने मे आता है, उससे प्राचीनता की प्रतीति नही होती। शिवतत्त्वरत्नाकर, जगन्नाथ सूरि के पुत्र मगलगिरी की रसप्रदीपिका आदि रस ग्रन्थ दक्षिण भारत मे बडी सख्या मे बने है।

इन रसग्रन्थो के अतिरिक्त दक्षिण मे कुछ सग्रह ग्रन्थ भी बने है। उदाहरण के लिए—श्रीनाथ पण्डित की परहितसहिता है, इसमे शल्य-शालाक्यादि आठ अगो का वर्णन है। सम्भवत भावप्रकाश की भाँति होगा (देखा नही)। आन्ध्र ब्राह्मण त्रिमल्ल भट्ट की बृहद्योगतरगिणी, परम शैवाचार्य श्रीकण्ठ की बनायी योगरत्नावली, इसके पीछे भेषजसर्वस्व, धन्वन्तरिविलास, सन्निपातचन्द्रिका, योगशतक, धन्वन्तरिसारनिधि, राजमृगाङ्क, प्रश्नोत्तररत्नमाला, गद्यसजीवनी, उमामहेश्वरसवाद आदि ग्रन्थ दक्षिण भारत मे बने है। इसके पीछे नाडीज्ञानविनिर्णय, षड्विध नाडीतत्र, नाडीनक्षत्रमाला, नाडीज्ञान आदि नाडीपरीक्षा के ग्रन्थ, श्रीकण्ठनिदान जैसे निदान ग्रन्थ तथा अभिधानरत्नमाला, आयुर्वेदमहोदधि पदार्थचन्द्रिका, अभिधानचूडामणि द्रव्यगुणचतुश्श्लोकी अष्टागहृदय निघण्टु आदि ग्रन्थ भी दक्षिण भारत मे बने है।

स्वर्गीय प० डा० गोपालाचार्लु के अकेले निबन्ध के आधार पर इस विषय का उल्लेख स्वर्गीय श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री जी ने किया है, उसी के आधार पर यहाँ लिखा है।

वसवराजीयम्

इस ग्रन्थ को सस्कृत में सशोधित करके स्वर्गीय श्री गोवर्धन शर्मा छागाणी जी ने नागपुर से प्रकाशित किया है। इसकी भूमिका में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे उन्होने प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ रुद्र सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना जाता है। भारतवर्ष मे चिकित्सा के दो सम्प्रदाय थे, एक ब्राह्म सम्प्रदाय और दूसरा रुद्र सम्प्रदाय। ब्राह्म सम्प्रदाय मे दक्ष, इन्द्र, धन्वन्तरि, भारद्वाज, काश्यपवाली परम्परा है, रुद्र सम्प्रदाय मे पारद का उपदेश रसशास्त्र के रूप में हुआ। इसी शैव सम्प्रदाय मे सिद्धो द्वारा रसशास्त्र का विस्तार हुआ। इन सिद्धो में मन्थानभैरव नाम का सिद्ध हुआ ('मन्थानभैरवश्चैव काकचण्डीश्वरस्तथा'—रसरत्नसमुच्चय)।

('मन्थानभैरवो योगी सिद्धबुद्धश्च कन्थडी'—तत्रान्तर)। इस प्रकार से दो धाराएँ चिकित्सा मे चली। दक्षिण में रुद्र सम्प्रदाय के स्थान पर अगस्त्य सम्प्रदाय नाम का विस्तार हुआ। इसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध यह ग्रन्थ है।

इसमे पचीस प्रकरण है। इनमें नाडी परीक्षा, रस-भस्म-चूर्ण, गुटिका, कषाय, अवलेह आदि रूप में ज्वर आदि रोगों का निदान और चिकित्सा विस्तार से कही गयी है। इसके सब प्रयोग शास्त्रसम्मत तथा अनुभव-सिद्ध दीखते है। अनेक प्राचीन शास्त्रो की सहायता लेकर यह ग्रन्थ बनाया गया है।

वसवराज का समय—भारत में चालुक्यो का जैसा साम्राज्य था वैसा राष्ट्रकूटो का नही था। ५३९ विक्रमी में चालुक्य जयसिंह ने राष्ट्रकूटो से राज्य छीनकर वातापी (बागलकोट के समीप 'बादामी' नामक) नगरी बसायी। इसमें इसके उत्तराधिकारी ग्यारह पुरुषो ने राज्य किया। इनमें अन्तिम राजा कीर्त्तिवर्मा से राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने राज्य ले लिया था। इसने अपनी राजधानी मान्यखेट (हैदराबाद राज्य में 'मालखेड' नाम का स्थान) बनायी। लगभग दो सौ वर्षों तक राष्ट्रकूटो का साम्राज्य बना रहा। परन्तु १०३० विक्रमी में पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्यकार कर्कराज राष्ट्रकूट को मारकर चालुक्य तैलप द्वितीय ने अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया था। इसी के वशज सोमेश्वर ने अपनी राजधानी कल्याण में (निजाम राज्य में 'कल्याणी' नामक) बनायी। यही पर ११३३-११८३ में कश्मीरी कवि बिल्हण ने विक्रमाकदेवचरित और चौरपञ्चाशिका आदि काव्य लिखे थे। यही पर याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका विज्ञानेश्वर ने लिखी थी। इस टीका के अन्त में विज्ञानेश्वर ने कल्याण नगर और इसके राजा विक्रमादित्य का यशोगान किया है। इसी विक्रमादित्य का पौत्र जगदेकमल्ल था, जिसके सेनापति विज्जल ने अपने स्वामी तैलप तृतीय की सेना में विद्रोह उत्पन्न करके राज्य ले लिया था। विज्जल हैहयवश (कलचुरी) का प्रतापी राजा हुआ। विज्जल जैन धर्मावलम्बी था। शैव और जैनो में परस्पर बहुत विवाद हुआ। इनमे वसव नाम के किसी ब्राह्मण ने जिन मत की तुलना में वीरशैव (लिंगायत) मत की स्थापना की।

कन्नड (कर्णाटकी) भाषा मे लिखे वसवपुराण से स्पष्ट है कि विज्जल ने वसव को अपना मत्री बनाया था। परन्तु जब वसव ने लिङ्गायत प्रचारको को बहुत धन देना प्रारम्भ किया तब विज्जल ने क्रुद्ध होकर उपदेशको के सहित इसे कल्याणी से निकाल दिया। इस समय भागते हुए वसव द्वारा भेजे हुए जयदेव लिंगायत ने राजप्रासाद में घुसकर विज्जल को मार दिया।[1]

---

१. चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी माना है कि—विज्जल का प्रधान मंत्री वसव था; यह महा विद्वान्, तत्त्वज्ञानी ब्राह्मण था। इसने प्राचीन प्रणाली को तोड़कर

वसवराज का निवासस्थान आन्ध्र था, यह शिवलिंग का उपासक ('लिंगमूर्त्ति-महं भजे'—पृष्ठ २९०, ३९०, ३५०, ३७७) था, इसके गुरु का नाम जंगम था ('श्री जंगमेशपादाब्जभृङ्गम्'—पृष्ठ २२६)। यह वीर शैव मत को मानता था। इसके पिता आराध्य रामदेशिक के शिष्य थे, पिता का नाम नम शिवाय था। ग्रन्थकर्ता अपने आप काव्य मे कुशल, वैद्यशिरोमणि नीलकण्ठ वश मे उत्पन्न, कोट्टूर ग्राम का रहनेवाला था, यह स्वय इसने ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है।"[1]

वसवराजीय की समीक्षा—ग्रन्थकर्त्ता ने इसके प्रारम्भ में जो भूमिका दी है, उससे स्पष्ट है कि इसके निर्माण मे चरक, माधव कल्प, भैरव कल्प, वाग्भट, सिद्ध-रसार्णव, भेषजकल्प, देवीशास्त्र, ज्योतिष, काशीखण्ड, शरीरसूत्र, कर्मविपाक, रेवण कल्प आदि ग्रन्थ रत्नो को देखकर लोकोपकार के लिए इसे बनाया। ग्रन्थकर्ता को अपने पर बहुत अधिक विश्वास था, इसलिए उसने लिखा है—

कृते तु चरकः प्रोक्तस्त्रेतायां तु रसार्णवः।
द्वापरे सिद्धविद्या भूः कलौ वसवकः स्मृतः॥

सतयुग मे चरक, त्रेता मे रसार्णव, द्वापर मे सिद्ध विद्या और कलियुग में वसव वैद्य अथवा इनके बनाये ग्रन्थ समादृत होगे।

अपनी भगिनी प्रतिलोम विवाह से विज्जल को ब्याही थी। जैनों का कहना है कि इसकी भगिनी विज्जल की उपपत्नी थी। वसव 'आराध्य' नामक मत का अनुयायी था। वीर शैवों के गुरु आराध्य और जंगम हैं। इनमें आराध्य ब्राह्मण हैं; शेष जंगम य हे जाते हैं। ये सब सिर में शिवलिंग को धारण करते हैं।

१. प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भिक के मंगल में कर्त्ता ने शिव की उपासना की है—

'कन्दर्पनागपञ्चास्य गजदैत्यविनाशनम्।
महाताण्डवशालीन लिङ्गमूर्त्तिमहं भजे॥
श्रीनीलकण्ठवशाब्धिचन्द्रमा वसवाह्वयः।
वक्ष्यामि वृषराजीयमहं वैद्यशिखामणिम्॥' (प्रकरण २१)

अन्त में लिखा है—"इति श्रीनीलकण्ठचरणारविन्द-तीर्थप्रसादपारावारविहार-भोगपारीणनिडिमामिडिभगिसत्सम्प्रदायकाराध्यरामदेशिकशिष्योत्तमनमःशिवायसत्पु-त्रपवित्रकविताचातुरीधुरीणवैद्यजनशिरोभूषणनीलकण्ठकोट्टूरुवसवराजनामधेयप्रणी-तश्रीवसवराजीये (आन्ध्रतात्पर्यसहिते) पंच[illegible] समाप्तम्।"

वसवराजीय ग्रन्थ मे जहाँ दूसरे आचार्यों के योगो का समावेश है, वहाँ पर जैन श्री पूज्यपाद के योगो का भी समावेश है, उदाहरण के रूप में—

१ भ्रमणादि वात की चिकित्सा मे गन्धक रसायन का पाठ देते हुए लिखा है—

'अशीतिं वातरोगांश्च ह्यर्शांस्यष्टविधानि च।
मनुष्याणां हितार्थाय पूज्यपादेन निर्मितः॥' (पृष्ठ ११०, प्र० ६)

२ कालाग्नि रुद्ररस या अग्नितुण्डी के पाठ मे भी पूज्यपाद का नाम आया है—

'अशीतिवातजान् रोगान् गुल्मं च ग्रहणीगदान्।
रसः कालाग्निरुद्रोऽयं पूज्यपादविनिर्मितः॥' (पृष्ठ १०३, प्र० ६)

इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद के पीछे बना है। इसमें निदान और चिकित्सा साथ में है। इस चिकित्सा में रसयोग विशेष हैं। इसमे माधवनिदान शब्द कई रूप में आया है, उदाहरण के लिए—कुष्ठनिदान में (आयुर्वेद नाम से) जो वचन दिये हैं, वे माधवनिदान के है, इसी के अन्दर फिर (कुष्ठ रोगभेदा माधवनिदाने) माधवनिदान के श्लोक दिये गये है। अजीर्णेषु पथ्यम् में (माधवनिदाने कहकर) जो वचन दिये है, वे उपलब्ध माधवनिदान के नही है।

'शखद्रावकम्' का पाठ सम्भवत. ग्रन्थकर्त्ता का अपना है। ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थ में पाठ देने मे सत्यता बरती है, जहाँ से जो वचन उद्धृत किया है, वहाँ पर ग्रन्थ का नाम दे दिया है।

ग्रन्थ में आन्ध्र भाषा का भी प्रयोग है, यथा—

'भेट्टदास सरित्ताबेटिमोददीप मुचवल वेक्कुनदियु नुद्रंचिमसियु।
जे सिवेभ्रयुजे रिचिपूसनेनि कान्तालकुयोनिवुर्मासिगणमुलड्गु॥' (पृ० ४१)

रोगो के कुछ नाम नये भी है, यथा—पुष्पावरोध निदान और इसकी चिकित्सा—

'वातोल्वणाच्च योनिस्थं पुष्पस्थानं चलं भवेत्।
पुष्परोधनमित्युक्तं तन्नाम मुनिपुङ्गवैः॥'

यह नाम नष्ट पुष्प के लिए बनाया है। इसमे इस रोग का प्रसिद्ध योग भी दिया है (यथा—'तिलक्वाथे गुड व्योष तिलभार्ङ्गीयुतेऽपि वा। पाते रक्तस्रावे गुल्मे नष्टपुष्पे च पाययेत्॥' प्रसिद्ध योग मे—तिलक्वाथ मे—गुड, व्योष, हिंगु, भार्ङ्गी और यवक्षार हैं')।

इस प्रकार से यह एक उत्तम सग्रह ग्रन्थ है। दक्षिण देश में इसका वही सम्मान

है, जो कि बंगाल में चक्रदत्त और रसेन्द्रसार संग्रह का है, महाराष्ट्र में योगरत्नाकर का तथा गुजरात में शार्ङ्गधर का।

कल्याणकारक

आयुर्वेद के जैनग्रन्थो में प्रकाशित यही एक ग्रन्थ मेरे देखने मे आया है। इस अकेले ग्रन्थ से पता चलता है कि दूसरे भी जैन ग्रन्थ बने थे। जैनियो में दूसरे भी आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता हुए हैं, यथा—

'शालाक्य पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां
वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः॥' (अ. २०।८५)

पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्य नामक ग्रन्थ बनाया, पात्रस्वामी ने शल्यतत्र, सिंहसेन ने विष और ग्रहशान्ति सम्बन्धी, दशरथ गुरु और मेघनाद ने बालरोग चिकित्सा सम्बन्धी और सिंहनाद ने शरीर बलवर्द्धक ग्रन्थ का निर्माण किया।

समन्तभद्र ने अष्टाग नामक ग्रन्थ में जो विस्तार से कहा था, उसी का अनुसरण करके संक्षेप में उदयनादित्य ने इस कल्याणकारक को बनाया है ('अष्टागमप्यखिल-मत्र समतभद्रै. प्रोक्तं सविस्तरमथो विभवै. विशेषात्। संक्षेपतो निगदित तदिहात्म-शक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥')। सम्भवत समन्तभद्र आचार्य का ग्रन्थ अष्टांगसग्रह के ढग का रहा होगा। आज यह साहित्य उपलब्ध नही। केवल गिने चुने ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं। इनमें प्रसिद्ध ग्रन्थ यही कल्याणकारक है।

कल्याणकारक का प्रकाशन शोलापुर के श्री सेठ गोविंदजी रावजी दोशी ने पं० वधर्मान पार्श्वनाथ शास्त्री से सम्पादन करवाकर किया है। इसकी भूमिका में जैन आयुर्वेद साहित्य तथा लेखक का परिचय दिया है। उसी से पता चलता है कि जैन आयुर्वेद साहित्य में 'पूज्यपाद' नाम के मुनि प्रसिद्ध आयुर्वेद ज्ञाता हुए हैं। इनके कुछ योग वसवराजीय मे उद्धृत है (पृष्ठ १०३, १११)[1]। पूज्यपाद का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ कल्याणकारक के अतिरिक्त अन्यत्र भी हैं, यथा—

---

१ वातादि रोग में—त्रिकटुकादि नस्य 'पूज्यपादकृतो योगो नराणां हित-काम्यया'—प्रकरण ६, पृष्ठ १११; ज्वरांकुश में—'पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वर-गजांकुशः'—प्र० १, पृष्ठ ३०; चण्डभानुरसः—'नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषितः पूज्यपादैः'—प्र० १; शोकमुद्गररस—'शोकमुद्गरनामायं पूज्यपादेन निर्मितः'।

'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादः
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचाः पूर्णदाबोधवृत्तः ॥'

रसरत्नसमुच्चयकार न भी "कणेरी पूज्यपादश्च" (कर्णाटक के पूज्यपाद) शब्द से इनका उल्लेख किया है। महर्षि चामुण्ड राय ने पूज्यपाद की प्रशसा में कहा है—

'सुकविविप्रणुतर व्याकरण कर्त्तृगल् गगनगमनसामर्थ्यरता।
किं क तिलकरेंडु पोगलवुदु सकलजनं पूज्यपादभट्टारकम् ॥'

इसी प्रकार पार्श्व पण्डित ने पूज्यपाद के लिए लिखा है कि सर्वजन पूज्य श्री पूज्यपाद ने अपने कल्याणकारक वैद्यक ग्रन्थ के द्वारा प्राणियो के देहज दोषो को, शब्दसाधक जैनेन्द्र के व्याकरण से वचन के दोषो को और तत्त्वार्थवृत्ति की रचना से मानसिक दोषो (मिथ्यात्व) को नष्ट किया (कल्याणकारक की प्रस्तावना)। इसकी तुलना पतजलि के लिए लिखे विज्ञानभिक्षु के वचन से हो जाती है कि, योग से चित्त के मल को, व्याकरण रचना से वाणी के दोषों को और वैद्यक से शरीर के दोषो को जिस पतजलि ने दूर किया, उसे मेरा नमस्कार है।

पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थो में जैन प्रक्रिया का ही अनुसरण किया है। जैन प्रक्रिया कुछ भिन्न है, यथा—"सूत केसरिगन्धक मृगनवासारद्रुमम्"—यह रससिन्दूर तैयार करने का पाठ है। इसमे जैन तीर्थङ्करो के भिन्न-भिन्न चिह्न बताये है। केसरी—महावीर का चिह्न है; महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर थे; इसलिए केसरि शब्द से २४ सख्या समझनी चाहिए। मृग सोलहवें तीर्थङ्कर का चिह्न है; इसलिए मृग से १६ का अर्थ करना चाहिए। इसमें पारद २४ और गन्धक १६ भाग लेना चाहिए।

पूज्यपाद के योगो का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है, यह मरिचादि प्रक्रिया है—

'मरिच मरिच मरिच तिक्ततिक्तं च तिक्तम्।
कणकण कणमूलं कृष्णकृष्णं च कृष्णम् ॥'

'मेघं मेघं च मेघो रजरज रजनो यष्टी यष्ट्याह्वयष्टी।
वज्रं वज्रं च वज्रं जल जल जलजं भृङ्गी भृङ्गी च भृङ्गम् ॥
भृङ्गं भृङ्गं च भृङ्गं हरहर हरही वालकं वालुक वा।
कंटत्कंटत्कंकंटं शिवशिवशिवनीं नंदि नंदी च नन्दी ॥
हैमं हैमं च हैमं वृष वृष वृषभा अग्नि अग्नि च अग्निः।
वान्तिर्वांतं च पैत्य विष हरनिमिषं पूजितं पूज्यपादैः ॥'

इसी से इनका निघण्टु, शब्दकोश भी पृथक् बना। इसमें आचार्य अमृतनन्दि का कोश महत्त्वपूर्ण है। इस कोश में बाईस हजार शब्द है, किन्तु सकार पर जाकर अपूर्ण रह गया है। इसमें वनस्पतियो के नाम जैन पारिभाषिक रूप मे आये है, जैसे—अभव्य—हंसपादी, अंगिगा—दन्त्रिनाली, अनन्त—सुवर्ण, ऋषभ—पावठे की लता, ऋषभा—आमलक, मुनिखर्जुरिका—राजखर्जूर, वर्धमाना—मधुर मातुलुग; वीतराग—आम्र।

समन्तभद्र—पूज्यपाद के पहले समन्तभद्र प्रत्येक विषय के अद्वितीय विद्वान् हुए है। इन्होने सिद्धान्तरसायनकल्प नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना अठारह हजार श्लोको में की थी। अब कही-कही इसके श्लोक मिलते है। ग्रन्थ लुप्त हो गया है। इस ग्रन्थ मे जैनमत की प्रक्रियाओ का उल्लेख था। यथा—'रत्नत्रयौषध' से वज्रादि रत्न न लेकर जैनशास्त्र में प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र इन तीन रत्नो का ग्रहण किया है। ये तीन रत्न जिस प्रकार से मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान को नष्ट करते है, उसी प्रकार से पारस, गन्धक और पाषाण (माणिक्य आदि रत्न) ये तीन रत्न वात, पित्त, कफ तीनो को नष्ट करते है। इसलिए रसायन को रत्नत्रय कहते है।

समन्तभद्र से पूर्व भी वैद्यक ग्रन्थ बने थे। ये कारवाड जिला होन्नावर तालुका के गेरसप्पा के पास हाड्हिल में रहते थे (कन्नडमें हाड शब्द का अर्थ सगीत है, हिल शब्द का अर्थ ग्राम है, जिसे आजकल सगीतपुर कहते है)। हाडहिल में इन्द्रगिरि और चन्द्रगिरि दो पर्वत है। वहाँ पर कुछ मुनि तपश्चर्या करते थे। उनकी शिष्य-परम्परा में वैद्यक ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। इसी से समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—"श्रीमद्भल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनि सूतवादे रसाब्जम्"।

जैन धर्म अहिंसाप्रधान है, इसलिए आयुर्वेद ग्रन्थकारो ने वनस्पतियो को ही औषधो में स्थान दिया है। इन ग्रन्थो में मास-मद्य का उल्लेख नही है। अहिंसा प्रधान होने से एकेन्द्रिय प्राणियो का भी संहार नही करना चाहिए। इसी लिए पुष्पायुर्वेद बनाया गया। इसमे अठारह हजार जाति के कुसुमरहित पुष्पो से ही रसायनौषधियो के प्रयोगो को लिखा है। इस पुष्पायुर्वेद की कर्णाटकी लिपि मे लिखी प्रति उपलब्ध है।

समन्तभद्र का पीठ गेरसप्पा में था। पूज्यपाद के पीछे कई जैन ग्रन्थकार हुए है—गुम्मद देव मुनि, इन्होने मेरुतन्त्र नामक वैद्यक ग्रन्थ बनाया है। प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में श्री पूज्यपाद स्वामी का बहुत आदरपूर्वक स्मरण किया है। इन्होने पूज्यपाद के वैद्यामृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है—

'सिद्धान्तस्य च वेदिनो जिनमते जैनेन्द्रपाणिन्य च ।
कल्पव्याकरणाय ते भगवते देव्यालियाराधिपा ॥
श्री जैनेंद्रवचस्सुधारसवरैः वैद्यामृतो धार्यते ।
श्रीपादास्य सदा नमोस्तुगुरवे श्रीपूज्यपादौ मुनेः ॥'

सिद्ध नागार्जुन—ये पूज्यपाद के भानजे कहे जाते है। नागार्जुनकल्प, नागार्जुन कक्षपुट आदि ग्रन्थ इन्होने बनाये है । (सिद्ध नागार्जुन जिनका सम्बन्ध रसशास्त्र से है, बौद्ध थे, सम्भवत उन्ही के अनुसार जैनो ने इनको भी अपने यहाँ ले लिया है) । वज्रखेचर गुटिका—खेचरगुटिका इनके नाम से कही जाती है (यह गुटिका प्रसिद्ध बौद्ध नागार्जुन के नाम से रसग्रन्थो में प्रसिद्ध है, यथा—'अभ्रे चाष्टगुणे जीर्णे समबीजेन जारिने। षड्गुणे गन्धके जीर्णे गुटिका खेचरी भवेत् ॥'—रसकामधेनु)

कर्णाटक के जैन ग्रन्थकार वैद्य—कन्नड भाषा में अनेक विद्वानो ने वैद्यक ग्रन्थो की रचना की है। इनमें कीर्त्तिवर्म का गोवैद्य, मगलराज का खगेन्द्रमणि दर्पण, अभिनवचन्द्र का हयशास्त्र, देवेन्द्रमुनि का बालग्रह चिकित्सा, अमृतनन्दि का वैद्यकनिघण्टु, जगदेव का महामन्त्रवादि, श्रीधरदेव का २४ अधिकारो से युक्त वैद्यामृत, साल्व द्वारा लिखा रसरत्नाकर व वैद्यसांगत्य आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय है। जगदत्त सोमनाथ ने पूज्यपादाचार्य लिखित कल्याणकारक का कन्नड़ भाषा में अनुवाद किया है। यह ग्रन्थ आज भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडश ज्वर चिकित्सा निरूपण प्रकरण आदि अष्टाग चिकित्सा है। सोमनाथ कवि ने कल्याणकारक (कन्नड) में लिखा है—

'सुकरं तानेने पूज्यपाद मुनिगल् मुंपेलद् कल्याणका-
रकमं वाहटसिद्धसार चरकाद्युत्कृष्टमं सद्गुणा—
धिकं वर्जित मद्यमांस मधुवं कर्णाटदि लोकरं
क्षपमा चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेलदॉन तल्लितोयं ॥'

पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ मे मद्य, मास और मधु का बिलकुल प्रयोग नही किया था।

उग्रादित्याचार्य—उपलब्ध कल्याणकारक के रचयिता उग्रादित्याचार्य है। उग्रादित्याचार्य ने पूज्यपाद, समन्तभद्र, पात्र स्वामी, सिद्धसेन, दशरथ गुरु, मेघनाद और सिंहसेन आचार्यों का उल्लेख किया है। इससे उग्रादित्य इनके पीछे हुए हैं। कल्याणकारक की प्रस्तावना में इनका समय छठी शती से पूर्व माना गया है, जो कि इसलिए उचित नही जँचता कि रसयोगो की चिकित्सा का व्यापक प्रचार ११वी शती के पीछे ही मिलता है; विशेष करके उत्तर भारत के ग्रन्थो में। यदि रसप्रयोग इतने व्यापक

रूप में प्रचलित होते तो वृन्द के सिद्धयोग-संग्रह एवं चक्रदत्त में इनका उल्लेख अवश्य होता। इसलिए ये ग्रन्थ जिनमें रस-योगों की विशेषता है, बारहवी शती से पूर्व के नहीं। उग्रादित्य ने ग्रन्थ के अन्त में अपने समय के राजा का उल्लेख किया है —

"इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशि वैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्येण नृपतुंगवल्लभेन्द्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम्।"

इसके समर्थन में इसके ऊपर का श्लोक है—'ख्यातश्रीनृपतुगवल्लभमहाराजाधिराजस्थितिः' इत्यादि।

नृपतुग अमोघवर्ष प्रथम का नाम है। प्रस्तावना-लेखक का कहना है कि अमोघवर्ष की ही वल्लभ और महाराजाधिराज उपाधियाँ थी। नृपतुग भी एक उपाधि थी। अमोघवर्ष प्रथम के राज्यारोहण का समय ७३६ शक (८१५ ईसवी) है। यह राजा प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन का शिष्य था। पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना जिनसेन ने की थी। इसके एक सर्ग के अन्त में इन्होने लिखा है —

"इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम चतुर्थसर्गः।"

अमोघवर्ष प्रथम राष्ट्रकूट था, जिसने जैनधर्म का प्रचार किया। इसी अमोघवर्ष के राज्यकाल में राद्धांत-ग्रन्थ की टीका जयधवल के द्वारा हुई थी (८३७ ई०, ७५९ शक)। अन्तिम वय में अमोघवर्ष राज्य छोड़कर वैराग्य धारण करके आत्मकल्याण मे प्रवृत्त हुआ। उग्रादित्याचार्य ने जिस वल्लभ का उल्लेख किया है, वह अमोघवर्ष ही होना चाहिए। इससे उग्रादित्याचार्य अमोघवर्ष के समय में हुए थे, जो शक आठवी एव नवी ईसवी शती आता है।

उग्रादित्याचार्य ने अपने गुरु का नाम श्रीनंदि कहा है। इनकी कृपा से उनका उद्धार हुआ था ('श्रीनदिनदितगुरुर्गुरुरूर्जितोऽहम्'—२५।५१)।

उग्रादित्याचार्य ने अपना कोई भी परिचय नही दिया है, केवल इतना पता चलता है कि इनके गुरु का नाम नन्दि था। ग्रन्थ निर्माण का स्थान रामगिरि नामक पर्वत था[1]। रामगिरि-पर्वत वेंगि मे था। वेंगि त्रिकलिंग देश मे प्रधान स्थान है। कलिंग के तीन भाग है, उत्तर कलिंग, मध्य कलिंग और दक्षिण कलिंग। इन तीनो को मिलाकर त्रिकलिंग कहते है। इस त्रिकलिंग (वेंगि) के सुन्दर रामगिरि पर्वत

---

१. 'स्थानं रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदं,
श्रीनंदिप्रभवोऽखिलागमनिधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा ॥' २१।३

के जिनालय मे बैठकर उग्रादित्य ने इसकी रचना की थी। अन्तिम प्रकरण मे आचार्य ने मद्य-मास आदि निन्दित पदार्थों के सेवन का निषेध युक्तिपूर्वक किया है।

उग्रादित्याचार्य का समय नवी शती ऊपर सिद्ध किया गया है। यह सम्भव हो सकता है; क्योकि इसमे नाडी परीक्षा विधि नही है। रसयोग जो है, वे भी बहुत थोडे और मामूली हैं। सम्भव है कि रसशास्त्र का प्रथम विकास रुद्र सम्प्रदाय के अन्दर दक्षिण मे प्रथम हुआ हो। नागार्जुन का जितना सम्बन्ध दक्षिण से है, उतना उत्तर से नहीं। उत्तर में बगाल के पाल राजा अवश्य बौद्ध थे, उन्होने विक्रमशिला और नालन्दा विद्यापीठो की बहुत सहायता की थी। उस समय सम्भवत नागार्जुन उत्तर में आये हों, जिससे उनके लिए वृन्द और चक्रदत्त ने लिखा है कि "नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके"—इस वार्त्ता को नागार्जुन ने पाटलिपुत्र के स्तम्भ पर, शिला पर लिख दिया है, जिससे लोग इसे देखें और लाभ उठायें। यह एक प्रकार से उस समय की सामान्य जनों को सूचना थी। रसविद्या का दक्षिण से उत्तर तक पूर्ण प्रवेश होने में दो सौ, तीन सौ वर्ष का समय लग गया होगा। क्योंकि अल्बेरुनी जो कि ११वी शताब्दी में भारत मे आया था, तब रस-विद्या का प्रचार उत्तर भारत मे था। इसलिए दक्षिण में इस ग्रन्थ के नवी शती में बनने की सम्भावना हो सकती है।

कल्याणकारक की समीक्षा—कल्याणकारक जैन ग्रन्थ है। इसलिए इसमें जैन सिद्धान्त की दृष्टि से ही विषयो का उल्लेख किया है। यथा—आत्मा अपने देह-परिमाण का है —

'न चाणुमात्रो न कणप्रमाणो नाप्येवमंगुष्ठसमप्रमाणः।
न योजनात्मा न च लोकमात्रो देही सदा देहपरिप्रमाणः॥' (७।५)

आत्मा का प्रमाण अणुमात्र भी नहीं है, एक कणमात्र भी नही, एक अगुष्ठ समान प्रमाणवाला भी नही और न इसका प्रमाण योजन का है, न लोकव्यापी है। आत्मा सदा अपने देह के प्रमाणवाला है।

वैद्य और आयुर्वेद के लक्षण भी अपने शब्दो में कहे है। इसमे आयुर्वेद का लक्षण चरकादि-सम्मत है। परन्तु वैद्य शब्द नये रूप में सामने आता है —

"अच्छी तरह उत्पन्न केवल ज्ञानरूपी नेत्र को विद्या कहते है। उस विद्या से उत्पन्न उदात्त शास्त्र को 'वैद्य-शास्त्र', ऐसा व्याकरण को जाननेवाले विद्वान् कहते है। इस वैद्य-शास्त्र को जो लोग अच्छे प्रकार से मनन करके पढते है, उनको भी वैद्य कहते हैं (१।१८)।"

"वैद्यशास्त्र को जाननेवाले इस शास्त्र को आयुर्वेद भी कहते है। वेद शब्द विद्

धातु से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान, विचार और लाभ है। इस वेद शब्द के पीछे 'आयु' शब्द जोड दिया गया है। आयु का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र आयुर्वेद है। (१।१९)।"

आयुर्वेद के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वेश्य ही कहे गये हैं (सुश्रुत मे शूद्र को भी कुल-गुण सम्पन्न होने पर मत्र को छोडकर आयुर्वेद पढाने में कुछ आचार्यो की सम्मति बतायी गयी है)।

क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य कुल मे जिसका जन्म हुआ हो, आचरण शुद्ध हो, जो बुद्धिमान्, कुशल, नम्र हो वही इस पवित्र शास्त्र को पढने का अधिकारी है। प्रात काल गुरु की सेवा में उपस्थित होकर इस विषय के उपदेश देन की प्रार्थना करे (१।२१)।

चिकित्सा पद्धति मे ज्योतिष का विचार भी इसमे लिखा है। नाडी का विचार इसमे नही मिलता—

'प्रश्नैर्निमित्तविधिना शकुनागमेन ज्योतिर्विशेषतरलग्नशशाकयोगैः।
स्वप्नैश्च दिव्यकथितैरपि चातुराणामायुःप्रमाणमधिगम्य भिषग्यतेत॥'

रोगी की परिस्थिति को रोगी मे तथा दूसरो से पूछकर, निमित्त सूचना, शकुन, ज्योतिष-शास्त्र के लग्न, चन्द्रयोग आदि, स्वप्न व दिव्य ज्ञानियो के कथन आदि द्वारा रोगी के आयु प्रमाण को जानकर वैद्य चिकित्सा करे।

परीक्षा दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीन से बतायी गयी है। चिकित्सा करने के नियम भी ज्योतिष के अनुसार मुहूर्त्त विचार तथा राजा की अनुमति, साध्यासाध्य आदि बातो के विचार के आधार पर कहे गये है (७।५५)।

कल्याणकारक मे रोग-क्रम या रोग-चिकित्सा वर्णन का उल्लेख सबसे भिन्न है। इसमे वात-पित्त-कफ की दृष्टि से रोगो का उल्लेख है। वातरोगो मे वात सम्बन्धी सब रोग लिखने का यत्न किया गया है। पित्त-रोगो में ज्वर, अतिसार का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कफरोगो मे कफ से सम्बन्धित रोग है। इन तीनो रोगो के लिए महामायाधिकार नाम दिया गया है। नेत्ररोग, शिरोरोग आदि रोगो का क्षुद्र रोगाधिकार मे उल्लेख किया है। रसायन प्रकरण पहले आ गया है। इस प्रकार से ग्रन्थकर्त्ता ने अपने विचार से एक नया क्रम रोग-वणन मे अपनाया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्त्ता ने माधवनिदान क्रम को छोडा है। सम्भवत उसको माधवनिदान का पता नही होगा।

आयुर्वेद में प्रसिद्ध सोमकल्प, सोमसेवन विधि को चन्द्रामृत-रसायन नाम से कहा गया है (६।५७–६३)। इसी प्रकार चर्म-चिकित्सा मे क्षार, अग्नि, शस्त्र और

औषध भेद से चिकित्सा कही गयी है। औषध-चिकित्सा में बस्ति-चिकित्सा का उल्लेख है। व्रण-चिकित्सा मे पट्टी बाँधने की विधि, नियम भी इसमे वर्णित है। पलितनाशक लेप, केश-कृष्णीकरण उपचार बताये गये है। रस-रसायन कल्प अधिकार पीछे है। रस में पारद सम्बन्धी उल्लेख है, परन्तु बहुत सक्षेप में है। इसमे रसशास्त्र में वर्णित पारद के सस्कार आदि कुछ नही कहे गये हैं। यह विषय बहुत सक्षिप्त रूप मे आया है —

'बीजाभ्रतीक्ष्णवरमाक्षिकधातुसत्त्वसंस्कारमत्र कथयामि यथाक्रमेण।
संक्षेपतः कनककृद् रसबन्धनार्थं योगी प्रधानपरमागमनः प्रगृह्य ॥' (२४।१८)

इस प्रकार से आगे स्वर्ण बनाने का उल्लेख विस्तार से किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त मे मास न खाने के सम्बन्ध मे बहुत सरल तर्क दिये गये है। पृषद्-राजा ने गायो का वध किया था, चरक के इस कथन को (चर० चि० अ० १९ अतीसार रोग चिकित्सा, अतिसार रोग की उत्पत्ति मे) कवि ने भी कहा है, उसकी मान्यता है कि तभी से पशुवध प्रारम्भ हुआ है—

'अवंतिषु तथोपेन्द्रपृषद्ध्नामा च भूपतिः।
विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम् ॥
ततोऽविनयदुर्भूत एतस्मिन्विहते तथा।
विवस्वांश्च सुखे दिव्येऽभिर्भूतैस्समवाह्यत ॥
उच्चचार ततोऽन्वक्ष सुक्रूरोऽवगमानुषे।
इतः प्रभृति भूतानि हन्यन्तेऽक्षसुखादिति ॥'

उज्जयिनी मे पृषद्वान् राजा ने विनय को छोडकर गायो का वध प्रारम्भ किया। (कालिदास के मेघदूत मे जिस चर्मण्वती का उल्लेख आता है, उसका इसी से प्रारम्भ कहा जाता है)। हिंसा का प्रचार इसी से प्रारम्भ हुआ। इसके पीछे लोग इन्द्रियो के सुख के लिए हिंसा करने लगे। इसके पीछे शान्ति-कर्म करनेवाले भूत-पिशाच आदि के नाम पर प्राणियो का वध करते है। परन्तु समझ में नही आता कि हिंसा के कारण उत्पन्न रोगो की हिंसा-जनित मास से किस प्रकार शान्ति हो सकती है (रक्त से दूषित वस्त्र रक्त से धोने पर साफ नही हो सकता)। इसलिए कर्म से उत्पन्न रोगो की शान्ति हिंसा कर्म से किस प्रकार हो सकती है —

'पापजत्वात्त्रिदोषत्वान्मलधातुनिबन्धनात्।
आमयानां समानत्वान्मांसं न प्रतिकारकम् ॥'

मांस न खाने के लिए युक्तियाँ बहुत सुन्दर और सरल हैं—

'मांसमत्स्यगुडमाषमोदकैः कुष्ठमावहति सेवितं पयः।
शाकजांबवसुरासवैश्च तन्मारयत्यबुधमाशु सर्पवत्॥
मांसादाः श्वापदाः सर्वे वत्सरांतरकामिनः।
अवृष्यास्तत एव स्युरभक्ष्यपिशिताशिनः॥'[1]

चरक-संहिता मे वर्णित मासभक्षण के विषय का निराकरण किया गया है। कन्द, मूल, लता आदि का भेद मास से इस प्रकार बताया गया है —

'मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मासम्।
यद्वन्निम्बो वृक्षः वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः॥'

नीम वृक्ष है, परन्तु वृक्ष नीम नहीं। इसी प्रकार से मास जीव-शरीर है, जीव-शरीर मास नहीं। इस प्रकार से गुल्म, लता आदि जो अन्त चेतनावाली वनस्पतियाँ है, वे मास की कोटि मे नही आती।

ग्रन्थ की भाषा, छन्द रचना सरल और मधुर है, छन्द भी सुन्दर है—

'केचिद् विचाररहिताः प्रथितप्रतापाः साक्षात् पिशाचसदृशाः प्रचरन्ति लोके।
तैः किं यथाप्रकृतमेव मया प्रयोज्यं मात्सर्यमार्यगुणवर्यमिति प्रसिद्धम्॥' (१।१६)

प्रशस्त औषधि का लक्षण—

'स्वल्पं सुरूपं सुरसं सुगन्धि, मृष्टं सुखं पथ्यतमं पवित्रम्।
साक्षात्सदा दृष्टफलं प्रशस्तं, संप्रस्तुतार्थं परिसंगृहीतम्॥'

कल्याणकारक एक प्रकार से अष्टागसग्रह है, जो अपने नये क्रम में लिखा गया है। आयुर्वेद के सिद्धान्त अपने जैन धर्म के अनुसार वर्णित है। इसमें कवि ने स्वय कहा है—

'प्रोद्यज्जिनप्रवचनामृतसागरान्तः, प्रोद्यत्तरंगनिसृताल्पशीकरं वा।
वक्ष्यामहे सकललोकहितैकधाम कल्याणकारकमिति प्रथितार्थमुक्तम्॥
नैवा[illegible] न च काव्यदर्पान्नैवान्यशास्त्रमदभंजनहेतुना वा।
किन्तु स्वकीयतप इत्यवधार्य वर्यमाचार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत्॥'

---

१. मांस न खाने की यह युक्ति गाय-भैंस में लागू होती है, वे भी वर्ष में एक बार ही गर्भ धारण करती है। वस्तुतः पशुओं का नियंत्रण प्रकृति करती है।

भाग १

रसशास्त्र-निघण्टु

ग्यारहवाँ अध्याय

रसविद्या-रसशास्त्र

आयुवद में दो परम्पराओ का सामान्यत उल्लेख है। वेद की परम्परा में रुद्र को प्रथम वैद्य कहा है—'प्रथमो दैव्यो भिषक्' (यजु १६।५); 'भिषक्तम त्वा भिषजा शृणोमि' (ऋ २।७।१६)। आयुर्वेद ग्रन्थो की परम्परा में ब्रह्मा आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा है (चरक, सू०, अ० ४, सुश्रुत, सू० अ० १, संग्रह, सू० अ० १।६)। रसशास्त्र में शिव को उपदेष्टा कहा गया है। वेदो का सम्बन्ध भी ब्रह्मा से ही है, इसलिए मन्त्रो का सम्बन्ध ब्रह्मा से माना गया। रुद्र-शिव की जो कल्पना पुराणो मे है, वह अशुचित्वपूर्ण है (कुमारसभव ५।६७–६९)। इसलिए अपवित्रता से सिद्ध होनेवाले तन्त्रो का सम्बन्ध शिव के साथ जोडा गया।

जहाँ तक सिद्धि-सफलता का प्रश्न है, वह मन्त्र और तत्र से मिलती है। चरक में ऐश्वर्य आठ प्रकार का वर्णित है, 'आवेश—परशरीर-प्रवेश परचित्त-ज्ञान, विषयो को इच्छानुसार प्रस्तुत करना, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय श्रवण, सब वस्तुओ का स्मरण, अमानुषी कान्ति, इच्छा होने पर अदृश्य होना—यह आठ प्रकार का ऐश्वर्य योगियो का है' (शा० अ० १।१४०–१४१)। योगशास्त्र मे सिद्धि प्राप्त करने के साधनो मे तप, ज्ञान, समाधि के साथ औषधि को भी कारण माना है (योगदर्शन–४।१)।

इनमें औषधि भी सिद्धि-सम्पत् देती है। इसी सम्पत् का सम्बन्ध तत्र से है, शेष वस्तुओ से प्राप्त सम्पत् का सम्बन्ध मत्र से है। गीता मे सम्पत् दो प्रकार की कही गयी है, एक दैवी सम्पत् और दूसरी आसुरी सम्पत्। इनमें दैवी सम्पत् ससार के बन्धन से मुक्त कराने के लिए है, और आसुरी सम्पत् इसमें जकडने के लिए है (गीता १६।५)। लोक मे दैव और आसुर दो स्वभाव हैं, इसलिए सिद्धि या सम्पत् भी दो प्रकार की है। यह सम्पत् दोनो प्रकार के मनुष्य प्राप्त करते है। इसलिए हिमालय पर तप करके ऋषियो ने जो सिद्धि या सम्पत् प्राप्त की थी—उसी प्रकार की सिद्धियाँ श्मशान मे मुर्दे के ऊपर बैठकर तप करके भी प्राप्त करनेवाले

हुए हैं। इसलिए जहाँ तक सम्पत् या ऐश्वर्य का प्रश्न है, वहाँ तक दोनो ने सिद्धियाँ प्राप्त की है, भले ही उनके फल में भेद हो।

सिद्धि प्राप्त करने का भी रास्ता भिन्न है, मन्त्र सिद्ध करने के लिए स्त्री-मास-मधु (मद्य) से पृथक् रहना चाहिए, मित-थोडा आहार करना चाहिए, मन-वचन-कर्म से पवित्र रहना आवश्यक है, कुश के बिस्तर पर सोना, देवता की उपासना सुगन्ध-माला-उपहार-बलि से करनी चाहिए, इसके लिए जप और होम करना चाहिए (सुश्रुत, क० अ० ५।११–१२)। तन्त्र की प्रक्रिया इसके विपरीत है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में 'सोमसिद्धान्त' नामक कापालिक का वर्णन है, वह मनुष्य की अस्थियो की माला धारण किये, श्मशान में वास करता था और नरकपाल मे भोजन करता था। योगांजन से शुद्ध दृष्टि द्वारा वह कापालिक जगत् को परस्पर भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (शिव) से अभिन्न देखा करता था।[1] इस नाटक की चन्द्रिका नामक व्याख्या में सोम-सिद्धान्त का अर्थ समझाया गया है। सोम का अर्थ है—उमा सहित (शिव)। जो व्यक्ति विश्वास करता है कि शिव जिस प्रकार नित्य उमा सहित कैलास मे विहार करते हैं, उसी प्रकार कान्ता के साथ नित्य विहार करना ही मुक्ति है—वही सोम-सिद्धान्ती है ('सह उमयेति सोम'—चक्रपाणि)।

इसी प्रकार राजशेखर विरचित कर्पूरमंजरी में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को कुल मार्ग-लग्न या कौल कहते थे। कर्पूरमजरी के कापालिक ने बताया है कि कुलमार्ग के साधको को न मंत्र की जरूरत है, न तत्र की, न ज्ञान की और न ध्यान की। उसे गुरुप्रसाद की भी जरूरत नही। वे लोग मद्य आदि के सेवन से सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते है।[2] (१, २२–२४)

---

१. नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः श्मशानवासी नृकपालभूषणः।
पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात् ॥
(प्रबोधचन्द्रोदय, ३।१२)

आयुर्वेद में योगांजन—"कासीससामुद्ररसांजनानि जात्यास्तथा कोरकमेव वापि।
प्रक्लिन्नवर्त्मन्युपदिश्यते तु योगाञ्जनं तं मधुनाऽवघृष्टम् ॥
(सुश्रुत, उत्तर० आ० ११।१५

२. मन्ताण तन्ताण ण किंपि जाणं झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिबमो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा ॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मांसं पिज्जए खज्जए।

इस प्रकार से तंत्र सिद्ध करनेवालो का रास्ता मत्रद्रष्टा ऋषियो से भिन्न था। मंत्र का सबध ब्रह्मा से है, तत्र का सम्बन्ध-शिव से है। शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार है—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के है—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचार सबसे श्रेष्ठ है।

शाक्त आगम तीन प्रकार के है, सात्त्विक अधिकारियो के लिए कहे गये आगम तंत्र हैं, राजस अधिकारियो के लिए बने आगम यामल और तामस अधिकारियो के लिए बने आगम डामर हैं। (नाथसम्प्रदाय)

चरक में तन्त्र शब्द आयुर्वेद-विद्या-शाखा-सूत्र शब्दो के पर्याय रूप में आता है (सू० अ० ३०।३१), तत्र शब्द शरीर धारण अर्थ मे भी आता है ('निरुक्त तत्र-णात् तंत्रम्'—सू० अ० ३०।७०)। यह नियमन या नियंत्रण अर्थ में भी आता है ('प्राणैस्तत्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्य तत्रक.' शा० अ० १।७७)। कापालिक भी अपने शरीर को नियमित नियत्रित करते थे, इससे वे भी योगी, सिद्ध कहे जाते थे। यही सिद्धि है। यह जिनको प्राप्त हुई वे सिद्ध कहे गये[1]।

भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च संज्जा कोलोधम्मो कम्सणो भोदि रम्मो ॥
मुत्ति भणन्ति हरिब्रह्ममुखादि देवा झाणेण वेअपठणेण कदुक्किआए।
एक्केण केवल मुमादइएण दिट्ठो मोक्खो सम सुर अकेलि सुरारसेहिं ॥
(कर्पूरमजरी. १।२२-२४)

१. मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकंठविगलत्कीलालधारोज्वलै—
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः ॥ (प्रबोधचन्द्रोदय)

मालतीमाधव में—"इदं च पुराण [illegible]नकर-सगन्धिभिश्चिताधूमैरधस्ताद् विभावितस्य श्मशानवटस्य नेदीयः करालायतनम्। यत्र पर्यवसितमत्रसाधनस्यास्मद्गुरोरघोरघण्टस्याज्ञया सविशेषमद्य मया पूजासम्भारः संनिधापनीयः। कथितं हि मे गुरुणा—वत्से कपालकुण्डले! भगवत्या करालया यन्मया प्रागुपयाचितं स्त्रीरत्नमुपहर्त्तव्यं, तदत्रैव नगरे विहितमास्ते।"—पांचवां अंक

माधव नरमांस का विक्रेता था। अघोरघंट और कापालिक शिव की ही पूजा करते मिलते हैं; यथा कापालिकी—"वन्दे नन्दितनीलकण्ठपरिषद्व्यक्तत्तय-

सिद्धसम्प्रदाय या नाथसम्प्रदाय

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसम्प्रदाय' नाम से एक पुस्तक लिखी है। उसमे सिद्धो के विषय मे विस्तार से उल्लेख किया गया है। जो सिद्ध हुए है वे नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, वे इसी परम्परा मे हुए है। रसशास्त्र का आद्य कर्त्ता जिस नागार्जुन को कहा जाता है, वह भी इन्ही चौरासी सिद्धो मे से एक था। इसलिए उसी के आधार पर सिद्धो की जानकारी दी गयी है। इससे रसशास्त्र का विकास तथा समय बहुत स्पष्ट हो जाता है। विशेषत जब इसके साथ मे अल्बेरूनी का कथन भी मिल जाता है। अल्बेरूनी ११वी शताब्दी मे भारत आया था, और यही समय सिद्धो का है, जैसा हम देखेंगे।

'हठयोगप्रदीपिका' की टीका मे ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथो में प्रथम आदिनाथ है जो स्वय शिव स्वरूप ही है। यही नाथसम्प्रदायवालो का विश्वास है। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मानन्द नाथसम्प्रदाय को जानते थे। इस सम्पदाय के लिए सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसम्प्रदाय, अवधूतमत और अवधूतसम्प्रदाय नाम भी आते है। इनके मत का अति प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' है, जिसे सक्षिप्त करके अठारहवी शताब्दी में बलभद्र पण्डित ने 'सिद्धसिद्धान्तसग्रह' बनाया। इससे पता चलता है कि अति प्राचीन काल मे इसे 'सिद्धमत' कहा जा रहा है। गोस्वामी तुलसीदास भी इस मत को सिद्धमत कहते थे। सिद्धमार्ग ही नाथमत है[1]।

आदिनाथ स्वय शिव है और मूलत समग्र नाथसम्प्रदाय शैव है। कापालिक मत भी नाथसम्प्रदाय से उत्पन्न हुआ है। क्योकि शावर तत्र में कापालिको के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ कहा गया है और बारह शिष्यो में कई नाथ-मार्ग के प्रधान आचार्य माने गये है। शाक्त मार्ग जो तत्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा

क्रीडितम् ॥" अघोरघंट—"चामुण्डे भगवति मंत्रसाधनार्थं बुद्धिउठामुपनिहितां भजस्व पूजाम् ॥"

पंचतंत्र में भी भैरवानन्द को विवर प्रवेश, शाकिनी साधन, श्मशान सेवन, महामांस विक्रय और साधक-वर्तिवाला बताया है (अपरीक्षित कारक)।

१ वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः।
अन्ये भेदरता विषादविकलास्ते तत्त्वतो वंचिता—
स्तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ॥

भी नाथ ही हैं। नाथसम्प्रदाय की साक्षियो से स्पष्ट है कि तान्त्रिको का कौलमार्ग और कापालिक मत नाथ-मतानुयायी हैं। भवभूति के मालतीमाधव मे कापालिको का जो वर्णन है, वह बहुत भयकर है। वे लोग मनुष्य की बलि दिया करते थे। परन्तु इतना इस नाटक से स्पष्ट है कि उनका मत षट्चक्र और नाडिकानिचय के काययोग से सम्बद्ध था (५—२)। यह काय-योग नाथपन्थियो की विशेषता है। चौरासी बौद्ध सिद्धो मे एक सिद्ध कान्हूपाद या कृष्णपाद हुए हैं, इन्होने अपने को कापालि या कापालिक कहा है। ये प्रसिद्ध सिद्ध जालधर के शिष्य थे। जालधर नाथ औघड थे, जब कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा। जो लोग कानो को छिदवाकर कर्णकुण्डल पहनते है, उन्हे कनफटा कहते हैं। औघडो में बहुत से कान नही छिदवाते, इनका वेश भी विचित्र होता है।[1]

सम्प्रदाय के पुराने सिद्ध—हठयोगप्रदीपिका मे नाथपथ के सिद्ध योगियो के नाम दिये है। उनमें मथानभैरव, काकचण्डीश्वर, भैरव, गोरखनाथ नाम भी। महार्णव-तन्त्र मे दिये नौ नाथो मे नागार्जुन का नाम है। वर्णरत्नाकर पुस्तक के कर्त्ता कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर है, जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (१३००—१३२१ ईसवी) के सभासद थे, इसमे चौरासी सिद्धो के नाम दिये हैं। वास्तव मे नाम ७६ ही है, आठ नाम छूट गये हैं। परन्तु श्री राहुल साकृत्यायन ने जो सूची दी है, उसमे चौरासी नाम हैं। दोनो सूचियो मे अनेक सिद्ध उभय-साधारण है। राहुलजी की सूची वज्रयानियो (सहजयानी सिद्धो) की है। इनके नाम के पीछे 'पा' आता है।

समय—नाथ-सम्प्रदाय में गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ सम्बन्धी बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित है। उन सबका निष्कर्ष निकालते हुए श्री द्विवेदीजी ने लिखा है—

---

१ जोगी का वेश—"तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें बियोगी ॥१॥
तन बिस भर मन बाऊर रहा। अरुझा पेम परी सिर जटा ॥२॥
चद बदन औ चंदन देहा। भसम चढाइ कीन्ह तन खेहा ॥३॥
मेखल सिंगी चक्र धंधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी ॥४॥
कथा पहिरि डड कर गहा। सिद्धि होई गोरख कहा ॥५॥
मुंद्रा स्रवन कठ जप माला। कर उदपान कांध बघछाला ॥६॥
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेष करराता ॥७॥
(पद्मावत १२।१२६)

(१) मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कानुपा के गुरु थे। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार इनका समय ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व है। (२) अभिनवगुप्त आचार्य ने अपने तन्त्रालोक में मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है; ये मच्छन्द विभु मत्स्येन्द्रनाथ ही है। अभिनवगुप्त का समय निश्चित है। इन्होने सन् ९११ में ब्रह्मस्तोत्र की रचना तथा १०१५ में प्रत्यभिज्ञान की बृहती वृत्ति लिखी थी। इस प्रकार से अभिनवगुप्त दसवी और ग्यारहवी शताब्दी के मध्य में हुए थे।

(३) महापण्डित राहुल साकृत्यायन की सूची में मीनपा—जिनको मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है, वास्तव में मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न है, तथा राजा देवपाल के राज्यकाल में (८०९ से ८४९ ई० तक) हुए है। इससे इनका समय नवी शताब्दी निश्चित होता है।

इन प्रमाणो तथा अन्य 'प्रबन्धचिन्तामणि' आदि कथाओ के आधार पर मत्स्येन्द्र-नाथ का समय नवी शताब्दी के बीच का सिद्ध होता है।

अल्बेरूनी ११ वी शताब्दी मे भारत आया था, उसने अपने लेख मे सिद्धो की कीमियागिरी का उल्लेख किया है[1]। इसने नागार्जुन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वह मुझसे एक सौ वर्ष पूर्व हुआ है। व्याडि का भी उल्लेख किया है। उसका कहना है—

"हिन्दू अलकैमी—कीमियागिरी पर पूरा ध्यान नही देते, परन्तु कोई भी जाति पूर्णत इससे बची नही है। (इब्नबतूता ने भारतीय योगियो के वर्णन मे लिखा है कि चमत्कार की शक्ति प्राप्त करने के लिए बहुत से मुसलमान इनके पीछे लगे फिरते हैं—नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ १९।) किसी-किसी जाति का इसके प्रति अधिक झुकाव है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि जिसका झुकाव इधर है, वह बुद्धिमान् है और जिसका झुकाव नही, वह मूर्ख है। क्योकि हम देखते है कि बहुत-से बुद्धिमान् मनुष्य इस कीमियागिरी की ओर आँख भी नही उठाते। दूसरे मूर्ख व्यक्ति इसके पीछे पागल हुए घूमते है। जो बुद्धिमान् व्यक्ति इस पर काम कर रहे है, और विश्वास रखते है, उनको किसी प्रकार का दोष नही दिया जा सकता। वे केवल अपनी उत्सुकतावश भाग्य को सुधारने तथा दुर्भाग्य को दूर करने में लगे हुए है। एक दार्शनिक से पूछा गया कि विद्वान्

---

१. 'अल्बेरूनी ने रसविद्या और रसायन विद्या में अन्तर माना है और रसविद्या को इन्द्रजाल से भिन्न बताया है। उसने विक्रमादित्य और व्याडि की; राजा वल्लभ और रंक फलविक्रेता; धारानगरी के राजमहल में चाँदी के टुकड़े की कहानी देकर सोना-चाँदी बनाने का उल्लेख किया है। (अल्बेरूनी का भारत, भाग २. पृष्ठ ११०)

किस लिए धनियो के द्वार पर जाते है, जब कि धनी विद्वानो के द्वार की ओर झॉकते भी नही। तब उसने कहा कि विद्वान् जानते हैं कि धन का उपयोग किस प्रकार से करना चाहिए, परन्तु धनी यह नही जानते कि विद्या का उपयोग कैसे होता है।

ये लोग इस विद्या को छिपाकर रखते हैं और जो इन पर विश्वास या श्रद्धा नही रखता उसको नही सिखाते। (पूछने पर शिव ने बताया कि यह गुप्त रहस्य सबके सुनने योग्य नही है, चलो हम क्षीरसागर मे रग (=डोगी) पर बैठकर इस ज्ञान के विषय में वार्तालाप करें—'नाथसम्प्रदाय', पृष्ठ ४५। 'रसार्णव' मे शिव ने पार्वती को रस-विद्या समझायी थी, यह ज्ञान गुप्त रखा जाता था।) इसलिए मै इस विद्या को हिन्दुओ से नही सीख सका। मुझे पता नही कि वे इसमें खनिज, प्राणिज या वानस्पतिक कौन द्रव्य काम में लाते है। मैंने उनको केवल प्रक्रिया के सम्बन्ध मे ऊर्ध्वपातन (Sublimation), निक्षेपीकरण (Calcination), विश्लेषण (analysis), वसा-स्नेह का पतला करना (waxing of tole) कहते सुना है। इसको वे अपनी भाषा में 'तालक' कहते थे। इसलिए मै समझता हूँ कि कीमियागरी की कोई खनिज प्रक्रिया होगी।

कीमियागरी से मिलती-जुलती इनकी कोई विशेष प्रकार की विद्या है, इसको ये 'रसायन' कहते है।[1] रस शब्द का अर्थ स्वर्ण है, (पारद से सोना बनता था—

---

१. पद्मावत मे बहुत स्थानो पर रसायन विद्या का उल्लेख है, इसमें से कुछ वचन नीचे उद्धृत किये गये हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के संजीवन भाष्य में देखनी चाहिए।

१—धातु कमाई सिख तै जोगी। अब कस जस निरधातु बियोगी ॥४॥
कहाँ सो खोए बीरौ लोना। जेहि तें होई रूप औ सोना ॥५॥
कस हरतार पार नहीं पावा। गंधक कहाँ कुरकुटा खावा ॥६॥ २७।२९३

२—पार न पाव जो गन्धक पिया। सो हरतार कहौ किमि जिया ॥४॥
सिद्धि गोटिका जा पहँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं ॥५॥
अब तेहि बाजु राँग भा डोलौं। होइ सार तब बर कै बोलौं ॥६॥ २७।२९४

३—नवौ नाथ चलि आवहिं, और चौरासी सिद्ध।
आजु, महारन भा रथ, चले गगन गरुड़ औ गिद्ध ॥ २५।८।२६४

इसमें नौ नाथ और ८४ सिद्धो का उल्लेख है। शरीर का आयाम-व्याम भी ८४ अंगुल है ('केवलं पुनः शरीरमगुलिपर्वाणि चतुरशीतिः। तदायामविस्तारसमं समुच्यते।' चरक. वि. अ. ८।११७)। आसन भी ८४ है; योनियाँ भी ८४ हैं।

इससे शायद अल्बेरूनी ने रस का अर्थ सोना समझा हो—लेखक।) इसका अर्थ यह है कि इसमे कुछ औषधियो का उपयोग विशेष रूप से होता है, ये औषधियाँ वृक्ष—वनस्पतियो से प्राप्त की जाती है। इस विद्या का उद्देश्य था—निराश रोगियो को स्वस्थ करना, वृद्धो को युवा करना, जिससे उनके बाल काले हो जायँ, उनमें पौरुष, यौवन पूर्व को भाँति आ जाय (यज्जराव्याधिविध्वसि तद्रसायनमुच्यते)। मैंने पहले भी पतञ्जलि का वचन उद्धृत किया है कि इसके लिए रसायन ही एक मात्र उपाय है। इसको सत्य समझना चाहिए, यह मूर्खों की बात नही है। जो आदमी मुख में रखे भोजन को नही निगलता, उसी की भाँति वह मूर्ख है, जो इस विद्या का उपयोग अपनी भलाई के लिए नही करता। सोना बनाने के लिये मूर्ख हिन्दू राजाओ के लोभ की कोई सीमा नही यदि उनमे से किसी एक को सोना बनाने की इच्छा हो और उसे यह परामर्श दिया जाये कि इसके लिये कुछ छोटे-छोटे सुन्दर बालको का वध करना आवश्यक है, तो वह राक्षस यह पाप करने से भी नही रुकेगा; वह उन्हें जलती आग मे फेंक देगा। क्या ही अच्छा हो यदि इस बहुमूल्य रसायन विद्या-किमियागिरी को पृथ्वी की सबसे अन्तिम सीमाओ में निर्वासित कर दिया जाय, जहाँ कि इसे कोई प्राप्त न कर सकें।" (अल्बेरूनी का भारत, भाग २. पृष्ठ ११६)

सोना बनाने के लिए सहस्रवेधी रस का जिकर (तीसरे उपाख्यान मे) हरिभद्र सूरि ने अपने धूर्तोपाख्यान (भारतीभवन-बम्बई से प्रकाशित) मे किया है। ये आठवी शताब्दी में हुए है। इससे स्पष्ट है कि इनसे पूर्व सातवी शती में सोना पारे से बनने लगा था।

ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व नवी और दसवी शताब्दी के बने सिद्धयोग और चक्रदत्त में रसविद्या का और तत्सम्बन्धी मन्त्र-तन्त्र का उल्लेख मिलता है (वृन्द, रसायनाधिकार)। चक्रदत्त में स्वर्ण आदि धातुओ का शोधन-मारण लिखा है, परन्तु सामान्यत लोह का उपयोग उसके पतले पतरे बनाकर, आग में तपाकर, काँजी या अन्य द्रव में बार-बार बुझाकर, कूटकर, वस्त्र में छानकर सूक्ष्म चूर्ण करके प्रयोग करने का उल्लेख है।

सोलहवी सदी की पद्मावत में जायसी ने सिद्ध योगी के द्वारा सोना बनाने तथा अन्य रसायन क्रियाओ का उल्लेख बहुत स्पष्ट किया है। इसने सोना साफ़ करने की 'सलोनी' क्रिया का भी उल्लेख किया है—

चंपावती जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाँहाँ ॥१॥

भै चाहे असि कथा सलोनी। मेटि न जाइ लिखी जस होनी ॥२॥ (३।५०.)

सलोनी—सोने से चाँदी की मिलावट साफ करने के लिए सोने को पीटकर पत्तर बना लेते है। इन पत्तरो प ' कडे की राख, ईंटो की बुकनी, सांभर नमक और कड़ुए

तेल की सलोनी (इसी मसाले का नाम सलोनी है) मे डुबोकर कंडो की आँच मे कई बार तपाते है, जिससे वह सलोनी चाँदी को खा लेती है और सोना शुद्ध हो जाता है। इसी को सोने की सलोनी करना कहते है। महाभारत मे भी कहा है—

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम्॥ उद्योग. ३९।६५.

जायसी से लगभग २०० वर्ष पूर्व लिखी हुई ठक्कुर फेरू कृत 'द्रव्यपरीक्षा' मे सलोनी द्वारा सोना-चाँदी शुद्ध करने की विधि लिखी है—(संजीवन भाष्य-पद्मावत, पृष्ठ ५१)[१]

इससे स्पष्ट है कि रसविद्या—कीमियागरी का रूप सिद्धो से नवी शताब्दी में प्रचलित हुआ और सोलहवी शताब्दी तक पूर्ण उन्नत हो गया था।

सर्वदर्शनसग्रह मे रसेश्वरदर्शन समिलित हुआ है। इसमे पारद और अभ्रक के सयोग से शरीर को सिद्ध करने का उल्लेख है। यह सिद्धि पारे के द्वारा ही मिल जाती है। पारे का सम्बन्ध शिव के साथ और अभ्रक का सम्बन्ध पार्वती के साथ बताया है। इन दोनो के सयोग से सृष्टिजन्म-सिद्धि मिलती है। यह सिद्धि इसी जन्म मे प्राप्त करनी चाहिए। मरने के पीछे सिद्धि प्राप्त करने (मोक्ष प्राप्ति) का कोई अर्थ नही। इसलिए इस शरीर को दिव्य तनु बनाना चाहिए, जो कि बहुत वर्षों तक स्थिर रह सके। यह सफलता पारद से मिलती है, क्योकि वह संसार के दु खो से पार पहुँचाता है ('ससारस्य परं पार दत्तेऽसौ पारद स्मृत')। महादेव के शरीर का रस होने से इसे रस कहा गया है। अकेला पारद ही सिद्ध होकर शरीर को अजर-अमर कर देता है। पारे की सिद्धि की परीक्षा धातुसिद्धि से होती थी—जब यह एक धातु को (हलकी सस्ती धातु ताम्र आदि को) दूसरी उच्च महँगी-सोना-चाँदी में बदल सकता था, तब इसको सिद्ध समझा जाता था। इसके पीछे इसका देहसिद्धि के लिए उपयोग होता था। अभ्रक और पारद के सयोग से मृत्यु और दारिद्र्य दोनो नष्ट होते है, अर्थात् इस क्रिया से लोह-सिद्धि और देह सिद्धि दोनो मिलती है।[२] यह सिद्धियाँ जिनको प्राप्त थी, वे ही सिद्ध

१—इन योगियों का योग से भी सम्बन्ध था—उसे भी पद्मावत में कहा है, इसमें चौपड़ खेल के रूप में योग का उल्लेख है—

बोलौ बचन नारि सुनु साँचा। पुरुख क बोल सपत औ बाचा॥१॥
यह मन तोहि अस लावा भारी। दिन तोहि पास और निसि सारी॥२॥
पौ परि बारह बार मनावौं। सिर सौं खेलि पैंत जिऊ लावौं॥३॥ २७।३१३.

२. पारदो गदितो यस्मात्परार्थं साधकोत्तमैः।
सुप्तोऽयं मत्समो देवि मम प्रत्यंगसंभवः॥

कहे गये हैं। इन सिद्धो का सम्प्रदाय ही नाथसम्प्रदाय, कापालिक, औघड, वामपथी, कौलाचार कहा जाता है।

कौलमत में कुल का अर्थ शक्ति है और अकुल का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का सम्बन्ध स्थापन ही कौलमार्ग है। शिव का कोई कुल-गोत्र नही, इसलिए वे अकुल है। शिव की सृष्टि करने की इच्छा का नाम शक्ति है। चन्द्रमा और चाँदनी का जो परस्पर सम्बन्ध है, वही शिव और शक्ति का सम्बन्ध है। इनके मत मे अन्तिम सिद्धि मोक्ष ही है। इसको सर्वात्मता सिद्धि (समस्त जगत् के सब प्रपञ्चो के साथ अपने को अभिन्न समझना) कहते हैं। प्रपंच से अभिप्राय रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श से है।[1]

एक प्रकार से कौल के लिए सब इन्द्रियभोगो के प्रति नि स्पृह बनने का उपदेश दिया गया है, किसी भी इन्द्रियार्थ मे उसे स्पृहयालु नही होना चाहिए। सब वर्णों के साथ वह एक समान बरते, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करे। उसके लिए मेरा या दूसरे का भेद, बद्ध, और मुक्त का कोई भेद नही रहना चाहिए।

कौलसाधना का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करना है। इसके लिए शरीर के षट्चक्रो को जानकर इनको वश मे करना होता था। इसी चक्रवर्ग के अन्तिम चक्र में सहस्र दल होने से उसे सहस्रार भी कहते हैं। यही पर शिव की स्थिति है। शिव का निवास होने से इसे कैलास भी कहते हैं ('कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति'—शिवसहिता ५।१५१-२)। सहस्रार मे स्थित शिव तक शक्ति का उत्थापन करके शिव के साथ इसे मिलाना ही कौल साधना का परम लक्ष्य है। यही मिलन आनन्दमय है। इस आनन्द प्राप्ति के बाद साधक के लिए कुछ करणीय नही रहता।

सात प्रकार के आचार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचारियो में कोई नियम नही; इनके लिए कर्दम और चन्दन मे, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह मे, स्वर्ण और तृण मे लेश मात्र भी भेदबुद्धि नही होती। ये सब प्रकार के द्वन्द्वो से मुक्त होते है ('अथ कि बहुनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जित')। यही इनका चरम लक्ष्य है

तान्त्रिक प्रवृत्ति इस मार्ग में किस प्रकार प्रविष्ट हुई, इस सम्बन्ध में अनङ्गवज्र के वचनो से प्रकाश पडता है। उसका कहना है कि 'वासनाएँ दबाने से मरती नही, अपितु

---

१ 'जीवानन्दनम्' नाटक—आनन्दरायमखी प्रणीत; इस सम्बन्ध में उपयोगी है।

'कुल' शब्द के विशेष अर्थ के लिए नाथसम्प्रदाय की पुस्तक देखें।

और भी अन्तस्तल मे जाकर छिप जाती है। अवसर मिलते ही वे फिर से उभड आती है, और साधक को दबोच लेती हैं। इसलिए इनको दबाना ठीक नही। उचित रास्ता यह है कि समस्त कामनाओ का उपभोग किया जाय, तभी शीघ्र चित्त का सक्षोभ दू होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।' इस प्रकार की धारणा से कामोपभोग का साधना क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठ भूमि शून्यवाद था। समस्त भावो का स्वभाव शून्यता है (जैसे गुड का धर्म माधुर्य है)। शून्यता का मूर्त्त रूप ही वज्रसत्व है। शुक्र का नाम भी वज्र है, जिससे इसे वश मे करते हैं, वह वज्रौली है। वज्र-सत्त्व, वज्रधर, वज्रपाणि इसी शून्य के नाम है। यही वज्रधर समस्त बुद्धो के गुरु है।

वज्रयान और नाथसम्प्रदाय की योगसाधना मे बहुत समानता है (नाथसप्रदाय, पृष्ठ ९३-९४)। इन्होने नाडी आदि वस्तुओ के नाम लोकसत्य और परमार्थ सत्य (आध्यात्मिक) दृष्टि से बनाये है, यथा—

नगरे बाहिरे डोम्बि तोहारि कुडिआ।
छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाडिया॥
आलो डोम्बि तोए संग करिबे म साँग।
निघिण कान्ह कापालि जोइ लाँग॥

एक सो पदमा चौषट्ठी पाखुडी।
तहि चढीनाचअडोम्बि बापुडी॥
एक्क न किज्जइ मंत न तंत।
निअ घरणी लेइ केलि करन्त॥

इन वचनो मे आध्यात्मिक ज्ञान बताया गया है—अवधूती नाडी डोम्बिनी है, डोमिन है (शरीर मे इडा, पिगला और सुषुम्ना जो तीन नाड़ियाँ हैं, उन्ही को इनके यहाँ ललना, रसना और अवधूती नाम दिया गया है। अवधूती नाडी सुषुम्ना ही है) और चचल चित्त ही ब्राह्मण है (चचल हि मन कृष्ण)। डोमिन के छू जाने के डर से यह अभागा ब्राह्मण भागा-भागा फिरता है। विषयों का जजाल एक नगर है, डोमिन इस शहर के बाहर रहती है। कृष्णपाद (कान्ह-कानपा) ने कहा कि डोमिन, तुम भले नगर के बाहर रहो, तुमको यह कापालिक कान्ह छोडेगा नही, वह तुम्हारे साथ ही सग करेगा—अर्थात् अवधूती वृत्ति को अपनायेगा। जब वे कहते है कि चौसठ पखडियो के दल पर डोमिन नाच रही है, तो उनका मतलब उष्णीषकमल (Pons) से है। इसी प्रकार जब वे कहते है कि मत्र-तत्र करना बेकार है—केवल अपनी घरनी

को लेकर मौज करो, जो उनग्न मन्त्र ... अवधूती के साथ विहार करने से होता है। यह साधना नाथमार्गियो से बहुत मिलती है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड—अत्रिपुत्र ने कहा है कि "यह पुरुष लोक के समान है, लोक में जितने भी मूर्तिमन्त भाव-विशेष है, उतने ही पुरुष मे है और जितने पुरुष मे है उतने ही लोक में है, इसी दृष्टि से बुद्धिमानो को दोनो को देखना चाहिए"[1]। इसके आगे दोनो की तुलना दिखायी गयी है (चरक शा अ ५)। नाथमार्ग में शिव और शक्ति इन दोनों मे सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है, क्योकि ये दोनो एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं है। इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् काया का कुण्डलिनी मे स्थित शिव के साथ सामजस्य किया जाता है। काया सिद्धि का साधन होने से शक्तिरूप है। इसी से गोरखनाथ ने कहा है कि जो योगसिद्धि का अभिलाषी यह नही जानता कि उसके शरीर में छ· चक्र क्या और कहाँ है, षोडश आधार कौन-कौन है, दो लक्ष्य क्या है? पाँच व्योम क्या वस्तु है? वह कैसे सिद्धि पा सकता है? फिर एक खम्भेवाले, नौ दरवाजेवाले, पाँच मालिको के द्वारा अधिकृत इस शरीररूपी घर को जो नही जानता उससे योग की सिद्धि की क्या आशा की जा सकती है ('नाथसप्रदाय')। इनको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है।[2] लोग नाना प्रकार से मोक्ष बताते है, कोई वेदपाठ से मोक्ष बताते है, कोई शुभ-अशुभ कर्मो के नाश से मोक्ष कहते है। कोई निरालम्बन को बहुमान देते है, कोई मद्य-मास-सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते है। ये सब मूर्ख है। असल में मोक्ष वह है जब सहज समाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाय। तब जो अवस्था होती है, असल मे वही मोक्ष है ("यत्र सहजसमाधिक्रमेण

---

१. एवमयं लोकसंमितः पुरुषः। यावन्तो हि लोके मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे। यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति, बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति॥ चरक. वि. अ. ४।१३

२. षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥
एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥ गोरक्षशतक

छः चक्र—आज्ञाचक्र, मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धाख्य चक्र।

वेद में आठ चक्रों का उल्लेख है ('अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'—अथर्व १०।२।३१), इनमें ललना चक्र और सहस्रार चक्र अधिक है।

मनसा मन समालोक्यते स एव मोक्ष '—'अमरौघ शासनम्' पृष्ठ ८-९)। सहज समाधि का आधार पातजल योग है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्बोधन किया जाता है।

नाथपथ के चौरासी सिद्धो मे से कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। सिद्धो मे कुछ गोरखनाथ के पूर्ववर्त्ती है और कुछ परवर्त्ती। इनमे से दसवे नागार्जुन और चौवीसवें चर्पटीनाथ का ही परिचय यहाँ उद्धृत किया गया है। इनके परिचय से उस समय की रसविद्या की झलक मिल जायगी।

नागार्जुन—महायान मतवाले नागार्जुन से इनको पृथक् माना गया है। अल्बेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उससे एक सौ वर्ष पहले विद्यमान थे। 'साधनमाला' में ये कई साधनाओ के प्रवर्त्तक माने गये हैं।

'साधनमाला' मे कृष्णाचार्य की कुरुकुल्ला साधना का उल्लेख है। कुरुकुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्भूत बताया जाता है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्त्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं, जिनका समय सप्तम शताब्दी (ईसवी) का मध्य भाग है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना प्रचलित की थी। साधनमाला में बताया गया है कि एकजटा देवी की साधना का नागार्जुनपाद ने भोट देश (तिब्बत) से उद्धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन-तारा' भी है। तारा की उपासना ब्राह्मण तत्रो मे विहित है। साधनमाला मे भी कुरुकुल्ला की उपासना के बहुत से भेद वर्णित है, जिनमे एक तारोद्भवा कुरुकुल्ला है। इस प्रकार से एकजटा-तारा—कुरुकुल्ला की उपासना मे कोई एक सम्बन्ध दीखता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य का कहना है कि महाचीन-तारा ही आगे चलकर हिन्दुओ मे चतुर्भुजी तारा (दस महाविद्याओ मे) हो गयी। दस महाविद्याओ की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया है। ऐसा जान पडता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत में छिन्नमस्ता के रूप में पूजी जाती है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' से पता चलता है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होने आकाश गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र में पुराकाल में पार्श्वनाथ की एक रत्न मूर्त्ति-द्वारका के पास डूब गयी थी, जिसका किसी सौदागर ने उद्धार किया था। गुरु से यह जानकर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर यदि कोई सर्वलक्षणसमन्विता स्त्री पारे को घोटे तो कोटिवेधी रस सिद्ध होगा, नागार्जुन ने अपने

वज्रसिद्ध कुमारिपा, शृगालीपाद, कमलपा या कपालपा आदि सिद्ध वज्रयानियो मे हुए हैं। ('नाथसम्प्रदाय' से)

इससे इतना स्पष्ट है कि रसायन या रसविद्या का प्रारम्भ सातवी शताब्दी ईसवी से प्रारम्भ हो गया था। नवी-दसवी मे उसका कुछ विकास हुआ (जैसा वृन्द के सिद्ध-योग और चक्रदत्त से स्पष्ट है) और १६ वी शताब्दी (मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत काल) तक पूर्ण विकास हो चुका था।

इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धो और हिन्दुओ मे धर्म के विषय मे समय समय पर सकोच विकास होता रहता था। अशोक के समय यदि बुद्धधर्म का प्रचार था, तो पुष्यमित्र के समय यज्ञप्रधान हिन्दू धर्म का प्रचार हुआ। कनिष्क और मिलिन्द (मिनाण्डर) के समय बौद्ध धर्म का उत्थान हुआ तो भारशिवो के समय शिव की उपासना चली। भारशिव सिर पर शिव को धारण करते थे। गुप्त काल में दोनो धर्म शान्तिपूर्ण रूप से बढे।

इस उथल-पुथल मे दोनो धर्मो मे एक-दूसरे धर्म की विशेषताएँ सम्मिलित हो गयी। परिणामस्वरूप बुद्ध भी हिन्दुओ के अवतारो मे आ गये। बौद्धो की तारा देवी हिन्दुओ की चतुर्भुजी तारा बन गयी। इसी प्रकार बुद्ध की मूर्त्ति एवम् जैनियो की मूर्त्तियो की भाँति शिव की भी मूर्त्तियाँ बनायी गयी। इसी मूर्त्तिनिर्माण मे शिव और पार्वती की 'अर्धनारीश्वर' रूप मे पूजा प्रारम्भ हुई। यही अर्धनारीश्वर-पूजा रसशास्त्र का मूल आधार है, क्योकि पारा और अभ्रक या पारा और गन्धक के योग से ही दिव्य शरीर बनता है ('दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसयोगात्'—सर्व-दर्शन सग्रह)।

यह पूजा शैव मत मे किस प्रकार प्रारम्भ हुई, इस बात की विस्तृत जानकारी डाक्टर यदुवशी ने अपनी पुस्तक 'शैव मत' (विहार राष्ट्रभाषा परिषद्-पटना) में दी है, उसमे से सक्षिप्त जानकारी यहाँ दी गयी है। इससे पता चल जाता है कि बौद्धो का वज्रयान सम्प्रदाय जिस प्रकार से आगे चलकर सिद्धो मे मिलकर एक हो गया—उसी प्रकार यह पूजा भी शैव-मत मे आकर मिल गयी। दोनो की पूजा दोनो के देवी-देवता प्राय एक या एक समान हो गये। बौद्धो मे बुद्ध के पुत्र राहुल का महत्त्व है, तो यहाँ शिव के पुत्र कार्त्तिकेय है।

शिव की पूजा का सबसे प्रथम रूप जो सामने आता है, वह लिगपूजा है, शिव के रुद्र रूप की पूजा नही मिलती। शिव की पूजा का दूसरा प्रतीक शक्ति को पूजा है,

जिसको 'दुर्गा' के रूप मे पूजा जाता है। शिवपूजा और शक्तिपूजा पृथक्-पृथक् चली। इसके पीछे इनको मिलाकर अर्धनारीश्वर रूप में दोनो की सम्मिलित उपासना चली, इसी का एक प्रकार शिव और पार्वती का सम्मिलित रूप है, जिसमे मूर्त्ति का दक्षिण पक्ष पुरुपाकार होता था, उसमें भगवान् के सिर पर जटाजूट, सर्प, हाथ मे कमण्डलु या नरकपाल और त्रिशूल चित्रित रहते थे। वाम भाग मे स्त्री-मूर्त्ति होती थी। सिर पर मुकुट, [illegible], कण्ठ मे उपयुक्त आभूषण और [illegible] वस्त्र। इन मूर्त्तियो को अर्धनारीश्वर–शिवपार्वती के रूप मे पूजा जाता था। यही अर्ध-नारीश्वर-उपासना हरगौरी-सृष्टिसयोग का उदाहरण है। कालिदास ने रघुवश के मगलाचरण मे इसी रूप का स्मरण किया है।

खजुराहो शिलालेख स० ५ मे, जिसका समय १००० ईसवी है, भगवान् शिव को एकेश्वर माना गया है, विष्णु, बुद्ध तथा जिन को इन्ही का अवतार कहा गया है। इसी शिलालेख मे शिव की 'वैद्यनाथ' उपाधि भी मिलती है, जो उनके प्राचीन 'भिषक्' रूप की याद दिलाती है। (अष्टागसग्रह मे तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थो मे भगवान् बुद्ध को भिषक्, महाभिषक् कहा है। सौन्दरानन्द मे तो अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध को ही सच्चावैद्य कहा है—'अह हि दष्टो हृदि मन्मथाग्निना विधत्स्व तस्मादगद महाभिषक्'—सौन्द अ २)।

शिव की पूजा कई रूप में चली। इनमे शैव, पाशुपत सम्प्रदायो का उल्लेख [illegible]। शिव के साथ शक्ति की स्थायी भाव से की गयी कल्पना ने ही पारे के साथ [illegible] है, इसी से कहा है—"गन्धकजारणरहित सशुद्धोऽपि रसो योगेषु न योज्य, गदहन्तृत्वगनत्वनुदयान्। [illegible] अशुद्धस्तु कुत्रापि न योज्य, वैगुण्यप्रदत्वात्"—आयुर्वेदप्रकाश)। इसलिए पारे के साथ गन्धक का भी स्थायी भाव किया गया है।

पाशुपतो का उल्लेख साहित्य तथा शिलालेखो में मिलता है। इन्ही का एक उप-सम्प्रदाय कापालिक था। इनमे एक कट्टरपथी उप सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हो गया था, जिसके अनुयायी 'कालमुख' कहलाते थे। इनका प्रारम्भिक नाम 'कारुकसिद्धान्ती' था। वैष्णव सतो और रामानुज के समय (१२वी शताब्दी) मे इनका अस्तित्व था। ये लोग अपने कार्यों को सिद्धियाँ कहते थे, ये सिद्धियाँ छ थी—(१) कपाल मे भोजन करना, (२) शरीर मे भस्म लगाना, (३) श्मशान में रहना, (४) लट्ठ लेकर चलना, (५) सुरापात्र रखना, (६) सुरापात्र में स्थित भैरव की पूजा करना।

सामान्यत कापालिक और कालमुख एक ही है। यह सम्प्रदाय आठवी शताब्दी में था (भवभूति के बनाये मालती माधव से स्पष्ट है)।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि बौद्धो का वज्रयान कापालिक मत मे समा गया। कापालिक शिव की उपासना भैरव के रूप मे करने लगे। शिव की उपासना भैरव के रूप में ही आयुर्वेद के रसग्रन्थो का आधार बनी। परन्तु इसमे वज्रयान सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक नागार्जुन को नही भुलाया गया। प्रारम्भ मे नागार्जुन को इसका जन्मदाता मानकर सिद्धो की परम्परा ने प्रचलित करते हुए (शैवमत के साँचे मे ढालते हुए) शिव से पूर्णत सम्बन्धित कर दिया गया।

रसेश्वरमत

हठयोग मे प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। शरीर मे तीन वस्तुएँ बहुत चचल है; प्राण, मन और शुक्र। प्राण और मन को वश मे करने के लिए सबसे उत्तम वस्तु प्राणायाम है। प्राणायाम से प्राण और मन दोनो खिचते है—वश मे आते है। योगदर्शन मे मन और प्राण को वश मे करने के लिए यम, नियम आदि साधन कहे है।

शुक्र का नाम बिन्दु है, इसे वज्र भी कहते है। इसकी अधोगति को कालाग्नि और ऊर्ध्वगति को कालाग्नि रुद्र कहते है। यौगिक क्रियाओ मे बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है (जिनमे एक वज्रोली भी है)। बिन्दु के ऊर्ध्वगामी करने से ही मनुष्य अजर-अमर होता है। यही अमरत्व हठयोग की एक साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षण करके बिन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वगामी बनाना। यही वज्रोल्कािमुद्रा कही जाती है।[1] यहाँ पर इतना समझ लेना आवश्यक है कि पुरुष और स्त्री दोनो पृथक्-पृथक् रूप मे अपूर्ण है, परस्पर मिथुन होने पर ही ये पूर्ण होते है। पुरुष सौम्य—सोम तत्त्व का और स्त्री अग्नितत्त्व की प्रतिनिधि है।[1] क्योकि यह सृष्टि

---

१. सन् १९४१ में लाहौर के आयुर्वेद महासम्मेलन के समय एक व्यक्ति ने अपनी जननेन्द्रिय द्वारा बीस तोला पारा मूत्राशय में खीचकर दिखाया था। इसको फिर उन्होने कुछ घंटे शरीर में रखकर फिर बाहर निकाला था। उस समय लेखक भी उपस्थित था।

अग्नीषोमीय है, इसलिए जब तक दोनो तत्त्वो का मिथुनीभाव नही होता तब तक पूर्ण विकास या नयी वस्तु नही बनती। इस मिथुनीभाव मे शुक्र को ऊर्ध्वगामी करना ही वज्रोलिका मुद्रा है, क्योंकि शुक्र शरीर का परम तेज है।[1] शुक्र तथा स्त्री के आग्नेय तत्त्व को शरीर मे रखना ही कापालिको का लक्ष्य होता था। इसी से स्त्री को पास में रखकर वे एकान्त मे सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। अपना आचार-विचार, कार्यकलाप वे इस प्रकार का रखते थे कि लोग उनसे पृथक् रहे, उनके प्रति आकर्षित न हो, उनका सिद्धि-क्रम निर्विघ्न चले।

पीछे इसी साधना का भौतिक रूप मे विकास हुआ। पारा शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रज है[2] रस-ग्रन्थो में गन्धक को भी पार्वती का रज कहा गया है (देखिए, गन्धक की उत्पत्ति, रसकामधेनु-पृष्ठ २७६)। मुक्ति को दिव्य तनु बनाकर ही प्राप्त करना चाहिए, चोला छूट जाने के पीछे मोक्ष मिला तो क्या हुआ। इसलिए जो मनुष्य इसी जीवन में दिव्य तनु प्राप्त कर लेते है, वे ही मुक्त है, समस्त मन्त्रसमूह उनके दास हो जाते हैं। रसेश्वर सिद्धान्त मे राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पाद, गोविन्द नायक, चर्पटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य ऐतिहासिक पुरुष जीवन्मुक्त माने जाते है।

रसेश्वर मत का हठयोग से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव ने देवी पार्वती से एक बार कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। कर्मयोग दो प्रकार का है—१ रसमूलक और २ वायु या प्राणमूलक। रस मे यह विशेषता है कि वह मूर्च्छित होने पर रोगो को दूर करता है, मृत होने पर जीवन देता है, बद्ध होने पर

---

१. शुक्र क्षरण के कारण—

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा॥
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव॥
हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥
अष्टभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्र देहात् प्रसिच्यते। (चरक. चि. अ. १।४८)

२. अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि दुःखदारिद्र्यनाशनम्॥

आकाश मे उडने योग्य बना देता है।[१] रस ·द का नाम है, क्योवि यह साक्षात् शिव के शरीर का रस है।

रससिद्धि या रसचिकित्सा के प्रवर्त्तक ये सिद्ध ही है, ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि घटित चिकित्सा को बरतते थे। पारदादि का अन्त प्रयोग इन्होने प्रारम्भ किया। पारद से चतुर्वग-फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक विचार 'रसेश्वर दर्शन' के रूप मे उत्पन्न हुआ। इस दर्शन के उपदेष्टा आदिनाथ है। आदि-नाथ, चन्द्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियो ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।

अनेक नाथपन्थियो के लिखे रसग्रन्थ आज भी वैद्यो मे प्रचलित है। सिद्ध नागार्जुन का नागार्जुनतत्र, नित्यनाथ का रसरत्नाकर, रसरत्नमाला, शालिनाथ की रसमजरी, काकचण्डीश्वर का काकचण्डीश्वरमततत्र, मन्थानभैरव का रसरत्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, ये सब सिद्ध थे। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ को भी रसायन विद्या का आविष्कारक कहा जाता है। इस विषय पर इनका कोई ग्रन्थ नही मिलता। प्राणसकली (प्राणो का कवच) मे शरीर सम्बन्धी वर्णन ही है। सिद्धो की सबसे बडी देन रसेश्वर दर्शन—रसशास्त्र है।[२]

सिद्ध नागार्जुन

एक तरफ रसशास्त्र-रसायन सिद्धो की देन है, दूसरी ओर हिन्दी का उद्गम भी इन्ही सिद्धो से हुआ है। 'सरहपा' का दोहाकोश अभी महापण्डित राहुलजी ने प्रकाशित किया है। सरहपा आठवी शताब्दी के सिद्ध है। इसके आगे नवी-दसवी-ग्यारहवी शताब्दी तक सिद्धो की देन हिन्दी को मिली है।

---

१. कर्मयोगेन देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः॥
मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि॥ स. द. सं. पृष्ठ २०४

२. सिद्धो से ही हिन्दी का प्रारम्भ माना जाता है। महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम से जो सग्रह प्रकाशित किया है, उसका एक भाग चर्याचर्य विनिश्चय है। इसमें चौबीस सिद्धो के रचित पद सगृहीत है। इनमें एक सिद्ध है—कान्हपा या कृष्णपाद। इनके रचित बारह पद उक्त संग्रह में पाये जाते हैं, सबसे अधिक पद इन्हीं के हैं।

सरहपा के लिखे कुछ ग्रन्थो का उल्लेख राहुलजी ने दोहाकोश में किया है, यथा—बुद्धकपाल तत्रपजिका, बुद्धकपाल साधना, बुद्धकपाल मण्डलविधि, त्रैलोक्यवशकरावलोकितेश्वर साधन। इन नामो से स्पष्ट है कि ये वज्रयानी बौद्ध थे। वज्रयानी बौद्ध सिद्धो की सख्या परम्परा ८४ मानी जाती है, और इनमें मुख्य सरहपा, शबरपा, भूसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोंविपा, कन्हपा है। इनका समय आठवी-नवी शताब्दी है। नवी-दसवी शताब्दी मे ही गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा नाथसम्प्रदाय प्रवर्त्तित हुआ है। नाथ सम्प्रदाय का बौद्ध सिद्धो से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था।

शबरपा सरहपा के प्रधान शिष्य थे, इनको शबरेश्वर भी कहते थे। सरहपा के दूसरे शिष्यो में योगी नागार्जुन और सर्वभक्ष भी थे। यह नागार्जुन यदि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो द्वितीय शताब्दी के माध्यमिक आचार्य नागार्जुन से भिन्न है। तिब्बती परम्परा मे सरहपा छठे सिद्ध है, प्रथम सिद्ध लुईपा है। इस परम्परा मे नागार्जुन सोलहवे सिद्ध है, यथा—लुईपा लीलापा, विरूपा, डोम्बिपा, शूकरीपा, सरहपा, ककालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चोरगीपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कराहपा। फलत सिद्ध नागार्जुन का समय आठवी या नवी शताब्दी आता है, जब कि इनको सरहपा का शिष्य कहा गया है।

द्वितीय या प्रथम शताब्दी के नागार्जुन, जिनको कनिष्क का समकालीन कहा जाता है, वे इनसे भिन्न थे। उन्होने बौद्धो मे शून्यवाद या माध्यमिकवाद प्रचलित किया था।

इस मत के प्रधान सस्थापक नागार्जुन थे। ये ईसा की दूसरी या पहली शताब्दी में हुए थे।[1] बाण ने हर्षचरित मे सातवाहन राजा के साथ नागार्जुन की मैत्री का उल्लेख किया है, इसको मोतियो की एक लडी माला नागार्जुन ने दी थी। यह समय ४४ ई० से ८ ई० पूर्व था। श्री जयचन्द्र विद्यालकार ने अपने इतिहासप्रवेश (पृष्ठ १३७) मे लिखा है कि "नागार्जुन अश्वघोष का प्रशिष्य था, अश्वघोष कनिष्क की राजसभा का पण्डित था। नागार्जुन दर्शन के साथ-साथ विज्ञान का भी पण्डित था। उसने एक लोहशास्त्र लिखा और पारे के योग बनाने की विधि निकालकर रसायन के ज्ञान को आगे बढाया। उसने सुश्रुत के ग्रन्थ का सम्पादन भी किया।" पारा सम्बन्धी बाते सिद्ध नागार्जुन से सम्बन्धित है, जो कि नवी या दसवी शताब्दी मे हुआ था। इसमे लेखक को नामसादृश्य से भ्रान्ति हो गयी है। अश्वघोष का शिष्य नागार्जुन

---

१. माध्यमकारिका, युक्तिषष्टिक, शून्यतासप्तति, विग्रहव्यावर्त्तनी, प्रज्ञापारमिताशास्त्र आदि ग्रन्थ इन्होंने बनाये थे।

शून्यवाद का प्रवर्तक है, जिसकी चर्चा बाण ने की है। लौहशास्त्र को जन्म देनेवाला सिद्ध नागार्जुन है, जो कि सरहपा का शिष्य एव सिद्धो की परम्परा मे हैं। काश्यपसहिता के उपोद्घात में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है, यथा—

"नागार्जुन नाम के बहुत से विद्वान् हुए हे। कक्षपुट, योगशतक, तत्त्वप्रकाश आदि बहुत से ग्रन्थो मे कक्षपुट आदि कौतुक ग्रन्थो का प्रणेता सिद्ध नागार्जुन कहा गया है। वैद्यक सम्बन्धी योगशतक प्रकाशित है, इसका तिब्बती अनुवाद भी मिलता है। नागार्जुनकृत 'चितानन्दपटीयसी' नामक ताडपत्र पर लिखी एक पुस्तक वैद्यक विषय की है, जो कि तिब्बत के गीममठ (गावठ) में है, ऐसा सुना जाता है। तत्र सम्बन्धी बौद्धाध्यात्म विषयक तत्त्वप्रकाश, परमरहस्यसुख, समयमुद्रा आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। सातवीं शताब्दी मे च्युआन शाड नामक चीनी यात्री भारत मे आया था। उसने अपने से सातवी या आठवी शताब्दी पूर्व के शान्तिदेव, अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वानो की भाँति बौद्ध विद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का भी उल्लेख किया है, जो कि रसायन के द्वारा पत्थर को भी स्वर्ण बना देता था। यह सातवाहन का मित्र था। राजतरगिणी में बुद्ध के १५० वर्ष पीछे नागार्जुन के होने का उल्लेख है। इस प्रकार से कई नागार्जुनो का उल्लेख होने से निश्चित रूप मे कुछ कहना सम्भव नहीं। सातवाहन के लिए नागार्जुन के पत्र भेजने का उल्लेख अन्यत्र है। मेरे सग्रह में ताड़पत्र पर सस्कृत में लिखा शालिवाहन-चरित है। उसमें लिखा है कि "दृष्टसत्त्वो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाराजगुरु श्रीनागार्जुनाभिधान शाक्यभिक्षुराज —"। इस स्पष्ट उल्लेख से बोधिसत्त्वस्थानीय कुरुकुल्ल के उपदेश से तान्त्रिक शाक्य भिक्षुराज नागार्जुन सातवाहन के समय के सिद्ध होते हैं। च्युआनशाङ ने भी नागार्जुन को बोधिसत्त्व तथा धातुविद्या का विद्वान् लिखा है। नागार्जुन ने सातवाहन राजा को रसायन गुटिका औषध दी थी; इसका भी उल्लेख है। राजतरगिणी में उल्लिखित नागार्जुन बौद्ध होने पर सज्जन राजा के रूप में वर्णित है। माध्यमिक आदि नागार्जुन कभी भी राजा नही हुए, इसलिए राजतरगिणी का नागार्जुन इनसे भिन्न है।"—काश्यपसहिता, उपोद्घात पृष्ठ ६५

समीक्षा—पण्डित हेमराज शर्मा द्वारा प्रदर्शित नागार्जुन को रसायन विद्या का प्रवर्त्तक मानने मे बाधा यही है कि ग्यारहवी शताब्दी मे रस विद्या का जो उल्लेख मिलता है, वह चरक, सुश्रुत, अष्टांग सग्रह, वृन्द, चक्रदत्त मे नही है। विशेषत जब हम देखते है कि चरक भी कनिष्क का राजवैद्य था। (इतिहास प्रवेश-पृष्ठ १२५)। यदि नागार्जुन इनके समकालीन थे, और यही नागार्जुन रसायन विद्या पत्थर से स्वर्ण बनाने की विद्या के ज्ञाता थे, तो अवश्य चरक इनका उल्लेख करता। उल्लेख न करता तो

कम से कम प्रवाल, लोह, स्वर्ण आदि धातुओ की जो प्रयोग विधि बतायी है, वह वैसी होती, जैसी हम ग्यारहवी शताब्दी मे पाते है। परन्तु समस्त चरक मे पारे का उपयोग एक ही स्थान पर आया है— . कुष्ठी रस च निगृहीतम्"— चि अ ७।७१।

राजतरगिणी मे कल्हण ने रस-सिद्ध का उल्लेख किया है। यथा—

तेन कङ्कण वर्षस्य रससिद्धस्य सोदरः।
चङ्कुणो नाम भूः खारदेशानीतो गुणोन्नतः॥
स रसे न समातन्वन् कोशे बहुसुवर्णताम्।
पद्माकर इवाब्जस्य भूभृतोऽभूच्छुभावहः॥ २४६-७.
रुद्धः पञ्चनदे जातु दुस्तरैः सिन्धुसंगमैः।
तटैस्तम्भितसैन्योऽभूद् राजा चिन्ताःपर क्षणम्॥
ततोऽम्बुतरणोपायं तस्मिन् पृच्छति मंत्रिणः।
अगाधेऽम्भसि रोधस्थश्चङ्कुणो मणिमक्षिपत्॥
तत्प्रभावाद् द्विधाभूतं सरिन्नीरं ससैनिकः।
उत्तीर्णो नृपतिस्तूर्णं परपार समासदत्॥ श्लोक २४६-२५०.

राजा ललितादित्य ने भू खार (आजकल का बुखारा) देश से ककण वर्ष नामक महान् रासायनिक (रससिद्ध) के गुण सम्पन्न भ्राता चङ्कुण को बुलवाकर रखा था। (राजा सुयोग्य विद्वानो का सग्रह करता था)। वह रस प्रयोग से स्वर्ण निर्माण कर राजा के कोश को स्वर्ण से भरपूर रखता था। इसलिए कमल के लिए जिस प्रकार तडाग का पानी आवश्यक है, उसी प्रकार वह राजा के लिए बहुत उपयोगी था।[1]

---

१ चंकुण के विषय में राजतरंगिणी में और भी लिखा है—"तुःखार देशवासी चिंकुण मत्री ने चिंकुण विहार बनवा कर श्री ललितादित्य के चित्त के समान उन्नत एक स्तूप बँधवाया और स्वर्ण की जिन मूर्त्तियाँ बनवाकर स्थापित कीं (जिन शब्द बौद्धो के लिए प्रथम आता है—'जिन-जिन सुत तारा भास्करराराधनानि-सग्रह. चि. अ. २१)। चंकुण के श्यालक और ईशानचन्द्र नामक वैद्यने तक्षक नाग की कृपा द्वारा प्राप्त सम्पत्ति से एक भव्य विशाल विहार बनवाया। राजतरंगिणी चौथा तरंग २१६। ईशान का नाम—मधुकोष टीका के मंगलाचरण – श्लोकों में आता है (२)। ईशानदेव ईश्वरसेन के पुत्र ११वीं-१२वीं शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने चरक और अष्टांगहृदय पर टीका की थी (बृहत्त्रयी से)। ये इससे भिन्न हैं।

सेना सहित राजा पचनद (पञ्ज्यनोर—कश्मीर की राजधानी श्रीनगरसे उत्तर में साढे तीन कोश दूरी पर त्रिगाम, वितस्ता (जेहलम), सिन्ध, क्षीर भवानी और आञ्चार इन [illegible] —श्री यादवजी महाराज को मिली सूचना के आधार पर) देशो में दुस्तर नदियो के सगमो से तीर पर रुक जाने से चिन्ता मग्न हो गया था। उसने मत्रियो से पार जाने का उपाय पूछा। इस समय किनारे पर खडे चकुण ने उस अगाध जल मे एक मणि डाल दी। उस मणि के प्रभाव से नदी का जल दो हिस्सो मे बँट गया और वह राजा अपनी सेना समेत शीघ्र ही नदी के पार चला गया।

चकुण ने फिर दूसरी मणि से उस मणि को नदी में से निकाल लिया। मणि के निकलते ही नदियो का जल पूर्ववत् हो गया। राजा ने उन रत्नो के ऐश्वर्यकारी प्रभाव को देखकर प्रेम के साथ चंकुण से उन दोनो रत्नो को मागा (मणीना धारणीयाना कर्म यद् विविधात्मकम्। तत्प्रभावकृत तेषा प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥ चरक सू अ २६।७० मणियो का प्रभाव अचित्य है)। अन्त में चंकुण ने राजा से मगध से प्राप्त भगवान् बुद्ध की प्रतिमा लेकर उसके बदले में वे मणिया राजा को दे दी। चकुण ने इस मूर्त्ति को अपने विहार मे स्थापित किया; इस प्रतिमा का रग गेरूआ और चमकीला था।

इस प्रकार रस सिद्धो का उल्लेख आठवी शताब्दी में मिलता है। आठवी शताब्दी मे ही 'सरहपा' सिद्ध हुए हैं; जिनका 'नागार्जुन' भी एक शिष्य था। नाथ सम्प्रदाय के मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ का भी यही समय है। इस प्रकार से रससिद्धि का प्रारम्भिक समय आठवी शताब्दी निश्चित होती है। रससिद्धो में जिस नागार्जुन का उल्लेख है, वह इसी शताब्दी का है। बौद्ध दार्शनिक, शून्यवाद के प्रवर्त्तक नागार्जुन प्रथम या दूसरी शताब्दी के हैं। सभव है कि वह भी हैमवती विद्या—स्वर्ण बनाना जानते हो। परन्तु चमत्कार या किमीयागिरी-चिकित्सा मे पारा और धातुओ का उपयोग आठवी शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ—जब से इनको सिद्धो का आश्रय मिला—या सिद्धो ने अपनाया। सिद्ध इस विद्या को लोगो को चमत्कार, अलौकिक सिद्धियाँ दिखाने के रूप मे काम मे लाते थे, जिससे जनता इनके मत की ओर आकर्षित हो। इन सिद्धियो को दिखाने से ही ये सिद्ध कहे जाते थे। इस प्रकार जनता मे रसशास्त्र के प्रवर्त्तक यही सिद्ध है, इनमें एक नागार्जुन भी थे। चूँकि इसी नाम के एक नागार्जुन प्रथम-द्वितीय शताब्दी मे हुए है, उनके पास भी स्वर्ण बनाने की विद्या थी, इसलिए रस-सिद्धि, पारा-सिद्धि को इनके साथ जोड दिया गया। वास्तव मे दोनो भिन्न हैं—जिनमें छ सौ या सात सौ वर्ष का अन्तर है।

नागार्जुन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी डा० प्रफुल्लचन्द्रराय ने 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दू कैमिस्ट्री' (भाग २—पृष्ठ. १३ से २६) में दी है। उसमे भी रसशास्त्र से सम्बन्धित नागार्जुन को आठवी-नवी से पहले का नही माना।

धातुओ से परिचय

ताम्रयुग—स्वर्ण, लोह, ताम्र आदि धातुओ से हमारा परिचय वैदिक काल से था। प्रागैतिहासिक भारत मे धातुयुग पाषाणयुग के बाद आता है। पाषाण युग के बाद दक्षिण भारत मे लोहयुग और उत्तर भारत में ताम्रयुग का आविर्भाव हुआ। भारतवर्ष मे लोहयुग से पूर्व कांस्ययुग का क्रमिक विभाग नहीं पाया जाता। सिन्ध प्रान्त इसका अपवाद है। कॉसा या फूल नौ भर तॉबा और एक भर रागा मिलाकर बनाया जाता है। (सौ सत्ताईस कॉसा नही तो सन्यासा—सौ भर तॉबे मे सत्ताईस भर रागा मिलाने से अच्छा कासा बनता है। अच्छे कॉंसे के लिए ९६ भर ताम्बा २७ भर रागा और २ भर चादी होनी चाहिए)। दक्षिण भारत की प्राचीन समाधियो में प्राप्त कॉसे की वस्तुओ मे प्याले या कटोरे-जैसी नफीस चीजें भी मिली है, जो या तो बाद की है या अन्यत्र से वहॉ लायी गयी थी। तॉबे के हथियारो का जखीरा मध्य भारत मे गुगेरिया नामक गॉंव मे पाया गया है। इसमे ४२४ तॉंबे के औज़ार थे, जो आयरलैंड मे मिले हुए औजारो से बहुत मिलते है, और २००० ईसा पूर्व के समझे जाते है। इस निधि में १०२ चादी के गोल टुकडे और एक बैल का सिंगैल सिर भी था। चादी इस देश में कम थी और सम्भवत वह विदेश से आती थी, पर तॉंबा भारत में प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे वर्णित लोह-अयस् से उसकी एकरूपता मानी जाती है। गुगेरिया से प्राप्त ताम्रिक अस्त्रो के अलावा तॉबे के ही बने हुए बारीक औज़ार, मछली मारने के बरछे, तलवार और भाले के अग्रभाग कानपुर, फतेहगढ, मैनपुरी और मथुरा जिलो मे पाये गये है। उनका विस्तार प्राय सारे उत्तर भारत में हुगली से सिन्धु नदी तक और हिमालय की तराई से कानपुर जिले तक पाया गया है।

लोहे का प्रयोग—दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर मे लोहा पहले व्यवहार में आया; जैसे कि मिस्र की अपेक्षा बावेरू मे उसका प्रयोग पहले शुरू हुआ। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है; जो कि २५०० ई० पू० से बाद का नही कहा जा सकता। हीरोदत्त का कथन है कि जो भारतीय सिपाही ईरानी सम्राट् ख्शयार्ष (ज़रकसीज़) की कमान में यूनान के विरुद्ध ३२५ ई० पू लड़े थे, उन्होने अपने धनुष के साथ लोहे की नोक लगे हुए बेंत के बाणो का प्रयोग किया था। बाद में जब सिकन्दर के साथ

भारत में युद्ध हुआ तबसे यूनानी लेखको के अनुसार भारतवासी लोहे और फौलाद के काम मे यूनानियो-जैसा ही कमाल रखते थे। उनका कहना है कि पजाब के किन्ही शासको ने सिकन्दर को सौ टैलेन्ट (एक यूनानी तौल, लगभग २८ सेर या ५७ पौण्ड) बढिया भारतीय फौलाद भेट दी थी (हिन्दू सभ्यता–१५ पृष्ठ।[1])

सिन्धु सभ्यता के युग मे चाँदी, सोना, ताँबा, राँगा, सीसा इन धातुओ का लोगो को परिचय था, किन्तु लोहा बिलकुल अज्ञात था। वहाँ के सोने मे विशेष प्रकार के चाँदी के अश की मिलावट है, जो कि अवश्य ही व्यापार के द्वारा दक्षिण भारत की कोलार और अनन्तपुर की खानो से लाया गया होगा, क्योकि वही ऐसा सोना मिलता है। सोने से भाँति-भाँति के गहने बनाये जाते थे। ताँबा और सीसा राजपूताना, बलोचिस्तान या ईरान से, जहाँ वे आस-पास होते थे, लाये जाते थे। इस समय पत्थर का स्थान ताँबे ने ले लिया था, जिससे भाले का अग्रभाग, धुरी, चाकू, कुल्हाडी, रुखानी आदि औज़ार और हथियार एव कडे, कानो की बाली आदि आभूषण बनने लगे थे। ताँबा भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल से निकाला जाने लगा था और काम मे आने लगा था। गुगेरिया से प्राप्त ताँबे के बने ४२४ पिटवाँ औजारो से यह ज्ञात होता है।

राँगा अलग से काम मे न लाया जाता था, बल्कि ६ से १३ प्रतिशत भाग को ताँबे मे मिलाकर काँसा बनाते थे। ताँबे की अपेक्षा काँसा तेज धार या सफाई के विचार से बढिया माना जाता था। सबसे नीचे के स्तर से यह अनुमान है कि ३००० ई० पू० से पहले वह प्रयोग मे आ चुका था। सिन्ध के लिए रांगा भारत के बाहर उत्तरी ईरान और पश्चिमी अफगानिस्तान से बोलन दर्रे से लाया जाता था। भारत मे केवल हजारी-बाग जिले मे वह मिलता है, किन्तु इतनी दूर से सिन्ध निवासियो के लिए उसका ले जाना सम्भव नही था। (हिन्दू सभ्यता–१९ पृष्ठ)

पत्थर—घर बनाने के लिए अनेक पत्थर काम मे आते थे। मोरियो पर ढकने के लिए सक्खर का सफेद खडिया पत्थर (लाइम स्टोन) काम मे आता था। गिलास कटोरी बनाने के लिए सेलखडी, घाट और बट्टे बनाने के लिए चकमक पत्थर काम मे

---

१. मालव लोगो ने सिकन्दर को जो भेंट दी थी उसमें उन्होने ३०० घुडसवार, १०३० रथ, जिनको चार घोड़े खींचते थे, १००० ढालें, बहुत बड़ी मात्रा में बारीक मलमल, १०० टैलेन्ट लोहा, कुछ बहुत ऊँचे सिंह, व्याघ्र और बड़े चीतो की खालें और कछुए का आवरण बड़ी मात्रा में दिया था—'एज आफ दी नन्द और मौर्य' (पृष्ठ ७३)

आता था। हारों के मनके और जड़ाऊ गहनो के काम में अनेक प्रकार के संग काम में आते थे; जैसे स्फटिक, धाऊ, अकीक, सग अजूबा, यशब, सग सुलेमानी। एक विशेष प्रकार का सुन्दर हरे रंग का भीष्मक पत्थर (Amazone Stone) नीलगिरि पर्वत के दुट्टा-बित्ता की खानो से, जो भारत में उसका एकमात्र स्रोत है, आता था। संग-कठैला दक्षिण के पठार से आता था। लाजवर्द और राजावर्त्त बन्दकशो से, ईरोजा खुरासान से, कडे पत्थर का मरगज (सग मसार या अश्मसार) पामीर, पूर्वी तुर्किस्तान या तिल्व से आता था (हिन्दू सभ्यता)।

वैदिक काल में धातुओं का उपयोग—ऋग्वेद में सुदास का दस राजाओ के साथ युद्ध होने का उल्लेख है (७।३।३७)। ये दस राजा यज्ञ न करनेवाले, इन्द्र की सत्ता को न स्वीकार करनेवाले एव झूठे देवों को माननेवाले थे। ये अनार्य थे। इनके दुर्गों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ये लोहे के बने थे (आयसी–२।५८।८), पत्थर के (अश्ममयी–४।३०।२०), लम्बे चौडे (पृथ्वी), विस्तृत (उर्वी) और गौओ से भरे (गोमती-अथर्व ८।६।२३) थे।

ऋग्वेदकालीन शिल्पो में धातु का काम करनेवाले कर्मार कहलाते थे (१०।७२।२), ये धातु को आग में गलाते थे (अधमत्-१०।७२।२, ५।९।५ उपध्माता इव धमति)। चिड़ियों के पखो की धोकनी (पर्णेभि शकुनानाम्) और सूखी लकड़ियो से धातु को गलाकर उसके बरतन बनाये जाते थे (अयस्मय घर्म–५।३०।१५)। लोहे को पीटकर भी बरतन बनाये जाते थे (अयोहत् ९।१।२)। सुनार (हिरण्यकार) सोने का आभूषण गढ़ता था (१।१२२।२)। सोना सिन्धु जैसी नदियो से, जिन्हें' हिरण्यवर्तिनी 'कहा गया है (६।६१।७) और भूमि से (निखातरुक्मम्–१।११७।५) प्राप्त किया जाता था। (स्वर्ण का एक नाम कलधौत या जलधौत है, जिससे स्पष्ट है कि वह पानी से प्राप्त होता था, रेती में मिला होने से पानी से धोकर प्राप्त होता था)। यजुर्वेद में सोना, ताम्र, लोहा, सीसा, त्रपु (रांगा) सबका नाम मिलता है (१८।१३), अथर्व-वेद में चाँदी का नाम रजत आता है (५।२८।१)[1]।

युद्ध में जो हथियार काम में आते थे, उनमें धनुष (८।७२।४) और बाण (७।६।५।१७ होते थे। तरकश निषग कहलाता था (५।५७।२–सधन्वान इषुमन्तो निषगिण–

---

१. अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च यज्ञेन कल्पताम् (यजु. १८।१३) हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि—(अथर्व. ५।२८।१.)

अर्थात् धनुष, बाण और तरकश से सज्जित योद्धा)। कवच (वर्म) धातु के कई टुकड़ो को एक साथ सीने से बनता था (स्यूत–१।३१।१५, १०।१०१।८)। वह अत्क भी कहलाता था, जो बुना जाता था (व्युत) और खूब कसकर बैठता था (सुरभि-१।१२२।२; ६।२९।३)। हाथ का दस्ताना, जो प्रत्यचा की रगड से हाथ को बचाता था (६।७५।१४); झिलमटोप (शिप्र) यह लोहे या ताँबे का बनता था (अय शिप्रा ४।३७।४) या सोने का (२।३४।३–हिरण्यशिप्रा)। शिरस्त्राण पहने योद्धा 'शिप्रिन्' कहलाता था (१।२९।२)।

अन्य हथियार थे असि और उसकी म्यान (असिधार), परतला (वाल १।१६२।२०), सृक्ति या भाला (७।१८।१७), बल्लम (सृक् १।३२।१२), दिद्यु या फेककर चलाया जानेवाला अस्त्र (१।७१।५); आद्रि (१।५१।३) या अशनि (६।६।५) अर्थात् गोफने में रखकर फेकने के गोले-गोलियाँ।

इसके सिवाय सोने के आभूषण स्त्री और पुरुष पहनते थे। जैसे कानो में कर्णशोभन (८।७८।३), गले मे निष्कग्रीव (२।३३।१०); हाथो मे कडे और पैरो में खँडुवे (खादि; १।१६६।९; ५।५४।११ पत्सु खादय), छाती पर सुनहले पदक (वक्ष सुरुक्मा) धारण करते थे। गले मे मणियाँ पहनी जाती थी (मणिग्रीव–१।१२२।१४)। सोने का उपयोग बर्तन बनाने में होता था (हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्–यजु० ४०।१७)।

अंजन—वेद में अंजन को यातु और यातुधानी (कृमि और कृमियो का उत्पत्ति-स्थान अथवा कृमियो का नाशक) लिखा है—

> **यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।**
> **यातूँश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः॥ (अथर्व ४।९।९.)**

हिमालय पर, त्रिककुद पर्वत पर जब उत्पन्न अजन हुआ, सब यातु कृमियो को तथा सब नारी कृमियो को अथवा उनके उत्पत्तिस्थान को नष्ट करता है।[1]

अजन दो प्रकार का है, एक त्रिककुद पर्वत से आनेवाला और दूसरा यामुन—यमुना से उत्पन्न।

अथर्ववेद मे अजन के लिए बहुत-से शब्द आये हैं; यथा–त्रायमाणम् (४।९।१), जीवम् (४।९।१), यातुजम्भनम् (४।९।३); जीवभोजनम्, हरितभोजनम्

१: त्रिककुद पर्वत का स्पष्टीकरण—'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' देखिए।

(४।९।३); त्रैककुदम् (४।९।१०), यामुनम् (४।९।१०), परिपाणम् (४।९।३); मैत्रायणी सहिता में त्रैककुभम् (३।६।३), आयुष प्रतरणम् (अथर्व–१९।४४।१, विप्रम् (अ १९।४४।१), सिन्धो गर्भ (अ १९।४४।५); विद्युता पुष्पम् (१९।४४।५), देवाञ्जनम् (१९।४४।६), अमीवचातन (१९।४४।७), पर्वतीयम् (१९।४५।३) आर्ष (१९।४५।४)।

अजन अश्व, गौ और पुरुषो के लिए लाभकारी है (अथर्व ४।९।२) इसके सेवन से आयु बढती है। शपथ, कृत्या, अभिशोचन, विष्कन्ध (४।९।५), असन्मन्त्र, दुष्ष्वप्न्य, दुष्कृत, शमल, दुहार्द घोरचक्षु (अ ४।९।६), तन्त्रा (ज्वर), बलास, आदहि (दाद रोग) (४।९।८), हरिमा, अगभेद, जायान्य (राजयक्ष्मा), विसल्पक (१९।४४।२) नष्ट होते है।

सेवन प्रकार—कष्ट निवारण के लिए इसका चार प्रकार से उपयोग किया जाता था—नेत्र मे ऑजकर, मणिरूप मे धारण कर, शरीर पर बाँधकर तथा लेप और भक्षण करके (अ १९।४५।५, ४।९।३)। अन्य सहिताओ मे भी अजन का उल्लेख है। यथा—

यस्यांजन प्रसर्पस्यङ्गमङ्ग प्ररुष्परुः।
ततो यक्ष्मं विबाधस उग्रो मध्यमशीरिव॥ (अथर्व. ४।९।४.)

हे अजन! जिस पुरुष के अग-अग और जोड-जोड मे तू पहुँचता है, वहाँ तू यक्ष्म-रोग नष्ट कर देता है। मध्यस्थ वीर पुरुष, जैसे शत्रुओ को अथवा मध्यलोक में स्थित वायु, जैसे बादलो को नष्ट करता है।

त्रयो दासा आंजनस्य तक्मा बलास आदहिः।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता॥ ४।९।८.

तक्मा-रोग, बलास-कफ रोग, दाह रोग ये तीनो अजन से नष्ट होते है। हे अंजन! पर्वतो मे श्रेष्ठ त्रिककुद् पर्वत तेरा पिता है।

आंजनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम्।
कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम्॥ (अथर्व. १९।४४।३.)

अजन पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ है, पुरुषो को जीवन देनेवाला है, वह तुझे न मारने-वाला, रथ के वेगवाला दोष से रहित बनाये।

अपामूर्जं ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते॥ १९।४५।३.

हे रोगी ! जलो का बल, ओज का बढानेवाला, जातवेदस-अग्नि से उत्पन्न, पर्वत से उत्पन्न, यह चतुर्वीर अजन तेरे लिए दिशाओ और प्रदिशाओ को कल्याणकारी बनाये।

आक्ष्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेनापिबैकमेषाम् ।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परिपात्वस्मान् ॥ १९।४५।५.

हे पुरुष ! एक अजन को नेत्र मे धारण कर, एक को मणिरूप मे बाँध, एक अजन से स्नान कर, एक को पी। यह चतुर्वीर अजन ग्राही (पकडनेवाला या बहते हुए रक्त को बन्द करनेवाला) हो।

सग्रह (सूत्र अ ८।९२–१०१) जैसा अजन का उल्लेख प्राचीन सहिताओ मे नही मिलता। रसग्रन्थो मे या निघण्टु मे भी इसका विस्तृत उल्लेख इस रूप में नही है। चरक तथा दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थो म आँखो की निर्मलता के लिए इसका उपयोग करने का उल्लेख है। कुष्ठ रोग में अजन का लेप बताया गया है—"भल्लातक गैरिकमञ्जन च" (चरक सू अ ३।५)। पाण्डुरोग मे मुक्ताविद्रुमाजन योग सुश्रुत मे है–"प्रवाल-मुक्ताञ्जनशखचूर्ण लिह्यात्तथा काञ्चनगैरिकोत्थम् (उत्तर अ. ४४।२१)।

सीसा—सीसा भी कृमिनाशक है—

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातु चातनम्। (अथर्व. १।१६।२–३.)

सीसे को मुझे इन्द्र ने दिया। हे अग ! वह सीसा यातु, कृमियो का हनन करनेवाला है। यह सीसा विष्कन्ध रोग को दबाता है, यह अत्रि कृमियो को नष्ट करता है, इस सीसे से सबको दबा लेता हूँ। कच्चा मास खानेवाले सब कृमि इससे नष्ट होते हैं।

मणि—मणि का उपयोग रक्षोघ्न तथा विषप्रतिकार मे बताया गया है। चरक-सहिता मे मणिधारण का विधान स्वास्थ्य के लिए (सूत्र अ ५।९७ मे) तथा बच्चो को ग्रहो से बचाने के लिए (मणयश्च धारणीया कुमारस्य, शा अ ८।६२,) और विष-प्रतिकार के लिए है। इसी लाभ के लिए वेद मे भी मणिधारण का उल्लेख है। ये मणियाँ क्या थी, इसका स्पष्टीकरण नही है। शख के लिए कहा है—

शंखेन हत्वा रक्षास्यत्रिणो विषहामहे। (अ. ४।१०।३.)

राक्षसो को, अत्रि कृमियो को हम शख से हनन करके दबा देते है।

मणियो ओषधियो से भी बनती थी। मणि से ही सम्भवत· माणिक्य-मनका शब्द बना है, मनका गोल होता है। ओषधियो मे से गोल (वर्त्तुल) चक्के काटकर इनमे छेद करके धारण करते थे। इसी से आयुर्वेद में प्रशस्त ओषधियो के धारण का विधान है (शिरसा धारयेत्–सू. अ १९॥२९)। इसी से अथर्ववेद में कई ओषधियो

को मणि तुल्य धारणीय कहा है। इनमें औदुम्बर मणि, जंगिडमणि, पर्णमणि, दर्भमणि और फालमणि का उल्लेख है (वेद में आयुर्वेद, पृष्ठ २५६-२६६)।

शंख का वर्णन जैमिनीयोपनिषद् ३।७।४।१; ४।९।२।७; शतपथ ब्राह्मण १।४।५।४।९ तथा गोपथब्राह्मण १।२।८। में भी आता है।

स्वर्ण धारण करने से आयु, वर्चस् बल, बढ़ता है (अथर्व. १।३५)। इसको धारण करनेवाले को पिशाच तथा अन्य राक्षस कृमि हानि नहीं पहुँचाते (सद्वृत्त में—भोजन करने के विधान में सुवर्णादि रत्न धारण की आज्ञा है—नारत्नपाणिर्नास्नात अन्न-माददीत—चरक. सू अ ८।२०, न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्। (चरक. चि. अ. २३।२४०)

वाजसनेयी संहिता में छ धातुओं के नाम आये हैं—हिरण्य, अयस्, लोहा (ताम्र), श्याम, सीसा और त्रपु (१८।१३)। स्वर्ण का पता ऋग्वेदकाल से ही था या स्वर्ण धातु (ore) से निकाला जाता था। रजत का उपयोग आभूषण (रुक्म) तथा पात्र और मुद्रा (निष्क) रूप में होता था। ऋग्वेद में अयस् का उल्लेख है। धातुएँ ध्मापन से प्राप्त की जाती थीं। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय ध्मापन क्रिया का ज्ञान था (६।३।४)। लोह शब्द लुह् धातु से बनता है, जिसका अर्थ खींचना है। सुवर्ण आदि अपनी मूल धातुओं से क्रियाविशेष द्वारा खींचकर निकाले जाते हैं, अतः उनको लोह नाम दिया गया है। लुह् धातु पाणिनि के धातुपाठ में नहीं है। धातु शब्द का अर्थ है सुवर्ण आदि लोह को धारण करनेवाला खनिज द्रव्य (धारणाद् धातवः—इसलिए ओर ore के लिए धातु शब्द है)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में धातुओं का उल्लेख—अर्थशास्त्र में जिन मूल द्रव्यों से सोना-चाँदी आदि गलाकर निकाले जाते थे उनके लिए धातु शब्द का प्रयोग किया है। यथा—जिससे स्वर्ण निकलता था, उसे स्वर्ण-धातु, इसी प्रकार जिससे चाँदी निकलती थी उसे रूप्य-धातु कहा है। इसी प्रकार ताम्र-धातु सीसक-धातु, लोह-धातु थी। ये शब्द खनिज (ore) को बताते हैं। आकराध्यक्ष का कर्त्तव्य था कि वह शुल्व-शास्त्र (जिसमें ताँबा-सोना आदि बनाने की विधि कही हो) धातु-शास्त्र, (धातु निकालने का ज्ञान), रस पाक, मणि राग (मणियों के रंग) आदि का अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करे। इसके साथ किट्ट, मूषा, अंगार, भस्म आदि की परीक्षा से पुरानी खान का पता लगाये। भूमि, पत्थर, धातु के वर्ण, गौरव, गन्ध से रस की परीक्षा करनी चाहिए।

राज्य के आय के साधनों में धातुओं की खान को भी कहा है (२।६।४)। कहाँ पर कौन-सी खान है, कौन-सी धातु कहाँ मिलेगी, इसकी पहचान विस्तार से बतायी

है (२।१२।२-६)। जिस धातु (ore) में भारीपन अधिक हो उसमें से धातु अधिक निकलती है (सर्वधातूना गौरववृद्धौ सत्त्ववृद्धि), निकली हुई धातुओं को साफ करने की सम्पूर्ण विधि आदि लिखी है। शोधनकार्य में तीक्ष्ण मूत्र, तीक्ष्ण क्षार, अमलतास, बरगद, गोपित्त, महिष-खर-ऊँट के मूत्र-पुरीष आदि का उपयोग बताया है। शुद्ध धातु की पहचान भी बतलायी है।

विशिखा—स्वर्ण का व्यापार जिस बाजार में होता हो उसका नाम विशिखा है[1]। इस स्थान में होनेवाले स्वर्ण के व्यापार, शोधन, बनावट, चोरी आदि सब वस्तुओं का उल्लेख इस प्रकरण में (२।१३।३१) किया गया है।

सुवर्ण के उत्पत्तिस्थान तीन हैं—जातरूप (स्वय शुद्ध सुवर्णरूप में प्राप्त), रसविद्धम् (पारे के द्वारा बनाया), आकरोद्गत (खान से मूल धातु के रूप में निकला) (२।१३।३१।३)। इस प्रसंग में वर्ण शब्द आधुनिक 'कैरेट' का सूचक है; कितनी मिलावट ताम्र या अन्य धातु की है, इसे 'वर्ण' शब्द से कहते हैं। इस प्रकार से पाँच वर्ण स्वर्ण के हैं—जाम्बूनद, शातकुम्भ, हाटक, वैणव और शृंगशुक्तिज। मिलावट होने से सोना टूटता है, फटता है, कठोर हो जाता है। सोलह वर्ण का सोना शुद्ध होता था।

सुवर्ण में चालबाजी करने का भी उल्लेख है (जातिहिंगुलकेन पुष्पकासीसेन वा गोमूत्रभावितेन दिग्धेनाग्रहस्तेन स्पृष्टं सुवर्णं श्वेतीभवति—२।१३।३१।२३)। यह चमत्कार-धोखाबाजी उस समय भी बरती जाती थी। सोने की परीक्षा के लिए कसौटी ही थी—कसौटी पर केसर के समान रेखा होनी चाहिए।

सुवर्णकार किस-किस प्रकार से सोना चुराते हैं इसका भी उल्लेख है (मूकमूषा, पूतिकिट्ट, करटकमुख, नाली सदंश, जोंगिनी, सुवर्चिका लवणम्। तदेव सुवर्णमित्यपसरणमार्गाः—२।१४।२७)। लोहे के भेद—कालायस, ताम्रवृत्त, कांस्य, सीस, त्रपु, वैकृन्तक और आरकूट बताये हैं (२।१७।३५।१५)।

---

१. डाक्टर अग्रवाल की मान्यता है कि कादम्बरी तथा मेघदूत में जो वर्णन सराफे का आया है, वह केवल इसी लिए है कि सब बाजारों में सराफा, सोने चाँदी का बाजार ही मुख्य था। उस एक के वर्णन से दूसरे बाजारों के वैभव का पता चल सकता है। इसी लिए कादम्बरी में उज्जयिनी के वर्णन में बाण ने सराफे को ही चुना। कालिदास ने भी पूर्वमेघ में इसी बाजार का वर्णन किया (३४ में)। आयुर्वेद—सुश्रुत में 'विशि।नुप्रवशनीय अध्याय' में—विशिखा का अर्थ बाजार किया जाये तो असंगत नहीं, अपितु उचित जँचता है।

पारद-हिंगुल का उल्लेख—अर्थशास्त्र मे पारद को धातुओ के साथ नही गिना। रसशास्त्र मे भी पारद का वर्णन स्वतन्त्र रूप से है। कौटिल्य के समय पारद और हिंगुल का ज्ञान था। इससे सोना भी बनता था (जो रसविद्धम् शब्द से स्पष्ट है)। हिंगुल से पारा निकालने का स्पष्ट उल्लेख नही है। हिंगुल का उपयोग स्वर्ण आदि के कार्य मे होता था (घनसुषिरे वा रूपे सुवर्णमृन्बालुकाहिंगुलकल्को वा तप्तोऽवतिष्ठते —२।१४।४०)। सोने या चाँदी के ठोस या पोले कडो पर सुवर्ण मिट्टी; सुवर्ण भा (बा) लुका और हिंगुल-शिगरफ का कल्क लगाकर आग मे गरम करे तो जितना सोना या चाँदी इनमे होगी—उतनी निकल आयेगी। सोना चुराने के लिए सुनार वस्त्र पर हरताल, मैनसिल, हिंगुल इनमे से किसी एक के चूर्ण को कुरुविन्द (जिससे शाण बनायी जाती है) के चूर्ण के साथ मिलाकर लेप कर लेते है, फिर इससे आभूषण को रगडते है। इस प्रकार से चुराये गये सोने को परिमर्दन कहते है (२।१४।५४)।

पारे का उपयोग समरागणसूत्रधार में वायुयान (व्योमयान) बनाने के लिए आया है।[1] पारा या हिंगुल जिन स्थानो से निकलता था, उनका नाम पारद और दरद था। कौटिल्य ने 'दारद' विष का उल्लेख किया है (२।१७।१२)।

---

१ समरांगणसूत्रधार में—राजा भोज ने दो प्रकार के व्योमयानो का उल्लेख किया है—

(१) लघु दारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयंत्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
तत्रारूढः पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन।
सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥

(२) इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
अयःकपालाहितमन्दवह्नि—प्रतप्ततत्कुम्भभवागुणेन।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥
वृत्तसन्धितमाय[illegible] तद्विधाय रस पूरितमन्तः।
उच्चदेशविनिधापितत तं सिंहनादमुरजं विदधाति ॥

गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, भाग १, पृष्ठ १७५-१७७.

सत्यार्थप्रकाश में श्री स्वामी दयानन्दजी ने भी इस प्रकार के व्योमगामी यंत्र का उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे रत्नो की भी अच्छी पहचान दी है। मोती की परीक्षा, मोती कहाँ से आते है, कहाँ पर उत्पन्न होते है इत्यादि बातो का स्पष्ट उल्लेख किया है। शख, शुक्ति और प्रकीर्ण (गजमुक्ता, साँप की मणि आदि) ये तीन मोती के उत्पत्ति-स्थान कहे है। इनसे बनी मालाओं का उल्लेख किया है। इसी प्रसग मे मणियो का भी उल्लेख हुआ है।

सिकन्दर के समय धातु—भारतवर्ष मे लोह निर्माण के कार्य मे उस समय पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। लोहे पर पायना (पानी चढाना Temper) विशेप क्रिया थी। निर्याकस के अनुसार राजा पौरुष ने जो मूल्यवान् भेट दी थी—वह ३० पौड उत्तम लोहा था। मिस्टर शो की मान्यता है कि प्राचीन मिस्र मे जो सबसे अधिक कठोर लोहा मिला है, जैसे बरमा—जिससे कि 'अकीक' मे छेद होता था वह भारतीय लोहे से ही बनता था। वराहमिहिर ने पायना करने की निम्न विधि बतायी है[1]—अर्क दूध, भेड के सीग की राख, चूहे और कबूतर का पुरीष इनका पहले लोहे पर लेप करना चाहिए। इसको गरम करके तेल मे बुझाना चाहिए। इस प्रकार से बनाया हुआ शस्त्र पत्थर पर भी कुण्ठित नही होता। तलवार या शस्त्र को केले के क्षार और तक्र से लिप्त करके रात भर रखकर बुझाये तो यह शस्त्र दूसरे शस्त्रो से भी कुण्ठित नही होता।[2]

---

१ तेषां पायनस्त्रिविधः क्षारोदकतैलेषु, तत्र क्षारपायित शरशल्यास्थिछेदनेषु, उदकपायित मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायित सिराव्यधनस्नायुच्छदनेषु। (सुश्रुत सू. अ. ८।१२।)

२. तैलपायना—पिप्पली सैन्धवं कुष्ठं गोमूत्रेण तु पेषयेत्।
अतिशीतमनाविद्धं पीतं नष्टं तथौषधम्॥
अनेन लेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्।
ततो निर्वापितं तैले लौहं तत्र विशिष्यते॥
उदकपायना—पंचभिर्लवणैः पिष्टं मधुसिक्तं ससर्षपैः।
एभिः प्रलेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्॥
शिखिग्रीवासुवर्णाभं तप्तपीतं यथौषधम्।
ततस्तु विमलं तोय पाययेच्छस्त्रमुत्तमम्॥

पारद-दरद-देश—महाभारत में पारद, दरद आदि जातियो का उल्लेख है—इन्होंने युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ में भेंट दी थी (द्यूतपर्व ५२।१३–१४)।

पारद और दरद देशो का उल्लेख भूगोल में भी मिलता है। जिस प्रकार बगाल के निवासी बगाली, मद्रास के मद्रासी होते है; उसी प्रकार इन देशो के निवासी अपने देश के नाम से कहे जाते थे। इन देशो के नाम इन स्थानो पर मिलनेवाली वस्तुओ के कारण हैं (तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि—पाणिनि ४।२।६७)।

इस प्रकार जहाँ पर पारद और हिंगुल (दरद) होता था, उस देश का नाम पारद और दरद था। वहाँ रहनेवाले भी पारद और दरद कहलाते थे।

दरद देश की पहचान डाक्टर अग्रवाल ने अपनी पुस्तक पाणिनि कालीन भारतवर्ष' में दी है उनके अनुसार बलोचिस्तान की मकरान पर्वत शृखला सभवत किंशुलकागिरि थी, जिसका नाम अभी तक हिंगुलाज देश और हिंगुला नदी के नामों के रूप में बचा रह गया है। हिंगुला किंशुल का प्राकृत रूप है। इस देश का प्राचीन नाम पारद था। यूनानियों ने इसे पारदीनी (Paradene) लिखा है, जो पाणिनि के पार्दायन और पार्दायनी से सम्बन्धित है (४।२।९९)। पारद के अर्थ में हिंगुल शब्द का प्रयोग मध्यकाल में पाया जाता है। सभवत लाल हिंगुल का उत्पत्तिस्थान होने के कारण यह स्थान किंशुलक कहलाया। किंशुक और किंशुलक एक ही शब्द ज्ञात होते हैं। हिंगुला अभी तक लाल देवी मानी जाती है। वस्तुतः हिंगुलाज में शकों की नानादेवी का प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसकी मान्यता (जियारत) मुसलमान भी नानी के नाम से करते हैं (पृष्ठ ४५)।

इस प्रदेश में पारद, वग, किरात और दरद रहते थे। सिकन्दर का मुकाबला हिंगुला नदी के मुहाने पर यहाँ के लोगों से हुआ था, जिसमें ये लोग मारे गये (सार्थवाह, पृष्ठ ७३)। पारद, कुलिन्द, तगण लोगो की स्थिति मध्य एशिया में थी। इस प्रकार ये देश उस समय पारद, हिंगुल के उत्पत्ति-स्थान थे (गोरखाओं के देश को

क्षारपायना—क्षारं कदल्या मथितेन युक्तं,
दिवोषितं पायनमायसेयम्।
सम्यक् शितं चाश्मनि नैति भङ्गं,
नचान्यलोहेष्वपि तस्य कौण्ठ्यम्॥
(बृहत्संहिता, अध्याय ५०, पृष्ठ १०९।)

सम्भवत· नैपाली ताम्र का प्राप्ति-स्थान होने से नेपाल नाम देते हैं; सुमात्रा से लगा पालेमबेंग के सामने बंका द्वीप है, बका की राँगे की खान प्रसिद्ध है। वंग का नाम राँगा भी है, सम्भव है, यह स्थान इस धातु का उद्गम स्थल हो—(सार्थवाह, पृष्ठ १३४)। इसी प्रकार नागा प्रदेश सीसक का, वग राँगे का, किरात ताम्र का उत्पत्ति-स्थान हो सकता है।)

गुप्तकाल—इस समय मे लोहे की पूर्ण उन्नति थी। इसकी साक्षी दिल्ली मे कुतुवमीनार के पास बनी लोहे की लाट या कीली है, जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय निर्मित कहा जाता है। यह लौहस्तम्भ ढलवाँ लोहे का बना है, जिसकी लम्बाई २४ फुट से कम नही। भूमि से यह लगभग २२ फुट बाहर है, इसके ऊपरी सिरे पर कलात्मक रचना है, जिस पर चौथी शताब्दी का संस्कृत लेख खुदा है। इसके लोहे का विश्लेषण हैड्फिल्ड ने किया था। उसकी राय में यह उत्तम प्रकार का ढला हुआ है, जो सम्भवत कोयले के मेल से बनाया गया है (एट्रिटाइज ओन कैमिस्ट्री–१; मैटल्स पृष्ठ ११६२–६३)।

मिसेज स्पीयर ने हिन्दुओ द्वारा लोहा बनाने की विधि का उल्लेख किया है। उसके अनुसार वे लोहे को पिघलाते थे। पिघलाते समय वे इसमें हरे पत्ते और लकडी डाल देते थे। इसको बन्द मूषा (क्रुसीबल) में गरम करते थे। यही विधि ग्लासगो और शेफील्ड में बरती जाती है। श्री हैथ का कहना है कि भारत के आदिवासी दो-अढ़ाई घंटे में खनिज धातु से लोहा निकाल लेते हैं; शेफील्ड में इस कार्य में चार घटे लगते है (सम एस्पैक्टस औन इण्डियन सिविलीजेशन—लेखक-गिरिजाप्रसन्न मजूमदार)।

वृद्धत्रयी में धातु—प्रागैतिहासिक काल से लेकर आठवी शताब्दी तक के प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि धातु-ज्ञान इस देश में पर्याप्त था। पारे से सोना बनाने की विद्या भी ज्ञात थी। सम्भवतः प्रथम या द्वितीय शताब्दी का नागार्जुन इस विद्या में विशेष निपुण रहा हो। परन्तु चिकित्सा में या शरीर को अजर-अमर करने के लिए पारद-सिद्धि विषयक ज्ञान उस समय उन्नत नही हुआ था। यह बात वृद्धत्रयी से स्पष्ट है। चरक और सुश्रुत में पारद का उल्लेख एक-एक बार ही आया है।[१] धातुओ का जो भी

---

१. चरक. चि. अ. ७।७१; २—सुश्रुत [क] "तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः सर्वैश्च तुल्यो कुरविन्दभागः—क. अ. ३।१४॥ [ख]—रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदञ्च काकोल्यादि क्षीरपिष्टश्च वर्गः॥ चि. अ. २५।३९. इसके पाठान्तर में भी पारद ही है—

उपयोग आया है, वह चूर्ण रूप मे अयस्कृति बनाकर आया है। आँखो के अजन में प्राय सब धातु–मुक्ता, प्रवाल, वैडूर्य, स्फटिक, तुत्थ, कासीस का उल्लेख सुश्रुत मे बहुत ही स्पष्ट है। यह सब उल्लेख ११वी शताब्दी मे होनेवाले धातुप्रयोग से सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार चरक मे लोहे, तुत्थ, कासीस का प्रयोग, मडूर का उपयोग मिलता है, परन्तु यह प्रक्रिया सर्वथा अलग है। वृन्द, चक्रदत्त तक धातुओ के प्रयोग का यही रूप मिलता है। इसलिए यह निश्चित है कि आठवी-नवी शताब्दी तक चिकित्सा मे धातुओ का प्रयोग एक दूसरे प्रकार का था। इस समय या इससे पूर्व स्वर्ण भले ही पारे के योग से बनता हो, परन्तु पारद का उपयोग देहसिद्धि के लिए नही था। सिद्धि या चिकित्सा मे उसका उपयोग नवी-दसवी सदी मे आरम्भ हुआ था।

चरक संहिता में धातुओ का उल्लेख—इस सहिता मे तीन प्रकार के द्रव्य बताते हुए पार्थिव द्रव्यो में धातुओ का उल्लेख किया है। यहाँ पर छ ही धातु गिनी हैं (सुवर्ण समला पञ्च लोहा ससिकता सुधा। मन शिलाले मणयो लवण गैरिकाञ्जने॥ सू० अ० १।७०)। ये छ धातु—सुवर्ण, ताम्र, रजत, त्रपु, सीसक, लोह हैं। मल शब्द से शिलाजतु लिया गया है। शिलाजतु भी धातुओ से निकलता है। इनके अतिरिक्त रेत, सुधा-चूना (तथा मिट्टी), मन शिला, हरताल, मणियाँ, लवण, गैरिक, अजन आदि भी इसी वर्ग में माने गये हैं।

यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि सुश्रुत मे मोती को भी पार्थिव कहा है—(पार्थिवा —सूत्र अ० १।३२)। यहाँ पर मुक्ता को पार्थिव कहना इसके खर आदि पार्थिव गुणो की दृष्टि से है, न कि उत्पत्ति की दृष्टि से। इसी प्रकार शंख आदि मणियो को पार्थिव समझना चाहिए।

सुधा से चूने के साथ सौराष्ट्री, काक्षी, कासीस आदि तथा मल से मण्डूर, किट्ट आदि वस्तुओ को भी समझना चाहिए। इसके आगे बहुत से उपरसो का उल्लेख है। ये उपरस-खनिज द्रव्य बाह्य और अन्त दोनो प्रयोगो में आते है। धातुओ का उल्लेख बहुत नियमित रूप मे है। इनका प्रयोग उस समय आधुनिक प्रयोग से सर्वथा भिन्न रूप में होता था। यथा—

त्रिफला के रस में (या क्वाथ में), गोमूत्र मे, गोदुग्ध में, लवण के पानी मे,

---

गोरोचनाकुंकुमगैरिकाणि निशाद्वयं पारदचन्द... च॥ सुतार शब्द से टीकाकारों ने पारा अर्थ किया है, परन्तु पारे के पर्यायो में सुतार शब्द नहीं है। (सुश्रुत—चि. अ. २५)

इगुदी के क्षार में और किंशुकक्षार मे तीक्ष्ण लोह के पत्रो को अग्नि में लाल करके क्रमश· निर्वापित करे। लोहे के पत्र चार अगुल लम्बे और तिल के बराबर पतले होने चाहिए। उपर्युक्त द्रव्यो में निर्वापित करने पर जब वे अंजन के (सुरमे के) समान बारीक हो जाये तब उनको आँवले के रस और मधु में चाटन की भाँति मिला-कर घी से भावित घडे मे रखकर एक साल तक जौ के ढेर में रख छोड़े। एक साल हो जाने पर इनका प्रयोग घी और मधु के साथ करना चाहिए। एक वर्ष के बीच में प्रति मास अच्छी प्रकार आलोडन (मन्थन) करते रहना चाहिए। सब प्रकार के लोहो की यह प्रयोगविधि है (चरक० चि० अ० १।३।१५–२०)।

इसी प्रकार एक दूसरे योग मे त्रपु, सीस, ताम्र, रूप, कृष्णलोह और सुवर्ण इनको वच, मधु, घृत, विडंग, पिप्पली, त्रिफला और लवण के साथ एक वर्ष तक रसायन फल के लिए प्रयोग करना बताया है (चि० अ० १।३।४६–४७)। इसमे भी इनका सूक्ष्म चूर्ण करके प्रयोग विधेय है। यह चूर्ण अग्नि के द्वारा ही किया जाता था, परन्तु उसकी प्रक्रिया रसशास्त्र की प्रक्रिया से भिन्न थी।

चरकसंहिता में धातुओ के बारीक चूर्णों के लिए 'रजस्' शब्द का प्रयोग आता हैं (नवायोरजसो भाग.—चि० अ० १६।७०), भस्म नही। मण्डूर का भी सुरमे के समान बारीक चूर्ण का ही उल्लेख है (मण्डूर द्विगुण चूर्णाच्छुद्धमजनसन्निभम्; चि० अ० १६।७४)। ताम्र का भी सूक्ष्म चूर्ण कहा है (दद्यात्ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं-हृद्विशोधनम्—चि० अ० २३।२३९)। स्वर्ण का भो सूक्ष्म चूर्ण बतलाया है (शुद्धे हृदि तत. शाण हेमचूर्णस्य दापयेत्—चि० अ० २३।२३९)।

धातुओ के साथ स्वर्णमाक्षिक (ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमला पञ्च पला पृथक्—चि० अ० १६।७८), रजतमाक्षिक (तथा रूप्यं मलस्य च—चि० अ० १६।८१), प्रवालचूर्ण (प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे—चि० अ० २६।५६) का भी उपयोग है। चरक में मुक्ताद्यचूर्ण नाम से एक योग है, यथा—

> मुक्ता प्रवाल वैडूर्य शंख स्फटिक मञ्जनम्।
> ससार गन्धक काचार्क सूक्ष्मैला लवणद्वयम्॥
> ताम्रायोरजसी रूप्यं ससौगन्धिक सीसकम्।
> जातीफलं शणाद्वीजमपामार्गस्य तण्डुला॥
> एषां पाणितलं चूर्ण तुल्यानां क्षौद्र सर्पिषा।
> हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति॥ (चि. अ. १८।१२५-१२७.)

मुक्ता, प्रवाल, वैडूर्य (बिल्लोर), शंख, स्फटिक, अजन, ससार (स्फटिक भेद), गन्धक, काच, अर्क, सूक्ष्मैला, सैन्धव और सौवर्चल नमक, ताम्र और लोह का चूर्ण, चाँदी का चूर्ण, सौगन्ध्य (माणिक्य भेदचक्रपाणि), सीसक, जातीफल, सन के बीज, अपामार्गतण्डुल—इन सबका चूर्ण एक कर्ष मात्रा में मधु और घी के साथ खाने से हिक्का, श्वास, कास नष्ट होते है।

इस योग में धातुओ तथा दूसरे खनिज द्रव्यो का प्रयोग चूर्णरूप में ही हुआ है। यह चूर्ण अजन-सुरमे के समान होना चाहिए, तभी शरीर में इसकी क्रियासम्भव है। पारद का उपयोग कुष्ठरोग मे कहा है। वहाँ मारे हुए या बन्धीभूत रसके सेवन का उल्लेख है। पारे का यह बन्धन गन्धक या सुवर्णमाक्षिक के प्रयोग से कहा है—

> श्रेष्ठ गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद् वा ।
> सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ।। (चि० अ० ७।७१)

चरक सहिता के इस श्लोक की टीका मे चक्रपाणि ने कुछ भी स्पष्टीकरण नही दिया। पारद की गन्धक के साथ मिश्रणक्रिया की जाती है, परन्तु सुवर्णमाक्षिक के साथ पारद का कोई सस्कार रसशास्त्र में देखने में नही आया। चक्रपाणि ने इस प्रसग में जो व्याख्या छोड दी है, इससे प्रतीत होता है कि उसके समय तक इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण नही था। रसशास्त्र की प्रक्रिया उन्नत नही थी। चक्रपाणि ने 'लेलीत (ह) क' को स्पष्ट करने के लिए निघण्टु का प्रमाण दिया है। रसशास्त्र में गन्धक का पर्याय लेलीतक मिलता है—

> गन्धो लेलीतको लेली गन्धमादनको बलिः ।
> सौगन्धो गन्धपाषाणः वसाकारो वसावटः ।।
> गन्धकः शुकपिच्छाख्यः सौगन्धिकनिकृन्तकौ ।। (रसकामधेनु—२।४।१६)

चक्रपाणि ने लेलीतक का अर्थ गन्धक न करके 'पाषाणभेद औत्तरपथिक' कहा है, इसमें निघण्टु का प्रमाण भी लिखा है, जिससे यह वसा स्पष्ट होती है। रसकामधेनु में गन्धक के पर्यायो में वसाकार, वसावट शब्द आये है। इससे स्पष्ट है कि लेलीतक वसा है, उसी का नाम गन्धक है। चक्रपाणि जैसा विद्वान् सीधा अर्थ गन्धक न देकर 'पाषाणभेद औत्तरपथिक' अर्थ करता है, तब इससे स्पष्ट है कि उस समय यह शब्द स्पष्ट नही था, जिसका अर्थ है कि रसशास्त्र का अभी विकास नही हुआ था। चक्रपाणिदत्त का समय १०वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

धातुओ के साथ दूसरे उपरसो का उपयोग चरकसहिता में बाह्य प्रयोग या धूमरूप में मिलता है। धूमप्रयोग में इन वस्तुओ के साथ सदा घी का उपयोग

बतलाया है, क्योंकि ये वस्तुएँ शुष्क होने से मस्तिष्क में रूक्षता (खालीपन–शून्यता) लाती है (चि० अ० १७।७७–७८)। मन.शिला को अन्य वस्तुओ के साथ घृत मे सिद्ध करने को कहा है। इस घृत को भी श्वास रोग में बरतने का विधान किया है (चि० अ० १७।१४५–१४६)। मन शिला घृत में घुलती नही; सम्भवत. उसका कुछ संस्कार आता होगा, यह मात्रा अवश्य बहुत न्यून होती होगी। मन शिला का प्रसिद्ध रसशास्त्र, कथित योग रसमाणिक्य उस समय ज्ञात नही था।

कासीस, मन शिला, हरताल, तुत्थ, गैरिक, अंजन इनको कुष्ठ रोग में बाहर बरतने का उल्लेख है (सूत्र० अ० ३)। ये वस्तुएँ उस समय भी ज्ञात थी। हरताल, अंजन, मन शिला का उल्लेख कालिदास ने भी किया है। ये मागलिक मानी जाती थी (कु० सं० ७–२३, ५९; एव प्राचीन भारत के प्रसाधन)।

इसी प्रसग में गोरोचना का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। मनुष्य के शरीर में अश्मरी किस प्रकार बनती है, इसको समझाने के लिए अत्रिपुत्र ने कहा है, कि जिस प्रकार गाय के पित्ताशय में पित्त संचित होकर गोरोचन बनता है, उसी प्रकार मनुष्य में भी अश्मरी बनती है, इसको वायु सुखाती है (यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गो ॥ चि० अ० २६।३६)। गोरोचन गाय के पित्ताशय से मिलता है, इसका उस समय ज्ञान था। परन्तु मनुष्य के पित्ताशय मे बननेवाली अश्मरी का उल्लेख आयुर्वेदसंहिताओ मे नही मिलता, केवल वस्तिगत अश्मरी का ही उल्लेख है। पित्ताशय की अश्मरी का स्पष्ट ज्ञान यदि मनुष्य के सम्बन्ध मे होता तो अवश्य उसका सक्षेप मे निर्देश मिलता।

चरकसहिता के समय धातु और खनिज वस्तुओ की जानकारी थी, इनका उपयोग भी चिकित्सा में होता था। परन्तु रसशास्त्रोक्त रूप से पृथक् ही इनका व्यवहार था। इसकी कुछ झलक यूनानी चिकित्सा मे मिलती है। उनके यहाँ भी भस्मो (कुश्तो) का उपयोग है, परन्तु बहुत ही सरल रूप में वे इनको बनाते है। श्वेत अभ्रक, जिसे आयुर्वेद मे निन्दित बताया है, वह चिकित्सा में बरती जाती है। वरक के रूप में सोना चाँदी खिलाने का उनका सरल रास्ता है। मोती, नीलम, पुखराज आदि मणियो की भस्म न करके वे इनको गुलाब या केवडे के अर्क में पिसवाकर सुरमे के समान बनाकर काम मे लाते है। यही रूप चरकसहिता के समय प्रथम शताब्दी से नवी शताब्दी तक प्रचलित था। इसी प्रकार के चूर्ण या रज का चरक मे उल्लेख है—(वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणा मृच्छखहेमामलकोदकानाम्—चिं० अ० ४।७९)।

सुश्रुत संहिता में धातु प्रयोग—चरक सहिता की अपेक्षा सुश्रुत में धातुओ का

प्रयोग अधिक स्थानो पर है तथा कुछ नये रूप मे भी है। धातुओ से अतिरिक्त अन्य उपरसो का प्रयोग भी इसमे मिलता हे, यथा अंजन का अन्त उपयोग सुश्रुत में हुआ है (उत्तर०अ० ४४।२१)। मण्डूर को जलाने के लिए विशेष (बहेडे की) लकडी का उल्लेख है (उत्तर० अ० ४४।३२)। इसमे सुवर्ण आदि धातु तथा मुक्ता, मणि, मन शिला, मिट्टी आदि वस्तुओ को पार्थिव (पृथ्वी के गुणवाली) माना है। शरीर मे सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, पीतल (यह मिश्रित धातु है, चरक मे इसका उल्लेख नही), त्रपु और सीसा इनके शल्य पित्त की गरमी से लीन हो जाते है (सूत्र०अ०२६। २०)। लोहा तीक्ष्ण और काल लोह भेद से दो प्रकार का कहा गया हैं।

सुश्रुत मे यत्र और शस्त्रो के निर्माण में लोहे का ही उपयोग बतलाया है, इसके लिए शब्द 'सुलोहानि' प्रयोग किया है (सू० अ० ८।८), अर्थात् अच्छे लोहे जो कि टूटे नही, जिनकी धार गिरे नही। (शस्त्रो में वक्र, कुण्ठ, खण्ड आदि दोष बताये हैं)। शस्त्रो को होशियार, काम को जाननेवाले लुहार द्वारा शुद्ध उत्तम लोहे से बनवाना चाहिए। (सू० अ० ८।१९)

लोह आदि धातुओ का शरीर मे अन्त प्रयोग भी होता था। इसी से इनका द्रव्यसग्रहणीय अध्याय मे उल्लेख किया है (त्रपुसीसताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलाश्चेति—सू० अ० ३८६३)। ये वस्तुएं कृमि, पिपासा, विष, हृदय रोग, पाण्डु, मेह को नष्ट करती है। लोहमल का अर्थ यहाँ शिलाजीत है (शिलाजीत सिन्धु-घाटी की खुदाई मे मोहन्जोदडो मे भी मिला है—वैदिक एज)। स्वर्ण, चाँदी, त्रपु, ताम्र, लोह, सीस के गुण निघटु की दृष्टि से कहे हैं। (सूत्र० अ० ४६)

अयस्कृति—सुश्रुत की यह विधि लगभग वही है जो चरक मे धातुओ का सूक्ष्म चूर्ण करने के लिए बतायी है। अन्तर इतना है कि इसमे एक वर्ष तक रखने की आवश्यकता नही होती। जैसे—

तीक्ष्ण लोह के पतले पत्रो पर सैन्धव और सौवर्चल का लेप करके कडों की आग मे गरम करे। फिर इनको त्रिफला और शालसारादि गण के क्वाथ मे बुझाये। इस प्रकार सोलह बार करे। फिर खैर की लकडी के कोयलो पर गरम करे। जब ये ठण्डे हो जायँ तब कूटकर सूक्ष्म चूर्ण बना ले। फिर महीन वस्त्र मे छानकर शक्ति के अनुसार घी और मधु के साथ खाये। इस प्रकार कम से कम एक तुला (१०० पल, आधुनिक दृष्टि से ४०० तोला, ५ सेर तक) खाये। (चि० अ० १०।११)

सुश्रुत की यह अयस्कृति इसी रूप मे सिद्धयोग और चक्रदत्त मे (परिणामशूला-

धिकार) मिलती है, जिससे स्पष्ट है कि लोह का सूक्ष्म चूर्ण करने के लिए १०वीं शती तक यही उपाय बरता जाता था। इसमे चरक की विधि से समय कम लगता है। लोहे की भाँति दूसरी धातुओ की भी अयस्कृति बनती थी। लोह, त्रपु और सीसक की चादरें भी बनती थी, जिनके खण्डो से शरीर के स्वस्थ स्थान को घेरकर रुग्ण स्थान पर क्षार, अग्नि, शस्त्र की क्रिया की जाती थी[१]।

अंजन—सुश्रुत में सिन्धु देश में उत्पन्न स्रोतांजन उत्तम बताया है (चि० अ० २४।१८)। चरक सहिता मे सौवीराञ्जन का उल्लेख है (सू० अ० ५।१५)। सिन्धु और सौवीर—ये दोनो नाम एक साथ आते है, जैसे कुरु पचाल। सिन्धु और सौवीर परस्पर सटे हुए दो जनपद थे। सिन्धु नदी के पूर्व में सिन्धसागर दुआब का पुराना नाम सिंधु था। इस नदी या इस देश में उत्पन्न अंजन को सुश्रुत में उत्तम कहा है। सिन्धु नदी के निचले काँठे का नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रौरव (वर्तमान रोड़ी) थी। इस स्थान पर उत्पन्न अजन सौवीराजन है। वास्तव में दोनों अंजन सिन्धु नदी या सिन्ध प्रदेश से आते हैं। सम्भवतः इनमें कुछ अन्तर भूमि की विशेषता से हो। परन्तु नाम भेद का कारण स्थानो की दृष्टि से ही है।

वेद में जिस त्रिककुद् अंजन का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय अजनगिरि पर्वत से ही दीखता है। अफगानिस्तान में सुलेमान पर्वत की शृखला है। इसमें टोबा, काकड़ और शीनगर के साथ उसकी तीन वाहियाँ है। त्रिककुद् पर्वत यही तीन वाहियो के रूप में था, जिसका अजन पजाब मे जाता था। पाणिनि का अजन-गिरि यही है।[२] इससे स्पष्ट है कि अजन का मुख्य आयात सिन्ध की तरफ से होता था। आज भी मुलतान, डेरा गाजी खाँ, कश्मीर मे अजन का जितना प्रचार है, उतना पूर्व या दक्षिण भारत में नही है। चरक में भी दैनिक कार्यो का प्रारम्भ अंजन लगाने से बतलाया है, इसका महत्व उस देश मे अधिक था।

सुश्रुत में अजन का उपयोग आँख में आँजने के सिवाय रक्तस्तम्भक रूप में तथा

---

१. यदल्पमूले त्रपुताम्रसीसपट्टैः समावेष्ट्य तथायसैर्वा।
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद् विदध्यात् प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः॥
(चि. अ. १८।१८।१९)

२. 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' से

व्रणो की चिकित्सा में भी बताया है (सू० अ० ३८ । ४२) । रक्तपित्त चिकित्सा में भी अजन का उपयोग मिलता है (उत्तर० ४५।३१, अ० ४५–३३) ।

सुवर्ण का उपयोग तो रसायन, मेधा और आयु बढ़ाने के लिए बहुत ही उदारता-पूर्वक किया गया है । बच्चा उत्पन्न होते हुए उसे स्वर्ण चटाने का उल्लेख है (शा० अ० १०।६८) । इसमें भी सुकृत चूर्ण—अच्छी प्रकार से चूर्ण बनाकर देने को ही लिखा है । मेधायुष्कामीय रसायन में (चि० अ० ३८) सुवर्ण का उपयोग मधु और घृत के साथ तथा अन्य द्रव्यो के साथ चाटने के लिए पाँच सात स्थानो पर आया है (१०, १४, १५, १७, २०, २१, २२, २३) । इससे स्पष्ट है कि सुवर्णचूर्ण का उस समय सामान्य रूप में व्यवहार होता था । यह अयस्कृति रूप से ही बनता होगा, क्योकि इस समय तक इसको सूक्ष्म करने की यही प्रक्रिया ज्ञात थी ।

अक्षिरोगों में धातुओं का व्यवहार—सुश्रुत में धातुओ का उपयोग अंजन के रूप में भी बताया है । इस चूर्ण का सुरमे के समान महीन होना आवश्यक है, मोटा सुरमा आँखों में टिकता नही । इसलिए अजन के रूप मे इनका बारीक चूर्ण अयस्कृति से बनता था या इसकी कोई दूसरी विधि थी, यह कहना सम्भव नही । भस्म से अजन में धातु का प्रभाव होगा यह सन्दिग्ध बात है । धातुओ का महीन चूर्ण ही यह गुण कर सकता है—

वैडूर्यं यत् स्फटिकं वैद्रुमं च मौक्तं शाङ्खं राजतं शातकुम्भम् ।
चूर्णं सूक्ष्मं . शर्कराक्षौद्रयुक्तं शुक्तिं हन्यादञ्जनं चैतदाशु ॥(उ. अ. १०।१५)

लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च ।
रत्नानि दन्ताः शृङ्गाणि गणश्चाप्यवसादनः ॥
कुक्कुटाण्डकपालानि लशुनं कटुकत्रयम् ।
करंजबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम् ॥ (उ. अ. १२।२४।२५)

शंखं समुद्रफेनं च मण्डूकीं च समुद्रजाम् ।
स्फटिकं कुरुविन्दं च प्रवालाश्मन्तकं तथा ॥
वैडूर्यं पुलकं मुक्तामयस्ताम्ररजांसि च ।
समभागानि संपिष्य सार्धं स्रोताञ्जनेन तु ॥
चूर्णाञ्जनं कारयित्वा भाजने मेषशृङ्गजे ।
अर्माणि पिडिकां हन्यात् ।सर।जाला।ि तेन वै ॥ (उ. १५।२५-२७)

रसाञ्जनं वा कनकाकरोद्भवं सुचूर्णितं श्रेष्ठमुशन्ति तद्विदः ॥(उ. अ.१७।३९.

वैडूर्य (बिल्लौर), स्फटिक, प्रवाल, मुक्ति, शख, चाँदी, स्वर्ण इनका बारीक चूर्ण करके शर्करा और मधु के साथ अजन करने से शुक्ति रोग नष्ट होता है। लोह समेत सब धातुओ का चूर्ण (स्वर्ण, चाँदी, त्रपु, ताम्र और सीस), सब लवण, रत्न, दाँत, सीग, मिश्रक अध्याय में कहा अवसादक गण, मुर्गे के अण्डे के छिलके, लहसुन, त्रिकटु, करज के बीज, इलायची इनका बना अजन लेखन कार्य के लिए उत्तम है। शख, समुद्रफेन, मोती की सीप, स्फटिक, कुरुविन्द (जिससे शाण बनती है), प्रवाल, अश्मन्तक, वैडूर्य, पुलक (?), मोती, लोह, ताम्रचूर्ण इनको स्रोताजन के साथ पीसकर अजन बनाये। इसे मेष (मेढे) के सीग में रखे। इसके लगाने से अर्म, पीड़िका, सिराजाल नष्ट होते है। सोने की खान से उत्पन्न (तुत्थ) को रसांजन के साथ मिलाकर अजन करना चाहिए।

धातुओ के सिवाय स्वर्णमाक्षिक (धातु नदीज जतु शैलज वा—उत्तर अ० ४४। ३१), मण्डूर (३४) का उपयोग भी लिखा है। लोहे के चूर्ण को बहुत समय तक गोमूत्र में रखकर बरतने का विधान है (उत्तर० अ० ४४।२१)। स्वर्णगैरिक का, प्रवाल, मुक्ता, अजन, शख मिलाकर उपयोग पाण्डुरोग में लिखा है (अ० ४४।२१)। एक प्रकार से लोह का या लोहवाले द्रव्यों का मुख्य उपयोग आयुर्वेद की सहिताओ में पाण्डुरोग में मिलता है। इसी रोग में तथा रक्त-पित्त मे अजन का उपयोग है। इसलिए इतना तो स्पष्ट है कि रक्त से सम्बन्धित रोगो में लोह और अजन का उपयोग ईसा की दूसरी शती में इस देश में चलता था। इस प्रयोग में क्या सिद्धान्त था, यह कहना सम्भव नही। अजन का उपयोग कालाजार में बीसवी सदी में हुआ है।

पारद का उपयोग सुश्रुत में दो ही स्थानो पर आया है, वह भी बाह्य प्रयोग में (चि० अ० २५।३९)। अन्त प्रयोग मे पारा या गन्धक का उपयोग नही है।[२] इसलिए इतना स्पष्ट है कि पारद का उपयोग चिकित्सा में नही था। उसकी सामान्य जानकारी थी। इसे धातु नही माना, न इसकी गणना किसी वर्ग में की है। मैनशिल का 'नैपालजाता'—नाम सुश्रुत में प्रथम मिलता है (उत्तर० अ० २१।१६)। इसी-प्रकार सैन्धव के लिए 'नादेयमग्र्यम्' (अ० २१।१६) नाम बतलाता है कि यह सिन्ध

---

२ तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः सवश्च तुल्यः कुरुविन्दभागः—क. अ. ३।१४. में सुतार से पारा, सुरेन्द्रगोप से सुवर्ण लिया है। इनका बाह्यो पर लेप करना चाहिए।

प्रदेश में होता है (नादेयमग्रच शब्द से स्रोताजन-सुरमा लेना अधिक उचित होगा, पुराने टीकाकारो ने सैन्धव लिया है)।

सुश्रुत में चरक की अपेक्षा खनिज द्रव्य तथा धातुओ का विशद उपयोग है, इनके प्रयोग की प्रक्रिया सरल है। अन्त प्रयोग के सिवाय बाह्य उपचार में भी इनका व्यवहार हुआ है।

अष्टांग संग्रह और हृदय मे धातुओं का व्यवहार—वाग्भट ने सुश्रुत की भाँति धातुओं के रस, वीर्य, विपाक का वर्णन किया है (सग्रह, सू० अ० १२।१२।२८)। इसमें भी कृष्ण लोह और तीक्ष्ण लोह पृथक् कहे हैं। धातुओ के साथ में पद्मराग, महानील, पुष्पराग, मुक्ता, विद्रुम आदि के भी गुण धर्म लिखे हैं। काच का उल्लेख इसमे ही हुआ है। यह स्पष्ट नहीं है कि काच से नमक, शीशा या काच-निर्माण की मिट्टी क्या अभिप्रेत है। नमक तो इसलिए सम्भावित नहीं कि दूसरे नमक यहाँ नही कहे। शख, समुद्रफेन, तुत्थ, गेरू, मैनसिल, हरताल, अजन, रसाजन, शिलाजतु इन सबका उल्लेख इस स्थान मे एक साथ हो गया है। संग्रह ही पहला ग्रन्थ है, जिसमें वशलोचन और तुगाक्षीरी दोनों को अलग बताया है। सामान्यत तुगा या तुगाक्षीरी से आयुर्वेद में वशलोचन ही बरता जाता है। यूनानी हकीम दोनों को अलग मानते है।

सग्रह की चिकित्सा में धातुओ का उपयोग प्राय चरक और सुश्रुत की ही भाँति है। अयस्कृति तथा अन्य प्रक्रियाओ मे थोडा भेद मिलता है। धातुओ की अयस्कृति बनाने के लिए कहा गया हैं—

त्रिवृत, श्यामा, अग्निमन्थ, सप्तला, केबुक, शखिनी, तिल्वक, त्रिफला, पलाश और शीशम इनका रस या क्वाथ लेकर पलाश (ढाक) की द्रोणी मे डालकर, लोहे के पतले पत्रो को खैर के कोयलो में लाल करके इस रस मे इक्कीस बार बुझाये। फिर रस को लोहधातु की थाली में रखकर कडो की आग पर पकाये। जब यह गाढा हो जाय, तब इसमें पिप्पलीचूर्ण एक भाग, मधु और घृत के दो-दो भाग मिला दे। जब पक जाय तब इस लोह पात्र को सुरक्षित रख दे। यह अयस्कृति दु साध्य कुष्ठ और प्रमेह को भी नष्ट कर देती है।

आँख के रोगो में वैडूर्य, स्फटिक, शख, मुक्ता, विद्रुम के साथ चाँदी, लोह, त्रपु, ताम्र, सीसा, हरताल, मैनसिल, कुक्कुटाण्डत्वक्, समुद्रफेन, रसाञ्जन, सैन्धव इनको बकरी के दूध में पीसकर वर्त्ती बनाने का उल्लेख किया है (उत्तर अ० १४)।

सोना, चाँदी, लोह इनके चूर्ण के साथ त्रिफला मिलाकर मधु और घृत से खाने का उल्लेख है (उत्तर०अ० २६) । स्वर्णमाक्षिक, त्रिफला, लोह इनको मधु और पुरातन घृत के साथ नेत्ररोग में उपयोगी कहा है (उत्तर० अ० २६) ।

रसायन अध्याय (उत्तर० अ० ४९) में स्वर्ण का उपयोग विस्तार से मिलता है। इसमें केवल सुवर्ण का ही नहीं, अपितु लोहो का भी उपयोग मधु, तवाक्षीर, पिप्पली, सैन्धव नमक के साथ करने को कहा है। चरक की भाँति लोहे के चार अगुल, तिल के समान पत्तरों को अग्नि में तपाकर आँवले के रस में इक्कीस बार बुझाकर इनको ढाक की थाली में रखकर ऊपर से आँवले का रस डालकर एक वर्ष तक भस्मराशि में रखने को कहा गया है। बीच-बीच में प्रति मास दण्ड से इनको घोटता जाय। आँवले का रस सूख जाय तो और रस डाल देना चाहिए। इस प्रकार से एक वर्ष में ये द्रवरूप हो जाते है। इसके पीछे इनका उपयोग करना चाहिए।

आयुष्य के लिए सुवर्ण को शखपुष्पी के साथ, बुद्धि बढाने के लिए वच के साथ, लक्ष्मी की चाह के लिए कमलगट्टे की गिरी (पद्मकिञ्जल्क) के साथ, वृष्यता के लिए विदारी के साथ खाना चाहिए।

संग्रह में सुवर्णमाक्षिक का भी रसायन रूप से उपयोग लिखा है। इसके उत्पत्ति-स्थान तापी, किरात, चं न और यवन प्रदेश कहे हैं। तापी से उत्पन्न होने के कारण इसको 'ताप्य' कहते है। स्वर्णमाक्षिक और रजतमाक्षिक का भेद स्पष्ट किया गया है (मधुर काञ्चनाभासा साम्लो रजतसन्निभ —जिसमें मधुरता हो और स्वर्ण की झलक हो वह ताप्य स्वर्णमाक्षिक और जिसमें अम्लता, चाँदी की सफेद झलक हो वह रजतमाक्षिक है) । ता य शब्द दोनों माक्षिको के लिए आता है। दोनो ही माक्षिक कुछ कषाय, शीत वीर्य, विपाक में कटु और लघु हैं। इनके उपयोग मे भी शिलाजतु के समान परहेज पालना चाहिए। इनका उपयोग रसायन गुण करता है—बुढ़ापा नही आता, विषो का प्रभाव नहीं होता, पाण्डु, प्रमेह, ज्वर आदि रोग नही होते। माक्षिक धातु के चूर्ण को मधु, घृत, त्रिफला मिलाकर खाने से बुढापा नष्ट हो जाता है; जिस प्रकार अरण्यवास, गुफा में रहने से ससार का बन्धन छूट जाता है (शनै शनैर्याति जरा विनाशं प्रत्यन्तवासादिव लोकयात्रा) ।

पारे का उल्लेख—हृदय में आँख के रोगो में पारे का अजन लगाना कहा है। पारद, सीसा समान भाग, दोनों के बराबर अंजन और थोड़ा-सा कपूर मिलाकर अजन करने से तिमिर नष्ट होता है।

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाञ्जनम् ।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम् ॥ (उत्तर० अ० १३।३६)

आँख के रोगो में ताम्र का उपयोग (उत्तर० अ० १६।३४–३५) और ताम्र, चाँदी, लोह, स्वर्ण का उपयोग (अ० १३।२०) में आया है ।[1]

विष नाश के लिए चरक की भाँति ताम्र रज से हृदय शुद्ध होने पर स्वर्ण का सेवन लिखा है । इसमें सुवर्णमाक्षिक और सुवर्ण का चूर्ण शर्करा और मधु के साथ सेवन करना भी बताया है (अ० ३५।५५–५६) ।

एक प्रकार से संग्रह और हृदय में पारद और धातुओं का उपयोग सीमित है, प्राचीन वर्णन ही है । धातुओ का उपयोग चूर्ण रूप में था । पारद का रसचिकित्सा रूप में अन्त:प्रयोग नही था । गन्धक का उपयोग भी बाह्य प्रयोग तक ही सीमित था । धातु, उपधातु, रस (पारद) की जानकारी थी, परन्तु विस्तृत उपयोग नही था, पृथक् चिकित्सा नही आरम्भ हुई थी । यह समय लगभग चौथी, पाँचवी शताब्दी का है।

सातवीं शताब्दी में धातुओं का उपयोग—इस समय की जानकारी बाण के काव्यो से मिल जाती है । बाण ने अपने साथियो का परिचय देते हुए लिखा है—

जाङ्गुलिको मयूरक, भिषक्पुत्रो मन्दारक, मन्त्रसाधक कराल, असुरविवर-व्यसनी लोहिताक्ष:, धातुवादविद् विहङ्गम —(हर्षचरित, प्रथम उच्छ्‌वास) ।

जागुलिक (विषवैद्य या गारुड़ी) मयूरक, भिषक्कपुत्र मन्दारक, मन्त्रसाधक कराल, पाताल में घुसने की विद्या जाननेवाला लोहिताक्ष, धातुवाद (कीमियागरी) को जाननेवाला विहङ्गम, बाण के साथी थे।

इससे स्पष्ट है कि उस समय धातुवाद चिकित्सा से पृथक् था । रसशास्त्र और नागार्जुन के समय के विषय में सन्देह तभी होता है जब हम धातुवाद (कीमियागरी Alchemy रसायन) को चिकित्सा से सम्बद्ध करते हैं । धातुवाद कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (३२५ ईसा पूर्व) में भी मिलता है, परन्तु रसचिकित्सा—जो आज प्रचलित

---

१. पारे का उल्लेख वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में किया है—
"रक्तेऽधिके स्त्री पुरुषस्तु शुक्रे नपुंसकं शोणितशुक्रसा[illegible] ।
यस्मादतः शुक्रविवृ[illegible]ानि निषेवितव्यानि रसायनानि ॥
माक्षिकधा[illegible]पय्याशिला[illegible] योऽद्यात् ।
सैकानि विंशतिरहानि ज[illegible]न्वतोऽपि स[illegible]शीतिकोऽपि रमयत्यबलां युवेव ॥"
(अ. ७६)

हैं, उसका उल्लेख नहीं है। इन दोनो वस्तुओ को यदि पृथक् रखा जाय तो कुछ भी अडचन नही होती।

धातुवाद—एक धातु को दूसरी धातु में बदलना यह पृथक् विज्ञान था, इसका चिकित्सा से कोई सम्बन्ध नही था। यह विज्ञान स्वतत्र रूप से भारत में उन्नत हुआ था। इसी से बाण ने भिषक्पुत्र मन्दारक और धातुवादविद् विहङ्गम का पृथक् उल्लेख किया है। चिकित्सा में धातु का प्रयोग प्राचीन संहिताओ में अवश्य है, परन्तु वह सीमित तथा अन्य प्रक्रिया से है। पारद का अन्त प्रयोग नही के बराबर ही है। इसलिए सातवी शती तक रसशास्त्र का विकास नही पाया जाता।[1] बाण न कादम्बरी में (द्रविड साधु के वर्णन मे) कच्चा पारा खाने से काल ज्वर, पारे से सोना बनाने (धातुवाद-कीमियागरी) और श्रीपर्वत का उल्लेख किया है।

दसवीं शताब्दी में धातुओं का उपयोग—नवी शताब्दी के वृन्दरचित सिद्धयोग-सग्रह तथा दसवी शताब्दी के चक्रपाणिदत्त कृत चक्रदत्त में रसचिकित्सा—धातुओ का उपयोग प्राचीन सहिताओ से अधिक मिलता है। परतु पारद का उल्लेख नही के बराबर है। चक्रदत्त में धातुओ का शोधन-मारण लिखा है।

वृन्द ने नेत्रवर्त्ती के सम्बन्ध में लिखा है कि इसको नागार्जुन ने पाटलिपुत्र के शिलास्तम्भ पर लिखा दिया है। चक्रपाणि ने भी इसे इसी रूप में उद्धृत किया है। प्राचीन काल में राजाज्ञाएँ या सूचनाएँ पत्थर पर उत्कीर्ण कर सर्वसामान्य की जानकारी के लिए स्थायी कर दी जाती थी। नागार्जुन ने भी इसीलिए उसे पाटलिपुत्र के स्तम्भ पर खुदवा दिया था।

बस, इस उल्लेख से तथा रसेन्द्रमगल-ग्रन्थकर्त्ता के नाम एवं अन्य दन्तकथाओं के आधार पर नागार्जुन का सम्बन्ध रसविद्या से जोडकर जिस-जिस समय पर नागार्जुन का अस्तित्व मिला, वहाँ तक रसशास्त्र के विकास की खीचातानी की गयी। वास्तव में ८४ सिद्धो की श्रेणी के अन्तर्गत सरहपा के शिष्य नागार्जुन (आठवी और नवी शती के मध्यकाल के लगभग) का ही रसशास्त्र से सम्बन्ध है। वृन्द और चक्रपाणि ने जिस नागार्जुन का उल्लेख किया है, वह यही सिद्ध नागार्जुन सम्भावित है।

---

१ बाण ने हर्षचरित में "रसायन" नामक वैद्य का भी उल्लेख किया है। यह नाम सम्भवतः उसका छोटी आयु (१८ वर्ष की आयु) में ही आयुर्वेद के आठों अंगों में निपुण होने से पड़ा हो; क्योंकि रसायन सेवन से मेधा और आयु की वृद्धि होती है।

सिद्धों से पहले धातुवाद प्रचलित था। सिद्धो ने प्राचीन धातुप्रयोग को चिकित्सा में देखकर धातुवाद के साथ इस चिकित्सा को मिलाया। इस क्रिया में पारद का बहुत उपयोग हुआ, वही इसका आधार था। इसलिए इसका नाम रस-चिकित्सा चल पडा। प्रथम यह चिकित्सा बौद्ध सिद्धो से चली, पीछे से शैव सम्प्रदाय के सिद्धो ने भी इसे अपनाया। सिद्धो में बौद्ध, शैव दोनो हुए है, कापालिक मत भी सिद्धो का ही रूपान्तर है। इसलिए इसमें शिव, भैरव आदि की उपासना के साथ जहाँ पारद का सम्बन्ध मिलता है, वहाँ बौद्ध धर्म के देवी-देवताओ का भी समावेश शैव धर्म मे आ गया। पीछे यह रसविधान की परम्परा एक हो गयी—जिसका साक्षी सर्वदर्शनसग्रह का 'रसेश्वर दर्शन' है, जो कि ग्यारहवी शताब्दी के आस-पास गठित हो सकता है। इस समय धातुवाद और रसचिकित्सा एक हो गये थे। धातुवाद का उपयोग शरीर को अजर-अमर बनाने में होने लगा था। पारद के योग से यह सफलता मिलती थी, इसी लिए इसको 'रसायन' नाम दिया गया। यह रास्ता सरल और सक्षिप्त था।

चरक-सहिता की कुटी-प्रावेशिक विधि कठिन और लम्बी थी। दूसरी वातातपिक विधि भी लम्बी और बहुत बन्धनोवाली थी। सामान्य व्यक्ति इनमें से एक भी विधि नही करत सकता था (तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च। रसायन-विधानेन कालयुक्तेन चायुषा॥ स्थिता महर्षय पूर्वं नहि किंचिद् रसायनम्। विधूय मानसान् दोषान् मैत्री भूतेषु चिन्तयन्। कृतक्षणम्। आदि नियमो की रुकावटें इसमें हैं)। इसलिए इन सब बाधाओ से रहित, सरल, सब अवस्थाओ में सेवन करने योग्य रसायन का आविष्कार इन सिद्धो ने पारद से किया[1]। फलस्वरूप शरीर को निरोगी, स्थायी बनाने के लिए उन्होंने धातुवाद को चिकित्सा से मिला दिया। यही से रसशास्त्र का पृथक् रूप बना, जिसका समय दसवी शताब्दी है। नवी-दसवी

---

१. इसे ही आसुरी सम्पत् कहा है, इसमें मन के दोष तम रज बने रहते हैं, मानसिक दोष रहने से मन शुद्ध नहीं होता, परन्तु रसप्रयोग शरीर को अजर-अमर कर देता है। इसी से कहा है—

आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
श्रेयः परं किमन्यद् शरीरमजरामरं विहायैकम्॥

(रस हृदय तंत्र)

शताब्दी में वृन्द ने इसका सिद्धयोगसंग्रह में उल्लेख किया, दसवी और ग्यारहवी शताब्दी में चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त में इसे अधिक परिष्कृत कर दिया ।[1]

श्री शंकराचार्य का जन्म ७८८ ईसवी में हुआ था। इनके गुरु भगवद्गोविन्दपाद, जिन्होंने रसहृदय बनाया, उनका समय भी सातवी आठवी शताब्दी संभव है। उक्त ग्रन्थ में रसशास्त्र का महत्त्व शरीर को अजर-अमर करने में बताया है। इससे भी प्रकट है कि इस समय या इसके आस-पास रस का प्रयोग इस कार्य में निश्चित होने लग गया था।

ग्यारहवीं शताब्दी में रस-धातु प्रयोग—इस समय का एक मात्र ग्रन्थ चक्रपाणि रचित चक्रदत्त है, दूसरा अल्बेरूनी का वर्णन है, जो कि महमूद के साथ (१०१७ ई० के आसपास) भारत में आया था। उसने पेशावर और मुलतान के पण्डितो से सस्कृत पढी थी। वह भारत में १०१७ से १०३० ईसवी तक रहा था। अल्बेरूनी ने जिन पुस्तको का अनुवाद अल्वसाईद खलीफा प्रथम के समय किया था, वे 'इण्डिया' 'ब्रह्मसिद्धान्त' नामक पुस्तकें लिखते समय उसके पुस्तकालय में थी। इन पुस्तको में अली इब्न जैन का किया चरक का अनुवाद, पचतत्र, कलीला और दीम्मा थे। शिक्षित सभ्य अरब के घर में चरक का पहुँचना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय चिकित्सा वहाँ भी पहुँच गयी थी (हिस्ट्री और हिन्दू कैमिस्ट्री—पृष्ठ ६७)।

चक्रदत्त में आये 'महाबोधि प्रदेश' (मगध के लिए), 'बोधिसत्त्वेन भाषितम्', सुखावतीवर्त्ति सौगतमंजनम्' आदि शब्द इस शास्त्र पर बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट करते

---

१. **सिद्धयोग में रसप्रयोग**—

(१) रसेन्द्रेण समायुक्तो रसो धत्तूरपत्रजः ।
[illegible] बाध लेपनं यौकनाशनम् ॥

(२) त्रिफलाव्योषसिन्धूत्थयष्टी[illegible]त्थरसांजनम् ।
प्रपौण्डरीकं जन्तुघ्नं लोध्रं ताम्रचतुर्दश ॥
[illegible] संचूर्ण्य वर्त्तिः कार्या नभोऽम्बुना ।
नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके ॥

(३) रसगन्धकताम्राणां चूर्णं कृत्वा समाक्षिकम् ।
पुटपाकविधौ पक्त्वा मधुनालोड्य संलिहेत् ॥ (रसायनाधिकार)

(४) कर्षद्वयं गन्धकस्य तदर्द्धं पारदस्य च ।
बिडालपदमात्रं तु लिह्यात् तन्मधुसर्पिषा ॥ (अम्लपित्ताधिकार)

हैं। चक्रपाणिदत्त स्वयं ब्राह्मण परम्परा को माननेवाले थे। वृन्द और चक्रपाणि दोनो पर तन्त्रो का प्रभाव दीख पड़ता है। इसी लिए अपने योगो में इन्होंने गुण-वृद्धि के लिए तंत्र का प्रयोग किया है।[1]

हर्षचरित के वर्णन तथा च्युआन श्वाग के उल्लेख से आठवी शताब्दी के उत्तरीय भारत का चित्र स्पष्ट हो जाता है। ग्यारहवी शताब्दी तक बौद्धधर्म भारत में प्रभावशाली रहा। हिन्दू धर्म के प्रति वह सहिष्णु भी था, इस विषय में मदनपाल का ताम्रपत्र महत्त्वपूर्ण है। सब पालवशी राजा बौद्ध थे। ताम्रपत्र मे एक ब्राह्मण को दी गयी दक्षिणा का उल्लेख है, जो कि उसे अन्त पुर में रानी को महाभारत सुनाने के उपलक्ष में दी गयी थी। इससे स्पष्ट है कि बुद्धधर्म और हिन्दूधर्म एक साथ मिले हुए विकसित हो रहे थे। हर्ष भी शैव और बौद्ध दोनो धर्मों का पालन करता था।

तन्त्रो में बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्म सम्बन्धी दोनो परम्पराएँ मिलती है। दोनो ही तन्त्र एक समान बढ रहे थे। ब्राह्मण तन्त्र शिव और पार्वती को तथा बौद्ध तंत्र तथागत या अवलोकितेश्वर को लक्ष्य करके बनाये गये थे। कुछ तन्त्र दोनो से सम्बन्धित थे; जसे कि महाकालतन्त्र, रसरत्नाकर। रसरत्नाकर का लेखक नागार्जुन कहा जाता है। रसार्णव भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है। रसायन का सम्बन्ध शिव सम्बन्धी तन्त्रो के साथ अधिक है। क्योकि रस, पारद का सम्बन्ध शिव के साथ ही है।

रसशास्त्र का प्रयोजन धातुवाद (अल्केमी) ही नही था; इसका उद्देश्य देहवेध के द्वारा मुक्ति प्राप्त करना था।[2] रसार्णव सम्भवत १२वी सदी में लिखा गया है। क्योकि सर्वदर्शनसंग्रह के लेखक माधवाचार्य विजयनगर के प्रथम 'बुक्क' राजा के

---

१ गोविन्दाचार्य के रसहृदय तंत्र में तथा रसामृत में बौद्धों का उल्लेख मिलता है, यथा—"एवं बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिनः"—रस हृदयतंत्र। "बौद्धमतं तथा ज्ञात्वा रससारः कृतो मया"—रसामृत.

२. न च रसशास्त्रं धातुवादार्थमवेति मन्तव्यं, देहवेधद्वारा मुक्तेरेव परमप्रयोजनत्वात्। तदुक्तं रसार्णवे—

लोहवेधस्त्वया देव यद्दत्तः परमः शिवः।
तं देहवेधमाचक्ष्व येन स्यात् खेचरी गतिः॥
यथा लोहे तथा देहे कर्तव्यः सूतकः सता।
समानं कुरुते देवि प्रत्ययं देहलोहयोः॥

प्रधान मन्त्री थे, इनका समय १३३१ ईसवी है। इसमें एक 'रसेश्वरदर्शन' भी है; जिसके उद्धरण रसार्णव से लिये गये है।

इससे पूर्व अमरकोश में (१००० ईसवी) पारद के चपल, रस और सूत पर्याय मिलते हैं। महेश्वर के विश्वकोश में (११८८ ईसवी) में हरबीज पर्याय भी जोड़ा गया है। इससे इतना स्पष्ट है कि तन्त्रो में पारद-गन्धक का उल्लेख ११वी १२वी शताब्दी में होने लगा था (डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय)। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में (५८७ ईसवी) लोह, पारद का उपयोग वृष्य, वाजीकरण के लिए हुआ है।[1]

रसार्णव—जो कि १२वी शताब्दी में माधव द्वारा लिखा गया है; एक प्रकार का संग्रह ग्रन्थ है। इसमें बहुत-से उद्धरण दिये गये है। रसार्णव में इसके उपदेष्टा शिव हैं। नागार्जुन का बनाया रसरत्नाकर भी तंत्र रूप में है।

चौदहवीं शताब्दी में रस धातु प्रयोग—इस काल में (१३६३ ईसवी) शार्ङ्गधर-संहिता की रचना हुई है। इसमें पारद और धातुओ का उल्लेख है। शार्ङ्गधर के पिता का नाम दामोदर था, जो कि राघवदेव का पितामह था। चौहान राजा हम्मीर राघवदेव को बहुत मानते थे। हम्मीर की सभा में सौगतसिंह नाम का एक दूसरा चिकित्सक भी था (एषा सौगतसिंहभिषजा लोके प्रकाशीकृता। हम्मीराय महीभुजे ......संभोजभाजे भृशम् ॥—हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री, २रा भाग)।

रसतन्त्र का विकास आठवी सदी से प्रारम्भ हुआ और ११-१२ वी सदी में अपनी पूर्णता को पहुँच गया था। इसके आगे रसतन्त्र या रसचिकित्सा केवल रोगनिवृत्ति तक ही रह गयी। रसेन्द्रसारसंग्रह (गोपालकृष्ण भट्ट कृत) एवं शार्ङ्गधरसंहिता जो कि १३-१४ वी शताब्दी में बने हैं, इनका क्षेत्र रोगनिवृत्ति तक ही है। रसेन्द्रसार-संग्रह में रसचिकित्सा का प्रयोजन बताते हुए लिखा है—"रसौषध की मात्रा बहुत थोड़ी होती है, इसके सेवन से जी मिचलाना, अरुचि आदि शिकायतें नहीं होती, जल्दी आरोग्य मिलता है, इसलिए औषधियो की अपेक्षा रसो का अधिक महत्त्व है।" इससे स्पष्ट है कि इस समय पारद का उपयोग रोग निवृत्ति तक ही सीमित हो गया। पारद की लोहसिद्धि सम्बन्धी प्रक्रिया समाप्त हो गयी। रोगनिवृत्ति तक जितने संस्कार

---

१. रसग्रन्थों में पारद के बहुत-से योग भिन्न-भिन्न कार्यों में लिखे हैं—वय:-स्तम्भकर (रसकामधेनु—पृष्ठ ५००); वीर्यरोधनी गुटिका (५०१), रसायन-दीर्घायु के लिए (पृष्ठ ५०३), वज्रसुन्दरी, हेमसुन्दरी, वज्रखेचरी आदि प्रयोग बतलाये गये हैं।

की माननी चाहिए; जो कि सम्भवत. कनिष्क कालीन नागार्जुन से सम्बन्धित हैं। नागार्जुन का सातवाहन के प्रति लिखा 'सुहृल्लेख' अभी सुरक्षित है। सातवाहन दक्षिण भारत का विद्वान् राजा हुआ हैं। दक्षिण में सातवाहनो का राज्य ७३ ईसवी पूर्व से २१८ ईसवी तक, लगभग ३०० साल रहा था।[1] हेमचन्द्र ने इनके शालिवाहन, शालन, हाल और कुन्तल नाम दिये हैं।

सुहृल्लेख का सम्बन्ध यज्ञ-श्री शातकर्णि के साथ माना जाता है, जिसने सन् १७२-२०२ तक राज्य किया था। गन्धार के असग ने "योगाचारभूमिसार" पतंजलि के योगदर्शन के आधार पर लिखी थी। यह ४०० ईसवी के लगभग जीवित थे। असग का छोटा भाई वसुवन्धु था, जिसका सम्बन्ध नालन्दा से था। तिब्बती प्रमाणो से ज्ञात होता है कि दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे, जो कि ३७१ ईसवी में थे।

महायान में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, योगदर्शन तत्र में बदलना प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में बौद्धधर्म में से शैवधर्म प्रारम्भ होने लगा, जिसमें बौद्धो के तंत्रो की प्रधानता रही। शिव का रूप बुद्ध को और शक्ति का रूप तारा को माना जाने लगा।

फाहियान जो कि पाचवी शताब्दी में आया था, उसने लिखा है कि महायान सम्प्रदाय यद्यपि बढ़ा हुआ था, तथापि हीनयान के लोग भी थे। मथुरा और पाटलिपुत्र में दोनो पास-पास रहते थे। सुरगम सूत्र में हिन्दू और बौद्ध देवताओं के नाम आये हैं; जिनकी कि उस समय पूजा होती थी। इनमें धारिणी, बुद्ध, विरोचन, अक्षोभ, अमिताभ नाम है।

महायान मे हुए इस परिवर्त्तन से जो रूप बुद्धधर्म का बना उसे वैपुल्यवाद (वैपुल्य सूत्र) नाम से जाना जाता है। इसमें धारिणी मुख्य देवता है। सद्धर्मपुण्डरीक, ललित-विस्तर, प्रज्ञापारमिता आदि ग्रन्थ इस सम्बन्ध में लिखे गये।

बौद्धो के तत्रो का विकास पाचवी-छठी शती से पहले सम्भावित नही है। तत्रों का विकास चीन में हुआ। अमोघवर्ग नाम का भिक्षु ७४६-७७१ ईसवी में चीन में था; यह जाति से ब्राह्मण था। इसी के प्रभाव से चमत्कारवाले तत्रो का निर्माण हुआ। इसके बाद आठवी से ११ वीं शताब्दी तक तत्रों का बहुत विकास हुआ, कुछ तंत्र भारत से चीन में भी गये। इनमे से कुछ तंत्रो का सम्बन्ध रसायन विद्या (अल्केमी) से था। रसायन सम्बन्धी तत्रो से पता चलता है कि रसायन का जन्मदाता नागार्जुन है। इस

---

१. कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीं जघान—वात्स्यायनकामसूत्र।

सम्बन्ध में रसरत्नाकर ग्रन्थ देखा जा सकता है। यह महायान से सम्बन्धित है, इसमे प्रज्ञापारमिता का भी नाम आया है।[1]

रसरत्नाकर में रसायन सम्बन्धी बातचीत नागार्जुन और शालिवाहन; रत्नघोष और माडव्य के बीच हुई है। पिछले दोनो नामो का महत्त्व भी नागार्जुन के समान है। रसशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ यही है, रसार्णव मे इसके बहुत से वचन उद्धृत हैं। इसमें महायान के बहुत से सिद्धान्त मिलते है। इसलिए इसको सातवी या आठवी शताब्दी से पूर्व नही रख सकते। पाँचवी शती से ग्यारहवी शती तक पाटलिपुत्र, नालन्दा, विक्रमशिला बौद्धो के शिक्षा के बडे केन्द्र थे। इनमें रसायनविद्या भी सिखाई जाती थी।

महाराज नेपाल के पुस्तकालय की छानबीन करते समय श्री हरिप्रसाद शास्त्री और प्रोफेसर लेवी को कुब्जिकातत्र मिला। यह तत्र गुप्तकालीन लिपि में लिखा हुआ था, इसका समय ६०० ईसवी है। यह महायान सम्प्रदाय का है। कुब्जिका तत्र निश्चित रूप में भारत से बाहर लिखा गया है, सम्भवत नेपाल में।[2] इसमें एक स्थान में शिव स्वय पारद के सम्बन्ध मे कह रहे हैं कि गन्धक से छ बार मारित होने पर इसमें गुणवृद्धि हो जाती है। पारद की सहायता से ताम्र स्वर्ण में बदल जाता है।[3] रस-रत्नाकर, रसार्णव आदि तांत्रिक ग्रन्थो में बहुत सी रासायनिक विधियाँ दी हुई है।

आठवी सदी में विक्रमशिला तत्रविद्या का बहुत बडा केन्द्र था। गौड़ में पाल राजाओ का राज्य ८०० से १०५० ईसवी तक रहा। ये राजा बौद्ध थे। उत्तर भारत

---

१. प्रणिपत्य सर्वबुद्धान्। ओं नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः। नमः प्रत्येकबुद्ध आर्यश्रावकाणाम् बोधिसत्त्वानाम्। नमो भगवत्या आर्यप्रज्ञापारमितायै।

२. दक्षिणे देवयानं तु पितृयानं तयोत्तरे। मध्यमे तु महायानं शिवसंज्ञा प्रजायते॥
गच्छ त्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः॥
मद्वीर्यः पारद यद्वं पतितः स्फुटितं मणिः। मद्वीर्येण प्रसूतास्ते ताबार्ग्या सूतके वहि। तिष्ठन्ति संस्कृताः सन्तः भस्मा षड् विप्रजारणम्।—नेपाल राज्य पुस्तकालय की ताड़पत्र पुस्तक ('हिस्ट्री आफ हिन्दू केमिस्ट्री'—भाग २ से)

३. पलेन विहितो वेधः किं व्यञ्जतो न विध्यते।
रसविद्धं यथा ताम्रं न भूयस्ताम्रतां व्रजेत्॥

कुब्जिकातंत्र रसविद्या का ग्रन्थ नहीं है। इस तंत्र का सम्बन्ध महायान से होना सम्भव है। यह सम्भवतः छठी शती में लिखा गया है।

में पाल राजाओ के पीछे सेन राजाओं का राज्य हुआ। ये यद्यपि हिन्दू थे, तो भी बौद्ध धर्म के प्रति उदार थे। बारहवी सदी (१२०० ईसवी) में जब मुसलमानो का आक्रमण हुआ तब विक्रमशिला तथा दूसरे केन्द्र नष्ट हो गये। साधु मार दिये गये या दूसरे देशो में चले गये। इनमें कुछ नेपाल, तिब्बत गये और कुछ दक्षिण भारत में चले गये। वहाँ विजयनगर, कलिंग, कोकण में विद्यापीठ स्थापित किये गये।

व्याडि—रससिद्धो में एक नाम व्याडि का भी है। इनका नाम व्याकरण में बहुत प्रसिद्ध है। आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं (२।२३।२८; ६।४३, १३।३१।३७)। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उनका चार स्थानो पर उल्लेख किया है (६।३।६१; ७।१।७४, २।३।९९; ८।४।६७)। महाभाष्य में (६।२।३६) 'आपिशलपाणिनीयव्याडिगौतमीया.' प्रयोग मिलता है। इसमें इनके अन्तेवासियो के नाम भी लिखे हैं।

"सग्रहकार व्याडि का एक नाम दाक्षायण भी है। इसके अनुसार वे पाणिनि के ममेरे भाई होगे; परन्तु काशिका (६।२।६९) के 'कुमारीदाक्षा' उदाहरण में दाक्षायण को ही दाक्षि नाम से स्मरण किया है। हमारा भी यही विचार है कि जैसे पाणिनि के पाणिन और पाणिनि दो नाम थे; वैसे ही व्याडि के दाक्षि और दाक्षायण दो नाम थे। इस अवस्था में दाक्षि या दाक्षायण पाणिनि की माता का भाई और पाणिनि का मामा होगा। व्याडि पद क्रौडयादि गण में पढा है, तदनुसार व्याडि की भगिनी का नाम व्याडधा होता है।" (सस्कृत व्याकरण का इतिहास—पृष्ठ १३१)[1]

---

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याडि के सम्बन्ध में महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित की प्रस्तावना से निम्न पद्य उद्धृत किया है—

"रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः॥
बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव॥"

रसरत्नसमुच्चय में सिद्धों में व्याडि का उल्लेख है (इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलिर्व्याडिरेव च॥ १।३)—संस्कृत व्याकरण का इतिहास, १९९

अल्बेरूनी ने राजा विक्रमादित्य और व्याडि की कथा विस्तार से दी है, जो कि एक प्रसिद्ध रसाचार्य था। (अल्बेरूनी का भारत—भाग २ पृष्ठ १११ पर)

इस प्रकार नाम से काल निर्णय में कठिनाई है। जिस सिद्ध-परम्परा में हुए नागार्जुन का सम्बन्ध रसतन्त्र से है, उसी सिद्ध-परम्परा में व्याडि भी रसशास्त्र के सिद्ध हैं। व्याकरणवाले व्याडि तथा कनिष्क के समय के नागार्जुन दोनो का सम्बन्ध उपलब्ध रसग्रन्थो से नही है। रसरत्नाकर के वादिखण्ड उपदेश १, श्लोक ६६-७० में २७ सिद्ध आचार्यों के नामो में सबसे प्रथम नाम 'व्यालाचार्य' लिखा है। ड-ल का भेद न मानकर मीमासकजी इसको व्याडाचार्य मानते है। रसरत्नप्रदीप में भी व्याडि का नाम है (पृष्ठ १९९)। इन सब बातो को एक सूत्र मे रखकर वे व्याडि का समय भारतयुद्ध के पीछे २००-३०० वर्ष मानते है, जो कि अभी तक मान्य नही। क्योकि काव्यरचना में अश्वघोष या कालिदास ही प्रथम माने जाते है। केवल नाम-साम्य से सबको एक मानना योग्य नही। कुछ श्लोक किंवदन्ती, दन्त-कथाओ पर भी प्रचलित हो जाते है।

रसविद्या के ग्रन्थ

"न रोगाणां न दोषाणां न द्रव्याणां परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥"

रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल—रस विद्या का प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ, जिसे नागार्जुन का बनाया कहा जाता है, वह रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल है। श्री प्रफुल्लचन्द्र राय का मत है कि यह ग्रन्थ सातवी या आठवी शती मे लिखा गया है। श्री दुर्गाशकर शास्त्री इसे अधिक अर्वाचीन मानते है।

श्री प्रफुल्लचन्द्र राय की सग्रहस्थ हस्तलिखित प्रति के अन्त में "नागार्जुनविरचित रसरत्नाकर" ये शब्द है। जब कि स्वर्गीय तनसुखराम म० त्रिपाठी के पास वाली हस्तलिखित प्रति के अन्त में "नागार्जुनविरचित रसेन्द्रमंगल" यह नाम है। (रसेन्द्रमंगल सन् १९२४ में श्री जीवराम कालिदास ने गोडल से प्रकाशित किया है।)

रसरत्नाकर का जितना भाग डाक्टर राय ने प्रकाशित किया है, उसे रसेन्द्रमगल के साथ मिलाने पर ज्ञात होता है कि दोनो ग्रन्थ एक ही हैं। डाक्टर राय की छपी पुस्तक के अन्त में "इति रसेन्द्रमगल समाप्तम्" ये शब्द लिखे है (भाग २ पृष्ठ १७)। श्री जीवराम कालिदास भी दोनो को एक ही मानते हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में आठ अध्याय होने का उल्लेख है, परन्तु प्राप्त पुस्तको में चार ही अध्याय थे। ग्रन्थ खण्डित और अव्यवस्थित है। पारद के स्वेदनादि अठारह संस्कार, हलकी धातु से सोना बनाने की कीमियागरी, रस, उपरस और लोह का शोधन, सब लोहो का मारण, अभ्रक, माक्षिक आदि का सत्त्वपातन, अभ्रक की द्रुति आदि रसतंत्र सम्बन्धी विषयो

के साथ मन्थानभैरव, दशमूलक्वाथ आदि रोगनाशक योग इसमें हैं। इन सब बातों को देखने से यह ग्रन्थ ग्यारहवी शती से पहले का प्रतीत नही होता। तंत्र ग्रन्थो में रस-रत्नाकर मुख्य ग्रन्थ है, जिसमें रसायन योगो का समावेश है। यह ग्रन्थ महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें स्थान स्थान पर 'प्रणिपत्य सर्वबुद्धान्' शब्द आये हैं।

रसरत्नाकर में रासायनिक विधियों का वर्णन नागार्जुन, माण्डव्य, वटयक्षिणी, शालि-वाहन तथा रत्नघोष के सवाद रूप में किया है। इसके द्वितीय अधिकार के अन्त में लिखा है—"इति नागार्जुनविरचितरसरत्नाकरे वज्रमारणसत्त्वपातन-अभ्रकादि-द्रुति-द्रावण-वज्रलोहमारणाधिकारो नाम द्वितीयः।"

इसमें शोधनविधि दी हुई है, यथा—

राजावर्त्त शोधन—

किमत्र चित्रं यदि राजवर्त्तकं शिरीषपुष्पाग्ररसेन भावितम्।
सितं सुवर्णं [illegible]भं करोति गुञ्जाशतमकगुञ्ज। ॥

गन्धक शोधन—

किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकः पलाशनिर्यासरसेन शोधितः।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥

दरद शोधन—

किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः पयेन मेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
सितं सुवर्णं बहुघर्म्मभावितं करोति साक्षाद् वरकुंकुमप्रभम् ॥

माक्षिक से ताम्र बनाना—

किमत्र चित्रं कदलीरसेन सुपाचितं सूरणकन्दसंस्थम्।
वातारितैलेन घृतेन ताप्यं पुटेन दग्धं वरशुल्बमेति ॥

माक्षिक और ताप्य से ताम्र प्राप्त करना—

(१) क्षौद्रं गन्धर्वतैलं सघृतमभिनव गोरसं मूत्रकञ्च
भूयो वातारितैलं कदलीरसयुत भावितं कान्तितप्तम्।
मूषां [illegible]ध्माग्निवर्णामरुणकरनिभां प्रक्षिपेन्माक्षिकेन्द्रम्
सत्त्वं नागेन्द्रतुल्यं पतति च सहसा [illegible]वैश्वानराभम् ॥

(२) कदलीरसशतभावितं घृतम[illegible]पक्वम्।
ताप्यं मुञ्चति सत्त्वं रसकञ्चैव त्रिसंघाते ॥

इसी में रसक (Calamine) से यशद (जस्त) धातु बनाना, दरद से पारा निकालना आदि लिखा है। धातुओ का मारण अन्य धातुओ की सहायता से भली प्रकार बतलाया है। यथा—

तालेन वंगं दरदेन तीक्ष्णं नागेन हेमं शिलया च नागम्।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्वं तारञ्च माक्षीकरसेन हन्यात्॥

पारे का नाम रस है; पारे से एमलगम (सरस) बनाने की विधि नागार्जुन के नाम से दी है, यथा—

जम्बीरजेन नवसारघनाम्लवर्गैः क्षाराणि पंचलवणानि कटुत्रयं च।
शिग्रूद्रकं सुरभिसूरणकन्द एभिः संमर्दितो रसनृपश्चरतेष्टलोहान्॥ ३।१

पारे को निम्बू के रस, नवसार, अम्ल, क्षार, पंचलवण, त्रिकटु, शिग्रु के रस और सूरण के साथ मर्दन करने पर धातुओ का बन्ध होता है।

पारद और स्वर्ण के योग से दिव्य देह प्राप्त करने की विधि भी दी गयी है—

रसं हेम समं मर्द्यं पीठिका गिरिगन्धकम्।
द्विपदी रजनी रम्भा मर्दयेत् टंकणान्विताम्।
नष्टपिष्टं च मूकं च अन्धमूष्यां निधापयेत्।
तुषाल्लघुपुटं दत्वा यावद् भस्मत्वमागतः।
भक्षणात् साधकेन्द्रस्तु दिव्यदेहमवाप्नुयात्॥ ३।३०-३२

इसमें नागार्जुन-विरचित कक्षपुट का खण्ड भी है। उसकी प्रति पृथक् उपलब्ध है। यह प्रति बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है (नं० ८११)। इस प्रति में १०६ पृष्ठ हैं, बीस पटल है तथा अग्निस्तम्भन, गत्यादिस्तम्भन, सेनास्तम्भन, अशनिस्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, मारण, विद्वेषण, इन्द्रजाल-विधान आदि विषय हैं।

नागार्जुन लिखित एक दूसरा ग्रन्थ आश्चर्ययोगमाला है, इसके ऊपर जैन श्वेताम्बरसाधु गुणाकर की टीका है (१२३९ ईसवी)। इसका उल्लेख पीटर्स की तीसरी रिपोर्ट में है। इस ग्रन्थ में भी कक्षपुट से मिलते हुए वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, चित्रकरण, मनुष्यान्तर्धान, कुतूहल, अग्निस्तम्भन, जलस्तम्भन, उन्मादकरण, रोमशातन, विषप्रयोग विधान, भूतनाशन आदि विषय हैं[1]। इन तंत्रग्रन्थों में रोम-

---

१. पितृवनमां तमसकृत्कन्यारक्तं मनःशलायुं... ।
त्रिभुवनमपि निगूहति तिलकक्रियया ललाटतटे॥

शातन-जैसी सामान्य बातो के साथ चमत्कार भी वर्णित है, इनका विचित्र प्रयोग भी लिखा है।

नागार्जुन के नाम से कीमियागरी, वशीकरण, मारणादि प्रयोग और वैद्यक एव योग सब कुछ लिखा गया, परन्तु इन स्थानो पर इसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ नही है। अल्बेरूनी ने नागार्जुन की एक पुस्तक का उल्लेख किया है।

रसहृदयतंत्र—रसेन्द्रमगल की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक व्यवस्थित और सपूर्ण है। यह आयुर्वेद ग्रन्थमाला मे श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रथम छपाया था, पुन लाहौर से श्री जयदेव विद्यालकार की देखरेख में प्रकाशित हुआ था। 'तंत्र' नाम से कहा जानेवाला वास्तविक यही प्रथम ग्रन्थ है। सर्वदर्शनसग्रह में माधवाचार्य ने रसहृदयतंत्र का नाम लिखकर इसमें से प्रमाण उद्‌धृत किये हैं। सर्वदर्शनसंग्रह से पहले तेरहवी शती के रसरत्नसमुच्चय में रससिद्धो की गणना के साथ गोविन्द का नाम आता है। यह गोविन्द इसी ग्रन्थ का कर्त्ता होना चाहिए (खण्ड कापालिका ब्रह्मा गोविन्दो लमपाको हरि—रसरत्नसमुच्चय)। रसरत्नसमुच्चय में इस ग्रन्थ से पाठ भी उद्‌धृत किये है। इसलिए इस ग्रन्थ का कर्त्ता तेरहवी शती से पहले हुआ है, परन्तु समय निश्चित करना कठिन है। इस ग्रन्थ के प्रकरणा का अवबोध नाम है। प्रकरणो की समाप्ति में ग्रन्थकर्त्ता को "परमहस परिव्राजकाचार्य गोविन्द भगवत्पाद" कहा है। दूसरी ओर आद्य शकराचार्य ने अपने को 'गोविन्द भगवत्पाद का शिष्य' कहा है। इस नाम से रसहृदयतत्र के सम्पादनकर्त्ता श्री त्र्यबक गुरुनाथ काले, शकराचार्य के गुरु गोविन्दभगवत्पाद को ही इस ग्रन्थ का कर्त्ता मानते हैं। परन्तु इन्होने केवलाद्वतवाद विषयक कोई ग्रन्थ लिखा नही और किसी तंत्रग्रन्थ का कर्त्ता वेदान्ताचार्य का गुरु हो, यह कल्पना थोडी कठिन है।

साथ ही दूसरी कठिनाई यह है कि रसहृदयतत्र का समय यदि ८वी शती मानें तो ११वी शती मे होनेवाले चक्रपाणिदत्त तथा १०वी शती के वृन्द ने अपने सिद्धयोग-सग्रह मे इस विद्या का उल्लेख क्यो नही किया? इसलिए रसरत्नाकर या रसेन्द्रमगल

ऐसे चमत्कारिक प्रयोग कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी हैं (१४।३।१७८।१३-१६)।

मंत्रभैषज्यसंयुक्ता योगा मायाकृताश्च ये।
उपहन्यादमित्रांस्तैः स्वजनं चाभि-पालयेत्॥

कौटिल्य० १४।३।९६

जिस प्रकार ११ वी शती के है, उसी प्रकार रसहृदयतत्र भी ग्यारहवी शती के आस-पास का ही होना चाहिए।

रसहृदयतत्र के कर्त्ता ने अपना परिचय देते हुए, हैहयकुल के किरात नृपति मदन देव से, जो स्वय रसविद्या का ज्ञाता था, सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है। श्री काले का कहना है कि किरात देश विन्ध्याचल के पास का प्रदेश है और मदनदेव कनिघम की दी हुई हैहय-वशावली में आठवी शती मे हुए राजा कामदेव है। परन्तु कॉनिघम की पुस्तक मे दी हुई वशावली भाट-चारणो द्वारा कथित है, जो कि ८५७ ई० से प्रारम्भ होती है। इसमें वर्षों का उल्लेख नही है। वास्तव मे सिक्को तथा उत्कीर्ण लेखो से हैहयवश की जो वशावली निश्चित हुई है, उसमें कामदेव का नाम नही है। यह वशावली ८५७ ईसवी से प्रारम्भ होती है, इसलिए हैहयराजा के नाम से ग्रन्थ का निर्णय करना उचित नही।[1]

रसहृदयतत्र मे १९ अवबोध है। इसमे प्रथम अवबोध में रसप्रशंसा है, मनुष्य को धन शरीरादि अनित्य जानकर मुक्ति के लिए यत्न करना चाहिए। मुक्ति ज्ञान से मिलती है, ज्ञान अभ्यास से होता है और अभ्यास तभी सम्भव है, जब कि शरीर स्थिर हो। शरीर को स्थिर, अजर-अमर अकेला रसराज ही कर सकता है। रस-हृदयकार को वैयक्तिक मुक्ति से सतोष नही, उसका तो कहना है कि रससिद्ध होकर मैं पृथ्वी से वृद्धावस्था और मृत्यु को दूर कर दूंगा। (यही महायान का विचार है कि अकेले बुद्ध-बोधिसत्त्व होने की अपेक्षा दूसरो को, [illegible] करना चाहिए। "सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिद जगत् ।")

ग्रन्थकर्त्ता की भावना उन्नत है; इसी से वशीकरण, शुक्रस्तम्भन, वाजीकरण आदि योंगो की ओर लेखक का ध्यान नही गया। यह वाम तात्रिक मार्ग से भिन्न है (रसेन्द्रमगल मे वाम तत्र-आचार पर्याप्त है)। इसका दक्षिण मार्ग योगवाद है। इसी योगवाद के कारण सर्वदर्शनसग्रह में रसहृदय को आधार मानकर रसेश्वर दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। बनारस की हस्तलिखित प्रति में पुस्तक के अन्त में 'तथागत श्रेयसे भूयात्' वाक्य है।[2] इससे डा० राय लेखक को बौद्ध मानते है।

---

१ "जयति श्रीमदनरथः किरातनाथो रसाचार्यः"—इसमें किरात शब्द से डाक्टर राय ने भूटान देश लिया है, लेखक का समय ग्यारहवीं सदी ही माना है।

२. नष्टशरीरविवर्णा हीनाङ्गा कुष्ठिनो गुणाद् यस्य।
" अभिनवसोमेश्वरताम[illegible]पि पुनर्नवैरङ्गैः ॥

परन्तु इसी लेखक ने यह भी लिखा है कि "वेदाध्ययन से और यज्ञ से अत्यन्त श्रेय मिलता है। ऐसा लिखनेवाला बौद्ध नही हो सकता।[१]

दूसरे अवबोध में पारद के अठारह सस्कारो के नाम देकर स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन और दीपन इन आठ सस्कारो की विधि दी है। तीसरे अवबोध मे अभ्रक ग्रास की प्रक्रिया है, चौथे मे अभ्रक के भेद और अभ्रक सत्त्वपातन का विधान है। पाँचवें में गर्भ-द्रुति का विधान, छठे में जारण-विधान, सातवें में विड विधान, आठवे में रस रजन, नवें में बीज विधान, दसवें मे वैक्रान्तादि में से सत्त्व पातन, ग्यारहवें में बीज निर्वाहण, बारहवे मे द्वन्द्वाधिकार, तेरहवें में सकर बीज विधान, चौदहवें में सकरबीज जारण, पन्द्रहवे में बाह्यद्रुति, सोलहवें में सारण, सत्रहवें में क्रामण, अठारहवें में वेध विधान और अन्तिम उन्नीसवें अवबोध में शरीर शुद्ध करके रसायन रूप से सेवन करनेवाले योग दिये है। अन्त में कुछ खेचर गुटिका-जैसे योगों के लिए आश्चर्यपूर्ण फलश्रुति कही है।

सक्षेप में रसविद्या का विकास होने के वाद लिखे गये एव इस समय उपलब्ध रस-ग्रन्थो में सबसे प्रथम अतिशय व्यवस्थित रूप से लिखा गया यही ग्रन्थ है। रसायन के रूप मे रस-पारद का उपयोग करने के लिए इसमें अभ्रक-स्वर्ण का जारण करने की आवश्यकता हुई। पारद की रसायन-महिमा वनी रहने पर भी आगे चलकर रोगनाशक रूप में

तस्मात् किरातनृपतेर्बहुमानमवाप्य रसकुकर्म्मरतः।
रसहृदयाख्यं तंत्रं विरचितवान् भिक्षुगोविन्दः॥
नप्त्रा मंगलविष्णोः सुमनोविष्णोः सुतेन तन्त्रोऽयम्।
श्रीगोविन्देन कृतः तथागतः श्रेयसे भूयात्॥
शीतांशुवंशसंभवहैहयकुलजन्मजनितगुणमहिमा।
स जयति श्रीमदनश्च किरातनाथो रसाचार्यः॥ १९।७८

१. रसबन्धश्च स धन्यः प्रारम्भे यस्य सततमिव करुणा।
सिद्धे रसे करिष्ये महीमहं निर्जरामरणाम्॥ १।६
अमृतत्वं हि भजन्ते हरमूर्त्तौ योगिनो यथा लीनाः।
तद्वत्कवलितगगने रसराजे हेमलोहाद्याः॥ १।१४
परमात्मनीव नियतं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम्।
एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते॥ १।१३ (रसहृदयतंत्र)

पारद, अभ्रकादिरस, महारस, गन्धकादि उपरस, काम्पिल्यादि साधारण रस, रत्न सुवर्ण आदि [illegible] । रसहृदयतत्र का विषय पारद तक ही सीमित है, पारद के विषय में व्यवस्थित ज्ञान इससे मिलता है। एक प्रकार से वास्तव में रसेश्वरदर्शन इसी एक ग्रन्थ के ऊपर निर्भर है।

रसार्णव—माधव ने सर्वदर्शनसग्रह में रसार्णव का वर्णन किया है। रसार्णव बारहवी सदी का ग्रन्थ है। रसार्णव तत्र सामान्य रूप से पार्वती-परमेश्वर का सवाद है। इसके विभागो का नाम पटल है। चौथे पटल मे रस कर्म के उपयोगी एव उपरस, लोह में काम आनेवाले काँजी, विड, धमनी (धोकनी), लोह यत्र, खल्व, पत्थर का खरल, कोष्टिका, वक्रनाल, गोमय, ठोस इन्धन, मिट्टी के यंत्र, मूसल, ऊखल, सँडसी, मृत्पात्र, लोहपात्र, तराजू-बाट, कैंची, कसौटी, वशनाल, लोहनाल, मूषा, स्नेह, अम्ल, लवण, विष, उपविष सब सम्भार लेकर कार्य प्रारम्भ करने को कहा है। इस सम्भार से यह स्पष्ट है कि इस देश में रससिद्ध अपने सब साधन पास में रखता था।

भिन्न-भिन्न प्रकार की मूषाएँ (क्रुसीबल) बतायी है, प्रत्येक धातु की ज्वाला का रग भिन्न-भिन्न होता है, इसका उल्लेख है। सत्त्वपातन का उल्लेख इसमे है, सत्त्वपातन से अभिप्राय शुद्ध धातु प्राप्त करना है।[1]

रसेन्द्रचूडामणि—इस ग्रन्थ का कर्त्ता सोमदेव है। रसरत्नसमुच्चय का पूर्व भाग प्राय. इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। सोमदेव भगवद् गोविन्दपाद के पीछे और रसरत्नसमुच्चय के कर्त्ता से पहले हुआ है। इसमें मन्थानभैरव, नन्दी, भानुकी, भास्कर, श्रीकण्ठ, भगवद् गोविन्दपाद के मत इनके नामोल्लेख सहित दिखाये गये है।

---

१. क्षार—त्रिक्षाराष्ट कणक्षारो यवक्षारश्च सर्जिका ।
[illegible]-पलाश-शिग्रुमोचकाः ॥
मूलाद्रकचिञ्चाश्वत्था वृक्षक्षाराः प्रकीर्त्तिताः ॥

महारस—माक्षिकं विमलं शैलञ्चपलो रसकस्तथा ।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम् ॥

धातुओं की संख्या—सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णवंगभुजङ्गमाः ।
लोहकं षड्विधं तच्च यथापूर्वं तदक्षयम् ॥
रसजं क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा ।
त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते ॥
नास्ति तल्लोहमात [illegible] यत्र गन्धककेसरी ।
निहन्याद् गन्धमात्रेण यद्वा माक्षिककेसरी ॥

सोमदेव पुरवर महावीर वश का था[1]। इसलिए सोमदेव का समय १२–१३वी सदी के बीच का होना चाहिए। सोमदेव ने नन्दी के सिवाय नागार्जुन, दण्डी, ब्रह्मज्योति और शम्भु का भी उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ में रसपूजन, रसशाला-निर्माण प्रकार, रसशाला सग्राहण, परिभाषा, मूषापुट यत्र, दिव्यौषधि, रसौषधि, ओषधिगण, महारस, उपरस, साधारण रस, रत्न, धातु, इनके रसायन योग, पारद के अठारह सस्कार भली प्रकार कहे है।[2]

रसेन्द्रचूडामणि लाहौर से १९८९ सवत् में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रकाशन में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा पुस्तको की महायता प्राप्त हुई थी।

रसप्रकाश सुधाकर—यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला में छपा था। इसके कर्त्ता श्री यशोधर है। यशोधर जूनागढ (सौराष्ट्र) के रहनेवाले श्रीगौड ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पद्मनाभ था, जो कि वैष्णव धर्म पालते थे[3]।

---

१. वक्ति व्यक्तं रसपरिकरं वैद्यविद्याविनोदी।
श्रीमान् सोमः पुरवरमहावीरवंशावतंसः ॥ २।१

२. तं पारदं सर्वगदाब्धिपारदं दिव्याष्टसिद्धिप्रदकौलिकेश्वरम्।
कल्पायुरारोग्यविधानदक्षिणं सदेहमुक्तिप्रदमेकमाद्रिये ॥
गोमांसभक्षामरवारुणीपानाग्निविध्वस्ततापानतिमुक्तपापान्।
तान्कौलिकाञ्छ्रीमि सदेहमुक्तान् विदेहमुक्तान्हसतः सदैव ॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चान्द्रः स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥
तत्पान द्वारशब्देन देहसिद्धि करोति हि।
एषैव खेचरी मुद्रा चिराभ्यासेन सिध्यति ॥ १।६-१०
प्रकृत्यादिधरान्तो यश्चतुर्विंशतिको गणः।
तत्कुलं तेन दीप्येत यो जीवः स हि कौलिकः ॥

३. श्रीगौडान्वयपद्मनाभसुधियस्तस्यात्मजेनाप्य [illegible]म्।
सद्वैद्येन यशोधरेण कविना विद्वज्जनानन्द[illegible]द्
ग्रन्थोऽयं ग्रथितः करोतु सततं सौख्यं सतां मानसे ॥ १३।१६

रसरत्नसमुच्चय में बहुत-से विषय इसमे से लिये है। डाक्टर श्री प्रफुल्लचन्द्र राय की मान्यता है कि रसरत्नसमुच्चय के मगल चरण के सत्ताईस रससिद्धो के नामो मे यशोधन के स्थान पर यशोधर होना चाहिए। यशोधर ने नागार्जुन, देवीशास्त्र (सम्भवत. रसार्णव), नन्दी, सोमदेव, स्वच्छन्दभैरव, मन्थानभैरव का उल्लेख किया है। यशोधर ने सोमदेव का नाम लिखा है, इसलिए यह इसके बाद सम्भवत एक सौ वर्ष पीछे होना चाहिए, अतएव इसका समय १३०० ईसवी सम्भावित है।

रसरत्नसमुच्चय से पहले के ग्रन्थो में यह बहुत व्यवस्थित है, इसमे पारद के अठारह संस्कार, रस बन्ध, रस भस्म विधि—जिसमें रसकर्पूर की भी विधि है, स्वर्णादि धातु, महारस, उपरस, रत्न आदि का लक्षण, गुण, शोधन, मारण तथा एक सौ रसप्रयोग, यत्र, मूषा, पुटो का विवरण, वाजीकरण प्रयोग आदि रसशास्त्र के सब विषय हैं। इसके साथ कीमिया की बातें, जिनको यह रसकौतुक कहता है, इसमें है। ग्रन्थकार ने कहा है कि मैंने थोडा अनुभव किया है, शेष अधिक भाग सुना हुआ है।

रसराजलक्ष्मी—इस पुस्तक की प्रधानता इसलिए है कि इसमे पिछले ग्रन्थो (तत्रो) के लेखको का उल्लेख है, विशेषत रसार्णव, काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द, दामोदर, वासुदेव, भगवद्गोविन्दपाद। रसराजलक्ष्मी का कर्ता

इसमें मस्तकी, अफीम, अम्बर का उल्लेख है—

श्रीवासमस्तकी नागकेसरं च लवंगकम्।
कंकोलं तुलसीबीजं खुरासान्यहिफेनकम्॥ १३।१
पोस्तकं पलमेकं वै शुण्ठीकर्षः सिता पलैका च।
कर्षमिता त्वक् पयसा पीतं रेतो ध्रुवं धत्ते॥ १३।१५

अम्बर—समुद्रेणाग्निनक्रस्य जरायुर्बहिरुज्झितः।
रवितापेन संशुष्कः सोग्निजार (अम्बर) इति स्मृतः॥
त्रिदोषशमनो ग्राही धनुर्वातहरः परः।
वर्धनो रसवीर्यस्य जारणः परमः स्मृतः॥ ६।८५-८६

बोहार—भवेद् गुर्जरके देशे सदलं पीतवर्णकम्।
अर्बुदस्य गिरेः पार्श्वे नाम्ना त्वोहारशृंगकम्॥
नागसत्वं लिंगदोषहरं श्लेष्मविकारनुत्।
रसबन्धकरं सम्यक् श्मश्रूरंजनकं परम्॥ ६।८९-९०

विष्णुदेव राजा बुक्क का राजवैद्य था, बुक्क का समय १३५४–१३७१ ईसवी है। इसलिए यह ग्रन्थ चौदहवीं शती का होना चाहिए।

रसेन्द्रसारसंग्रह—यह ग्रन्थ महामहोपाध्याय गोपाल भट्ट का बनाया हुआ है। यह बहुत-सी पुस्तको के आधार पर सगृहीत है। इसमें रसमजरी और चन्द्रिका इन दो का ही नाम लिखित है। यह ग्रन्थ १३वी सदी का होना चाहिए। इसमें रस-कर्पूर की बनावट लिखी है। रसकर्पूर के पाठ को रसप्रकाशसुधाकर और भावप्रकाश के पाठ से मिलाने पर यह ग्रन्थ रसप्रकाशसुधाकर से पीछे और भावप्रकाश से पूर्व बना प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पारद का शोधन, पातन, बोधन, मूर्च्छन आदि, गन्धक शोधन, वैक्रान्त, अभ्रक, ताल, मैनसिल आदि का शोधन, मारण आदि दिया गया है। ज्वरादि रोगो के ऊपर रसयोग भी लिखे हैं। इसमें रसविद्या का विषय रसरत्नसमुच्चय की भाँति अधिक व्यवस्थित नही है। इस ग्रन्थ के बहुत-से योग पिछले ग्रन्थो में लिये गये हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने संक्षिप्त टिप्पणी ग्रन्थ पर लिखी है।

इसके बहुत से योग रसेन्द्रचिन्तामणि से मिलते हैं। इससे अनुमान है कि दोनों ने एक ही स्थान से संग्रह किया है। दोनों ग्रन्थ एक ही समय बने प्रतीत होते हैं, इसलिए एक-दूसरे से लेने का प्रश्न नहीं। बगाल में इस ग्रन्थ का बहुत प्रचलन है।

रसकल्प—रसकल्प में गोविन्द, स्वच्छन्दभैरव आदि आचार्यों का उल्लेख है। इस छोटे ग्रन्थ में धातुओ का शोधन-मारण ही है। डाक्टर राय इसका समय तेरहवीं शती के आस-पास मानते हैं। लेखक ने पुस्तक के अन्त में कहा है कि इसमें लिखी सब प्रक्रियाएँ मेरी अनुभूत हैं, किसी दूसरे से सुनकर नहीं लिखी।

रससार—गोविन्दाचार्य के इस रससार में पारद के अठारह संस्कार आदि प्रसिद्ध विषय हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि इस पद्धति को भोट-देशी लोग जानते हैं और बौद्ध मत जानकर मैंने रससार लिखा है। १२–१३वी शती तक रसविद्या बौद्धों में अच्छी तरह प्रचलित थी, विशेषत तिब्बत के बौद्ध इसको भली प्रकार जानते थे।[1]

इस ग्रन्थ में अफीम का उपयोग है; यद्यपि इसे पता नहीं कि अफीम क्या है।

---

१. एवं बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिनः।
बौद्धं मतं तथा ज्ञात्वा रससारः कृतो मया॥

इसका कहना है कि समुद्र में तैरती हुई विषैली मछली से अफीम निकलती है ।[१] डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय अफीम का उपयोग तेरहवी शती में मानते है ।

रसेन्द्रचिन्तामणि—इसकी बहुत सी प्रतियो में लेखक का नाम कालनाथ के शिष्य ढूढीनाथ मिलता है । कुछ प्रतियो में गुहुकुल-संभव रामचन्द्र नाम है । प्रकाशित पुस्तको में भी यह भेद मिलता है । यह ग्रन्थ पहले कलकत्ता में छपा था, १९९१ संवत् में वैद्य मणिशर्मा ने भी अपनी सस्कृत टीका के साथ रामगढ (जयपुर) से प्रकाशित कराया है । डाक्टर राय इसकी रचना १३–१४वी शती में मानते है । इसमें रसार्णव, नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्ध लक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रम भट्ट और चक्रपाणि का उल्लेख है । इस ग्रन्थ के विषय में लेखक ने लिखा है कि उसने स्वयं अनुभव करके इसमें प्रक्रियाएँ लिखी हैं ।[२] ग्रन्थ में ज्वरादि रोगो की रसचिकित्सा दी गयी है ।

रसरत्नाकर—पार्वतीपुत्र नित्यनाथ सिद्ध विरचित यह विशाल ग्रन्थ रस खण्ड, रसेन्द्र खण्ड, वादि खण्ड, रसायन खण्ड और मत्र खण्ड इन पाँच खण्डो में बना है । ये पाँचो खण्ड प्रकाशित हो चुके है । वादि खण्ड और मत्र खण्ड गोडल से श्री जीवराम कालिदास द्वारा तथा रस और रसेन्द्र खण्ड कलकत्ता से प्रकाशित है । रसायन खण्ड का प्रकाशन बम्बई की आयुर्वेद ग्रन्थमाला में हुआ है । इनमें से वादिखण्ड और मत्र खण्ड को छोड़कर तीनो खण्डो का सम्बन्ध वैद्यक से है । रसरत्नसमुच्चय में नित्य-नाथ का नाम आने से स्पष्ट सिद्ध है कि यह नित्यनाथ रसरत्नसमुच्चय से पहले हो चुके है । इस में आये हुए बालुका मीन का 'समकउल सेदा रेगमाही' नाम से यूनानी में प्रसिद्ध प्रयोग है । इससे स्पष्ट है कि इस देश में यूनानी चिकित्सा प्रचलित थी; इसलिए नित्यनाथ का समय तेरहवी शती होना चाहिए ।

---

१. समुद्रे चैव जायन्ते विषमत्स्याश्चतुर्विधाः ।
तेभ्यः फेनं समुत्पन्नम् अहिफेनं विषं स्मृतम् ।
केचिद् वदन्ति सर्पाणां फेनं स्यादहिफेनकम् ॥

अहिफेन (संस्कृत) शब्द अरबी के 'अफयून' का रूपान्तर है । शार्ङ्गधर की आढमल् टीका में खाखजः (खाखसः) क्षीरविशेष :—लिखा है, इससे स्पष्ट है कि उस समय इसकी उत्पत्ति का ठीक ज्ञान था ।

२. आस्वाद्य बहुविबुधां मुखादपश्यं शास्त्रेषु स्थितमकृतं न तल्लिखामि ।
यत्कर्म व्य ८ धमप्रता गुरूणां प्रौढानां तदिह वदामि विस्तरेण ॥
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा मतः ॥

इस ग्रन्थ में शोधन, मारण आदि रसविद्या के विषय रसखण्ड के प्रारम्भ में बतलाकर ज्वरादि रोगो की चिकित्सा विस्तार से लिखी है। इसमें औषधियोग भी हैं, परन्तु रसयोग विशेष रूप में हैं।

रसरत्नाकर को देखने से स्पष्ट है कि इस समय तक रसविद्या का प्रचार और विकास पर्याप्त हो चुका था। क्योकि इतने समय में अकेले एक व्यक्ति के हाथ से रसरत्नाकर जैसा ग्रन्थ तैयार होना सम्भव नही। रसरत्नाकर में तान्त्रिक मंत्रो का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। चक्रपाणि और रसेन्द्रचूड़ामणि का भी उल्लेख है।[1]

रसेन्द्रकल्पद्रुम—इसमें मुख्यत धातुओ और खनिजो का उल्लेख है। यह एक संग्रह ग्रन्थ है, जो रसार्णव, रसमंगल, रसरत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय से सगृहीत है।

धातुरत्नमाला—इसमें धातु और रत्न आदि की मारण विधि है। इसमें स्वर्ण, रजत, ताम्र, सीसक, त्रपु और लोह छः धातुओं का प्राचीन पुस्तकों से उल्लेख हुआ है। पीछे से खर्पर का भी उल्लेख मिलना आश्चर्यपूर्ण है। यह कैलेमिन का समास है, जिसे जस्ता या यशद का समास समझा जाता है। इसका लेखक देवदत्त है, जो कि गुजरात का निवासी था। यह ग्रन्थ चौदहवीं शती से पहले का नहीं है (हि० हि० कैं०)।

रसरत्नसमुच्चय—इसका कर्त्ता वाग्भट है। अष्टागसंग्रह के कर्त्ता वाग्भट के समान इसके पिता का नाम भी सिंहगुप्त है। इसी नामसाम्य से पुराने वैद्य सबको एक मानकर तीनो ग्रथो का कर्त्ता एक ही मानते है। परन्तु रसरत्नसमुच्चय का कर्त्ता वाग्भट बहुत पीछे का है। रसरत्नसमुच्चय में चर्पटी और सिंघली राजा का उल्लेख है।

---

१. यदुक्तं शम्भुना पूर्वं रसखण्डे रसार्णवे।
रसस्य बन्धनार्थे च दीपिका रसमंगले॥
व्याधितानां हितार्थाय प्रोक्तं नागार्जुनेन यत्।
उक्तं चर्पटिसिद्धेन स्मर्द्धवैद्यकपालिके॥
अनेक रसशास्त्रेषु संहितास्वागमेषु च।
यदुक्तं वाग्भटे तंत्रे सुश्रुते वैद्यसागरे॥
अन्यैश्च बहुभिः सिद्धैर्यदुक्तं च विलोक्य तत्।
तत्सर्वं परित्यज्य सारभूतं समुद्धृतम्॥
यदन्यत्र तदत्रास्ति यदत्रास्ति न तत् क्वचित्।
रसरत्नाकरः सोऽयं नित्यनाथेन निर्मितः॥

इस दृष्टि से तथा अगले-पिछले सम्बन्धो से डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय इसको १३वी शती की रचना मानते हैं ।[१] श्री गणनाथ सेन की मान्यता है कि समुच्चय के कर्त्ता वाग्भट के पिता का नाम सचगुप्त है, किसी पण्डित ने उसे सिंहगुप्त लिख दिया है ।

वाग्भट नाम के और भी विद्वान् हुए हैं; ये सब सग्रह और हृदय के कर्त्ता वाग्भट से अर्वाचीन हैं, यथा—

१. वाग्भट—मालवेन्द्र का अमात्य, देवेश्वर का पिता, कविकल्पलता का कर्त्ता, २. वाग्भट—नेमिकुमार का पुत्र, जिन-धर्मानुयायी, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन आदि का कर्त्ता; ३. वाग्भट—वाग्भट-कोश कर्त्ता, ४. वाग्भट—रसरत्नसमुच्चय का कर्त्ता; ५. वाग्भट—वाग्भटालकार, शृगारतिलक आदि का कर्त्ता, सोम का पुत्र, जैन, जयसिंह का अमात्य; ६ वाग्भट—नेमिनिर्वाण काव्य का कर्त्ता; ७. वाग्भट—लघु जातक कर्त्ता; ८. वाग्भट—प्राकृत पिंगलसूत्र का कर्त्ता।

(श्री हरिशास्त्री पराडकर)

रसरत्नसमुच्चय के प्रथम ग्यारह अध्यायों में रसोत्पत्ति, महारसो का शोधन आदि विषय, उपरस, साधारण रसो आदि का शोधन ये रसशास्त्र सम्बन्धी विषय हैं । शेष भाग में ज्वर आदि रोगो के ऊपर रसयोग-प्रधान औषधियाँ हैं । रसशाला निर्माण का निर्देश करते हुए इसमें कहा गया है—

---

१. इस सम्बन्ध में श्री हरिशास्त्री पराड़कर ने अपनी भूमिका (अष्टांगहृदय, निर्णयसागर से प्रकाशित) में विस्तृत सूचना दी है। वाग्भट के संग्रह और हृदय में रसरत्नसमुच्चय का उल्लेख नहीं है। दोनों की रचना में बहुत अन्तर है। रसरत्न-समुच्चय में कुछ अपाणिनीय प्रयोग हैं, जो कि संग्रह या हृदय में नहीं है। सातवीं शती-पूर्व भारत में रसविद्या नहीं थी।

संग्रह और हृदय में जिन रोगों का उल्लेख है, उनसे भिन्न नये नाम रक्तवात, शीतवात, सोम रोग आदि रसरत्नसमुच्चय में मिलते हैं। [illegible] प्रायः चिकित्सा ग्रन्थ है। यदि दोनों का कर्त्ता एक ही होता तो क्रम सबमें एक ही रहता, केवल रसौषधियों का उल्लेख होता। रसरत्नसमुच्चय में रोगों के कुछ अर्वाचीन नाम भी हैं, संग्रह और हृदय में वर्णित श्वित्र और किलास के लिए समुच्चय में श्वेत कुष्ठ शब्द आया है। संग्रह-हृदय में अठारह कुष्ठ कहे हैं, समुच्चय में शवगन्धि आदि अधिक नाम भी आये हैं, वातव्याधि में अपतानक नामक मुख्य रोग नहीं कहा। संग्रह और हृदय में गौरीपाषाण और अहिफेन का उल्लेख नहीं, समुच्चय में है।

सब प्रकार की बाधा-आपत्तियो से रहित, धर्मराज्य में, मनोरम स्थान में, शिव और पार्वती की जहाँ उपासना होती है, ऐसे समृद्ध नगर में धन-धान्य से पूर्ण रसशाला बनाये। इस रसशाला के चारो ओर सुन्दर बगीचा बनाये, इसके चार द्वार बनाये। यह शाला अच्छी बडी-चौडी, सुन्दर होनी चाहिए। इसमें वायु के आने-जाने का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। इसमें दिव्य चित्र भित्तियो पर चित्रित होने चाहिए। इसमें शिवलिंग बनाकर उसकी पूजा करे। यह शिवलिंग स्वर्ण और पारद से बनाना चाहिए।[1]

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि मूल महायान बौद्ध तान्त्रिकों के पास से शैव और शाक्त तान्त्रिको के पास यह विद्या आयी है और उन्होंने इसे गुप्त रखने के लिए कहा है।[2]

रसरत्नसमुच्चय के अनुसार रसशास्त्र में खनिजों को पाँच भागो मे विभक्त किया गया है, यथा—रस, उपरस, साधारण रस, रत्न और लोह। रस शब्द मुख्यतः पारे का वाचक है, परन्तु रसशास्त्र मे अभ्रक आदि के साथ रस शब्द प्रचलित होने मे पारे को रसेन्द्र कहा जाता है ['रसनात्सर्वधातूना रस इत्यभिधीयते']। महारस आठ है—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु सस्यक, चपल और रसक। उपरस भी आठ हैं—गन्धक, गैरिक, कासीस, तुवरी, हरताल, मैनसिल, अजन, ककुष्ठ। साधारण रस आठ हैं—कम्पिल्ल, गौरी पाषाण, नवसार, कपर्द, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगुल, मद्दारशृग। रत्न बारह हैं—वैक्रान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, हीरा, मोती, राजावर्त्त, पुष्पराग, गरुडोद्गार, प्रवाल, गोमेद, वैडूर्य और नीलम। लोह (धातु) आठ है—सुवर्ण, रजत, लोह, नाग, वग, पित्तल, कास्य, वर्त्त लोह। पित्तल, कास्य और वर्त्त लोह

---

१. निष्कत्रयं हेमपत्रं रसेन्द्रं नवनिष्ककम्।
अम्लेन मर्दयेद्यामं तेन लिंगं तु कारयेत्॥

२. रसविद्या शिवेनोक्ता दातव्या साधकाय वै।
यथोक्तेन विधानेन गुरुणा मुदितात्मना॥

सप्तविंशतिसंख्याका रससिद्धिप्रदायकाः।
वन्द्याः पूज्याः प्रयत्नेन ततः कुर्याद् रसार्चनम्॥
हर्षयेद् द्विजदेवानां तर्पयेदिष्टदेवताः।
कुमारीयोगिनीयोगीश्वरान् म्लेच्छकसाधकान्॥

को मिश्रित धातु कहा है। काँसा और वर्त्त लोह किन धातुओं का मेल है, यह भी कहा है।[1]

रसरत्नसमुच्चय के पीछे रसयोग के बहुत से संग्रह ग्रन्थ बनाये गये। इनमें रस के संस्कार, धातु, उपधातु, महारस, उपरस, रत्न, उपरत्न आदि का परिचय, शोधन, मारण मुख्य रूप से है, साथ में थोडे से रसयोग भी दिये है। उदाहरण के लिए 'रस-पद्धति' ग्रन्थ है, यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला मे बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका लेखक भिषग्वर विन्दु है। टीका के उद्धरणो से ज्ञात होता है कि रसरत्नाकर, रस-राजलक्ष्मी, रसरत्नसमुच्चय के पीछे इसकी रचना हुई है। इसमें से आयुर्वेदप्रकाश और रसकामधेनु मे पर्याप्त वचन उद्धृत किये गये है। श्री यादवजी की सूचना

---

१. अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागकुटिलेन च।
विद्रुतेन भवेत्कांस्यम् ॥
कांस्यार्करीतिलोहाहिजातं तद् वर्त्तलोहकम्।
तदेव पञ्चलोहाख्यं लोहविद्भिरुदाहृतम् ॥
शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारं
पूतिलोह द्वितीयमुदितं नागवङ्गाभिधानम्।
मिश्रं लोह त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्त्तम्
धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽप्यनेकार्थवाची ॥

(सोऽप्यनेकार्थवाची के स्थान पर सोऽपिकर्षार्थवाची भी पाठ है—रसेन्द्रचूड़ामणि अ. १४। श्लो. १)

महारस, उपरस, साधारण रस संज्ञाओ के सम्बन्ध में रसतंत्रों में एकता नहीं है। रसपद्धतिकार ने वैक्रान्त, अभ्रक, शिलाजतु, चपल, ताप्य और तुत्थ को महारस कहा है। गन्धक, हरताल, मैनसिल इन तीनो को उपरस कहा है। आयुर्वेदप्रकाश में गन्धक, हिंगुल, अभ्रक, हरताल, मैनसिल, अंजन, टंकण, लाजावर्त्त, चुम्बक, फिटकरी, शंख, मिट्टी, गेरू, कासीस, खड़िया, कौड़ी, बालू, बोल, कंकुष्ट इन सबको उपरस कहा है। रसशास्त्र में प्रयुक्त द्रव्यों के वर्गीकरण में बहुत मतभेद है। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने द्रव्यगुणविज्ञान-परिभाषा खण्ड (पृष्ठ ९२-९३-९४) तथा रसामृत के उपोद्घात में इस विषय पर सयुक्ति विवेचना की है। उसको वहाँ पर देखना चाहिए, उसकी सूचना के अनुसार नये रूप से इनका वर्गीकरण करना उत्तम है।

के अनुसार इसका लेखक महाराष्ट्रदेशीय है। इसका समय सत्रहवी शती से पहले का है।[1]

इनके सिवाय मालवा के राजा वैद्य मथनसिंह की **रसनक्षत्र-मालिका** (इसमे अफीम का उपयोग है), **रसकौमुदी**—जिसके कर्त्ता ज्ञानचन्द्र शर्मा, (प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास हैं,) रामराज विरचित **रसरत्नप्रदीप** (ठाकुरदत्त शास्त्री–गुमटी बाजार लाहौर), **लौहसर्वस्व** (कर्त्ता–सुरेश्वर; प्रकाशक—आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला बम्बई) माधव विरचित **आयुर्वेदप्रकाश** आदि बहुत से ग्रन्थ बने। शार्ङ्गधरसंहिता का उल्लेख पहले आ चुका है। उसमे भी पारद-रसविद्या का विषय, धातुओ का जारण-मारण है। यह चौदहवी शती का ग्रन्थ है।

रसरत्नसमुच्चय के पीछे शनै शनै रसशास्त्र में शोधवृत्ति कम होती गयी। रसरत्नसमुच्चय मे काँसे के सम्बन्ध की जानकारी है। यह किसमे से बनता है, यह भी लिखा है। तुत्थ में से ताम्र निकलता है, यह रसरत्नसमुच्चय मे लिखा है। भावप्रकाश में तुत्थ को ताम्र का उपधातु कहा है। शखद्राव का उल्लेख बहुत पीछे का है। अकबर के समय से सुनार तेजाब का उपयोग करने लगे थे।

इस प्रकार से सत्रहवी, अठारहवी शती (आयुर्वेदप्रकाश) तक रसशास्त्र परम्परा की शृखला मिलती है। इसका प्रारम्भ नवी-दसवी शती मे हुआ, बारहवी-तेरहवी में पूर्ण विकास हुआ। इसके आगे यह स्थायी रूप मे १६वी शती तक आयी। इसके पीछे यथाश्रुत रही।

रसतत्र मे धातुवाद और चिकित्सा दो विषय है। धातु ज्ञान बहुत पहले से देश में प्रचलित था। यह गुप्तकाल में बने दिल्ली के लोहस्तम्भ से सिद्ध है। पीछे से तत्र सम्बन्धी ज्ञान ने इसे अपने मे समाविष्ट कर लिया, और इसको गुप्त रखकर सिद्धो के नाम से जनता में फैलाया। दसवी शताब्दी के लगभग इसमे चिकित्सा भी मिलने लगी। इसलिए ये रसग्रन्थ चिकित्सा मे भी उपयोगी हुए।

सिद्धो में रहने से तथा वाममार्ग और कापालिक सम्बन्ध के कारण स्त्रीद्रावण, वशीकरण, वीर्यस्तम्भन, जलौका उपयोग, शुक्रस्तम्भन योग आदि का उल्लेख रसमगल में तथा अन्य रसग्रन्थो मे बहुत मिलता है। कोई भी रसग्रन्थ ऐसा नही, जिसमें

---

१. रसपद्धति में मोती आठ स्थानो से उत्पन्न कहे गये है—"अष्टौ मौक्तिकभूमयः करिकिरित्वक्सारमत्स्याम्बुमुक्कम्बूरोगतिशुक्तयोऽत्र बरमोत्पन्न पुनर्नाविश्रुतम् ॥" हाथी, शूकर, बंश, मत्स्य, मेघ, कम्बू, सर्प, शुक्ति।

इस प्रकार के योगो का अतिशयोक्तिपूर्ण आकर्षक वर्णन न हो। रसशास्त्र में इस चिकित्सा को 'दैवी चिकित्सा' कहा है।[1]

डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस–सी० ने "वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा" नामक एक पुस्तक लिखी है। इसमे उन्होने आयुर्वेद के रासायनिक द्रव्यो पर तथा रसायन विद्या पर भी विचार किया है। इनके विचार से भी रसायन चिकित्सा (पारद के साथ धातुओ का चिकित्सा मे उपयोग) आठवी शती के बाद ही हुआ है।

बिड् या अम्लराज—विड् का उपयोग लोहो के शोधन, द्रावण में होता है। विष्ठा से बनने से इनको विड् कहा है (विड्भि. कपोतचाषाणा शिखिकुक्कुटगृध्रजै:। शोधन सर्वलोहाना विड्गण. समुदाहृत.॥—द्रव्यगुणविज्ञान, पृष्ठ ९०)। रसार्णव में इस कार्य के लिए गन्धक का उपयोग बतलाया है, इसके सिवाय अन्य वस्तुओ से भी विड्-द्रावण बनाना कहा गया है—

कासीसं सैन्धवं माक्षी सौवीरं व्योव गन्धकम्।
सौवर्चलं व्योषका च मालती रससंभवः॥
शिग्रूमूलरसैः सिक्तो विडोऽयं सर्वजारणः॥

इसी प्रकार गन्धक, ताल, सैन्धव, नौसादर, टकण को मूत्रो के साथ गरम करके विड् बनाने की क्रिया लिखी है।

रसनक्षत्रमालिका—यह ग्रन्थ आश्विन कृष्ण पचमी सोमवार, सवत् १५५७ को मालव राजा के राजवद्य मथनसिंह ने समाप्त किया था।

रसप्रदीप—यह ग्रन्थ सोलहवी शती मे बना है। इसमे फिरग नाम आया है। इस रोग के लिए रसकर्पूर और चोपचीनी का प्रयोग भी हुआ है। कर्पूररस को अन्य ग्रन्थो में (योगतरगिणी मे) फिरगकरिकेशरी कहा है।

गैरिकं रसकर्पूरम् उपला च पृथक् पृथक्।
टंकमात्रं [illegible] ताम्बूलीदलजै रसैः॥
वटचश्चतुर्दश तेषां कर्त्तव्या भिषगुत्तमैः।
फिरंगव्याधिनाशाय वटिकेयमनुत्तमा॥

---

१. **सा दैवी प्रथमा सुसंस्कृतरसैर्या निर्मिता सद्रसैः,**
चूर्णस्नेहकषायलेहरचिता स्यान्मानवी मध्यमा।
शस्त्रच्छेदनलास्यलक्षणकृताचाराधमा साऽऽसुरी—
त्यायुर्वेदरहस्यमेतदखिलं तिस्रश्चिकित्सा मताः॥ रसपद्धति २

२—चोपचीनीभवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम् ।
फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेत् लवणं त्यजेत् ॥

रसप्रदीप में शखद्रावक बनाने की विधि है, यह एक खनिजाम्ल है—फिटकरी, नौसादर, शोरा, गन्धक मिलाकर मिट्टी के पात्र में गरम करके बनाया जाता है। इसको अग्नि पर चढ़ाकर तिर्यक् यंत्र से रस चुआ लेना चाहिए। हमारे देश में सल्फ्यूरिक एसिड (गन्धक का तेजाब), शोरे का तेजाब और नमक का तेजाब कई शताब्दी से बनाया जाता था।

धातुक्रिया—यह ग्रन्थ भी लगभग इसी समय का है और रुद्रयामल तंत्र के अन्तर्गत मिलता है। इस ग्रन्थ में फिरंग देश और रूम देश का उल्लेख है, यथा—ताम्र की उत्पत्ति में—

ताम्रोत्पत्तिश्च महता सुखेनैव प्रजायते ।
तेषां स्थानानि वक्ष्येऽहं याथातथ्येन च शृणु ।
नेपाले कामरूपे च वंगले मदनेश्वरे ।
गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च ।
पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे रूमदेशे फिरङ्गके ॥
एतान्युदितस्थानानि सर्वपर्वतके सदा ॥ (१४३-१४५)

धातुक्रिया में सल्फ्यूरिक एसिड के लिए 'दाहजल' शब्द आया है, जो ताम्र को तूतिया में बदलता है (७०)।

ताम्र और खर्पर के योग से पित्तल, और वंग तथा ताम्र के योग से कांस्य बनाना लिखा है (६३, ६५)। खर्पर शब्द जस्ते के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जस्ते के अन्य पर्याय जासत्व, जरातीत, राजत, यशद, रूप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, रसक, रसवर्धक आदि हैं (५०–५१)।

यह ग्रन्थ शिव-पार्वतीसंवाद के रूप में है। इसमें शिवजी पार्वती से एक स्थान पर कहते हैं कि मनुष्य कलियुग में स्वर्ण के लिए व्याकुल रहेंगे (१२३)। वे पारद और गन्धक से नकली सोना बनाने लगेंगे (१२८)। सुवर्णसाधिनी विद्या जानकर लोग प्राकृतिक स्वर्ण को पूछेंगे ही नहीं।

सुवर्णतन्त्र ग्रन्थ में भी सोना बनाने के योग मिलते हैं। इसमें शखद्राव के समान बहुत-से द्राव बतलाये हैं—लोह द्राव, ताम्र द्राव, शंख द्राव, हन्ताल, दन्त द्राव। लोह द्राव में लोहा डालने पर शीघ्र घुल जाता है, अन्य द्रावों में नहीं।

उद्योग धंधों में रसायन परम्परा—शुक्रनीति में नालिका और द्राव चूर्ण का उल्लेख

है (१०२८–१०३७)। इसमे शोरा और गन्धक से बारूद बनाना बतलाया है। इसका अग्निचूर्ण नाम दिया है। बारूद बनाने के लिए अगार (कोयला), गन्धक, सुवर्चिका, मन शिला, हरताल, सीसमल-हिंगुल, कान्तरज, खर्पर, जतु, नील, सरल, गोद इनको भिन्न-भिन्न मात्रा मे मिलाया जाता है (१०३९–१०४२)।

सोने की सबसे प्राचीन रत्नपेटिका (कास्कैट) जो बौद्धकालीन है, इन्डिया आफिस लाइब्रेरी मे सुरक्षित है। यह १८४० सन् के लगभग मैसन महोदय को काबुल उपत्यका मे जलालाबाद के पास मिली थी। यह पेटिका ईसा से ५० वर्ष पूर्व की बनी मानी जाती है। इसके सिवाय सुराहियाँ, प्रतिमाएँ, पेटिकाएँ, जिनमे सोने-चाँदी का काम होता था, बनती थीं। कुफ्त और बीदरी का काम एनेमेल या मीना, अस्त्र-शस्त्र और इस्पात का काम बहुत प्राचीन काल से इस देश मे होता था। राजसी ठाठ के सामानो मे धातुओ का उपयोग बहुत प्राचीन है। बार्थ (Borth) ने लिखा है कि अरबवासियो के सम्पर्क से भारत मे तन्त्र और रसायन को प्रोत्साहन मिला (रिलीजन्स हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ २१०)।

चिकित्सा मे धातुओं का उपयोग सातवीं-आठवीं शती के बाद से ही प्रारम्भ हुआ। मौर्यकाल में धातुओ को विशेष सवर्धन मिलने लग गया था। ग्रीक या दूसरो के ससर्ग मे आने पर जिस प्रकार प्रस्तर एव स्थापत्य कला का विकास हुआ, उसी प्रकार इस कला मे भी विकास हुआ। परन्तु चिकित्सा मे उपयोग नवी शती के आसपास प्रारम्भ हुआ।

पारद के अष्टादश संस्कार

पारद के सस्कार अठारह हैं, यथा—स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, ग्रास मान, चारणा, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, जारण, रजन, सारण, क्रामण, वेधन और भक्षण। इनमे पहले आठ सस्कार ही सामान्य रूप से रसग्रन्थो मे वर्णित है। अठारह सस्कार स्वर्ण या धातु निर्माण मे तथा देह सिद्धि के लिए उपयोगी है। आठ सस्कार रसायन गुण के लिए उत्तम है। रोग चिकित्सा मे सामान्यत: मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन सस्कार ही किये जाते है। स्वेदन क्रिया से पारद के दोष द्रवीभूत होकर ढीले हो जाते हैं, जिससे वे सुगमता से निकल सकते हैं।

मर्दन और मूर्च्छन दोनो सस्कारो मे पारे को द्रव्यो के साथ घोटा जाता है। मर्दन के पीछे मूर्च्छन मे घोटने पर पारे के छोटे-छोटे कण बन जाते है। यह एक प्रकार से वस्तु मे छिप जाता है। मर्दन मे यह स्थिति नही होती। इसमे पारा समूह रूप मे ही रहता है और स्पष्ट दीखता है।

उत्थापन क्रिया में पारे को फिर एक समान रूप मे लाते है, जिससे वह एकत्र हो जाता है। पातन क्रिया मे ऊर्ध्वपातन, अध पातन या तिर्यक् पातन क्रियाएँ अभि-प्रेत है। इससे पारे के दोष निकलते है। बोधन सस्कार से उसमे दीप्ति, तेज, चचलता उत्पन्न की जाती है। पातन आदि क्रिया से पारा थक जाता है, जिससे मन्दवीर्य-सुस्त हो जाता है। बोधन सस्कार से उत्पन्न चाचल्य को नियत्रित करने के लिए नियमन सस्कार किया जाता है। नियमित पारद कासीस, सैन्धव आदि विड तथा धातुओ को ग्रास करने के लिए तैयार हो जाय अत उसमे बुभुक्षा उत्पन्न करने के लिए दीपन सस्कार करते है।

ग्रासमान—पारद इतने परिपाण में स्वर्ण आदि का ग्रास कर सकेगा, इसका निश्चय करना ग्रासमान है। चारणा—पारद मे स्वर्ण आदि धातु मिलाने का नाम चारणा है। चारणा दो प्रकार की है, समुखा और निर्मुखा। समुखा चारणा में शुद्ध स्वर्ण या चाँदी को पारद में मिलाया जाता है। इनका चौंसठवाँ भाग मिलाने पर पारद अभ्रकसत्त्व आदि कठिन सत्त्वो को खाने लगता है। निर्मुखा चारणा में पारद मे मुख बिना किये ही दिव्यौषधियो की सहायता से सत्त्वो या लोहे को खिला दिया जाता है। गर्भद्रुति—पारद में से ग्रसित किये हुए अभ्रक आदि को द्रवीभूत करना गर्भद्रुति है। बाह्यद्रुति—अभ्रकसत्त्व आदि को प्रथम द्रव बनाकर फिर पारद में ग्रास देना बाह्य द्रुति है (भोजन पचने के लिए जिस प्रकार उसका द्रवीभूत होना आवश्यक है, उसी प्रकार पारद मे अभ्रक सत्त्व आदि के जीर्ण होने के लिए इसका भी द्रव होना आवश्यक है)।

जारण—ग्रास दिये हुए और द्रवीभूत अभ्रकसत्त्व आदि को विड आदि की सहायता से जीर्ण करना जारण है। (जिस प्रकार खाये हुए भोजन को सोडा बाई कार्ब या अन्य क्षार-नमक-अग्निवर्धक औषधियो के साथ पचाते है।)

रञ्जन—विशिष्ट सस्कारो से सिद्ध किये गये बीज को पारद मे जारित करके उसमे पीले, लाल आदि रग उत्पन्न करने की क्रिया को रञ्जन सस्कार कहते है।

सारण—सारणयत्र मे विशेष क्रिया से बनाया सारणतैल तथा रजित पारा डालकर उसमे स्वर्ण आदि मिलाकर जो सस्कार किया जाता है, वह सारण है। सारण से पारद मे लोहे को वेध करने की शक्ति बढ जाती है।

क्रामण—सारण पर्यन्त सस्कारित पारद क्रामण क्रिया के बिना धातुओ को अन्दर से नही रग पाता। क्रामण से वह प्रत्येक अणु मे पहुँच जाता है।

वेध—सारण पर्यन्त सस्कार किये गये पारद को व्यापनशील-क्रामण औषधियो

के साथ मिलाकर ताम्र-वंग आदि दूसरी धातुओं में डालने की क्रिया को वेध संस्कार कहते हैं।

पारद के ये संस्कार जिस प्रकार लोह सिद्धि के लिए है; उसी प्रकार देह सिद्धि के लिए भी आवश्यक हैं। भगवद् गोविन्दपाद ने रसहृदय तन्त्र में इन्ही रीतियो से सस्कार किये गये पारद से शरीर को अजर-अमर बनाने का विधान बताया है, जो कि रसेश्वर दर्शन का चरम लक्ष्य था।[1]

रत्न

हीरा, प्रवाल, मोती, पन्ना, लहसुनिया, गोमेद, माणिक्य, नीलम, पुखराज—ये रत्न हैं। तूरमुरी, सूर्यकान्त, स्फटिक, चन्द्रकान्त लाजावर्द, फिरोजा, अकीक, कहरुवा, जहरमोहरा, संगयशब ये दस उपरत्न हैं। कुछ आचार्य काँच को भी उपरत्न मानते हैं।

आयुर्वेद में मुख्यत. कुछ रत्न, उपरत्न ही काम में आते हैं। इनमें हीरा, प्रवाल, मोती का उपयोग औषध रूप मे मिलता है। रत्नो के धारण करने का उल्लेख चरकसहिता में है। इनके धारण से होनेवाले प्रभाव को अचिन्त्य कहा है।

इनके सिवाय 'सुराष्ट्रजा' सौराष्ट्र की मिट्टी का भी उल्लेख प्राचीन काल से आयुर्वेद ग्रन्थो में मिलता है। यह क्या वस्तु है, इसे निश्चित रूप मे कहना कठिन है। सम्भवतः इसमें कुछ विशेषता थी, इसी से इसका उल्लेख हुआ है।

क्षार

क्षार से आजकल 'अलकली' लिया जाता है। परन्तु आयुर्वेद का क्षार अम्ल से भिन्न है। क्षार का उल्लेख चरकसंहिता में है। इसके अधिक सेवन का निषेध है। परन्तु सुश्रुत तथा रसग्रन्थो मे जिस क्षार का उपयोग है, वह सम्भवतः तीव्र क्षार होता था, जो जलाने या रस के शोधन में बरता जाता था।

क्षार बनाने की विधि—जिस वृक्ष से क्षार निकालना हो उसका पचांग लाकर उसको सुखाकर साफ की हुई लोहे की कड़ाही में जलाकर भस्म कर लें। फिर इसको मिट्टी के पात्र में डालकर छ: गुने जल के साथ हाथ से खूब मसलकर तथा पात्र को ढाँककर रात भर रहने दें। दूसरे दिन स्वच्छ जल को दूसरे पात्र में नियारकर इक्कीस

---

१ द्रव्यगुण विज्ञान, उत्तरार्ध-परिभाषा खण्ड (श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य) से उद्धृत। विस्तार के लिए लेखक का 'रसशास्त्र' देखें।

वार गाढ़े स्वच्छ वस्त्र से छान लें। छानते समय प्रति वार वस्त्र को धो लेना चाहिए। इस जल को मिट्टी के या भीतर से एनामल किये लोहे के पात्र में मदी आँच पर पकायें। पकाते समय जल को हिलाते रहे। जब जल सूख जाय तब पात्र को नीचे उतारकर ठंडा करें। ठंडा होने पर क्षार को खुरचकर निकालना चाहिए। इसे काँच की भरनी में मुख बन्द कर रख देना चाहिए। (द्रव्यगुणविज्ञान से)

यह क्षार शुद्ध अलकली होगा; यह निश्चित नही। 'क्षरणात् क्षार', क्षरण का अर्थ हिंसन है, यह कर्म जिसमें रहता है, वह क्षार है। सुश्रुत मे क्षारचिकित्सा अर्श आदि रोगो मे कही है। उसी दृष्टि से रस या धातुओ के शोधन-मारण मे क्षार का उपयोग है। क्षार का उपयोग अन्त.प्रयोग मे भी है; इसमे सर्जक्षार, यवक्षार, टकणक्षार, ये तीन ही प्राय' व्यवहार में आते हैं। बाह्य प्रयोग में तीव्र क्षार का उपयोग होता है। अप्टागसग्रह में तथा सुश्रुत में क्षार निर्माण तथा उनको रखने के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है।

बारहवाँ अध्याय

निघण्टु और भैषज्य कल्पना

औषधीय द्रव्यों की गुणविवेचना चरक-सुश्रुत काल से ही प्रचलित थी। उस समय मुख्यत. यह ज्ञान एक विशेष रूप मे था। इसका विभागीकरण भी एक नये क्रम से था। चरक सुश्रुत से प्राचीन है, इसलिए सुश्रुत मे यह क्रम सरल और विस्तृत है। उदाहरण के लिए—मास वर्ग मे कोशस्थ, पादिन , मत्स्य के दो भेद आदि विवेचना विस्तार से है। सहिता ग्रन्थो मे गुण-दोष की विवेचना मुख्यत अन्न-पानीय विषय तक ही सीमित रही है। औषध द्रव्यो के लिए कोई विशेष उल्लेख पृथक् रूप मे नही है। गुण-दृष्टि से वर्गीकरण हुआ है। इसलिए इस विषय मे विशेष स्पष्टीकरण नही है।

इसी प्रकार वस्तु के स्वरूपज्ञान का निर्देश केवल प्रत्यक्ष ज्ञान, आँख से देखकर या कान से सुनकर जानने के सिवाय और नही मिलता। इसलिए इस ज्ञान का विशेष विकास सहिताकाल में नही हुआ। चरक के महाकषायो और सुश्रुत के द्रव्यसग्रहणीय मे कहे गये गणो को वाग्भट ने अष्टागसग्रह मे बहुत ललित छन्द-रचना मे बदल दिया जिससे सुगमतापूर्वक याद हो सके। इससे आगे यह विषय नही बढ़ा। निघण्टु का प्रारम्भ अष्टागसग्रह से होता है। यह गुप्त काल था।

जिस प्रकार से एक ही शब्द के बहुत से अपभ्रंश थे अथवा एक ही वस्तु के लिए जिस प्रकार कई शब्द प्रयुक्त होते थे, उसी प्रकार से वैद्यक शास्त्र मे भी एक ही वस्तु स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न नामो से कही जाती है। चरकसहिता में प्राय अन्तर्वेद और हिमालय की वनस्पतियो का उल्लेख है। सुश्रुत में वनस्पतियो का ज्ञान थोडा अधिक मिलता है, सग्रह मे और भी अधिक हुआ। सग्रह के रसायन प्रकरण मे रसोन, पलाण्डु का गुण कथन छोडकर कई नये द्रव्यो का (यथा रनुकी, कुक्कटी आदि), नयी कल्पनाओ का (शिलाजतु का शिवागुटिका रूप से प्रयोग, कुष्ठ का रसायन रूप मे प्रयोग) उल्लेख मिलता है। परन्तु अधिक विस्तार नही है। स्वर्णादि धातुओ का गुण कथन, औषधियो का उल्लेख सूत्र अ १२ मे किया है। सुश्रुत मे भी स्वर्ण आदि का उल्लेख है। सग्रह मे इसी को विस्तृत किया गया है।

इस विषय में विशेष कार्य गुप्त काल में चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय बने अमरकोश म मिलता है। एक प्रकार से सबसे पहली बानगी निघण्टु के रूप मे इसी मे है। इसमे वनौषधि वर्ग के अन्दर औषधियो का समावेश हुआ है। इसके पीछे दूसरे निघण्टु बने है। अमरकोश का समय चौथी-पाँचवी शताब्दी का मध्य है।

निघण्टु का कोई निश्चित क्रम नही। चरक-सुश्रुत-सग्रह मे अन्न-पान सम्बन्धी एक क्रम है। चरक मे द्रव्यो का भेद तीन प्रकार से किया है, जागम, औद्भिद और पार्थिव। औषधियो का ज्ञान केवल नाम और रूप से ही जान लेना पर्याप्त नही, इनका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति एव रोग की अपेक्षा से जानना भी जरूरी है। जो वैद्य इनके रूप के साथ-साथ प्रयोग विधि को भी जानता है, वही तत्त्ववित् है (चरक सु अ १।१२०-१२५)। सुश्रुत ने द्रव्यां का उल्लेख गणो के रूप मे किया है, इसमे एक प्रकार का गुण करनेवाली औपधियां एक वर्ग में गिनकर समूह रूप में गुण कह दिया है। यह वर्गक्रम चरक सहिता मे भी महाकषायों के रूप मे है। इन कषायो में पाँच सौ के लगभग औषधियाँ हैं। कुछ औषधियाँ कई कषायो में बार-बार आती हैं। परन्तु जिस प्रकार एक व्यक्ति कई भिन्न-भिन्न कार्यों से भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेता है, उसी प्रकार एक ही औषध अनेक काम करती हुई कई गणो में गिनी गयी है। इसलिए औषधि के भिन्न-भिन्न कार्य तथा उसके भिन्न-भिन्न नामो का निघण्टु में उल्लेख है। यह नामो का सख्यान-पर्य्यायकथन सबसे प्रथम अमरकोश में क्रमबद्ध रूप में मिलता है।

निघण्टु क्रम से द्रव्यो का उल्लेख उपलब्ध निघटुओ मे सबसे प्रथम **धन्वन्तरीय निघण्टु** मे मिलता है। धन्वन्तरि आयुर्वेद के उपदेष्टा है, इसी से उनके नाम पर यह निघण्टु बनाया गया। इसमे मगलाचरण के रूप मे धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है, इसके सिवाय इस ग्रन्थ का धन्वन्तरि के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही।

वैद्यक निघण्टुओ में चक्रपाणिदत्त का बनाया '**द्रव्यगुणसंग्रह**' सबसे प्राचीन है। चरक-सुश्रुत की भाँति इसमे धान्यवर्ग, मासवर्ग, शाकवर्ग, लवणादि वर्ग, फलवर्ग, जल वर्ग, क्षीर वर्ग, तैल वर्ग, इक्षुविकृति वर्ग, मद्य वर्ग, कृतान्न वर्ग, आहार-विधि वर्ग और अनुपान वर्ग का उल्लेख है। औषधि द्रव्यो का वर्णन नही है।[1] चक्रपाणिदत्त के द्रव्यगुणसग्रह की टीका शिवदास सेन ने की है, जो कि बहुत प्राञ्जल, विद्वत्तापूर्ण है।

---

१ आहार द्रव्य और औषध द्रव्य में भेद—"वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यं तथा रस-प्रधानमाहारद्रव्यम्।"—चक्रपाणि

द्रव्य-गुणसंग्रह नित्य प्रति काम में आनेवाले आहार द्रव्यों तक ही सीमित है। रोगी प्राय: चिकित्सक से आहार-विहार सबधी जानकारी चाहता है, उसमें सहायता करने के लिए यह ग्रन्थ बनाया गया जिससे सुगमता से द्रव्यो के गुण स्मरण रहें। चक्रदत्त का द्रव्यगुणसग्रह अधिकत. सुश्रुत सहिता का अनुकरण करता है।

धन्वन्तरिनिघण्टु के कर्त्ता को भी चरक-सुश्रुत की स्फूर्ति थी। दोनो में से गुणो का आधा या सम्पूर्ण श्लोक लेकर धन्वन्तरिनिघण्टु मे उद्धृत किया गया है। इसका वर्गीकरण दोनो से भिन्न है। उदाहरण के लिए सुश्रुत और चरक में अनार को फलवर्ग में लिखा है, चक्रपाणि ने भी इसको फलवर्ग में ही गिना है। परन्तु धन्वन्तरिनिघण्टु में अनार को आम्रादि फलवर्ग में न लिखकर शतपुष्पादि वर्ग में लिखा है। इसी प्रकार केला को करवीरादि वर्ग मे लिखा है। इन विशेषताओ के कारण धन्वन्तरिनिघण्टु चक्रदत्त के पीछे बना हो, ऐसी कल्पना की जाती है। इसका समय लगभग बारहवीं शती होगा।

धन्वन्तरिनिघण्टु के प्रकरणों को द्रव्यावलि (द्रव्यों की पक्ति) कहा गया है, इसमें गुडूच्यादि, शतपुष्पादि, चन्दनादि, करवीरादि, आम्रादि और सुवर्णादि छ: वर्गों में ३७३ द्रव्यो का उल्लेख किया है। परन्तु प्रतियो में पाठभेद है, इसलिए इस संख्या में भी भेद है। कही-कही पर ३७० औषधियो का उल्लेख है।[१]

आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित धन्वन्तरिनिघण्टु में मिश्रकादि वर्ग है, जो सम्भवत: पीछे से जोडा गया प्रतीत होता है। इस निघण्टु मे पहले गुडूच्यादि वर्ग की औषधियाँ हैं। इस वर्णन में सुश्रुत-वाग्भट की गुण-वर्णनपद्धति की झलक मिलती है। औषधियो के पर्याय दिये है, गुण सक्षेप में कहे है; यही इस निघटु की विशेषता है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपने ग्रन्थ का स्वय परिचय देते हुए कहा है—

> अनेकदेशान्तरभाषितेषु सर्वेष्वथ प्रा .तसंस्कृतषु।
> गूढेष्वगूढेषु च नास्ति संख्या द्रव्याभिधानेषु तथौषधीषु।
> एकं तु नाम प्रथितं बहूनामेकस्य नामानि तथा बहूनि।
> द्रव्यस्य जात्याकृतिवर्णवीर्यरसप्रभावादिगुणैर्भवन्ति॥
> नाम श्रुतं केनचिदेकमेव तेनैव जानाति स भेषजं तु।

---

१. द्रव्यावलिः समादिष्टा धन्वन्तरिमुखोद्गता॥
शतत्रयं च द्रव्याणां त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम्।
हिताय वैद्यविदुषां द्रव्यावल्यां प्रकाशितम्॥

अन्यस्तथाऽन्येन तु वेत्ति नाम्ना तदेव चान्योऽथ परेण कश्चित् ॥
द्रव्यावलिं विना वैद्यास्ते वैद्या हास्यभाजनम् ।
द्रव्यावल्यभिधानानां तृतीयमपि लोचनम् ॥

औषधियो का ठीक ज्ञान वनेचरो से होता है, ज्ञान के लिए उनके प्राकृत शब्दों को लेने में दोष नही है।[1]

पर्यायरत्नमाला अथवा रत्नमाला—इसके लेखक माधवकर हैं। इसका एक उत्तम संस्करण १९४६ में डा० तारापद चौधरी द्वारा 'पटना विश्वविद्यालय पत्रिका' (भाग २) में प्रकाशित हुआ है। पर्यायरत्नमाला या रत्नमाला का उल्लेख सर्वानन्द वन्द्यघातीय (११५९ ई०) ने अमरकोश की टीका में किया है। इसके लेखक एव टीकाकार दोनों का उल्लेख मेदिनी कोश (१३०० ई०), रायमुकुट (१४३० ई०) और भानुजी दीक्षित (१६५० ई०) ने किया है। रत्नमाला के लेखक माधवकर इन्दुकर के पुत्र हैं, जो कि प्रसिद्ध ग्रन्थ रुग्विनिश्चय (निदान) के लेखक हैं। इनकी जन्मभूमि शिलाह्रद है।[2]

सिद्धयोग के लेखक वृन्द ने 'रुग्विनिश्चय' के रोगक्रम को स्वीकार किया है। इस सिद्धयोग का उल्लेख चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त में किया है। चक्रपाणिदत्त का समय १०४० ईसवी है। माधव ने बहुत से वचन वाग्भट से उद्धृत किये हैं। कविराज श्री गणनाथ सेन ने 'प्रत्यक्षशारीरम्' के उपोद्घात में लिखा है कि आठवीं शती में हारून्

---

१. [illegible]तापसाश्च वनेचरास्तः [illegible]शालास्तथाऽन्ये ।
विदन्ति नानाविधभेषजानां प्रमाणवर्णा[illegible]जातीः ॥
प्रायो जनाः सन्ति वनेचरास्ते गोपादयः प्राकृतनामसंज्ञाः ।
प्रयोजनार्था वचनप्रवृत्तिर्यस्माततः [illegible]तमित्यवाचः ॥
गोपालस्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः ।
मूलजाताश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥

२. पर्यायमुक्तावली की भूमिका में—"पूर्वलोकहिताय माधवकराभिख्यो भिषक् केवलं कोषान्वेषणतत्परः प्रवर्तितायुर्वेदरत्नाकरात् मालां रत्नमयीं चकार.....।
मेदिनी में—हारावल्यभिधानं त्रिकाण्डशेषञ्च रत्नमाला[illegible] —३ श्लोक; वाग्भट-माध[illegible]डतारपालाख्यान्—४था श्लोक।
भिषजा माधवेनैषा शिलाह्रदनिवासिना ।
यत्नेन रचिता रत्नमालेन्दुकरसूनुना ॥

उल रसीद के समय निदान का पारसी भाषा में अनुवाद हुआ था। इसलिए माधव का समय सातवी शती या इसके कुछ पीछे होना चाहिए। जौली ने माधव का समय आठवी या नवी शती माना है।

'रत्नमाला' एक निघंटु है, जिसमें औषधियो के पर्याय दिये है। इसके अतिरिक्त मान, परिभाषा-शब्दो की व्याख्या भी इसमें दी है। इस निघंटु मे अपना नया क्रम स्वीकार किया है; १३ से २१६ तक पर्याय श्लोको में हैं, २१७ से ५७८ तक अर्ध श्लोको में, ५८० से १४२४ तक पदो में, १४२५-१४७२ तक पदार्थ मे नाम कहे है। १४७४ से १६४१ तक शब्द तीन प्रकार से कहे हैं; १—जिनमें 'अपि' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसमें एक अर्थ है (१४७४-१५०४ तक); २—एक शब्द जिसके दो अर्थ होते है (१५०५–१५८६ तक); ३—वे शब्द जिसके बहुत अर्थ होते हैं (१५८७–१६४१ तक)। सबसे अन्त में परिभाषा और मान दिया गया है (१६४२–१७५४)।

रत्नमाला की रचना बहुत सक्षिप्त, सूत्र रूप की है। पुस्तक में सर्वत्र अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, इसलिए सरल है। पादशब्दावली मे सम्पूर्ण पर्याय आ जाते है।

निघण्टुक्रम—इस समय प्राप्त होनेवाले निघटु बहुत थोडे है, इनमे मुख्य ये हैं—(१) धन्वन्तरीय निघटु—इसे क्षीरस्वामी ने अमरकोश से प्राचीन माना है, मख ने इसका उपयोग किया है (११५० में), (२) पर्यायरत्नमाला (७०० ईसवी); (३) चक्रपाणि दत्त की शब्दचन्द्रिका (१०४० ई०), (४) सूरेश्वर या सूरपाल का शब्दप्रदीप; (५) हेमचन्द्र का निघंटु शेष (१०८८-११७२); (५) मल्लिनाथ की अभिधानरत्नमाला या सदृश निघटु, (७) मदनपाल का मदनविनोद (१३७४ ई०); (८) नरहरि का राजनिघटु (१४०० ई०); (९) शिवदत्त का शिव-प्रकाश (१६७७); (१०) कैयदेव का पथ्यापथ्यविबोधक (१७१० में पाण्डुलिपि मिली); (११) हेमचन्द्र सेन की पर्यायमुक्तावली; (१२) वैंकटेश्वर का दक्षिणा-मूर्त्ति निघंटु; (१३) द्रव्यमुक्तावली; (१४) नीलकण्ठ मिश्र का पर्यायार्णव। पिछले चार की तिथि ज्ञात नही। १, ७, ८, १० और १३ म नामो के साथ चिकित्सा सम्बन्धी गुण भी कहे हैं। धन्वन्तरीय निघटु को छोड़कर शेष सबमे रत्नमाला प्राचीन है।

शोढल का निघंटु—धन्वन्तरिनिघटु के बाद यह महत्त्वपूर्ण निघटु है। वैद्य शोढल का समय बारहवी शताब्दी है। इसने धन्वन्तरिनिघंटु का अनुकरण किया है। इसने विस्तार से लिखा है और वनस्पतियों की पहचान भी बतलायी है।

उदाहरण के लिए वैद्य रुगनाथजी इन्द्रजी ने लिखा है कि धन्वन्तरिनिघटु में यास एक ही लिखा है, परन्तु शोढल ने दो यास लिखे हैं; एक दुरालभा और दूसरा जवासा। इसी प्रकार खदिर दो लिखे हैं; एक खदिर और दूसरा विट्खदिर (एक प्रकार का खैर जिसकी लकडी में से बदबू आती है, जलाने पर भी इस लड़की में से विशेष प्रकार की गन्ध आती है—हरिद्वार के पास जगल में मिलता है)। नीम भी दो लिखे हैं, एक सामान्य नीम और दूसरा बकायन।

सिद्धमंत्र—यह वैद्यवर केशव का बनाया हुआ ग्रन्थ है, जो कि बम्बई से १९६५ विक्रमी में श्री मुरारजी वैद्य ने प्रकाशित किया था। इसका क्रम सब निघटुओ से भिन्न है। इसमें 'वातघ्न, वातघ्न पित्तल, वातघ्न श्लेष्मल' आदि सत्तावन गुणभेद बताकर इनमें से प्रत्येक के द्रव्यो का उल्लेख इनके वर्गों में किया है। चरक में एक द्रव्य को वातल कहा हो और सुश्रुत में उसे वातघ्न कहा हो तो उसका निर्णय इस ग्रन्थ के अनुसार करना चाहिए—ऐसा लेखक का कहना है। यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। ग्रन्थ के ऊपर ग्रन्थकर्त्ता के पुत्र बोपदेव की टीका है। ग्रन्थकर्त्ता देवगिरि के यादव राजा महादेव और रामचन्द्र के मत्री हेमाद्रि की राजसभा का पण्डित था, इसलिए इसका समय १२७१ से १३०९ ईसवी है। केशव के पुत्र बोपदेव ने सौ श्लोको का चन्द्रकला नामक वैद्यक ग्रन्थ भी लिखा है, यह गुजराती लिपि में छप चुका है (आयुर्वेद का इतिहास, —श्री दुर्गाशकर भाई)।

मदनविनोद निघंटु—डाक्टर भण्डारकर ने मदनपाल के मदनविनोद निघटु के लिए १४वी शती (१३७५ ई०) में बनने का अनुमान किया है। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र और प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ इस निघण्टु के कर्त्ता मदनपाल को कन्नौज के गहडवार वंश का राजा मानते हैं (१०९८ से ११०९ ई० तक)। कन्नौज में गहडवार वंश का राज्य ११०० से ११९४ ई० तक रहा। चन्द्र गहड़वार का पोता गोविन्दचन्द्र (१११४ से ११५४ ई०), इसका पुत्र विजयचन्द्र और विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र हुआ। जयचन्द्र ११९४ मे महमूद के साथ युद्ध करते समय मारा गया था (इतिहासप्रवेश)। इसलिए इस पर विश्वास नही किया जा सकता। मदनपाल के पूर्वजो के नाम कन्नौज के मदनपाल के नामो से भिन्न हैं। निघटुकार ने लिखा है कि मदनपाल काच्छ का राजा था, काच्छ प्रदेश यमुना के किनारे, दिल्ली के उत्तर में था। काच्छ के टक्क वश के राजाओ में मदनपाल के कथनानुसार पहले रत्नपाल हुआ, फिर भरणपाल, हरिश्चन्द्र, साधारण, सहजपाल और उसका भाई मदनपाल हुआ। (मिश्रक वर्ग १३।९२–९९)

मदनपाल निघंटु की रचना धन्वन्तरि निघंटु से मिलती है, इसमें द्रव्यो की संख्या अधिक है। अन्तिम मिश्रकाध्याय में दिनचर्या और ऋतुचर्या भी कही है। कृतान्न-वर्ग का भी उल्लेख है। मदनपाल ने अनेको निघंटु देखे थे, इसी से कहा है—

केचित्सन्ति निघण्टवोऽतिलघवः केचिन्महान्तः परे
केचिद् [illegible]कः कतिपये भावाः स्वभावोज्झिताः।
तस्मान्नातिलघुर्न चातिविपुलः ख्यातामिनामा सतां
प्रीत्यै द्रव्यगुणान्वितोऽयमधुना ग्रन्थो मया रच्यते॥

मदनपाल कृष्णभक्त थे। प्रत्येक वर्ग के प्रारम्भ में मधुर पदो में कृष्ण की स्तुति की गयी है—

मृद् भक्षितानेन रुषेति वक्त्रे प्रसारिते वीक्ष्य ततो जगन्ति।
सविस्मयं सादरमीक्ष्यमाणं यशोदया नन्दसुतं नमामि॥
गोपालबालैः सह मल्लविद्याविनोदवक्षं धृतकाकपक्षम्।
उपास्महे वाङ्मनसातिदूरं महः परं नीलमचिन्तनीयम्॥

निघटु का महत्त्व—अनामविन्मोहमुपैति वैद्यो न वेत्ति पश्यन्नपि भेषजानि।
क्रियाक्रमो भेषजमूलमेव तद् भेषजं चापि निघण्टुमूलम्॥
(धन्वन्तरिनिघंटु के प्रारम्भ के वचन)

राजनिघंटु या अभिधानचिन्तामणि—इसके कर्त्ता नरहरि ने अपने को स्वतः कश्मीर देशवासी कहा है (काश्मीरेण कपर्दिपादकमलद्वन्द्वार्चनोपार्जितः)। नरहरि अमृतेशानन्द के शिष्य और शिवभक्त थे। ग्रन्थकर्ता ने स्वयं कहा है कि धन्वन्तरि, मदन, हलायुध, विश्वप्रकाश, अमरकोश आदि कोशो को देखकर यह निघटुराज बनाया है—

धन्वन्तरीयमदनादिहलायुधादीन् विश्वप्रकाशामरकोशराजौ।
आलोच्य लोकविदितांश्च विचिन्त्य शब्दान्द्रव्याभिधानगुणसंग्रह एष सृष्टः॥

हलायुध का समय ११वी शताब्दी है, विश्वप्रकाश १२वी और मदनपाल १४वी शती में बने है। इसलिए राजनिघटु १५वी शती से पहले नही बना होगा।

ग्रन्थकर्ता ने यद्यपि सब कोशो को देखा है, तथापि मुख्यत धन्वन्तरिनिघटु का अनुसरण किया है, दोनो के पाठ बहुत मिलते है।

राजनिघंटु मे पहले निघटु की अपेक्षा द्रव्यो की सख्या अधिक है। वर्ग भी अधिक हैं; कुल २३ वर्ग है। इनमें पण्यवर्ग (बाजार में बिकनेवाले द्रव्यो का वर्ग), अनेकार्थ नाम वर्ग, रोगनामो का अर्थ आदि वैद्यो के लिए उपयोगी बहुत-से वर्ग है। परन्तु यह

सब नियमित नहीं; वनस्पतियों के नामों की अधिकता होने से इनके निर्णय में कठिनाई होती है। सम्भवतः इस विषय में ग्रन्थकर्ता की रचनाशैली कारण है—जिसमें कर्नाटकी, महाराष्ट्री भाषा में प्रचलित नाम भी इसमें आ गये हैं। ये नाम संभवतः सुनकर या पूछकर लिखे गये हैं, क्योंकि लेखक स्वतः कश्मीर का था—

> अप्रसिद्धाभिधं यात्र यदौषधमुदीरितम् ।
> तस्याभिधाविवेकः स्यादेकार्थाद्विनिर्णयैः ॥
> व्यक्तीकृताऽत्र कार्णाटकमहाराष्ट्र[illegible] ।
> आन्ध्रलाटादिभाषास्तु ज्ञातव्यास्तद्बुधाश्रयाः ॥

राजवल्लभ—राजवल्लभकृत द्रव्यगुणसग्रह है। प्रभातादि आह्निक कृत्यों की चर्चा इसके पाँच अध्यायों में कही गयी है। छठे अध्याय में औषधगुण अतिशय संक्षिप्त और स्थूल रूप में बतलाये हैं। इसके पठन से विशेष लाभ नहीं। वनौषधिदर्पणकार श्री विरजाचरण गुप्त की मान्यता है कि राजवल्लभ राढ देश का निवासी था (अर्थात् बगाली, क्योंकि इस कृति में मछलियो के भेद लिखे गये हैं)। मांस, विशेषतः मछली खाने का रिवाज कान्यकुब्जो में भी है, वे भी इस भेद को जानते हैं। नाम भी कान्य-कुब्जो-जैसा है, इसलिए इनका पूर्वी उत्तर प्रदेश में भी होना सम्भव है। बगालियो के विचार में यह एक धारणा मिलती है कि वे प्रत्येक अच्छे वैद्य की कृति को और उस वैद्य को अपने देश का सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भावप्रकाशान्तर्गत द्रव्यगुणसंग्रह—भावप्रकाश में वर्णित द्रव्यगुणसग्रह चिकित्सा-दृष्टि से विशेष महत्त्व का न होने पर भी उसी का पठन-पाठन अधिक प्रचलित है। इसका कारण आज की शिक्षा है, जो पाठ्यक्रम में एक बार चढ़ गया वही आगे गतानु-गतिक प्रथा से चलता है। इसमें कुछ नयी औषधियो का भी समावेश है (यथा चोप-चीनी)। भावप्रकाश के समय इस देश में रसचिकित्सा का प्रचार हो गया था। इसी लिए रससिन्दूर, हिंगुल, रसकर्पूर आदि योग, फिटकरी, नवसार, खर्पर, मन:-शिला आदि का शोधन विधिपूर्वक लिखा है। राजनिघटु की अपेक्षा यह उपादेय है।

भावप्रकाश मे द्रव्यो का वर्गीकरण विशेष प्रकार से किया है। इस वर्गीकरण का क्या आधार है, इसका कुछ भी पता नही। भाव मिश्र सोलहवी शती में हुए हैं।

शिवकोश—इसके रचयिता तथा इसकी व्याख्या करनेवाले शिवदत्त मिश्र ही हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वय इसे लिखकर इसकी व्याख्या की है। शिवदत्त के पिता का नाम चतुर्भुज था। इनका सम्बन्ध कर्पूर वश से था। शिवदत्त के विषय में बहुत कम जान

कारी है।[1] प्रो० गोडे ने इनका समय १६२५ से १७०० ई० के लगभग माना है, ये भट्टोजी दीक्षित के बाद के है। कर्पूर वश, जिसका कि शिवदत्त से सम्बन्ध है, वह आयुर्वेदिक चिकित्सको का वश था। शिवदत्त ने आयुर्वेद अपने पिता से सीखा था। चतुर्भुज का नाम रसकल्पधर्म तथा रसहृदय तन्त्र की व्याख्या से सम्बद्ध है। शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने भी त्रिमल्ल लिखित द्रव्यगुण शतश्लोकी की व्याख्या की थी। शिवदत्त ने अपनी व्याख्या मे लगभग १०७ पुस्तको का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि यह अच्छा विद्वान् था। लगभग १२ ग्र थकर्त्ताओं का नाम लिया है। यह केवल वैद्य ही नही था, अपितु सस्कृत साहित्य का भी विद्वान् था, स्थान-स्थान पर कालिदास, भवभूति एवं दूसरे कवियो के उद्धरण दिये गये हैं। प्रोफेसर गोडे ने शिवदत्त को भी बनारस के उन पण्डितो की सूची में गिना है जिन्होंने शाहजहाँ से तीर्थयात्रा-कर मुक्त करने की प्रार्थना की थी। इससे स्पष्ट है कि इस समय वह बनारस मे रहता था।

शिवकोश की रचना लेखक ने नये क्रम से की है, यह क्रम हेमचन्द्र ने अपनाया था। साथ ही निघटुओ के पूर्व-प्रचलित वर्गों का उल्लेख नही किया। इसको अकारादि क्रम के साथ मुख्य शब्दो के भाषा सम्बन्धी विचार से लिखा गया था—

त्रिष्विति पदं त्रिलिङ्ग्यां मिथुने तु पदं द्वयोरिदं बोध्यम्।
शेषे निषिद्धलिङ्गं त्वन्ताथादीनपूर्वकं भजतः ॥३॥
नानार्थः प्रथमान्तोऽत्र सर्वत्रादौ प्रकीर्त्तितः।
सप्तम्यन्ताभिधेयेषु वर्त्तमानः सुनिश्चितः ॥४॥
प्राङ्नानार्थान्न तल्लिङ्गं द्वयोर्द्वन्द्वेन चैकता।
शब्दावृत्तिर्न लिङ्गैक्ये सप्तमी न विशेषणे ॥५॥
लिङ्गं रूपादपि व्यक्तं लिपिभ्रांतिच्छिदं क्वचित्।
स्त्रियां नपुंसके पुंसीत्याद्यैः पुनरिहोच्यते ॥६॥
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्वर्णानुक्रमात्कृतः।
[illegible]काद्यन्तवर्गैर्नानार्थसंग्रहः ॥७॥

शिवकोश वृक्ष, वनस्पति, लता-गुल्म आदि तक ही सीमित है, इसमे भी जो वस्तुएँ चिकित्सा में काम आती है, उन्ही को लिखा है। इसमे २८६० मुख्य वनस्पतियाँ हैं और लगभग ४८६० शब्द इनका अर्थ स्पष्ट करने के लिए आये हैं। इस दृष्टि से यह

---

१ शिवकोश १९५२ में पूना से प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर गोडे ने 'कर्पूरीय शिवदत्त और इसका आयुर्वेदीय कार्य सम्बन्धी लेख' पूना की 'प्राच्यविद्या पत्रिका', भाग ७, नम्बर १-२, पृष्ठ ६६-७० में लिखा है। यह जानकारी उसी से ली गयी है।

धन्वन्तरीय और राजनिघण्टु दोनो से अधिक विस्तृत है। पक्षियों, पशुओ, मच्छर आदि (Insects) पतगो, सरीसृपो का भी उल्लेख इसमें हुआ है। ऋतु के अनुसार भी कई वनस्पतियो के नाम मिलते हैं, यथा वार्षिकी, वासन्ती, ग्रैष्मिकी, वर्षाभू, शारद, शिशिर। जीवन से सम्बन्धित नामो में—जाति-वर्ण के नाम पर भी वनस्पतियो का उल्लेख है, यथा ब्राह्मणी, भिक्षुक, ब्रह्मचारिणी, तपस्विनी, वानप्रस्थ, प्रव्रजिता आदि। राजा एव राजसभा के नाम पर नृप, राजपत्नी, राजादन, प्रजाहित, लेख्यपत्र, राष्ट्रीक, वीर आदि, समाज के नामो पर नट, कुटन्नट, नर्त्तक, नर्त्तकी, नृत्यकुण्डा, वारुणी, सुरा, कामुक, ताम्बूल, धूर्त्त, कितव आदि; धार्मिक मान्यताओ के ऊपर रक्षोघ्न, भूतकेशी, भूतवृक्ष आदि।

कर्त्ता की व्याख्या कोश की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। व्याख्या में दूसरे वचनो का उल्लेख करके अपने वचन को पूर्णत पुष्ट किया गया है।

शिवकोश मे इस बात की भी जानकारी है कि कुछ औषधियाँ कहाँ से आती थीं, इसे स्वतत्र रूप में या उद्धरणो से स्पष्ट किया है। हिमालय वनस्पतियो की प्राप्ति का मुख्य साधन जरूर रहा, परन्तु पीछे भारत के कोने-कोने से तथा बाहर से भी वनस्पतियाँ आती थी, उदाहरण के लिए—

देश का नाम	वस्तु का नाम
अवति	अवन्तिसोम, धान्याम्ल
अनूप (हैहेय, माहिष्मती)	अर्जुन, पार्थ
असुरदेश (असूर्या)	असुरलवण, असुरी
उत्तरापथ (कश्मीर-नेपाल)	नालिका, नति, विद्रुमलता
कलिग (उडीसा)	लागल, कुटज, राजकर्कटी
कामरूप	अम्लिकाकन्द
कश्मीर	श्रीपर्णी गम्भारी, कट्फल, हीरा, अतिविषा, पुष्करमूल, कुकुम, कुष्ठ,
कुरु	कुरुविन्द, हिंगुल, काच लवण
कुरुक्षेत्र	विदारी-शृगालिका
[illegible] (द[illegible] विन्ध्याचल [illegible] घाटीतक)	स्वर्णमाक्षिक
कोकण (दमन से गोवा तक)	अर्जुन-श्वेतवाही
क्षीराब्धि (अरब समुद्र और फारस की खाडी)	गन्धक-लेलीतक समुद्र लवण

देश का नाम	वस्तु का नाम
गंगाघाटी	गाङ्गी
पर्वतीय श्रेणी (गिरिराज)	टिटुक, अरलु, धातु—स्वर्ण-रौप्य आदि
गुर्जर	मेषशृंगी
गौड (बंगाल)	रक्तवास्तुक, वाणपुष्प
चीन	कृतकर्पूर, चीनक (चीना धान्य), दालचीनी, शीतल चीनी
ताप्ती तीर	स्वर्णमाक्षिक, मधुमाक्षिक
तार्क्ष्य शैल (त्रिककुद पर्वत)	शिलापुष्प
तुरुष्क (पूर्वी तुर्की)	सिल्ह (पिण्डित), मुखमण्डनिका
दरद (दरदिस्तान)	पारद, हिंगुल
दाक्षिणात्य	स्पृक्का, मलयावती, लज्जा
द्रविड (तामिल)	सूक्ष्मैला, कर्चूर
नेपाल	ताम्र, मन शिला, निवारी
यवनदेश-शकदेश (मध्य एशिया का तुर्की स्थान)	सरल, बोल, कुन्दरू श्रीवास
पर्शिया (ईरान)	यवानी, हिंगु
पश्चिमार्णव	तुवरक
पाश्चात्य	गन्धमार्जारी, अम्बष्ठा, विषाणिका
प्राच्य	निशा, आर्द्रक
बर्बर (अनार्य प्रदेश)	कवरी, भार्गी, तैलपर्णी
बल्ख (बैक्ट्रीया-काबुल-खुरासान-बुखारा)	कुंकुम, हींग (रामठ)
भोट (तिब्बत)	ताम्बूलवल्ली, पीपलमूल, वराही
मरु (मारवाड)	बला, महाबला, सहदेवी
मरुकन्दिशिका (संभवत मरुकन्दर)	टंकण (धातुद्रव), क्षार
मलय (दक्षिण भारत)	चन्दन
म्लेच्छ (मुस्लिम देश, भारत के बाहर)	पलाण्डु, रसोन, मुख—मण्डन, स्वर्णमाक्षिक, गोधूमक, मरिच

देश का नाम	वस्तु का नाम
यवन	ऊपर कही वस्तुएँ
वृन्दावन	वीरतरु, मधुस्रव
विन्ध्य	पाषाणभेद
वृन्दारण्य या वृन्दावन	शेफाली, वरुण
विदेह (तिरहुत और मिथिला)	मागधी, पिप्पली, सोंठ
शकस्थान (कैस्पियन समुद्र के उत्तर में)	श्रीवास, तगर, नख
साबरदेश (विन्ध्य पर्वत का क्षेत्र)	अक्षिभैषज्य, वाराही कन्द
शाकम्भरी देश (साम्भर)	रोमक-शाकम्भरी लवण
शूकरक्षेत्र या वराहक्षेत्र (बुलन्दशहर के पास)	वराही कन्द
श्वेत द्वीप (सम्भवतः आरमेनिया)	गन्धक
सर्वदेश	त्रपुस (आठ प्रकार का खरबूजा)
सौराष्ट्र (काठियावाड)	ताम्बूलवल्ली, तुवरी, सुजाता—हेम-शोधनी, पांशुक्षार
हिमालय क्षेत्र—	जम्बीरकन्द, आम्रात, ककुष्ठ, शिलाजतु, हेमक्षीरी, मुरा

वैदिक निघंटु—वेद में २६० वनस्पतियों का उल्लेख है; इसमें १३० वनस्पतियो का तो आयुर्वेद की वनस्पतियो के नाम से पूर्ण समन्वय है। आयुर्वेद में वर्णित ये ही वनस्पतियाँ है। सुश्रुत में वनस्पतियों की सख्या ३८५ है। चरक में कहने के लिए ५०० हैं परन्तु गणना में ये कुछ कम हैं। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में वनस्पतियो की सख्या ३३० है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र वेद और साहित्यिक आयुर्वेद की कडी है। हार्नले ने बाबर पाण्डुलिपि में वनस्पति सख्या ४०० कही है, डाक्टर फिलोजैट ने 'फ्रैकमन्ड डी टैक्सट कोटूचीन' में वनस्पतियो की सख्या १५० लिखी है। पर्यायो को छोडकर धन्वन्तरीय निघटु में ३२४ आयुर्वेदिक वनस्पतियो का उल्लेख है। आयुर्वेदिक द्रव्यगुण में काम करनेवाली प्राथमिक वनस्पतियो की गणना ६६६ से अधिक नहीं।

वेद में वृक्ष और वनस्पति सम्बन्धी पर्याप्त शब्द आते है; उदाहरण के लिए—वृक्ष-वनस्पति सात श्रेणियो में विभक्त हैं; १. प्रस्तरणी—फैलनेवाली, २ स्तम्भिनी, ३. एकशुगी, ४. प्रतानवती, ५. अंशुमती, ६. काण्डिनी, ७. विशाखा; जिसकी शाखा न हो। इनका और भी विभाग किया है, यथा—फलिनी, अफला, अपुष्पा,

पुष्पिनी, प्रसूवरी। वृक्ष के विभिन्न अगो के नाम है—मूल, तूल, काण्ड, पुष्प, फल, त्वक्, वल्कल, तुष, निर्यास आदि। वीरुध, ओषधि, वनस्पति और वृक्ष मे भेद किया गया है। सक्षेप मे ऋग्वेद के ओषधिसूक्त (१०।९७) मे वनस्पतियो की उत्पत्ति, कार्य और चिकित्सा मे उपयोग का उल्लेख मिल जाता है।[1]

वेदो मे आहार द्रव्यो के नाम, अन्नो के नाम, घास, वृक्ष, खाने योग्य वस्तु, नरसर (Reeds) के भेद और नामो का उल्लेख मिलता है।[2]

वैदिक वनस्पति नामों की असीरियन नामों से तुलना—विद्वान् आर कैम्पबेल टामसन ने अपनी पुस्तक डिक्शनरी ऑव् असेरियन बौटनी (१९४९) मे २५० वनस्पतियो का उल्लेख किया है। इनमें से लगभग एक दर्जन नाम सस्कृत नामो से मिलते है। असीरिया मे चिकित्सा पद्धति बहुत प्राचीन (३००० वर्ष ईसा पूर्व की) है, कम से कम ईसा से ७ वी शताब्दी पूर्व इसकी अन्तिम सीमा हो सकती है। असीरिया का राजा असुरबनीपाल (६८१ से ६६८ ई० पूर्व) था। इसका जो पुस्तकालय खुदाई मे प्राप्त हुआ था उसमे २२,००० मिट्टी की प्लेटे थी। इसमे अधिक पुस्तकें चिकित्सा से सम्बन्धित है, जो कि प्राचीन पुस्तको से अनूदित थी। इनमें लगभग २५० में से ८० नाम वृक्षो के ऐसे थे, जो कि भारतीय वृक्षो के नामो से मिलते थे। उदाहरण के लिए अलाबु (अथर्व ८ १०।२९-३०; मैत्रेय सहिता का अलापु ४।२।१३) शब्द असीरियन में अलापु है। इसी प्रकार असीरियन का रूबु या रूबुक है, जो कि सस्कृत नाम एरण्ड से मिलता है, जिसके लिए 'वर्धमान' पर्याय है। रूबु का अर्थ ही बढना है (एरण्ड का नाम सस्कृत में रूबु है)। इसी प्रकार का एक नाम कुस्तुम्बुरू (धनिया) है। सुमेरियन भाषा मे बुरू का अर्थ वृक्ष है, कुम्तु का अर्थ अन्न है, इसलिए कुस्तुम्बुरू का अर्थ अनाज का वृक्ष है, (तुलना कीजिए धाना या धान्यक सस्कृत नाम से, मराठी में कोथमरी)। सुमेरियन का सामकुगु या सामगगु सस्कृत का कगू है। सुमेरियन में केले के लिए कलबी; सस्कृत मे कदली, आज्ञा घास की जड के लिए नरद; सस्कृत में नरद या नलद, सुमेरियन का सिन्दु, जो कि मकान में लकडी के काम में आता था; सस्कृत का स्यन्दन तरु है, सलिया सुमेरियन शब्द सस्कृत के शालि (चावल) शब्द से मिलता है। सुमेरियन का ट्री और सस्कृत का तरु प्राय एक ही है। सुमेरियन का अनिमेद सस्कृत

---

१. **इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य—डाक्टर फिलोजत** (Dr. Fillizat) का La Doctrine-classique–पृष्ठ १०९.

२. **शिवकोश की भूमिका इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है।**

का डरिमेद है। सुमेरियन और सस्कृत मे नीम एक ही है। सुमेरियन गव्वर सस्कृत में कर्पूर है।[1]

जौली ने सस्कृत नाम पिप्पली, पिप्पलीमूल, कुष्ठ, शृगवेर, कर्दम, त्वक्, वच, गुग्गुल, मुस्तक, तिल, शर्करा का ग्रीक अनुवाद देखकर, भारतीय द्रव्यगुण का मूल विकास ईसा की पहली शताब्दी में माना है (इन्डियन मेडिसिन-पृष्ठ २७-२८ केसीकर का अनुवाद)।

कैयदेवनिघंटु—यह निघटु लाहौर से प्रकाशित हुआ था, इसका विशेष प्रचार नही। इसको 'पथ्यापथ्य ग्रन्थ' भी कहते है।

इसके अतिरिक्त चन्द्रनन्दन-कृत गणनिघटु, शेषराजनिघटु, मुद्गल-कृत द्रव्यरत्नाकरनिघटु, विश्वनाथ सेन कृत पथ्यापथ्यनिघटु, त्रिमल्लभट्ट कृत द्रव्यगुणशतश्लोकी आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

राजनिघटु के पश्चात् प्रसिद्ध बडा निघटु भावप्रकाश ही है। इसके बाद १६८१ ई० (शक १६०३) मे अहमदनगर-निवासी माणिक्य भट्ट के पुत्र वैद्य मोरेश्वर का बनाया वैद्यामृत तथा काशी के वैद्य बलराम का लिखा आतकतिमिरभास्कर ग्रन्थ हैं। आतकतिमिरभास्कर पिछले सौ वर्ष का बना हुआ होने से आधुनिक है।

क्षेमकुतूहल—वैद्यवर श्री क्षेम शर्मा का बनाया हुआ है, बम्बई से श्री यादवजी त्रिकमजी ने आयुर्वेद ग्रन्थमाला में इसे प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ १६०५ विक्रमी सवत् में प्रकट हुआ है, ऐसा ग्रन्थकर्त्ता नें स्वय अन्त में कहा है।

इस ग्रन्थ में कुल बारह अध्याय (उत्सव) हैं। इन उत्सवों में द्रव्यपाक की परिभाषा, भोजन गृह, पकाने के पात्र, पाकशाला के उपयोगी साधन, सविष अन्न की परीक्षा, राजाओ को कैसे वैद्य को रसोईघर या पाकशाला का निरीक्षक बनाना चाहिए, वैद्य को भोजन के सम्बन्ध मे राजा की देख-रेख किस प्रकार करनी चाहिए, रसोइये की प्रशंसा, ऋतुभेद तथा इससे सम्बन्धित सामान्य बातें, दिनचर्या, भोजन प्रकार, भोजन पर निगाह न पडे इसकी देख-रेख, भिन्न-भिन्न घी के गुण, खिचडी, कचौडी, मूली, पटोल, आर्द्रक आदि के गुण, भिन्न-भिन्न मास पकाने की विधि, मछली, भोज्य, शाक के प्रकार, खाने की वस्तु बिगडे नही इस प्रकार सुरक्षित रखने की विधि, हलुवा, पोली, घेवर, लड्डू, दूध की बनी वस्तुएँ, जलेबी, भूख लगानेवाली वस्तुएँ आदि बहुत सी बनावटो का वर्णन है।

क्षेमशर्मा ने अपने वश का वर्णन ग्रन्थ के आरम्भ में किया है। इसके अनुसार इनके प्रपितामह ने दिल्ली-शकेश्वर सुलतान की सेवा करके ग्यारह गाँव प्राप्त किये

थे। इनकी माता पति के पीछे सती हुई थी। क्षेमशर्मा ने स्वय विक्रमसेन राजा की सेवा करके प्राप्त किये गाँव मे एक बावली बनवायी थी। विक्रमसेन कहाँ का राजा था, यह कुछ पता नही।

क्षेमशर्मा ने कुछ ग्रन्थ देखने का उल्लेख किया है, उनमें भीम और रवि के कौन से ग्रन्थ थे, इसका कुछ पता नही चलता। इसमें नलपाक का नाम नही लिखा (नलपाक दर्पण ग्रन्थ काशी चौखम्भा सस्कृत सीरीज़ में प्रकाशित हुआ है)। इसके बाद इन्होने 'भोजनकुतूहल' नाम का भी एक ग्रन्थ लिखा है। तदनन्तर लिखा गया सिद्धभैषज्य-मणिमाला ग्रन्थ आधुनिक काल का है, इसमें वर्तमान काल की प्रचलित बनावटे है।

महाभारत के नलोपाख्यान में नल की पाककुशलता का उल्लेख है, उसी के कारण नल के नाम से बहुत-से पाकशास्त्र के ग्रन्थ बने है।[१] इसी प्रकार भीम के भोजन की मात्रा अधिक थी, इसलिए उसके नाम पर भी ग्रन्थ बन गया।

प्राचीन काल मे भोजन की विविध बनावटें होती थी, यह बात चरक के कृतान्नवर्ग मे सरलतापूर्वक समझ मे आ जाती है। पीछे धन्वन्तरीय निघटु आदि मे शास्त्रीय वर्गीकरण के कारण इसको छोड दिया गया। परन्तु बहुत समय से राजाओ के स्वास्थ्य और भोजन पर विशेष ध्यान रखा जाता था। सुश्रुत मे और कौटिल्य अर्थशास्त्र मे इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सूचनाएँ है। अष्टागसग्रह मे इस विषय को विस्तार से कहा गया है, उसमे राजाओ के सम्बन्ध मे लिखा है कि "ऐश्वर्यशाली, धनी एव विशेष कर राजाओ के शत्रु, मित्रो की अपेक्षा अधिक होते है। इसलिए इनके द्वारा प्रयुक्त विष को समीपवर्ती लोग खान-पान मे दे देते है। स्त्रियाँ शत्रुओ के गुप्तचरो द्वारा प्रयुक्त विष को, वस्तु को, सौभाग्य के लोभ से अथवा अज्ञान के कारण दे देती है। इसलिए राजा को चाहिए कि कुलीन, स्नेही, विद्वान्, आस्तिक, आर्य, चतुर, दक्षिण, निश्छल, पवित्र, नम्र, आलस्यरहित, व्यसनरहित, अभिमान शून्य, क्रोधरहित साहसिक कामो को न करनेवाले, वाक्य के अर्थ को समझने मे कुशल, आयुर्वेद के अष्टाग में निपुण, शास्त्रानुसार आयुर्वेद में योग-क्षेम जिसने प्राप्त किया हो, जिसके पास सदा अगद-विष प्रतिकार औषध तैयार रहे, ऐसे सब प्रकार के सात्म्य को समझनेवाले प्राणाचार्य को नियुक्त करे।

फलत रसोई तथा दूसरी बातो का (अभ्यग, परिषेक, अनुलेपन, वस्त्र, माला आदि का) उत्तरदातृत्व वैद्य को दिया जाता था। इस सम्बन्ध की जानकारी प्राचीन ग्रन्थो मे मिलती है। भोजन की विविध बनावटो की चर्चा रोगी के हित की दृष्टि से

---

१. महाभारत—नलोपाख्यान पर्व (वनपर्व)

की जाती है। क्योंकि एक ही वस्तु पाक-क्रिया से गुणो में परिवर्तन होने पर रोगी के लिए हितकारी-अहितकारी हो सकती है। इसलिए कृतान्नवर्ग का गुण-दोष रोगी के पथ्य-अपथ्य विचार से किया गया है। चक्रपाणिदत्त का द्रव्यगुणसग्रह तथा कैयदेव का पथ्यापथ्यनिघटु भी इसी के लिए है।

सम्पूर्ण निघटु रचना को देखने से इतना तो स्पष्ट है कि धन्वन्तरीय निघटु मे जो मार्ग अपनाया गया था, इसके पीछे होनेवाले दूसरे निघटु-लेखको ने उसी को अपनाया। इसमें कुछ भी परिवर्तन या सुधार मुश्किल से हुआ है। पिछले लेखको ने द्रव्यो के नामो का सग्रह करना ही अपना लक्ष्य समझा। वैद्यामृत के कर्त्ता ने ईसबगोल का भी उल्लेख किया है।

परन्तु द्रव्यो का परिज्ञान-विषयक कोई भी यत्न किसी निघटुकर्ता ने नही किया। सम्भवत इसका कारण यही माना गया कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही निर्भर है, इसको लिपिबद्ध नही कर सकते। गुड की मिठास जिह्वागम्य ही है, इसे वाणी से या लिखकर नही बताया जा सकता। इसी प्रकार इस ज्ञान को समझा गया होगा। शिवदत्त-जैसे किसी एक निघटु मे परिचय कही पर मिल जाता है, परन्तु यह बहुत अपर्याप्त है। निघटुओं में दी हुई सज्ञाएँ (नाम) तथा टीकाकारो के दिये हुए यत्र-कुत्रचित् परिचय से आजकल के सशोधको के सामने एक विचित्र उलझन आती है। क्योंकि ये सज्ञाएँ और परिचय एक नही, फिर एक ही नाम बहुत सी वनस्पतियो के लिए बरता गया है। साथ ही इसमें एक लाभ भी है, कि कई बार सज्ञा से वस्तु के आयात तथा दूसरी बातो का भी पता चल जाता है (यथा—काली मिर्च के लिए १—'खर्जूर्यां मारिच चाथो यवनेष्टं च सीसके', २—'गुड फाणौ गुडा हारहूराया वज्रकण्टके' (१४६)— इसमे हारहूरा शब्द द्राक्षा के लिए आया है, क्योंकि यह हारहूर से आती थी)। अभी तक बहुत से द्रव्य सन्दिग्ध हैं।

द्रव्यो के गुण-धर्म के विषय मे भी इन निघटुओं से पूर्ण, सच्ची जानकारी नही मिलती, इस त्रुटि पर भी इस वर्णनशैली मे पीछे से कुछ भी परिवर्तन नही हुआ। सभवत गुणकथन मे वैयक्तिक अनुभव या सुना हुआ ज्ञान ही आधार रहा होगा; परन्तु यह इतना कम है कि दूसरे वर्णन के अन्दर छिप जाता है। साथ ही बाहर से आये हुए नये द्रव्यो के वर्णन मे अनुभव की झाँकी मिल जाती है, जैसे चोपचीनी रक्तशोधक है; इसी लिए उपदश चिकित्सा में, भावप्रकाश मे लिखी गयी है।

एक प्रकार से प्राचीन निघटु आधुनिक ज्ञान के सामने बहुत महत्त्वपूर्ण नही ठहरते, क्योंकि वनस्पतियो का परिचय इनसे ठीक ज्ञात नही होता। इनका उपयोग

नाम-सज्ञा ज्ञान तक ही सीमित है; इसमें भी एक ही नाम कई द्रव्यो के लिए होने से असुविधा होती है।

भैषज्यकल्पन

कल्पना का अर्थ योजना है (कल्पन योजनमित्यर्थ —अरुणदत्त, कल्पनमुपयोगार्थ प्रकल्पन सस्करणमिनि-चक्रपाणि)। औषध रोगी को किस योजना से दी जाय इसके ज्ञान का नाम 'भैषज्यकल्पना' है। कल्पना का लाभ—

> अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम्।
> कुर्यात् संश्लेषविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः ॥ (हृदय, कल्प. २।६१)

थोडी औषध भी बहुत काम कर सकती है, और मात्रा मे अधिक वस्तु भी थोडा काम करती है। यह काम सयोग, विघटन, काल और सस्कार से होता है। इसके लिए कल्पना-ज्ञान पृथक् रूप म पीछे (लगभग चौथी या पाँचवी शती मे) उन्नत हुआ। अष्टागसग्रह मे इस सम्बन्ध के वचन एक स्थान पर सगृहीत है। चूर्ण का प्रचार इससे पूर्व भी था। परन्तु चूर्णकल्पना का उल्लेख सबसे प्रथम सग्रह मे आया है।[1]

सग्रह के पीछे भैषज्यकल्पना की विस्तृत जानकारी शार्ङ्गधरसहिता में मिलती है। शार्ङ्गधर के सिवाय दूसरे ग्रन्थो में एक स्थान पर इस प्रकार की विशेष जानकारी नही है। फिर भी कल्पना का मूत्र चरक, सुश्रुत में यत्र-तत्र मिलता है। चरक के कल्पस्थान मे वमन-विरेचन द्रव्यो की नाना प्रकार की कल्पनाएँ आयी है। ये कल्पनाएँ रोगी की प्रकृति-दोष-काल-अग्नि का विचार करके लिखी है। इसी से जीवक वैद्य द्वारा भगवान् बुद्ध को पुष्प सुँघाकर तीस विरेचन देने का उल्लेख महावग्ग में मिलता है।

कल्पना के अन्दर औषध और भूमि का विचार करने के साथ-साथ इनको सुरक्षित रखने, इनके मान-परिमाण का भी उल्लेख है। पाणिनि के अनुसार मान-परिभाषा में बाटो का प्रारम्भ नन्द से हुआ है (नन्दोपक्रमाणि मानानि (२।४।२१), इसका उदाहरण नन्दोपक्रमण द्रोण)। पाणिनिसूत्रो में कस (५।१।२५), शूर्प (५।१।२६), खारी (५।१।३३) शब्द आये है—इससे कसक, शौर्पिक, खारिक रूप बनाये गये है। एव 'परिमाणान्तस्यामज्ञाशाणयो' (७।३।१७) मे दो निष्को से खरीदी वस्तु को

---

१. शुष्कपिष्टः सूक्ष्मतान्तवपटच्युतश्चूर्णः। तस्य समस्तद्रव्यापरित्यागादाप्लुतोपयोगाच्च कल्कादभेदः—सग्रह, कल्प अ० ८

द्वैनिष्क्यम् कहा है; 'खार्या प्राचाम्' (५।४।१००) में खारी मान दिया है। 'शूर्पाद-न्यतरस्याम्' (५।१।२६) में पतञ्जलि ने द्विशूर्प, त्रिशूर्प उदाहरण दिये है। चरक के अनुसार दो द्रोण का एक शूर्प होता था, दो शूर्प की एक गोणी (लगभग ढाई मन तोल) होती थी।

पाणिनिसूत्रों में कषाय और अभिषव शब्द भी आते है—पाणिनि के अनुसार कषाय कई प्रकार के होते थे। आयुर्वेद मे कषाय शब्द क्वाथ अर्थ में ही सीमित नही (कषायसज्ञेय भेषजत्वेन व्याप्रियमाणेषु रसेष्वाचार्येण निवेशिता—चक्रपाणि)।

अभिषव—आसुति या अभिषव के स्थान में मद्य बनाने के लिए विविध औषधियो को पहले उठाया जाता (मधान किया जाता) था (फर्मेन्टेशन किया जाता था)। जब वे पूरी तरह उठ (सधानित हो) आती थी तब उनको आसाव्य (३।१।१२६) कहते थे। अर्थात् जो ऐसी स्थिति में आ गयी हो कि उनका अभिषव या चुआना अत्यन्त आवश्यक हो। चुआने के बाद जो फोक बचता था उसे फेंकने योग्य कहते थे (३।१।११७)। कौटिल्य ने लिखा है कि चुआने के बाद बचे हुए सुराकिण्व या फोक को हटाने के लिए स्त्री या बच्चो को लगाना चाहिए (२।३९)। मधुपान से सम्बन्धित भाषा के एक विशेष प्रयोग का पाणिनि ने (१।४।६६) उल्लेख किया है—'कणे हत्य पिबति'—जिसका अर्थ है तलछट तक पी गया फिर भी मन नही भरा (श्रद्धाप्रतिघात)।

मद्य चुआने की भट्ठी आसुति (५।२।११२), उसका स्वामी आसुतीवल, भभका शुण्डिक (४।३।७६) तथा भभके से मद्य खींचनेवाला व्यक्ति शौण्डिक (४।३।७६) कहलाता था। मैरेय और कापिशायन ये दो मद्य के नाम पाणिनिकाल में मिलते हैं। बुद्ध के समय मे मैरेय पीने का प्रचार बहुत बढ गया था। बुद्ध को विशेष रूप में इसे बन्द करने की आवश्यकता हुई (मद्यमैरेयसुरास्थानाद् विरमामि)। 'अङ्गानि मैरेये' (६।२।७०) से ज्ञात होता है कि पाणिनि को यह पता था कि मैरेय किन-किन द्रव्यो से बनता है। चरक मे लिखा है कि धान्य, फल, मूलसार, पुष्प, काण्ड, पत्र और बल्कल से मद्य बनता है (सू अ २५।४९)। कौटिल्य ने मैरेय, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मेदक और मधु छ प्रकार की सुरा कही है।

इस प्रकार से पाणिनि-काल मे भैषज्य कल्पना का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। चरक-सुश्रुत में भूमि के सम्बन्ध मे, औषध लाने के सम्बन्ध में तथा इनके बनाने के सबन्ध मे जानकारी दी है। यथा—

भूमि तीन प्रकार की है, जागल, साधारण और आनूप। इनमें जांगल या साधारण

देश वह है जहाँ ठीक समय पर शिशिर (ठड), धूप, वायु, पानी रहता हो; जिस समान, पवित्र भूमि के समीप में जलाशय हो, श्मशान, चैत्य, देवस्थान—देवताओ के होम-स्थान, सभास्थान (राजा के निवास), गड्ढा-वल्मीक-ऊषर (बजर भूमि) से हटी हुई,; कुशा-रोहिष घास जहाँ पर अधिक हो, मिट्टी चिकनी, पीली-मधुर-सुगन्धित हो, जिस भूमि में हल न चला हो, जहाँ पर औषधि के समीप मे दूसरे बडे वृक्ष न हो, ऐसी भूमि में उत्पन्न औषधियाँ उत्तम होती है (सग्रह—क अ १)।

इसी से जनपदोध्वस अध्याय मे अत्रिपुत्र ने अग्निवेश से कहा कि 'भूमि के विरस होने से पूर्व ही औषधियो का सग्रह कर लेना चाहिए (चरक वि. अ ३।४)। भूमि की परीक्षा पृथ्वी-अप-तेज-वायु और आकाश तत्त्वो की दृष्टि से भी बतायी है।

भेषजपरीक्षा—जो औषधियाँ समय पर उत्पन्न हुई हो, जिनके रस-वीर्य आदि पूर्ण हो गये हो, जो समय-धूप-अग्नि-जल-वायु-शस्त्र-जन्तु (कीडे आदि से) से नष्ट नही हो, जिनकी गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्श-प्रभाव ठीक बने हो, जडें गहरी हो; जो पूर्व या उत्तर दिशा मे स्थित हो (भारतवर्ष मे इन दो दिशाओ में सूर्य का प्रकाश 'उष्णिमा' ठीक आती है); उनका सग्रह करे। इन वनस्पतियो के शाखा-पत्ते जो देर के उत्पन्न न हुए हो उनका वर्षा और वसन्त मे सग्रह करना चाहिए। ग्रीष्म मे जडो को या शिशिर में जब पुराने पत्ते गिरकर नये पत्ते निकल आते हो तब मूलो का सग्रह करना चाहिए। छाल, कन्द और दूध शरद काल में, सार हेमन्त मे और पुष्प तथा फल समय के अनुसार सग्रह करने चाहिए।

कुछ आचार्यों का मत है कि सौम्य औषधियो का सौम्य ऋतुओ में (शरद्-हेमन्त-शिशिर में) और आग्नेय औषधियो का आग्नेय ऋतुओ मे (वसन्त, ग्रीष्म में) सग्रह करना चाहिए।

औषधिसंग्रह की सूचना—मगल आचार, कल्याण बरताव, व्यवहार पवित्र, श्वेत वस्त्र धारण किये, देवता, अश्विनौ, गौ, ब्राह्मण की पूजा करके, उपवास रखकर पूर्व या उत्तर दिशा की वनस्पति का सग्रह करे। इसको लाकर योग्य गुण-शाली पात्रो में (जैसे—शृंगे निदध्याद् मधुसयुतानि—अगद के विषय मे) रखे। इनको सग्रह करने के मकानो के द्वार उत्तर मुख होने चाहिए। वहाँ पर सीधी वायु न आये, परन्तु वायु का आना-जाना होता रहे। सदा पुष्प-उपहार-बलिकर्म (सफाई-धूप आदि देना) करे; वहाँ पर अग्नि-जल-सील-धूम-धूली, चूहे, पशु न जा सके। इनको भली प्रकार ढाप देना चाहिए। इनको छीको मे लटकाकर रखना चाहिए। (सग्रह, सू. अ. ३९)

कषायकल्पना—यह पाँच प्रकार की है—स्वरस (गीले पत्तो आदि को कूट-निचोडकर जो रस प्राप्त होता है), कल्क (पत्थर पर वस्तु को पीसकर चटनी बनाना), शृत (पानी मे वस्तु को उबालकर उसका रस प्राप्त करना), शीत (ठण्डे पानी में वस्तु को भिगोकर रस लेना) और फाण्ट (गरम पानी मे वस्तु को कुछ समय रखकर रस प्राप्त करना) । इन पाँचो मे ही चूर्ण, वटी, रसक्रिया, अर्क, शर्बत, आसव आदि कल्पनाओ का बीज निहित है ।

कषायो का उत्पत्ति-स्थान रस है, इसमे लवण-रस को कषाययोनि नही माना, क्योकि इससे स्वरस, कल्क, क्वाथ, शृत, फाण्ट कोई अन्य कल्पना नही की जाती । लवण रस सब अवस्थाओ में लवण ही रहेगा। शेष पाँच रस मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु और कषायवाले द्रव्यो से अन्य कल्पनाएँ हो जाती है ।

आयुर्वेद में द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव पर ही समस्त चिकित्साशास्त्र स्थिर है, ये वस्तुएँ ही भारतीय चिकित्साशास्त्र की रीढ़ हैं । इनमें किसकी प्रधानता है, यह निश्चित नही कहा जा सकता । कही पर रस से कार्य होता है (नीम का तिक्त रस मुख का शोधन करता है, मातुलुग का अम्ल रस मुख में दीप्ति, तेजी लाता है), कही पर द्रव्य से काम होता है (अफीम अपने रूप में काम करती है); कही पर प्रभाव से काम होता है (मणि-मुक्ता के धारण से विष का नाश होना), कही पर वीर्य से काम होता है (पिप्पली कटुरस होने पर भी जो वृष्य गुण करती है, वह इसका वीर्य ही है) । इस प्रकार से रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव की विशेष चर्चा आयुर्वेद ग्रन्थो में मिलती है (चरक सूत्र अ २५, सुश्रुत अ सू ४०) ।

भैषज्य कल्पना की सब प्रक्रियाओ को अत्रिपुत्र ने एक 'सस्कार' शब्द से कह दिया है, सस्कार का अर्थ वस्तु मे दूसरे गुण का आधान करना है । इस प्रक्रिया से वस्तु में गुण परिवर्तन, गुण वृद्धि होती है । गुणो के आधान की क्रिया जल, अग्नि सन्निकर्ष, शुचित्व, मन्थन, देश, काल, पात्र, भावना आदि से होती है। यथा शुचित्व—जल-सन्निकर्ष से—अच्छी प्रकार धोये-निथारे-उबाले हुए गरम चावल (भात) लघु होते है; अग्निसन्निकर्ष—आटे को गूँधने के बाद पानी मे उबालकर रोटी बनाने से हलकी बनती है, शुचित्व कार्य से—पानी मे एक सौ बार धोने पर घी में अधिक शीतलता आ जाती है, मन्थन से—दही शोथ करता है, परन्तु मथा हुआ मट्ठा शोथनाशक है, देश—कुछ औषधियो को धान्यराशि या भस्म मे रखने का विधान है, काल से सस्कार—कोई औषधि बनने के पन्द्रह दिन बाद पीनी चाहिए। वासन—लोहे के पात्र मे रखने का या सीग के पात्र में रखने का सस्कार है, भावना से सस्कार—आँवले के चूर्ण को

आँवले के रस की भावना देने से गुण बढता है। वासन से गुणाधान—पानी को कमल से सुगन्धित करना, जैसे शर्बत या मिठाई मे केवडे आदि की सुगन्ध डाली जाती है।

ये सब प्रक्रियाएँ भैषज्य निर्माण मे महत्त्व की है। इनके द्वारा वस्तु का गुणान्तर होता है, यद्यपि वस्तु का स्वाभाविक धर्म जाति मे रहता है, सस्कार से उसे बदल सकते है। ठण्डे पानी के गुण गरम पानी के गुण से पृथक् होते हैं। यह कार्य सस्कार है। इसी सस्कार से वस्तु के गुणो एव रूपो मे, बनावटो मे अन्तर करने से आयुर्वेद के कल्प बने है, इनके ज्ञान के लिए ही कल्पस्थान का (चरक, अष्टागसग्रह में) उपदेश किया गया है।

औषध की कौन-सी कल्पना रोगी के अनुकूल है, उसको क्या देना आवश्यक है, इसी के लिए सस्कार, कल्पना का विस्तार किया गया है।

मात्रा विचार—आयुर्वेद मे मात्रा को सामान्य रूप से निश्चित नही किया गया। इसे चिकित्सक के ज्ञान पर ही छोड़ दिया है, वह स्वय रोगी के कोष्ठ, बल, वय, देश, काल का विचार करके मात्रा और कल्पना का निश्चय करे। फिर भी सामान्य रूप से मार्ग-दर्शन के लिए सग्रह में मात्रा का उल्लेख किया गया है।

आयुर्वेद चिकित्सा में स्नेह,पाक, घृत और तैल की कल्पना का प्रयोग पर्याप्त है। इनको सिद्ध करने के नियमो का उल्लेख किया गया है। घृत और स्नेह कल्पना मे औषध के गुण अधिक समय तक सुरक्षित रहते है, इनकी मात्रा कम है, ये पौष्टिक, बलवर्द्धक होते है। इसलिए औषधियो के गुणो को घी मे लाने की यह प्रक्रिया है। घी की श्रेष्ठता ही यह कही है कि वह संस्कार का अनुकरण करता है (नान्य· स्नेहस्तथा कश्चित् सस्कारमनुवर्त्तते। यथा सर्पिरत सर्पि सर्वस्नेहोत्तम मतम्॥ चरक नि १।४०)।

आसव-अरिष्ट कल्पना—औषधियो के गुणों को चिरकाल तक सुरक्षित रखने के लिए यह मद्य की कल्पना की गयी है। इसमें मद्य का परिमाण बहुत कम रहता है, औषधियो का रस-वीर्य मद्य में आ जाता है। इसका सुरा से भिन्न 'आसव-अरिष्ट' नाम इसलिए रखा गया कि यह अन्न से तैयार नही होती। इसमें स्मृतिशास्त्र-कथित दोष न आये, इसलिए नाम बदल दिया गया। सुरा चुआयी जाती थी, आसव चुआये नही जाते। इनमें द्रव्यसयोग और सस्कार से गुणो की अधिकता रहती है। अरिष्ट-आसव का प्रयोग औषध रूप में ही होता है, मादक असर के लिए नही।

क्षार कल्पना—आयुर्वेद में दुष्ट व्रण आदि को जलाने के लिए क्षार का उपयोग होता था। क्षार बनाने के लिए विशेष विधान बतलाया है। क्षार दो प्रकार का

होता है, बाह्य प्रयोग में आनेवाला प्रतिसारणीय या बहि परिमार्जक, और अन्दर प्रयोग में आनेवाला पानीय या अन्त परिमार्जक। इसमें बहि परिमार्जक क्षार मृदु, मध्य और तीक्ष्ण भेद से तीन प्रकार का है। यह क्षार कालमुष्कक, कुटज, पलाश आदि वृक्षो की राख से बनाया जाता था। राख को पानी में घोलकर या मूत्र में घोलकर (क्षार एक भाग पानी या मूत्र छै भाग) इक्कीस बार छान लेना चाहिए। इसको फिर पकाना चाहिए, जब यह स्वच्छ, लाल, तीक्ष्ण, पिच्छल हो जाय, तब इसे पुनः छानकर दूसरे पात्र मे रखकर अग्नि पर पकाये। जब बहुत गाढा और बहुत पतला न हो तब इसे उतार लेना चाहिए।

क्षार के अन्त प्रयोग करने की एक कल्पना शंखद्राव है।[1] यह प्लीहा या यकृत के रोगो में दिया जाता था। यह तीक्ष्ण, लवण, क्षारीय द्रव्यो से बनता है, इसमें डालने पर शख भी गल जाते है। यह कल्पना दक्षिण भारत के सिद्ध सम्प्रदाय में प्रचलित थी (द्रव्यगुणविज्ञान)। यूनानी वैद्यक में इसको तेजाब कहते हैं।

मुरब्बे या शर्बत की कल्पना पीछे की है। इस कल्पना में रोगी को चीनी विशेष रूप से दी जाती है, जिससे उसे हानि न हो। इसका बीज चरक में मिलता है—जो बच्चा स्वाद के कारण मिट्टी खाना न छोडे, उसको दोषनाशक औषधियो से मिलाकर मिट्टी खाने को दे (चि अ. १६।१२२)। इस प्रकार से आँवले के मुरब्बे में चीनी प्रमेहरोगियो को देने का विकास हुआ।

उपनाह, प्रलेप—लेप का भी उल्लेख आयुर्वेद में है। लेप के विषय में कहा है कि सब शोफो में यह सामान्य है और मुख्य है। यह प्रलेप, प्रदेह और आलेप भेद से तीन प्रकार का है। प्रलेप शीतल, पतला, न सूखनेवाला या थोडा सूखनेवाला होता है।

---

१ लवण, फिटकरी, सोरा, नौसादर, कसीस, सुहागा, जौखार, सज्जीखार आदि लवण और क्षार द्रव्यो को काँच के नलिकायंत्र में रख तिर्यक् पातन विधि से गरम करके टपके हुए जल को द्रावकाम्ल शीशी में एकत्रित करना चाहिए। इसका नाम शंखद्राव है। (द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषा खण्ड, पृष्ठ ६७)

अर्कस्नुही तथा चिञ्चा तिला र्ग्वधचित्रकम्। अपामार्गसमं भस्म वस्त्रपूतं जलं हरेत्॥
मृद्वग्निना पचेत् तत्तु यावल्लवणतां गतम्। लवणेन समौ ग्राह्यौ द्वौ क्षारौ टंकणं तथा॥
समुद्रफेनं गोदन्त्या कासीसं सोरकं तथा। द्विगुणं पञ्चलवणं मातुलुंगरसेन च॥
काचकूप्यान्तु सप्ताहं वासयेदम्लयोगतः। शंखचूर्णपलं दत्त्वा वारुणीयन्त्रमुद्धरेत्॥
सर्वधातून् हरेत् शीघ्रं वरा[illegible]दिकान्। उदरादिकरोगाणा सद्यो नाशकरं परम्॥

प्रदेह उष्ण या शीत, घट्ट-सूखनेवाला होता है। आलेप दोनों के बीच का होता है (सुश्रुत. सू अ. १८।६)।

लेप सम्बन्धी नियम—चन्दन का घट्टलेप भी शरीर में दाह करता है और अगरु का पतला लेप भी शीतलता देता है। क्योकि घट्टलेप से शरीर की उष्णिमा रुक जाती है (चरक. चि अ ३९)। कभी भी पहले बरते हुए लेप को फिर से नही लगाना चाहिए। एक रात का बासी लेप या लेप के ऊपर दूसरा लेप नही करना चाहिए। सूख जाने पर उसे वही पर लगा नही देना चाहिए (सुश्रुत सू १८।१४–१५)। बहुत पतला या बहुत चिकना लेप नही लगाना चाहिए। लेप बहुत पतला नही करना चाहिए। पट्टी या वस्त्र के ऊपर लगाकर लेप नही करना चाहिए, न लेप को वस्त्र से ढाँपना चाहिए (चरक चि. अ २१।९३–९८)।

धूमवर्ती कल्पना—धूमवर्ती पीने का उल्लेख कादम्बरी तथा दूसरे ग्रन्थो में भी है (मृदुधौतधूपिताम्बरमग्राम्य मण्डन च बिभ्राणा। परिपीतधूमवर्ति स्थास्यसि रमणान्तिके सुतनु ॥ कुट्टनीमतम्)। चरक मे नित्यप्रति धूमपान करने को कहा है, यह एक दैनिक कार्य था। धूमवर्ती को बनाने की विधि सम्पूर्ण रूप में बतायी है (सूत्र. अ ५।२०–२४)। प्रायोगिक, स्नैहिक और वैरेचनिक भेद से यह तीन प्रकार की होती थी। धूमवर्ती किस समय पीनी चाहिए, किस प्रकार पीनी चाहिए, किनको नही पीनी चाहिए, इन सबकी सूचना इसमें विस्तार से है। धूमपान की हानियो से बचने के लिए धूमयत्र की विशेषता भी बतायी है (दूराद् विनिर्गत पर्वच्छिन्नो नाडी-तनूकृत। नेन्द्रिय बाधते धूमो मात्राकालनिषेवित ॥ सू अ ५।५१)। यह धूम-वर्ती सुगन्धित होती थी।

तौल—आयुर्वेद मे तौल के लिए जो शब्द आये है, वे प्राचीन है। तौल के शब्द प्राय धान्य वस्तुओ से बनाये गये है। चरक में जो यह लिखा है कि कलिंग से मागध मान श्रेष्ठ है, इस पाठ को चक्रपाणि ने अनार्ष माना है। वास्तव मे मागध और कलिंग दो मान देश में प्रचलित थे। कलिंग मान का सम्बन्ध सम्भवत रत्न आदि तोलने मे होता था, मागध मान सामान्यत सब कार्यों मे बरता जाता था। इनमे जो भेद है, वह छोटे वजन मे ही है, आगे बडे वजन मे दोनो एक हो जाते है।

'नन्दोपक्रमाणि मानानि' (२।४।२१, ६।२।१४ काशिका) का अभिप्राय यह है कि माप-तौल के बटखरे प्रथम नन्द राजाओ ने निश्चित किये। तभी से मागध मान प्रारम्भ हुआ। उस समय कलिंग जनपद स्वतन्त्र था, इसलिए कलिंग मान की परम्परा अलग चलती रही। मान निश्चित होने पर आढक (ढाई सेर), द्रोण

(दस सेर), खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिल्कुल सही नाप-तौल के लिए बरते जाने लगे।[1]

चरक संहिता या दूसरे ग्रन्थो से इनके रूप का पता नही चलता कि ये किस वस्तु के थे; पत्थर या धातु के होंगे। चरक संहिता से पहले अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख आता है, यथा—'तोलने के सभी बाट लोहे के बनाये जायें। मगध, मेकल देश मे उत्पन्न होनेवाले पत्थर के बनें, अथवा ऐसी वस्तुओ के बने जो पानी या किसी लेप की वस्तु के लगने से वजन मे न बढें या गरमी पहुँचने से कम न हो जायें (२।१९।११)[2]।

प्राचीन तौलो से चरक-सुश्रुत के मान मे बहुत कम अन्तर आता है। यह अन्तर कुछ तो सोना-चाँदी की तौल और अन्य वस्तुओ की तौल की भिन्नता से है, यथा—'माषक' तौल में पाँच रत्ती ताँबे का और दो रत्ती चाँदी का होता था (मनु ८।१३५; अर्थशास्त्र २।१२)। निष्पाव तीन रत्ती का; गुजा १ रत्ती; काकिणी १$\frac{१}{४}$ रत्ती; माषक पाँच रत्ती का था। शाण चरक के अनुसार २० रत्ती का था (महाभारत में शाण को शतमान का आठवाँ भाग कहा है; जो १२$\frac{१}{२}$ रत्ती का होता है—वनपर्व १३४।१४)।

चरक और अर्थशास्त्र के आढक मान में कुछ भेद है, यथा—

चरक का मान	कौटिल्य अर्थशास्त्र का मान
४ कर्ष = १ पल	१ कुडव =१२$\frac{१}{२}$ तोला=२$\frac{१}{२}$ छटाँक
२ पल = १ प्रसृति=८ तोला	४ कुडव = १ प्रस्थ=५० तो. २$\frac{१}{२}$ पाव
२ प्रसृति = १ अजलि या कुडव = १६ तोला	४ प्रस्थ = १ आढक=५० पल, २०० तोला
२ कुडव = १ प्रस्थ=२५६ तोला	४ आढक = १ द्रोण=२०० पल =८०० तोला
४ प्रस्थ = १ आढक	१६ द्रोण = १ खारी=१६० सेर=४ मन
४ आढक = १ द्रोण, कलश, घट	२० द्रोण = १ कुम्भ=५ मन
	१० कुम्भ = १ वह=५० मन

कस का तौल चरक के अनुसार आठ प्रस्थ या दो आढक या ६$\frac{२}{५}$ सेर है, अर्थ-

---

१. 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'

२. प्रतिमानान्ययोमयानि म[illegible]मयानि यानि वा नोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम् ॥ अर्थशास्त्र

शास्त्र के अनुसार पाँच सेर है। संस्कृत का शब्द द्रक्षण, ग्रीक शब्द द्रम, यूनानी शब्द दिरम, लैटिन का शब्द ड्राम एक ही है।

लम्बाई के माप मे अगुली का उल्लेख चरक मे है। इसके अनुसार ही उत्सेध, विस्तार, आयाम, परिणाह को नापा जाता है (वि अ. ८।११७)। इसके अतिरिक्त 'व्याम' का भी उल्लेख है (सूत्र अ १४।४३)। व्याम का माप ८४ अगुल था (शरीरनङ्गुलिपर्वाणि चतुरशीति—चरक वि अ. ८।,१७)। अगुल का माप मध्यम आकार के आठ यवमध्य के बराबर था, यह आजकल पौन इच के बराबर है।

खान-पान

अन्न-पान सम्बन्धी जानकारी के लिए चरकसहिता मे शूक-धान्यवर्ग, शमी-धान्यवर्ग, मासवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, हरितवर्ग, मद्यवर्ग, जलवर्ग, गोरसवर्ग, इक्षुवर्ग, कृतान्नवर्ग और आहार-उपयोगी, ये बारह वर्ग बनाकर इनमें आहार का रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव कहा गया है। सुश्रुत मे द्रव वस्तुओ का पृथक् अध्याय में वर्णन किया है, इसमें जलवर्ग, क्षीरवर्ग, दधिवर्ग, तक्रवर्ग, घृत-तैल-मधु-इक्षुवर्ग, मद्यवर्ग और मूत्रवर्ग हैं। इसमें आगे अन्न-पानविभाग चरक की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, शालिवर्ग, कुधान्य-वर्ग, मासवर्ग, फलवर्ग, शाकवर्ग, लवणवर्ग, कृतान्नवर्ग, भक्ष्यवर्ग, अनुपानवर्ग, आहार-विधि, इतनी बातो की विस्तृत जानकारी दी गयी है। सुश्रुत का वर्गीकरण अधिक विस्तृत है। मासवर्ग मे कोशस्थ, प्लव, मछलियो के समुद्र और नदी के पानी से भेद आदि विशेष कहे गये है।[1] लवण वर्ग मे स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, त्रपु धातुओ तथा रत्नो के गुण-दोषो की विवेचना की गयी है। सुश्रुत मे चरक की अपेक्षा भक्ष्य वस्तुओ के बहुत से नये नाम मिलते है, यथा—मधुमस्तक, सयाव, सट्टक, विष्यन्द, फेनक आदि[2]

---

१. जागल मांस आठ प्रकार का है—जंघाल, विष्किर, प्रतुद, गुहाशय, प्रसह, पर्णमृग, बिलेशय, ग्राम्य। आनूप मांस पाँच प्रकार का है—कूलचर, प्लव, कोषस्थ, पादिन और मत्स्य। मत्स्य भी नदी (मीठे पानी) और समुद्र (नमकीन पानी) के भेद से दो प्रकार के हैं—दोनो में पृथक्-पृथक् विटामिन होते हैं।

२ घृतपूर—मर्दिता समिता क्षीरनारिकेलसिताविभिः।
अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते॥
संयाव—समितां मधुदुग्धेन माधुर्यत्वात् शुभाननः।
पचेद् घृतोत्तरे भाण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे ततः॥
संयावोऽसौ युतश्चूर्णैः खण्डैलामरिचार्द्रकैः॥

संग्रह में सुश्रुत की भाँति द्रव वस्तुओं का पृथक् उल्लेख किया है, अन्न-स्वरूप के वर्णन में चरक का अनुसरण किया है, परन्तु क्रम बदल दिया है, शूकवर्ग, शमीवर्ग, कृतान्नवर्ग मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग रूप मे वर्णन है। इसमें भी 'दकलावणिक' आदि नये व्यंजन मिलते हैं।

इसमें शूकवर्ग के अन्तर्गत शालिवर्ग मे शालि, व्रीहि और कुधान्य ये तीन मुख्य भेद हैं। शालि और व्रीहि में इतना अन्तर है कि शालिधान्य हेमन्त में (दिवाली के आस-पास) पकते हैं, इनको प्रथम बोकर और पुन उखाडकर लगाया जाता है। व्रीहि धान्य शालि से मोटा होता है और खेत मे छीटकर बोया जाता है, इसे एक स्थान से उखाडकर फिर नही लगाना होता है, यह थोडा जल्दी पकता है। व्रीहि की भाँति साठी (षष्टिक) है, यह साठ दिन में पकता है, इसका चावल लाली लिये होता है। कुधान्य में साँवक, कँगनी, कोदो आदि है, जो कि कम बोये जाते है, ये मोटे और देखने में सुन्दर नही होते। इनको मलकर या सामान्य कूटकर निकाला जाता है।

इन सबमें शालि धान्य उत्तम है, क्योकि इसकी पौध लगती है। जो धान्य एक स्थान से उखाडकर दूसरे स्थान पर लगाये जाते हैं, वे बहुत हलके और गुणशाली होते है। चरक में शालि के पन्द्रह भेद दिये हैं। इनमें बहुत से नाम स्पष्ट हैं, यथा—रक्त-शालि (लालमती—सहारनपुर जिले में), कलम, प्रमोद (कुमुद—बम्बई मे), दीर्घशूक (हसराज या बासमती का भेद)। इनमें महाशालि के लिए कहा जाता है कि चीनी यात्री श्युआन् च्युआङ के चरितलेखक हुई ली ने लिखा है कि जब वह नालन्दा विश्वविद्यालय में ठहरा था, तो उसे महाशाली चावल खाने को दिया गया। स्वयं चीनी यात्री को यह बढिया सौंधा चावल भूला नही। उसने लिखा है—'यहाँ मगध में एक अद्‌भुत जाति का चावल होता है, जिसके दाने बडे सुगन्धित और खाने में अति स्वादिष्ठ होते है। यह बहुत चमकता है। इसे धनिको का चावल कहते हैं।' सभवत· यह सुगन्धिका या महाशालि चावल था। (डाक्टर अग्रवाल)

यवक, हायन, पासु, वाप्य और नैषध ये चावल भी शालि के समान गुण करते है।

सट्टक—लवंगव्योष[illegible] दधि निर्मथ्य गालितम्।
दाडिमं बीज[illegible] [illegible]चूर्णावचूर्णितम्॥
सट्टकं सुप्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम्॥
विष्यन्द—आमं गोधूमचूर्णं च सर्पि[illegible]म्।
नातिसान्द्रो नातिघनो विष्यन्दो नाम नामतः॥

इनमे हायन, यवक का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है। हायन, यवक का सम्भवतः अधिक उपयोग था, इसी से इनका अति प्रयोग रक्तपित्त और प्रमेह रोग का कारण कहा है (चरक, नि अ ४)। पद्मावत में जायसी ने सत्ताईस प्रकार के चावल गिनाये है, उनमे मुख्य राजभोग, रौदा, दाऊदखानी, कपूरकान्ति, मधुकान्त, घित्तंकादौ, सगुनी, गडहन, रायहस है। लोक मे प्रसिद्ध है कि पान और धान अनगिनत है।

बनारस में गगा का पानी उतर जाने पर उस जमीन मे धान बो दिया जाता है, यह फाल्गुन-चैत्र मे पकता है, यह मोटा होता है, इसे साठी कहते है। इसके बहुत से भेद है, इनमे कुछ श्वेत और कुछ काले होते है। वरक, उद्दालक, चीन कुधान्य है। साठी चावल पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे बरसात मे ही पकता है, "साठी पके साठी दिना, देव बरीसे रात दिना"—यह कहावत इसी लिए है। यह धान्य बहुत पौष्टिक है।

नीवार (तिन्नी धान्य), साँवक, गवेधुक (मौर्वी में रेती के अन्दर देखा था, इसे भूनकर खाते है), प्रशान्तिक, लौहित्य, प्रियगु (कगनी धान्य), मुकुन्द, वरक, वरुक आदि छोटे धान्य है। ये स्वय जंगल में भी उत्पन्न होते है और घरो में भी लोग इनको बोते है। मँडवा आदि इसी प्रकार के धान्य है।

चरक कथित नाम पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अब भी मिलने चाहिए। देहरादून के भाग में तथा ऊपर पहाड मे आज भी चावलो के चालीस से ऊपर भेद मिलते है। अकेले बासमती (शालि) और रामजवायन (व्रीहि) के दस-पन्द्रह भेद है। इनकी पहचान इनके शूक (नोक), छिलके, लम्बाई, मोटाई से की जाती है। इसी वर्ग मे गेहूँ का उल्लेख है, गेहूँ के भी नान्दीमुखी, मधूली ये भेद है। सुश्रुत मे इसी प्रसंग मे वेणुयव का भी नाम आया है। ये मूत्र कम करते है, इसी से चरक मे इनका उल्लेख है (चि अ ६।२४)। बाँस मे फल आने पर बाँस नष्ट हो जाता है, वेणुयव बाँस के जौ (बीज) होते है।

फलं वे कदलीं हन्ति फलं वेलुं फलं नलं।
सक्कारो पुरिसं हन्ति गब्भो अस्सतरिं यथा ॥ संयुतनिकाय भाग २

फल आने से केला समाप्त हो जाता है, बाँस और नडसर भी फल आने से नष्ट हो जाते है, पुरुष को सत्कार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार गर्भ खच्चर को मार देता है। यह फल एक जाति के सब बाँसो में आता है, यह प्राय तभी आता है, जब अकाल पडता है। (सरस्वती पत्रिका)

शमी धान्यवर्ग में दालो का, शिम्बी-फलियो मे से निकलने वाली वस्तुओ का उल्लेख है। इनमे राजमाष के लिए सुश्रुत मे 'अलसान्द्र' नाम है (कुछ विद्वान् इस

शब्द का सम्बन्ध यूनानी या शक काल से जोडते है) । इस वर्ग का भी सुश्रुत ने अधिक विस्तार से वर्णन किया है।

मासवर्ग में पशु-पक्षियो का विभाग उनकी प्रकृति, रहन-सहन के अनुसार किया है। मुरगा खाने से पूर्व पैर से वस्तु को बखेरता है, इसलिए उसे विष्किर, तोता ठोग मारता है, इसलिए उसे प्रतुद और गोह साँप की भाँति बिल में रहती है, इसलिए उसे बिलेशय कहा है। इस प्रकार से मास के गुण इनकी रहन-सहन के अनुसार निश्चित किये हैं। जो पशु-पक्षी आलसी नही, सदा चुस्त रहते है, उनको हलका कहा है, और दूसरो को भारी। इसमे कुछ तो जाने हुए है और कुछ ऐसे है जिनकी जानकारी नही, जैसे—मणितुण्डक, मृणालकण्ठ, मद्गु, राम (मृग), कोट्टकारक आदि। बकरी और भेड़ जागल और आनूप दोनों देशों मे रहती हैं, इसलिए इनको किसी एक स्थान पर सीमित नही कर सकते। मासवर्ग में गाय का भी उल्लेख हैं। स्वस्थ व्यक्ति के लिए इसका सेवन मृगमासो मे सबसे अपथ्यतम कहा है (सू अ २५)।

शाकवर्ग मे भी बहुत से अपरिचित नाम मिलते है, यथा—कुमारजीव, लोट्टाक, चिल्ली आदि। फलवर्ग मे फलो का उल्लेख है, परतु चिकित्सा मे अनार को छोड़कर दूसरो का उपयोग नही हैं, कदली का उपयोग भी एक दो स्थान पर है। आजकल जो फलो का महत्त्व स्वास्थ्य के लिए मान्य है, उतना उस समय नही प्रतीत होता। पियाल, तिन्दुक, इगुदी आदि जगल के फलों का उल्लेख मिलता है। मद्यवर्ग मे सुरा, जगल, मदिरा, शीत रसिक, मैरेय आदि भेद से वर्णन है।[1] सुश्रुत मे 'कोहल' मद्य का उल्लेख हैं जो कि जौ के सत्तू से बनती थी (सू अ ४५।१८०)। क्या यही 'कोहल' शब्द आज प्रसिद्ध अलकोहल मे तो नही आ गया? बहेडे, जामुन, खर्जूर की मद्यों का भी उल्लेख सुश्रुत मे है।

जलवर्ग मे पानी मे भिन्न-भिन्न गुण-दोष उत्पन्न होने का कारण बताया है (चि. अ. २७।१९७)। इसमे हिमालय की नदियों के पानी के लिए जो बात कही है, वह महत्त्व की है, इन नदियो का पानी पत्थरों की थपेडो से टूटने पर बहुत पथ्य होता है। जिन नदियो में पत्थर (बडे बडे पत्थर) और रेती रहती हैं, उनका पानी निर्मल और पथ्य

---

१ परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्ना सुरां जगुः। सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात् ततः कादम्बरी घना॥
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद् घनः। बक्कसो हृतसारः स्यात् सुराबीजं च किण्वकम्॥
ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवैः। सिद्धः पक्वरसः सीधुः संपक्वमधुरद्रवैः॥
या तालखर्जूररसैरासुता सा हि वारुणी॥ —द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषाखण्ड

होता है। जिन नदियो का पानी मन्दवेग रहता है, उन प्रदेशो मे श्लीपद, कण्ठरोग, शिरोरोग, हृदयरोग होते है।

इसके आगे गोरसवर्ग है, गाय के दूध मे अनेक गुण बतलाये है, यथा—स्वादु, शीतल, मृदु, मधुर, स्निग्ध, बहल, पिच्छिल, गुरु, मन्द और प्रसन्न ये दस गुण गाय के दूध मे है। ओज मे भी यही दस गुण है, इसलिए गाय का दूध ओज को बढाता है। विष और मद्य के गुण इससे विपरीत है, यथा—विष के दस गुण—लघु, रूक्ष, आशुकारी, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण, अनिर्देश्यरस। मद्य लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, अम्ल, व्यवायी, आशुकारी, सूक्ष्म, विकासी, विशद, उष्ण इन दस गुणो वाला है। इसलिए विष और मद्य शरीर को हानि पहुँचाते हैं। मद्य मे ये दस गुण कम मात्रा मे रहते है, इसलिए यह तत्काल नही मारता, विष मे अधिक मात्रा मे रहते है, इसलिए उससे तात्कालिक मृत्यु होती है (चि अ. २५)। मदात्यय मे गाय का दूध बहुत लाभ-प्रद है। आगे इसमे भैस, ऊँटनी, घोडी, हस्तिनी, औरत के दूध का भी गुण-दोष कहा गया है। इसी के साथ दही, घी, छेना, मस्तु, पनीर, फटे दूध आदि के गुणो का भी उल्लेख है। पीयूष (खीस) तुरन्त व्यायी गाय का दूध, मोरट दूसरे तीसरे दिन का अथवा सात आठ दिन का जब तक वह शुद्ध नही होता और किलाट फटा हुआ दूध है।

इक्षुवर्ग के अन्तर्गत चरक मे पौण्ड्र (पौडा) और वशक (बाँस-गन्ना) का उल्लेख है, सुश्रुत मे गन्ने के कई भेदो का उल्लेख है—पौण्ड्रक, भीरुक, वशक, श्वेतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काष्ठेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोर, कोशकृत ये भेद इनकी मोटाई के अनुसार है। इसी मे गुड, मत्स्यण्डिका, खण्ड, शर्करा, फाणित, गुडशर्करा, यासशर्करा, मधुशर्करा का उल्लेख है। मत्स्यण्डिका (राब), खण्ड (खाँड), शर्करा (मिश्री) यह इनका क्रम है, इसमें उत्तरोत्तर निर्मलता होती है। इसी वर्ग मे मधु का भी वर्णन है। चरक में मधु चार प्रकार का कहा है, सुश्रुत मे आठ भेद बताये हैं। ये भेद मक्खियो की विभिन्नता से माने गये है। मधु नाना द्रव्यो से उत्पन्न होने के कारण योगवाही है।

आगे कृतान्नवर्ग है, इसका प्रारम्भ पेया से हुआ है। पेया, विलेपी, यवागू और मण्ड ये वस्तुएँ पानी की मात्रा की भिन्नता से बनती है। ओदन, कुल्माष का उल्लेख है। ओदन (भात) राँधने की भिन्नता से भारी और हलका हो जाता है।[1] यूष

---

१. ओदन, यवागू, यवक, पिष्टक, संयाव, अपूप, मन्थ, कुल्माष, पलल आदि शब्दों का बहुत अच्छा स्पष्टीकरण डाक्टर अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में किया है; इनको वहीं पर देखना चाहिए।

भी कृत और अकृत भेद से दो प्रकार का है; जिस यूष में स्नेह, लवण, मसाला नहीं डाला जाता वह अकृत यूष है, जिसमें यह डाला जाता है वह कृत यूष है। सत्तू, अपूप, यावक, वाटय (सुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत्—इसे बार्लीवाटर कह सकते हैं), यवमण्ड (बिना सेके जौ से बना मण्ड) और अकुरित धान्यो का उल्लेख है। इसी में मधुक्रोड, पूर, पूपलिका, पिण्डक आदि भिन्न-भिन्न बनावटो का उल्लेख है।

भोजन में रुचि पैदा करनेवाला हरित वर्ग है, इस वर्ग की औषधियाँ हरी (कच्ची) ही खायी जाती हैं, जैसे—मूली, अदरक, पुदीना, अजवायन, धनियाँ, गाजर, प्याज, सौंफ आदि।

अन्तिम वर्ग आहार-उपयोगी वर्ग है, इसमें तैल का उल्लेख है, इसके लिए कहा है कि इसके प्रयोग से दैत्य लोग अजर-जरारहित, रोगरहित, कभी न थकने वाले, अति बलवान् बन गये थे। सयोग सस्कार से तैल सब रोगो को नष्ट करता है। सोठ, पिप्पली, हीग, सैन्धव आदि नमक, यवक्षार, जीरा आदि भोजन में उपयोगी वस्तुओ का उल्लेख किया गया है। इस वर्णन से उस समय उपयोग में आनेवाले अन्न-पान की जानकारी मिल जाती है। सुश्रुत मे इसका विस्तार है, सग्रह में सुश्रुत से कम है, परन्तु नाम अधिक स्पष्ट हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से पकाने का भी उल्लेख सग्रह में है। अन्त में कह दिया है कि सब वस्तुओ का विस्तार से उल्लेख करना सम्भव नही (सग्रह, सू. अ. ७।२११–१२)।

देशभेद से खान-पान—भिन्न-भिन्न देशो में जो खान-पान रुचिकर थे, उनका उल्लेख चरकसहिता में आता है, यथा—बाह्लीक (बलख), पह्लव (पहलव-काबुल), चीन, शूलीक (काशगर), यवन तथा शक देशो में पुरुषो को मांस, गेहूँ, माध्वीक (प्रसिद्ध मद्य कापिशायिनी या हारहूरा सुरा), शस्त्र और आग से सिद्ध किये खान-पान अधिक सात्म्य हैं।[1] पूर्व देशवालो को मत्स्य सात्म्य है (गौड-राढ देश में)। सैन्धव सिन्धु देशवालो को सात्म्य है। अश्मक (पैठन—दक्षिण हैदराबाद प्रान्त), अवन्तिका (उज्जैन) देशवासियो को तैल और अम्ल सात्म्य है। मलयाचल में रहनेवालो को कन्द, मूल, फल सात्म्य है। दक्षिण देशवालो को पेया और उत्तर पश्चिम के देश में मन्थ-सत्तू सात्म्य है। मध्य देशवालो का जौ, गेहूँ, दूध भोजन है।

---

१. "शस्त्र-वैश्वानरोचिताः" का अर्थ संभवतः शूलाकृत मांस तथा अंगार पर सेके मांस है; काशिका में इस प्रकार के भोजन के उदाहरण आते है।

काशिका मे इस सम्बन्ध मे चार उदाहरण आये है—"क्षीरपाणा उशीनरा, सुरापाणा प्राच्या, सौवीरपाणा वाह्लीका, कषायपाणा गान्धारा।" क्षीरपाणा उशीनरा से ज्ञात होता है कि पजाव मे शिबि—उशीनर के लोग दूध पीने के शौकीन थे। चरक के अनुसार प्राच्य जनपद मे मत्स्य भोजन और सिन्धु जनपद मे क्षीर भोजन सात्म्य था। शिवि-उशीनर चिनाव नदी के निचले काँठे का पुराना नाम था। अब यही झग, मघियाना, मुलतान का इलाका है। यहाँ की साहीवाल गाये आज भी प्रसिद्ध हैं। सिन्ध और कच्छ की देगाण गाय—जिनके कान लम्बे होते हैं, आज भी सिन्ध, काठियावाड मे प्रसिद्ध है।

मन्थ के विषय मे डाक्टर अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि भुने हुए धान या भुजिया का सत्तू मन्थ कहा जाता था (कात्यायन सूत्र ५।८।१२)। इसे दूध या केवल पानी मे घोलकर खाते थे। पानी के सत्तू को उदमन्थ या उदकमन्थ कहा जाता था। सम्भवत दूध मे घुला हुआ मन्न मन्थ होता था। अथर्ववेद की पारिक्षिती गाथा के प्रसग मे पत्नी पति से पूछती है—"आपके लिए क्या लाऊँ दही या दूधिया मन्न् (मन्थ) या जौ से चुआया हुआ रस।' सुश्रुत ने मन्थ का तीसरा रूप यह दिया है—"सत्तू को थोडा सा घी और ठण्डा जल मिलाकर मथानी मे मथने से मन्थ बनता है। मन्थ मे जल का परिमाण इतना लेना चाहिए कि जिससे वह न बहुत पतला और न बहुत गाढा बने।" चरक ने मन्थ को सतर्पण कहा है, इसके कई योग दिये है। इनमे जौ या लाजा का सत्तू प्रधान द्रव्य है। मट्ठे मे भी घोलकर सत्तू खाया जाता था, जो मद्र देश का प्रिय भोजन था।

खान-पान सम्बन्धी सूचनाएँ—शरीर धारण करनेवाली तीन वस्तुओं (आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य) मे आहार एक मुख्य वस्तु है। इसका सम्बन्ध शरीर और मन दोनो से है—इच्छित, मन के अनुकूल वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श वाला, विधिपूर्वक बनाया गया तथा विधिपूर्वक खाया हुआ आहार प्राणियो का प्राण है (चरक, सू अ ८, सुश्रुत, सू अ ४६)। इसी अन्नरूपी इन्धन से अन्दर की अग्नि स्थित रहती है। अन्न सत्त्व (मन) को बल देता है। अन्न से ही शरीर के सब धातु, बल, वर्ण, इन्द्रियो की प्रसन्नता होती है। यह तब होता है, जब इसका ठीक प्रकार से सेवन किया जाता है, विपरीत सेवन से अहित होता है।

आहार सेवन मे इन आठ बातो का ध्यान रखना आवश्यक है—प्रकृति (वस्तु का स्वभावविचार, गुरु-लघु ज्ञान), करण (सस्कार, बनाने का ढग), सयोग (मिलाना, कई बार दो निर्दोष द्रव्य भी मिलने पर विरोधी बन जाते है, जैसे दूध और

मछली), राशि (वस्तु का परिमाण—अग्नि, बल के अनुसार मात्रा में भोजन करना), देश और काल का विचार (समय पर और उचित स्थान पर भोजन करना), उपयोग नियम (भोजन के जीर्ण होने पर, बिना बोले, बिना हँसे, भोजन की निन्दा न करते हुए भोजन करना) और सात्म्य (अपने लिए अनुकूलता)।

भोजन करने की विधि—भोजन का स्थान साफ-सुथरा, एकान्त स्थान में होना चाहिए। भोजन परसते समय घी लोहे के तथा पेया चाँदी के पात्र में, फल तथा सब भक्ष्य पत्तों पर, दही आदि से लिप्त पदार्थों को सुवर्ण के, द्रव-रसों को चाँदी के, खट्टी वस्तु को पत्थर के पात्र में, शीतल जल ताम्रपात्र में, पानक, मद्य मिट्टी के पात्रों में, राग (रायता), सट्टक, षाडव इनको बिल्लौर, काच, स्फटिक के पात्रों में रखना चाहिए। विमल, चौड़े, देखने में सुन्दर पात्रों में दाल-शाक देने चाहिए। फल, सब भक्ष्य (चबाने योग्य) और शुष्क वस्तु (मेवा आदि) इनको खानेवाले के दक्षिण ओर रखना चाहिए। द्रव वस्तु को खानेवाले के वाम भाग में रखना चाहिए (इनको वाम हाथ से उठाकर पीना चाहिए, दक्षिण हाथ से पात्रों के बाहर चिकनाई लगने का भय है)। गुड़ की वस्तुएँ मिष्टान्न तथा राग-षाडव-सट्टक आदि स्वादिष्ठ खट्टी वस्तुएँ खानेवाले के सामने परसनी चाहिए।

भोजन का स्थान एकान्त में, सुन्दर, बाधारहित, खुला, विस्तृत, पवित्र, देखने में प्रिय तथा सुगन्ध और फलों से सजाया, समान—एक जैसा होना चाहिए। आगे के प्रकरण में भोजन की विधि बतायी है कि कौन वस्तु किस क्रम से खानी चाहिए, भोजन समाप्त करके किस प्रकार से आराम करना चाहिए, इत्यादि। समय पर भोजन न करने से क्या हानियाँ होती हैं, इनको भी बताया गया है (सुश्रुत, सूत्र अ ४६।४६०—५००)।

आयुर्वेद में भोजनद्रव्य चार प्रकार के माने हैं, अशित, खादित, पेय और लेह्य। अशित और खादित में वही अन्तर है जो मिठाई-लड्डू आदि खाने और चना आदि चबाने में है। दाँत न रहने पर लड्डू-मिठाई खायी जा सकती हैं, परन्तु चने चबाये नहीं जा सकते। लीढ का अर्थ अँगुली से चाटना है, जैसे शहद या लपसी का चाटना, पेय से अभिप्राय द्रव भोजन से है। यही चार रूप उस समय प्रचलित थे। पाणिनि ने भी 'भोज्य भक्ष्ये' सूत्र से चारों रूप कहे हैं। आहार का उपयोग चार प्रकार से ही होता है—पान, अशन, भक्ष्य और लेह्य रूप में (चरक सू अ २५।३६)।

विरोधी खानपान—आयुर्वेद में इसकी विस्तृत जानकारी दी हुई है कि विरोधी आहार किन-किन कारणों से होता है, तथा इसके खाने से कौन-कौन विकार होते हैं और उनका प्रतिकार क्या है। उनका परस्पर विरोध इस प्रकार है—द्रव्यों के

परस्पर गुणो में विरोध (मीठा और कटु या रूक्ष और स्निग्ध, शीत या उष्ण; जैसे वरफ का पानी तथा गरम चाय पीना), सयोग से विरोध (मत्स्य और दूध एक साथ खाना), सस्कार से विरोध (कौटिल्य अर्थशास्त्र मे इसके पर्याप्त उदाहरण है—१४।२। हारिद्रक पक्षी का मास सरसो के तेल मे भूनना—चरक सू अ २६।८४)। देश, काल और मात्रा से कुछ वस्तुएँ विरोधी है और कुछ स्वभाव से ही परस्पर विरोधी है (भिलावे के साथ गरम पानी का स्वभाव से ही विरोध है)।

देशविरोधी—मरु देश मे रूक्ष या तीक्ष्ण वस्तुओ का सेवन, अनूप देश मे स्निग्ध और शीतल वस्तुओं का सेवन। कालविरोधी–शीतकाल मे शीत-रूक्ष वस्तुओ का सेवन, उष्ण काल मे कटु या उष्ण वस्तुओं का सेवन। अग्निविरोधी–मन्दाग्नि मे भारी भोजन। मात्राविरोधी—मधु और घी समान मात्रा मे। सात्म्यविरोधी—कटुक-उष्ण जिसको सात्म्य हो उसको मधुर और शीत वस्तु देना। सस्कारविरोधी—समान गुणो की आदत के विरुद्ध जो औषधि-योजना की जाय (पके हुए बडहल के फल को मधु और घी के साथ खाना विरोधी है, मनुष्य को जो आदत हो, उसके विरुद्ध आहार देना—एक प्रकार की एलर्जी अवस्था कह सकते है)। वीर्यविरोधी—शीतवीर्य वस्तु मे उष्णवीर्य वस्तु मिलाकर देना। कोष्ठविरोधी—कठोर कोष्ठवाले व्यक्ति को मृदु सशोधन देना। अवस्थाविरोधी—श्रम-व्यायाम-मैथुन से कृश व्यक्ति को वायुप्रकोपक अन्न पान देना। क्रमविरुद्ध—मल त्याग किये बिना, भूख बिना लगे भोजन करना। हृदयविरुद्ध—मन को जो अच्छा न लगे। सपद्विरोधी—कच्चे फलो या अन्न को खाना। विधिविरुद्ध—जो उचित स्थान पर या उचित पुरुषो से न परसा गया हो वह भोजन विधिविरुद्ध है।

विरोधी भोजन से होनेवाले रोग—षण्ढता, अन्धता, वीसर्प, जलोदर, विस्फोट, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलरोग, पाण्डुरोग, आमविष, किलास, कुष्ठ, ग्रहणी, शोथ, अम्लपित्त, ज्वर, पीनस ये रोग होते है। सन्तानदोष (वश में चलनेवाले रोग भी) विरोधी अन्न से होते है, इसके अतिरिक्त मृत्यु भी हो जाती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे अन्धा करने, पागल बनाने, प्रमेह उत्पन्न करने, कुष्ठ उत्पन्न करने के कई योग दिये है, ये सब विरोधी अन्नपान से सम्बन्धित है (अर्थशास्त्र, १४।१।१५-२३)।

चिकित्सा—इन विरोधी आहारो से उत्पन्न रोगो के प्रतिकार के लिए वमन, विरेचन, विरोधी द्रव्यो के शमन के लिए द्रव्यो का उपयोग तथा इसी प्रकार के विरोधनाशक द्रव्यो से शरीर का सस्कार करना चाहिए (जैसे स्वर्ण का सेवन—चरक, चि. अ २३।२४०, इसी से बच्चे को उत्पन्न होते ही स्वर्ण चटाने का विधान है—सुश्रुत शा. अ १०)। कई बार सात्म्य हो जाने (यथा अफीम खानेवालो में अफीम),

या मात्रा में थोडा होने अथवा व्यक्ति की अग्नि प्रबल होने पर अथवा व्यायाम से बलवान् बने हुए स्निग्ध व्यक्ति के लिए विष व्यर्थ हो जाता है।

आहारविधि को आयुर्वेद के ग्रन्थो ने बहुत महत्त्व दिया है, इसकी उपमा पवित्र होमविधि से की है, उसी की भाँति दो समय भोजन करने का उल्लेख किया है। अन्न के सम्बन्ध में कहा है—

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तराग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥
आहिताग्निः सदा पथ्यमन्तराग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च॥ चरक, सू० २७।२८

पशु-पक्षी

जिस प्रकार से चरक-सुश्रुत में चावलो तथा इक्षु के बहुत से नाम गिनाये हैं, उसी प्रकार मासवर्ग में बहुत से पशु-पक्षी गिनाये गये हैं। उनमें से अनेको का स्पष्टीकरण जामनगर से प्रकाशित चरकसहिता के छठे भाग में चित्र सहित दिया गया है। चरक-सुश्रुत में पशु-पक्षियो का विभाग उनकी रहन-सहन के अनुसार है, इसलिए उसे जानने मे सुगमता होती है। परन्तु नामो का उल्लेख अन्य ग्रन्थो में नही मिलता, टीकाकारो ने भी इस पर विशेष विवेचन नही किया, जिससे इनके सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल सके। बिलेशयो में श्वेत, श्याम, चित्रपृष्ठ और कालक ये चार भेद काकुली मृग के है, यह काकुली मृग का मालायु सर्प अर्थ चक्रपाणि ने किया है। मूल में ऐसा कोई निर्देश नही, जिससे इनको इसके भेद माना जाय। मृग शब्द से इतना ज्ञात होता है कि यह चौपाया है। सम्भवत यह गोह का भेद है, गोह की जीभ भी साँप की भाँति लप-लपाती है। मछलियो के भेद चरक में कम हैं, सुश्रुत में इससे अधिक मिलते है।[1]

---

१ जायसी ने पद्मावत के अन्दर कुछ मांस तथा चावलों का उल्लेख किया था। डाक्टर अग्रवाल ने उनका स्पष्टीकरण किया है—उसको विशेष रूप में उनकी पद्मावत-टीका संजीवनी में देखा जा सकता है; यहाँ पर कुछ का उल्लेख किया जाता है। इस विषय में श्री कुँवर सुरेशसिंह की 'हमारी चिड़ियाँ' पुस्तक भी महत्त्व की है, परन्तु उसमें संस्कृत नाम न होने से एवं संस्कृत नामों से पशु-पक्षियों का ठीक परिचय न मिलने से विषय स्पष्ट नहीं हुआ।

मानसोल्लास में वराह, सारंग, हरिण, अवि, अज, मत्स्य, शकुनि, रुरु, सम्बर इतने मांसों का राजा के लिए उल्लेख किया है। जायसी की भी सूची लगभग यही है—इसमें आये हुए नाल, छागर-बकरा, रोझ-नील गाय (ऋश्य), लगुना-पाड़ा

सुश्रुत मे एण और हरिण मे भेद बतलाया है, काला मृग एण है, लाल मृग हरिण कहलाता है, जो न काला हो न लाल, वह कुरग है। सू अ (४६।५७)

पशु-पक्षियो के नाम गिनाकर इनमे जो पशु-पक्षी प्राय व्यवहार मे आते थे, उनके गुणो का उल्लेख कर दिया गया है। कई पक्षियो का नाम उनकी आदतो से रखा गया है, यथा भ्याहला, दोनो पैर और चोच से आक्रमण करने के कारण यह नाम दिया गया है। कक पक्षी प्रसिद्ध है, परन्तु इसकी ठीक पहचान क्या है, यह निश्चित नही। इस पक्षी के नाम पर यत्र (औजार) का नामकरण किया गया है, यह सब यत्रों मे उत्तम है, क्योंकि इसकी पकड मजबूत है। शशघ्नी को जामनगर के चरक मे 'गोल्डन ईगल' कहा है। इस पक्षी का मुख्य आहार खरगोश है, इसलिए इसका शशघ्नी नाम है। सुश्रुत मे इस विषय का स्पष्टीकरण चरक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

हिरन (अं-हौग डीयर), चीतर-चित्तल, गौन-बारहसिंगा इसे गौढ़ भी कहते है, झाँख-साम्भर, बटई-बटेर, लवा बटेर से छोटा होता है (अं-बटनक्वेल), कूँज—कुंज-क्रौञ्च-कुलंग पक्षी, खेहा-तीतर की जाति का पक्षी—केहा (अं-क्याहपार्टी), गुडरू-बटेर जाति का पक्षी (अं-कौमन बस्टर्ड क्वेल), हारील (हारीत)—वृक्षो पर रहनेवाला पक्षी जो बहुत कम नीचे उतरता है, चरज-चरत, कँब-जलबोदरी (बत्तख और मुर्गी के बीच की चिड़िया), पिदारे—पिद्दे, नकटा—एक प्रकार की बत्तख, लेदी—छोटी बत्तख, सोन—कलहंस (बड़ी बत्तख)। मछलियाँ—पाठीन—पढ़िन, रोहित—रोहू, शिलीन्ध्र—सिलन्द, भृंगी—सींगी, मद्गुर—मंगुरी, चन्द्रिका—बाम, भंगिका—बांगुर।

चावलो के नाम—रायभोग—राजभोग, काजररानी—मिथिला में काजलरानी; मुजफ्फरपुर में कुमोद कहलाता है, झिनवा—सफेद मुख पर काला, रौदा—रुदवा, दाऊद-खानी, कपुरकान्त—कपूरकान्त—उजले रंग का होता है, चावल भी सफेद आता है।

डाक्टर अग्रवाल ने चावलो के नामों का उल्लेख किया है, परन्तु पश्चिम उत्तर प्रदेश में दूसरे नाम हैं—लालमती, बासमती, रामजवायन, राममुनिया, हंसराज आदि; चावलो के नाम अनगिनत हैं। (पद्मावत—बादशाह भोजन खण्ड)

अमरकोश में कुछ पशु-पक्षियों के नाम दिये हैं, परन्तु उनमें आयुर्वेदसंहिताओ में आये नाम बहुत कम हैं, यथा—दात्यूहः कालकण्ठकः शरारिराटिराडिश्च। परन्तु इससे उनके रूप का परिचय नहीं होता। औषध, वनस्पति, पशु-पक्षी के रूप की पहचान का उल्लेख इन ग्रन्थो में नहीं है; ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं। नाम से ही रूप का, स्वभाव का जो वर्णन मिले वही सूत्र है।

चौदहवाँ अध्याय

आयुर्वेद परम्परा

आयुर्वेद की परम्परा सामान्यत ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है। ब्रह्मा का नाम 'स्वयभू' है, अर्थात् उसे किसी ने नही बनाया अपितु उसने सबको बनाया। इसलिए यह आयुर्वेद भी शाश्वत होने से उसी के साथ पैदा हुआ (सुश्रुत सूत्र. १।६)। पैदा करने का अर्थ यह नही कि नया तैयार किया, अपितु उसको प्रकट किया। आयुर्वेदिक ज्ञान का उपदेश किया, यही अर्थ पैदा करने का है (चरक. सू. ३०।२७)।[1]

इस परम्परा में कुछ दूर तक (इन्द्र तक) क्रम एक समान चलता है। इन्द्र के आगे प्रत्येक सहिता में अपना-अपना क्रम है। ब्रह्मा ने आयुर्वेद दक्ष प्रजापति को दिया, दक्ष ने अश्विनौ को सिखाया, अश्विनौ ने इन्द्र को सिखाया। यहाँ तक क्रम एक समान है। चरक सहिता के रसायन अध्याय में ब्रह्मा और इन्द्र के नाम से रसायनो का उल्लेख है, अश्विनौ के नाम पर च्यवनप्राश की प्रसिद्धि है। ऋषि लोग इन्द्र के पास अपने शरीर की अवस्था सुधारने के सम्बन्ध में गये, उनको इन्द्र ने दिव्य औषधियाँ सेवन करने को कहा था। दक्ष प्रजापति के नाम पर कोई रसायन चरकसहिता में नही है।[2] इसके साथ ही राजयक्ष्मा के प्रसग में हम देखते हैं कि दक्ष प्रजापति के जामाता चन्द्रमा को क्षय होने का कारण दक्ष का ही शाप है, जिसकी चिकित्सा प्रजापति ने स्वयं न करके अश्विनौ से करा दी थी। (चरक चि अ. ८।७-९)

प्रजापति शब्द ब्रह्मा के लिए भी आता है, (चरक. सू अ २५।२४)। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से, स्थिति विष्णु से और सहार शिव से माना जाता है। परन्तु सब सहिताओ मे आयुर्वेदक्रम एक ही है। पुराणपरम्परा में भी ब्रह्मा और दक्ष दो भिन्न व्यक्ति है। काश्यप सहिता मे प्रजापति दक्ष का उल्लेख नही, उसके अनुसार

---

१. स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमग्रेऽसृजत् सर्ववित्; ततो विश्वानि भूतानि।—काश्यप सहिता

२. दक्ष के नाम पर नहीं परन्तु प्रजापति के नाम पर महारास्नादि क्वाथ को गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है।

ब्रह्मा से सीधा अश्विनौ ने सीखा; अश्विनौ से इन्द्र ने। ब्रह्मा और अश्विनौ के बीच में दक्ष प्रजापति का नामोल्लेख सम्भवत ज्ञान और प्रजा-उत्पत्ति दोनो का पार्थक्य दिखाने के लिए है। ज्ञानोत्पत्ति का सम्बन्ध ब्रह्मा से तथा अपत्योत्पादन प्रजापति दक्ष से सम्बन्ध रखता है। इसी भेदकल्पना मे ज्ञान का अवतरण किया गया है। कामसूत्र मे ब्रह्मा-प्रजापति द्वारा प्रजा उत्पन्न करने के पश्चात् त्रिवर्ग के साधन धर्म-अर्थ-काम का उपदेश करना कहा है। आयुर्वेद मे प्रजा उत्पन्न करने से पूर्व आयुर्वेद का ज्ञान उत्पन्न करना लिखा है, अर्थात् ज्ञान पहले उत्पन्न हुआ और प्रजा पीछे उत्पन्न हुई। इसमे ज्ञान का सम्बन्ध ब्रह्मा से और प्रजा उत्पत्ति का सम्बन्ध दक्ष प्रजापति से है। इसलिए ब्रह्मा ने ज्ञान का प्रथम उपदेश दक्ष प्रजापति को किया (सु सू अ १।२०; चरक सू अ १।४-५)। दक्ष को ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा जाता है।

इस परम्परा से भिन्न परम्परा भी पुराणो मे मिलती है, उसमे आयुर्वेद की उत्पत्ति प्रजापति से है। प्रजापति ने ऋग्-यजु-साम और अथर्ववेद का विचार करके आयुर्वेद को बनाया। यह पाँचवाँ वेद उसने भास्कर को दिया। भास्कर ने स्वतत्र सहिता बनाकर इसे अपने शिष्यो को पढाया। इन शिष्यो में धन्वन्तरि, दिवोदास, काशिराज, अश्विनौ, नकुल, सहदेव, अर्की, च्यवन, जनक, बुध, जाबाल, जाजलि, पैल, करथ तथा अगस्त्य थे। ये सोलहो शिष्य वेद-वेदाङ्ग को जाननेवाले और रोगो का नाश करने में निपुण थे। इन्होने अपने-अपने तत्र बनाये, धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्त्वविज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन, काशिराज ने चिकित्साकौमुदी, अश्विनौ ने चिकित्सासार तत्र और भ्रमघ्न, नकुल ने वैद्यकसर्वस्व, सहदेव ने व्याधिसिन्धु-वेमर्दन, यम ने ज्ञानार्णव; च्यवन ने जीवदान; जनक ने वैद्यसन्देह भजन; चन्द्रमा के पुत्र बुध ने सर्वसार; जाबाल ने तत्रसार, जाजलि ने वेदाङ्गसार, पैल ने निदान; करथ ने सर्वधर, अगस्त्य ने द्वैधनिर्णय तत्र बनाये। ये सोलह तत्र ही चिकित्सा के बीज, रोगो को नष्ट करनेवाले और बल देनेवाले है (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण-ब्रह्मखण्ड-अ. १६)।

सूर्य के नाम से कुछ योग आयुर्वेद मे बहुत प्रसिद्ध है, यथा—१. भास्कर लवण (लवण भास्करं नाम भास्करेण विनिर्मितम्); २ भास्कर चूर्ण (सर्वलोकहितार्थाय भास्करेणोदितं पुरा), ३. उदर्की रस (भास्करेण कथितो रसेश्वर सोमरोगकुल-नाशनोऽपि स)। "आरोग्य भास्करादिच्छेत्"—यह वचन प्रसिद्ध है।

आयुर्वेदसहिताओ की उपदेशपरम्परा मे सूर्य का उल्लेख नही मिलता। उसमे ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति, अश्विनौ और इन्द्र चार का ही उल्लेख है। ये चारो वैदिक देवता हैं, इनके विषय में वैदिक जानकारी इस प्रकार है—

ब्रह्मा—सृष्टि में ज्ञान का प्रसार करनेवाला है, चारो वेद इसी से उत्पन्न हुए। भारतीय संस्कृति में सब ज्ञान की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही मानी जाती है। वेदो के उपदेष्टा को कुछ विद्वान् ऐतिहासिक मानते हैं, वे इसी को आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा मानते हैं (आयुर्वेद का इतिहास—सूरमचन्द्र)। चरकसंहिता मे (सूत्र १।२३), जज्जट टीका (सिद्धि ३।३०।३१) में 'पैतामहा' शब्द मिलता है। चरक में 'स्रष्टा त्वमितसंकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः'—इस वचन से ब्रह्मा' को प्रजापति माना है। इसको देवता ही माना गया है।

दक्ष प्रजापति—ब्रह्मा के मानस पुत्रो में एक हैं। इसका एक नाम प्राचेतस भी है (आदिपर्व ७०।४)। आयुर्वेदपरम्परा में प्राचेतस दक्ष का उल्लेख है (ज्वरस्तु स्थाणुशापात् प्राचेतसत्वमुपागतस्य प्रजापतेः क्रतौ.... निश्चचार। सग्रह. नि अ. १.)। चरक संहिता में ज्वर के सम्बन्ध में दक्ष का उल्लेख है।

अश्विनौ—इनकी स्तुति चिकित्सा के सम्बन्ध में महाभारत में मिलती है। जब उपमन्यु आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया तब आचार्य ने उसे इनकी स्तुति करने को कहा (आदि. ३।५६)। अश्विनौ के सम्बन्ध में जो स्तुति उपमन्यु ने की उसमें इनके नाना रूप मिलते हैं, यथा—हे अश्विनीकुमारो! आप दोनो सृष्टि से पूर्व विद्यमान थे, आप ही पूर्वज हैं, आप ही चित्रभानु हैं, दिव्य स्वरूप हैं, सुन्दर पंखवाले दो पक्षियो की भाँति सदा साथ रहते हैं, रजोगुण और अभिमान से शून्य हैं। आप सूर्य के पुत्र हैं, दिन-रात, वर्ष को आप ही बनाते हैं—

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति।
नानागोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम् ॥
एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिता. प्रधिष्वन्या विंशतिरपरा अराः।
अनेमि चक्रं प[illegible] मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ॥
एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं षण्णाभिमेकाक्षरमृतस्य धारणम्।
यस्मिन् देवा अधिविश्वे [illegible]नौ मुञ्चतं मा विषीदतम् ॥

(आदि. अ. ३।६१-६३)

अश्विनीकुमार इस प्रकार उसकी स्तुति से प्रसन्न हुए और उन्होंने उपमन्यु को पुआ दिया। परन्तु उसने बिना गुरु को दिये उसका उपभोग करने से मना किया (तुलना करें—"मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन मत्प्रियहितानुवर्त्तिना च शश्वद् भवितव्यम्। पूर्वं गुर्वर्थोपाहारेण यथाशक्ति प्रयतितव्यम्"—चरक. वि अ. ८।१३)। अश्विनीकुमार उपमन्यु के इस व्यवहार से प्रसन्न हुए। इसके कारण उन्होंने उपाध्याय

इन्द्र के पास से जिस ऋषि ने आयुर्वेद का जो ज्ञान प्राप्त करना चाहा वही उसे इन्द्र ने सिखाया, धन्वन्तरि ने आठों अगो का ज्ञान प्राप्त किया था (सू. अ. १।२१)। भरद्वाज इन्द्र के पास दीर्घजीवन की इच्छा से गये थे (सू अ. १।३)। इन्द्र ने भरद्वाज को यही विषय सिखाया, जिससे उन्होने दीर्घायु प्राप्त की (सू. अ. १।२६)। इसी से भरद्वाज का एक नाम दीर्घजीवित भी है (ऐतरेय आरण्यक १।२।२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार (३।१०।११) इन्द्र ने तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर भरद्वाज को वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।

भरद्वाज—चरक सहिता में भरद्वाज (सू. अ. १), कुमारशिरा भरद्वाज (सू. अ. १२, सू अ. २६; शा. अ. ६), भरद्वाज (सू अ २५; शा अ. ३) आता है। भरद्वाज नाम व्याकरण शास्त्र मे भी मिलता है। ये आचार्य बृहस्पति के पुत्र हैं। श्री सूरमचन्द्र का कहना है कि दीर्घजीवन की इच्छा जिस भरद्वाज ने की थी, वे यही है। यही भरद्वाज आयुर्वेद के उपदेष्टा माने गये हैं। गगाधर कविराज इन भरद्वाज को कपिष्ठल मानते है।

दूसरे भरद्वाज कुमारशिरा है, इनका मुख्य नाम कुमारशिरा है; भरद्वाज पद औपचारिक, सम्भवत. उपनाम के रूप में है (चरक. सू अ. २६।४)।

तीसरे भरद्वाज एक और है, श्री सूरमचन्द्र इनको बाष्कलि भरद्वाज मानते है। ये आत्रेय के गुरु भरद्वाज से पृथक् है, क्योकि इनके मत की समीक्षा पुनर्वसु आत्रेय के साथ की गयी है। चरक में कई स्थलो पर आत्रेय ने भरद्वाज के मत को स्वीकार न करके उसका खण्डन किया है, इसलिए ये भरद्वाज, आत्रेय के गुरु से पृथक् हैं।

कविराज सूरमचन्द्र ने भरद्वाज के सम्बन्ध मे हरिवश का यह वचन उद्धृत किया है—

बृहस्पतेराङ्गिरसः पुत्रो राजन् महामुनिः।
संक्रामितो भरद्वाजः मरुद्भिः क्रतुभिर्विभुः॥ १।३२।१४

हे राजन्! आगिरस बृहस्पति का पुत्र महामुनि भरद्वाज मरुद्गणो द्वारा सम्राट् भरत को दिया गया। इस कथानक को आधार मानकर उन्होने एक वशावली भी दी है। उसमें भरद्वाज के नर, गर्ग, पायु और द्रोण पुत्र बतलाये है।[1] मत्स्यपुराण के एक श्लोक के अनुसार भी वे बार्हस्पत्य भरद्वाज को ही सम्राट् भरत द्वारा गोद लिया हुआ मानते हैं। इसके सबूत मे वे भरद्वाज का नाम 'द्व्यामुष्यायण' उपस्थित करते हैं। भरद्वाज को द्व्यामुष्यायण इसलिए कहते है कि उनके दो पिता थे; एक बृहस्पति और दूसरे भरत। उसकी सतान ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो हुए (मत्स्य. ४९।३३)।

---

१. आयुर्वेद का इतिहास—सूरमचन्द्र कृत, पृष्ठ १४३-१४४ देखिए

काश्यप संहिता मे कृष्ण भरद्वाज का उल्लेख है (सूत्र अ. २७।३. पृष्ट. २६)। भरद्वाज के साथ कृष्ण विशेषण आत्रेय के कृष्ण विशेषण को स्मरण कराता है, जिससे स्पष्ट है कि इन दोनो का कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध था। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध वैशम्पायन से है, जो याज्ञवल्क्य के गुरु कहे जाते हैं। काश्यप सहिता में भरद्वाज के स्थान पर भारद्वाज पाठ है; चरक मे भरद्वाज ही है। श्री युधिष्ठिर मीमासक ने 'सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (पृष्ठ २१९) मे भारद्वाज का उल्लेख किया है।

भारद्वाज शब्द गोत्र मे होनेवाले व्यक्तियो के लिए मानना ठीक है, न कि भरद्वाज के लिए। भारद्वाज और भरद्वाज दोनो पृथक् है। काश्यप सहिता के कृष्ण भरद्वाज आत्रेय की शाखा से सम्बन्ध रखते हैं और चरकसहिता के भरद्वाज इनसे पृथक् हैं। भरद्वाज अनेक हैं; कुछ नामो के साथ विशेषण है और कुछ के साथ नही, इसलिए कुछ नाम गोत्रवाची है। परन्तु आत्रेय के गुरु, इन्द्र से आयुर्वेद सीखनेवाले, दीर्घजीवी भरद्वाज सबसे पृथक् है। ये न तो काश्यप सहिता के भारद्वाज है न कुमारशिरा, और न शरीरस्थान (चरकसहिता) के भरद्वाज है।

भरद्वाज को बहु सन्ततिवाला और दीर्घजीवी कहा है। उसके मंत्रद्रष्टा पुत्रो तथा रात्रि नाम्नी मत्रद्रष्ट्री पुत्री का उल्लेख मिलता है (ऋ. स. ६।५२)।

सूरमचन्द्रजी ने भरद्वाज का समय भारतयुद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व माना है और इसके प्रमाण में महाभारत का यह वचन दिया है—

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वरः॥
भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा॥ अ. १३०

यज्ञसेन–द्रुपद के पिता राजा पृषत् के दिवगत होने के समय अर्थात् भारतयुद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व भरद्वाज भी परलोक सिधारे। यह समय अभी विद्वानो की विचारकोटि में है, इसलिए इनका काल अनिर्णीत है। भरद्वाज दीर्घायु थे—यह सत्य है। भरद्वाज शब्द गोत्र में भी व्यवहृत होता है; चरकसहिता मे गोत्र अर्थ में भी आ सकता है; काश्यप सहिता में [illegible] सम्भावित है।

आत्रेय—चरकसहिता में पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षु आत्रेय ये तीन नाम आते हैं। इनके सिवाय अत्रि का नाम पृथक् है। इनमें पुनर्वसु आत्रेय और कृष्णात्रेय एक व्यक्ति है, और भिक्षु आत्रेय इनसे पृथक् है। आत्रेय के साथ पुनर्वसु विशेषण इनका पुनर्वसु नक्षत्र मे जन्म होना सूचित करता है, और कृष्ण विशेषण इनको वैशम्पायन की शाखा—कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित बतलाता है। पुनर्वसु

आत्रेय ने भिक्षु आत्रेय के मत का प्रतिवाद किया है (सू अ २५), इसी से ये पृथक् गिने जाते हैं। सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय (८ और ९) मे आत्रेय और भिक्षु आत्रेय दो पृथक् गिने गये हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दो व्यक्ति हैं।

आत्रेय को अत्रिपुत्र कहा जाता है, यह कथन पुनर्वसु आत्रेय—अग्निवेश के गुरु के लिए ही आया है (अत्रिसुत, चि २२।३; अत्रिज, चि २०।३, सू ११।३, अत्र्यात्मज', चि' १२।३ और ४, अत्रिज', चि ३०।७)। अत्रि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। अत्रि ने चिकित्साशास्त्र नही बनाया, परन्तु इनके पुत्र ने इसका उपदेश किया (चिकित्सितं यच्च चकार नात्रि पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद।—बुद्धचरित १।४३)।

इसी आत्रेय के लिए चान्द्रभागी शब्द भी चरकसहिता मे एक स्थान पर (सू अ १३।१००) तथा भेलसहिता मे दो स्थान पर (पृष्ठ ३०; पृष्ठ ३९) आया है। चान्द्रभागी का अर्थ चक्रपाणि ने पुनर्वसु किया है। प० हेमराज पुनर्वसु आत्रेय की माता का नाम चन्द्रभागा मानते है (उपोद्घात, काश्यप सहिता पृष्ठ ७७)। नदी का भी नाम चन्द्रभागा आता है, मनुस्मृति मे नदी के नामवाली कन्या से विवाह करना निषिद्ध माना है (३।९)। इसलिए चान्द्रभागी का पुत्र मानने की अपेक्षा चन्द्रभागा प्रदेश मे उत्पन्न होने से चन्द्रभागा नाम होना अधिक समीचीन लगता है।[१]

आत्रेय अनेक हैं—बौधायन श्रौत्रसूत्र के "अत्रीन् व्याख्यास्याम —अत्रयो भूरय — कृष्णात्रेया गौरात्रेया अरुणात्रेया नीलात्रेया श्वेतात्रेया श्यामात्रेया महात्रेया आत्रेया" वचन से स्पष्ट है कि ये सब अत्रि के वशज थे, इनमें कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय थे।[२] चक्रदत्त मे कृष्ण अत्रिपुत्र नाम आता है (अतिसाराधिकार)। इसलिए श्री योगीन्द्रनाथ सेन कृष्णात्रेय को कृष्ण अत्रि का पुत्र मानते है।

---

१. कविराज सूरमचन्द्र ने भी अपने इतिहास (पृष्ठ १७२) में यही कल्पना मानी है; परन्तु थोड़ी बदलकर—"सम्भवतः किसी समय चन्द्रभागा नदी इस प्रदेश (आत्रेय प्रदेश) के निकट बहती थी। अतः चन्द्रभागा नदी के तटवर्ती प्रदेश में रहने के कारण पुनर्वसु का एक विशेषण चान्द्रभागी हो सकता हैं। सस्कृत वाङमय में ऐसे विशेषणों का प्रयोग प्रायः पाया जाता है।" पृष्ठ १२२

२. "त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता"—चरक. सू. ११।६५; "अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्"—चि. २८।१५७; "कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम्"—चि. २८।१६४; "नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम्"— चि. १५।१३२ (इसकी व्याख्या में चक्रपाणि ने लिखा है—कृष्णात्रेयः पुनर्वसोर-

भिक्षु आत्रेय इनसे पृथक् है; इनके साथ लगा हुआ विशेषण इनको तापस भिक्षु—सन्यासी बतलाता है। भिक्षु साधुओ का एक सम्प्रदाय था। इसी का पालि रूप 'भिक्खू' बना, जो कि श्रमण—बौद्ध भिक्षुओ के लिए चल पडा। भिक्षु सन्यासी होते थे, इनके लिए यज्ञ–होम का विधान नही था, यथा—भिक्षु पचशिख, भिक्षु याज्ञवल्क्य आदि। कृष्णात्रेय या पुनर्वसु को तो चरक में होम करता हुआ पाते है (चि. १४।३; चि. १९।३; चि २९।३)। इसलिए सभवत भिक्षु आत्रेय सन्यास-आश्रमी रहे होगे तथा कृष्णात्रेय वानप्रस्थ होगे। वानप्रस्थ के लिए होम का विधान है (कौटिल्य १।३।११)।

यही वानप्रस्थ कृष्णात्रेय, अग्निवेश के सहपाठी भेल के गुरु थे। इसी से भेल-सहिता में भी चरक सहिता की भाँति नाम मिलते हैं (भेलसहिता, पृष्ठ १५, २२, २६, ९८)। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने भी कृष्णात्रेय के मत को चरक का मत माना है, इसलिए कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय है।[१]

महाभारत में भी कृष्णात्रेय का नाम चिकित्सा के प्रसग मे पाया जाता है (शा. २१२।३३)। इससे स्पष्ट है कि कृष्णात्रेय का सम्बन्ध चिकित्सा—काय-चिकित्सा से ही था।

प्राचीन काल मे शाखा या चरण के रूप मे विद्यापीठ चलते थे। शाखा या चरण का नाम ऋषि के नाम पर होता था। जिस शाखा या चरण मे जो ग्रन्थ बनते थे वे सब उसी शाखा या चरण के अन्तर्गत होते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयो के ग्रन्थ एक ही शाखा या चरण में हो सकते थे। एक ऐसी ही शाखा कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती थी। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध वैशम्पायन से है। वैशम्पायन के शिष्य चरक कहलाते थे ("चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे-

---

भिन्न एवेति वृद्धाः।) सिद्धयोगसंग्रह की टीका कुसुमावलि में श्रीकण्ठ ने भी "कृष्णात्रेयः पुनर्वसुः" (द्वितीय भाग पृष्ठ ८४) कहा है। चरकसंहिता, सूत्रस्थान अध्याय ११ का प्रारम्भ "इति ह स्माह भगवानात्रेयः" से होता है, परन्तु समाप्ति कृष्णात्रेय के नाम से होती है।

१. कृष्णात्रेयमतं वाहटेनाङ्गीकृतं यतश्चरकस्यैष एव पक्षः। कृष्णात्रेयमतानुसारेणैव द्रव्याणां पलमित्युक्तम्। तदेव च चरकस्याभिमतमेवेत्यत्र पटोलमूलाद्यं वत्सकबीजं च ज्ञापकम्। [illegible]ष्णात्रेयपरिभाषाप्रदर्शितश्चार्थश्चरकस्याप्यनुमत ए[illegible]।

तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते"—काशिका)। इस शाखा या चरण मे आयुर्वेद का विशेष अध्ययन होता था।

प्राचीन शिक्षाप्रणाली मे चरणो का बहुत समान होता था, विद्यार्थी अपने-अपने चरण एव गुरु का नाम सम्मान से लेते थे। इन चरणो के अपने ग्रन्थ होते थे। इसी से चिकित्सा के आठ अगो मे भी इनके प्रत्यग का पृथक् विकास हुआ था (तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकार. क्रियाविधौ। वैद्याना कृतयोग्याना व्यधनशोधनरोपणे—चरक. चि. ५।४४)। जो शस्त्रचिकित्सा सीखते थे उनको धन्वन्तरीय सम्प्रदाय या शाखा में गिना जाता था, यह बहुवचन से स्पष्ट है।[१]

वैशम्पायन के विद्यापीठ, शाखा अथवा चरण में चिकित्सा का भी विकास हुआ था। इस शाखा का शिष्य होने से अत्रिपुत्र को कृष्णात्रेय कहा गया। यही कृष्णात्रेय भरद्वाजपरम्परा से प्राप्त आयुर्वेद के उपदेष्टा हैं। ये साक्षात् भरद्वाज के शिष्य नही। भरद्वाज ने इन्द्र से प्राप्त ज्ञान ऋषियो को सम्पूर्ण रूप में प्रदान किया था। उनमें से परम्पराप्राप्त ज्ञान आत्रेय पुनर्वसु ने आगे शिष्यक्रम से अग्निवेश आदि छ' शिष्यों को दिया। इसे भरद्वाज से आत्रेय ने सीधा नही सीखा, ऋषियो द्वारा उनको प्राप्त हुआ था। ऐसी ही परम्परा का अभिप्राय चरण या शाखा है। वैशम्पायन के विद्यापीठ के अन्तर्गत आयुर्वेद ज्ञान को आत्रेय ने प्राप्त करके अग्निवेश आदि को दिया था।

बौद्ध काल मे भी भिक्षु आत्रेय या आत्रेय का उल्लेख मिलता है, जो कि तक्षशिला में अध्यापक थे।[२] महावग्ग में जीवक के गुरु का नाम नही आया, परन्तु दूसरे ग्रन्थों में वहाँ अध्यापन करनेवाले आचार्य का नाम 'आत्रेय' मिलता है। सम्भवत. यह अध्यापक इसी प्रकार अत्रिशाखा या चरण-विद्यापीठ से सम्बद्ध रहे हो। एक चरण या विद्यापीठ कई विद्याओ का अध्ययनक्षेत्र होता था, इसमे केवल एक ही विषय नही पढाया जाता था। इसी से एक ही ऋषि के नाम पर भिन्न भिन्न विषयो के जो ग्रन्थ मिलते है, वे इसी बात के प्रमाण है कि उस शाखा या चरण में भिन्न-भिन्न विद्याएँ पढ़ायी जाती थी। चरक सहिता का निम्न वचन भी इस विषय को स्पष्ट करता है—

"विप्रतिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकृतामृषीणां सन्ति, तानपि निबोधोच्यमानान् ॥" चरक० शा० अ० ६।२१

इसी प्रकार चरकसहिता में अस्थिगणना याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार है, जो

---

१. अन्य स्थानों पर धन्वन्तरि एक वचन में आता है (चरक. शा. ६।२१)

२. देखिए भेलसंहिता की भूमिका, श्री आशुतोष मजूमदार लिखित

एक पुष्ट प्रमाण है कि चरक सहिता का सम्बन्ध यजुर्वेद से है। याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य एवं शुक्ल यजुर्वेद के सग्राहक है। शाखा क्रम के कारण चरक, सूत्रस्थान के पच्चीस और छब्बीस अध्यायो मे ऋषियो के साथ जो कथा मिलती है, वह भिन्न-भिन्न विचारो की द्योतक हैं। ये विचार भिन्न-भिन्न शाखा या चरणो से ही मिले हैं। ऐसी कथाओं मे बातचीत करने तथा ज्ञानवृद्धि के लिए विमानस्थान मे आवश्यक सूचना दी है। एक गुरु के या एक शाखा के विद्यार्थी दूसरे वर्ग के विद्यार्थी से शास्त्रार्थ कर बैठते थे, इसलिए इसका भी ज्ञान कराया जाता था।

उपलब्ध चरक सहिता, जिसके उपदेष्टा पुनर्वसु आत्रेय है, वह वैशम्पायन की शाखा या चरण में बनी है, इसी परम्परा मे इसका संस्कार हुआ है।

समय—आत्रेय के समय के विषय में कोई निश्चित सूत्र नही है। बौद्धकाल में तक्षशिला के अध्यापक आत्रेय का चरक संहिता के आत्रेय के साथ कोई सम्बन्ध नही।[1] यह केवल इतना स्पष्ट करता है कि उस समय आत्रेय-शाखा या चरण के अन्दर आयुर्वेद का पठन होता था। उस शाखा मे शिक्षित आत्रेय वहाँ अध्यापक थे। चरक संहिता के उपदेशक कृष्णात्रेय भ्रमणशील व्यक्ति थे, उनका क्षेत्र मुख्यत बाहीक प्रदेश—पजाब का पश्चिमोत्तर प्रान्त, हिमालय, कैलास, चैत्ररथ वन रहा। इस स्थान में ही उनका बाह्लीक भिषक् काकायन के साथ विचार-विनिमय हुआ था। इसलिए इस सम्बन्ध में काल निर्णय करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि कनिष्क के समय (ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी) तक चरक की रचना हो चुकी थी, क्योकि सम्राट् कनिष्क के राजवैद्य का नाम 'चरक' कहा जाता है।

---

१. पं० हेमराजजी ने काश्यप संहिता के उपोद्घात (पृष्ठ ७९) में लिखा है कि "तिब्बतीय कथा में [illegible] आत्रेय से जीवक के अध्ययन करने का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि यही बुद्धकालीन आत्रेय पुनर्वसु आत्रेय हैं। परन्तु जीवक के अध्ययन के सम्बन्ध में महावग्ग के वर्णन में जीवक के गुरु का नाम नहीं। सिंहल देश की कथा में जीवक के गुरु का नाम कपलक्ष्य (कपिलाक्ष) आया है। ब्रह्मदेश की कथा में जीवक का विद्याध्ययन बनारस में बताया गया है। इस प्रकार अनेक वचनों से कथाओं के आधार पर निर्णय न करके महावग्ग को प्रामाणिक मानना ठीक है। [illegible] में 'तक्षशिला' का उल्लेख नहीं है। इसलिए चरकसंहिता के उपदेष्टा आत्रेय इससे भिन्न हैं; सम्भवतः गोत्रसाम्य से नामसाम्य हो। विशेष स्पष्टीकरण के लिए काश्यपसंहिता का उपोद्घात पृष्ठ ८०-८२ देखें।

श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने 'हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन' में आत्रेय पुनर्वसु के नाम से सात योग और कृष्णात्रेय के नाम से बीस योग सग्रह किये हैं। चरकसहिता मे बला तैल (चि २८।१४८–१५६) तथा अमृताद्य तैल (चि २८। १५७–१६४) ये अन्य दो तैल आये हैं। हारीतसहिता के अनुसार च्यवनप्राश भी कृष्णात्रेय का ही कहा हुआ है। अन्य आत्रेय के नाम से कोई योग नही मिलता।

आत्रेयसहिता नाम से पृथक् ग्रन्थ भी है। इस सहिता की कई प्रतियाँ मिली हैं, ये सब एक है या भिन्न, इस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण नही हो सका, केवल नाम निर्देश मिला है।[1]

अग्निवेश आदि शिष्यो को आयुर्वेद का उपदेश देनेवाले पुनर्वसु आत्रेय का समय निश्चित करने का सबसे बडा साधन उनका अपना उपदेश है। चरकसहिता में 'काम्पिल्य' नगर को 'द्विजातिवराध्यषित' कहा है। चक्रपाणि ने द्विजातिवराध्युषित का अर्थ 'महाजन सेवित' किया है। शतपथ ब्राह्मण मे काम्पिल्य का जो उल्लेख मिलता है, उससे इसकी सत्यता स्पष्ट है, यथा—

"यहाँ पर वैदिक सस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, संस्कृत भाषा के उत्तम वक्ता (शतपथ ३।२।३।१५), यज्ञो में विधिपूर्वक यजन करनेवाले

---

१. आत्रेयसंहिता का उल्लेख श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन" भाग २ पृष्ठ ४३१-४३३ पर तथा प्रथम भाग ३४०-३४२ पर किया है। इसके अतिरिक्त बड़ोवा .स्तकालय की सूची संख्या ११४, प्रवेश संख्या ५८२६ के अन्तर्गत आत्रेयसंहिता का उल्लेख है।

श्री सूरमचन्द्र ने अपने आयुर्वेद-इतिहास में आत्रेय देश भी ढूँढ़ने का यत्न किया है; और इस देश में रहने के कारण आत्रेय नाम हुआ, इस प्रकार की कल्पना भी की है (पृष्ठ १८४)।

अष्टांगसंग्रह में पुनर्वसु को आगे करके धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, कश्यप आदि ऋषि आयुर्वेद पढ़ने के लिए इन्द्र के पास गये—ऐसा उल्लेख किया है (सूत्र. अ. १।७-८)। नावनीतक के लशुनकल्प में आत्रेय, हारीत, पाराशर, भेल, गर्ग, शाम्बव्य, सुश्रुत आदि का एक साथ उल्लेख है। इस प्रकार के वचनों से आत्रेय का समय निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। इनका अभिप्राय मेरी दृष्टि में केवल आयुर्वेद के आचार्यों का नाम कीर्तन है। एक समय में इनका होना केवल नामकीर्तन से उचित प्रतीत नहीं होता।

लोग रहते थे। उन्ही मे सर्वोत्तम राजा थे और सर्वश्रेष्ठ परिषद् भी कुरु-पचाल में ही थी। और भी कितनी ही बातो मे वे अग्रणी थे। कुरु-पचाल राज्य दीर्घकाल तक समृद्धि के साथ बढता रहा। उसकी राजधानी काम्पिल्य, कौशाम्बी और परिचक्रा नामक मुख्य नगरा से उसका भौगोलिक विस्तार सूचित होता है।" (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ९४-९५)

उपनिषद् में कुरु-पञ्चाल का उल्लेख है—"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे। तत्र कुरुपञ्चालाना ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवु"—बृहदा० ३।१।१। यजुर्वेद में काम्पिल्य का नाम आता है—'सुभद्रिका काम्पिल्यवासिनीम्'—यजु. २३।१८।

उव्वट ने इसकी टीका में कहा है—"काम्पिल्यवासिनीम्—काम्पिल्यनगरे हि सुभगा सुरूपा विदग्धाः स्त्रियो भवन्ति।"

इससे स्पष्ट है कि एक समय काम्पिल्य नगर और पचाल जनपद अति प्रतिष्ठित था। यह समय गौतम बुद्ध से पूर्व का था जो कि उपनिषदों का समय है। बुद्ध के समय काम्पिल्य की महत्ता समाप्त हो गयी थी। उस समय तक्षशिला और काशी विद्या-केन्द्र थे। आत्रेय, जो कि बाह्लीक भिषक् काकायन से मिलते हैं, उन्होने तक्षशिला का उल्लेख नही किया। पाणिनि ने तक्षशिला का उल्लेख किया है (४।३।९३)। उनका समय लगभग ४७६ ई० पू० माना जाता है। सिकन्दर के समय तक्षशिला की प्रसिद्धि थी। बुद्ध के समय भी तक्षशिला की प्रसिद्धि थी। परन्तु आत्रेय के समय तक्षशिला का अस्तित्व सुनाई नही देता। इससे स्पष्ट है कि काम्पिल्य की प्रसिद्धि तथा तक्षशिला के अस्तित्व मे आने से पूर्व का समय पुनर्वसु आत्रेय का है, जो कि बुद्ध से पूर्व एव उपनिषदों का अन्तिम समय है। यह समय ७०० या ७५० ईसा पूर्व आता है, उपनिषदो के बनने का भी लगभग यही समय है।

चरक में बाह्लीक, पह्लव, चीन, शूलीक, यवन, शक इन सब देशों का उल्लेख है, तक्षशिला का नही है। उस समय तक्षशिला प्रसिद्ध नहीं होगी। बुद्ध के समय तक विद्यापीठ बनने मे तक्षशिला को कम से कम पचास वर्ष जरूर लगे होंगे। इसलिए इससे पूर्व आत्रेय को मानना उत्तम है।

अग्निवेश—कृष्णात्रेय के शिष्यो की सख्या छ: है, अग्निवेश, हारीत, भेल, जतुकर्ण, पराशर और क्षारपाणि। इन सबने अपनी-अपनी सहिताएँ बनायी थी। इनमें अग्नि-वेश की सहिता का रूप ही वर्त्तमान उपलब्ध चरकसहिता मानी जाती है। परन्तु इससे पृथक् भी अग्निवेश की संहिता है, ऐसा कहा जाता है।

अग्निवेशसहिता (चरकसहिता) में तक्षशिला का उल्लेख नहीं है; परन्तु पाणिनि के सूत्र (४।३।९३) में तक्षशिला का उल्लेख है। पाणिनि ने गर्गादि गण में

जतूकर्ण, पराशर, अग्निवेश शब्दो का उल्लेख किया है (गर्गादिभ्यो यञ्-४।१।१०५)। इसलिए पाणिनि से पूर्व अग्निवेश का समय मानना उचित है; यह विचार पं० हेमराज का है (उपोद्घात, पृष्ठ ८२)। गर्गादि गण में इनका नाम भेषजचिकित्सा के सम्बन्ध में आया है।

पं० हेमराज ने काश्यप संहिता के उपोद्घात में (पृष्ठ २३) अपने संग्रह से हेमाद्रि के लक्षणप्रकाश के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अग्निवेश, हारीत, क्षारपाणि, आत्रेय आदि का नाम लिखा है और इन सबको आयुर्वेद का कर्त्ता कहा है। पालकाप्य-कृत हस्त्यायुर्वेद के चतुर्थ स्थान, चौथे अध्याय में स्नेहविशेष वर्णन में अग्निवेश का मत उल्लिखित है (पालकाप्य, पृ ५८१)।

मज्झिम निकाय में गौतमबुद्ध के साथ आध्यात्मिक चर्चा प्रसंग में सच्चक (सत्यक) नामक निर्ग्रन्थनाथ पुत्र का नाम भी गोत्ररूप में अग्निवेश आया है (पृ. १३८)। आत्रेय मुख्य आचार्य थे और अग्निवेश आदि उनके शिष्य थे। अग्निवेश की संहिता ही चरकसहिता है। अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर नाम उपनिषद् में आते है (आग्निवेश्या-दाग्निवेश्य. पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्यात् जातूकर्ण्यः—बृहदा. २।६।२-३)।

अग्निवेश के लिए वह्निवेश (सू. १३।३), हुताशवेश (सू. १७।५) नाम भी आते हैं। माधवनिदान की मधुकोश टीका में श्रीकण्ठदत्त ने लिखा है —"चरके हुताशवेशशब्देनाग्निवेशोऽभिधीयते।"

महाभारत में अग्निवेश का भरद्वाज से आग्नेयास्त्र प्राप्त करने का भी उल्लेख है (आदि. १४०।४१)। इसलिए नाम सामान्य से अग्निवेश का काल निर्णय या उसकी सही जानकारी ढूंढ़ निकालना सम्भव नही।

अग्निवेश के साथी भेल और पराशर थे। भेल के बहुत से वचन उपलब्ध चरकसहिता से मिलते हैं (यथा—चरकसहिता महाचतुष्पाद अध्याय में मैत्रेय और आत्रेय-संवाद भेलसहिता के १२५ पृष्ठ के वचनो से मिलता है। वहाँ पर मैत्रेय के स्थान पर भद्रशौनक नाम है, इतना ही अन्तर है)। इसी प्रकार पराशर का वचन आत्रेय के चरकसहितास्थ वचन से मिलता है (सूरमचन्द्र-कृत आयुर्वेद का इतिहास, पृष्ठ. १९८)। इस प्रकार से ये अग्निवेश के सहपाठी सिद्ध किये गये हैं।

अग्निवेश-तन्त्र—आत्रेय के सब शिष्यों ने पृथक्-पृथक् तंत्र बनाये थे। सुश्रुत के उत्तरस्थान में कायचिकित्सा के छः तंत्रों का उल्लेख है (षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताः परमर्षिभिः ॥ उत्तर. अ. १।६)। डल्हण ने इनसे अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर, क्षारपाणि, हारीत और भेल के बनाये तंत्रों का ग्रहण किया है। इसी से वर्तमान उप-

लब्ध सहिता में चरकसहिता के बहुत से वचन मिलते है (चरकसहिता का अनुशीलन, पृष्ठ ११३ की टिप्पणी)। उपलब्ध चरकसहिता की पुष्पिका मे स्पष्ट निर्देश "अग्निवेशकृते तंत्रे"—इस रूप मे है। अग्निवेश की सहिता भले ही अलग हो, परन्तु उपलब्ध चरकसहिता अग्निवेश तन्त्र ही है।

जेज्जट ने अपनी टीका में अग्निवेश तन्त्र के जो वचन कही-कही पर दिये है, वे उपलब्ध चरक में नही मिलते। इन वचनो की भाषा बहुत अर्वाचीन है, कुछ वचन तो माधवनिदान के श्लोको से मिलते हैं। यवागू सिद्ध में प्रचलित परिभाषा का जो श्लोक टीका में अग्निवेशसहिता के नाम से दिया गया है, वह पूर्णतः बहुत अर्वाचीन है। परिभाषा का उल्लेख शार्ङ्गधरसहिता का है, जो कि चौदहवी शती का ग्रन्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निवेश के नाम पर सहिता बाद में लिखी गयी है।[1]

---

१. चरकसंहिता पर जेज्जट की टीका लाहौर में छपी थी, उसी के निम्न उद्धरण हैं—

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्याविबाधिताः॥
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः।
सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वं ज्वरं कुर्युः सुदुःसहम्॥

तुलना करें चरक के "निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः" (चि. अ. ३।५६) से। इसी प्रकार "सर्वाकारं रसादीनां शुद्धयाशुद्धयापि वा क्रमात्" की तुलना चरक के "स शुद्धया वाऽप्यशुद्धया वा रसादीनामशेषतः"(चि. अ. ३।५७) से; "वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादश वासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च॥" की तुलना चरक के "दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः। स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा" (चरक. चि. अ. ३।५५) से होती है (एवा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च—माधव, ज्वरनिदान से तुलना करें)।

चक्रपाणि ने अपनी टीका (चरक. चि. अ. ३।१९७) में अग्निवेश का वचन परिभाषा रूप में उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि के समय अग्निवेशसंहिता थी—"द्रव्यमापोथितं क्वाथ्यं दत्त्वा षोडशिकं जलम्। पादशेषं च कर्त्तव्यमेष क्वाथविधिः स्मृतः। चतुर्गुणेनाम्भसा वा द्वितीयः समुदाहृतः॥"

यहीं पर चक्रपाणि ने अपनी टीका में कृष्णात्रेय का वचन भी दिया है—"पातव्यकषाये कृष्णात्रेयः—क्वाथ्यद्रव्यपले वारि [illegible]।" यह वचन उपलब्ध

अग्निवेश के नाम पर अग्निवेशसंहिता के अतिरिक्त नाडीपरीक्षा (बडोदा पुस्तकालयस्थ हस्तलिखित पुस्तको की सूची सख्या १२४, प्रवेश सख्या १५७९), हस्तिशास्त्र (मद्रास पुस्तकभण्डार की हस्तलिखित पुस्तको की सूची सख्या ३७९१) तथा अंजननिदान प्रचलित है। टीकाकारो ने अग्निवेश के नाम से जो वचन उद्धृत किये हैं वे उपलब्ध चरकसहिता में नहीं है । इसलिए कविराज गणनाथ सेन की मान्यता है कि ११-१२वी शती में त्रुटित या सम्पूर्ण अग्निवेशतत्र सभवत: उपलब्ध रहा होगा।

चरक

चरकसहिता के प्रतिसस्कर्त्ता चरक है। चरक नाम बहुत प्राचीन है; कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम चरक है, इस शाखा के पढनेवाले शतपथ आदि में चरक कहे जाते हैं। ललितविस्तर मे तपोवृत्ति भ्रमणशील सन्यासियो के लिए चरक शब्द आया है (अन्यतीर्थकश्रमणब्राह्मणचरकपरिव्राजकानाम्—१म अध्याय) । वराहमिहिर के बृहज्जातक मे सन्यासियो के अर्थ मे चरक शब्द मिलता है ("शाक्याजीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशना")। उस समय चक्र धारण करनेवालो ('चरकश्चक्रधर.'—भट्टोत्पल) और योगाभ्यासी व्यक्तियो को (चरका योगाभ्यासकुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणपाखण्डभेदा —रुद्र) भी चरक कहा जाता था। सायण ने चरक का अर्थ बाँस के ऊपर नृत्य करनेवाला नट किया है (काश्यपसहिता उपोद्घात, पृष्ठ ८३)।

चरक शब्द उपनिषद् में भी आया है('मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम'—बृह० ३।३।१)। चरक शब्द वैशम्पायन और उनके शिष्यो के लिए भी प्रयुक्त होता था (काशिका)। चरक शब्द फारसी मे जख्म-व्रण के लिए आता है। यह शब्द शिष्य अर्थ मे भी आता है। जो शिष्य प्रथम गुरु के पास विद्या समाप्त करके ज्ञानोपार्जन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते फिरते थे, वे चरक कहे जाते थे। इसी से अष्टाध्यायी मे ('माणवचरकाभ्या खञ्' ५।१।११ के द्वारा) चरक के लिए हितकारी; इस अर्थ मे 'चारकीण' शब्द आया है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष–३००)। जातको मे तक्षशिला के विद्यार्थियों के लिए "चारिका चरन्ता" कहा गया है (सोनक जातक ५।२।४७)। श्युआन्

चरकसंहिता का नहीं है, इसी से चक्रपाणि ने इसका प्रतीक नहीं दिया। इससे स्पष्ट है कि कृष्णात्रेय और अग्निवेश के नाम पर पीछे से पद्य बनाये गये हैं।

चरक और पतंजलि—नागेश भट्ट[1] चक्रपाणि,[2] विज्ञानभिक्षु[3] तथा भावमिश्र के शेषावतार की कल्पना के आधार पर चरक और पतञ्जलि को एक सिद्ध करने का यत्न किया जाता है। पतञ्जलि पुष्यमित्र के समय हुए है, पुष्यमित्र ने मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर राज्य प्राप्त किया था। पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति तथा शुंगवंशी था, इसने १८४ ई० पू० मे राज्य प्राप्त किया और लगभग ३६ वर्ष चलाया। इसके समय यवनों (शक-हूणो का) आक्रमण भारतवर्ष में हुआ था। उनके द्वारा माध्यमिका तथा साकेत का घेर लेने का संकेत महाभाष्य में मिलता है—

"अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।"

पतञ्जलि ने महाभाष्य में अपने को 'गोनर्दीय' गोनर्द देशवासी कहा है। चरक मे गोनर्द देश का कही भी उल्लेख नही है। यदि भाष्यकार और चरक-प्रतिसंस्कर्ता एक होते तो चरक मे किसी स्थान पर गोनर्द देश का उल्लेख मिलना चाहिए था। चरक में काम्पिल्य, बाह्लीक, पह्लव, शूलिक, चीन, सिन्धु, सौवीर आदि देशो का उल्लेख है, परन्तु गोनर्द का नही है। महाभाष्य में भी चरक नाम नही है। इससे दोनों की भिन्नता स्पष्ट है।

जो पतञ्जलि व्याकरण पर बृहत् भाष्य लिखकर तथा योगसूत्र निर्माण करके अपनी प्रतिभा दिखा सकते है, वह चरक का प्रतिसंस्कार करके अपनी प्रतिभा को संकुचित रूप मे क्यो दिखाते; नया ग्रन्थ भी लिख सकते थे। महाभाष्य में बीच-बीच में लोकोक्तियाँ, समास-व्यासोक्तियाँ बहुत मिलती हैं, परन्तु चरक में ऐसी कोई रचना नही। महाभाष्य में प्रतिपक्षी को जिस प्रकार से आड़े हाथ लिया गया है, वैसा चरक में नही मिलता।[4]

---

१. "तत्राप्तोपदेशः शब्दः प्रमाणम्। आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथावादी यः स इति चरके पतञ्जलिः" वै. सि. मंजूषा। यह लक्षण चरकसंहिता के आप्तलक्षण से मिलता है (सू. अ. ११)।

२ पातंजल-महाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥ (चक्रपाणि)

३. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥ (विज्ञानभिक्षु)

४. युधिष्ठिर मीमांसक ने किलास का अर्थ चरक किया है; वे चरक का अर्थ श्वेतकुष्ठ करते हैं, परन्तु चरक शब्द अरबी-फारसी में व्रण या जख्म के लिए आता है। देखिए—आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

चरकसहिता के ज्ञाता के लिए ऐसे सकोच का कोई प्रश्न ही नही था। 'ऋतू-क्थादि' सूत्र (४।२।६०) के वार्त्तिक सम्बन्धी उदाहरणो मे 'वायसविद्यिक, सार्पविद्य, आङ्गविद्य, धार्मविद्य, त्रैविद्य' आदि उदाहरणो के साथ आयुर्वेद विद्या सम्बन्धी उदाहरण न देना स्पष्ट करता है कि पतञ्जलि चरक से भिन्न है। इसी प्रकार 'रोगाख्याया ण्वुल् बहुलम्' (३।३।१०८), 'रोगाच्चापनयने' (५।४।४९) इन सूत्रो का कोई भी उदाहरण महाभाष्य मे नही दिया गया, जब कि काशिका मे 'प्रवाहिकात कुरु' उदाहरण देकर प्रवाहिका की चिकित्सा करो—यह स्पष्ट किया गया है।

जो नियम स्त्रियो को रजस्वलावस्था में पालन करने चाहिए उनकी सुश्रुत मे सूचना दी है (शा० अ० २।२५)। यही बाते 'चतुर्थ्यर्थे बहुल छदसि' (२।३।६२) सूत्र के भाष्य मे पतञ्जलि ने उदाहरण रूप से कही हैं।[1] चरक के जातिसूत्रीय अध्याय मे (शा० अ० ८) इस प्रकार की सूचना नही है।

योगसूत्रो मे वर्णित योगप्रक्रिया तथा चरकसहिता के योगज्ञान मे अन्तर है। चरक के योगसाधनानुसार रज और तम को दूर करने पर जब शुद्ध सत्त्व का उदय हो जाता है, तब मन के आत्मा मे स्थिर हो जाने से योग पूर्ण होता है। योगदर्शन में चित्तवृत्तियो के निरोध को योग कहा है। इस योग के लिए जो उपाय बताये गये हैं वे चरकसहिता के उपायो से (शा० अ० ५) भिन्न है। चरकसहिता का योग मोक्ष को देता है, योगदर्शन का योग समाधि में ईश्वर-साक्षात्कार कराता है।

योगसूत्रो तथा महाभाष्य के कर्त्ता एक ही पतञ्जलि है, यह भी निश्चित नहीं। जो भी हो, तात्पर्य यह है कि चरक और पतञ्जलि दोनो को भिन्न मानना ही उत्तम है।

चरक का समय—उपलब्ध चरकसहिता में साख्यदर्शन तथा न्यायदर्शन की अधिक छाया है; बौद्ध दर्शन की छाया भी एक दो स्थानो में है, जैसे क्षणिकवाद की छाया चरक के "हेतुसाम्यात् समस्तेषा स्वभावोपरम सदा"—सू० अ० १६।२७ इस वाक्य मे मिलती है। भिषग्जितीय अध्याय (वि० अ० ८) मे न्यायदर्शन के निग्रहस्थान आदि विषयो का उल्लेख है। नागार्जुन ने 'उपायहृदय' नामक

---

१. 'स्त्रियाम्' (४।१।३) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के अनुसार प्रसव पुरुषधर्म होने से 'पुमान् सूते' यह प्रयोग होता है, परन्तु पाणिनि के षूङ् प्राणिगर्भविमोचने धातुपाठ के अनुसार लोक में 'स्त्री सूते' 'माता सूते' प्रयोग होते हैं। भाष्यकार के मत से ये प्रयोग औपचारिक हैं। किसी [illegible] का ऐसा अभिप्राय संदेहास्पद होगा।

ग्रन्थ में तथा गौतम ने न्यायदर्शन में पक्ष-प्रतिपक्ष, जय-पराजय आदि विवादविषयो का उल्लेख किया है। आयुर्वेदग्रन्थो मे केवल चरक मे ही यह विषय वर्णित है।

त्रिपिटक के चीनी अनुवाद मे कनिष्क के राजवैद्य का नाम चरक मिलता है। कनिष्क के समय मे ही आर्य नागार्जुन की स्थिति मानी जाती है। चरक और 'उपाय-हृदय' दोनो मे एक समान वाद-विषय का उल्लेख दोनो को समकालीन सिद्ध करता है। कनिष्क का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। इससे यह निश्चित नही होता कि नागार्जुन का समकालीन चरक ही अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कर्त्ता था। कनिष्क की सभा में अश्वघोष कवि भी था जिसे कनिष्क पाटलिपुत्र से लाया था। अश्वघोष की रचनाओ में चरकसहिता की झलक, उपमाएँ, भाव प्राय मिलते है। सम्भवत उसी समय चरकसहिता का प्रतिसस्कार हुआ हो।

नागार्जुन ने उपायहृदय में सुश्रुत का नाम भैषज्य विषय में लिखा है, परन्तु अपने सामयिक कनिष्क के राजवैद्य चरक का नाम नही लिखा। नागार्जुन ने अग्निवेश का भी नाम नही लिखा। इसलिए इस सक्षिप्त भैपज्य विषय में चरक का नाम न आना इस बात को प्रमाणित नही करता कि चरक कनिष्क के समय नही था। अश्वघोष की रचनाओ से स्पष्ट है कि उसके समय उपलब्ध चरकसहिता का अस्तित्व था। इसका प्रतिसस्कार हो चुका था। सस्कार ईसा की प्रथम शताब्दी मे या उससे पूर्व चरक द्वारा किया जा चुका था, तभी दोनो के भाव, उपमा आदि मे समानता है। इसलिए चरक का समय ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व या यही मानना अधिक युक्तिसगत है।[1]

शल्यचिकित्सा सम्प्रदाय

आयुर्वेद के आठ अगो मे सुश्रुतसहिता के अनुसार शल्यचिकित्सा सबसे मुख्य है। क्योकि इसमे इच्छानुकूल, आँख से देखते हुए कार्य किया जाता है, इसमें उपक्रम-चिकित्सा तुरन्त हो जाती है। यन्त्र, शस्त्र, अग्नि, क्षार आदि इसके साधन है, अधिक वनस्पतियो का झमेला नही है। अन्य सब चिकित्सागो को यह मान्य है, उनको भी इसकी जरूरत पडती है (सु० सूत्र० अ० १।१८)। इसके सिवाय इसी अग का सब अगो से प्रथम उपदेश हुआ है, क्योकि देव-असुरसग्राम मे चोट आदि का सरोहण

---

१. अधिक जानकारी के लिए देखिए—लेखक का 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद'—ग्रन्थ; एवं 'सांस्कृतिक दृष्टि से चरक संहिता का अध्ययन'

तथा यज्ञ के सिर का सधान इसी अग के द्वारा पूरा हुआ था। इसलिए अन्य सब अगो मे शल्य अग ही सबसे मुख्य है।[1]

इस अग के उपदेष्टा धन्वन्तरि है, जो कि वैद्यक शास्त्र के मबसे प्रथम देवता माने जाते है—जैसा कि निम्न पद्य मे उनका कहना है—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥
सु. सू. अ. १।२१

देवताओ के बुढापे, रोग, मृत्यु को दूर करनेवाला आदिदेव धन्वन्तरि मैं हूँ, शल्य आदि दूसरे अगो का उपदेश करने के लिए पुन इस पृथ्वी पर आया हूँ। धन्वन्तरि का देवता होना चरकसहितोक्त अध्ययन विधि मे भी सिद्ध होता है। वहाँ ब्रह्मा, अग्नि, अश्विनौ, इन्द्र के साथ धन्वन्तरि का भी नाम लेकर आहुति देने का उल्लेख है (वि० अ० ८।११)। चरकसहिता के समय धन्वन्तरि-सम्प्रदाय का विकास हो गया था, जो लोग दाहकर्म, शस्त्रकर्म करते थे उनके लिए धन्वन्तरि शब्द प्रयुक्त होता था (चरक० चि० ५।४४)। चरक सहिता के समय शस्त्र, क्षार, अग्नि-चिकित्सा का प्रचार अधिक था, यह बात अर्शचिकित्सा मे औषध प्रयोग का महत्त्व बतानेवाले वचन से स्पष्ट है।[2]

चरकसहिता में दी हुई आयुर्वेदपरम्परा मे धन्वन्तरि का नाम नही, एव सुश्रुत की परम्परा मे भरद्वाज या आत्रेय का नाम नही है। परन्तु उपलब्ध सुश्रुत मे चरक-सहिता का गद्य तथा पद्य भाग कई स्थानो पर अविकल रूप से मिलता है। उत्तर तन्त्र के "षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ता परमर्षिभि"—वाक्य मे छ सख्या आत्रेय के अग्निवेश, भेल, पराशर, क्षारपाणि, जतुकर्ण, हारीत, इनकी पद्धति के लिए ही कही

---

१. फिर भी कायचिकित्सा का क्षेत्र शल्यचिकित्सा से अधिक विस्तृत है; मनुष्य को जीवन में शल्यचिकित्सा की अपेक्षा कायचिकित्सा की ही अधिक आवश्यकता होती है। रसायन, वाजीकरण, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र—इनमें कायचिकित्सा ही प्रधान है।

२. पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च।
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्॥
यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम्।
तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये॥ चरक. चि. अ. १४।३३-३६

है। इससे स्पष्ट होता है कि वर्त्तमान उपलब्ध सुश्रुतसहिता चरकसहिता के पीछे बनी है। इस समय शल्य के लिए केवल सुश्रुत की पद्धति हमको उपलब्ध है। कायचिकित्सा के लिए वाग्भटरचित सग्रह और हृदय मिलते है, इनमे आत्रेय को ही उपदेष्टा मानकर व्याख्यान किया गया है। यद्यपि इनमें शल्यचिकित्सा सुश्रुत के आधार पर लिखी गयी है, परन्तु मुख्य भाग चरक के अनुसार ही है।

उपलब्ध सुश्रुतसहिता में धन्वन्तरि का काशिराज और दिवोदास नामो से भी उल्लेख किया गया है। धन्वन्तरि शब्द का अर्थ शल्यशास्त्र के पार ले जानेवाला बतलाया गया है। शल्य का अर्थ हिंसा-पीडा देनेवाला है; इस दृष्टि से जहाँ वेणु, तृण, काष्ठ, लोह, गर्भ, पुरीष आदि शल्य है, वहाँ पर शोक भी शल्य है, अतः इसकी भी चिकित्सा वर्णित है (सूत्र० अ० २७।५)। शरीर में जिससे भी पीड़ा, दुख हो, उस सबको शल्य कहा गया है। शल्य शास्त्र के उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं, जो इन्द्र के शिष्य तथा सुश्रुत आदि के गुरु, काशि के राजा हैं। राजा होने से वचन में अभिमान (अह हि धन्वन्तरिः) तथा दान देने का गौरव (मया तु प्रदेयमर्थिभ्य) स्पष्ट दीखता है। इस दान का उद्देश्य प्रजाहित ही है।[1] परन्तु महाभारत में समुद्र मथन के प्रसग में धन्वन्तरि देव के आविर्भाव का उल्लेख है। पुराणो मे भी इसी रूप मे इनका उल्लेख है। परन्तु वेद मे धन्वन्तरि का नाम नही। कौषीतकि ब्राह्मण मे तथा कौषीतकी उपनिषद् मे दैवोदासि-प्रतर्दन का उल्लेख है।[2] काठक संहिता मे भी आरुणि समकालीन भीमसेन के पुत्र दिवोदास का नाम है।

हरिवश पुराण के अनुसार ये काश राजा के वश मे उत्पन्न होने से काशिराज एव धन्व राजा के पुत्र होने से धन्वन्तरि कहे जाते है। भरद्वाज से विद्या पढ़ने के कारण इनका आयुर्वेद से सम्बन्ध है। दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में हुए हैं, परन्तु आयुर्वेद के विद्वान् होने से धन्वन्तरि का अवतार मानकर इनका 'धन्वन्तरि दिवोदास' यह नाम प्रचलित हो गया है। प० हेमराजजी के कथनानुसार उनकी ताड़पत्र लिखित

---

१. काशिराज का उल्लेख बौद्ध जातकों में विशेष रूप से है, काशिराजकुमार तक्षशिला में विद्याध्ययन के लिए जाते थे।

२. अथ ह स्माह दैवोदासिः प्रतर्दनो नैमिषीयाणां सत्रमुपगम्योपास्य विचिकित्सां पप्रच्छ। (कौषातकि ब्राह्मण–२६-५)

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। ([illegible]–३–१)

दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच। (काठक संहिता ७।१।८)

सुश्रुत की प्रति में "इत्युवाच भगवान् धन्वन्तरि" शब्द नही है। उनका कहना है कि दिवोदास के पास सुश्रुत आदि के जाने पर यह उल्लेख होना ठीक नही। परन्तु जब धन्वन्तरिरूप दिवोदास है, तब ऐसा कहने में कोई बाधा नही, यह मेरी मान्यता है, आज भी बोलचाल मे हम कहते है कि यह तो साक्षात् धन्वन्तरि है।

बौद्ध जातको तथा महावग्ग मे काशी और वाराणसी दोनो शब्द आते हैं। इनमें वाराणसी नगर के लिए और काशी राज्य के लिए मिलता है। पाणिनि ने भी देश-जनपद-वाचक काशि शब्द प्रयुक्त किया है (४।१।११६)। जनपद का नाम काशि था, वाराणसी उसकी राजधानी थी।

वरणा और असी इन दो नदियो के बीच में स्थित देश की नगरी वाराणसी है। सुश्रुत में वाराणसी शब्द नही है, उपनिषदो मे भी काशि शब्द मिलता है, परन्तु वाराणसी नही मिलता। पुराणो में काशी और वाराणसी दोनो मिलते हैं। इतिहास में वाराणसी की चर्चा है परन्तु धन्वन्तरि, दिवोदास, प्रतर्दन इन राजाओ की शृंखला नही मिलती। कात्यायन ने 'दिवश्च दासे' वार्तिक से दिवोदास शब्द सिद्ध किया है। महाभाष्य मे 'दिवोदासाय गायते' यह प्रयोग मिलता है, ऋक्सर्वानुक्रम सूत्र में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख है। इन सब स्थलो में दिवोदास का नाम देखने से प० हेमराज के मतानुसार यह उपनिषदो के पूर्व या समकालीन सिद्ध होते हैं।

ऐतिहासिक विचारकों के अनुसार मोटे तौर पर सातवी शती से चौथी शती ई० पू० तक के युग में पाणिनि के समय की सर्वसम्मत अवधि होती है। इसमें भी पाँचवी शती ई० पू० के पक्ष मे बहुमत है। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से काशि और वाराणसी शब्द जहाँ प्राचीन है, वहाँ पर दिवोदास शब्द भी प्राचीन सिद्ध होता है। क्योकि वार्त्तिककार कात्यायन पाणिनि के समकालिक थे।

मिलिन्दप्रश्न नामक पालिग्रन्थ (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी) में नागसेन-संवाद के अन्तर्गत धन्वन्तरि का नाम आता है।[१] अयोघर (अयोगृह) जातक मे भी

---

१. भन्ते नागसेन! ये ते अहेसुंतिकिच्छकानां पुब्बका आचारिया नारदो, धन्वन्तरि, अंगिरसो, कपिलो कण्डरग्गिसामो, अतुलो, पुब्बकच्चायनो, सब्बे येते आचारिया स किं येव रोगुप्पत्तिं च निदानं च संभावं च समुत्थानं च चिकिच्छां च किरियां च सिद्धासिद्धां च सब्बान् तं निखसेसं जानयित्वा इमस्मिन् काये एतका रोगा उपज्जिसन्तीति एकापहारेन कलाप्पगाहं कारयित्वा सुत्तंबन्धिसु असब्बञ्ञुनो एते सब्बे॥

(मिलिन्द पन्ह)

धन्वन्तरि, वैतरण, भोज आदि चिकित्सको की चर्चा करते हुए 'लोगो का उपकार करनेवाले धन्वन्तरि के समान विद्वान् भी काल के मुख मे चले गये'—यह बतलाया है।[१] आर्यसूत्रीय जातक में केवल धन्वन्तरि का नाम आया है।[२]

'धन्वन्तरि' नाम चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के नवरत्नो की गणना मे भी मिलता है (धन्वन्तरि क्षपणकोऽमरसिंहशकु—वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः)। सम्भवतः यह नाम उस सभा के राजवैद्य के लिए आया हो।

काश्यप सहिता के शिष्योपक्रमणीय अध्याय मे आहुति देने के लिए 'धन्वन्तरये स्वाहा' कहा है, वहाँ पर आत्रेय या भरद्वाज का उल्लेख नही है (विमान० अ० १।३)। चरक सहिता के भी रोगभिषग्जितीय प्रकरण (वि० अ० ८) में धन्वन्तरि के लिए आहुति देना लिखा है, भरद्वाज के लिए नही। चरक सहिता मे गर्भनिर्माण के सबंध मे धन्वन्तरि के मत का उल्लेख मिलता है (शा० अ० ६।२१)। परन्तु सुश्रुत में इसी प्रसग में शौनक, कृतवीर्य, पराशर, मार्कण्डेय, सुभूति तथा गौतम के मत दिये गये है, इनमें आत्रेय या भरद्वाज का मत नही है। सुश्रुत में धन्वन्तरि का जो मत इस सम्बन्ध में है (शा० अ० ३।३२) वही चरक सहिता मे है। इसी मत को आत्रेय ने स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त चरक सहिता मे जहाँ भी दाह या शल्य-चिकित्सा का प्रसग आया है, वहाँ पर धन्वन्तरि सम्प्रदाय के वैद्यों का स्मरण किया गया है।[३] यही प्रकार काश्यप सहिता में भी मिलता है, द्विव्रणीय अध्याय में शल्यकर्म को 'परतत्रसमय' कहकर जो वर्णन किया है, वह चरकसहिता के वचनो से पूर्ण रूप में मिलता है, यथा—

---

१. आसीविसा कुपिता यं डसन्ति, टिकिच्छका होसंविसं हनन्ति।
मच्चुस्सनो दट्ठविसं हनन्ति तं मे मति होतिचरामि धम्मम्।
धम्मन्तरि वेतरिणि च भोजो विसानि हत्वा च भुजङ्गमानम्॥
(अयोघर जातक)

२. हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमंत्रा व्याधीतृणामुपशम्य च वैद्यवर्याः।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं धर्माय मे नमति (भवति)॥
(आर्यसूरीय जातक)

३. सर्वांगनिवृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः (चरक. शा. अ. ६); दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम् (चि. अ ५।६४); इदं तु शल्यहर्तृणाम् (चि. १३।१८२); ताः शल्यविद्भिः कुशलैः चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च (चि. अ. ६।५८)।

परतंत्रस्य समयं प्रब्रुवन्न न विस्तरम् ।
न शोभते सतां मध्ये लुब्धः काक इवाचितः ।।

—काश्यप. द्विव्रणीय ५

तेषामभिव्यक्तिरभिप्रविष्टा शालाक्यतंत्रेषु चिकित्सितं च ।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः ।।

चरक. चि. अ. २६।१३१

इसलिए इन बातो से स्पष्ट है कि धन्वन्तरि नाम आयुर्वेद से सम्बन्धित था और यह 'धन्वन्तरि' शब्द इसी अर्थ में उपलब्ध सहिताओ से बहुत प्राचीन था । यह नाम विशेष सम्प्रदाय के लोगो के लिए प्रचलित था, यह बात धन्वन्तरि शब्द के बहुवचन प्रयोग से स्पष्ट है । इस सम्प्रदाय का मुख्य सम्बन्ध आयुर्वेद के शल्य अंग से था, जिसमे दाह, अग्नि, शस्त्र कर्म होते थे । इस अग का अभ्यास करनेवाले पृथक् रहते थे ।

परंपरा

ब्रह्मा से इन्द्र तक आयुर्वेदपरम्परा चरक-सुश्रुत-काश्यप सहिता में एक समान है। इन्द्र से इसकी पृथक् शाखाएँ निकलती है। धन्वन्तरि ने इन्द्र से सम्पूर्ण आयुर्वेद सीखा, परन्तु उपदेश केवल शल्य अंग का ही किया है। इसलिए इस अंग का नाम धन्वन्तरि-सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। (सामान्यतः सब प्रकार के चिकित्सकों के लिए 'धन्वन्तरि' शब्द लोक में चलता है।) धन्वन्तरि ने अपना उपदेश सुश्रुत को सम्बोधन करके दिया है । इसी से इसका सुश्रुतसहिता नाम हो गया है। सुश्रुत-सहिता में धन्वन्तरि या दिवोदास और सुश्रुत (गुरु और शिष्य) ये ही दो नाम आते है; काश्यप और चरक की भाँति दूसरे किसी ऋषि का मत इसमें नही आता। दिवोदास उपदेष्टा और सुश्रुत श्रोता; यही दो व्यक्ति इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि है।

धन्वन्तरि दिवोदास—दिवोदास का नाम ऋग्वेद में (यद् यात दिवोदासाय वर्त्ति भारद्वाजावश्विना हयन्त) सबसे प्रथम आता है। इसे सुदास का पिता और शम्बर का शत्रु कहा गया है। सुदास का दस राजाओ से युद्ध प्रसिद्ध है। परन्तु इस दिवोदास का काशिराज धन्वन्तरि से सम्बन्ध प्रतीत नही होता; न इसके चिकित्सक होने का उल्लेख है। पुराणो में अनेक दिवोदासो का वर्णन मिलता है। हरिवश, २९वे अध्याय मे काश वश की परम्परा का उल्लेख इस प्रकार है[1]—

---

१. श्री पं० हेमराज के उपोद्घात से

काश के पौत्र धन्व ने समुद्र मथन से उत्पन्न अब्ज देवता की आराधना से अब्ज के अवतार धन्वन्तरि को पुत्र रूप मे प्राप्त किया था। धन्वन्तरि ने भरद्वाज से आयुर्वेद सीखकर इसको आठ भागो मे विभक्त किया। इसके प्रपौत्र दिवोदास ने वाराणसी नगरी बसायी। दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन था। दिवोदास के समय से उजडी हुई वाराणसी को प्रतर्दन के पौत्र काशिराज अलर्क ने फिर से बसाया था, यह बात हरिवंश से स्पष्ट है। दिवोदास द्वारा ही वाराणसी बसाने का उल्लेख महाभारत में भी है (अनुशा० अ० २९)।

महाभारत में चार स्थानो पर दिवोदास का नाम आता है।[1] इसके अनुसार भी दिवोदास का काशिपति होना, वाराणसी का बसाना, हैहयों द्वारा पराजित होकर भरद्वाज की शरण में जाना, उसके द्वारा किये पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रतर्दन नामक पुत्र की उत्पत्ति आदि विषय मिलते हैं। अग्निपुराण और गरुडपुराण में भी वैद्य धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी मे दिवोदास का उल्लेख है।[2]

आदि धन्वन्तरि दिवोदास ही वर्त्तमान सुश्रुत संहिता के उपदेष्टा हैं; यह इससे स्पष्ट नहीं। धन्वन्तरि आयुर्वेद विद्या के सम्मानित देवता थे, इतना ही इन सन्दर्भो से स्पष्ट होता है। दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढी में हुए, ये भी अच्छे आयुर्वेद-

---

१. उद्योगपर्व अ. ११७; अनुशासनपर्व, दानधर्म प्रकरण—अ. २९; राजधर्म प्रकरण—अ. ९६; और आदि पर्व।

२. अग्निपुराण अ. २७८; गरुडपुराण अ. १३९।८-११। ये पुराण बहुत पीछे के हैं। इनमें माधवनिदान के श्लोकों का अवतरण मिलता है।

ज्ञाता थे, इसलिए इनको भी धन्वन्तरि नाम से कहा जाता था। दिवोदास काश राजा के वशधर होने से काशिराज नाम से कहे जाते थे। काशिराज का वाराणसी नगर से क्या सम्बन्ध था, यह अस्पष्ट है, सम्भवत वाराणसी इससे अलग हो। यह कोई बडा राज्य नही था, इसलिए कोशल या मगध दोनो पडोसी बडे राज्यो मे से किसी एक के साथ जुडा रहा होगा। इन राज्यो के अधीन दिवोदास सामन्त या अन्य छोटे राजा के रूप मे रहे होगे। इतिहास मे इनका उल्लेख नही है, केवल पुराण, महाभारत मे नाम सुनाई देता है।

उपलब्ध सुश्रुतसहिता मे सैनिक चिकित्सा का उल्लेख मिलने से यह स्पष्ट है कि इसका उपदेष्टा राजा था।[1] राजा की रक्षा किस प्रकार से करनी चाहिए, शत्रु किस प्रकार राजा को हानि पहुँचा सकते है, सैनिक आक्रमण के समय वैद्य का संनिवेश, उस पर लगा चिह्न, जिसे कि दूर से पहचाना जा सके आदि बातें इसके उपदेष्टा का राजा होना प्रमाणित करती है।[2] दिवोदास निश्चित रूप से वर्त्तमान सुश्रुतसहिता के आधार पर भारशिवों के समकालीन (ईसा की दूसरी या तीसरी शती में) प्रमाणित होते है। सुश्रुत को वेदवादी ऋषियो तथा चरकसहिता-सम्मत अस्थिगणना का ज्ञान था, इसलिए इस संहिता को शतपथब्राह्मण और चरक सहिता के पीछे की मानना ही उचित है। यह अस्थिगणना याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी है। इसमे सुश्रुत की गणना को महत्त्व नही दिया गया। याज्ञवल्क्य स्मृति ईसा की दूसरी शताब्दी मे निर्मित

---

१. सैनिकचिकित्सा—

"नृपतेर्युक्तसेनस्य परानभिजिगीषतः। भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदिश्यते॥
विजिगीषुः सदामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः। रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः॥
पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम्। दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा॥
सु. सू. अ. ३४।३-५.

२. स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्। भवेत्संनिहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम्। उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिताः॥
सू. अ. ३४

इसी बात को कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी सांग्रामिक प्रकरण में कहा है—

"चिकित्सकाः शस्त्रयंत्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्-हर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः॥" चिकित्सक, शस्त्र, यंत्र, अगद, स्नेह, वस्त्र को सम्भालने वाले, खानपान की रक्षा करनेवाले एवं पुरुषों को प्रसन्न करनेवाली स्त्रियाँ युद्धभूमि में सेना के पीछे रखनी चाहिए।

मानी जाती है। इसलिए उपलब्ध सुश्रुतसहिता का समय ही ऐसा था जब कि देश मे ऐतिहासिक परपरा स्थापित न करनेवाले छोटे छोटे राज्य बहुत थे। इसी लिए इस समय का नाम डाक्टर जायसवाल ने "अन्धकारयुगीन भारत" रखा है। इन छोटे छोटे राज्यो मे ही एक राज्य काशि का था, जिसका राजा दिवोदास था। इसका समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी हो सकता है। यही बात उपलब्ध सुश्रुत-सहिता मे राम, कृष्ण और श्रीपर्वत के नाम से स्पष्ट है।

श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री का यह कथन सत्य है कि नामो के आधार पर समय का निर्णय न करके उपलब्ध ग्रन्थ के पौर्वापर्य तथा आन्तरिक विवेचन से करना सही होता है। इसी के आधार पर उपलब्ध सुश्रुतसहिता का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी आता है। डल्हण का कहना है कि यह सहिता प्रतिसस्कार रूप मे है; परन्तु चरकसहिता की भाँति इसमे प्रतिसस्कर्त्ता का नाम नही मिलता और न अन्दर का कोई प्रमाण इसका प्रतिसस्कार ही सिद्ध करता है। भाषा भी सामान्य सस्कृत है; महाभाष्य शैली या उपनिषद् शैली की अथवा अश्वघोष, कालिदास, सग्रह या हृदय की ललित भाषा से सर्वथा भिन्न है। इसलिए इसका समय ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी ही समीचीन प्रतीत होता है।

सुश्रुतसहिता में चरक के निम्नलिखित वचन मे विप्रतिपत्ति बतायी गयी है—दर्शनप्रश्नसस्पर्शै. परीक्षा त्रिविधा स्मृता"—चरक, चि० अ० २५।२२। इसके विषय में लिखा है—"आतुरमभिनश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगा प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत्तु न सम्यक् षड्विधो हि रोगाणा विज्ञानोपाय, तद्यथा—पचभि· श्रोत्रादिभि प्रश्नेन चेति"—सूत्र० अ० १०।४ (सुश्रुत की उपर्युक्त परीक्षा सम्भवत. व्रण के सम्बन्ध मे ही हो, परन्तु चरक मे व्रणस्राव की गध से भी परीक्षा करने की विधि है—चरक० चि० अ० २५)। इससे सुश्रुत की रचना चरक-सहिता के पीछे हुई है, इसमे सन्देह नही।

सुश्रुत—उपलब्ध सुश्रुतसहिता मे सम्बोधन सुश्रुत को किया गया है, इस सम्बन्ध मे कहा है कि सुश्रुत के साथ समागत सब शिष्यों ने धन्वन्तरि दिवोदास से कहा कि "एक विचारवाले हम सबो के अभिप्राय को ध्यान में रखकर सुश्रुत आपसे प्रश्न पूछेगा और इसके प्रति किये गये उपदेश को हम सब सुनेगे (सु० सू० अ० १।१२)। इसके बाद जो भी कहा गया वह सब सुश्रुत को सम्बोधन करके ही कहा है।

सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है (विश्वामित्रसुत. श्रीमान् सुश्रुत· परिपृच्छति—उ० अ० ६६।४)। चक्रदत्त मे भी सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा है

(अथ परमकारुणिको विश्वामित्रसुत सुश्रुत ग्रन्थप्रधानमायुर्वेदनत्र प्रणेतुमारब्ध-वान्) । पर विश्वामित्र कौन है, इसका कुछ स्पष्टीकरण नही। रामायण के प्रसिद्ध विश्वामित्र का इनसे कोई सम्बन्ध नही। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा या त्रिशकु की कथा से सम्बन्धित विश्वामित्र का भी इससे सम्बन्ध नही जुडता। महाभारत के अनुशासन पर्व के चौथे अध्याय मे विश्वामित्र के पुत्रो मे सुश्रुत का नाम आता है। भावप्रकाश मे विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्र सुश्रुत को आयुर्वेद पढने के लिए काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के पास भेजने का जो उल्लेख है, वह इसी उपलब्ध सुश्रुत के आधार पर है।

आग्नेय पुराण मे (२७९-२९२) नर, अश्व और गायो से सम्बन्धित आयुर्वेद का ज्ञान भी सुश्रुत और धन्वन्तरि के बीच शिष्य-गुरु रूप मे वर्णित है। एक प्रकार से धन्वन्तरि और सुश्रुत का नियत सम्बन्ध आयुर्वेदविषय मे दीखता है। धन्वन्तरि के समान सुश्रुत नाम भी पुराना है। प० हेमराजजी अपने प्रमाणो से इनको भी पाणिनि से पूर्व उपनिषत्कालीन मानते है, उनका सारा आधार सुश्रुत नाम ही है। साथ ही उनका कहना है कि सुश्रुत मे बौद्ध विचार नही है। परन्तु ऐसी बात है नही; सुश्रुत मे 'भिक्षु सघाटी' शब्द आता है (उ० अ० ३३।६६)। इसमे डल्हण ने भिक्षु का शाक्य भिक्षु ही अर्थ किया है, सघाटी भिक्षुओ की दोहरी चादर होती है, जिसे वे ऊपर से ओढते है। इसलिए इसका समय बौद्धकाल के अनन्तर ही निश्चित होता है। साथ ही इसमें राम और कृष्ण का नाम आता है (चि० अ० ३०)। इससे भी स्पष्ट है कि जिस समय अवतार रूप में देवतापूजा प्रारम्भ हो गयी थी, उस समय इसका निर्माण हुआ है। केवल नाम से निर्णय करने पर सही निश्चय नही होता। इसलिए धन्वन्तरि दिवोदास का समय ही सुश्रुत का समय है, जो कि ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी सम्भावित है। शालिहोत्र में सुश्रुत धन्वन्तरि से न पूछकर शालि-होत्र से प्रश्न करता है[1]। यद्यपि शिष्य के लिए भी पुत्र शब्द मिलता है, परन्तु सुश्रुत-सहिता में शालिहोत्र का नाम तथा शालिहोत्र-कृत अश्ववैद्यक मे धन्वन्तरि का नाम

---

१. शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति। एवं पृष्टस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभ्यभाषत ॥
शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्राः सुश्रुतसंगताः। व्याख्यातं शालिहोत्रेण पुत्राय परिपृच्छते ॥
—शालिहोत्र

शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम्। तत्त्वं यद् वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम्॥
सिद्धोपदेशसंग्रह

न होने से स्पष्ट है कि उक्त ग्रथ मे आये हुए नाम इतिहास की दृष्टि से महत्त्व नही रखते।

नागार्जुन--डल्हण का कथन है कि सुश्रुत का प्रतिसस्कार हुआ है और प्रति-संस्कर्त्ता नागार्जुन है। सुश्रुत की भॉति नागार्जुन बहुत प्राचीन तो नही, परन्तु नागार्जुन कई हुए है। इनमे सिद्धो के वर्ग मे होनेवाले नागार्जुन का समय ईसा की ८वी या ९वी शताब्दी है। सुश्रुत मे रस-विषय की चर्चा न होने से इस नागार्जुन के सुश्रुत-सस्कर्त्ता होने के पक्ष मे कोई प्रमाण नही मिलता। माध्यमिक वृत्ति के कर्ता तथा शून्यवाद के प्रवर्त्तक नागार्जुन दार्शनिक है, वह वैद्य नही थे। शातवाहन राजा के समकालीन एक महाविद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का उल्लेख हर्षचरित मे है। अल्बेरूनी ने लिखा है कि उससे एक सौ वर्ष पूर्व एक रासायनिक नागार्जुन हो गया है (अल्बेरूनी का समय ईसा की ११वी शती है)। च्युआन् शाङ्ग ने एक नागार्जुन का उल्लेख किया है। कनिष्क के समय एक नागार्जुन हुआ है। इस प्रकार से नागार्जुन कई है।

कविराज गणनाथ सेन एव प० हेमराजजी की मान्यता है कि सिद्ध नागार्जुन सुश्रुत का प्रतिसस्कर्त्ता है। परन्तु इस विषय मे न तो कोई बलवान् प्रमाण है और न यही कि इसका प्रतिसस्कार हुआ है, या नागार्जुन ने प्रतिसस्कार किया है। सिद्ध नागार्जुन को प्रतिसस्कर्त्ता मानने मे आपत्ति यह है कि फिर सुश्रुत का समय गुप्तकाल और वाग्भट के वाद छठी शती के अनन्तर आता है, जो असम्भव है। आठवी शती तक भाषा बहुत विकसित हो चुकी थी--इसका स्पष्ट उदाहरण वाग्भट के अष्टाग-सग्रह और अष्टागहृदय की रचना है। भाषा की दृष्टि से सुश्रुत बहुत निर्बल है, इसमे कोई भी अश इस दृष्टि से उदाहरण के रूप मे नही रखा जा सकता।

इन सब बातो का एक साथ विचार करने पर सुश्रुत को दूसरी या तीसरी शताब्दी से बाद का नही कह सकते, और प्रतिसस्करण हुआ है, इसको भी महत्त्व नही दे सकते। किसी भी अन्य व्याख्याकार ने नागार्जुन के द्वारा सुश्रुत का प्रतिसस्कार होना नही लिखा; न इसके साथ चरकसहिता की भॉति प्रतिसस्कृत शब्द लगा हुआ है। यदि प्रतिसस्कार का आग्रह रखा ही जाय, जिसे नागार्जुन ने किया है, तो हर्नले के मतानुसार माध्यमिक वृत्ति का कर्त्ता और दन्तकथा के अनुसार कनिष्क का समकालीन नागार्जुन ही प्रतिसस्कर्त्ता हो सकता है। पर यह मान्यता भी क्लिष्ट होगी--क्योकि इस अवस्था मे सुश्रुत का समय और भी पूर्व ले जाना होगा, जिसके लिए विशेष खीचतान करनी होगी। क्योकि सुश्रुत मे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के लिए भिन्न-भिन्न शय्या एव गृहविचार (शा० अ० १०) मिलते है। अध्यापन विधि में भी

जातिवाद स्पष्ट है। ऐसे आधारों के सहारे इसे शुगकाल के समीप लाना पडेगा। इसके विपरीत शातवाहनकालीन नागार्जुन, जो धातुवाद का विद्वान् था, उसको प्रति-सस्कर्त्ता मानना अधिक उपयुक्त होगा। शातवाहन अनेक आन्ध्रवशीय राजाओ के नाम है। इनके शासन का प्रारम्भ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे होता है।

इनमे प्रसिद्ध राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने १३० ई० तक राज्य किया था। लगभग इसी समय नागार्जुन की स्थिति मानना ठीक है। उत्तर भारत में इस समय भारशिवो की प्रधानता थी, जो पूर्णतः ब्राह्मणवाद के समर्थक थे, इन्होने कई अश्वमेध काशी मे किये थे। ईसा की दूसरी शती मे ही सुश्रुत का ठीक समय आता है। श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री की भी यही मान्यता है कि ईसा की दूसरी शती से चौथी शती के मध्यकाल मे सुश्रुत का सम्पादन हुआ है (आयुर्वेद का इतिहास, पृष्ठ ८२)। इसका प्रतिसस्कार हुआ है, और वह नागार्जुन ने किया है; इस विषय में चाहे जो मत हो, परन्तु उपलब्ध सहिता ईसा की दूसरी और चौथी शती के बीच की है; इसका साक्षी इसका अन्त.प्रमाण है। हर्षचरित में शातवाहन के साथ नागार्जुन की मित्रता का जो उल्लेख है, वह भी इसी समय के शातवाहन राजा के साथ ठीक बैठता है। इसलिए प्रतिसस्कर्त्ता यही नागार्जुन हो सकता है। सब नागार्जुन बौद्ध थे, यह भी निश्चित नही, सम्भवत शातवाहन का मित्र नागार्जुन ब्राह्मण एवं वैदिक मत का अनुयायी रहा हो, उसी ने भिक्षुसघाटी शब्द का उल्लेख किया हो। यह श्लोक काश्यप सहिता में भी इसी रूप मे आता है, इसलिए इसका समय इससे पूर्व नही हो सकता।

कश्यप

(काश्यप संहिता अथवा वृद्ध जीवकतंत्र)

काश्यप सहिता अथवा वृद्धजीवकतत्र नामक एक ग्रन्थ नेपाल के राजगुरु पं० हेमराज ने सन् १९३८ में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य के साथ सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इसमें २४० पृष्ठ का एक विस्तृत उपोद्घात है, इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय कौमारभृत्य है। इसकी परम्परा भी चरक-सुश्रुत की भाँति ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है और इन्द्र तक एक ही रूप में आती है। इन्द्र से कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु चार ने आयुर्वेद सीखा (पृ० ४२)। इस सहिता के कर्त्ता कश्यप हैं। कश्यप के विषय में जानकारी इसी सहिता के कल्प-अध्याय (पृ० १९०) में मिलती है, उसके अनुसार

"दक्ष यज्ञ का विध्वस होने से देवता लोग भय के कारण इधर-उधर भागने लगे, उनके भागने से दैहिक और मानसिक सब रोग उत्पन्न हुए। यह अवस्था सतयुग और त्रेता के सन्धिकाल की है। तब लोगो की हितकामना से महर्षि कश्यप ने अपने ज्ञान-चक्षुओ से एव पितामह की आज्ञा द्वारा इस तत्र को बनाया। सबसे प्रथम इस तत्र को ऋचीक के पुत्र, जीवक नामक एक बाल मुनि ने ग्रहण किया और इसे एक सक्षिप्त रचना मे बदल दिया। परन्तु बालक का वचन होने से ऋषियो ने इसका आदर नही किया। इसी समय उसने ऋषियो के सामने कनखल मे गगा के अन्दर डुबकी लगायी और क्षण भर में बली-पलित युक्त वृद्ध रूप में प्रकट हुआ। अब ऋषियो ने बालक का नाम वृद्ध जीवक रखा और इसके ग्रन्थ का अनुमोदन किया। इसके बाद कालक्रम से लुप्त इस तत्र को भाग्यवश अनायास नामक किसी यक्ष ने प्राप्त किया तथा लोककल्याण के लिए इसकी रक्षा की। इसके बाद जीवक के ही वश मे उत्पन्न, वेद-वेदाङ्गज्ञाता एव शिव तथा कश्यप के भक्त वात्स्य नामक विद्वान् ने अनायास को प्रसन्न करके इस तत्र को प्राप्त किया। धर्म और लोक-कल्याण के लिए उक्त विद्वान् ने अपनी बुद्धि से प्रतिसस्कार करके इसे प्रकाशित किया। जो विषय इसके आठ स्थानो में नही आये, उनको खिल स्थान मे लिखा गया है (प्राचीन सहिताओ मे उत्तर तत्र या खिल स्थान परिशिष्ट रूप मे था, चरक में भी था परन्तु वह अब मिलता नही, अन्य सहिताओं मे उपलब्ध है)"।

कश्यप--वैदिक समय से लेकर चरक सहिता तक कश्यप और काश्यप दोनो नाम सुने जाते हैं। चरक सहिता मे कश्यप नाम दो स्थानो पर (सू० अ० १ तथा चि० अ० १।४ पाद) आता है, इन स्थानो मे यह अन्य ऋषियो के साथ में है। इसके साथ 'मारिचि कश्यप' तथा 'मारिचिकाश्यपौ' यह दो पाठभेद भी मिलते है (सू० स्थान अ० १, सू० अ० १२, शा० अ० ६)। प० गगाधर ने सू० अ० १ मे 'कश्यपो भृगु' के स्थान पर 'काश्यपो भृगु' पाठ स्वीकार करके कश्यप-गोत्रोत्पन्न भृगु अर्थ किया है। इस प्रकार भरद्वाज आदि ऋषियो की भाँति कश्यप शब्द ऋषि और गोत्र दोनो अर्थों मे बहुत प्राचीन काल से मिलता है। महाभारत में तक्षक को वापिस करने की कथा मे कश्यप का नाम सुनाई देता है। धर्मसूत्रो और शतपथ ब्राह्मण मे गोत्र अर्थ में कश्यप शब्द मिलता है (हरति कश्यप, शिल्पः कश्यप, नैध्रुविः कश्यप.)।

उपलब्ध काश्यप सहिता के प्रारम्भ और अन्त में "इति ह स्माह भगवान् कश्यप" यह वाक्य लिखा है। बीच बीच मे 'इत्याह कश्यप', इति कश्यप', कश्यपोऽब्रवीत्'

इत्यादि शब्दो मे कश्यप का उल्लेख है।[1] कश्यप भी आत्रेय पुनर्वसु की भाँति अग्नि-होत्र करने से वानप्रस्थ ज्ञात होते है (क० अ० लशुनकल्प)। कही कही पर मारीच नाम का भी उल्लेख है, इसलिए मारीच और कश्यप में अभेद प्रतीत होता है। मारीच और कश्यप सर्वत्र एक वचन में आये हैं।

चरक सहिता मे मारीच और वार्योविद का एक साथ उल्लेख है (सू० अ० १२)। काश्यप सहिता में भी दोनो का एक काल लिखा है। चरकसंहिता मे गर्भ के अग निर्माण में कश्यप का जो मत दिया है, वह मत इस सहिता में नही मिलता (चरक में 'परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारिचि कश्यप'—शा० अ० ६।२१; काश्यप संहिता में—'सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा। तृतीये मासि युगपद् निवर्त्तन्ते यथाक्रमम्'॥ शा० पृष्ठ ४६। प० हेमराजजी ने अपने उपोद्घात में जो यह लिखा है कि काश्यप का मत है कि गर्भ के सब अग एक साथ बनते हैं, वह मत निर्णयसागर की चरकसहिता में धन्वन्तरि का है, सुश्रुत में भी यही मत है। टिप्पणी में उन्होने इस पाठभेद का उल्लेख भी किया है)।

चरक सहिता और काश्यप सहिता के कुछ वचन अवश्य समान रूप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'गर्भ के आठवे मास मे ओज अस्थिर रहता है, इससे कभी तो माता हर्षित रहती है, और कभी नही रहती। इन कारणो से गर्भ के आठवें मास की गणना नही की जाती', इस बात का उल्लेख दोनो ग्रथो में एक समान शब्दावली द्वारा किया गया है (का० स० अ० ३; चरक० शा० अ० ४।२४)। चरक में सत्त्व, रज, तम के लिए कल्याणाश, रोषाश तथा मोहाश शब्द क्रम से प्रयुक्त हुए हैं (शा० अ० ४।३६), काश्यप सहिता में भी यही तीन शब्द सत्त्व, रज, तम के लिए आते हैं (काश्यप, शा० गर्भ० ४)।[2] अन्य समानताओ के लिए काश्यप संहिता का

---

१. उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः। पृ० ३३.

ततो हितार्थं लोकानां कश्यपेन महर्षिणा। तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे॥ कल्प.

कश्यपं लोककर्त्तारं भार्गवः परिपृच्छति। खिल. अ. ३

२. काश्यप संहिता की भाषा में प्राचीनता की झलक मिलती है, यह भाषा-शैली चरक और सुश्रुत से भिन्न है—

"अथो स प्रजापतिरैक्षत, ततः क्षुदजायत, सा क्षुत् प्रजापतिमेवाविविशे, सोऽग्लासीत्, तस्मात् क्षुधितो ग्लायतीति। स ओषधीः क्षुत्प्रतिघातमपश्यत्, स ओषधीरादत्, स

उपोद्घात (१२५-१२६ पृष्ठ) देखा जा सकता है। महाभारत मे काश्यप नाम आता है (आस्तीक पर्व, अ० ४६)। डल्हण ने काश्यप की चर्चा की है। मधुकोष टीका मे भी काश्यप का एक वचन उद्धृत है। तजौर के पुस्तकालय मे उमा-महेश्वरप्रश्न रूप मे विरचित एक चिकित्सा विषयक छोटी-सी (सख्या १०७८०) काश्यप सहिता है। इसमे नाना वातरोग, ज्वर, ग्रहणी, अतिसार, अर्श के निदान और पाप आदि की शान्ति के लिए औषध, शिव की आराधना प्रभृति उपाय सक्षेप मे बतलाये है। इसके पूर्वार्ध के अन्त मे बालरोग का उल्लेख है।[1] यह सहिता न सुसस्कृत है, और न प्राचीन है। बालरोग की चिकित्सा भी विस्तार से नही है।

अष्टागहृदय और अष्टागसग्रह में काश्यप के नाम से एक दो ही योग मिलते है। इनमे एक योग के साथ वृद्ध विशेषण है और दूसरे मे नही है ('विविधानामयानेतद् वृद्धकाश्यपनिर्मितम्'—सग्रह, उत्तर० अ० २, हृदय, उत्तर २।४३; 'दशाङ्ग. कश्यपोदित'—सग्रह, उत्तर० अ० ४३; हृदय० ३७।२८)। काश्यप सहिता के पृष्ठ १३३ पर जो दशाग धूप लिखी है वह इस दशाग धूप से भिन्न है। काश्यप सहिता मे कथित अभयघृत के साथ (पृष्ठ ४) सग्रह और हृदय में कथित यही घृत पूर्णत मिलता है (हृदय मे उत्तर० अ० १।४२; सग्रह मे उत्तर० अ० १ में)। इस प्रकार से काश्यप का सम्बन्ध आयुर्वेद के साथ स्पष्ट होता है।

नावनीतक मे आत्रेय, क्षारपाणि, जातुकर्ण, पराशर, भेड, हारीत और सुश्रुत के साथ काश्यप एव जीवक का नाम आता है। इसी के चौदहवे अध्याय मे कौमारभृत्य

ओषधीरुषित्वा क्षुधा व्यत्यमुच्यत। तस्मात् प्राणिन ओषधीरशित्वा क्षुधो व्यतिमुच्यन्ते। (काश्यप. रेवती कल्प ३)

१ कैलासशिखरे रम्ये पार्वतीपरमेश्वरौ। अन्योन्यसुखलीलायामेकान्तसुखगोष्ठीषु॥
पार्वती पतिमालोक्य कृताञ्जलिरभाषत।
किं पापं किंविध (ो) रोगं (:) किंविधं नरक पथ (वद)॥
नानापापवर्णनान्ते—ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यप रचितं पुरा।
लक्षग्रन्थं महातेजः अमेयं मम दीयताम्॥
प्रारम्भ में—काश्यपं ते महात्मानमादित्यसमतेजसम्।
अभिवाद्याभिसङ्क्रम्य गौतमः पर्यपृच्छत॥
त्वं हि वेदविदां श्रेष्ठो ज्ञानानां परमो निधिः।
प्रजापतेरात्मभवो भूतभव्यविदुत्तमः॥

चिकित्सा के लिए काश्यप और जीवक के नाम से जो योग दिये है वे वाग्भट के योगो के ही भावानुवाद है। परन्तु नावनीतक में वाग्भट का नाम नही है। नावनीतक की रचना तीसरी या चौथी शताब्दी की है। इसलिए इस समय तक यह संहिता बन चुकी होगी।

प्राचीन रावणतन्त्र मे भी काश्यप और वृद्ध काश्यप का नाम है। प० हेमराजजी ने ज्वरसमुच्चय नामक ग्रथ का उल्लेख इस प्रस्तावना में किया है। उनके कथनानुसार उक्त ग्रथ की प्रति सातवी या आठवी शती की है और इसके बहुत से श्लोक काश्यप सहिता से मिलते हैं। इसलिए इसकी रचना और प्राचीन है। परन्तु काश्यप या कश्यप नाम से काश्यप के सम-सामयिक होना कठिन है। उपलब्ध सहिता वत्स के द्वारा सशोधित हुई है, इसलिए इसमे बौद्ध और जैन समय के शब्द भी मिलते हैं (यथा भिक्षुसघाटी, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कृतयुग में मनुष्यों के शरीर का सात रात्रि तक गर्भवास, बिना अस्थि के सिर; आदि बाते मिलती हैं)। इसलिए उपलब्ध ग्रन्थ चरक और सुश्रुत के पीछे बना है। इसका रेवतीकल्प इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, इसमें जातहारिणी का उल्लेख है। ग्रह-उपासना और उनके सम्बन्ध की षष्ठीपूजा इसको तीसरी चौथी शती से पूर्व की सिद्ध नही करती। ऐतरेय ब्राह्मण-वर्णित काश्यप के साथ इसका सम्बन्ध जोडना, वह भी केवल नाम सम्बन्ध से, उचित नही लगता। नामो का झमेला इस देश के इतिहास को कठिनाई में डालता रहा है, विशेषतः जब हम देखते है कि ऋषियो के नाम से गोत्र भी प्रचलित है और गोत्र नाम से भी ऋषियो का उल्लेख मिलता है।

जीवक—जीवक का नाम और इनकी कथा महावग्ग में आती है, जिससे स्पष्ट है कि ये बिम्बीसार के समय हुए है। इन्होने गौतम बुद्ध की चिकित्सा की थी। किंतु इन जीवक से प्रस्तुत प्रसंगवाले जीवक का कोई भी सम्बन्ध नहीं। क्योंकि इसके द्वारा बौद्धो के प्रति अरुचि रखने तथा अग्निहोत्र करने का उल्लेख है। रेवतीकल्प में जात-हारिणी सम्बन्धी जो विचार हैं, वे बुद्ध की शिक्षा के साथ मेल नही खाते, जब कि प्रथम जीवक बुद्ध के प्रति आदर भाव रखते देखे जाते है (जीवक ने प्रद्योत से प्राप्त उत्तम शिवी वस्त्रो का जोडा भगवान् बुद्ध को भेट किया था)। बुद्ध के समय में भी उरुबिल्व ग्राम में तीन कश्यप रहते थे, जिनके हजारो शिष्य थे। इनमें से बड़े कश्यप को बुद्ध ने अपने धर्म में दीक्षित किया था। इसको देखकर राजा बिम्बीसार भी बौद्ध धर्म की ओर झुका; यह बात महावग्ग में लिखी है। यह कश्यप दार्शनिक थे, वैद्य नही।

जीवक के साथ 'कुमारभच्च' विशेषण केवल यह सूचित करता है कि इसका पालन कुमार—राजकुमार ने किया था। इसका अर्थ कौमारभृत्य में कुशल नही है, क्योकि

उस कथा में जीवक की चिकित्सा सभी बडे बडे रोगो से सम्बन्धित कही गयी है, केवल कौमारभृत्य सम्बन्धी नही।

काश्यप सहिता मे जो उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि शब्द मिलते है, वे सब अन्य अर्थ मे प्रचलित भी हो सकते है। काश्यप सहिता मे वैदिक सप्रदाय के बहुत से वचन मिलते है, जो इस ग्रन्थ को वैदिक परपरा से सम्बद्ध बतलाते है।[1]

इसलिए महावग्ग मे प्रसिद्ध जीवक से इसका कोई सम्बन्ध नही; यह अन्य ही कोई दूसरा जीवक है।

वात्स्य---वात्स्य के विषय में इस सहिता के कल्प-अध्याय मे लिखा है कि यह ग्रन्थ कालप्रवाह से जब लुप्त हो गया, तब जीवक वशोत्पन्न वात्स्य ने अनायास यक्ष से यह सहिता प्राप्त की थी (पृष्ठ १९१)।

यक्षो की पूजा बौद्धकाल से पूर्व भी भारत में प्रचलित थी, अनन्तर यह बौद्ध उपासना का अग हो गयी है (अष्टागसग्रह मे मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है)। यह यक्षपूजा भारत के बाहर भी रमठ, जागुड, बाह्लीक आदि पश्चिमोत्तर देशीय प्रान्तो मे प्रचलित थी। बौद्ध मत के पचरक्षा नामक ग्रन्थ मे महामायूरी विद्या प्रकरण मे भिन्न भिन्न देशो के पूज्य यक्षो का निर्देश करते हुए "कौशाम्ब्या चाप्यनायासो भद्रिकायां च भद्रिक" लिखा है। जिससे स्पष्ट है कि कौशाम्बी मे अनायास यक्ष रहता था। कौशाम्बी नगरी प्रयाग के पास का स्थान है। महावग्ग के जीवक उपाख्यान मे कौशाम्बी का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि कौशाम्बी बहुत पुरानी नगरी है, वहाँ अनायास की पूजा होती होगी।

काश्यप सहिता में मातङ्गी विद्या का भी उल्लेख है (कल्पस्थान, रेवती अ०, पृष्ठ १६६)। प० हेमराज का कहना है कि जिस प्रकार विहार, चैत्य, स्थविर आदि वैदिक शब्द बौद्ध ग्रन्थो मे जाकर विशेप अर्थ मे सीमित हो गये, उसी प्रकार यह मातगी, महामायूरी आदि विद्याएँ भी पहले वैदिक थी, पीछे इन्हे बौद्धो ने अपना लिया। यक्ष-पूजा और श्रमण शब्द के लिए भी यही बात है। श्रमण शब्द पाणिनि-व्याकरण (कुमार श्रमणादिभि) मे मिलने के साथ-साथ वैखानस, तपस्वियो के लिए बृहदारण्यक,

---

१. दन्तजन्म-अध्याय में अशुभ दन्त शान्ति के लिए यज्ञ का विधान (पृष्ठ १२), शिष्योपक्रमणीय अध्याय में यज्ञविधान (पृ० ५७), आयुर्वेद का वेद से सम्बन्ध, जातिसूत्रीय में पुत्रेष्टि विधान, धूमन कल्प में वैदिक मंत्र का उल्लेख (१३६) आदि इसे वैदिक सिद्ध करते है।

तैत्तिरीयारण्यक, रामायण आदि मे आता है। पीछे से यह शब्द बौद्ध भिक्षुओं में सीमित हो गया। इसलिए श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्दो के आधार पर किसी को भी बौद्ध काल के पीछे का मानना ठीक नही।

प० हेमराज काश्यप सहिता के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुसारी वाक्य, देवताओ के लिए होम और भिन्न-भिन्न देशो तथा इक्ष्वाकु, सुबाहु, सगर आदि राजाओ का वर्णन मिलने से इसे बहुत प्राचीन मानते है। इसमे यह विचारणीय है कि चरकसहिता मे दक्षिण देशो का उल्लेख नही है, सुश्रुत मे श्रीपर्वत, पारिभद्र, सह्याद्रि का उल्लेख पर्वत प्रकरण मे आता है। देशो की विस्तृत जानकारी सिवाय इस संहिता के आयुर्वेद के ग्रन्थो में इतने विस्तार से नही मिलती, न ही इतनी जातियो का उल्लेख एक साथ मिलता है। इसी से यह सहिता गुप्तकाल के आसपास की प्रतीत होती है।

प० हेमराजजी ने "दीप्ताग्नयो घस्मराः स्नेहनित्याः" (पृ० २०); "क्षीरं सात्म्य क्षीरमाहु पवित्रम्" (भोजन कल्प) वाक्यो से इस सहिता को प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किंतु यह शब्दावली अन्य शब्दों की भाँति चरकसंहिता से ली गयी है ('दीप्ताग्नय. खराहाराः कर्मनित्या महोदरा'—सू. अ. २७।३४४ की छाया, 'क्षीरमाहुः पवित्रम्' यह 'क्षीरमुक्त रसायनम्'—सू० २७।२१८ की छाया है)। जातिसूत्रीय, उपकल्पनीय आदि प्रकरणो का नामकरण भी चरकसहिता के आधार पर मिलता है। कश्यप का 'ज्वलनार्कतुल्यम्' (पृ० १६८) विशेषण अग्निवेश के विशेषण 'अग्निवर्चसम्' का प्रतिबिम्ब है। सुश्रुत मे भी चरकसहिता के बहुत से स्थल उद्धृत हैं, इसलिए यदि काश्यप संहिता में ये वचन मिलते हैं, तो यह आश्चर्य नहीं। इनके आधार पर इस संहिता को प्राचीन सिद्ध करना उत्तम नहीं। खिल भाग के देशसात्म्य-अध्याय मे मगध के साथ महाराष्ट्र का भी उल्लेख है। मगध देश तो प्राचीन है, महाभारत में भी इसका उल्लेख है, परन्तु 'महाराष्ट्र' शब्द अर्वाचीन है। पं० हेमराजजी का यह कहना कि महाराष्ट्र की उत्पत्ति नन्दो एव मौर्यों के समय हुई, ठीक नही। महाराष्ट्र शब्द की उत्पत्ति अधिक से अधिक तीसरी शती की मानी जा सकती है, इतिहास तो इसे और भी पीछे का मानता है। उसके अनुसार अन्धकार-युगीय भारतवर्ष मे वाकाटक साम्राज्य के समय महाराष्ट्र का निर्माण हुआ है। इसलिए इस सहिता का समय इसी के आस-पास तीसरी या चौथी शताब्दी होना चाहिए। यही समय वात्स्य का है।

वात्स्य शब्द गोत्रवाचक है; वत्स-गोत्र में उत्पन्न वात्स्य। कामसूत्र का कर्त्ता वात्स्यायन भी इसी गोत्र से सम्बन्ध रखता है। इसमें भी महाराष्ट्र का उल्लेख है

(मध्यमान्युभयभाञ्जि [illegible]) । कामसूत्र का रचना-काल चौथी से छठी शताब्दी माना जाता है। देशो से परिचय, विशेषत दक्षिण देशो की जानकारी, निकट सम्बन्ध वाकाटक-युग मे ही हुआ है। अशोक के समय दक्षिण देश से विशेष परिचय तथा इतने प्रान्त या राज्यो की भिन्न-भिन्न जानकारी उपलब्ध नही होती। इसलिए उपलब्ध काश्यप सहिता तीसरी या चौथी शताब्दी से पूर्व की नही हो सकती। वात्स्य नाम गोत्रपरक है, जिसका सम्बन्ध वैदिक प्रक्रिया के साथ था। अत वात्स्य वैदिक कर्मकाण्ड को माननेवाला था, इसमे कोई आपत्ति नही।

काश्यप संहिता मे लशुनकल्प, नावनीतक मे लशुन-महिमा, सग्रह मे लशुन-सेवन पर जोर देना, ब्राह्मणो द्वारा इसके न सेवन का कारण—ये सब बाते भी इस समय को सिद्ध करने में सहायक हैं। चरक मे तिलतैल को सब तैलो मे प्रशस्त माना है, इसी से उसका उपयोग मिलता है। परन्तु कटु तैल (सरसो के तैल) का उपयोग लशुन के साथ इसी ग्रन्थ मे मिलता है। लशुन का संस्कार कटु तैल में दूसरे तैलो की अपेक्षा अधिक सुन्दर होता है, क्योकि यह भी उष्ण तीक्ष्ण उग्र है। काश्यप संहिता मे इसके उपयोग का विधान भी उसके उक्त समय निर्धारण का समर्थक है।

अन्य ऋषि एवं आचार्य

चरकसहिता में आयुर्वेद विद्या से सम्बन्धित निम्न ऋषियो का उल्लेख है—

सूत्रस्थान अ० २५—	सूत्रस्थान अ० २६—	सिद्धिस्थान अ० ११—
काशिपति वामक	आत्रेय	भृगु
मौद्गल्य	भद्रकाप्य	कौशिक
शरलोमा	शाकुन्तेय ब्राह्मण	काप्य
हिरण्याक्ष कुशिक	पूर्णाक्ष मौद्गल्य	शौनक
कौशिक (शौनक)	हिरण्याक्ष कौशिक	पुलस्त्य
भद्रकाप्य	कुमारशिरा भरद्वाज	असित
भरद्वाज (कुमारशिरा)	वार्योविद राजर्षि	गौतम
काकायन	निमि वैदेह	वामक
भिक्षु आत्रेय	वडिश धामार्गव	वडिश
	काकायन बाह्लीक भिषक्	भद्र शौनक

चि० अ० १।४—	शा० अ० ६—	सूत्र० अ० १२—
भृगु	कुमारशिरा भरद्वाज	कुश सांकृत्यायन
अंगिरा	कांकायन बाह्लीक भिषक्	कुमारशिरा भरद्वाज
अत्रि	भद्रकाप्य	कांकायन बाह्लीक
वसिष्ठ	भद्रशौनक	वड़िश धामार्गव
कश्यप	वडिश	वार्योविद राजर्षि
अगस्त्य	जनक वैदेह	मरीचि
पुलस्त्य	मारीचि कश्यप	काप्य
वामदेव	धन्वन्तरि	पुनर्वसु आत्रेय
असित		
गौतम आदि		

इन स्थानो के सिवाय मैत्रेय (सू. अ. १०) तथा भरद्वाज (शा. अ. ३) का नाम आता है। प्रथम अध्याय में हिमालय के पास एकत्र होनेवाले ऋषियों की एक बडी सूची दी है (सू.अ १।८-१३)। इसमें से कुछ ऋषियों का उल्लेख संहिता में आगे आता है, बहुतो का नही आता।

सुश्रुतसहिता में ऋषियों का नाम एक स्थान पर ही मिलता है; उत्तर तंत्र में 'विदेहाधिप' (अ. १।५) नाम है। इसका सम्बन्ध जनक से है या अन्य से, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं। शारीरस्थान में गर्भरचना प्रसंग में ये नाम मिलते हैं—शौनक, कृतवीर्य, पाराशर्य, मार्कण्डेय, सुभूतिगौतम और धन्वन्तरि। चरकसहिता में इस सम्बन्ध मे जो मत प्रदर्शित है, उनमें शौनक और धन्वन्तरि का मत समान है, परन्तु भद्रशौनक और शौनक के मत में अन्तर है। चरकसहिता में भद्रशौनक का कहना है कि 'गर्भ का प्रथम निर्माण पक्वाशय गुदा से होता है; क्योकि आहार का यही स्थान है (शा.अ.६।२१)।" सुश्रुत में शौनक का कहना है कि "गर्भ का प्रथम सिर बनता है, क्योकि यही सब इन्द्रियो में मुख्य है (शा. अ ३।३२)।" चरक में यह मत कुमारशिरा भरद्वाज के नाम से लिखा है। धन्वन्तरि का मत दोनो संहिताओ में एक समान है, धन्वन्तरि के मत को आत्रेय ने भी स्वीकार किया है। इसलिए शौनक और भद्रशौनक दोनो को भिन्न मानना उचित है। जिस प्रकार आत्रेय और भिक्षु आत्रेय में भेद करने के लिए भिक्षु विशेषण है, उसी प्रकार शौनक और भद्र शौनक में भेद बताने के लिए भद्र विशेषण है। चरक में भद्र शौनक और शौनक नाम एक ही प्रकरण में भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिए भी आये है (सि. अ. ११।५—और ९)।

काश्यप सहिता मे भी कुछ नाम आये है, परन्तु यह प्रकरण त्रुटित होने से पूरी जानकारी नही। इसमे कौत्स, पाराशर्य, वृद्ध काश्यप, वैदेह जनक, वार्योविद और वात्स्य का नाम आता है (पृष्ठ ११६, वमन-विरेचनीय सिद्धि)। कुकूण चिकित्सा मे (पृष्ठ २९३—श्लोक ८५) वार्योविद का नाम है, वहाँ पर महीपाय, महानृषि, विशेषण दिये है। इससे स्पष्ट है कि वार्योविद राजर्षि था, जिसका उल्लेख चरकसहिता मे मिलता है।

काश्यप सहिता में काश्यप के लिए मारीच शब्द भी आता है (मारीचमासीनमृषि पुराणम्—पृष्ठ १६८)। चरक सहिता मे मारीचि और मारिचि कश्यप दोनो शब्द मिलते है। शब्दो की दृष्टि मे ये दोनो एक प्रतीत होते है। परन्तु सूत्रस्थान में "मारीचकाश्यपौ" (अ. १।१२) यह पाठ मिलने से ये दो व्यक्ति प्रतीत होते है। इसी स्थान पर 'कश्यपो भृगु.'—इस पाठ मे गगाधर कविराज 'काश्यपो भृगु' पाठ बदलकर कश्यप गोत्रोत्पन्न भृगु अर्थ मानते है, दूसरे लोग कश्यप और भृगु दो व्यक्ति मानते है।

काश्यप सहिता मे भृगु का कश्यप से पूछना भी लिखा है (पृष्ठ १९२, खिल स्थान १।३)। भृगु से ही भार्गव शब्द बनता है, जो कि च्यवन के लिए आता है (भार्गवश्च्यवनः कामी—चरक, चि. अ. १।४।४४)। इसलिए भृगु को कश्यपगोत्रोत्पन्न मानने की अपेक्षा दोनों को अलग मानना ही ठीक है, दोनो ऋषियो के नाम से पृथक् गोत्र चले है। कश्यप और भार्गव गोत्र आज भी मिलते है। ये नाम प्रारम्भ मे ऋषियो के थे, परन्तु पीछे से गोत्र या शाखा-चरण रूप में प्रचलित होने लग गये। इस प्रकार की शाखा या चरण पृथक्-पृथक् परिषद् कहलाते थे, इसलिए इनके मत को परिषद् शब्द से प्रकट किया जाता था (यथा—अर्वागपि यदाहारविशेषादारोग्याच्च पूर्णो भवत इति परिषत्—काश्यप, पृष्ठ ५३, बृहदारण्यक में पाञ्चालों की परिषद् का उल्लेख मिलता है)। व्याकरण का विषय, पाणिनि ग्रन्थ का क्षेत्र किसी विशेष परिषद् तक सीमित नही था, इसी लिए इसको पतजलि ने "सर्ववेदपारिषद हीदं शास्त्रम्" (भा. २।१।५८) कहा है।

भिन्न-भिन्न चरणो की परिषदो मे आयुर्वेद का भी विकास हुआ। इन भिन्न-भिन्न परिषदो के व्यक्तियो के साथ मिलकर जो वार्त्ता आयुर्वेद के सिद्धान्त या विषय के निर्णयार्थ हुई उसका उल्लेख चरक सहिता मे मिलता है। इस प्रकार की गोष्ठी के लिए परिषद् शब्द चरक मे आता है (परिषत्तु खलु द्विविधा—वि अ ८।२०)। इस परपरा से एक ही ऋषि का नाम हमको भिन्न-भिन्न समय में सुनाई देता है। इस दृष्टि से समय का निर्धारण करने मे नामो की उलझन मिट जाती है और चरक, सुश्रुत, काश्यप सहिताओ मे मिलनेवाले नामो की सगति बैठ जाती है। इसका उदाहरण धन्वन्तरि नाम है, जो कि एक सम्प्रदाय या परिषद् को स्पष्ट करता है, जिसमे शल्य

अग का विशेष अध्ययन किया जाता था। आत्रेय की जिस शाखा या चरण मे आयुर्वेद का अध्ययन होता था, और जो घूम-घूमकर लोककल्याण करते थे,वे 'चरक' कहलाते थे (इसी से बृहदारण्यक मे चरका बहुवचन आया है, क्षेमेन्द्र ने 'चरकञ्चरक न जनाति' लिखा है)। यही बात अन्य ऋषियो के सम्बन्ध मे है। सुश्रुतसहिता मे गर्भनिर्माण के विषय मे जो दूसरे मत प्रचलित थे, इनमे शौनक शाखा का जो मत उस समय था, उसको सुश्रुतमे दिखाया है। चरक मे दिया हुआ शौनक का मत सम्भवत भद्र शौनक का होगा। रामायण, बृहदारण्यक आदि मे आये हुए जनकवैदेह नाम को चरक-सहिता मे देखकर इसको उस समय की मानना उचित नही लगता। वैदेह शब्द एक तरफ जनक के लिए प्रचलित है, दूसरी ओर चरक सहिता मे निमि के लिए भी आता है। काश्यप सहितामे 'वैदेहो निमि' और सुश्रुत मे 'विदेहाधिप' शब्द आता है। इन सबसे रामायण केजनक का ग्रहण करना उचित नही। यही बात पराशर के सम्बन्ध मे है।

श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने आयुर्वेदसहिताओ तथा उनकी टीकाओ से भिन्न भिन्न ऋषियो के बहुत से वचन अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इन्डियन मैडिसिन' में उद्धृत किये है। इसके आधार पर इन सब ऋषियो की परम्परा श्री सूरमचन्द्रजी ने अपने 'आयुर्वेद का इतिहास' मे जोडने का यत्न किया। पर उनकी जो दौड है, उसके साथ इतिहास नही चलता। मेरी मान्यता यही है कि ऋषियो के नाम से ये सहिताएँ दूसरो ने लिखी, अथवा इनका सम्बन्ध उक्त चरण या शाखाओ से है। इसके अनुसार शालाक्य तत्र का सम्बन्ध जनक विदेह, निमि कराल के साथ जो मिलता है, वह इसी शाखा या चरण को सूचित करता है, न कि शिष्य-परम्परा या पुत्र-परम्परा को। इसी से नेत्ररोगो के सख्या-कथन मे अन्तर मिलता है, चरक सहिता मे नेत्ररोग ९६ (चि अ २६।१३०) कहे है, सुश्रुत मे नेत्ररोग ७६ (उत्तर-कल्प १।४३)। यह भेद शाखा-चरण भेद से ही है। इसी भेद से एक ही शाखा मे भिन्न भिन्न विषयो के ग्रन्थ मिलते है, वे ग्रन्थ मूल ऋषि के नही अपितु उस शाखा के अन्तर्गत कई ऋषियो द्वारा बने है, ऐसा मानना ही उनकी सगति का समीचीन रास्ता है।

सहिताओ मे पूर्वापर क्रम

आयुर्वेदसहिताओ के अध्यायो मे परस्पर समानता मिलती है। मनुष्य की आयु ज्योतिष के अनुसार एक सौ बीस वर्ष पॉच दिन मानी जाती है, यही आयु हाथियो की है ('समा षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणा पच च निशा'--बृहत्सहिता)। इसी दृष्टि मे आयुर्वेदसहिताओ की अध्यायसख्या भी १२० है, शेष विषयो के वर्णनार्थ उत्तर तन्त्र या खिलस्थान (प्रकरण) बनाये गये है।

स्थान	काश्यप०	चरक०	भेल०	सुश्रुत०	अष्टाग हृ०
सूत्रस्थान अध्याय	३०	३०	३०	४६	३०
निदानस्थान ,,	८	८	८	१६	१६
विमानस्थान ,,	८	८	८	—	—
शारीरस्थान ,,	८	८	८	१०	६
इन्द्रियस्थान ,,	१२	१२	१२	—	—
चिकित्सास्थान,,	३०	३०	३०	४०	२२
सिद्धिस्थान ,,	१२	१२	९(१२)	—	—
कल्प स्थान ,,	१२	१२	८(१२–१)	८	६
	१२०	१२०	१२०	१२०	८०
खिल या उत्तर तत्र	८०	—	—	६६	४०
					१२०

चरकसंहिता मे उत्तर तत्र होने का उल्लेख मिलता है (तस्मादेता' प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुन —सि अ १२।५०)। सग्रह में अध्यायो की सख्या कुछ अधिक है, इसमें एक सौ पचास अध्याय है (सू अ. १।६६)।

उक्त अध्याय-समानता के अतिरिक्त काश्यप सहिता, भेल सहिता और चरक सहिता मे अध्यायो के नामो मे भी समानता मिलती है, यथा—

अध्याय नाम

चरक संहिता	भेल सहिता
नवेगान्धारणीय (न वेगान्धारयेद्धीरः)	न वेगान् धारयेद् धीमान्
मात्राशितीय (मात्राशी स्यात् आहार मात्र.)	मात्राशी स्यात्
आत्रेयभद्रकाप्यीय (आत्रेयो भद्रकाप्यश्च)	आत्रेय' खण्डकाप्यश्च
यस्यश्यावनिमित्तीय (यस्य श्यावे परिध्वस्ते)	यस्य श्यावे उभे नेत्रे
अवाक्शिरसीय (अवाक्शिरा वा जिह्वा वा)	अवाक्शिरा जिह्वा वा
थोडे से भेद के साथ—	
व्याधितरूपीयम् (द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः)	गुरुर्व्याधिनरः कश्चित्
शरीरविचय (शरीरविचयशरीरोपकारार्थम्)	इह खल्वोजस्तेजः
शरीरसख्या (शरीरसख्यामवयवशः)	इह खलु शरीरे षट् त्वचः
पूर्वरूपीयम् (पूर्वरूपाण्यसाध्याना)	अन्तर्लोहितकायस्तु
गोमयचूर्णीयम् (यस्य गोमयचूर्णाभ)	यस्य शिरसि यस्यैव

चरक सहिता	काश्यप सहिता
१३वा स्नेहाध्याय	२२वा स्नेहाध्याय
१४वा स्वेदाध्याय	२३वा स्वेदाध्याय
१५वा उपकल्पनीय	२४वा उपकल्पनीय
१६वा चिकित्सा प्रभृतीय	२५वा वेदनाध्याय
१७वा कियन्त शिरसीय	२६वा चिकित्सा सम्पादनीय
१८वा त्रिशोथाध्याय	२७वा रोगाध्याय
१९वा अष्टोदरीय	
२०वा महारोगाध्याय	
२१वा अष्टौनिन्दित	

इस समानता के अतिरिक्त चरकसहिता के वचन काश्यप सहिता, सुश्रुतसहिता और भेलसहिता मे पूर्णत मिलते है। इस समानता के लिए इनका पूर्वापर क्रम यहाँ पर उपस्थित किया गया है। प्राय इस क्रम को श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री ने अपने 'आयुर्वेद के इतिहास' मे भी माना है।

उपलब्ध आयुर्वेदसहिताओ मे सबसे प्रथम (दृढबल के भाग को छोडकर) अग्निवेशसहिता का निर्माण हुआ। इसके आसपास भेलसहिता बनी, उसके अनन्तर सुश्रुतसहिता की रचना हुई। फिर दृढबल ने चरकसहिता को पूर्ण किया। इसके बाद वाग्भट ने सग्रह और हृदय बनाये। काश्यप सहिता की रचना को सुश्रुत के बाद और दृढबल द्वारा समावेशित भाग से पूर्व रख सकते है। क्योकि काश्यप सहिता और चरकसहिता के जिन वचनो मे समानता मिलती है, वे उक्त भाग से पूर्व के है। ये सब रचनाएँ ईसवीय प्रथम शताब्दी के आस-पास प्रारम्भ होकर पाचवी-छठी शती तक पूर्ण हो गयी थी।

श्री दुर्गाशकर शास्त्री की मान्यता है कि प्रथम दृढबल के प्रतिसस्कार द्वारा समावेशित भाग से रहित चरकसहिता बनी, इसके बाद उत्तर-स्थान से रहित सुश्रुतसहिता, तदनन्तर उसके उत्तरस्थान और भेलसहिता की रचना हुई। इसके पश्चात् नावनीतक बना और अन्त मे दृढबल ने चरकसहिता पूर्ण की। दृढबल का समय ४०० ईसवी के आसपास है। इस प्रकार से देखने पर भेलसहिता का प्रतिसस्कार होना नही पाया जाता, परन्तु हरिप्रपन्नजी इसका भी प्रतिसस्कार मानते है।

श्री यादवजी त्रिकमजी ने निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित मूल सुश्रुत के उपोद्घात मे स्पष्ट किया है कि सुश्रुत का उत्तर तन्त्र भी इसके आरम्भिक भागो के साथ ही बना है। इस सम्बन्ध मे उन्होने जो वचन उद्धृत किया है, वह यह है—

"एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः।
केचित् प्राहुर्नैकरूपप्रकारं नैवेत्येवं काशिराजस्त्ववोचत्॥

उत्तर. अ. ४०।८

'काशिराजस्त्ववोचत्'—यह वाक्य इसे उसी सुश्रुत का भाग बताता है। इसलिए उत्तर-तन्त्र सहित सुश्रुतसहिता एक समय में बनी है।

दृढबल से समावेशित चरकसहिता के भाग में और सुश्रुतसहिता के वचनों में जो समानता है, उसमें यह सम्भावना है कि ये वचन दृढबल ने सुश्रुत से लिये होगे। इनमे अधिक वचन उत्तर तन्त्र के हैं, यथा—

चरक—आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यते चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥

चि. अ. २६।११४

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्॥ चि. अ. ३०

सुश्रुत—आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥

उत्तर. अ. २२।६

मिथ्याचारेण याः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्॥ उत्तर. अ. ३८।५.

चरकसंहिता मे ये विषय ग्रन्थ के पूर्ण करने के लिए दृढबल को अन्य स्थानो से लेने पडे, जैसा कि उसने स्वयं कहा है—"बहुत से तन्त्रो मे से शिलोञ्छ वृत्ति द्वारा वचनो को लेकर यह ग्रन्थ पूरा किया गया है" (सि. अ. १२।३९)। शिल वृत्ति में—अनाज की पूरी बाल उठायी जाती है। उञ्छ वृत्ति में—भूमि पर गिरा हुआ अनाज का एक एक दाना चुना जाता है। इस प्रकार से उसने कही तो सम्पूर्ण पद या श्लोक उद्धृत किया और कही पर वाक्याश उद्धृत किया; यह स्पष्ट है। सुश्रुत मे भी चरक के वचन उद्धृत हुए है, यह बात दोनो की भाषाभिन्नता से स्पष्ट है, यथा—

चरक में—"यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः"—सू अ. १५।५।

सुश्रुत में—"अन्ये विशेषा सहस्रशो ये विचिन्त्यमाना विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धे "—सू अ. ४।५ ।

सुश्रुत सहिता मे इस प्रकार का पदलालित्य अन्य स्थान पर नही दीखता, इससे स्पष्ट है कि यह प्रवाह चरक से ही सुश्रुत में आया है ।

भेल सहिता का समय चरक–अग्निवेश के समकक्ष ही है, इसका पता दोनो की अत्यधिक शब्दसमानता से चलता है, यथा—

"एतच्छेष शल्यहृता कर्त्तव्य दृष्टकर्मणा"—भेल. चि २९

"इदन्तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणा"—चरक चि. १३।१८२

इस प्रकार के दूसरे उदाहरण भी है, जिनसे दोनो का एक ही समय निश्चित होता है । भेलसहिता का प्रचार अधिक नही था, यह बात वाग्भट के श्लोक से स्पष्ट है ।[1] इसी से सम्भवत इसका प्रतिसस्कार नही हुआ और आज जो भेलसंहिता उपलब्ध है, वह त्रुटित है । यदि इसका प्रचार होता तो इसका प्रतिसस्कार भी किया जाता एव इसके वचन भी सग्रह, हृदय या अन्य ग्रन्थो मे मिलते । सग्रह में पराशर, हारीत, सुश्रुत के वचन उद्धृत है परन्तु भेल का कोई वचन नही है । इससे स्पष्ट है कि दीर्घकाल तक इसका पठन नही होता था ।

इस प्रकार आयुर्वेदसहिताओ की अन्तिम सीमा ईसा की पाँचवी शती ठहरती है । हरिश्चन्द्र आदि द्वारा टीका रचना का प्रारम्भ पाँचवी शती में हुआ है । इसी के आस-पास सग्रहरूप में अष्टागसग्रह और अष्टागहृदय जैसे ग्रन्थ बनने लगे ।

यह सम्भव है कि सहिताओं का कोई सक्षिप्त मूल ईसा से पाँचवीं-छठी शती पूर्व मे अन्य रूप मे होगा, सम्भवत सूत्ररूप में हो, जैसा कि चरक के वचनो से स्पष्ट है ।[2] यह समय ब्राह्मण-रचना का है, शतपथ आदि ब्राह्मण इसी समय बने हैं । इनके अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि इस समय तक समस्त सहिताओं का संकलन हो चुका था । विंटरनिट्ज की मान्यता है कि अथर्ववेद सहिता तथा यज्ञ-अनुष्ठानवाली सहिताओ का

---

१. ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

हृदय, उ. अ. ४०।४८

२. सूत्रमनुक्रामन् पुन पुनरावर्तयेत्—वि. अ ८।७;
ऋषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः—वि. अ. ८।११;
बहुविधाः सूत्रकृतामृषीणां सन्ति—शा. अ. ६।२१

संकलन इसी ब्राह्मण-साहित्य के समय हुआ है। इस दृष्टि से आयुर्वेद-साहित्य भी सूत्ररूप में इस समय बन चुका था। फलस्वरूप बुद्ध के समय योग्य चिकित्सक जीवक को हम देखते हैं, जिसने तक्षशिला में जाकर आयुर्वेद का अध्ययन सात वर्ष में किया था। इसलिए उस समय तक आयुर्वेद का पूर्ण विकास होना स्वीकार करना ही होगा। यह विकास सूत्ररूप में हुआ होगा जिसका उपदेश आत्रेय ने अग्निवेश आदि छः शिष्यों को तथा धन्वन्तरि दिवोदास ने सुश्रुत आदि को दिया। 'प्राप्तोऽस्मि गा भूय इहोपदेष्टुम्'—सुश्रुत का यह वचन इस बात को पुष्ट करता है कि उपदेश पुन. दिया गया है। चरक संहिता में भी भरद्वाज के बाद आयुर्वेदपरम्परा त्रुटित दीखती है। वाग्भट ने इस टूटी परम्परा को जोड़ने के लिए आत्रेय का सीधा सम्बन्ध इन्द्र से जोड दिया है, उसने भरद्वाज का इस सम्बन्ध में नाम नही लिया (वा. सू. अ. १)। सम्भव है कि जो परम्परा ब्रह्मा से चलकर भरद्वाज तक आयी थी, वह बीच में विश्रृंखलित हो गयी। उसी को पीछे अत्रिपुत्र ने प्रचलित किया। भरद्वाज से आत्रेय ने पढ़ा; यह कही पर भी चरक सहिता में नहीं लिखा। इससे बीच में खंडित परम्परा नये रूप में आगे चलती प्रतीत होती है। यह नयी परम्परा ईसा की सातवीं शती या इससे कुछ पूर्व प्रारम्भ होती है। इससे पूर्व काल की सूत्ररचना जो कि ब्राह्मणयुगीन थी, वह आजकल नहीं मिलती। उपलब्ध सहिता में से इस प्राचीन भाग को पृथक् करना सरल नही। क्योंकि सैकडों वर्षों तक प्रतिसंस्कार-शोधन आदि होने से वह मूल रूप अब लुप्त हो गया है।

चरक-सुश्रुत ग्रन्थों में प्रशस्त नक्षत्र, करण, मुहूर्त, तिथि, योग इन पंचागो का उल्लेख मिलता है, परन्तु वार-दिनों के नाम नहीं मिलते हैं। परन्तु शंकर बालकृष्ण दीक्षित के भारतीय ज्योतिषशास्त्र (पृष्ठ १३९) में वारो के नामो का उल्लेख शक सवत् से एक हजार वर्ष पूर्व भारत में प्रचलित होने का उल्लेख है। इस दृष्टि से चरक सहिता का काल बहुत प्राचीन (३००० वर्ष) आता है, परन्तु श्री यादवजी त्रिकमजी स्वतः इस समय को स्वीकार नही करते (आयुर्वेद का इतिहास—श्री दुर्गाशंकर शास्त्री, पृष्ठ ८८)। सग्रह में भी वारों का उल्लेख नहीं है। दीक्षितजी की गणना का विषय सर्वमान्य भी नही है। इसलिए पुष्ट प्रमाणो के आधार पर उपर्युक्त निर्णय ही समीचीन है।

गौ, अश्व और हाथी का आयुर्वेद

इस देश में गौ और अश्व का महत्त्व वैदिक काल से चला आ रहा है। बैलो और घोड़ों का उपयोग खेती तथा वाहन में होता था, इसी से हम पढ़ते हैं—"दोग्ध्री

धेनुर्वोढानड्वानाशु सप्तिर्जायताम्"—यजु । हाथी का उल्लेख भी ऋग्वेद में है (८।२।६) । सिन्धु घाटी में जिन पशुओं की मूर्त्तियाँ मिली हैं, उनमें हाथी, वराह, सिंह और गौ की भी मूर्तियाँ है (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ३३) ।

हाथी का उपयोग राजा की सवारी में होता था । पीछे से घोडे और हाथी का उपयोग सेनाकार्य मे होने लगा । कौटिल्य–अर्थशास्त्र में गो–अध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष के कार्यों की विस्तृत चर्चा है, इनकी चिकित्सा तथा चिकित्सको के कर्त्तव्य की भी जानकारी दी गयी है ।[1]

इस ऐतिहासिक स्थिति में मनुष्यो के चिकित्सा-शास्त्र की भाँति पशु और वृक्षो तक की चिकित्सा का भी विकास हुआ । अश्ववैद्यक और गजवैद्यक के ऊपर जो साहित्य मिलता हैं, उसका मूल प्राचीन भाग भी आयुर्वेद के मूलग्रन्थ बनने के बाद तैयार हुआ है ।[2] उसका विवरण इस प्रकार है—

अश्ववैद्यक—इस सम्बन्ध का ग्रन्थ हयघोष के पुत्र शालिहोत्र ने बनाया था जो अपूर्ण रूप मे मिलता है । इसका सुश्रुत के प्रति उपदेश किया गया है । इसके आठ स्थानो मे अष्टाग अश्ववैद्यक का वर्णन है । परन्तु जो ग्रन्थ मिलता है, उसमें प्रथम स्थान खण्डित है ।[3]

इस ग्रन्थ का या अश्ववैद्यक सम्बन्धी किसी अन्य सस्कृत ग्रन्थ का 'कुब्रुत उलमुल्क' नाम से ईसवी १३८१ में फारसी मे भाषान्तर हुआ है । ऐसी ही किसी पुस्तक का अनुवाद अरबी भाषा मे शाहजहाँ के समय 'किताब उल वैतर्त्त' नाम से हुआ है । इसके जैसा ही एक अंग्रेजी भाषान्तर ईसवी १७८८ मे कलकत्ता में छपा है । तिब्बती भाषा मे भी ऐसे किसी ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है ।

[illegible] अश्वशास्त्र नाम का सस्कृत ग्रन्थ मद्रास के राजकीय पुस्तकालय मे है । गण-रचित अश्वायुर्वेद की हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नेपाल के सूचीपत्र में

---

१. बालवृद्धव्याधितानां गोपालकाः प्रतिकुर्युः । कौटिल्य २।२९।१८
अश्वानां चिकित्सकाः शरीरह्रासवृद्धिप्रतीकारमृतुविभक्तं चाहारम् ।
कौटिल्य २।३०।४९.
तेन खरोष्ट्रमहिषमजाविकं च व्याख्यातम् । कौटिल्य २।३०।५३-५५

२. हस्तिषु पाकलो गोषु खेरिको मत्स्यानामिन्द्रजालो विहंगानां भ्रामरकः ।
—चक्रपाणि

३ श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री कृत आयुर्वेद के इतिहास के आधार पर

है। वर्धमान की योगमजरी, दीपंकर का अश्ववैद्यकशास्त्र, भोज का १३८ श्लोकात्मक शालिहोत्र भी प्रसिद्ध है। कल्हण विरचित शालिहोत्रसमुच्चय की हस्तलिखित प्रति भी मिली है। जयदत्त के बनाये अश्ववैद्यक की प्रस्तावना में कविराज उमेशचन्द्र दत्त ने हयलीलावती ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त अग्निपुराण में भी अश्ववैद्यक सम्बन्धी प्रकरण मिलता है।

इस विषय के दो ग्रन्थ बगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से प्रकशित हुए है, जिनमें एक जयदत्त सूरि कृत अश्ववैद्यक है और दूसरा नलकृत अश्वचिकित्सा। महाभारत मे नकुल ने विराट् को अपना परिचय देते हुए अश्वरक्षा म तथा सहदेव ने गायो के विषय में विशेष जानकार बताया था।[1] इसलिए नकुल के नाम से अश्वचिकित्सा ग्रन्थ किसी ने बनाया है।

अश्वचिकित्सा का प्रारम्भ सम्भवत हस्तिचिकित्सा के साथ ईसा से तीसरी या चौथी शताब्दी पूर्व हुआ होगा। चरकसहिता मे पशुओ के लिए वस्तिविधान का वर्णन है (चरक सि. अ ११।१९)।

शालिहोत्र के समय-निर्धारण पर पचतत्र के उल्लेख से भी प्रकाश पडता है। घोडे के दाह के ऊपर बन्दर की चरबी लगाने का उपदेश उसमे शालिहोत्र के नाम से आया है (५।७५)। इस समय इस विषय के जो दो ग्रन्थ मिलते है, उनमें विजयदत्त के पुत्र महासामन्त जयदत्त सूरि कृत अश्ववैद्यक की हस्तलिखित प्रति १२२४ ईसवी की मिली है। इसमें अफीम का उपयोग है, इससे यह ग्रन्थ तेरहवी शती का हो सकता है।

---

१. ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सिते॥
गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम्॥
अरोगा बहुलाः पुष्टाः क्षीरवत्यो बहुप्रजाः।
निष्पन्नसत्त्वाः सुभृता व्यपेतज्वरकिल्बिषाः॥
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैतदेतानि शिल्पानि मयि स्थितानि॥
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनय चापि सर्वशः।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम्॥
म. भा., विराट पर्व, अ. ३,१० १२

जयदत्त के अश्ववैद्यक मे ६८ अध्याय है, नकुलकृत अश्वचिकित्सा मे १८ अध्याय है। नकुल ने कहा है कि शालिहोत्रीय शास्त्र देखकर ग्रन्थ लिखा गया है, जयदत्त ने भी शालिहोत्र का उल्लेख किया है।

परन्तु जयदत्त ने नकुल का उल्लेख नही किया है। शार्ङ्गधरपद्धति मे जयदेव के नाम से अश्ववैद्यक सम्बन्धी कुछ श्लोक है। इस जयदेव को गीतगोविन्द काव्य का रचयिता (१२वीं शती) मानने पर उक्त ग्रन्थ बारहवी शती का सिद्ध होता है, यदि वह न हो तो जयदत्त सूरि का समय तेरहवी शती के आस-पास सभव होता है। नकुल का ग्रन्थ भी इससे बहुत प्राचीन सिद्ध नही होता। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नही।

जयदत्त सूरि के ग्रन्थ मे घोड़ो की पूर्ण चिकित्सा है। इसमे सामान्य पद्धति से निदान-चिकित्सा का उल्लेख है। ओषधियॉ आयुर्वेदोक्त है, घोड़ो की जाति, वय, पहचान, खुराक, [illegible] वर्णन है।

पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद—हस्त्यायुर्वेद के रचयिता पालकाप्य मुनि के सम्बन्ध मे यह दन्तकथा प्रचलित है कि राजा दशरथ के समकालीन, अगदेश-चम्पा (भागलपुर से २४ मील दूर) के राजा लोमपाद ने पालकाप्य मुनि को हाथी वश मे करने की विद्या सीखने के लिए बुलाया था। पालकाप्य मुनि को हथिनी का पुत्र कहा गया है।

हस्त्यायुर्वेद एक विस्तृत ग्रन्थ है, पूना की आनन्दाश्रम सीरीज़ मे छपा है। इस मे हाथियो के लक्षण, रोग और चिकित्सा, हाथियो के वर्ण, पकड़ने की विद्या तथा पालने आदि का वर्णन है।

हस्त्यायुर्वेद मे चार विभाग या स्थान है—१ महारोग स्थान, २ क्षुद्र रोग स्थान, ३ शल्य स्थान (इसमे हाथियो की शस्त्रचिकित्सा है, इसी मे गर्भावक्रान्ति, शस्त्र, यत्रों का वर्णन है), ४ उत्तर स्थान। इन चारो में १६० अध्याय और लगभग १८२ रोगों का वर्णन है।

'हस्त्यायुर्वेद' का समय निश्चित करने का कोई साधन नही, परन्तु इतना निश्चित है कि हाथियों के पालने का उल्लेख महाभारत मे आता है। ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी के राजदूत मैगस्थनीज को भारत में हाथियो के पालने की जानकारी थी। इसके साथ उसे यह भी पता था कि हाथियो के ऑख के रोग पर दूध का उपयोग तथा दूसरे रोग एव व्रणों पर गरम पानी, कुत्ते का मांस, आसव और घी का उपयोग औषध रूप मे किया जाता है। इसलिए हाथियो की चिकित्सा ईसा से चौथी शती पूर्व में प्रचलित थी। कौटिल्य ने भी

हस्तिचिकित्सको का उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेखो से भी स्पष्ट है कि उसने अपने राज्य मे तथा पडौसी राज्यो मे पशुचिकित्सा का प्रबन्ध किया था। ईसा मे तीसरी शती पूर्व पशुचिकित्सा प्रचलित होने का यह प्रबल प्रमाण है।

ईसा की चौथी शताब्दी मे सीलोन के राजा बुधदास ने अपनी सेना मे मनुष्यो की चिकित्सा की भाँति हाथी और घोडो की चिकित्सा के लिए भी चिकित्सक रखे थे।

हस्त्यायुर्वेद की समग्र रचना चरक-सुश्रुत के अनुसार है, इसलिए इन सहिताओ के पूर्ण होने के पश्चात् दृढबल के पहले या पीछे यह ग्रन्थ बनना चाहिए।[1] अलबेरुनी ने हाथियो के वैद्यक सम्बन्धी किसी ग्रन्थ का उदाहरण दिया है। इसलिए जब तक दूसरे प्रमाण न मिले तब तक ११वी शती से पहले और अधिकत चौथी या पाँचवी शती तक हस्त्यायुर्वेद बन चुका था, यह मानने में कोई दोष नही। इसमे हाथियो के विशेष रोग (मदरोग आदि) का वर्णन और चिकित्सा भी लिखी है।

हस्त्यायुर्वेद के उपरान्त मातंगलीला नामक एक ग्रन्थ हाथियो की चिकित्सा से सम्बन्धित नारायण-विरचित है। यह त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज़ में छपा है। इसके कर्त्ता ने भी पालकाप्य मुनि को ही हस्त्यायुर्वेद का आदि आचार्य माना है। ग्रन्थ भाषादृष्टि से आधुनिक प्रतीत होता है।

अश्ववैद्यक और गजवैद्यक की भाँति गौओं की चिकित्सा सम्बन्धी कोई पुस्तक पृथक् नही मिलती। परन्तु १४वीं शती की शार्ङ्गधरपद्धति में बकरी, गाय आदि की चिकित्सा सक्षेप में लिखी है।

---

१. चरकसंहिता में हाथियों की चिकित्सा में बस्ति-विधान लिखा है—
"कालिंगकुष्ठे मधुकं च पिप्पली वचा शताह्वा मदनं रसाञ्जनम्।
हितानि सर्वेषु गुडः ससैन्धवो हिंग्वम्लमूलं च विकल्पना त्वियम्॥
गजेऽधिकाऽश्वत्थवटाश्वकर्णकाः सखादिरश्च शालतालजाः।
तथा च पथ्यौ धवशिंशुपाटलाम्बुकसाराः सनि [illegible]काः॥
पलाशभूतीकसुराह्वरोहिणीकषाय उक्तस्त्वधिको गवां हितः।
पलाशवन्तीं [illegible] [illegible]
सि. अ. ११।२३-२५

वृक्षायुर्वेद—भारतीय सस्कृति मे वृक्षो को भी सचेतन माना है[1], इसलिए इनकी भी चिकित्सा की जाती है। शार्ङ्गधर पद्धति में वृक्षायुर्वेद अथवा उपवन-विनोद नाम का २३६ श्लोको का एक प्रकरण मिलता है।[2] इस विषय मे यह प्रकरण देखने योग्य है। इसके सिवाय राघव भट्ट का वृक्षायुर्वेद नामक पृथक् ग्रन्थ भी मिलता है।[3]

तिर्यग्योनि चिकित्सा—इसका उल्लेख यशोधर ने किया है। इसमें पशु-चिकित्सा भी वर्णित है।

---

१. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ मनु. १।४९

२. श्री गिरिजाप्रसन्न मजूमदार ने उपवनविनोद—वनस्पति सम्बन्धी पुस्तक लिखी है, यह कलकत्ते से प्रकाशित है।

३. आयुर्वेद का इतिहास—श्री दुर्गाशंकर शास्त्री लिखित के आधार पर

पन्द्रहवाँ अध्याय

आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन

अध्ययन-अध्यापन क्रम के अन्तर्गत यास्क ने दो प्रकार की विद्या का उल्लेख किया है—एक जानपदीय विद्या और दूसरी भूयसी विद्या। उपनिषद् मे इनको परा और अपरा नाम से कहा है।[1]

इनमें परा विद्या का सम्बन्ध ब्रह्मज्ञान से था और अपरा का जानपदीय विद्या से, जिसको बुद्धकाल मे शिल्प कहा गया है। तक्षशिला मे इन्ही शिल्पो की शिक्षा दी जाती थी (जातक, भाग ५ पृ० ३४७)। कुरु-पचाल उस समय परा विद्या का केन्द्र होगा, ऐसा उपनिषद् से ज्ञात होता है। छान्दोग्य मे पञ्चालो की समिति का उल्लेख है ("श्वेतकेतुर्हारुणेय पञ्चालाना समितिमेयाय"—५।३।१)। उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि एक गुरु के पास बहुत से छात्र रहते थे, ये छात्र उसी से सब विद्या पढ़ते थे। उस समय जो विद्याएँ पढायी जाती थी, उनका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् मे आया है; उसमें देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद, कीट, पतग, पिपीलक—इनका ज्ञान भी कराया जाता था, इस ज्ञान का उसमें विज्ञान नाम दिया गया है।[2]

---

१. "जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।" "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" (मुण्डक ५)

२. विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेद-माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाको-वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथ्वीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीन् श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं चा साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञान-मुपास्स्वेति॥ छांदोग्य. ७।७।१

ज्ञान का उद्देश्य और आदर्श—प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य ईश्वरभक्ति, धर्मविश्वास, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्माण था। शिक्षा केवल पुस्तकों से ही सम्बन्धित नही थी, उसका ज्ञान क्रिया रूप में आवश्यक था। इसके लिए कहा जाता था कि जो मनुष्य केवल शास्त्र घोखता है, उसके अनुसार कार्य नही करता, वह मूर्ख है।[1] चरक सहिता के कथनानुसार शिष्य का उपनयन करके आचार्य जो शिक्षा देता था, उससे उस समय की शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

आयुर्वेदिक शिक्षा का उद्देश्य भी कर्त्तव्य की शिक्षा देना है। आयुर्वेद के ग्रन्थो मे यही पूर्णत स्थान-स्थान पर वैद्य को याद कराया गया है कि उसका धर्म रोगी की सेवा करना है, उससे धन कमाना नही। रोगी को अपने पुत्र के समान समझना चाहिए, उसके प्रति लोभ-वृत्ति नही रखनी चाहिए (चरक. सूत्र अ १; चरक चि अ. १।४)। ज्ञान प्राप्त करने मे सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। वैद्य की चार वृत्तियाँ बतलायी है, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (चरक सू अ ९), यही योगदर्शन मे भी कही है, इन वृत्तियो मे रहकर उसे रोगियो के साथ बरतना चाहिए। वैद्य को सम्पूर्ण औषधियो का ज्ञाता होना चाहिए।[2] शास्त्र ज्योतिरूप है, बुद्धि आँख है, इन दोनो के अनुसार ठीक प्रकार से कार्य करने पर वैद्य गलती नही करता। इसी से कहा है कि इसके ज्ञान मे अतिशय प्रयत्न करना चाहिए। रोग के कारण, लक्षण, रोग की शान्ति और उसका फिर से न होना, इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, सब क्रियाओ का स्वत अनुभव करना चाहिए (चरक सू अ ९।६-१८-१९-२१)। चरक मे मानसिक पवित्रता के ऊपर बहुत जोर दिया है, अपनी शरण मे आगत दु खी रोगी के पास से विद्वान् का वेश धारण करनेवाला वैद्य किसी प्रकार का पैसा न ले, पैसा लेने

---

१ शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान्पुरुष स एव।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणा न नाममात्रेण [illegible]॥
सु. र. भा. पृ. ४०।२१

२. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षोहामीवचातनः॥ ऋ. १०।९७।६; इस मंत्र की तुलना कीजिए—"योगविस्त्वप्यरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते। किं पुनर्यो विजानीयादौषधीः सर्वथा भिषक्॥ योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्। पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥ चरक-सू. अ. १।१२३-१२३

की अपेक्षा साँप का विष या उबाला ताँबा पी लेना अधिक उत्तम है (चरक सू अ. १।१३२-१३३)।

वैद्य को रुपया नही कमाना चाहिए, यह चरक का आशय नही, अपितु धन प्राप्ति के लिए ही इस विद्या को नही बरतना चाहिए। वैद्य के लिए अर्थप्राप्ति रोगी की इच्छा पर छोडी गयी हैं।[1]

वैद्य सब रोगियो को अपने पुत्रो की भाँति समझे। केवल धर्म प्राप्ति के लिए, रोगो से बचाने के लिए, धर्म, अर्थ, काम तीनो पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए आयुर्वेद को साधन समझना चाहिए। इसी से चरक में आयुर्वेद का उपदेश 'सर्वभूतानुकम्पा' से और सुश्रुत मे 'प्रजाहितकामना' से किया गया है। अतएव प्राणियो पर दया करने के भाव से जो वैद्य इसका उपयोग करता है वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक है। जो चिकित्सा को बाजारू वस्तु बनाकर बेचता है, वह सोने के टुकडे के स्थान पर रेत की ढेरी प्राप्त करता हैं। दारुण रोगो से पीडित, यमराज के राज्य मे जाते हुए रोगियो को यमपाशो से जो छुडाता है, उसके लिए और दूसरा कौन सा धर्म करना बाकी रहा? जीवन दान से बढकर दूसरा कोई धर्म नही, भूतदया ही सबसे बडा धर्म है, यह जानकर चिकित्सा करनी चाहिए, इसी से आत्यन्तिक सुख या मोक्ष मिलता है (च चि अ १।४।५६-६२)।

आयुर्वेद विद्या के अधिकारी---चरक के अनुसार आयुर्वेद पढने का सबको अधिकार है (सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वे---सू. अ ३०।२९)। काश्यप सहिता मे भी चारो वर्णो के लिए आयुर्वेद अध्ययन कहा है (केन चाध्येय इति, ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रैरायुर्वेदोऽध्येय ---शिष्योपक्रमणीय)। सुश्रुत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनो को अध्ययन करने का अधिकारी कहा है। शूद्र को भी मन्त्रभाग छोडकर आयुर्वेद पढना चाहिए---यह एकपक्षीय सिद्धान्त के रूप मे लिखा है (सू अ. २)। इसमें ब्राह्मण का मुख्य उद्देश्य प्राणियो के कल्याण का, क्षत्रियो का अपनी रक्षा का और वैश्यो का वृत्ति-जीविकोपार्जन होना चाहिए। काश्यप सहिता के अनुसार शूद्रो को शुश्रूषा के लिए इस विद्या को सीखना चाहिए।

जाति परिवर्तन---आयुर्वेद पढने से ज्ञान-चक्षु खुल जाते है, उस समय पाठक मे

---

1 चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसश्रुत्य मानवः। नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥ चरक. चि. अ. १।४।५५; या पुनरीश्वराणां वसुमतां च सकाशात् सुखोपाहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षण च. या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा, सोऽस्यार्थः-सू. अ. ३०।२९)।

आचार्य के गुण—जिसने विधिपूर्वक शास्त्र का अभ्यास गुरु से किया हो (श्रुतेः पर्यवदातत्व), कर्माभ्यास देखा हुआ (परिदृष्टकर्मा), सरलबुद्धि, चतुर, पवित्र, हस्तकौशल मे निपुण (जितहस्त), साधनसम्पन्न, सब इन्द्रियो से युक्त, प्रकृति को समझनेवाला, प्रतिभाशाली, शास्त्रान्तर ज्ञान से विद्या को माँजे हुए, अहंकार रहित, निन्दा या ईर्ष्या से शून्य, क्रोध रहित, क्लेश-श्रम को सहनेवाला, शिष्यो से प्रेम रखनेवाला, पढाने मे योग्य—समझा सके, ऐसा आचार्य उत्तम है।[1]

शास्त्र की परीक्षा—बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने कार्य मे गुरु-लघु का विचार करके, कार्य के फल, परिणाम तथा उसके भावी विचार को समझकर, देश और समय का विचार करके यदि वैद्य बनने का निश्चय हो, तब सबसे पहले शास्त्र की जाँच करे। लोक मे वैद्यो के बहुत से ग्रन्थ प्रचलित है, इनमे से जो आयुर्वेद ग्रन्थ सुमहान्, यशस्वी-धीर पुरषो से सम्मानित, अर्थबहुल, आप्त-विद्वानो से सेवित, तीव्र, मध्यम और मन्द तीनो प्रकार के शिष्यो की समझ मे आ सके, पुनरुक्ति-दोष रहित, सूत्र-भाष्य-सग्रह (उपसहार) क्रम से ठीक बना हो, अपने ही मौलिक आधार पर बना हो (जिसके लिए दूसरे ग्रन्थ देखने की जरूरत न हो), जिसमे शब्द छूटे हुए न हो, सरल-सीधी भाषा हो, जिसमें क्रमपूर्वक अर्थतत्त्व का निश्चय हुआ हो, प्रकरण—विषय विभाग स्पष्ट हो, पढने से जल्दी समझ मे आ जाय, जिसमे लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हो; ऐसा शास्त्र चुनना चाहिए। इस प्रकार का शास्त्र सूर्य की भाँति अज्ञान को दूर करके सब विद्या को ठीक-ठीक प्रकाशित कर देता है।

उपनयन—इस विधि का अर्थ इतना ही है कि शिष्य गुरु के द्वारा अध्ययनार्थ स्वीकृत कर लिया जाता है। शिष्य का यह सस्कार प्राचीन काल में तुरन्त नही होता था। शिष्य को कुछ समय तक आचार्यकुल मे रहना होता था, इस समय उसकी सज्ञा 'माणवक' होती थी, माणव सम्भवत 'मानव' का ही रूप है। उसे दण्ड-माणव कहते थे, सम्भवत आचार्य के गोधन की देखभाल, चराने का काम इस समय उसे

हि[illegible] विनिवेशः पाटवं यथोक्तकारित्वं ब्रह्मचर्यमनुत्सेको लो[illegible]र्ष्याविवर्जनमिति। अतोऽन्यथा दोषैः स वर्ज्यः॥

१. अथ गुरुः—धर्मज्ञानविज्ञानोहापोहप्रतिपत्तिकुशलो गुणसंपन्नः सौम्यदर्शनः शुचिः शिष्यहितदर्शी चोपदेष्टा च भिषक्शास्त्रव्याख्याकुशलस्तीर्थागतज्ञानविज्ञानः कल्योऽनन्यकर्माऽव्यावृत्तः शिष्यगुणान्वितश्च। अतोऽन्यथा दोषैर्वर्ज्यः॥ (काश्यप संहिता—वि. शिष्योपक्रमणीय)

करना होता था। इसी समय गुरु उसके स्वभाव से परिचित हो जाता था। शिष्य को जब वह योग्य समझता था, तब उसका उपनयन होता था। अब उसकी सज्ञा 'अन्तेवासी' होती थी। इस समय उसे गुरु के पास ही रहना होता था, उसकी आज्ञा को पूर्णत. पालन करना होता था, बिना उसकी जानकारी के कोई कार्य वह नही कर सकता था, जो कुछ भी भिक्षा या वस्तु लाता था, उसे पहले गुरु की सेवा में उपस्थित करता था, एक प्रकार से वह गुरु-अधीन होता था (चरक वि. अ. ८।१३)। इसके पीछे विद्या समाप्त होने पर उसका समावर्त्तन होता था। इसके बाद भी जो निरन्तर विद्याभ्यास करने के लिए देश देशान्तरों में जाते थे, विशेष ज्ञान के लिए घूमते थे, उनकी सज्ञा चरक होती थी।[1]

इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है कि आयुर्वेद ज्ञान का कोई छोर नहीं; बिना प्रमाद किये निरन्तर इसमे जुटे रहना चाहिए। इसके लिए स्वभाव में सज्जनता लाकर, बिना निन्दा या ईर्ष्या के दूसरो से भी इसको सीखना चाहिए। बुद्धिमान् व्यक्ति का सम्पूर्ण ससार गुरु होता है और मूर्ख का शत्रु। इसलिए बुद्धिमान् का यह धर्म है कि अपने शत्रुओ के भी मगलकारी, यशस्वी, आयुष्य, पौष्टिक, लौकिक वचन को स्वीकार करे, और उसके अनुसार कार्य करे। इस समय शिष्य को जिन शब्दो में आचार्य अनुशासन--शिक्षा देता है, यही शब्द--अनुशासन आयुर्वेदचिकित्सा में व्यवहार करने योग्य सार है। उसे अपने जीवन मे जिस प्रकार से दुनिया में बरतना है, उसकी यही शिक्षा होती है।[2] इस अनुशासन के समय शिष्य आचार्य के आदेशानुसार अग्नि को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करता है।[3]

उपनयनविधि वैदिक प्रक्रिया है, जिसमें प्रशस्त मुहूर्त्त में शिष्य सिर घुटवाकर उपवास रखता है, फिर स्नान करके काषाय वस्त्र धारण कर हाथो में सुगन्ध, समिधा,

---

१. पुनर्वसु आत्रेय इसी प्रकार के आचार्य थे—जो बराबर विचरण करके ज्ञान उपार्जन करते थे और जनता का मंगल-कल्याण करते थे; 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' के आधार पर।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आचार्य शिष्य को समावर्त्तन के समय उपदेश देता है—वह उपदेश लगभग इसी प्रकार का है (११वाँ अनुवाक)। इसमें आचार्य कहता है—"यान्यवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ ११।२

३. मत्प्रियहितेषु वर्त्तितव्यम् अतोऽन्यथा ते वर्त्तमानस्याधर्मो भवति अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति। सु. सू. अ. २।७

अग्नि, घी तथा पूजा की अन्य सामग्री, दान-दक्षिणा साथ लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। आचार्य यज्ञविधि से उसको दीक्षा प्रदान करता है। इसमें होम के साथ आयुर्वेद के उपदेष्टा ऋषियो के नाम से आहुतियाँ भी दी जाती है। हवन के पीछे परिक्रमा तथा वैद्यो की पूजा होती है। इस विधि के बाद ब्राह्मणो, वैद्यो और अग्नि के सामने गुरु शिष्य को अनुशासित करता है—व्यवहार की शिक्षा, कर्त्तव्यो का ज्ञान देता है। चरकसहिता का यह उपदेश जीवन मे दीपज्योति के समान महत्त्वपूर्ण है; इस ज्ञान की तुलना में उपनिषद् का ज्ञान ही ठहर सकता है। वैद्यो के व्यवहार की सब बातें इसमे कही है, वैद्य को आत्मप्रशसा से सदा दूर रहना चाहिए, ज्ञानवान् होने पर भी अपने ज्ञान की दुहाई देते नही फिरना चाहिए (ज्ञानवतापि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यम्, आप्तादपि हि विकत्थमाना-दत्यर्थमुद्विजन्त्यनेके। वि अ ८।१३)।

छुट्टियाँ—विद्या-अध्ययन कुछ अवस्थाओ मे बन्द भी रहता था, यथा—बिना ऋतु के जब बिजली चमकती हो, दिशाओ मे आग लग रही हो, पास मे आग लगी हो, भूकम्प होने पर, कोई बडा उत्सव (शरद् पूर्णिमा आदि) हो, उल्कापात होने पर, सूर्य चन्द्र ग्रहण होने पर, अमावास्या को विद्या का पाठ नही होता था। इसके अतिरिक्त सन्ध्याकाल में तथा बिना गुरु से पढे नही पढा जाता था। अक्षर छोडते हुए, बहुत जल्दी, चिल्ला चिल्लाकर, बिना स्वर के पदो को उलटकर, रुक रुककर, मरी हुई आवाज से या बहुत धीमी आवाज से भी पढने का नियम नही था। सुश्रुत मे कृष्ण पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पचदशी (अमावस), शुक्ल पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा ये दिन भी विद्याध्ययन के लिए निषिद्ध है (सु सू अ. २।९)।

शिक्षा के स्थान—शिक्षा के उपयुक्त गुरुकुल जगल मे होते थे या नगर मे, इस विषय की कोई जानकारी आयुर्वेदसहिताओ मे नही मिलती। इतना स्पष्ट है कि चरकसहिता मे ग्राम्यवास की अपेक्षा अरण्यवास को अधिक पसन्द किया और स्वास्थ्य के लिए उत्तम बताया है। शालीन (अचल) और यायावर (चल) ऋषियो ने जब अपने को दैनिक कार्यों मे भी असमर्थ पाया तब उनको अनुभव हुआ कि यह दोष ग्राम्य वास का ही है। इन्द्र ने भी उनको समझाया कि ग्रामो मे रहना अप्रशस्त व्यवहार का कारण है (ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम्-चि. अ. १।४।४)। इसलिए शिक्षा का स्थान ग्राम से दूर शान्त-सुन्दर स्थान मे होना होगा। चरक-सहिता मे तो पुनर्वसु आत्रेय को सदा घूम घूमकर विद्या देते पाते है। सुश्रुत के उपदेष्टा धन्वन्तरि दिवोदास काशिराज होने मे एक ही स्थान पर रहते थे। परन्तु चरक-

संहिता की अध्यापन विधि से अनुमान होता है कि यह अध्ययन एक स्थान पर रहकर नियमित रूप में किया जाता था। वनस्पति-ज्ञान के लिए जंगल पास में होता था। औषध ज्ञान के लिए गौ-बकरी चरानेवालों की सहायता ली जाती थी।

शुल्क—शिक्षा के लिए उस समय गुरुकुल-प्रणाली ही थी, जिसमें शिष्य को गुरु के पास ही रहना होता था। इससे उस पर आचार्य के चरित्र का प्रभाव पड़ता था, उसका गुरु से सतत संपर्क बना रहता था। गुरुकुल के इस जीवन की उपमा माता के गर्भवास से दी गयी है (आचार्यः उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः—अथर्व)। एक गुरु के पास बहुत शिष्य रहते थे। गुरु का बहुत कुछ चित्र ऊपर के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। गुरु भी शिष्य के प्रति अपना उत्तर-दायित्व समझता था, इसी से वह भी प्रतिज्ञा करता था कि यदि तेरे ठीक प्रकार से बरतने पर भी मैं दोषदर्शी बनूं तो मेरी विद्या निष्फल हो जाय (अहं वा त्वयि सम्यग्वर्त्तमाने यद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग्भवेयमफलविद्यश्च—सु. सू. अ. २।७)। गुरु का जीवन सरल और त्यागपूर्ण होता था। विद्या दान त्याग के रूप में था, इसमें उदात्त भावना थी। वैदिक काल में वह शिष्य से किसी प्रकार का शुल्क धन-रूप में नहीं लेता था। तक्षशिला के अध्यापन समय में इसमें परिवर्त्तन हुआ, परन्तु इसका रूप सुरक्षित रहा। वहाँ भी जो विद्यार्थी शुल्क नहीं दे सकते थे वे दिन में गुरु के घर सेवा कार्य करके विद्याध्ययन करते थे। यह शायद इसलिए था कि तक्षशिला में बड़ी आयु के छात्र विद्याध्ययन के लिए जाते थे। छोटी आयु के छात्र गुरु के यहाँ माणव रूप में सेवा कर चुके होते थे। गुरु के पास विद्या पढ़ने के लिए आनेवाले छात्रों का प्रवाह सतत बना रहता था, जिससे उनकी सेवा अविच्छिन्न रूप में चालू रहती थी। इसलिए शिक्षा की कोई फीस उस समय नहीं थी। गुरु या आचार्य का सम्बन्ध शिष्य के साथ पिता-पुत्र का होता था। गुरु शिष्य के चरित्र पर निरन्तर ध्यान रखता था; उसे किनसे मिलना चाहिए, कहाँ बैठना चाहिए, इसका उपदेश वह देता था। (चरक. वि. अ. ८; काश्यप. वि. शिष्योपक्रमणीय)

गुरु की आय का साधन क्या था, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, सम्भवतः धनी सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही इनका पोषण होता था (चरक. सू अ. ३०।२९)। ये लोग आरोग्य सुख मिलने के बदले में या अन्य रूप से जो दान दक्षिणा देते थे उससे इनका व्यवहार चलता था। इतना होने पर भी उस समय के चिकित्सालय सम्पूर्ण साज-सज्जा से युक्त होते थे; यह बात चरक के उपकल्पनीय अध्याय से स्पष्ट है (सू. अ. १५।७)। उनका अपना जीवन शान्त होने पर भी वासस्थान सब

आवश्यक वस्तुओ से पूर्ण होता था। इसी से कहा गया है कि गुरु के पास शिक्षा के सब उपकरण-साधन होने चाहिए ।

मनुष्य मे प्राणैषणा के पीछे धन की चाह होनी चाहिए, जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओ के बिना जिन्दगी व्यतीत करना सबसे बडा पाप है। इसलिए जीवन के हितार्थ आवश्यक साधनो को एकत्र करने का यत्न करे। इसके लिए कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, राजसेवा आदि जो कार्य सज्जनो से निन्दित न हो, जिनसे जीविका चल सके उनको करना चाहिए (चरक. सू. अ. ११।५)। जीविका के लिए गुरु की आवश्यकताएँ कम होती थी, जिनको राजा या समृद्ध व्यक्ति सम्भवत पूरी कर देते थे, इससे गुरु एकाग्रता के साथ विद्याध्ययन करा सकते थे। उनकी आय का मुख्य साधन यही प्रतीत होता है।

अध्यापन कार्य प्राय भिक्षु और वानप्रस्थ करते थे। नालन्दा और विक्रम-शिला मे तो अध्यापन कार्य भिक्षु ही करते थे। इनके निर्वाह का प्रबन्ध विद्यालय की ओर से रहता था। विद्यालय की आय राजाओ द्वारा प्रदत्त दान से थी। यही परिपाटी सम्भवत वैयक्तिक गुरु के विषय मे भी थी। राजा विद्वानो को गाय एवं स्वर्ण का दान करते थे, यह बात जनक के दान से स्पष्ट है। शिष्य गुरुसेवा करने में अपना गौरव समझते थे। यह ऐसा कार्य था जिसको करते हुए कोई भी व्यक्ति विद्या पढ सकता था, इसके सहारे उसे निराश नही होना पडता था। गुरु अध्यापन करना आवश्यक समझता था—बिना विद्या दान दिये वह गुरु-ऋण से मुक्त नहीं होता था (यो हि गुरुभ्य सम्यगादाय विद्या न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्य स खल्वृणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दति—चक्रपाणि, सूत्र अ १।४ ५ की टीका में)। इसलिए उस समय विद्यादान गुरु का एक आवश्यक कर्त्तव्य था, जिसे वह बिना लोभ के करता था। छात्र गुरु के घर का एक अग होता था। गुरु शिष्य के खाने पीने की व्यवस्था, बीमारी मे उसकी सेवा करता था। शिष्य का भी कर्त्तव्य था कि घूमते-फिरते गुरु के लिए अर्थसग्रह करे। इससे स्पष्ट है कि उस समय गुरु शिष्यो को भेजकर अथवा शिष्य स्वत जाकर गुरु के लिए धन सग्रह करते थे (अनुज्ञातेन चाननुज्ञातेन च प्रविचरता पूर्वं गुर्वर्थोपहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यम्—चरक, वि अ. ८।१३)। भिक्षा से शिष्य को जीवन मे विनय की शिक्षा मिलती है।

चरकसहिता मे शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करने के तीन उपाय बताये हैं, अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसम्भाषा । इनमे प्रत्येक उपाय की विस्तृत विवेचना भी की है (वि अ.८।६)।

इनमें तद्विद्यसम्भाषा का उल्लेख करते हुए कहा है कि वैद्य वैद्य के साथ ही सम्भाषण करता है। उस विद्या को जाननेवाले व्यक्ति के साथ बातचीत करना ज्ञान को बढाता है, दूसरे के वचनो का निराकरण करने की युक्ति देता है, बोलने की शक्ति आती है, यश को बढाता है, पहले सुनी हुई बात मे सन्देह रहने पर फिर से सुनने पर उस बात का सन्देह मिट जाता है, जो बात पहले सुनी है उसमे सन्देह होने पर भी फिर से सुनने मे दृढ निश्चय हो जाता है, जो बात पहले सुनने मे नही आती, वह भी कभी भी सुनने मे आ जाती है। गुरु जिस गुह्य बात को सेवा करनेवाले शिष्य के लिए बडी मुश्किल से बताता है, वह गुप्त बात भी दूसरे को जीतने की इच्छा से इस समय कही जाने से सरलतापूर्वक सुनने मे आ जाती है। इसलिए विद्वान् लोग तद्विद्यसम्भाषा की प्रशसा करते है।

यह सम्भाषा दो प्रकार की है, सन्धाय सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा। इसमे जो व्यक्ति ज्ञान, विज्ञान, प्रतिवचन (उत्तर देने की क्षमता) शक्तियुक्त हो, क्रोधी न हो, विद्या का जिसने अभ्यास किया हो, ईर्ष्या या निन्दा न करता हो, विनम्रता का आदर करता हो, दुःख उठा सकता हो, मधुर भाषी हो, उसके साथ सन्धाय सम्भाषा (मिलकर बातचीत) होती है। इस प्रकार के व्यक्ति के साथ बातचीत करते हुए विश्वास से कहना चाहिए, विश्वासपूर्वक पूछना भी चाहिए, यदि वह कुछ पूछे तो विश्वास के साथ स्पष्ट अर्थ कहना चाहिए, मै हार जाऊँगा, इस भय से घबराना नही चाहिए। दूसरो में अपनी बडाई (डीग) नही करनी चाहिए, मोहवश हठी-आग्रही नही होना चाहिए, जो बात या वस्तु अज्ञात हो उसे कहना चाहिए। विनम्रता से भली प्रकार बरतना चाहिए, । यह अनुलोम सम्भाषा है।

अन्य व्यक्ति के साथ विगृह्य सम्भाषा करने मे अपनी श्रेष्ठता होने पर ही वाद-विवाद करना चाहिए। वाद-विवाद से पूर्व ही विपक्षी के और अपने गुण-दोषो की परीक्षा, उपस्थित सभासदो की परीक्षा कर लेनी चाहिए। ठीक प्रकार से की हुई परीक्षा ही बुद्धिमानो के कार्य में प्रवृत्ति या निवृत्ति का निश्चय करा देती है। इसकी परीक्षा करते समय अपने और विपक्षी के इन जल्प-गुणो की तथा दोषो की जाँच करनी चाहिए—श्रुत, (अध्ययन), विज्ञान (समझना), धारण (याददास्त), प्रतिभा (सूझ), वचनशक्ति (बोलने की शक्ति)। इन गुणो को श्रेयस्कर (जितानेवाले) कहा है। दोष– क्रोधी होना, अकुशलता, डरना (घबराना), याद न रखना, एकाग्रता का अभाव—इन गुणो की अपने में और विपक्षी में अधिक और कम की दृष्टि से तुलना करनी चाहिए। इस रीति से विपक्षी

तीन प्रकार का हो सकता है; (१) अपने से श्रेष्ठ, (२) अपने से कम, (३) अपने बराबर। यह विचार काल, शील आदि की दृष्टि से नही है। अपितु उपर्युक्त गुणो के विचार से है।

ज्ञानवृद्धि या अध्ययन का एक अंग होने से चरकसहिता में ही इस विषय की विस्तृत विवेचना मिलती है, यह प्रथा आज भी किसी अश में विद्यार्थियो में प्रचलित है।

शिक्षण संस्थाओं का संघटन तथा अर्थ-व्यवस्था—प्रागैतिहासिक काल में १००० ईसापूर्व अध्ययन का क्षेत्र सम्भवतः परिवार होगा। पीछे से शिक्षा का क्रम पाठशाला के रूप में चला। एक पण्डित के पास बहुत से छात्र पढते थे। यही एक पण्डित प्राय. सब विषयो को पढाता था। राजकुमार को शिक्षा देने के लिए बहुत अध्यापक होते थे, जो कि भिन्न-भिन्न विषयो की शिक्षा देते थे।

पाठशालाओ का यही रूप मठों और बौद्ध विहारो में बदल गया। जब विद्यार्थियो की सख्या बढ़ी तब उनके आचार, चारित्र्यनिर्माण की देखरेख का तथा अन्य प्रबन्ध का उत्तरदातृत्व आचार्य ने सँभाला और विद्या-अध्यापन का कार्य उपाध्याय के ऊपर पडा। चरकसहिता में सर्वत्र आचार्य शब्द ही प्रयुक्त हुआ है; यज्ञकर्म में ऋत्विक् शब्द का व्यवहार है। सुश्रुतसहिता में उपाध्याय शब्द आता है। सुश्रुत में ऋत्विक्-शब्द नही, इससे अनुमान होता है कि यज्ञकर्म या पूजाकर्म उस समय उपाध्याय करते थे। चरक के समय इस कर्म को ऋत्विक् करते थे। एक प्रकार से ऋत्विक्-उपाध्याय शब्द पहले कर्मकाण्ड के आचार्य से सम्बन्धित रहे होंगे, पीछे से अध्यापन कार्य में उपाध्याय शब्द प्रचलित हो गया, और आचार्य का पुराना अर्थ बना रहा, जिसमें उसके ऊपर आचरण निर्माण और अध्यापन दोनो कार्य थे (ऋग्यजु:सामाथर्व-वेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याय भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षा कुर्यु:—सु. सू. अ. १९।२७, यहाँ उपाध्याय को ऋत्विक् कार्य सौंपा है)।

स्वतत्र अध्यापक—अपनी निजी पाठशालाएँ चलानेवाले स्वतंत्र अध्यापक सदा से भारतीय शिक्षाप्रणाली की रीढ़ रहे हैं। इन्ही से शाखा और चरण की उत्पत्ति हुई है, जिसका विस्तार सारे भारत में फैला। एक शाखा या चरण में शिक्षित व्यक्ति जहाँ गये वहाँ उन्होंने उसी शाखा के अन्तर्गत अध्ययन क्रम चालू किया; उसी शाखा में भिन्न-भिन्न विषयो का विस्तार हुआ। इसमें अध्ययन क्रम मुख्यतः ब्राह्मण वर्ग के हाथ में रहा। यह वर्ग सब विद्याओं की शिक्षा अन्य वर्णों को देता था। इस वर्ग का पोषण क्षत्रिय और वैश्य करते थे। इस समय भिन्न-भिन्न शाखा के विद्वानों की जो सभा होती

थी, उसका नाम परिषद् था। तक्षशिला और काशी में विद्वानों का जो जमघट था, वह भी इसी रूप में पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पाठशाला रूप में था (—डाक्टर अल्तेकर)।

यदि किसी आचार्य के पास शिष्यो की सख्या अधिक होती थी, तो वह प्रौढ़ विद्यार्थियो से अध्यापन का कार्य लेता था, प्रौढ़ विद्यार्थी नये या छोटे विद्यार्थियों को पाठ देते थे। अथवा किसी नौसिखुवे अध्यापक को अपने सहयोगी रूप मे रखकर काम लिया जाता था। इससे आचार्य की पाठशाला में कोई अन्तर नही आता था।

शिक्षासंस्थाओं का जन्म—भारतवर्ष में शिक्षा सस्थाओ का जन्म मठो या बौद्ध-विहारो से हुआ है। महात्मा बुद्ध ने उपासकों की विधिवत् शिक्षा दीक्षा पर बहुत जोर दिया था। दस साल तक अध्ययन करने के बाद उनको प्रव्रज्या दी जाती थी। उनके विहार गुरुकुलों का ही रूप थे। विहारो का मुख्य आचार्य योग्य भिक्षु होता था। विहारो-मठो में भोजन तथा वस्त्र आदि का सुभीता शिष्य को मिलता था। विद्या समाप्ति पर गुरुदक्षिणा देना आचार माना जाता था। विद्या पढ़कर जो गुरुदक्षिणा नही चुकाते थे; समाज में वे हीन-दृष्टि से देखे जाते थे। 'मिलिन्द प्रश्न' से पता चलता है कि राजा मिलिन्द ने अपने गुरु नागसेन को जब बहुत दक्षिणा दी तो उसने उसे लेने से इन्कार कर दिया। तब मिलिन्द ने कहा कि यदि मैं आपको कुछ न दूँ तो लोग मुझे क्या कहेंगे। भारतवर्ष में विद्या या चिकित्सा का विक्रय नही होता था।[1]

छात्रों की संख्या तथा अध्ययन का समय—छात्रो की कितनी सख्या एक गुरु के पास होती थी, इसका उल्लेख आयुर्वेदग्रन्थो में नही है। आत्रेय के छः शिष्य थे, सुश्रुत में धन्वन्तरि के सात शिष्यो का नाम है, शेष के लिए आदि शब्द दिया है। तक्षशिला में एक आचार्य के पास ५०० विद्यार्थी होने का उल्लेख है।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में आयुर्वेद के अध्ययन का समय चार साल लिखा है (२। १८४)। परन्तु अध्ययन की कोई मर्यादा नही थी; जीवक ने तक्षशिला में सात वर्ष तक विद्याध्ययन किया, तब भी उसे इसका अन्त नही दीखा। अन्त मे थककर उसने

---

१. कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥ चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वासंश्रुत्य मानवः। नोपकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥ चरक, चि. १।४।५५–५९

२. श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'एन्शेंट इण्डियन एजुकेशन' (पृष्ठ ३६८) में एक संस्था का उल्लेख किया है जो कि १०२३ ईसवी में थी। इसमें ३४० विद्यार्थी, १० अध्यापक तथा ३०० एकड़ भूमि थी।

गुरु से इस ज्ञान की सीमा के विषय मे पूछा। गुरु ने उसके ज्ञान की परीक्षा लेकर उसे जाने की आज्ञा दे दी। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की सीमा नही (समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्य चिकित्सितम्। वक्तु निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि ॥ सु उ अ. १९।७)।[1] सामान्यत. गुरु के पास ८ से १६ वर्ष तक अध्ययन किया जाता था। इसके पीछे विशेष अध्ययन होता था। तक्षशिला प्रौढ विद्यार्थियो की शिक्षा का केन्द्र था, जहाँ पर सोलह वर्ष की आयु के पीछे विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए जाते थे। सामान्यत २४ या २५ वर्ष में दूसरे आश्रम में प्रवेश कर लिया जाता था।

तक्षशिला—आयुर्वेद की शिक्षा का यही एक केन्द्र जातको मे वर्णित है। जातको से पता लगता है कि बुद्ध के समय तक्षशिला की कीर्त्ति बहुत दूर तक फैली हुई थी।[2] इसी से काशी के राजा ब्रह्मदत्त ने अपने पुत्र को विद्याध्ययन के लिए तक्षशिला जाने को कहा था। उस समय बनारस मे भी प्रसिद्ध विद्वान् रहे होगे। घर पर शिक्षा समाप्त होने पर लोग अपने पुत्रो को आगे अध्ययन करने के लिए बाहर भेजते थे। राजा ने अपने सोलह वर्ष के पुत्र को पत्तो का छाता, एक तल्ले की चट्टी और एक हजार मुद्रा देकर तक्षशिला भेजा था। राजकुमार ने वहाँ गुरु को अपना उद्देश्य बताया और स्वर्णमुद्रा उनको दे दी। इस विद्यापीठ में जो शिष्य फीस देकर पढते थे उनके साथ घर के बडे पुत्र के समान बर्त्ताव होता था, उसी प्रकार वे पढते थे। इस गुरु ने भी अन्यो की भाँति इस राजकुमार को शिक्षा दी।

विद्या के केन्द्र के विषय मे तक्षशिला की ख्याति बहुत दूर तक फैली हुई थी। बनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैन, मध्यदेश, कुरु, शिबि, उत्तरदेश से विद्यार्थी यहाँ पर विद्याध्ययन के लिए पहुँचते थे। तक्षशिला की ख्याति का कारण यहाँ का अध्यापक-समूह था; जिसके आकर्षण से खिचकर छात्र यहाँ पहुँचते थे। ये अपने विषय के पूर्ण ज्ञाता तथा शास्त्र मे निपुण होते थे। एक अध्यापक के विषय मे कहा जाता है कि समस्त भारत से उसके पास लडाकू और ब्राह्मण लोग कला सीखने आते थे।

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस प्रसंग में एक कथा आती है (३।१०।११।३); भरद्वाज नामक ब्राह्मण ने वेदो के पढ़ने में अपने तीन जन्म लगा दिये। इन्द्र को जब पता लगा कि वह अपना चौथा जन्म भी इसी वेदाध्ययन में लगायेगा, तो वह उसके सामने प्रकट हुआ और अनाज की ढेरी में से तीन मुट्ठी लेकर उसको दिखाते हुए कहा कि वेद तो अनन्त हैं; तुमने इन तीन वेदों का इतना ही ज्ञान प्राप्त किया, जितना अनाज मेरी मुट्ठी में है, शेष ज्ञान तो इस अनाज की ढेरी की भाँति बाकी है।

२. एन्शेन्ट इन्डियन एजुकेशन—श्री राधाकुमुद मुकर्जी के आधार पर

प्राचीनकाल में जब आवागमन के साधन आज की भाँति सरल नही थे, उस समय भारतवासियो के लिए अपनी सन्तान को इतनी दूर विद्याध्ययन के लिए भेजना उनके उत्कट विद्याप्रेम, ज्ञान प्राप्ति की लिप्सा को बताता है। तक्षशिला से जब बच्चा विद्या पढ़कर आता था तो वह कहते थे कि जीते जी मैंने पुत्र का मुख देख लिया "दिट्ठपे मे जीवमानेन पुत्तो दिट्ठो"।

तक्षशिला में सामान्यत विद्यार्थी अपने शिक्षक की पूरी फीस विद्याध्ययन के प्रारम्भ में ही दे देते थे, जो फीस नही दे सकते थे वे दिन में गुरु के घर का काम करते थे और रात को विद्या पढते थे। जातकों से पता लगता है कि एक गुरु के पास ५०० ब्राह्मण शिष्य थे, जो उसके लिए जगल से लकडी आदि लाने का काम करते थे। जो शिष्य सेवा भी नही करना चाहते थे, अग्रिम फीस भी नहीं दे सकते थे, उन पर विश्वास करके गुरु उनको विद्या पढाता था। विद्या समाप्ति पर वे भिक्षा माँगकर शुल्क चुकता कर देते थे। उस समय फीस स्वर्ण के रूप में चुकायी जाती थी; यह सात निष्क या कुछ औन्स सुवर्ण होता था (निष्क सुवर्ण का एक सिक्का था)। सामान्यत ब्राह्मण-काल में विद्या समाप्ति पर स्नातक बनने के पीछे अध्यापक की फीस गुरुदक्षिणा के रूप में चुकाने की प्रथा थी।

भोजन—इसके लिए उस समय सामान्यत: गुरु ही प्रबन्ध करता था, परन्तु गृहस्थों से भोजन का निमन्त्रण भी मिला करता था। जातकों से पता लगता है कि पाँच सौ छात्रो को एक नागरिक ने भोजन के लिए आमंत्रित किया था। इसी प्रकार का निमन्त्रण एक ग्राम की ओर से भी मिला था।

राजकीय छात्रवृत्ति—कई अवसरो पर तक्षशिला में पढ़ने के लिए राज्य की ओर से छात्रवृत्ति दी जाती थी। इस प्रकार की छात्रवृत्तियाँ प्राय राजकुमारो के साथियो को मिलती थी। वाराणसी और राजगृह के राजकुमारो के जो साथी विद्याध्ययन के लिए उनके साथ तक्षशिला गये थे, उनको इस प्रकार की छात्रवृत्ति मिलने का उल्लेख जातको में मिलता है। वहाँ के ब्राह्मण कुमार को तक्षशिला में धनुर्विद्या सीखने के लिए राजा ने छात्रवृत्ति दी थी, इसका भी उल्लेख है।

छात्र से जो फीस ली जाती थी, वह उसी के ऊपर व्यय होती थी, शिष्य गुरु के साथ ही रहता था। इसलिए उस युग में वास्तव में शिक्षा की फीस कोई नही थी। छात्र अपने अध्यापक के घर में उसके एक सदस्य के रूप में रहते थे। अनेक छात्र अपना अलग रहने का प्रबन्ध रखते थे। वाराणसी का राजकुमार जुन्ह स्वतत्र रूप से पृथक्

रहता हुआ तक्षशिला में पढ़ता था। एक बार रात्रि में वह अध्ययन के अनन्तर अध्यापक के घर से अन्धेरे में अपने स्थान को गया था।

नियंत्रण—शिष्य पर पूर्णरूप से नियन्त्रण रखा जाता था, वह कोई भी काम बिना गुरु को बताये नही कर सकता था; यहाँ तक कि वह नदी पर भी अकेला स्नान के लिए नही जा सकता था। यह कुछ अशो में ठीक भी है, जिससे गुरु उसकी रक्षा आपत्काल मे कर सके।

नित्य अध्ययन का प्रारम्भ—विद्यार्थी अपना अध्ययन उषःकाल या ब्राह्ममुहूर्त मे ही प्रारम्भ कर देते थे (चरक. वि. अ ८।७)। कहा जाता है कि वाराणसी मे ५०० ब्राह्मणकुमारो ने एक मुरगा पाल रखा था, जो उनको प्रातःकाल में जगा देता था। सम्भवतः सब पाठशालाओ में एक मुरगा इसी लिए रहता होगा, जो कि बजनी घड़ी का काम देता होगा। यह भी उल्लेख है कि एक बार मुरगे के आधी रात में बोलने से एक ब्राह्मणकुमार आधी रात में जाग गया, जिससे नीद पूरी न आने से वह दिन में नही पढ़ सका। इससे क्रुद्ध होकर उसने उस मुरगे की गरदन मरोड़ दी। इससे स्पष्ट है कि प्रातःकाल का समय पढ़ने का होता था।

लिखित साधन द्वारा शिक्षा—चरकसहिता में दी हुई शास्त्रपरीक्षा से स्पष्ट है कि उस समय अध्ययन पुस्तको के द्वारा होता था। इसी से शिष्य को सूत्र, भाष्य, संग्रह क्रम से बने हुए शास्त्र को चुनने के लिए कहा गया है। यह जो उल्लेख है कि शास्त्र मे पुनरुक्ति दोष नही होना चाहिए; इससे भी स्पष्ट होता है कि शिक्षा पुस्तको के माध्यम से दी जाती थी (वि अ. ८।३)। जातको में प्रायः "सिप्पं वाचेति" यह वाक्य आता है, इससे स्पष्ट है कि उस समय लिखित अध्ययन चलता था। इसके सिवाय एक निर्णय मे स्पष्ट लिखा है कि "इस पुस्तक को देखकर इस विवाद में यह निर्णय दिया जाता है।"

परन्तु चरकसहिता का सम्पूर्ण उपदेश "उवाच" युक्त वाक्यो से दिया गया है, यह ज्ञान सम्भवतः शिष्यों के साथ घूमते हुए दिया गया है। वैसे पाठक्रम एक स्थान पर रहकर भी चलता होगा। चरकसहिता का उपदेश उस समय का प्रतीत होता है, जब शिष्य अपना पठन समाप्त करके अधिक विद्या उपार्जन के लिए गुरु के साथ घूमते थे।

जातको से यह भी पता चलता है कि उस समय लिखने का किस प्रकार अभ्यास कराया जाता था।

विविध पाठ्यक्रम—चरक सहिता से यह स्पष्ट है कि उस समय देश में भिन्न-भिन्न पाट्यक्रम प्रचलित थे, शिष्य को अपनी सामर्थ्य तथा परिस्थितियाँ देखकर पाठ्यक्रम निश्चित करना होता था। उसे क्या सीखना है, इसका निश्चय वह स्वयं करता था।

जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि १८ शिल्पो के साथ ही अथर्ववेद को छोडकर तीनो वेदो का अध्यापन तक्षशिला में होता था। अथर्ववेद शिल्प में सम्मिलित था। तीनो वेदो की शिक्षा मुख से दी जाती थी, क्योंकि मन्त्रो का नाम श्रुति है, इनको मुख से सुनकर ही याद किया जाता था।

शिल्प और विज्ञान मे क्या अन्तर था, यह स्पष्ट नही। मिलिन्दप्रश्न मे उन्नीस शिल्प गिनाये गये है, जो कि उस समय प्रचलित थे। तक्षशिला में जो शिल्प सिखाये जाते थे, उनमे से कुछ के नाम ये है—हाथीसूत्र, ऐन्द्रजालिक, मृगया, पशु-पक्षियो की आवाज़ पहचानना, धनुर्विद्या, शकुन विचार, चिकित्सा, शरीर के लक्षणो का ज्ञान।

सिद्धान्त और क्रियात्मक शिक्षा—छात्र को क्रियात्मक तथा सिद्धान्त दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। एक ही अग की शिक्षा का आयुर्वेद में निषेध है। विषय का सैद्धान्तिक पक्ष समझाने के बाद उसका क्रियात्मक ज्ञान कराया जाता था (सु अ ९।३)। तक्षशिला के चिकित्सा-अभ्यास क्रम से जाना जाता है कि चिकित्सोपयोगी वनस्पतियो का ज्ञान पूर्ण रूप से कराया जाता था। जीवक के ज्ञान की परीक्षा गुरु ने वनस्पति-ज्ञान से ही ली थी। कुछ विषयो का क्रियात्मक ज्ञान विद्यार्थी स्वय अपना अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त प्राप्त करते थे। उत्तर भारत का एक ब्राह्मण राजकुमार, जिसने तक्षशिला में धनुर्विद्या का अपना अभ्यासक्रम समाप्त कर लिया था, वह इस विद्या के क्रियात्मक ज्ञान के लिए दक्षिण आन्ध्र प्रान्त को गया था। इसी प्रकार मगध का राजकुमार अध्ययन समाप्त करके क्रियात्मक ज्ञान के लिए अपने राज्य के सब गाँवो में फिरा था।

चिकित्साविज्ञान में वनस्पतियो का क्रियात्मक ज्ञान कराने के अतिरिक्त प्रकृति का अध्ययन भी विशेष रूप से कराया जाता था। तक्षशिला के एक अध्यापक के पास एक मूढ़ छात्र आ गया था, उसने उसे सब तरह पढ़ाने का यत्न किया, परन्तु वह नहीं पढ़ सका। अन्त में उसने उसे स्वाभाविक रूप में ज्ञान देना प्रारम्भ किया, उसे जगल से लकडियाँ लाने को कहा। वहाँ से आने पर उसने उससे पूछा कि तुमने जगल में क्या क्या देखा। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रश्नो से उसे शिक्षा दी।

तक्षशिला के अध्यापक जहाँ शान्ति के लिए प्रसिद्ध थे वहाँ युद्धशिक्षा के लिए भी ख्यात थे। वाराणसी का ज्योतिपाल नामक छात्र राजा के खर्च पर तक्षशिला में धनुर्विद्या सीखने के लिए भेजा गया था। जब वह विद्या समाप्त कर घर वापस जाने लगा तो गुरु ने उसे अपनी तलवार, धनुष-बाण, कवच और एक हीरा पुरस्कार में दिया। उससे कहा गया कि वह गुरु का स्थान लेकर ५०० विद्यार्थियो का शिक्षक बनकर

रहे, क्योंकि अब वह वृद्ध हो गया है और निवृत्त होना चाहता है। धनुर्वेद को भी वेद की भाँति गुप्त रखा जाता था।

शिक्षा का केन्द्र वाराणसी---तक्षशिला के बाद बनारस ही विद्या का केन्द्र था। इस केन्द्र का प्रारम्भ तक्षशिला से पढकर आये हुए स्नातको ने किया था। यहाँ रहकर उन्होंने सस्कृत का विकास किया, जिससे सारे भारतवर्ष में ज्ञान का प्रसार हुआ। तक्षशिला मे जिन विषयो का एकाधिपत्य था, वे विषय धीरे-धीरे यहाँ पर पढाये जाने लगे। जातको से पता लगता है कि तक्षशिला के स्नातको ने बनारस मे इन्द्रजाल सम्बधी तथा अभिचार आदि क्रियाओ का अध्यापन भी प्रारम्भ किया था। सामान्य अध्ययन के लिए बहुत सी पाठशालाएँ स्थापित हो गयी थी। इस ढग से बनारस विद्याकेन्द्र रूप मे प्रसिद्ध हो गया था। एक करोडपति का पुत्र यही शिक्षित हुआ था। यहाँ की प्रसिद्धि सगीत की शिक्षा के रूप में विशेष थी।

यह जो मान्यता है कि तक्षशिला में जीवक का गुरु आत्रेय तथा काशी में सुश्रुत का उपदेष्टा दिवोदास काशिराज था, वह इस दृष्टि से सही दीखती है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सुश्रुत का निर्माण चरक के पीछे हुआ है।

उच्च शिक्षा का आदि स्थान हिमालय---चरकसहिता के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि जब ऋषियों को कुछ असुविधा हुई वे हिमालय पर पहुँचे। चरकसहिता के प्रथम अध्याय में रोगो की शान्ति का उपाय ढूँढने के लिए वे हिमालय के पार्श्व में एकत्र हुए थे। इसी प्रकार जब ग्राम्य आहार के कारण वे अपना कार्य करने में असमर्थ हो गये तब शालीन और यायावर ऋषि इन्द्र के पास हिमालय में ही पहुँचे। आत्रेय मुनि का विचरण भी हिमालय-कैलास पर ही विशेष रूप मे मिलता है। हिमालय में एकान्त-शान्त जीवन व्यतीत करने से सत्य-ज्ञान की प्राप्ति होती थी। इन्ही ऋषियो के निवास-स्थान धीरे-धीरे विद्या के केन्द्र बने। ये केन्द्र बाद मे क्रमश नीचे खिसकते हुए नगर या गाँवो के समीप पहुँच गये। इसमें दो लाभ थे---एक तो भिक्षा की सुविधा, दूसरा विद्यार्थियो के लिए आकर्षण। गाँव के पास मे होने मे शिष्य अधिक मिलते थे। इससे उनके ज्ञान का प्रसार अधिक होता था। जातक से पता चलता है कि सत्यकेतु, जो कि बनारस की पाठशाला में ५०० छात्रो के बीच पढता था, शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला मे गया। रास्ते मे उसे एक गाँव मे ५०० तपस्वी मिले, जिन्होंने उसके रहने आदि की व्यवस्था करके उसे सम्पूर्ण शिल्प-सिद्धान्त मूल तथा क्रियात्मक रूप में सिखा दिया था।[1]

---

१. तक्षशिला की स्थिति हिमालय के पार्श्व में ही है; हिमालय का जो महत्त्व था,

हिमालय में ही चैथरथ वन था, जैसा कि कादम्बरी में महाश्वेता के जन्म की कथा में लिखा है। इसी चैथरथ वन में आत्रेय ने दूसरे ऋषियो के साथ मिलकर कथा की थी। इससे स्पष्ट है कि उस स्थान के आस-पास बहुत से ऋषियो के अपने-अपने शिक्षाकेन्द्र चलते थे, जिनमें ममय-समय पर एकत्रित होकर किसी विषय पर [illegible] मय परस्पर होता था। यह तभी सम्भव है कि जब शिक्षासंस्थाएँ समीप में हो (जैसा आज भी बनारस या हरिद्वार मे एक गुरु के शिष्य दूसरे गुरु के शिष्यो के साथ वाद-प्रतिवाद मे उत्सुक रहते हैं। पण्डितो की इसी प्रवृत्ति को देखकर कवि ने कहा "विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥")। यही प्रवृत्ति चरक में भी मिलती है (वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षव —सू अ २६।६—जीतने की इच्छा से एकत्रित हुए)।

आयुर्वेद का ज्ञान

शरीर विज्ञान—आयुर्वेद का समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीरशास्त्र का ज्ञान पूर्णतः प्राप्त किया जाय, बिना शरीर को समझे आयुर्वेद को नही समझ सकते (चरक. शा अ. ६।१९)। शरीर का यह ज्ञान स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार से जानना आवश्यक था। स्थूल रूप में शरीर को आँखो से देखा जाता था, सूक्ष्म रूप में ज्ञानचक्षुवो से उसका प्रत्यक्ष होता था। सुश्रुत में शरीर का स्थूल रूप में परिचय कराने के लिए शवच्छेद विधि बतायी गयी है, जिसमें कि स्वस्थ व्यक्ति के मृत देह को पानी में गलाने के बाद उसके बाह्य और अन्दर के सब अंग-प्रत्यगो का ज्ञान कराना चाहिए (सु शा. अ ५)। सही ज्ञान प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह मृत शरीर को ठीक प्रकार से शुद्ध करके शरीर के सब अवयव देख ले। शरीर और शास्त्र दोनो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है; प्रत्यक्ष दर्शन से शास्त्र सम्बन्धी सन्देह को दूर करना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान और शास्त्रज्ञान से ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। कायचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रचिकित्सा में शरीरज्ञान विशेष रूप में होना चाहिए; यह स्वाभाविक है।

शरीर ज्ञान की आवश्यकता उस समय समझी जाती थी, परन्तु उस समय स्थूल दृष्टि से यह ज्ञान कितना विकसित था, यह निश्चित नहीं कह सकते। सुश्रुत ने मृत शरीर को पानी में गलाकर शरीरज्ञान करने की जो विधि बतायी है, उस पर कुछ

उसके लिए लेखक की पुस्तक 'चरक संहिता का अनुशीलन' देखनी चाहिए। सिद्धों का प्रसिद्ध कदलीवन भी हरिद्वार से लेकर बद्रीनाथ तक का प्रदेश ही है।

विद्वानो की राय है कि पानी मे रहने मे शरीर के बहुत से मृदु भाग नष्ट हो सकते है; स्थूल और कठिन भाग (अस्थियाँ) ही बचेंगे।

उपलब्ध शरीर वर्णन मे अस्थियो का विवरण स्पष्ट रूप में मिलता है। इसके साथ प्लीहा, आंत्र, यकृत, मूत्राशय आदि अन्दर के अवयवो का नाम स्पष्ट रूप में लिखा है। कुछ अगो का वर्णन अपनी भिन्न धारणानुसार किया गया है[1]। आज की भाँति शवच्छेद करके उस समय ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही था, सूक्ष्मदर्शक यन्त्र जैसे साधन तो उस समय उपलब्ध थे नही। एक प्रकार से स्थूल व्यावहारिक ज्ञान होता था, जिसमें भी पीछे से बहुत सन्दिग्धता बढ़ गयी (देखिए प्रत्यक्षशारीर का उपोद्घात)। बहुत सा वर्णन पूर्ण रूप में ग्रन्थो से नष्ट हो गया; कुछ शब्द बचे रह गये परन्तु उनका सही अर्थ समझ में नही आता (यथा—क्लोम)। एक शब्द का प्रयोग बहुत अर्थों मे मिलता है (यथा—धमनी)। इससे आयुर्वेदिक शरीरज्ञान के सम्बन्ध में बहुत गड़बड़ी हो गयी।

चरक मे अस्थियो की सख्या ३६० और सुश्रुत मे ३०० है, आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार यह २०६ है। हार्नले ने बहुत परिश्रम करके इस भेद को मिटाया; उसने प्राचीन सख्या की गिनती करने का एक भेद बताया है, वास्तव में दोनो मे कोई अन्तर नही (देखिए-त्रिलोकीनाथ वर्मा की 'हमारे शरीर की रचना')। त्वचा की संख्या चरक में छ और सुश्रुत में सात कही है, आज भी त्वचा के ये पृथक् आवरण माने जाते हैं। स्नायुओ का जो उपयोग आज है, वही पहले भी माना जाता था।

वैदिक काल मे शरीर-ज्ञान अच्छी तरह प्रचलित था, यह ज्ञान पीछे धीरे-धीरे लुप्त हो गया, इसमे विकास नही हुआ। यह सत्य है कि चरक का शरीर-ज्ञान अधिकतर आध्यात्मिक है, उसमे स्थूल शरीर का ज्ञान विशेष नही मिलता। स्थूल शरीर का ज्ञान जो आज अधिक-से-अधिक मिलता है, उसका मुख्य आधार सुश्रुत है; यही ग्रन्थ शल्य चिकित्सा से सम्बन्धित है। सुश्रुत का शरीर-ज्ञान अधिक व्यवस्थित है; शरीर-अगो का विभागीकरण अधिक वैज्ञानिक है।

सुश्रुत के पीछे इस विषय मे कुछ भी विकास नही हुआ, उलटा क्रमश ह्रास होता चला गया——जिसका प्रमाण संग्रह और हृदय है। इनमे बहुत-सी बाते छोड दी गयी।

---

१. प्लीहा और यकृत विशेषतः रक्त बनाने का कार्य करते है, इनके दूषित होने से शरीर में रक्तन्यूनता आती है; शायद इसी कारण इनको रक्तजन्य कहा हो। फेफड़ों का आकार बुलबुले की भाँति देखकर इनको रक्त के झाग से उत्पन्न माना है। उण्डुक, जिसे आज एपैण्डिक्स नाम दिया जाता है; इसमें मल रह जाता है, इसे मल से उत्पन्न कहा है, इसमें सूजन-पाक देखकर इसे रक्तजन्य भी माना है।

इन ग्रन्थो ने सुश्रुत में वर्णित शस्त्र, यत्र तो लिये, परन्तु शरीरज्ञान नही लिया। इस समय में जो शरीर वर्णन लिखा गया वह पुस्तको तक ही सीमित था।

शरीरक्रियाविज्ञान—आयुर्वेद में शरीरक्रिया-ज्ञान वैदिक प्रक्रिया के आधार पर है। इसमें अन्न मुख्य है, उसी से शरीर के सब धातुओं का निर्माण होता है। इसलिए अन्न के विषय में बहुत उच्च विचार मिलते हैं; अन्न को ब्रह्म कहा है; अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते है; अन्न से ही जीते हैं। इसी अन्न से प्राणी का उत्पत्तिक्रम भी बहुत सुन्दर बतलाया है—"इस ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियो से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। इसलिए पुरुष अन्नमय है।" पुरुष की उत्पत्ति अन्न से है, इसी से सब प्राणियों में ज्येष्ठ अन्न है, उसको सब औषध रूप कहा जाता है। (तैत्तिरीय २,१)

जिस प्रकार बाह्य जगत् में अन्न का परिपाक अग्नि से होता है, उसी प्रकार शरीर में भी अन्न का परिपाक वैश्वानर नामक अग्नि से होता है (गीता. १५।१४)। शरीर की इस अग्नि के शान्त होने पर मनुष्य मर जाता है, अग्नि के स्वस्थ रहने पर मनुष्य बहुत समय तक निरोगी रहकर जीता है; विकृत होने पर मनुष्य भी रोगी हो जाता है। इसलिए आयुर्वेद में अग्नि को मूल माना जाता है (चरक. चि. १५।४; अग्निरग्रणीर्भवति)।

अग्नि से जब शरीरस्थ अन्न का परिपाक होता है, तब इसी से शरीर के धातु पुष्ट होते हैं। पाक होने पर आहार-रस और मलरूपी किट्ट दो भाग बनते हैं। इनमें आहार-रस से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र धातु बढ़ते हैं; किट्ट से स्वेद, मूत्र, मल, वात, पित्त, कफ, कान-आँख-नासिका-रोमकूप के मल बढ़ते हैं। रस-रक्तादि शरीर को धारण करते हैं, इसलिए इनका नाम धातु हैं। मल-मूत्र-स्वेद आदि वस्तुएँ शरीर को मलिन करती हैं, इसलिए इनको मल कहते हैं। वात-पित्त-कफ ये रस, रक्त, मल, मूत्र आदि को दूषित करते हैं, इसलिए इनको दोष कहते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद-शरीरक्रिया का मूल आधार दोष, धातु और मल ये तीन वस्तुएँ हैं (दोष-धातुमलमूल हि शरीरम्—सु. सू. अ. १५।३)।

ओज—रस-रक्तादि धातुओं का जो सारभाग परम तेज है, वही ओज है। इस के दस गुण हैं, यथा—स्वादु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्न। गाय के दूध में भी ये गुण है, इसलिए वह ओज को बढ़ाता है। विष और मद्य के गुण इनसे विपरीत हैं, इसलिए ये वस्तुएँ ओज को कम कर मृत्यु का कारण होती हैं।

ओज धातुओ का सर्वश्रेष्ठ भाग है, इसके कम होने से मनुष्य मे मानसिक डर, साहस-हीनता होती है। ओज के नष्ट होने पर मनुष्य मर जाता है।[1] यह ओज चेहरे पर तेज, बल, क्रोध, सहनशीलता, भय आदि की भाँति दीखने पर भी प्रयोगशाला में अदृश्य रहता है।

भुक्त आहार का शरीर की अग्नि से परिपाक होकर 'रस' बनता है। यह रस आगे अपनी उष्णिमा से परिपक्व होता हुआ यकृत-प्लीहा मे आकर रक्त बन जाता है। जिस प्रकार आकाश से बरसा हुआ निर्मल जल देश, पात्र-भेद से बदल जाता है, उसी प्रकार पित्त की उष्णिमा से रस मे रग आ जाता है। रक्त वायु, अग्नि और जल के संयोग से अग्नि द्वारा परिपक्व होने पर मास मे बदल जाता है। इसी प्रकार अपने अपने धातु की अग्नि के परिपाक से प्रसादरस का जो सूक्ष्म भाग पकता है वह अगले धातु में परिवर्तित होता जाता है। अन्त में शुक्र धातु में पहुँचने पर शुक्र के, अग्नि के परि-पाक से स्थूल और सूक्ष्म दो ही भाग बनते है। इसमे सूक्ष्म भाग ओज होता है, और स्थूल भाग शुक्र।

जिस प्रकार दूध का सारभाग घी होता है, उसी प्रकार शरीर मे ओज (बल या तेज) अन्न का परम सूक्ष्म सारभाग है। इसके नष्ट होने से मनुष्य का भी नाश हो जाता है।

सुश्रुत मे आहाररस के सूक्ष्म भाग को रस कहा है, यह रस हृदय मे रहता है; हृदय से धमनियो के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में गति करता हुआ प्रति दिन इसको बढाता है, तृप्त करता है, धारण करता है।

शरीर मे आहाररस रक्त के रूप मे ही आपाद मस्तक तक भ्रमण करता है, इसलिए प्रत्यक्ष दृष्टि से रक्त ही शरीर का मूल है, यही सब धातुओ में जाकर उनको पोषित करता है। इसी से रक्त का जीव—प्राण नाम भी है (सु. सू अ १४।४४)। इसी से कुछ आचार्यों ने शोथ के परिपाक मे रक्त को भी कारण माना है (सु सू अ १७।८)।

इस प्रसंग मे हृदय शब्द से आयुर्वेद मे छाती में स्थित स्थूल अवयव-पिड का ही ग्रहण होता है। परन्तु चिन्तन, प्रेम, इच्छा आदि कार्यों के लिए भी हृदय शब्द का प्रयोग मिलता है। आत्मा का स्थान हृदय बताया गया है ('स वा एष आत्मा हृदि-'

---

१. प्रसन्नता का समाचार सुनने पर चेहरे पर जो खुशी की झलक आती है, वह ओज है; शोक की बात सुनकर चेहरे पर जो उदासी आती है, चेहरा फीका पड़ता है, वही ओज का नाश है। तेज, ओज, बल ये सब शब्द एक ही वस्तु को बताते है।

छांदोग्य. ८।३।३)। हृदय में तीन अक्षर है; जिससे (हृ) आहरण, (द) देना और (य) नियत्रण तीनो कार्यों का पता चलता है। छाती का हृदय भी शरीर से रक्त लेता है, शरीर को रक्त देता है, और नियमित रखता है। यह क्रिया मस्तिष्क मे स्थित हृदय (वैट्रिकल) के लिए भी लागू होती है, वहाँ भी समाचार ज्ञान पहुँचता है, वही से क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, और मस्तिष्क ही सारे शरीरको नियन्त्रित करता है। इसलिए हृदय शब्द से मस्तिष्कस्थित हृदय लेना या छाती का हृदय लेना—यह विवाद एक समय आयुर्वेदजगत् में खूब चला था। भेलसहिता मस्तिष्कवाले हृदय के पक्ष में और सुश्रुत छातीवाले हृदय की समर्थक है। प्रसग के अनुसार इनका अर्थ करना ही उचित है। अथर्ववेद में मस्तिष्क और हृदय दोनो भिन्न कहे है। रक्त का परिभ्रमण सारे शरीर में भेजना छाती के हृदय का कार्य है, और विचार करना, सोचना, आज्ञा देना मस्तिष्क का कार्य है; स्थिर बुद्धिवाले अथर्वा को चाहिए कि इन दोनो को एक करे, दोनो को अपने वश में रखे।

इस प्रकार से आयुर्वेद-शारीरक्रिया मे आहार के पाचन, रक्तसचरण का विचार आधुनिक दृष्टि से भिन्न रूप में मिलता है। मस्तिष्क की क्रियाओ का ज्ञान 'मन' के साथ सम्बन्धित होता है। मन पच ज्ञानेन्द्रियो के विना भी विषय का ग्रहण कर लेता है, परन्तु इन्द्रियाँ मन के बिना विषय का ग्रहण नहीं कर सकती। आयुर्वेद में मन को अणु और एक माना है। यह मन सत्त्व, रज, तम भेद से तीन प्रकार का है। मन का आधार भी अन्न है। उपनिषद् मे मन को अन्नमय कहा है (अन्नमय हि सौम्य मनः—छान्दो. ६।४।४)। इस मन का विचार भी आयुर्वेदिक शरीरक्रिया में मिलता है।

शरीर की आयु का परिमाण एक सौ वर्ष मानकर इसके गुणो के विषय में सामान्य नियम यह बताया है—

बाल्य-वृद्धि-प्रभा-मेधा-त्वक्-शुक्राक्षि-श्रुतीन्द्रियम्।
दशकेषु क्रमाद्धान्ति मनः सर्वेन्द्रियाणि च॥ संग्रह ८।२५

मनुष्य की आयु के प्रथम दस वर्षों में बाल्यावस्था नष्ट होती है, अगले दस वर्षों मे वृद्धि, फिर प्रभा-कमनीयता मिट जाती है, इसके आगे प्रत्येक दस वर्ष मे मेधा, त्वचा की कान्ति, शुक्र, आँख की ज्योति, कानो से सुनना, मन से सोचना, विचारना, और अन्तिम दस वर्षों मे सब इन्द्रियाँ जवाब दे देती है।

इस प्रकार से अन्नप्रक्रिया को आधार मानकर शरीर की क्रिया का विचार आयुर्वेद ग्रन्थो में हुआ है। इसका आधार पच महाभूत है, जिनसे शरीर बनता है, रक्त के भी यही आधार है (विस्रता द्रवता रागः स्पन्दन लघुता तथा। भूम्यादीनां गुणा ह्येते

दृश्यन्ते चात्र शोणिते ।। सु सू अ. १४।९) । अन्न पच महाभूतो से बना है, शरीर भी पच महाभूतो का है, इसलिए दोनो का विचार एक ही रूप मे किया जाता है।

त्रिदोषवाद

आयुर्वेद के त्रिदोषवाद का आधार त्रिगुणात्मक प्रकृति है। सत्त्व, रज, तम यही तीन गुण शरीर मे इस जीव को बाँधे हुए हैं (गीता. १४।५) । प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है, शरीर भी त्रिगुणात्मक है (वाग्भट ने सत्त्व, रज, तम का दूसरे गुणो से भेद करने के लिए महागुण नाम रखा है—"सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय. प्रोक्ता महागुणा – सग्रह सू १।४१) ।

आयुर्वेद शास्त्र में इनको वात, पित्त, कफ नाम से कहा जाता है। जिस प्रकार प्रकृति अपने तीन गुणो को नही छोड सकती, उसी प्रकार शरीर भी वात-पित्त-कफ से अलग नही हो सकता । जिस प्रकार दिन भर उडनेवाला पक्षी अपनी छाया को नही लाँघ सकता, उसी प्रकार शरीर के अन्दर होनेवाली कोई भी क्रिया—विकृत या प्रकृत इनको अलग रखकर नही हो सकती। इसी से कहा है कि वात-पित्त-कफ ये तीनो शरीर की उत्पत्ति के कारण है (सु सू अ २१।१) । कुछ आचार्यों ने इनके साथ रक्त को भी जोड लिया (सु सू अ. २१।३।४) । इसी से यूनानी चिकित्सा मे तीन दोषो के साथ रक्त को भी गिना जाता है। इनसे शरीर के धातु दूषित होते है, इसलिए इनको दोष कहते हैं। इनके दूषित होने का कारण मिथ्या आहार-विहार है। इनके दूषित होने से शरीर मे रोग होते है; इसलिए कोई भी रोग इनको अलग रखकर नही हो सकता ।

शरीर मे दोषो की व्यापकता दूध के अन्दर व्याप्त घी की भाँति है; शरीर के प्रत्येक धातु में, प्रत्येक कण मे ये तीनो दोष रहते हैं। शरीर के जिस भाग में जो दोष अधिक परिमाण में रहता है, उसे सामान्य भाषा में उस दोष का स्थान कहते है। इस दृष्टि से नाभि से नीचे वायु का, नाभि से ऊपर गले तक मध्यभाग मे पित्त का और सिर मे कफ का स्थान है। सामान्यत. सत्त्व को पित्त, रज को वायु और तम को कफात्मक माना जाता है। शरीर के अन्दर और प्रकृति मे वात-पित्त-कफ के जो कार्य होते हैं, उनकी समानता आयुर्वेद मे दिखायी है, (चरक. सू अ. १२) । वहाँ यह स्पष्ट कहा है कि इनके जो भी कार्य होते है, वे सम्मिलित होते है (चरक. सू अ. १२।१३) ।

इसलिए वात को 'विन्ड्', पित्त को 'बाईल' और कफ को 'प्लेगमा' मानना भूल है, ये तो स्थूल वस्तु है। जिस प्रकार सत्त्व, रज, तम को हम आँख से न देखकर क्रिया-चेष्टा से उनको पहचानते हैं, उसी प्रकार इन दोषों का परिज्ञान भी इनके कार्यों से ही

होता है (इसी से चरक सू अ १ २ में इनके कार्य वर्णित है)। वात-पित्त-कफ का शरीर मे वही रूप है, जो प्रकृति मे सत्त्व, रज, तम का है। यहाँ सत्त्व, रज, तम की सत्ता शरीर के बदले मन मे मानी गयी है (चरक सू अ ८।५) और वात-पित्त-कफ का सम्बन्ध शरीर के साथ बताया है। मन के गुणो मे कल्याण अश होने से सत्त्वगुण निर्दोष है, शेष दोनों रज और तम दोषवाले है। शरीर के दोषो मे वात-पित्त-कफ तीनों दोषवाले है (चरक वि अ ६।५)। इसलिए शरीर मे अधिक विकार होते है। मानसिक रोगी शारीरिक रोगियो की अपेक्षा कम मिलते है।

जिस प्रकार साख्यदर्शन का आधार त्रिगुणात्मक प्रकृति है, उसी प्रकार आयुर्वेद का आधार त्रिदोषवाद है यह त्रिदोष-सिद्धान्त साख्य और गीता के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार अन्न, मन, बुद्धि, सुख, दु ख, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, धृति ये सब सत्त्व-रज-तममय है, उसी प्रकार से सब औषध, अन्न पान, स्वर्ण आदि धातु आयुर्वेद मे वात-पित्त-कफात्मक है। ये तीन एक प्रकार के वर्ग है; जो कि इस बहुत बडे ससार को सक्षिप्त करने के लिए ऋषियो ने बनाये थे (चरक. वि. अ ६।५)। वस्तुओ को उनके कार्यों के अनुसार इन विभागो मे रख दिया गया है। इसलिए ये तत्त्व कोई दृश्यमान वस्तु नही। जिस प्रकार किसी कारण से मनुष्य के मन में क्रोध आता है और किसी को देखने से मन मे राग-प्रीति उत्पन्न होती है, जिसकी झलक चेहरे पर देखकर उसके मन की स्थिति समझ लेते है। उसी प्रकार शरीर मे खाये हुए आहार या चेष्टा आदि विहार से जो कार्य होता है, जिसकी झलक शरीर मे दीखती है; उस झलक से हम दोष की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं, और कहते है कि अमुक अन्न या अमुक चेष्टा अमुक दोष को बढाती है, उत्पन्न करती है या कम करती है। ठण्ड से शरीर में कम्पन होता है, कम्पन गुण वायु का है, इसलिए शरीर में कम्पन देखकर हम कहते है कि वायु का कम्पन है। यह आयुर्वेद का त्रिदोषवाद है; प्रकृति मे देखे हुए वायु-पित्त-कफ के कार्यों से शरीर मे होनेवाले कार्यो की तुलना करने पर हम इनको शीघ्र और सरलता से पहचान सकते है। इनमे से किसी एक का बढना अथवा घटना ही रोग है, यह इनकी विषमावस्था है।

तीनो दोषों का एक सीधी रेखा मे, समान रूप में रहना कठिन है (चरक वि अ. ६।१३)। सत्त्व, रज, तम इनको भी एक सीधी रेखा में, एक मात्रा में रखना सरल नही। यह अवस्था योगी या ज्ञानी के लिए ही सम्भव है (गीता- २।५६)। इसलिए शरीर के दोष प्रकृति मे जिस रूप मे गर्भ से प्राक्तन कर्मों के कारण मिलते है, उनके बढने या घटने की अवस्था सामान्यत रोग शब्द से कही जाती है। जिस प्रकार कि विष के

कृमि को उसका विष हानि नही करता, इसी प्रकार जन्म की प्रकृति भी मनुष्य को बहुत कष्ट नही देती। जिस प्रकार कुछ मनुष्यो की प्रकृति जन्म से चिडचिडी, चिन्ताशील, क्रोधी होती है; उसी प्रकार से कुछ मनुष्यो की प्रकृति वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक होती है। इस प्रकार से आयुर्वेद का त्रिदोषवाद साख्य के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त से पूर्ण रूप मे समानता रखता है, एक को समझने पर दूसरा स्वयं स्पष्ट हो जाता है, क्योकि यह पुरुष लोक के तुल्य है ('पुरुषोऽय लोकसमित '—चरक. शा अ ५।३)।

स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त

आयुर्वेद शास्त्र के दो उद्देश्य है—जो व्यक्ति रोग से पीड़ित है उनको रोग से मुक्त करना और जो स्वस्थ है उनके स्वास्थ्य की रक्षा करना (प्रयोजन चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमन च—चरक सू. अ. ३०।२६)। रोगो से मुक्त करने के लिए आचार्यों ने चिकित्सा का उपदेश किया और स्वास्थ्यरक्षा के लिए शरीर और मन के लिए हितकारी उपादेय कार्यों को बतलाया है। इनमे दैनिक कार्यों के साथ-साथ ऋतु सम्बन्धी रहन सहन, उसमे करणीय कर्मों एव ऋतुचर्या की भी शिक्षा दी है। ऋतुचर्या पालन करने से ऋतुकालीन रोगो के विकारो से बचा जा सकता है।

दैनिक कार्यों मे आँखों में अजन, दातुन, स्नान, अभ्यग, धूमपान, तैल, नस्य, जूता-छाता धारण, निर्मल वस्त्र धारण, व्यायाम आदि कार्यों का महत्त्व, इनके करने का लाभ बताया गया है। जिस प्रकार नगर का प्रशासक अपने नगर की देख-रेख, सफाई आदि का ध्यान रखता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने दैनिक कार्यों मे नित्य करणीय कर्मों का ध्यान रखे, इनमे चौकस रहे, इनकी उपेक्षा न करे।

सद्वृत्त का अर्थ सज्जनो का व्यवहार है, यह एक प्रकार की शिष्टता, तहजीब, लोकाचार, बर्ताव है, जिसको जानना एक नागरिक के लिए आवश्यक है। सद्वृत्त का पालन करनेवाला जीवन में और मरने के पीछे भी लोगो से यश प्राप्त करता है; वह निरोग रहकर पूरी आयु भोगता है; सब मनुष्यो से सौहार्द प्राप्त करता है।

सद्वृत्त के अदर वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक सब प्रकार की शिक्षा सक्षेप मे अत्रिपुत्र ने दी है; किस प्रकार से बडो के साथ व्यवहार करना चाहिए, सभा-समाज में कैसे बैठना, बोलना चाहिए, भोजन करने के क्या नियम है, स्त्री तथा परिवार के दूसरे लोगो के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए, स्त्रियो का व्यवहार, नौकरो से बरतना, मन के स्वास्थ्य की सूचनाएँ, मानसिक प्रवृत्तियों के प्रति करणीय कार्य आदि बातो का उल्लेख इसमें है। एक प्रकार से आयुर्वेद शास्त्र की यह अपनी विशेषता है।

इस प्रकार की सूचना दूसरे चिकित्सा शास्त्रो मे नही दी गयी। इस शास्त्र में शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा चारो के सयोग को आयु कहा है, इसलिए इन चारो को स्वस्थ रखने के सम्बन्ध मे निर्देश किया गया है, यही विशेषता इस शास्त्र की है। चरक का सद्वृत्त-उपदेश अपने विषय मे अनूठा है।[1]

इसके साथ आहार सम्बन्धी सूचनाएँ भी है, आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य ये तीनों शरीर का धारण करनेवाले है (वाग्भट ने सग्रह मे ब्रह्मचर्य का अभिप्राय गृहस्थ व्यक्ति के लिए नियमित समागम बतलाया है—सग्रह अ ९।।७२)। इसलिए इनके सम्बन्ध मे सम्पूर्ण जानकारी दी गयी है।

रोग के कारण तीन है, असात्म्य रूप से इन्द्रिय और विषयो का सयोग, प्रज्ञापराध (बुद्धिदोष) और परिणाम (काल-ऋतु)। इन तीन कारणो से ही सब रोग होते है। इसलिए स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त ज्ञान में इन तीनो कारणो से बचने की शिक्षा दी गयी है। इसका परिणाम यह होता है—

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।।
मतिर्वचःकर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः।।

चरक. शा. अ. २।४६-४७

जो मनुष्य हितकारी आहार-विहार का सेवन करता है, सोच-विचार कर कर्म करता है, विषयो मे नही फँसता, दान देता है; सबमे समबुद्धि रखता है, सत्यवादी, क्षमाशील, विद्वानो की उपासना करता है; वह निरोग रहता है। जो व्यक्ति बुद्धि, वाणी, कर्म से सुखदायक कार्यों को करता है, जिसका मन वश मे है और बुद्धि निर्मल है, ज्ञान, तप तथा योग में जो लगा है, वह सदा स्वस्थ रहता है।

यह सत्य है कि आज की भाँति प्राचीन काल में बड़े-बडे शहर तथा घनी आबादी नही थी, इसलिए आज की भाँति सामाजिक स्वस्थवृत्त का उल्लेख नही है। परन्तु वैयक्तिक स्वस्थवृत्त शरीर और मन दोनो की दृष्टि से विस्तार से समझाया गया है; इसमे इस जीवन की भावना के साथ-साथ परलोक की भावना तथा उसके सम्बन्ध की भी सूचनाएँ दी है (इसी से परलोकैषणा की व्याख्या की गयी है—चरक सू अ ११)।

---

१. इस सम्बन्ध में सूचनाएँ—सुश्रुत. चि. अ. २४; चरक. सू. अ. ५, ६, ७, ८ अध्याय (स्वास्थ्यचतुष्क); संग्रह. सू. अ. ३, ४ और ९ में देखनी चाहिए।

निदान और चिकित्सा

आयुर्वेद का दूसरा प्रयोजन रोग से पीडित व्यक्ति को रोग से मुक्त करना है। यह प्रयोजन हेतु, लिंग और औषध रूप तीन स्तम्भो पर स्थित है, इसमे हेतु या रोग का कारण तीन प्रकार का है—१ इन्द्रियो का (पाँच ज्ञानेन्द्रियो का) विपय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) के साथ अनुचित रूप मे (मिथ्या, हीन और अधिक रूप मे) सयुक्त होना, २ प्रज्ञा (धी, धृति, स्मृति) के विभ्रम (भ्रश) से ठीक प्रकार का कर्म न करना ३ परिणाम (काल-ऋतु आदि); कभी-कभी दैव भी कारण होता है—दैव शब्द से पूर्वजन्म-कृत कर्म लिया जाता है— तत्कालजन्म यदि नास्ति दैवम्" चरक शा अ. २।४३। इन तीन कारणो से सब शारीरिक और मानसिक रोग होते है।

लिंग का अर्थ लक्षण है—रोगो की सख्या बहुत है, इसलिए इनके लक्षण भी बहुत होते है, एक एक रोग के लक्षण स्वत बहुत अधिक है। इसलिए रोगो के लक्षणो को दोष के लक्षणो से पहचानना चाहिए। दोष तीन है, इसलिए सब रोगो के लक्षण इन तीन वर्गो के अन्दर आ जाते है। इनके लक्षणो से रोगो के लक्षणो को जानकर उन्हे पहचान सकते है। जो रोग मुख्यत पूर्व समय मे प्रचलित थे, उनका नाम और चिकित्सा ग्रन्थो मे दे दी गयी है। परन्तु सब रोगो का नाम नही दिया जा सकता (न हि सर्वविकाराणा नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थिति—चरक सू अ १८।४४)। रोग अनित्य है, वात-पित्त-कफ दोष नित्य है, इनमे विकार आने का नाम ही रोग है। इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि इनको पहचाने (चरक सू अ १८।४८)। वात, पित्त, कफ की विकृति का नाम ही रोग है, इसलिए इनके लक्षणो से रोग को पहचानना चाहिए।

औषध का अभिप्राय चिकित्सा से है, जिस किसी भी क्रिया से शरीर के धातु अपनी साम्यावस्था मे आते है, वह चिकित्सा है।

चिकित्सा भी रोग के कारणो के अनुसार तीन प्रकार की है—१. दैवव्यपाश्रय—इसके मत्र, ओषधि, मणि, मगल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात आदि रूप है। २ युक्तिव्यपाश्रय—युक्ति से आहार और औषध द्रव्य की योजना करना। ३ सत्त्वावजय—अहित विषयो से मन को रोकना। इन तीन रूपो से निम्नोक्त तीन प्रकार के रोगो की चिकित्सा की जाती है—१ शरीर मे उत्पन्न—निज। २ बाहर से आये—चोट आदि लगना, आगन्तुज। ३ मन के रोग। इन तीन तरह के रोगो की चिकित्सा भी तीन प्रकार की है। मानसिक रोगो के लिए धर्म, अर्थ, काम का बार बार विचार करना, इनको जाननेवालो के पास जाना तथा आत्मा-इन्द्रिय आदि को समझना चाहिए; यही इनकी चिकित्सा है (चरक सू अ. ११)।

रोगो का परिगणन सामान्य रूप से उनके नाम बतलाते हुए किया गया है। वात, पित्त, कफ की दृष्टि से भी रोगो की जो सख्या दी है, यह केवल दिग्दर्शन है, क्योकि उसमे स्पष्ट क` दिया गया है कि जहाँ पर वायु के लक्षण दिखाई दे, उसको वायु-विकार, जहाँ पर पित्त के लक्षण दिखाई दे, उसे पित्तविकार और जहाँ पर कफ के लक्षण मिले उसे कफविकार समझना चाहिए (चरक सू अ १२, १५, १८)।

इसलिए आयुर्वेद के निदान और चिकित्सा का आधार वात, पित्त, कफ है। शरीर के निज, आगन्तुज और मानसिक रोगो के कारण यही है, इनके बिना कोई रोग नही होता। इन्ही के अपने अपने लक्षणो से रोग पहचाना जाता है, और इन्ही के प्रकृति मे आने से रोग शान्त होता है। (इसी से महात्मा बुद्ध किसी से मिलने पर कुशल-मगल पूछने मे "धातु-साम्य" शब्द का प्रयोग करते—"तावुभौ न्यायतः पृष्ट्वा धातु साम्य परस्परम्"–बु च १२।३)। वात, पित्त, कफ को उनकी प्रकृति मे लाना ही चिकित्सा है। यह भी ज्ञान, विषय और काल के समयोग पर निर्भर है।[1]

दोषो से [illegible], इसका क्रम भी वर्णित है। रोग सहसा उत्पन्न नही होता, वह धीरे-धीरे बढकर अपने पूर्वरूप या रूप के अन्दर सामने आता है। जिस प्रकार बीज से अकुर फूटने तक कई परिवर्तन होते है, उसी प्रकार किसी कारण मे रोग उत्पन्न होने तक कई अवस्थाएँ आती है। इनका वर्णन विस्तार से सुश्रुत में है, यथा—

संचय—वात आदि दोष किन्ही कारणो से विकृत होकर किसी स्थान में या सम्पूर्ण शरीर मे धीरे-धीरे एकत्र हो जाते है, यह इनकी प्रथम अवस्था है।

प्रकोप—सचित दोषो मे दोष-प्रकोपक कारणो से (ऋतु-काल से भी) प्रकोप उत्पन्न होता है। स्थूल रूप मे समझने के लिए जैसे आटे मे खमीर उठकर फूलना प्रारम्भ होता है, वह अपनी सीमा को नही लाँघता, अन्दर ही अन्दर बढता है। यह दूसरी अवस्था है।

प्रसार—फैलना–जब प्रकोप बहुत हो जाता है, तब वह पार्श्व मे बढ़ने लगता है। जिस प्रकार कि विदाह होने पर आसव-अरिष्ट पात्र के बाहर बहने लगते है। उबलता दूध पहले कड़ाही मे ही उबलता रहता है, परन्तु उबाल अधिक आने पर पात्र से बहता

---

१. प्रज्ञापराधो [illegible] हेतुस्तृतीयः परिणामकालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः ।।
चरक. शा. अ. २।४०

है, उसी प्रकार से इस दशा में दोष अपने स्थान से बाहर शरीर में फैलना प्रारम्भ करता है।

स्थानसंश्रय—फैला हुआ दोष शरीर के किसी स्थान में जाकर रुक जाता है। जिस प्रकार कि पृथ्वी पर गिरा हुआ दूध बहता हुआ, कहीं गड्ढे आदि में जाकर या कोई रुकावट आने से आगे न बढ़कर वहीं रुक जाता है, उसी प्रकार से फैलता हुआ दोष किसी उचित स्थान को या रुकावट को पाकर वहीं पर ठहर जाता है।

व्यक्तता—दोष जब किसी स्थान पर रुक जाता है, तब अपने लक्षण को स्पष्ट करता है। गिरा हुआ दूध जहाँ पर रुकता है, वहाँ अपना रंग या गन्ध छोड़ देता है, जिससे पता लग जाता है कि यहाँ दूध गिरा है। उसी प्रकार रुका हुआ दोष भी अपने चिह्न स्पष्ट करता है। यह एक प्रकार से पूर्वरूप अवस्था है।

भेद—स्पष्ट रूप—लक्षणो के स्पष्ट होने से रोग का भेद, उसका स्पष्ट रूप सामने आ जाता है। जिस प्रकार चेचक के दाने निकलने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह रोग चेचक है, या आधुनिक दृष्टि से रोगोत्पादक कृमि के मिलने से रोग का ठीक ज्ञान हो जाता है। इसी को आयुर्वेद में 'रूप' कहा जाता है।

जो वैद्य दोषो के सचय, प्रकोप, प्रश्रय, स्थानसश्रय, व्यक्ति और भेद को ठीक प्रकार से पहचानता है, वह चिकित्सक है (सु सू अ २१।३६)। क्योंकि रोग की प्रथम अवस्था में यदि प्रतिकार कर लिया जाय तो वह सरलता से नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कि छोटा वृक्ष थोड़े से परिश्रम से उखाड़ा जा सकता है। बाद में रोग बढ़ने पर वह कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। इसलिए चिकित्सक को चाहिए कि आरम्भ में ही प्रतिकार करे।[1]

---

१ यह तो मानना पड़ेगा कि आधुनिक चिकित्सा में रोग के कारण जन्तुओं के पहचानने में सूक्ष्मदर्शक यंत्र की बड़ी उपयोगिता है, इससे रोग का निर्णय सही और जल्दी होता है। चरक में रोगोत्पादक सूक्ष्म कृमियों का उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में व्रण के रूप में निशाचर, राक्षस आदि जो शब्द आये हैं, वे मेरी दृष्टि में इस प्रकार के जन्तुओं के लिए ही हैं। अन्तःरोगोत्पादक (क्षयरोग जैसे रोगों के) कृमियों का उल्लेख सुश्रुत या अन्य आयुर्वेद ग्रन्थों में नहीं है; यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं दीखता। आयुर्वेदिक चिकित्सा में मनुष्य की रोगप्रतिशोध शक्ति (इम्युनिटी—प्राकृतिक शक्ति) को उन्नत किया गया है, क्योंकि रोगोत्पादक कृमियों की संख्या अनन्त है। इसलिए शरीर को ही ऐसा स्वस्थ रखा जाता था कि इस पर कोई भी आक्रमण सफल न हो सके (जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं

परीक्षा—रोगी की परीक्षा के साधन भी उस समय यह तीन ही थे—प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रवचन या उपदेश। इनमें प्रत्यक्ष ज्ञान जिह्वा को छोड़कर शेष चारो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त किया जाता था। जिह्वा विषयक ज्ञान को रोगी से पूछकर या अनुमान से जानते थे। सुश्रुत मे दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीन परीक्षाओं पर विश्वास न करके पाँचो ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से रोग जानने का आदेश है। यह सत्य है कि प्राचीन काल में इन इन्द्रियो की सहायता करनेवाले आधुनिक उपकरण नही थे (स्टैथस्कोप, थर्मामीटर, एक्स-रे, सूक्ष्मदर्शक यत्र-माईक्रोस्कोप आदि)। परन्तु तो भी वे अपने अनुभव एव इन्द्रियो की सहायता से रोग को जानने का यत्न करते थे और रोगपरीक्षा का महत्त्व समझते थे। बिना रोग की जानकारी किये उसमें वे हाथ नहीं डालते थे। जो रोग असाध्य होता था, उसकी चिकित्सा करने का निषेध भी किया गया है। इसलिए चिकित्सा से पूर्व रोग की परीक्षा पूर्ण रूप से करनी होती थी। रोगपरीक्षा के साधन ज्ञानेन्द्रियाँ, अनुमान और आप्तोपदेश तीनो से ठीक प्रकार की हुई परीक्षा पूर्ण एव निश्चित समझी जाती थी। रोगी के विषय मे एकदेशीय जानकारी प्राप्त करने से सम्पूर्ण रोग को नही जाना जा सकता, इसलिए जहाँ तक बन सके रोग के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। अपने ज्ञानप्रदीप की सहायता से रोगी के अन्दर पैठकर सब वस्तुओ को ठीक प्रकार से देखना-पहचानना-जानना चाहिए, परीक्षा मे किसी प्रकार की कमी नही छोडनी चाहिए (चरक वि अ ५।१०)।[1]

परीक्षा करने के पश्चात् चिकित्सा का प्रश्न आता है। चिकित्सा में मुख्य आधार रोग को जड से शान्त करना रहता है, परन्तु कुछ रोग याप्य भी होते है; याप्य रोग मूल से नही जाता, परन्तु औषध या आहार सेवन से दबा रहता है। इन रोगो को तथा असाध्य रोगो को छोडकर साध्य रोगो मे जो उपाय या योग बरते जाते थे, वे इस प्रकार के होते थे, जो कि प्रस्तुत रोग को तो शान्त कर दें, परन्तु अन्य दूसरा कोई रोग या

यदि नास्ति दैवम्—चरक. शा. अ. २।४३)। इसलिए इसमें कृमियों का विचार न करके शरीर-मन की स्वस्थता पर बल दिया गया है।

१. इस परीक्षा में चौदहवीं शती में आकर नाड़ी, मल, मूत्र की परीक्षा भी जोड़ दी गयी। यह परीक्षा संभवतः मुसलमानों एवं यवनो के सम्पर्क से आयुर्वेद में आयी है। शार्ङ्गधरपद्धति में सबसे प्रथम इन सबका उल्लेख हुआ है। इससे रोगपरीक्षा में सौकर्य होता है। यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में बाहर के ज्ञान का उपयोग भी किया जाता था।

शिकायत पैदा न करे। जो प्रयोग या उपाय एक व्याधि को दूर करके दूसरी खडी करता है, वह इस अर्थ मे सच्ची चिकित्सा नही (चरक. नि अ ८।२३)।

रोगो की सामान्य चिकित्सा औषध एवं आहार-विहार से होती थी। परन्तु हठीले रोगो की चिकित्सा के लिए 'पचकर्म चिकित्सा' का उपदेश मिलता है। इस चिकित्सा को करने मे पूर्व रोगी के स्नेहन और स्वेदन कर्म किये जाते थे, इन कर्मो से दोष को शरीर से गीला, द्रवित बनाते थे। दोषो के द्रव हो जाने पर वे वमन, विरेचन, आस्थापन, [illegible] और शिरोविरेचन [illegible] कर्मो द्वारा शरीर मे से भली प्रकार बाहर निकल जाते हैं।

आयुर्वेद मे पचकर्म चिकित्सा अपना विशेष महत्त्व रखती है। यह रोगी की शारीरिक स्थिति एव उसकी परिस्थितियो पर निर्भर है। सम्भवत सबके लिए इसका उपयोग नही होता था (यथा—इह खलु राजानमन्य वा विपुलद्रव्य वमन विरेचन वा पाययितुकामेन भिषजा—चरक सू अ १५।४–वचन से स्पष्ट है)। निर्धन व्यक्ति को अत्रिपुत्र के कथनानुसार बडी बीमारी होती नही, और यदि उसे हो जाय तो उस समय जो भी साधन उपलब्ध हो उसी से काम चलाना चाहिए, क्योकि सब मनुष्यो के पास सब साधन नही होते।[१] फलत पचकर्म चिकित्सा सामान्य जनता के लिए नही थी, उनके लिए सामान्य सशोधन, सशमन चिकित्सा ही साध्य थी। सशोधन और सशमन भेद से चिकित्सा दो प्रकार की है। कुछ अवस्थाओ मे सशोधन चिकित्सा और कुछ मे सशमन चिकित्सा होती है। इसका ही लघन और बृहण नाम सूत्रस्थान मे आया है। इसमे रूक्षण, स्नेहन, स्तम्भन, स्वेदन, लघन और बृहण रूप से छ प्रकार की चिकित्सा कही है (चरक सू अ अ. २२।४२-४३)।

आयुर्वेद के आठ अंग

आयुर्वेद शास्त्र भिन्न-भिन्न आठ अगो में विभक्त है, यथा (१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) काय, (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अगदतत्र, (७) रसायन और (८) वाजीकरण। परन्तु आयुर्वेद के किस अग का विभाग कैसे हुआ यह ज्ञात नही। सुश्रुत सहिता से इतना स्पष्ट होता है कि सुश्रुत आदि शिष्यो ने शल्य अंग को ही सीखने की इच्छा प्रकट की थी, इसलिए काशीपति दिवोदास ने मुख्य रूप मे इसी अग का उपदेश किया; जो कि इसका मुख्य भाग है। इस उपदेश में नेत्र आदि के शालाक्य

---

१. न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वे परिच्छदाः।
न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः ॥—चरक सू. अ. १५।२०

विषय, ज्वर-अतिसार आदि कायचिकित्सा, उन्माद, अपस्मार, अमानुषोपसर्ग आदि भूतविद्या, योनि रोग, बाल रोग, कौमारभृत्य आदि का जो विषय आया उसे उत्तर-तत्र मे परिशिष्ट रूप से कह दिया है। यह भाग भी दिवोदास ने सुश्रुत का ही लक्ष्य करके कहा है (उत्तर अ ६६।३), इसलिए यह भी सुश्रुत का ही मौलिक भाग है।

चरकसहिता मे शल्य विषय का वर्णन जहाँ आता है, वहाँ उसका उपयोग शल्य शास्त्र के जाननेवालो के लिए ही है ऐसा स्पष्ट कर दिया है (च ५।६३, चि १३। १८४; चि ६।५८)। शालाक्य विषय के लिए स्पष्ट रूप मे 'पराधिकार' कहकर इसको केवल ग्रन्थ की पूर्णता के लिए रखा है (चि अ २६)। इसमे मुख्यत. काय-चिकित्सा का वर्णन है। व्रणचिकित्सा, कौमारभृत्य विषय आनुषङ्गिक रूप मे आये है, परन्तु जो भी उल्लेख है, वह बहुत ही प्राजल और विशद है।

अगद तत्र, रसायन और वाजीकरण अगो का उपदेश दोनो सहिताओ में किया गया है। सुश्रुत मे अगद तत्र का विषय अधिक विस्तार से है, चरक में यह विषय एक ही अध्याय मे समाप्त कर दिया है। इस प्रकार से चिकित्सा के दो मुख्य अंगो का सम्बन्ध दो सहिताओ से है, परन्तु दोनो मे शेष विषय भी सक्षेप रूप मे आ गये है।

वाग्भट ने इन दोनो सहिताओ को मिलाकर अष्टाग आयुर्वेद का ग्रन्थ बनाया। इसमे सुश्रुत से शल्य तथा चरक से काय-चिकित्सा का विषय लिया गया है। रसायन और वाजीकरण चिकित्सा के बहुत से नये विचार, नयी औषधियाँ इसमे सम्मिलित की गयी है। इसी प्रकार से कौमारभृत्य, भूतविद्या, विषतत्र का पृथक् रूप मे वर्णन किया है, जिससे यह वास्तव मे अष्टाग आयुर्वेद का ग्रन्थ बन गया है। इसी से ग्रन्थकर्त्ता ने कहा है—

अष्टांगवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टांगसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यतानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥

हृदय, उ. अ. ४०।८०

शल्यतंत्र—इसमे शस्त्र-वर्णन और शस्त्र-कर्म ये दो वस्तु मुख्य है। सुश्रुत में यत्र और शस्त्रो की सामान्य गणना बतलायी है, परन्तु अन्त मे कहा है कि शस्त्रकर्मों की सख्या अनगिनत होने से इनका निश्चय करना सम्भव नही, इसलिए अपनी आवश्य-कता के अनुसार शिल्पियो से इनको बनवा लेना चाहिए (सू अ ७।१८)।

सुश्रुत ने यत्रो की सख्या १०१ बतायी है। इनमे हाथ को प्रधान यत्र माना गया है, क्योकि इसकी सहायता से ही सब काम होते है। शेष सौ यत्रो का विभाग छ रूपो मे किया है। इनमे स्वस्तिक यत्र २४, सदश यत्र २, तालयत्र २, नाडीयत्र २०,

शलाका यत्र २८, उपयत्र २५—इस प्रकार से एक सौ एक यत्र सामान्य रूप में उस समय काम मे आते थे। यत्रो के जो दोष होते थे, उनका भी उल्लेख इस स्थान पर है, यथा—यत्र का मोटा होना, कच्चे लोहे का बना होना, बहुत लम्बा या बहुत छोटा होना, ठीक प्रकार से न पकडना, यत्र का ढीला, ऊपर उठा होना, कील ढीली होना आदि दोप है, इनसे रहित यत्र उत्तम है। यत्र का अर्थ सामान्यत चिमटी सँडसी जैसे कुन्द औजार (Blunt instiuments) है।

शस्त्र का अर्थ काटने, चीरने के तीक्ष्ण उपकरण (Cutting instruments) है। शस्त्रो की सख्या सामान्यत बीस है। इनके नाम भी बतलाये है, जिनमे चाकू, सूई, कैंची, आरी आदि शस्त्र है। शस्त्रों की पायना (सिकली) का भी विचार किया है, धार का तेज होना आवश्यक है, उसे बनाये रखने के लिए शाल्मली-फलक के कोष होते थे। धार को तेज करने के लिए चिकनी, कोमल शिला का उपयोग किया जाता था। शस्त्र पकडने में सरल, अच्छे लोहे के, अच्छी धारवाले, देखने मे सुन्दर, ठीक मुख के और बिना दाँतोवाले होते थे। शस्त्र जब इतना तेज हो कि रोम को काट सके, तब उसका उपयोग करना चाहिए।

शस्त्रो के साथ अग्निदाह, जलौका प्रयोग, शृग के उपयोग तथा क्षार प्रयोग की भी विस्तृत जानकारी लिखी है। अग्निकर्म कहाँ और कैसे करना चाहिए, जलौका की सविष-निर्विष परीक्षा, इनको लगाने तथा रखने की विधि, क्षार बनाना, क्षार के प्रतिसारणीय और पानीय भेद, इनके मृदु, मध्य और तीक्ष्ण भेद आदि की सब आवश्यक जानकारी बतलायी गयी है।

शस्त्रकर्म आठ बताये है, छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, आहरण, स्रावण और सीवन। इन कर्मों के करने से पूर्व, कर्म करते समय और पीछे जो-जो सावधानियाँ रखी जाती है, उन सबका उल्लेख सूत्रस्थान में किया गया है।

यत्र, शस्त्र-प्रयोग के अतिरिक्त व्रण सम्बन्धी जानकारी पूरी दी गयी है, व्रण के आकार, स्राव, वेदनाएँ, रोहण होने के लक्षण, शुद्ध व्रण की पहचान, और व्रण रोहण की परीक्षा भी दी है। व्रण की चिकित्सा ६० प्रकार की है, इसके प्रत्येक उपक्रम का वर्णन है (सू चि अ १)। चरक मे व्रण की चिकित्सा ३६ प्रकार की है (चरक. चि. २५)। व्रण किस लिए नही भरने, किनके जल्दी रोहण नही होने, इत्यादि जानकारी भी दी गयी है। चरक मे इस सम्बन्ध मे २४ कारण गिनाये है (चि अ २५।-३१-३४)।

शस्त्रकर्म करने से पूर्व रोगी को अच्छे प्रकार से नियन्त्रित किया जाता था।

शस्त्रकर्म करने से पूर्व लघु भोजन दिया जाता था, मद्य पीनेवाले को मद्य पिला दी जाती थी (सु. सू अ १७।११-१२)। अन्न देने से रोगी को श.स्त्रकर्म के साथ मूर्च्छा नहीं होती और मद्य पिलाने से शस्त्र की वेदना नही होती। इसलिए जिस कर्म में जैसी आवश्यकता हो, उसी के अनुसार रोगी को अन्न या मद्य देना चाहिए। सुश्रुत के समय रोगी को मूर्च्छित करने का साधन मद्य ही प्रतीत होता है। शस्त्रजन्य वेदना को शान्त करने के लिए मुलहठी के चूर्ण को घी मे मिलाकर थोडा गरम करके खिला दिया जाता था (सू. अ ५।४१)।

सुश्रुत मे छोटे शल्यकर्मों के सिवाय अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ आदि के बडे शल्यकर्म भी दिये है। इनको करने से पूर्व रोगी, उसके बान्धव तथा राजा की आज्ञा आवश्यक होती थी। आज्ञा प्राप्त करने के लिए रोग की वास्तविक जानकारी दे दी जाती थी (चि. अ ७।२८-२९)। उदररोग में रोगी को सर्पविष देने से पूर्व इस प्रकार की सावधानी बरतने का चरक में उल्लेख है (चि अ १३)। यह स्पष्ट कहा गया है कि शस्त्रकर्म रोग का अन्तिम उपाय है। अर्शरोग चिकित्सा में शल्यकर्म की हानियाँ बतायी है (चि. अ. १४)।

इस प्रकार से सुश्रुत ने भी स्थान-स्थान पर उस समय के योग्य उपाय बताये हैं। यथा—अस्थि-छिद्र में प्रविष्ट या अस्थि में जोर से फँसे हुए शल्य को निकालने के लिए रोगी के पाँव थामकर यन्त्र द्वारा निकालना चाहिए। यदि इस प्रकार शल्य बाहर न निकले तो रोगी को बलवान् पुरुषो द्वारा पकड़वाकर यन्त्र द्वारा शल्य को पकड़े और इसको मौर्वी या ताँत से एक पार्श्व में पकडकर पचाङ्गी बन्धन से बाँधे हुए घोड़े की लगाम में बाँध दे। अब घोडे को चाबुक मारे, चाबुक मारने से घोड़ा मुख को ऊँचा उठायेगा, जिसके साथ में शल्य झटके से बाहर आ जायगा। यह उपाय ऊपर से देखने में भले ही सभ्य न हो परन्तु है स्वाभाविक। इसके लिए दूसरा भी उपाय है; वृक्ष की शाखा को झुकाकर उसमें शल्य को बाँधकर शाखा को छोड दे। इसके झटके से भी शल्य बाहर आ जाता है।

इसके अतिरिक्त लोहे के शल्य को निकालने के लिए अयस्कान्त (चुम्बक) का भी उल्लेख है। उस समय जिन साधनो का उपयोग होता था, पट्टी बाँधने के प्रकार, उनके विषय में सावधानी, व्रण चिकित्सा, शस्त्रकर्म की आवश्यक बाते सबका उल्लेख इस अग मे आया है।

शालाक्यतंत्र—इस चिकित्सा मे प्राय. शलाका का उपयोग होता है, शायद इसी से यह शालाक्य कहलाता है। इसके अन्दर ग्रीवा से ऊपर के रोगो का, आँख,

कान, नाक, सिर के रोगों का विचार हैं। मुख रोग को सुश्रुत ने अलग रखा है, परन्तु सग्रह मे आँख, कान, नाक, सिर के रोगो के साथ वर्णन किया है, जो ठीक भी है। इनमे आँख के रोग सबसे अधिक है। आँख के रोगो की सख्या सुश्रुत के अनुसार ७६ है, इनमे वातजन्य १०, पित्तजन्य १०, कफजन्य १३, रक्तजन्य १६, सर्वजन्य २५, बाह्यज दो, इस प्रकार से ७६ रोग हैं। चरक के अनुसार ९६ नेत्ररोग है। कान के रोग २८, नासिकारोग ३१, शिरोरोग ११ और मुखरोग ६५ हैं। इनका इस तत्र मे उल्लेख है।

इन रोगो के [illegible] चिकित्सा के अतिरिक्त शस्त्रकर्म भी वर्णित है। आँख की चिकित्सा मे विशेष ध्यान देने योग्य वस्तु यकृत का उपयोग है, इसमें यकृत खाने के लिए कहा है (सु उ अ १७।२४)। गोह के यकृत को चीरकर उसमें पिप्पली भरकर अग्नि मे पकाना चाहिए। पकने पर यकृत को खाना चाहिए और पिप्पली से अजन करना चाहिए। यही क्रिया प्लीहा से तथा बकरी के यकृत से भी कर सकते है। [illegible] वाले हैं, परन्तु प्राचीन आचार्यों ने किस रूप से विचार करके इसका प्रयोग किया यह नही कह सकते।

आँख के रोगो में औषध विशेषत त्रिफला का प्रयोग सायकाल करने का उल्लेख है। इस समय सूर्य का प्रकाश मन्द होता है, इसलिए इसका उपयोग करने को कहा है। आँखो मे तीक्ष्ण अजन सातवें-आठवे दिन लगाने का विधान है, सामान्य अजन तो प्रति दिन करना चाहिए। अजन के लिए भिन्न-भिन्न धातु की शलाका, अजनदानी का उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थो मे किया है।

आँख के उपचारो में आश्च्योतन, अजन, तर्पण, पुटपाक, आँखो के बाहर लेप (बिडालक) बरता जाता था। इसमे उपवास का भी महत्त्व है। इन कार्यों के अतिरिक्त कुछ अक्षिरोगो मे लेखन, छेदन आदि शस्त्रकर्म भी किये जाते थे। इनमें से अर्म (टैरिजियम) रोग मे वर्णित शस्त्रकर्म (सु उ अ १५।४-१०) आज के शस्त्र-कर्म के समान है। लिंगनाश (मोतिया) की चिकित्सा (कोचिंग) भी सुन्दरता से कही है (सु उ अ १७।५७-६१)।

शिरोरोग मे मस्तक के रोगो की चिकित्सा के लिए नस्य, प्रधमन, शिरोवस्ति का विशेष विधान है। नासारोग के लिए नस्य, धूम्रपान, कान के रोगो के लिए तैल, प्रधमन आदि उपचार बताये है। मुखरोगो मे दाँतो के मसूडो, जिह्वा और ओष्ठ के रोगो का वर्णन किया है। दाँत उखाडने में सावधानी तथा ठीक प्रकार से न उखड़ने के उपद्रवो का उल्लेख किया गया है। कृत्रिम दाँत लगाने का उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थों

में नही है। वेद मे और चरक मे अश्विनौ के कार्यों मे कृत्रिम दाँत लगाने का उल्लेख है (पूषा के दाँत गिर गये थे, उनको अश्विनौ ने लगाया था—चरक चि अ १।४।४०)। कन्नौज के राजा जयचन्द का भी कृत्रिम दाँत था—परन्तु आयुर्वेद की सहिताओं में इसका उल्लेख नही।

शालाक्य शास्त्र के विषय मे निमि आदि के ग्रन्थ पहले रहे होंगे, परन्तु इस समय इस विषय का मुख्य आधार सुश्रुत ही है। चरक का वर्णन बहुत सक्षिप्त है, विस्तार से चिकित्सा सुश्रुत मे ही है। इसी [illegible] का वर्णन है।

कायचिकित्सा—काय का अर्थ सम्पूर्ण शरीर है, आपाद-मस्तक होनेवाले रोगो की चिकित्सा इस अग मे वर्णित है। जिन रोगा मे सारे शरीर पर प्रभाव पडता हैं, उनका इसमे उल्लेख है। जैसे ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, पाण्डु, उदर, अर्श, प्रमेह, राजयक्ष्मा आदि। इस चिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ चरकसहिता है, इसी को आधार मानकर सग्रहकार वाग्भट ने "इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय" कहा है। इस चिकित्सा मे औषध-उपचार के साथ आहार-विहार एव वस्ति पर बहुत जोर दिया गया है। वस्ति को आधी एव सम्पूर्ण चिकित्सा कहा है, वस्ति आपाद मस्तक के दोषो को निकालती है।

रोगो के वर्णन मे रोगो के कारण, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति इन पाच बातो की विवचना की जाती है। किन कारणो से रोग उत्पन्न होता है, उस रोग के कारण जो अस्पष्ट परिवर्तन होते है, वे एक प्रकार से पूर्वरूप है। यही परिवर्तन जब स्पष्ट होकर आँख से दृश्यमान हो जाते हैं, तब रूप या लक्षण कहलाते हैं। कई बार कारण, पूर्वरूप और रूप से रोग स्पष्ट नही होता, उस समय उपशय से मदद ली जाती है। उपशय का अर्थ सात्म्य या अनुकूलता है। यह अनुकूलता हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतु और व्याधि दोनो के विपरीत, हेतु के अर्थ को करनेवाली, व्याधि के अर्थ को करनेवाली तथा हेतु और व्याधि दोनो के अर्थ को करनेवाली होती है। जैसे शीत के कारण से उत्पन्न रोग मे उष्ण उपचार हेतु-विपरीत है। हेतु के अर्थ को करनेवाला उपशय जले हुए को और जलाना है। उपशय का विपरीत अनुपशय है, शरीर के जो अनुकूल न आये वह अनुपशय है। इसी उपशय मे देश और काल को भी समझना चाहिए।

पाँचवी वस्तु सम्प्राप्ति है, सम्प्राप्ति का अर्थ शरीर मे होनेवाला परिवर्तन है। एक ही कारण से कुपित वायु शरीर के भिन्न-भिन्न अगो मे भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न करती है [illegible] कारण से कुपित वायु भिन्न-भिन्न शरीरो मे भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न

करती है। कारण समान होने पर भी जो परिवर्तन शरीर में मिलते हैं, उनको समझना सम्प्राप्ति है। यह सम्प्राप्ति सख्या, विकल्प, बल, प्राधान्य और काल के भेद से भिन्न होती है। इस विषय मे प्रमेहनिदान (चरक. नि. अ. ४-४) के प्रकरण में अत्रिपुत्र ने रोग की उत्पत्ति, उसके तीव्र, मध्यम, मृदु रूप एव उत्पन्न न होने या देर में होने के कारण को सरलता से एक सूत्र में समझा दिया है। इसी प्रकार चिकित्सा को भी एक ही शब्द मे कह दिया—"जिस क्रिया से शरीर के धातु समान होते हैं, वह चिकित्सा है; यही वैद्य का कर्म है।" चिकित्सा का अर्थ ही यह है कि विकृत हुए धातुओ को समान करना। यह आहार-विहार-औषध रूप मे वर्णित है (अ. ४)।

भूतविद्या—इसका सम्बन्ध मानसिक रोगो से है। मन के दो दोष हैं; रज और तम। इनसे मनुष्य में उन्माद, अपस्मार, अमानुषोपसर्ग रोग होते है। अमानुषोपसर्ग से अभिप्राय देव-असुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच आदि से मन का आक्रान्त होना है। अत्रिपुत्र का कहना है कि ये रोग वास्तव में प्रज्ञापराध के कारण (धी—स्मृति के विभ्रंश से) होते हैं और अपने कर्मों का फल हैं; इनके लिए देवता आदि को दोष नही देना चाहिए।[1]

मन-बुद्धि-सज्ञा-ज्ञान-स्मृति-भक्ति-शील-चेष्टा-आचार इनका विभ्रम होना (बदल जाना) उन्माद है।[2] स्मृति का अपगमन होना (दूर हो जाना) अपस्मार है। इनका सम्बन्ध मन के साथ है, अतएव ऐसे रोगो के लिए स्वस्तिवाचन, शान्तिकर्म, मणि-मत्र-औषधिप्रयोग, प्रायश्चित्त, जप-होम आदि दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय लिया जाता है।

ग्रहो का सम्बन्ध बच्चो के विषय में कहा है। काश्यप संहिता के रेवतीकल्प अध्याय मे इस विषय में कई प्रकार की जातहारिणी, षष्ठीपूजा आदि बातो का उल्लेख मिलता है। संग्रह में भूतविज्ञानीय और भूतप्रतिषेध अध्याय पृथक् लिखे हैं; एक अध्याय में निदान है और दूसरे में चिकित्सा।

भूतविद्या का उल्लेख अथर्ववेद में भी है। इस वेद का सम्बन्ध दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से है (चरक. सू. अ. ३०)। इसमें पिशाच नाम (पिशाचं मनमोहनं जहि

---

१. प्रज्ञापराधात् संभूते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
नाभिशंसेद् बुधो देवान् न पितॄन् नापि राक्षसान्॥ —नि. अ. ८।२१

२. मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः।
[illegible]ो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः॥ सु. उ. अ. ६२।३

जातवेदः—५।२९।१०) आता है। गन्धर्व और अप्सरस् नाम भी अन्यत्र हैं (तै. सं. ३।४।८।४)। भूत नाम का प्रयोग अदृश्य वस्तु के लिए अथवा जिसके सम्बन्ध मे उस समय कोई स्पष्टीकरण न हो ऐसे प्रसग में होता था। इसको दैविक या अमानुषीय कार्य समझा जाता था। इस प्रकार के कार्यों की शमन-विद्या ही भूतविद्या थी।

इन कार्यों का उद्देश्य तीन प्रकार का था; हिंसा, रति और अभ्यर्चन (चरक. नि. अ ७।१५)। इसलिए भूतविद्या-चिकित्सा में बलि, उपहार, होम, जप आदि कार्यों का विधान है। हिंसा प्रयोजन को निष्फल करने के लिए स्वस्तिवाचन, शान्ति-कर्म, दान आदि है।

कौमारभृत्य—इस शब्द का अर्थ बालको के लालन-पालन से है, जैसा कि कालिदास के वचन से स्पष्ट है—

"[illegible]शलैरनुष्ठित भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।" रघु. ३।१२

इस विद्या का क्षेत्र गर्भ से प्रारम्भ होकर उपनयन होने तक है। चरकसंहिता का जातिसूत्रीय अध्याय इसी विद्या से सम्बन्धित है (जाति–जन्म के सूत्र सम्बन्धी अध्याय)। इसमें कल्याणकारी संतति चाहनेवाले स्त्री-पुरुषों के लिए उपायो का वर्णन किया गया है (शा. अ. ८।३)। इसके अन्तर्गत गर्भ धारण क्रिया से प्रारम्भ होकर, सम्पूर्ण गर्भावस्था की देखरेख, प्रसवकालीन आवश्यक उपचार तथा उसके पीछे बच्चे की सम्पूर्ण देखरेख यह सब विषय आ जाता है। बच्चे का सम्बन्ध माता के साथ रहने से उसका भी उत्तरदायित्व इसी विद्या के ऊपर रहता है। गर्भाधान क्रिया, गर्भ का पोषण, उसका रंग, उसको इच्छा के अनुसार बनाना, गर्भावस्था में देखरेख, गर्भकालीन व्यापद् की रक्षा, प्रसव का प्रबन्ध, प्रसवकालीन आवश्यक कार्य, बच्चे का जातकर्म, नामकरण आदि कार्य एवं उसके रखने-पालने की व्यवस्था, उसके वस्त्र, खिलौने आदि सभी बातो की जानकारी इसमें मिलती है (चरक. वि. अ. ८)।

जन्म के बाद होनेवाले रोगों की चिकित्सा यद्यपि कायचिकित्सा के समान ही है, तथापि कुछ रोग-बच्चों में विशेष होते हैं, जैसे कुकूणक अक्षिरोग, अजगल्लिका आदि। इस सम्बन्ध की विवेचना विशेष रूप से काश्यप संहिता में है। इसमें बच्चों के दाँत निकलने के सम्बन्ध में महत्त्व की बातें बतायी गयी हैं (सू. अ. २०।५)। कन्याओ के दाँत निकलने मे कम कष्ट होता है, क्योंकि इनके मसूड़े कोमल होते हैं, लड़को के दाँत देर मे और कष्ट के साथ निकलते हैं।

दाँतो के सिवाय ग्रह सम्बन्धी जानकारी भी काश्यप संहिता में विस्तार से है, ग्रहो की उत्पत्ति भी विस्तार से वर्णित है। इनके लक्षण श्री दुर्गाशंकर भाई के अनुसार

शारीरिक रोगों से ही मिलते हैं, इसलिए वही चिकित्सा इनमें करनी चाहिए। इसमें षष्ठी पूजा का उल्लेख भी है। बच्चो के रिकैट—अस्थिदौर्बल्य रोग (फक्क) का भी उल्लेख केवल इसी ग्रन्थ में मिलता है (पृष्ठ १००)। बच्चो के लालन-पालन की बहुत-सी बातें, काश्यप संहिता में हैं, परन्तु मुख्य विषय प्राचीन दृष्टि से चरक के जातिसूत्रीय अध्याय मे आ जाता है। एक प्रकार से आधुनिक प्रसूति तन्त्र का समावेश इसी में हुआ है।

योनि-व्यापत्तन्त्र (ग्यानोकोलोजी) भी इसी में आता है। चरक मे बीस योनि-रोग कहे गये हैं, उनका उपचार भी वर्णित है। आर्त्तव सम्बन्धी रोगों का उल्लेख तथा मकल्ल आदि लक्षणों की चिकित्सा सुश्रुत के शारीरस्थान मे कही है। प्रसव के समय उत्पन्न मूढगर्भ की अवस्था में शस्त्रकर्म का उल्लेख भी है, इसमें विशेष सावधानी से स्त्री को मूर्च्छित करके ही शल्यकर्म करने को कहा है, परन्तु किस प्रकार से उस समय मूर्च्छित करते थे; इसका उल्लेख नहीं (सम्भवत. मद्य पिलाते हो)। साथ ही आवश्यक होने पर गर्भपात करने का भी उल्लेख है (चि. अ. १५।११)।[1]

बच्चे के पालन के लिए जो धात्री होनी चाहिए, उसके सम्बन्ध में अत्रिपुत्र की सूचनाएँ बहुत ही मूल्यवान् हैं, आज दो हजार वर्ष बाद भी वे ताजी हैं—

"अथ ब्रूयात्—धात्रीमानय, समानवर्णाम् (समान वर्ण की); यौवनस्थाम् (युवती); निभृताम् (विनीत-नम्र); अनातुराम् (निरोगी); अव्यङ्गाम् (अच्छे सुन्दर अंगोवाली); अव्यसनाम् (व्यसनो से रहित); अविरूपाम् (सुन्दर); अजुगुप्सिताम् (समाज में जिसकी निन्दा न हो); देशजातीयाम् (अपने देश, अपनी जाति की); [illegible] (नीच काम न करनेवाली); कुलेजाताम् (उत्तम कुल में उत्पन्न); वत्सलाम् (ममतावाली); अरोगाम् (स्वस्थ); जीवद्वत्साम् (जिसका बच्चा जीता हो); पुंवत्साम् (गोद में लडका हो); दोग्ध्रीम् (प्रचुर दूधवाली); अप्रमत्ताम् (लापरवाह न हो); अनुच्चारशायिनीम् (गदी आदत जिसकी न हो, सफाईपसन्द); [illegible] (जो अस्पृश्या न हो); कुशलोपचाराम् (बच्चे के पालने मे होशियार); शुचिम् (पवित्र रहने की आदतवाली); अशुचिद्वेषिणीम् (गन्दगी से द्वेष रखनेवाली); स्तन्यसंपदुपेताम् (प्रशस्त दूधवाली धात्री को लाना चाहिए)।"

---

१. रामायण में भी मूढगर्भ के शस्त्रकर्म का उल्लेख है—

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्तः।

नूनं ममाङ्गान्यचिरादनार्यः शस्त्रैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः॥ वा.रा.सु. २८।६

सूतिका रोग—प्रसव के पीछे होनेवाली बीमारियाँ कष्टसाध्य होती है; इस बात का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, इसलिए इनसे बचाकर प्रसव कराना चाहिए। प्रसव में बलातैल या दूसरे तैलो का उपयोग बहुत सयुक्तिक है। इनके व्यवहार से जहाँ कृमि-सक्रमण से रक्षा होती है, वहाँ प्रसवकार्य सरल बनता है। इसी प्रकार गर्भिणी के आहार-विहार-दोहद की रक्षा सम्बन्धी सूचनाएँ दी गयी है।

सूतिकागार प्रकाश–धूमरहित तथा स्वच्छ बनाने का उपदेश है। जो स्त्रियाँ प्रसव कराने के लिए उपस्थित हो, वे बहुत बार की अभ्यस्त, नख कटाये हुए, साफ, कष्ट सहनेवाली, स्नेह रखने की प्रकृतिवाली होनी चाहिए।

एक प्रकार से कौमारभृत्य में मैटरनिटी, गायनोकोलाजी, स्त्रीरोग, बालरोग, शिशुपरिचर्या, शिशु का प्रबन्ध, सब विषय आ जाते है। ये विषय आयुर्वेदग्रन्थों में एक स्थान पर नही मिलते, भिन्न भिन्न स्थलों पर इनका उल्लेख हुआ है।

अगद तंत्र—इस अग में स्थावर और जगम दोनो प्रकार के विषो की चिकित्सा कही है। चिकित्सावर्णन में विष किस किस रूप में दिया जा सकता है, इसका भी उल्लेख है। प्राय: राजाओं को विष का भय रहता है, यह विष खाने-पीने में, वस्त्र, आभूषण, माला, उपानह, स्नानजल, अनुलेप आदि द्वारा दिया जा सकता है। इसलिए रसोई, रसोई के अध्यक्ष और विषयुक्त अन्न की परीक्षा अग्नि एव पशु-पक्षियो से बतायी गयी है। यह परीक्षा कौटिल्य-अर्थशास्त्रोक्त परीक्षा से मिलती है। अन्य तरीको से दिये गये विष के लक्षण तथा उपाय भी सुश्रुत में कहे हैं।

सेना की रक्षा की दृष्टि से भी विष रक्षा कही है—शत्रु मार्ग, वायु, जल, घास, तृण आदि वस्तुओं को विष से दूषित कर देते हैं। इनको लक्षणों से पहचानकर शुद्ध करना चाहिए।[1]

स्थावर विषो के जो नाम गिनाये गये हैं वे अब ज्ञात नहीं। इनमें से एक-दो का ही ज्ञान है। विष के कारण शरीर में जो क्रमश. परिवर्तन होता है, उसे वेग (लहर) कहते हैं। सामान्यत: विष के सात वेग होते हैं; प्रत्येक वेग में विष गम्भीर होता जाता है और भीतरी धातुओ में उत्तरोत्तर पहुँचता हुआ असाध्य बन जाता है।

जगम विष स्थावर विष से विपरीत होता है, स्थावर विष ऊर्ध्वगामी होता है,

---

१. राज्ञोऽरिवेशे [illegible]नान् विषेण।
संदूषयन्त्येभिरभिप्रदुष्टान् विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान्॥
सु. क. अ. ३।६

और जंगम विष अधोगामी रहता है, इसलिए एक दूसरे को नष्ट करता है। शिव के पुराणोक्त विषपान में यही कारण है कि मुख से पिया गया हलाहल गले में साँपों के लिपटे रहने से आगे नहीं जा सका। सिर पर गिरती हुई गंगा की धार विष की गरमी को दूर करती है; माथे पर स्थित चन्द्रमा अपनी द्युति से विष की कालिमा को मिटा देता है।

जंगम विष में सर्प मुख्य है, इसलिए उनकी जातियाँ, भेद, काटने के पृथक्-पृथक् लक्षण, उनकी चिकित्सा, प्रकृति; सब बातो की विवेचना की गयी है। साँपों के काटने से उत्पन्न वेग तथा होनेवाले लक्षण, मृत व्यक्ति की पहचान, इन सबके विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। चिकित्सा में अरिष्ट, मंत्र प्रयोग के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न अगद बताये गये हैं। अगदों की फलश्रुति में यह भी कहा है कि इन औषधियों को नगाडे आदि पर लगाकर बजाये, पताका आदि पर लगाकर मकान के ऊपर टाँगे। जहाँ तक नगाड़े की आवाज जाती है, वहाँ तक विष के रोगी स्वस्थ हो जाते है।[1]

सर्पविष के साथ मूषक, कीट, लूता के विष का भी उल्लेख है। पागल कुत्ते (अलर्क) के काटने के लक्षण और चिकित्सा भी बतायी है। इस चिकित्सा में धतूरे का उपयोग करके विष को पहले कुपित करने के लिए कहा है। अपने आप कुपित होने से पहले वैद्य को चाहिए कि वह इसे कुपित कर दे। विष वर्षा-ऋतु में क्यों प्रबल होता है; इस सम्बन्ध में गुड़ का दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है।[2]

विष क्यों मारक है; इसका भी कारण बतलाया है। विष के लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण तथा अनिर्देश्यरस ये दस गुण हैं जो कि ओज के दस गुणों से विपरीत होते हैं; इसलिए विष मारक होता है। सर्प विष के चौबीस उपाय बताये हैं (चरक० चि० २४।३५-३७)।

मूषकविष और अलर्कविष (जलत्रास की अवस्था—हाईड्रोफोबिया) का वर्णन विस्तार से किया है। रोगी में अलर्क—पागल जानवर के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर रोग असाध्य हो जाता है। लूताविष के साथ सामान्य कीट, मक्खी आदि के काटने के भी लक्षण बतलाये गये हैं।

---

१. अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकां तोरणानि च।
श्रवणाद् दर्शनात् स्पर्शात् विषात् संप्रतिमुच्यते॥ सु. क. अ. ६।४

२. तद् वर्षास्वम्बुयोनित्वात् संक्लेदं गुडवद् गतम्।
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च॥
प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये॥ चरक. चि. अ. २३।७-८

सत्संग, उनके पास बैठना, उनका आदर करना, धर्म भाव रखना, अध्यात्म चिन्तन—इनको पालन करनेवाला व्यक्ति एक प्रकार से रसायन का ही सेवन करता है।

रसायन सेवन से दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरुण वय, प्रभा, वर्ण, स्वर आदि में औदार्य, देहबल, इन्द्रियबल, वाक्‌सिद्धि, लोकवन्दना और कान्ति मिलती है। दीर्घायु का अर्थ यही है कि मनुष्य को आयु पूरी प्राप्त हो। अधिक आयु का उल्लेख अतिशयोक्ति ही है, इसी से शबर ने कहा है कि रसायन की यह सामर्थ्य नही देखी गयी कि मनुष्य एक हज़ार वर्ष जिये।[1]

सुश्रुत मे सोम आदि ओषधियों के सेवन से जो त्वचा का गिरना, कृमि आदि उत्पन्न होना, नये दाँत, नख आदि निकलना बतलाया है वह चरक संहिता में नही है। इन्द्र ने भी ऋषियों को रसायन ओषधि सेवन करने का उपदेश दिया है।

चरक का रसायन प्रकरण अधिक बुद्धिगम्य और सरल है। आँवले और दूध का उपयोग बहुत सुन्दर है (चि० अ० १।३।९-१३)। इसके सिवाय भिलावा, शिलाजीत, हरीतकी, त्रिफला आदि बहुत से रसायनो का उल्लेख है, इनमें जो जिसको अनुकूल पडे, सुभीता हो, उसे बरतना चाहिए।

अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में वाग्भट ने लशुन, पलाण्डु, विधारा, कुक्कुटी आदि वनस्पतियो का भी उपयोग रसायन रूप में बताया है। लशुनकल्प का उल्लेख काश्यप संहिता मे भी है। बावची, बच आदि जानी हुई औषधियो के साथ कचुकी, ताप्य, गुग्गुलु का उल्लेख इसमे हुआ है। सम्भवत इन औषधियों से शरीर को स्वस्थता मिलती है। चरक की औषधियों में मानसिक पवित्रता का भी ध्यान रखा गया है, क्योकि वे सात्त्विक है। संग्रह की ओषधियाँ कम से कम लशुन और पलाण्डु तो सात्त्विक नही। चरक तो कहता है कि मद्य का सेवन रसायनसेवी को नहीं करना चाहिए, परन्तु इस निषेध का महत्त्व संग्रह की दृष्टि में नही है। संग्रह की रसायन-विधि सासारिक व्यक्ति के लिए है, इसमे किसी प्रकार का परहेज नही।

वाजीकरण—इस अंग का अभिप्राय पुरुष मे पुंस्त्व शक्ति को बढ़ाना है। यह अंग पुरुषो से ही सम्बन्धित है, स्त्रियो के लिए ऐसी औषध आयुर्वेद मे नही मिलती। अत्रिपुत्र ने स्त्री को ही प्रधान वाजीकरण माना है, उसमें ज्ञानेन्द्रियों के सब विषय एक साथ स्थित हैं। स्त्री में प्रीति, सन्तान, धर्म, अर्थ, लक्ष्मी, लोक-परलोक सब स्थित हैं।

१. न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टं येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः। —शाबरभाष्य

भारतीय संस्कृति मे पुत्र न होना पाप है, सतान रहित मनुष्य की उपमा सूखे तालाब, चित्र में बने प्रदीप, एक शाखावाले वृक्ष तथा फल रहित विटप से दी गयी है। उसे मनुष्य न कहकर तिनको का पुतला कहा है। इसके विपरीत बहुत सतान-वाले की उपमा बहुत शाखा-प्रशाखावाले वृक्ष से दी है। पहले समय मे जब जीवन के साधन खेती, पशुपालन, आखेट थे, यहसि द्धान्त महत्त्वपूर्ण था, परन्तु आज आबादी अधिक और भूमि कम होने से स्थिति बदल गयी है।

चरक सहिता मे इस सम्बन्ध मे प्राणिज द्रव्यो का उपयोग विशेष रूप से किया है, परन्तु इनसे रहित शुद्ध योग भी दिये है। पहली बार ब्यायी, चारो पुष्ट स्तनोवाली, समान रग की, जीवित बछडेवाली गाय को उरद के पत्ते या ईख के पत्ते खिलाये। जब इसका दूध गाढा हो जाय तब उसे गरम या बिना गरम करके पीना चाहिए (चि० अ० २।३।३-५)।

शुक्र दोष, नपुसकता के कारण और इनकी चिकित्सा का स्पष्ट वर्णन किया गया है। नपुसकता जन्मजात तथा जन्मोत्तर काल-जन्य एव ब्रह्मचर्य के कारण भी होती है। इसमे कुछ कारणो से सामयिक अस्थायी क्लीवता आती है। मनुष्य के शुक्र में आठ दोष हो सकते है (चरक० चि० अ० ३०।१३९-१४०)। इन दोषो की चिकित्सा विस्तार से कही गयी है। शुक्र जिन कारणो से शरीर मे से अलग होता है, उनको बहुत ही सुन्दरता से लिखा है।[1]

सोलह वर्ष से पूर्व और सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् स्त्रीसेवन नही करना चाहिए। इन अवस्थाओ में स्त्रीसेवन से मनुष्य घुनी हुई लकडी के समान खोखला हो जाता है। कुछ कारण ऐसे है (जैसे—चिन्ता, रोग, स्त्री में दोष देखना, भय आदि) जिनसे शक्ति होने पर भी प्रवृत्ति नही होती, क्योकि शक्ति की प्रेरणा मे प्रसन्नता मुख्य कारण है (चरक० चि० अ० २।४५)।

इस प्रकार शरीर और मन दोनो के स्वास्थ्य के लिए वाजीकरण है, इसका उपयोग शरीर का ध्यान रखकर ही करना चाहिए। वाजीकरण का उपदेश होने पर भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व बना ही हुआ है।[2]

---

१. हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ चरक चि. अ. २।४।४८

२. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयपरायणम्। अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् ॥
हृदय उ. अ. ४०

क्रियात्मक ज्ञान और आतुरालय (अस्पताल)

विद्यार्थी को क्रियात्मक शिक्षा देने के लिए चिकित्सालयों का भी उपयोग होता था; इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु रोगी की चिकित्सा के लिए आतुरालय, व्रणितोपासना गृह होते थे। स्त्रियों के प्रसव के लिए सूतिकागार, बच्चों के लालन-पालन के लिए कुमारागार बनते थे। शिक्षा के समय क्रियात्मक ज्ञान के लिए शवच्छेद कार्य का महत्त्व था (सु० शा० अ० ३।४७-४८)।

इसके अतिरिक्त सामान्य शल्यकर्म के अंगों की शिक्षा के लिए भिन्न भिन्न उपकरण काम में लाये जाते थे (सु० सू० अ० ९।४)। इन उपकरणों पर विद्यार्थी 'जितहस्तता' प्राप्त करता था । चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान उसे व्रणितोपसना गृह में देखने को मिलता था।

व्रणितोपासनागृह—इस विषय में कहा गया है कि व्रणरोगी के लिए सबसे प्रथम रहने की व्यवस्था करनी चाहिए। यह व्यवस्था वास्तु आदि से सम्मानित स्थान पर होनी चाहिए। यह घर वास्तु के प्रशस्त लक्षणो से युक्त, पवित्र, सीधी वायु और धूप से सुरक्षित होना चाहिए। इसमें रोगी की शय्या कष्टरहित-सुखदायक, देखने में सुन्दर, पर्याप्त लम्बी चौड़ी होनी चाहिए। शय्या का सिरहाना पूर्व की ओर रखना चाहिए। रोगी डर जाता है, स्वप्न में कभी चौंक जाता है, इसलिए उसको बल देने के लिए शस्त्र रख देना चाहिए (गाँवो में आज भी प्रसूता के सिरहाने कैंची, चाकू या कोई लोहा रखने की प्रथा है)। यहाँ पर अनुकूल, प्रिय बोलनेवाले मित्रो को बुलाना चाहिए, जिससे उनके साथ बातचीत करते हुए व्रण की वेदना की ओर ध्यान न जाय। मित्र इसे बराबर सान्त्वना देते रहें। दिन में सोना नहीं चाहिए, उससे व्रण में कण्डू, शोथ, सुर्खी, वेदना और स्राव बढ़ता है, शरीर भारी हो जाता है। रोगी को उठना-बैठना, करवट बदलना, चलना-फिरना, जोर से बोलना बहुत सावधानी से करना चाहिए, व्रण पर जोर न पड़े इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। स्त्रियों का दर्शन, उनसे बातचीत करना, उनका स्पर्श, समागम पूर्णतः छोड देना चाहिए, क्योंकि स्त्रीदर्शन से यदि शुक्रक्षय कभी हो जाय, तो बिना समागम के भी शुक्रनाश के दोषों को उत्पन्न कर देता है।

भोजन में हानिकारक वस्तु तथा तीव्र मद्यों का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मद्य व्रण को बिगाड़ देती है। वायु, धूप, धूल, धुआँ, ओस इनका अधिक सेवन, अति भोजन, अनिष्ट भोजन, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता, रात्रि में जागना, विषमाशन, सीधा खड़ा होना, चलना, शीत, वायु, विरुद्ध भोजन आदि हानिकारक बातों से बचना

चाहिए। उपाध्याय ऋग्वेद आदि के मंत्रों से तथा वैद्य अपने धूम आदि कार्यों से सन्ध्याकाल में रोगी की रक्षा करें। प्रशस्त औषधियो को सिर पर धारण करना चाहिए (सु० सू० अ० २९)।

आतुरालय—चरकसहिता में रोगों का सही उपचार करने के लिए जो जो वस्तु आवश्यक होती हैं, उनकी विस्तृत सूची दी है। इसमें रोगी के रहने के लिए सबसे प्रथम घर की व्यवस्था करनी चाहिए। यह घर मजबूत, सीधी वायु से बचा, एक पार्श्व से वायु प्रवेशवाला, सुविधापूर्वक जिसमें घूमा जा सके, किसी पार्श्ववर्ती मकान से न दबा हुआ, धुआँ, धूप, वर्षा, धूल से बचा हुआ, अनिच्छित शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध जहाँ पर न पहुँच सकें, पानी का प्रबन्ध हो, ऊखल-मूसल, स्नान के स्थान से युक्त, मल-मूत्र त्याग के लिए उचित प्रबन्धवाला, रसोई युक्त हो; ऐसा गृह शिल्प-विद्या जाननेवाले व्यक्ति द्वारा प्रशस्त रूप में बना होना चाहिए।

इस घर में शील-शौच-आचार-अनुराग-दाक्ष्य (चातुर्य) और प्रादक्षिण्य (सूझ) से युक्त, सेवाकार्य में कुशल, सब कार्यों को सीखे हुए, रसोई पकानेवाले, स्नान-संवाहन, उठाने-बैठाने, औषधि तैयार करनेवाले भृत्यों को, जो सब प्रकार के कार्यों को करने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट न करें, गाने-बजाने-स्तोत्र पाठ, श्लोक-गाथा-कथा-आख्यायिका, इतिहास-पुराण कहने में कुशल, अभिप्राय को समझने में चतुर, मन के अनुकूल, देश-काल को प[ह]चाननेवाले मुसाहिबो को भी वहाँ रखे। बटेर, कपिञ्जल खरगोश, हरिण, एण, कालमृग आदि पशु एवं दुधारी, सीधी, निरोगी, बछडेवाली गाय का प्रबन्ध करे। भिन्न भिन्न पात्र—पानी के बड़े मटके, पीढ़े, कडाहे, थाली, लोटे, पानी निकालने का बर्त्तन, मथनी, करछुली आदि आवश्यक वस्तु इसमें इकट्ठी करनी चाहिए। शय्या-आसन आदि के पास करवा और पीकदान रखना चाहिए। शय्या और बैठने का पीढ़ा अच्छी प्रकार बिछे हुए, पीछे की तरफ सहारे—तकियेवाले होने चाहिए, जिससे उनके ऊपर बैठकर स्नेहन-स्वेदन, वमन-विरेचन, शिरोविरेचन आदि कार्य सुखपूर्वक किये जा सकें। अच्छी प्रकार धुले तथा तैयार किये पीसने के पत्थर, आवश्यक शस्त्र, धूम नेत्र, वस्ति नेत्र, तराजू, मापने के पात्र, घी, तैल, वसा, मज्जा, मधु, राब, नमक, ईंधन, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दही, मण्ड, शालि धान्य, मूँग, उरद, तिल, कुलत्थ, बेर, मृद्वीका, हरड़, बहेड़ा, आँवला आदि नाना प्रकार के स्नेह-स्वेद के उपयोगी द्रव्य तथा अन्य औषधियो का संग्रह करना चाहिए। इन वस्तुओ के अतिरिक्त जो भी आवश्यक प्रतीत हों, चिकित्सा कर्म में जिनकी सभावना हो, उन सब चीजो को पहले से इस घर में एकत्र रखना चाहिए।

आतुरालय में रहनेवाले रोगी को समझा देना चाहिए कि वह जोरसे नही बोले, उसे बहुत खाना, बहुत बैठना, बहुत घूमना, क्रोध-शोक-शीत-धूप-ओस-वायु-सवारी करना, स्त्री समागम, रात मे जागना, दिन मे सोना, विरुद्ध, अजीर्ण, असात्म्य, अकाल-प्रमित, अति हीन, गुरु, विषम भोजन छोड देना चाहिए। मल-मूत्र के वेगो को नही रोकना चाहिए। इन बातो का मन से भी विचार छोड देना चाहिए (चरक० सू० अ० १५)।

आतुरालय के प्रबन्ध की सामान्य जानकारी ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है।

सूतिकागार--प्रसव का नवाँ मास प्रारम्भ होने से पहले ही सूतिकागार बनाना चाहिए। यह ऐसे स्थान पर हो जहाँ हड्डी, शर्करा, ईंट, पत्थर, रोडे तथा पुराने ठीकरे, टूटे मिट्टी के वर्त्तन न हो, जिस भूमि का दिखाव (रूप), जल (रस), गन्ध प्रशस्त हो। घर का मुख्य द्वार पूर्व या उत्तर दिशा मे रखना चाहिए। इस घर को बिल्व, तिन्दुक, इगुदी, भिलावा, वरणा, खैर इनमें से किसी की लकड़ी से बनाना चाहिए। इसमे मजन, आलेपन, पहनने, ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र रखने चाहिए। अग्नि (रसोई), जल, स्नानगृह, मल-मूत्र त्याग की सुविधा, कूटने-पीसने की व्यवस्था, ऋतु-अनुकूल प्रबन्ध रहे ऐसा, मन के लिए अनुकूल घर बनाना चाहिए।

इसमे घी, तैल, मधु, सैन्धव, सौवर्चल, काला नमक, विड नमक, विडंग, पिप्पली, हीग, सरसों, लहसुन आदि उपयोगी वस्तु, दो पत्थर, दो मूसल (द्वार पर रखने के लिए---जिससे कोई सीधा घरमे न आ सके), ऊखल, सूई और उसके खोल, शस्त्र, बिल्व के बने दो पलग रखने चाहिए, अग्नि जलाने के लिए तिन्दुक और इगुदी की लकडियाँ, बहुत वार प्रसव कार्य की हुई, स्नेह रखनेवाली, निरन्तर प्रेमभाव रखनेवाली, सेवाकार्य मे कुशल, सूझवाली, स्वभाव से ही ममतावाली, शोक या घबराहट से दूर रहनेवाली, कष्ट सहने की अभ्यासी स्त्रियो को वहाँ पर रखना चाहिए। इसके सिवाय और जो कुछ भी ब्राह्मण तथा वृद्धा स्त्रियाँ बताये, उन सबको एकत्र रखना चाहिए। सुश्रुत ने सूतिकागार की लम्बाई आठ हाथ और चौड़ाई चार हाथ बतायी है।

कुमारागार---भवन निर्माण में कुशल व्यक्ति प्रशस्त, सुन्दर, प्रकाशपूर्ण स्थान पर, सीधी वायु से बचा हुआ, पार्श्व से वायु प्रवेशवाला दृढ मकान बनाये। इस मकान में हिंसक पशु, चूहे, पतग, मच्छर आदि का प्रवेश अवरुद्ध होना चाहिए। पानी का स्थान, कूटने-पीसने, मल-मूत्र त्याग का स्थान, स्नानगृह, रसोई आदि अलग अलग ऋतु अनुकूल बनाने चाहिए। ऋतुओ के अनुसार इसमें उठने-बैठने का, सोने तथा दूसरी वस्तुओ का प्रबन्ध करना चाहिए। मकान में बच्चे के आसपास जो व्यक्ति रहे

वे पवित्र, अनुभवी, वैद्य से प्रेम रखनेवाले तथा बच्चे से स्नेह भाव रखनेवाले होने चाहिए (शा० अ० ८।५९)।

बच्चे के बिछाने-ओढ़ने-पहनने के वस्त्र कोमल, हलके, साफ सुथरे, सुवासित होने चाहिए। जिन वस्त्रो में पसीना, मैल, जूँआ आदि हो, उनको हटा देना चाहिए, मल-मूत्र से बिगडे वस्त्रो को तुरन्त पृथक् कर देना चाहिए। यदि दूसरे नये वस्त्र उपलब्ध न हो तो इन्ही वस्त्रो को अच्छी प्रकार धोकर, धूप में सुखाकर, धूप देकर काम में लाना चाहिए।

वस्त्रो को धूप देने के लिए जौ, सरसो, अलसी, हीग, गुग्गुलु, वच, चोरक, हरीतकी, जटामासी, अशोक, रोहिणी आदि द्रव्य और साँप की केंचुली को घी के साथ बरतना चाहिए।

बच्चे के खिलौने नाना प्रकार के, बजनेवाले, देखने में सुन्दर, हलके, आगे से नोक-रहित, मुख मे न जा सकनेवाले, प्राणो को किसी प्रकार हानि न पहुँचानेवाले होने चाहिए।[1] बच्चे को कभी भी डराना नही चाहिए। बच्चा यदि रोता हो या भोजन न खाये तब उसे डराने के लिए राक्षस, पिशाच, पूतना आदि का नाम नही लेना चाहिए (शा० अ० ८।६८)।

आरोग्यशाला—स्कन्दपुराण में आरोग्यशाला बनाने का बहुत पुण्य बताया है, जो व्यक्ति सब साज-सज्जा से पूर्ण, वैद्य से युक्त आरोग्यशाला बनवाता है, उसके लिए दूसरा कोई धर्म करने को नही रहता, क्योंकि जीवनदान से बढकर दूसरा दान नहीं। सम्राट् अशोक ने अपने राज्य में तथा पडोसी राज्यो में पशु और मनुष्य दोनो के लिए चिकित्सा की सुविधा की थी। उसने अपने शिलालेख मे घोषणा की है—

"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी ने अपने विजित राज्य में तथा सीमान्त राज्यो में, जैसे चोल, पाण्ड्य, सत्पुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक और जो दूसरे समीप

---

1. खिलौनों के लिए काश्यप संहिता में अधिक जानकारी दी है—

बालक्रीडनकानि पिष्टमयानि,—तद्यथा गोगजोष्ट्राश्वगर्दभमहिषमेषच्छाग-मृगवराहवानरशरभसिंहव्याघ्रकपितरक्षुवृककूर्ममीनशुकसारिकाकोकिलकलविङ्क-चक्रवाकहंसक्रौञ्चसारसमयूरकुक्कुटचकोरकपिञ्जलचरणायुधवर्तकाक... [illegible] ...(क)रथकयानकस्यन्दनकशल्लिकाजिङ्क्षारिकाखारिकेशाकातुम्बी[illegible] ...लक..... ....दुहितृकाकुमारकगोलगन्दुकान्यानि च स्त्रीकौतुकानीति।" काश्यप. खिल. १२।६

के राजा हैं; सब स्थानों पर दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध करा दिया है; मनुष्य चिकित्सा तथा पशु चिकित्सा।" (शिलालेख २)

जहाँ पर जो औषधियाँ नहीं होती थीं, उनको दूसरे स्थानों से मँगवाकर उन स्थानों पर मनुष्य और पशुओं के लाभ के लिए अशोक ने लगवाया था। ये आरोग्यशालाएँ आधुनिक अस्पतालों का प्राथमिक रूप थीं।

अशोक के पीछे पाँचवी शती में (४०५ से ४११ ईसवी पश्चात्) चीनी यात्री फाहियान भारत में आया था। उस समय मगध की राजधानी पाटलीपुत्र में एक धर्मार्थ चिकित्सालय था। किसी भी रोग से पीड़ित, निराश्रित, गरीब रोगी सब इसमें आते थे। यहाँ उनकी पूरी देखरेख की जाती थी, आवश्यक आहार और अन्य वस्तुएँ दी जाती थी। उनके आराम का पूरा प्रबन्ध किया जाता था। जब वे स्वस्थ हो जाते थे तब उनको वहाँ से जाने दिया जाता था।[1]

फाहियान कहता है कि दान कार्य में बड़ी स्पर्धा चलती थी, दानवीर बड़ी बड़ी धर्मशालाएँ, आरोग्यशालाएँ चलाते थे। इसके बाद सातवी शती में आनेवाला चीनी यात्री ह्युआन्-शाङ भी निःशुल्क चलनेवाले दवाखानों का उल्लेख करता है, जहाँ रोगियों को मुफ्त दवा दान दी जाती थी। हर्षवर्धन ने ऐसी पुण्यशालाएँ स्थान स्थान पर बनवायी थीं।

आरोग्यशाला सम्बन्धी गुप्तकालीन उल्लेखों के छ. सौ वर्ष बाद का एक लेख मिला है; इसको चोल देश के वीर राजेन्द्रदेवुश ने १०६७ ईसवी में लगवाया है। यह विज्ञप्ति दक्षिण के चेंगुलपट्टु मण्डल के तिरुमकूडल गाँव के श्री वेंकटेश्वर मन्दिरस्थ गर्भगृह की दीवार में है। इसके अनुसार वेंकटेश्वर के नित्योत्सव आदि खर्च की व्यवस्था के साथ एक पाठशाला और विद्यार्थियों के आरोग्य के लिए स्थापित एक आरोग्यशाला के खर्च की भी व्यवस्था की गयी थी। आतुरालय की व्यवस्था का विवरण इस प्रकार है—

इस आतुरालय का नाम श्री वीर चोलेश्वर आतुरालय था, इसमें पन्द्रह रोगियों के रखने की व्यवस्था थी। चिकित्सा के लिए एक कायचिकित्सक, एक शल्य-चिकित्सक, दो पुरुष परिचारक, दो स्त्री परिचारिकाएँ, एक सेवक, एक द्वारपाल, एक धोबी और एक कुम्हार—इतने आदमियों के रखने का उल्लेख है। इनको जो वेतन उस समय मिलता था, वह भी इसमें दिया है; यह अन्न के रूप में मिलता था।

---

१. श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री लिखित 'आयुर्वेद के इतिहास" से उद्धृत

अन्न का नियत भाग पात्र द्वारा मापकर दिया जाता था। उस समय इस आतुरालय का कायचिकित्सक कोदण्डरायाश्वत्थाम था, उसको तीन कुरिणि जितना धान्य मिलता था (कुरिणि और नाड़ी अन्न मापने का द्रविड़ नाम है, इस प्रकार से अन्न के रूप में वेतन देने का रिवाज पुराना है)। शल्यक्रिया करनेवाले को एक कुरिणि धान्य मिलता था। परिचारक जो कि चिकित्सा के लिए आवश्यक औषधियाँ लाता था, औषधि पकाने के लिए जो लकड़ी लाता था तथा औषधियों को तैयार करने के लिए जो परिचारक थे; इनमें प्रत्येक को एक कुरिणि धान्य दिया जाता था। रोगी की सेवा तथा अन्य काम करने के लिए रखे गये तीसरे सेवक को एक नाड़ी जितना धान्य मिलता था। रोगियों को समय पर यथायोग्य दवा तथा पथ्य देने के लिए (संभवतः रसोई का काम भी इसको ही करना होता होगा) तथा परिचर्या के लिए दो स्त्री सेविका थी; इनको चार नाड़ी जितना धान्य दिया जाता था। रोगियों के वस्त्र धोने के लिए एक धोबी, आतुरालय में जरूरत के अनुसार मिट्टी के पात्र देने के लिए एक कुम्हार था; इनको चार नाड़ी धान्य मिलता था। रोगियों की शय्या के लिए सात कट (चटाई या बिछौना अथवा चारपाई ?) और रात्रि में दिया जलाने के लिए ४५ नाड़ी जितना तेल प्रति वर्ष दिया जाता था। आतुरालय के लिए प्रति दिन काम में आनेवाली औषधियाँ तैयार करने तथा ये कितनी मात्रा में तैयार हों; इस सम्बन्ध की सूचना भी ऊपर के लेख में दी गयी है।

इसके अनन्तर सन् १२६२ का एक दूसरा लेख आन्ध्र प्रदेश के мालकापुर के शिलास्तम्भ से प्राप्त हुआ है। इसमें काकतीय रानी रुद्राम्मा तथा इसके पिता गणपति के गुरु विश्वेश्वर की प्रवृत्तियों का उल्लेख है। यह विश्वेश्वर गौड़ देश के दक्षिण राढ़ देश—बंगाल या उड़ीसा का रहनेवाला शैव आचार्य था। इसको काकतीय गणपति और रुद्राम्मा (सन् १२६१ से १२९६) ने कृष्णा नदी के दक्षिण तीरस्थ में आये कई गाँव दान दिये थे। विश्वेश्वर ने इनमें से दो गाँवों की आमदनी के तीन भाग करके एक भाग प्रसूतिशाला के खर्च के लिए नियत कर दिया था, एक भाग आरोग्यशाला के लिए और एक सत्रशाला के लिए रख दिया था। प्रसूतिशाला और आरोग्यशाला का निर्माण विश्वेश्वर ने स्वतः किया होगा या इसके पूर्व किसी आचार्य ने किया होगा; परन्तु स्थानिक शैव मन्दिर के साथ इनको सम्बन्धित कर दिया गया था।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अंग्रेजों के आने पर जिस प्रकार की आरोग्यशाला या अस्पताल इस देश में बने हैं,उसी प्रकार से रोगियों को एक स्थान पर रखकर चिकित्सा

करने की प्रथा बहुत पहले से इस देश मे प्रचलित थी। मन्दिरो के साथ धर्मशाला, आतुरालय, आरोग्यशाला होना सम्भव है। मन्दिर या मठ जहाँ विद्या दान के केन्द्र होते थे, वहाँ पर उनके साथ आरोग्य दान का भी प्रबन्ध होना सम्भव है। धर्मशास्त्र में महावैद्य युक्त आरोग्यशाला बनाने का बहुत पुण्य कहा गया है। धर्मशाला, पाठशाला इस देश में जितनी व्यापक थी, उतनी आतुरशालाएँ व्यापक नही थी; इसका कारण सम्भवत इनका अधिक खर्चीला या अधिक व्ययसाध्य होना रहा होगा, अथवा पीछे योग्य चिकित्सको का अभाव हो गया होगा।

सैनिक चिकित्सा

कौटिल्य अर्थशास्त्र में सेना के साथ चिकित्सक रखने का उल्लेख है, ये चिकित्सक मनुष्य, अश्व, हाथी आदि के लिए रखे जाते थे, यथा—(१०।३।६२) चिकित्सा करनेवाले शस्त्र-यंत्र-विषनाशक अगद, स्नेह, वस्त्र हाथ में लिये तथा खान-पान की रक्षा करनेवाली और पुरुषो को प्रसन्न रखनेवाली स्त्रियाँ सेना के पीछे रखनी चाहिए। महाभारत में भी उल्लेख है कि भीष्म के शरशय्या पर गिरने पर शल्य निकालने में कुशल चिकित्सक अपने सामान के साथ पहुँचे थे।

सुश्रुत में लिखा है कि शत्रु लोग युद्ध के समय अन्न, पान, मार्ग, घास, वायु, जल आदि वस्तुओ को दूषित कर देते थे। इन दूषित वस्तुओ को इनके लक्षणो से पहचानकर उपचार करना चाहिए। विष से दूषित जल पिच्छिल, झागदार, रेखाओ से युक्त होता है, इसमे मछली, मेढक मर जाते हैं, पक्षी, किनारे पर रहनेवाले जन्तु पागल हो जाते है, हाथी, घोडे आदि जो भी पशु इसमे स्नान करते हैं, उनको ज्वर, दाह, शोथ होता है। इसके लिए जल को शुद्ध करे।

जल शुद्ध करने के लिए धावडी, अश्वकर्ण, असन, पारिभद्र आदि की छाल जलाकर पानी में डाल देनी चाहिए। पीने के पानी मे भी इस राख को डालना चाहिए।

विष से दूषित भूमि, शिलापृष्ठ, नदी के घाट, मैदान के ऊपर जब पशु या मनुष्य का स्पर्श होता है तब उनको जलन होती है, अग सूज जाता है,नख टूटते है, बाल गिरते है। इसके लिए भूमि पर एलादि गुण की औषधियो को सुरा या दूध मे पीसकर काली मिट्टी या वल्मीकमृत्तिका मिलाकर छिडकाव करे। धूम या वायु के विष से दूषित होने पर पक्षी थककर भूमि पर गिर जाते हैं, मनुष्यो को कास, प्रतिश्याय, शिरोवेदना तथा नेत्ररोग होते हैं। इसके लिए अग्नि में लाख, हल्दी, अतीस, मोथा, खस, कूट, प्रियगु आदि सुगन्धित वस्तु जलानी चाहिए। घास-भूसा या अन्न विष से दूषित होने पर

जो इनको खाते हैं, उनको वमन, अतिसार, मूर्च्छा या मृत्यु होती है। उनकी चिकित्सा विषनाशक अगदो से करनी चाहिए।

इसी लिए वैद्य को सेना के साथ रखने की सूचना है (सु. सू. अ. ३४।३)। वैद्य का निवास छावनी में राजा के निवास की बगल में ही होता था। उसके निवास पर विशेष चिन्हित ध्वजा रहती थी, जो दूर से दिखाई देती थी। ध्वजा की पहचान से विष, शल्य और रोग से पीडित व्यक्ति सीधे वहाँ पहुँच सकते थे। इसमें रहनेवाला वैद्य अपने विषय मे पूर्ण ज्ञाता होता था तथा अन्य विषयो की भी जानकारी रखता था। इस प्रकार का वैद्य राजा तथा वैद्यविद्या के जाननेवालो से पूजित होता था, उसका यश ध्वजा की भाँति चमकता था (सु. सू अ. ३४।१२–१४)।[1]

कौटिल्य-अर्थशास्त्र में राजा के पास विषवैद्य-गारुड़ी रखने का भी उल्लेख है (१।२१।२४)। वैद्य औषधशाला से स्वयं परीक्षा की हुई औषधि लेकर, राजा के मामने उसमे से थोडी सी औषधि पकानेवाले तथा पीसनेवाले पुरुष को खिलाकर एव यथावसर स्वयं भी खाकर फिर राजा को दे। इसी तरह औषधि के समान मद्य तथा जल के विषय में भी समझना चाहिए (अर्थ० १।२१।२५–२६)।

---

१. भिषजः प्राणबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्वः साहसदण्डः।
कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यमः। मर्मवधवैगुण्यकरणे दण्डपारुष्यं विद्यात्॥

यदि कोई वैद्य राजा को बिना सूचना दिये ऐसे रोगी की चिकित्सा करे जिसमें भय हो और चिकित्सा करते हुए रोगी मर भी जाय तो वैद्य को प्रथम साहसदण्ड दिया जाय। चिकित्सा के ही दोष से मृत्यु हो तो मध्यम साहसदण्ड दे। शरीर के किसी अंग का गलत आपरेशन करने से रोगी का अंग नष्ट हो या अन्य हानि हो तो उसे दण्डपारुष्य में कहा उचित दण्ड दे। (कौ० अ० ४।१।८३)

सत्रहवाँ अध्याय

अन्य देशों की चिकित्सा के साथ आयुर्वेद का संबंध

किसी देश से दूसरे देश का सम्बन्ध जानने में भाषा का महत्त्व बहुत अधिक है। इसकी विशेषता तब से अधिक बढ़ गयी, जब से भाषाविज्ञान का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ हुआ। भाषाविज्ञान से बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ गयी हैं। इसी से हमको आज पता चलता है कि यूरोप में बोली जानेवाली भाषा का सम्बन्ध पूर्वी ईरानी तथा संस्कृत भाषा से था, दोनों भाषाएँ एक ही परिवार की हैं, इनके बोलनेवाले व्यक्ति पहले एक ही भाषा बोलते थे।

इस भाषा को बोलनेवालोंका आदिम स्थान कैस्पियन सागर के उत्तर में माना जाता है, यहाँ के निवासी आर्य थे। इनकी दो शाखाएँ बनी, एक शाखा पूर्व की ओर बढ़ी और दूसरी पश्चिम की ओर। पूर्व की ओर बढ़नेवाली शाखा ईरान होती हुई भारत में पहुँची और पश्चिम की ओर जानेवाली शाखा तुर्की, रूस होती हुई जर्मनी के आगे तक बढ़ी।

इनमें ईरान और भारत पहुँचनेवाली शाखा की भाषा अवेस्ता और वेदो की भाषा है, पश्चिम में बढ़नेवालों की भाषा लैटिन और जर्मन है। संस्कृत भाषा लैटिन या जर्मन भाषा में किस प्रकार बदली, इसे भाषाविज्ञान ने ढूँढ़ निकाला है। इस सम्बन्ध में ग्रासमन आदि ने कुछ सिद्धान्त बनाये हैं जिनसे स्पष्ट है कि इनका आदिस्रोत संस्कृत ही है। (यथा संस्कृत—पितर्, ग्रीक-पत्तर, लैटिन-पत्तर, अंग्रेजी—फादर। दन्त का टूथ, दुहिता का डॉटर, विधवा का विडो, माता का मदर, गौ से काौ, द्वि से टू, तनु से थिन।)

अवेस्ता की भाषा भी संस्कृत से बहुत मिलती है—जैसा कि गत प्रथम भाग मे लिखा जा चुका है।

इससे स्पष्ट है कि एक ही जाति की ये दो शाखाएँ हैं। इस जाति की भाषा पहले एक थी, जो सम्भवतः संस्कृत थी। पीछे से वर्ण परिवर्तन होने पर धीरे-धीरे पूर्व और पश्चिम की दो शाखाएँ बन गयी। इनमें पूर्व की शाखा में वेद का ज्ञान उत्पन्न

हुआ, यह ज्ञान कुछ अशो मे अवेस्ता के वचनो के साथ भी मिलता है। पीछे क्रमश. वैदिक ज्ञान बढता गया, जिसमे ऋग्वेद का ज्ञान सबसे पहले हुआ और अथर्ववेद का ज्ञान सबसे पीछे।

अथर्ववेद मे मत्र और औषध रूप मे दो प्रकार की चिकित्सा मिलती है। यह चिकित्सा जिस प्रकार से पूर्वी शाखा मे मिलती हैं, उसी प्रकार पश्चिम शाखा मे भी मिलती है। वहाँ भी मन्दिर के पुजारी रोगो या कष्टो को दूर करने के लिए मत्र प्रयोग करते थे, उनके देवालय चिकित्सास्थान थे। कैल्टिक जाति मे वैद्यक और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इनके धर्मगुरु ड्रुइड् चिकित्सक भी थे। इनकी चिकित्सा-पद्धति अथर्ववेद-विहित मत्र और औषध सम्बन्धी थी (काश्यप उपो. पृ १४९)।

अथर्ववेद मे रोगोत्पत्ति के कारण यातुधान कहे हैं (अथर्व १।७—१—७)। इसके सिवाय कृमि, देवग्रह विशेष, गुह स्कन्द आदि भी रोग के कारण बताये हैं (अथर्व २।३१।१—५)। इनको दूर करने के लिए मत्र-उपचार और औषध-उपचार दोनो का भैषज्य रूप मे अथर्ववेद के अन्दर उल्लेख है। धीरे-धीरे मत्रोपचार कम होता गया और औषध-उपचार बढता गया। आज भी हमको कुछ ग्रन्थो मे मत्र-चिकित्सा मिलती है (चरक शा अ ८।३९, क. अ १।१४)। सर्पविष-चिकित्सा मे मत्र-प्रयोग होता था (क अ ५।९)।

असीरिया-बेबीलोनिया देश मे भी प्राचीन काल मे भारतीयो के समान अपवित्र पुरुष के साथ बोलने, सहवास करने अथवा उच्छिष्ट भोजन करने से रोगोत्पत्ति मानी जाती थी। रोगो को भूत-प्रेत-पिशाच आदि से भी उत्पन्न मानते थे, इनकी भयानक कल्पना थी। रोगनिवृत्ति के लिए जल आदि विशेष औषध का पान, विशेष ओषधि का धारण, रोगी को पाउडर आदि से ढाँपना, वृक्ष आदि के पत्तो से रोगी को झाडना, रोगकारक दुष्ट देवता के लिए बकरे, सूअर आदि की बलि देना, तान्त्रिक पद्धति के समान शत्रु के केश, नख, पैर की धूलि आदि को अभिमत्रित करके, उसकी प्रतिकृति बनाकर अपमार्जन करना, ऋग्वेद मे मिलनेवाले भार्डूक देवता के समान मर्डूक देवता की उपासना से रोग परिहार आदि बहुत सी बातें, जो आथर्वण, तान्त्रिक आदि प्रयोगों के समान हैं, मिलती है। भोजन से पूर्व प्रात औषध सेवन, विरेचन की महिमा, तैल से विरेचन, लशुन का उपयोग, उदर रोग और मेहरोग मे मूत्रपरीक्षा, कीडो से दाँत के रोग होना आदि बहुत सी बातो की भारतीय मत के साथ उसमें समानता है।

बैबिलोनिया देश की चिकित्सा के विषय में दो विरोधी मत मिलते है, हैरोडोटस नामक विद्वान् का कहना है कि इस देश की चिकित्सा के लिए रोगियो को बाजार या

जनसमुदाय के बीच मे ले जाने से प्रतीत होता है, इस देश मे चिकित्सा की विशेष उन्नति नही थी। इसके विपरीत क्याथम्बल थोम्सन नामक विद्वान् ने ७०० ई० पू० के अर्दन नामक वैद्य का जो चित्र उपस्थित किया है, उससे पता चलता है कि बैबिलोनिया की चिकित्सा पर्याप्त उन्नत थी। हैमूबर्न नामक राजा के समय राजनियम था कि विपरीत चिकित्सा करनेवाले शल्यचिकित्सक दण्ड के भागी होते थे। इसी ने लिखा है कि नेत्रचिकित्सा मे रोगी ७–८ दिन मे स्वस्थ हो जाते है, नासिकाव्रण के उपचार में बाहर होनेवाले रक्तस्राव को बन्द करने के लिए अन्त औषध दी जाती थी।

मिस्र देश के प्राचीन पेपर्याख्य त्वक्पत्र मे १५० रोगो का उल्लेख है, एवर्स नामक त्वकपत्र मे ज्वर, उदर रोग, जलोदर, दन्तशोथ आदि १७० रोगो का उल्लेख मिलता है। इसी देश के बारहवे राजवश के समय लिखी पुस्तक मे किसी स्त्री के रजोविकार एवं अर्वुद आदि रोग तथा आजकल मिलनेवाले नेत्ररोगो के भेद लिखे है। नील नदी के आस-पास के प्रदेश को स्वास्थ्य के लिए उत्तम कहा गया है। असीरिया की तरह इस देश मे भी भूत, पिशाच, प्रेत आदि से रोगो की उत्पत्ति मानी जाती थी। जार्ज फौवर्ट ने लिखा है कि इस देश के चिकित्सा ग्रन्थों मे मत्रों की अधिकता थी तथा धार्मिक पुरोहित ही चिकित्सक होते थे।

कैल्टिक जाति की चिकित्सा का भी धर्म के साथ बहुत सम्बन्ध था, इस जाति का ड्रूईड नामक धर्मगुरु ही चिकित्सक था। अथर्ववेद की भाँति इसमें भी मान्त्रिक और औषध चिकित्सा चलती थी।[1]

प्रश्न इतना है कि यह चिकित्सा भारत से वहाँ गयी अथवा उन देशो में स्वतः विकसित हुई है। आर्यों के विकास के लिए भाषाविज्ञान का मत ऊपर लिखा गया है। जिस प्रकार से मनुष्य मे भाषा का विकास हुआ, क्या उसी प्रकार चिकित्सा का विकास होना स्वाभाविक नही? भाषा के विकास के लिए भाषाशास्त्रियो ने कुछ कल्पनाएँ की है, यद्यपि वे एक निश्चय पर नही पहुँचाती, तथापि इतना स्पष्ट करती है कि भाषा का विकास स्वत हुआ है, इसे किसी ने किसी से नही लिया।

यही बात चिकित्सा के सम्बन्ध में भी है प्रत्येक देश मे चिकित्सा का प्रारम्भ स्वत हुआ है; चूँकि उनकी कुछ अवस्थाएँ समान थी, इसलिए कुछ अवस्थाओ में यह विकास समान रूप में हुआ है। बाद मे परस्पर परिचय, सम्पर्क से इसमे सुधार या आदान-प्रदान भले ही हुआ हो। जैसा कि अत्रिपुत्र ने कहा है—

---

१. काश्यप संहिता, उपो. पृष्ठ १४७-१४९ के आधार पर

"सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावससिद्धलक्षणत्वाद् भावस्वभावनित्यत्वाच्च। न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसंतानो वा, शाश्वच्चायुषो वेदिता, अनादि च सुखदुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्।"

चरक सू. अ. ३०।२७

आयुर्वेद को शाश्वत-नित्य कहा जाता है, अनादि होने से, स्वभाव से सिद्ध लक्षणो के कारण और पदार्थों के स्वभाव के नित्य होने से आयुर्वेद भी नित्य है। आयु की परम्परा या बुद्धि की परम्परा का नाश, उसकी शृंखला का टूटना कभी भी नही हुआ; आयु का ज्ञान सदा बना रहा, सुख (आरोग्य), दुःख (विकार) सदा बने रहे, द्रव्य-रोग के कारण—लक्षण की परम्परा-शृंखला सदा से मिलती है। इसलिए आयुर्वेदज्ञान—चिकित्साज्ञान नित्य है।

इस दृष्टि से जिस प्रकार यह ज्ञान भारत मे विकसित हुआ, उसी प्रकार से अन्य देशो मे भी स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ। इसे भारत से अन्य देशो ने सीखा, यह नही कहा जा सकता। दोनो ज्ञानो मे जो समता मिलती है, वह सामान्य है, क्योंकि भाषा-विज्ञान के अनुसार दोनों भाषापरिवार एक ही स्थान से प्रसरित हुए है। इसी से चीन की चिकित्सा में भी भारत की भॉति ज्वर के भेदो तथा आमाशय के भेदो का उल्लेख है (प० हेमराजजी के अनुसार ज्वर के दस हजार भेद इस चिकित्सा में हैं; आयुर्वेद मे तो ज्वर आठ प्रकार का ही है। इसलिए इसकी समानता मानना उचित नही)। चीन देश की चिकित्सा में आर्द्रक, दाडिममूल, वत्सनाभ, गन्धक, पारद आदि वस्तु, अनेक प्राणियो के मल मूत्र, असख्य वृक्षो के पत्र, पुष्प, मूल आदि का उल्लेख होना इस बात को स्पष्ट करता है कि वहाँ पर चिकित्सा का विकास भारत की भाँति स्वत. हुआ है। दोनों में समानता देखकर इसे भारत से गया हुआ मानने का सिद्धान्त उसी समय तक था, जब तक कि भाषाविज्ञान का परिचय नही था। भाषा की भाँति चिकित्सा भी प्रत्येक देश मे स्वत विकसित हुई।

भाषाविज्ञान के पण्डित ए सी ऊलनर ने कूच भाषा के शब्दों के साथ भारतीय चिकित्साशास्त्र के शब्दों की तुलना की है। इनमें कुछ शब्द तो अविकृत रूप में एक से हैं, और कुछ शब्दो मे उच्चारण भेद से परिवर्तन मिलता है, यथा—

माञ्चष्ट (मजिष्ठा), करञ्चपीच (करजबीज), सारिप (शारिवा), भर्गी (भार्गी), किञ्चेल (किंजल्क), तकरू (तगर), पक रच (भृंगराज), करुणसारि (कालानुसारि), शालवर्णी (शालपर्णी), किरोत (किरात या गिलोय), चिपक (जीवक), पिप्पाल (पिप्पली), अश्वकान्ता (अश्वगन्धा), तेचवती (तेजोवती),

मेत (मेदा), पितरी (विदारी), सूक्ष्मेल (सूक्ष्मैला), प्रियङ्कु (प्रियगु), विरङ्क (विडङ्ग), उपद्रव (उपद्रव), खादिर (खदिर), मोतत्तै (अजमोदा), कोरोशा (गोरोचना), सुमा (सोम)।

ये शब्द कूच जाति मे भारतीयो के सम्पर्क के बाद गये होगे, जिस प्रकार कि भारत मे अजवायन की एक जाति का नाम पारसीक यवानी है, जिसका अर्थ है ईरान की अजवायन। अजवायन का नाम सस्कृत मे यवानी है, जो कि यवन शब्द का ही रूपान्तर है। चिकित्सा के द्रव्यो का एक देश से दूसरे देश मे आदान-प्रदान होता था। किसी देश मे कोई द्रव्य चिकित्सा मे उपयोगी था, किसी देश मे दूसरा द्रव्य बरता जाता था।

कूच या शक जाति का सम्बन्ध भारत के साथ बहुत प्राचीन है। चीन भारत का पडोसी देश है, शको का आक्रमण ईसा पूर्व इधर से ही भारत मे हुआ था। १६५-१६० ई० पूर्व मे घुमक्कड जातियो मे से युहुची जाति की शको के साथ टक्कर हो गयी थी। शक सर दरिया के उत्तर मे बसे हुए थे और इस टक्कर से टूटकर इनको दक्षिण की ओर बिखर जाना पडा। शको ने अपनी शक्ति सग्रह करके ग्रीक सामन्तो के बसाये हुए राज्यो पर (बैक्ट्रिया और पार्थिया पर) आक्रमण किया। इस आक्रमण मे वे काबुल तक पहुँचे। काबुल मे आकर इनको रुकना पडा। बैक्ट्रिया से बल्ख और बल्ख से बाह्लीक राज्य बना, जहाँ के वैद्य का नाम काकायन था। इस वैद्य को चरकसहिता, नावनीतक और काश्यप सहिता मे 'काकायनो बाह्लीक भिषक्' नाम से स्मरण किया है। इसने चरकसहिता म पुनर्वसु आत्रेय के साथ वार्त्ता-कथा मे विचारविनिमय, पक्षस्थापन किया है; इसीके नाम से 'काकायन गुटिका' प्रसिद्ध है। इस प्रकार से दोनो देशो में विचार परिवर्तन तथा औषध परिवर्त्तन होना स्वाभाविक था। परन्तु यह स्थिति बहुत पीछे की है। इससे पूर्व सिकन्दर का आक्रमण भारत पर हो चुका था, सैल्युकस का दूत मेगस्थनीज पाटलिपुत्र मे कई वर्ष रह चुका था, उस समय विदेशियो का सम्पर्क स्थापित हो गया था। इसलिए इन शब्दो का महत्त्व आदि काल के संबध में विशेष नही, जब हम देखते है कि अवेस्ता की भाषा तथा विचार ऋग्वेद से बहुत मिलते है, अवेस्ता मे आये वेषज, भिजिष्क, माथु शब्द भेषज, भिषक्, मत्र शब्दो के ही रूपान्तर है। ये शब्द भारत से वहाँ पहुँचे, इसकी अपेक्षा इनको भाषाविज्ञान के नियम से एक ही भाषाश्रेणी के शब्द मानना उचित है; ईरानी और सस्कृत दोनो भाषाएँ पूर्वी शाखा से सम्बद्ध है। चिकित्साज्ञान का लेन-देन होने से पूर्व भाषा का विनियम आवश्यक है। भाषाविज्ञान के विद्वान् इस विषय मे किसी देश को किसी दूसरे का ऋणी

नही मानते। यह सम्भव है कि कुछ शब्द दूसरी भाषा के उस भाषा मे आ गये है (जैसे हिन्दी मे फ्रासीसी के कनस्तर, मेज, टेबल अरवी के सिफ़ारिश आदि शब्द आ गये है)। इसका यह अभिप्राय नही कि यह भाषा उस भाषा से विकसित हुई है। इसी प्रकार चिकित्साकर्म-विषयक समानता या कुछ औषधियो के नामो की समानता देखने से एक देश को दूसरे देश की चिकित्सा का [illegible] उचित नही, जब तक कि इस विषय मे कोई निश्चित प्रमाण या आधार नही मिलता। जैसा कि ८वी शती के अरब के खलीफा के समय भारतीय चिकित्सको के अरब जाने से पता लगता है।

ग्रीक तथा भारत की चिकित्सा मे समानता—यूनानी और भारतीय चिकित्सा मे जो अत्यधिक समानता है, वह भी इसी बात को बताती है कि दोनो देशो मे चिकित्सा का विकास भाषा के समान स्वत हुआ है। दोनो देशो मे त्रिदोषसिद्धान्त—वात, पित्त, कफ से रोगोत्पत्ति मानी गयी है। वात, पित्त, कफ का नाम वेद मे भी है।[1] ग्रीक ग्रन्थकार डी ओस्कोर्डीस और उससे पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो के औषधशास्त्र मे भारतीय तत्त्व ढूँढे जा सकते है, उदाहरण के लिए—पिप्पली, पिप्पलामूल, कुष्ठ, इलायची, तज (त्वक्), सोठ, वच, गुग्गुल, मोथा, तिल आदि भारतीय औषधियाँ ग्रीक देश के चिकित्साशास्त्र मे बरती जाती थी।

ग्रीक और प्राचीन आयुर्वेद के बीच मे बहुत समानता है। परन्तु इस समानता का आधार क्या है, यह निश्चय करना कठिन है। इन दोनो देशो की चिकित्सा मे जो समानता है, उसे डाक्टर जौली ने अपनी पुस्तक "इण्डियन मेडिसिन" मे दिखाया है। हिपोक्रेट की प्रतिज्ञा, जो कि आज भी मेडिकल कालेजो मे चिकित्सको को दी जाती है, चरक सहिता के शिष्य-अनुशासन से बहुत अधिक मिलती है।[2] दोनो चिकित्साओ मे दोषवाद, दोषो की विषमता से रोगोत्पत्ति; ज्वर की आम, पच्यमान और पक्व ऐसी तीन अवस्थाएँ, शोथ की तीन अवस्थाएँ, उपचार क्रम मे शीत, उष्ण तथा रुक्ष और स्निग्ध, पिच्छिल आदि विभाग, रोगो के लिए इनसे विपरीत गुणवाले उपचारो को बरतना, साध्यासाध्य ज्ञान का महत्त्व, चिकित्सक के लक्षण, गुरु के पास शिष्य की प्रतिज्ञा, चिकित्सक के आचार का आदर्श, मद्य का सेवन धर्म मे निषिद्ध

---

१. वात, पित्त, कफ के लिए वैदिक मन्त्र—अथर्व. १०।२।१३, अथर्व १८।३।५, अथर्व १।२४।१; अथर्व ४।९।८; अथर्व ५।२२।११-१२; अथर्व. ६।१२७।१देखिए।

२. देखिए लेखक की क्लिनिकल मेडिसिन का प्रथम भाग ८।१८।२४

होने पर भी चिकित्सा मे उसका व्यवहार, चातुर्थक, तृतीयक, अन्येद्युष्क आदि ज्वरो के भेद, क्षय रोग का वर्णन, हृदय के रोगो का वर्णन न होना (आयुर्वेद मे पाँच हृदय-रोग कहे है, इनका उल्लेख चरक सू अ १७।२७–२९ मे है), मिट्टी खाने से पाण्डु-रोग का होना; गर्भावक्रान्ति का वर्णन, गर्भ मे बच्चे के अगो का एक साथ बनना, बीज के विभाग से जुडवाँ सन्तान का पैदा होना, गर्भवती स्त्री के दक्षिण पार्श्व में उत्पन्न लक्षण पुरुषसन्तान तथा वाम पार्श्व के लक्षण कन्या के सूचक मानना, आठवें मास मे उत्पन्न गर्भ का जीवित न रहना, मृत गर्भ को बाहर निकालने की विधि, अश्मरी मे शस्त्र कर्म, अर्श चिकित्सा, शिरावेध, जलौका लगाने की विधि (जलौका वर्णन मे यवन क्षेत्र का उल्लेख "तासा यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि"—सु सू अ १३।१३, इसमे पाण्ड्य और सह्य दक्षिणी देश है, यवन देश से कुछ लोग ग्रीक लेते है। सुश्रुत मे यवन शब्द म्लेच्छ देश के लिए आया होगा), दाह क्रिया, यन्त्र-शस्त्रों का रूप-आकार, आँख के ऊपर शस्त्रकर्म करते समय दक्षिण आँख के लिए वाम हाथ, वाम आख के लिए दक्षिण हाथ का उपयोग आदि बहुत सी समानता दिखाई पडती है।

आयुर्वेद मे त्रिदोपवाद का विकास साख्यशास्त्र के त्रिगुणवाद से हुआ है। वेद से इस विकास का सम्बन्ध जोडना उचित नही लगता। यदि वेद से इस सिद्धान्त का विकास भारत मे माना जाय तो ग्रीस मे इसे स्वतत्र रूप मे विकसित समझना चाहिए। ज्योतिप विद्या मे जैसे यवनो-म्लेच्छो का ऋण स्वीकार किया गया है, ऐसा ऋण वाग्भट के सिवाय (जैसा कि सग्रह मे पलाण्डु वर्णन में 'शको के प्रिय' उल्लेख से स्पष्ट है) आयुर्वेद ग्रन्थो ने नही माना।[1] 'भारत मे जैसे यह सिद्धान्त स्वतन्त्र विकसित हुआ उसी प्रकार ग्रीस मे भी होना सम्भव है।

इतिहास यह भी वताता है कि टीमायारन (४०० ई० पू०) और मेगस्थनीज (३०० ई० पू०) भारत मे आये थे। मेगस्थनीज भारत मे पर्याप्त समय तक रहा था, वह सैल्यूकस का राजदूत था और चन्द्रगुप्त के दरवार मे रहता था। मेगस्थनीज से पूर्व सिकन्दर का आक्रमण भारत मे हो चुका था। आक्रमण के समय होनेवाली चोटो और व्रणो की चिकित्सा भी उस समय ग्रीक मे किसी रूप मे होना स्वाभाविक है। विशेष कर जब हम देखते है कि साँप के काटे हुए व्यक्तियो की चिकित्सा में उन्होने

---

१. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिद स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते कि पुनर्दैववद् द्विजः॥ बृ. सं. २।१४

भारतीयो से मदद ली थी, साथ ही अपने चिकित्सको को उसने उनसे विद्या सीखने के लिए कहा था (काश्यप उपो. पृष्ठ १८७ की टिप्पणी)।

इससे इतना स्पष्ट है कि भारतीय चिकित्सा उस समय कुछ अशो मे ग्रीक की चिकित्सा से श्रेष्ठ थी, जिस प्रकार कि यहाँ लोहा बनाने की प्रक्रिया विशेष स्थान रखती थी। यह विकास परस्पर सम्पर्क का कारण है, जब दो जातियाँ, दो मनुष्य मिलते है, तब उनमे भाषा, विद्या, विचारो का परस्पर आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। इसमे कुछ बाते एक दूसरे से परस्पर सीखते है; इसका यह अभिप्राय कभी नही होता कि सम्पूर्ण विद्या का विकास-मूल उस देश से वहाँ पहुँचा। यह तो लेन-देन, परस्पर विनिमय ही है।

हिपोक्रिट्स—पाश्चात्य ग्रीक वैद्यक मे प्रधान आचार्य के रूप मे हिपोक्रिट्स का नाम मिलता है। उसका जन्म कास नामक स्थान मे ४६० या ४५० ई० पू० मे हुआ था। इसने अपने पिता तथा हिरोडिकस से विद्या पढी थी। विद्याध्ययन के लिए यह दूर देशो मे गया था। इसकी आयु के सम्बन्ध मे मतभेद है, कुछ लोग ८५ वर्ष और कुछ एक सौ वर्ष की आयु मानते है। प्लेटो नामक विद्वान् (४२८–३४८ ई० पू०) ने हिपोक्रिट्स की भैषज्यविद्या का उल्लेख, उसके अध्यापन के सम्बन्ध मे अपने प्रोटागोरस ग्रन्थ तथा दर्शन विषयक ग्रन्थ फेड्रस मे दो बार किया है। टिमियस नामक इन्द्रिय-विज्ञान विषयक ग्रन्थ मे उसने इसका नाम नही लिखा।[1]

हिपोक्रिट्स के नाम पर कई ग्रन्थ मिलते है, विद्वानो का उनके विषय मे एक मत नही है, वे इन सबको हिपोक्रिट्स के लिखे नही मानते, क्योकि इनमे से बहुतो में परस्पर विरोधी बाते बहुत है। ये ग्रन्थ छोटे तथा एक एक विषय का वर्णन करनेवाले है। ग्यालन ने (१३०–२०० ईसवी) हिपोक्रिट्स के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थो का विवरण दिया है, उसको भी जो ग्रन्थ मिले वे भी हिपोक्रिट्स नाम के रूपान्तर ग्रन्थ ही थे। उपलब्ध ग्रन्थो मे बहुत से एशियामाइनर मे मिले है और एक या दो ग्रन्थ सिसली में मिले है, ग्रीस मे कोई ग्रन्थ नही मिला।

ऐसा ज्ञात होता है कि हिपोक्रिट्स के सम्प्रदाय का प्रचार अपनी जन्मभूमि में विशेष नही हुआ, जो कि स्वाभाविक है। क्योकि विद्वान् को आदर प्राय अपने देश स दूर ही मिलता है; इसी से वहाँ के लोग भैषज्य विद्या सीखने के लिए मिस्र गये। हिपोक्रिट्स के पीछे ३८२–३६४ ई० पू० मे यूडाक्सस नामक विद्वान् द्वारा मिस्र में

---

१. काश्यप संहिता, उपोद्घात—पृष्ठ १६१ के आधार से

जाकर १५ मास तक हेलियोपोलिस् नामक स्थान के एक भिषक् पुरोहित से भैषज्य विद्या के अध्ययन का वर्णन इतिहास मे मिलता है।

हिपोक्रिट्स को कुछ कारणो से अपना जन्मस्थान स्नीड्स या मतान्तर में कास स्थान छोडना पडा था। इसके तीन कारण समझे जाते है; १ उसे स्वप्न मे इलहाम हुआ कि उसे बाहर जाना चाहिए, २. ज्ञानवृद्धि की उसकी प्रबल चाह उसे अपने देश से बाहर ले गयी, ३. उस पर यह इलजाम लगा कि उसने निडिया के पुस्तकालय को इसलिए जलाया कि कोई दूसरा इसका उपयोग करके विद्वान् न बन सके। उसे अपने स्थान मे रहकर अपने प्रचार की सुविधा नही थी, जो कि स्वाभाविक है।

ग्रीक तथा भारत की चिकित्सा में समानता

दोनो चिकित्साओ मे त्रिदोषवाद की समानता है, इसको देखकर कुछ विद्वान् वहाँ से भारत मे इसका आना मानते है, जो कि पूर्णत हास्यमय है। भारतीय वात-पित्त-कफ का रूप चन्द्रमा, सूर्य और वायु के विसर्ग, आदान और विक्षेप का रूपान्तर है।[1] इन तीनो का आधार साख्य का त्रिगुणवाद है, जो कि भारत की अपनी उपज है। पाश्चात्य विद्वान् भी त्रिधातुवाद को ग्रीस की उपज न मानकर मिस्र देश के मेलू सम्प्रदाय की वस्तु मानते है।

पाचभौतिक और चातुर्भौतिक वाद दोनो का उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र मे मिलता है।[2] ग्रीस मे भी ये दोनो वाद मिलते है। हिपोक्रिट्स ने चातुर्भौतिक वाद को एक-पक्षीय मानकर उसका खण्डन किया है। सबसे प्रथम एम्पिडोक्लिस ने चातुर्भौतिकवाद को जन्म दिया था (४९५-४३५ ई० पू०)। एम्पिडोक्लिस का ईरान, भारत आदि

---

१. विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देह कफपित्तानिलास्तथा॥ सु. सू. अ. २१।८

२. अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्। सु. सू. अ. १।२२

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पंचभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ चरक. शा. अ. १

चातुर्भौतिकवाद—भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
चरक. शा. अ. २।३१

चत्वारि तत्रात्मनि सश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु॥
चरक. शा. अ. २।३३

समीप के देशो मे आना, वहाँ दार्शनिक विषयो का ज्ञान प्राप्त करना, ग्रीस में दार्शनिक विषयो का प्रचार करना सिद्ध होता है। हिपोक्रिट्स ने इस वाद का खण्डन किया है, उसके मस्तिष्क मे उस समय पाचभौतिक वाद ही था। भारत का पाचभौतिक वाद भी साख्यदर्शन पर आश्रित है। आकाश को छोडकर शेष चार भूतो के द्वारा शरीर निर्माण की कल्पना भी भारतीय ही है। आकाश तत्त्व शेष चारो भूतो में व्याप्त रहता है, बहुत सूक्ष्म है, इसलिए उसको छोड भी दिया है।

आयुर्वेद मे दन्तरोगो को पैत्तिक भी माना है (सु भि अ. १६।३४)। हिपोक्रिट्स ने दन्तशोथ और दन्तवेष्टन रोग को पित्त का दोष माना है।[1] हिपोक्रिट्स की मैटेरिया मेडिका (निघण्टु) मे जतनमासी (जटामासी), जिञ्जीबेर (शृगवेर), पिपर निगुम (मरिच व पिप्पली), पेपरी (पिप्पली), पेपेरिस रिजा (पिप्पली मूल), कोस्तस (कुष्ठ), कर्दमोमोस (कर्दम), सकरून (शर्करा) आदि शब्द भारतीय नामो के स्पष्ट द्योतक है।

हिपोक्रास नामक योगौषधि (दीपक और हृद्य पेय—जिसमें दालचीनी, अदरक आदि मसाले और शर्करा एव शराब है) में भारतीय औषधियो का मिश्रण रहता है। इसमे मद्य को यदि छोड दे तो यह ग्रीष्म ऋतु मे उत्तर प्रदेश में दिया जानेवाला आम का पानक-पन्ना अथवा पजाब का गुडम्बा प्रतीत होता है। थियोफ्रेस्टस विद्वान् (३५०ई०पू०) ने फाईकस इण्डिका नामक औषधि मे इण्डिका शब्द जोडा है, जिससे स्पष्ट है कि यह औषधि भारतीय है। भारत से बहुत-सी औषधियाँ ग्रीस मे जाती थीं।

एम्पीडोक्लिस के ईरान जाने तथा भारत के पास तक पहुँचने का उल्लेख मिलता है, भारत में आने का उसका कोई भी प्रमाण नही। इसी प्रकार हिपोक्रिट्स के भारत में पहुँचने का कोई सबूत नही, यद्यपि गोडल के राजा भगवत्सिंहजी ने अपने इतिहास के पृष्ठ १९० मे कुछ विद्वानो की सम्मति में हिपोक्रिट्स के भारत पहुँचने का उल्लेख किया है।

प्रथम डेरियस नामक राजा के समय (५२१ ई०पू०) डेमोकिट्स नामक यूनानी चिकित्सक का ईरान देश मे आने का उल्लेख मिलता है। उसका समय हिपोक्रिट्स

---

१. आयुर्वेद में पित्तजन्य दन्तरोगों का उल्लेख पृथक् रूप से अन्य रोगों की भाँति मुझे नहीं मिला; उपकुश रोग में जरूर पित्तदोष का उल्लेख है,—"यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः॥ सु. नि. अ. १६।२३। राजगुरुजी ने किस आधार पर लिखा यह स्पष्ट नहीं।

से पहले होने के कारण उसकी चिकित्सा पर इसका प्रभाव नही माना जा सकता। हिपोक्रिट्स के बाद टेरियस नामक व्यक्ति अर्दक्षीर मेनून राजा (४०४-३५९ ई० पू०) के पास ईरान मे आया था। चतुर्थ शताब्दी (ईसा पूर्व) के उत्तरार्द्ध मे मेगस्थनीज भारत आया था। मेगस्थनीज़ काफी समय तक भारत में रहा था। उसने भारतीय चिकित्सा की प्रशंसा तथा इसके द्वारा विदेशियो की चिकित्सा का उल्लेख किया है। इसने अपनी पुस्तक इण्डिका में भारत के सम्बन्ध मे जहाँ यहाँ के जलवायु, पशु-पक्षी, रीति, रहन-सहन आदि का उल्लेख किया है, वहाँ भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में यहाँ की वनस्पतियो का, शिरोरोग, दन्तरोग, नेत्ररोग, मुखव्रण, अस्थिव्रण का भी निर्देश किया है।

हिपोक्रिट्स से पूर्व ग्रीस मे तीन चिकित्सा-सम्प्रदाय थे। इनमें पाइथागोरस के समकालीन डेमोकेडिस आदि विद्वान् वैद्य थे। ये सम्प्रदाय हिपोक्रिट्स से एक सौ वर्ष पूर्व थे। सूसा नगर के कारागार मे दासो के साथ बन्दी हुए डेमोकेडिस द्वारा घोड़े से गिरने के कारण टूटी हुई ईरान के राजा की टाँग को बिना शस्त्र-उपचार के यथास्थान जोड देने का उदाहरण मिलता है। सम्भवत यह सन्धिभ्रश हुआ होगा, जिसे आज भी सामान्य जन देहातो मे ठीक करते हैं, अथवा टूटी हुई अस्थि को भी बिना शस्त्रकर्म के बहुत से जोड देते है।[1]

मिस्र मे भारतीय सभ्यता से मिलनेवाले बहुत चिह्न पाये गये है। मिस्र की सभ्यता भारतीय सभ्यता के समान प्राचीन समझी जाती है। इसलिए उस देश के ज्ञान की छाप ग्रीस पर पडना स्वाभाविक है। ग्रीस मे चिकित्साविज्ञान मिस्र से गया है।

प्राचीन मूल आर्य शाखा की पश्चिम शाखा का प्रसार मिस्र की ओर और पूर्वी शाखा का ईरान की ओर हुआ था। यही पश्चिम शाखा मिस्र से ग्रीस मे फैली। ग्रीस के प्राचीन महाकवि होमर ने अपने ओडिसी नामक ग्रन्थ मे देव-बल से ही रोगो की उत्पत्ति तथा देवता की प्रसन्नता—जप, यज्ञ, मत्र आदि से रोगो की निवृत्ति लिखी है। इसके ईलियड् नामक ग्रन्थ मे शस्त्र चिकित्सा की थोडी सी झलक मिलती है। श्रेमर के मतानुसार वह भी वहाँ बेबीलोनिया के प्रभाव मे आयी प्रतीत होती है। इसके दोनो ग्रन्थो मे रोगनिवृत्ति के लिए कही भी औषधियो के अन्त प्रयोग का उल्लेख नही, रोगनिवृत्ति देवता के प्रसाद या मत्र से ही लिखी है।

---

१. इससे चिकित्सा की उन्नति या अवनति का निश्चय नहीं किया जा सकता; ये बातें सब देशों में सामान्य बुद्धि से बरती जाती हैं।

दोरोथिया चैपलिन ने अपनी पुस्तक "सम एस्पैक्ट्स एड हिन्दू मेडिकल ट्रीटमेन्ट" (पृ० ७-८) में लिखा है कि "हमें अपनी चिकित्सापद्धति अरब के द्वारा हिन्दुओं से मिली है। आयुर्वेद के ग्रन्थो में ऐसे कोई नाम नही मिलते जो विदेशी भाषा से लिये प्रतीत हो। १७वी सदी तक यूरोपीय चिकित्सा भारतीय चिकित्सापद्धति के ऊपर आधारित थी। भारतीय आयुर्वेदिक और यूरोपीय शरीर रचना विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है।"

तुलना कीजिए—शिरोब्रह्म के लिए सैरीब्रम, शिरोविलोम के लिए सैरीबेलम; हृत् या हृद् के लिए हार्ट, महाफल के लिए मैग्नावेला, महा के लिए मैग्ना। इसमें भारतीय शब्दो की छाया लैटिन के शब्दो पर है, परन्तु लैटिन के शब्दो की छाया भारत के चिकित्सा सम्बन्धी शब्दो पर नही मिलती।

पाइथागोरस नामक विद्वान् ५८२-४७० ई० पू० ग्रीस में हुआ था। पोकाक तथा स्रोडर आदि विद्वानो ने पाइथागोरस का भारत में आगमन तथा भारत से आध्यात्मिक एव दार्शनिक विषयो का ग्रहण करना तथा ग्रीस में उनके प्रचार करने का उल्लेख किया है। पाइथागोरस के दर्शन और भारतीय दर्शन मे बहुत कुछ समानता है। पाइथागोरस के सम्प्रदाय मे रोग निवृत्ति के लिए औषधियो के प्रयोग की अपेक्षा पथ्य तथा आहार विहार के नियमो पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यदि औषधियो का प्रयोग किया भी जाता था तो अन्त.प्रयोग की अपेक्षा यथाशक्ति लेप आदि बाह्य उपचारो को महत्त्व दिया जाता था। पाइथागोरस के कुछ खास शिष्यो ने, जो कि सख्या में तीन सौ के लगभग थे, एक प्रकार की प्रतिज्ञा से अपने को पाइथागोरस के साथ परस्पर दृढ़ सम्बन्ध से बाँध लिया था। इस सम्बन्ध के रूप में उन्होने विशिष्ट आहार, कर्मकाण्ड और व्रत लिये थे। पाइथागोरस के समय मिस्र में चिकित्सा की इतनी उन्नति थी कि वह एक जिज्ञासु यात्री का ध्यान खीच सके। उसके सिद्धान्तो का श्रेणीकरण और विभाजन हो चुका था। चिकित्सा व्यवसाय के नियम निर्धारित हो गये थे। औषध विज्ञान और शल्य चिकित्सा में जब पाइथागोरस के शिष्य मिला का दामाद डेमोक्रेड्स प्रसिद्ध हो रहा था, तब पाइथागोरस क्रोटन में विद्यमान था। डेमोक्रेड्स को पाइथागोरस ने अपने शिष्य रूप में स्वीकार किया था। पाइथागोरस भैषज्य विज्ञान का आदर करनेवाला, ज्ञाता तथा प्रवर्त्तक प्रतीत होता है।

सिकन्दर के द्वारा भारतीय ज्ञान का प्रसार—सिकन्दर का आक्रमण भारत पर ३३० ई० पू० हुआ और वह भारत से ३२६ ई० पू० में वापस लौटा। इन चार सालो के समय मे उसे यहाँ की सभ्यता, विज्ञान आदि बातो की अच्छी जानकारी मिल गयी

थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला समृद्ध और विद्या का केन्द्र था, यहाँ पर दूर दूर से भारतीय एव विदेशी विद्याभ्यास के लिए आते थे। एरियन का कहना है कि मूषिक देश के निवासी दीर्घजीवी (१३० वर्ष) होते थे। उनकी इस दीर्घायु का कारण उनका परिमित आहार था, अन्य विद्याओ की अपेक्षा वैद्यक विद्या मे ये अधिक रुचि रखते थे।

सिकन्दर की सेना मे यद्यपि अनेक कुशल चिकित्सक थे, परन्तु वे सर्पविष चिकित्सा करने मे असमर्थ थे। निर्याकिस के अनुसार सर्पविष की चिकित्सा के लिए सिकन्दर ने अपनी सेना मे भारतीय चिकित्सक रखे थे और यह घोषणा कर दी थी कि सर्पविष की चिकित्सा उसकी सेना मे होगी। ये चिकित्सक अन्य रोगो की चिकित्सा भी करते थे।

इसके बाद अशोक ने अपने राज्य तथा भारत के पडोसी यवन राजाओ के राज्य मे मनुष्य और पशुओ की चिकित्साव्यवस्था की थी। इस प्रसग मे अन्तियोक यवनाधिपति, मग तथा अलीकसुन्दर आदि यवन राजाओ का भी नाम आया है। यवन शब्द ग्रीस वालो के लिए प्राचीन साहित्य मे प्रचलित था।

ग्रीस तथा भारत का प्राचीन सम्बन्ध—सिकन्दर के समय से भारतीयो का सम्पर्क ग्रीस देशवासियो के साथ स्थापित हुआ—इसमे कोई विप्रतिपत्ति नही। इससे पहले के विषय मे सन्देह हो सकता है। यह सम्पर्क चिकित्सा के विषय मे भी था—जैसा कि सिकन्दर की सेना मे साँप काटने की चिकित्सा से स्पष्ट है। भारतीय वैद्यो द्वारा काम मे लायी जानेवाली बहुत सी वस्तुओ का नाम हिपोक्रिट्स,डिओसकोराइडास तथा ग्यालन के लेखो और पुस्तको मे मिलने से इस बात की पुष्टि होती है।[1]

---

१ निर्याकस ने लिखा है कि सर्पदंश की चिकित्सा यूनानी नहीं जानते थे। भारतीय वैद्य इसे अच्छी प्रकार जानते थे। एरियन ने लिखा है कि यूनानी लोग अस्वस्थ होने पर ब्राह्मणों से चिकित्सा कराते हैं और वे प्रत्येक साध्य रोग की अद्भुत और दैवीय विधि से चिकित्सा करते हैं।

डायसोइस (प्रथम शती ई० पू०) प्राचीन द्रव्यगुण-विज्ञान का सबसे प्रथम लेखक था। डा० रायल ने अपने निबन्ध में लिखा है कि यह भारतीय द्रव्यगुण-विज्ञान का अत्यधिक ऋणी था। थियोफ्रेस्टस (तीसरी शती ई० पू०) पर भी यह बात लागू होती है। क्लासियस (५वीं शती ई० पू०) के लेखो में भी भारतीय द्रव्यों का विवरण मिलता है। (काश्यप संहिता, उपो० पृष्ठ १९३ की टिप्पणी)

हिपोक्रिट्स ने अन्य देशो की प्रक्रियाओ तथा चिकित्सा सम्बन्धी विषयो का निरीक्षण किया, अपने विचारो व अनुभवो से उसे काट छाँटकर एक नये रूप मे सिलसिलेवार उपस्थित किया। इसलिए वह पाश्चात्य चिकित्सा का पिता कहा जाता है। हिपोक्रिट्स के ग्रन्थो मे जो विषय दिये गये हैं, वे सम्भवत उसके परिष्कृत विचार है, उसकी अपनी सूझ है और शायद भारतीय विचारो की भित्ति पर खडे हो, यह निश्चित नही कहा जा सकता। परन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि दोनो देशो के परस्पर सम्पर्क से विचारविनिमय होने पर भारतीय चिकित्सा का प्रभाव ग्रीस चिकित्सा पर भी पडा था।

हिपोक्रिट्स के ग्रन्थो मे शारीरिक अन्त -ज्ञान बहुत कम मिलता है, उसके लेखो से पता चलता है कि उसे शिरा, धमनी, अस्थि आदि का शरीररचना-सम्बन्धी ज्ञान नही था। जो थोडा बहुत ज्ञान मिलता है, उसका आधार मिस्र का ज्ञान माना जाता है। प्राचीन काल मे शारीरशास्त्र का कोई ग्रन्थ नही था। ग्रीस मे मृत शरीर को चीरकर देखने का निश्चित प्रमाण ईसवी पूर्व तीसरी शती मे मिलता है, जब कि सिकन्दरिया के हिरोपीलोस तथा इरेसीस्ट्रेटोस सम्प्रदाय के लोगो ने इसे किया था। इसके साथ जीवित शरीर को भी चीरकर देखने का पूरा प्रमाण मिलता है। परन्तु हिपोक्रिट्स के समय शवच्छेद होने का प्रमाण नही मिलता। ४०० ईसवी पूर्व टीसियस भारत मे आया था, और पाँचवी-छठी शती ईसवी पूर्व जो शारीरिक ज्ञान धान्वन्तर सम्प्रदाय के वैद्यो के पास होने का प्रमाण वैदिक (शतपथ ब्राह्मण) तथा अन्य साहित्य मे मिलता है, और जिसकी पुष्टि चरक-सुश्रुत से होती है, उसे देखते हुए हार्नले की सम्मति से ग्रीस को भारतीय चिकित्साशास्त्र का ऋणी मानने मे कोई सन्देह नही रह जाता। साथ ही यह भी नही कह सकते कि हिपोक्रिट्स के अनुयायियो को शवच्छेद का परिचय बिल्कुल नही था, और यदि था तो यह भी सम्भव है कि शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी बहुत-सी समानताएँ मिल गयी हो। ग्रीस वैद्यकशास्त्र मे आयुर्वेद की अस्थिगणना नही मिलती, इसलिए दोनो की तुलना करने का कोई साधन नही, यह भी हार्नले ही कहता है। हार्नले ने विस्तार से बताया है कि टेलमुद का जो शारीरज्ञान है, वही यदि ग्रीस मे हिपोक्रिट्स सम्प्रदाय का शारीरज्ञान हो, तो आयुर्वेदीय और टेलमुद के ज्ञान मे अस्थिगणना के अन्दर बहुत भेद है। परन्तु पहली शती ईसवी पूर्व की अस्थिगणना का उल्लेख करते हुए केल्सस ने पादकूर्चास्थि और पाणिकूर्चास्थि के विषय मे कहा है कि इनमे अनिश्चित सख्या की बहुत-सी छोटी-छोटी अस्थियाँ होती है, परन्तु देखने मे वे एक प्रतीत होती है। पैर की

अँगुलियो मे पन्द्रह सन्धियाँ होने की बात टेलमुद के ग्रीस शारीरज्ञान और सुश्रुत के शारीरज्ञान मे एक समान है।[1]

गन्धार देश की मूर्तिकला मे भारतीय मूर्तिकला से एक बहुत बडा अन्तर पाया जाता है। उसमे (जिसका कि विकास कनिष्क के समय ईसवी प्रथम शती के आस पास हुआ है) अगो के सौष्ठव, मासपेशी के विकास, उसकी नग्नता तथा उसके ऊपर बारीक वस्त्र की झाँकी मिलती है। अग प्रत्यगो का गठन, उनका सौन्दर्य जिस प्रकार से हमको इस कला मे मिलता है, वैसा भारतीय प्रस्तरकला में नही दीखता। अगो का सुन्दर विकास, मासपेशियो को पृथक् दिखाना जहाँ बाह्य दिखाव से सम्भव हो सकता है, वहाँ उसके प्रारम्भिक ज्ञान मे शरीर के अन्त ज्ञान का होना भी आवश्यक सिद्ध होता है।

प्राचीन मिस्र में चिकित्साविज्ञान—ग्रीस देश के चिकित्साज्ञान का स्रोत मिस्र देश की इस विद्या को माना जाता है। मिस्र मे यह ज्ञान अपने आप अंकुरित हुआ अथवा किसी अन्य देश से अनुप्राणित हुआ, इस पर विचार करना है।

भारत और मिस्र का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है, दक्षिण भारत मे समुद्री मार्ग से विदेशी प्रभाव सदा छनकर आता रहा और शान्तिमय व्यापारिक सम्पर्क भी चलता रहा है। पहले मिस्र और बावेरू (बेबीलान) से, और बाद मे रोम राज्य के साथ यह सम्पर्क था। कुछ भारतीय वस्तुएँ, जैसे नील, इमली की लकडी, मलमल, जिसमे ममी लपेटी जाती थी, मिस्र की समाधियो में मिली है। एक लूट के माल में, जिसे मिस्र के फरओह् जहाज मे भरकर ले गये थे, हाथीदाँत, सोना, कीमती रत्न, चन्दन और बन्दर शामिल थे, वह भारत से गया था। कुछ विद्वानो के विचार से बाइबिल मे भी भारत के साथ प्राचीन व्यापार के प्रमाण उन वस्तुओ के नामो के रूप मे मिलते है, जो उस समय केवल भारत ही विदेशो को भेजता था। जैसे बहुमूल्य रत्न, सुवर्ण, हाथीदाँत, आबनूस की लकडी, मोर और मसाले, जो सुलेमान के जहाज़ पर लदे हुए व्यापारी माल का अश था। भारतीय सागौन की लकड़ी उर नामक राजधानी के अवशेषो मे मिली है, बावेरू की भाषा मे मलमल का नाम 'सिन्धु' था। बावेरू जातक नामक पाली पुस्तक मे (लगभग ५०० ई० पू०) भारतीय व्यापारियो द्वारा बावेरू के बाजारो मे मोर ले जाने का उल्लेख है। चावल, मोर और चन्दन जैसी विशिष्ट भारतीय वस्तुओ का ज्ञान यूनानियो को उनके भारतीय अर्थात् तामिल नामों से था। क्योकि भारत और

---

१ श्री दुर्गाशंकर केवलरामजी शास्त्री के 'आयुर्वेद का इतिहास' से उद्धृत

बावेरू के बीच का व्यापार ४८० ई० पू० में बन्द हो चुका था। इसलिए यह मानना पडेगा कि ये वस्तुएँ उससे भी बहुत पहले भारत से बावेरू पहुँच चुकी थी, जिसके फल-स्वरूप वे ४६० ई० पू० के लगभग यूनान मे पहुँच सकी और सोफोक्लीस (४९५-४०६ ई० पू०) के समय में, जिसने उनका उल्लेख किया है, एथेन्स नगरी मे ये घरेलू वस्तुएँ बन गयी थी। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार इस समस्त प्राचीन व्यापार के मुख्य केन्द्र शूर्पारक (सोपारा) और भरुकच्छ (भरूच) नामक कोकण तट के दो प्रसिद्ध पत्तन थे (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ४८-४९)।

मिस्र और भारत के कुछ शब्दों मे बहुत समानता है, यह दोनों देशवासियों को एक शाखा का सिद्ध करने मे बहुत सहायक है—

भारत	मिस्र	भारत	वैविलोन (बावेरू)
सूर्य (हरि)	होरस	सत्यव्रत	हसिसद्र
शिव	सेव	अहिहन्	ईहन्
ईश्वर	ओसिरस्	वायु	विन
प्रकृति	पस्त	चन्द्र	सिन
श्वेत	सेत		
मातृ	मेतिर	मरुत्	मतु
सूर्यवशी	सूरियस्	दिनेश	दियानिसु
अत्रि	अत्तिस्	अप्	अप्सु
मित्र	मिथु	पुरोहित	पटेमिस्
शरद्	सरदी	श्रेष्ठ	सेठ

(—काश्यपसंहिता—उपोद्घात)

भारत के समान मिस्र में लिंगपूजा, बैल का आदर और वैविलोन मे पृथ्वी की पूजा मिलती है।

ईरान के प्राचीन ग्रन्थ अवेस्ता मे वेन्दिदाद नामक एक भाग है, इसमे भैषज्य सम्बन्धी विषय दिये है। इसमे सामा वशोत्पन्न थ्रित नामक वैद्य का सर्वप्रथम नाम है। उसने रोगनिवृत्ति के लिए अपने अहुरोमज्दा नामक देवता की प्रार्थना करके सोम के साथ (चन्द्रमा के साथ) वृद्धि को प्राप्त करनेवाली दस हजार औषधियों को प्राप्त किया। हओम (सोम) वनस्पतियों का राजा था (तुलना कीजिए, १—पुष्णामि चौषधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक,—गीता—१५।१३, २—ओषधय' सवदन्ते सोमेन सह राज्ञा। या ओषधी सोमराज्ञीर्बह्वी' शतविचक्षणा। ऋ १०।९७।

१८-२२) । थ्रित नामक वैद्य, शअवेर्य तथा सहरवर से सिखाये गये रोगनिवृत्ति के उपायों तथा शस्त्रचिकित्सा द्वारा ज्वर कास, क्षय आदि रोगों को दूर करने का भी उल्लेख मिलता है। अवेस्ता और वैदिक साहित्य के शब्दो मे बहुत साम्य है।

इन समानताओं के कारण मिस्र और ईरान की दोनो शाखाएँ एक ही जाति की है, ऐसा भाषाविज्ञान के विद्वान् मानते है। इनमे जो ज्ञान की समानता है, वह परस्पर सम्पर्क से आयी है। कुछ देशो मे भारत से ज्ञान गया है, इसमे कोई सन्देह नही, परन्तु सम्पूर्ण चिकित्साज्ञान भारत की देन है, यह कहना थोडी अतिशयोक्ति होगी। अत्रिपुत्र के कथनानुसार चिकित्सा ज्ञान स्वाभाविक है, मानव जाति के साथ इसका उद्भव है।[1]

तिब्बत का वैद्यक ज्ञान—भारत का तिब्वत के साथ पुराना सम्बन्ध है। अज्ञात-मूल चार सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद आठवी शती मे तिब्बती भाषा मे हुआ था। इसके पीछे बहुत से सस्कृत ग्रन्थो का तिब्बती मे अनुवाद हुआ। तिब्बत के आयुर्वेद-ज्ञान का आधार भारतीय आयुर्वेदशास्त्र माना जाता है। शरीर मे नौ छेद और नौ सौ नाडियाँ तिब्बती चिकित्सा मे मानी गयी है (नव स्नायुशतानि, नव स्रोतासि—सु शा. अ ५।६)। निदान मे भी आयुर्वेद के त्रिदोषसिद्धान्त को माना गया है। औषधियो मे त्रिफला, मरिच, उत्पल, प्याज, सोठ, तज, कूठ आदि का उल्लेख है। तिब्बत मे सींग के द्वारा रक्त मोक्षण करने की पद्धति, शस्त्र-यन्त्रो का नाम पशुओं के नाम पर रखने का रिवाज, गर्भ की लिंगपरीक्षा पद्धति आदि बाते आयुर्वेद से मिलती है।

तिब्बती ग्रन्थो का मगोल भाषा मे भी अनुवाद हुआ है। हिमालय की लेप्चा आदि जातियाँ तिब्बती चिकित्सा का व्यवहार करती है।

तिब्बत मे बौद्ध धर्म बहुत समय पूर्व फैल चुका था। इसके साथ आयुर्वेद का भी वहाँ पहुँचना सम्भव है। महावश मे सारथ्यसग्रह नामक वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख है। इसको छोडकर १३वी शती का योगार्णव सबसे प्राचीन ग्रन्थ है।

सिंहली भाषा मे जो आधुनिक वैद्यक ग्रन्थ छपे है एव जो हस्तलिखित मिलते है, उनका आधार भी भारत के आयुर्वेद ग्रन्थ ही है।

---

१. संस्कृत काव्यों में तथा हिन्दी के कवियों की (बिहारी आदि की) कृतियों में आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ छिटपुट उल्लेख मिल जाते है। इससे यह निर्णय करना कि ये कवि आयुर्वेद के पण्डित थे; ठीक नहीं है। इसी प्रकार से कुछ समानता या शब्दों के मिलने से ज्ञान का स्रोत इस स्थान से उस स्थान में गया; यह मानना ठीक नहीं।

बरमा—सुश्रुत की ख्याति ९०० ईसवी मे कम्बोज तक पहुँच चुकी थी, परन्तु सुश्रुत, द्रव्यगुण आदि का इस देश मे बरमी भाषान्तर १८ वी सदी मे हुआ है।

फारसी और अरबी सम्बन्ध—चरकसंहिता में बाह्लीक भिषक् के रूप मे काकायन का नाम आता है। सिद्धयोगसग्रह मे पारसीक यवानी का उल्लेख है, चरक-सुश्रुत मे हींग का, सुश्रुत मे नारग का उल्लेख है। यह भारत का ईरान से सम्बन्ध बतलाते है। मध्य काल मे धातुओं का उपयोग, अफीम का व्यवहार, नाडीपरीक्षा विधि अरब से भारत मे आया, ऐसी मान्यता जौली की है, जो बहुत अशो मे सत्य है। हींग आज भी हमको ईरान-काबुल से ही मिलती है। मुसलमानो के समय मुस्लिम हकीम स्वतत्र रूप में अपना धधा करते रहे, उन्होने भारतीय पद्धति को नही अपनाया; अपितु वैद्यो ने इनसे कुछ थोडा बहुत लिया ही, यथा—अनार का शर्बत आदि, अर्क-प्रक्रिया, मुरब्बे की कल्पना हकीमो से ली गयी। इस विधि का नाम यूनानी चिकित्सा भी है, जिससे इसका सम्बन्ध यूनान से स्पष्ट होता है।[1]

---

१. डाक्टर जौली तथा श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री की पुस्तक 'आयुर्वेद का इतिहास' के आधार पर

अठारहवाँ अध्याय

दो चीनी यात्रियों का विवरण

इत्सिङ् का कथन

यह यात्री ज्ञान की खोज में तथा भगवान् बुद्ध के पावन स्थलो के दर्शनार्थ भारत में आया था और यह लगभग ६७३–९५ ईसवी तक रहा था। इसने भारतवर्ष के सम्बन्ध में प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण जानकारी लिखी है। यह सभी बड़े बड़े स्थानो को देखने गया था। कई वर्ष बौद्धो के विभिन्न विद्यापीठों में रहकर बौद्धधर्म और उसके आचार का गम्भीर अध्ययन इसने किया था। उन सबका विवरण तैयार किया था।

यह यात्री स्वय चिकित्सक था, जैसा इसने अपने विषय में कहा है—"मैंने भैषज्य विद्या का भली भाँति अध्ययन किया था, परन्तु मेरा यह उचित व्यवसाय न होने के कारण मैंने अन्त को इसे छोड दिया।" इसलिए भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में दिया हुआ इसका विवरण बहुत महत्त्वपूर्ण है।[1] तत्कालीन परिस्थिति के ज्ञानार्थ उसके विवरण से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते है।

पथ्यचर्या—"प्रत्येक प्राणी चार भूतो के शान्त कार्य अथवा दोष के अधीन है। आठ ऋतुओ के (वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर........) एक दूसरी के बाद आने से शारीरिक दशा में विकास और परिवर्त्तन कभी बन्द नहीं होता। जब किसी को कोई रोग हो जाय, तत्काल विश्राम और रक्षा करनी चाहिए। इसलिए लोकज्येष्ठ (बुद्ध) ने स्वय चिकित्साशास्त्र पर एक सूत्र का उपदेश किया था, जिसमें उन्होंने कहा था—चार महाभूतो के स्वास्थ्य (शब्दार्थ—परिमितता) का दोष इस प्रकार है—

१. पृथ्वीतत्त्व के बढ़ने से शरीर को आलसी और भारी बनाना; २. जलतत्त्व के इकट्ठा हो जाने से आँख में मैल या मुँह में लार का अधिक आना; अग्नितत्त्व से

---

१. इत्सिङ्ग की भारत यात्रा—इंडियन प्रेस की सरस्वती सीरीज के आधार पर

उत्पन्न हुए अति प्रबल ताप के कारण सिर और छाती का ज्वरग्रस्त होना; ४. वायु-तत्त्व के जगम प्रभाव के कारण श्वास का प्रचण्ड वेग।[1]

रोग का कारण मालूम करने के लिए प्रात काल अपनी जाँच करनी चाहिए। जाँच करने पर यदि चार महाभूतो में कोई दोष जान पडे तब सबसे पहले उपवास करना चाहिए। भारी प्यास लगने पर भी शर्बत या जल नही पीना चाहिए, क्योंकि इस विद्या में इसका बड़ा निषेध है। उपवास कभी एक दो दिन तक, कभी-कभी चार-पाँच दिन तक जारी रखना होता है; जब तक कि रोग बिल्कुल शान्त न हो जाय। इससे रोग की निवृत्ति अवश्य हो जायगी। यदि मनुष्य यह अनुभव करे कि आमाशय में कुछ भोजन रह गया है, तो उसे पेट को नाभि पर दबाना या सहलाना चाहिए, जितना हो सके उतना गरम जल पीना चाहिए, वमन करने के लिए गले में अँगुली डालनी चाहिए।

यदि मनुष्य ठण्डा जल पिये तो भी कोई हानि नही (सम्भवत. पित्त या अग्नितत्त्व की प्रबलता में)। गरम जल में सोठ मिलाकर पीना भी बहुत अच्छा है। कम-से-कम उपचार प्रारम्भ करने के दिन रोगी को अवश्य उपवास करना चाहिए। पहली बार दूसरे दिन सबेरे भोजन करना चाहिए। यदि यह कठिन हो तो अवस्था के अनुसार कोई और उपाय करना चाहिए। प्रचण्ड ज्वर की दशा में जल द्वारा ठण्डक पहुँचाने का निषेध है।

उपवास एक बड़ी गुणकारी चिकित्सा है। यह भेषजविद्या के साधारण नियम, अर्थात् किसी औषधि या क्वाथ के प्रयोग के बिना ही स्वास्थ्यप्रदायक है। कारण यह है कि जब आमाशय खाली होता है, तब प्रचण्ड ज्वर कम हो जाता है, जब भोजन का रस सूख जाता है, तब कफ के रोग निवृत्त हो जाते है। उपवास सरल और अद्भुत औषधि है, क्योंकि निर्धन और धनवान् दोनो इसका समान रूप से अनुष्ठान कर सकते हैं। क्या यह महत्त्व की बात नहीं ?

शेष सब रोगो में—जैसा कि मुहाँसा या किसी छोटे फोडे का सहसा निकलना, रक्त के अकस्मात् वेग से ज्वर का होना, हाथों और पैरो में प्रचण्ड पीड़ा, आकाश के

---

१. सुश्रुत में भी पांचभौतिक प्रकृति (चरक में चतुर्भूतों) का वर्णन है—

"प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः पवनदहनतोयैः की[illegible] तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान् शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥
सु. श. ४।८०

"भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैः"; "भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि"—चरक, शा. २-३१, ३५

विकारो, वायु गुण या तलवार या बाण से शरीर को हानि पहुँचना, गिरने से घाव होना, तीव्र ज्वर या विसूचिका, आधे दिन की संग्रहणी, शिर पीडा, हृदयव्याधि, नेत्ररोग या दन्तपीड़ा मे—भोजन से बचना चाहिए। हरीतकी की छाल, सोंठ और चीनी लेकर तीनो को समान मात्रा मे तैयार करो। पहली दो को पीसकर जल की कुछ बूँदो के साथ इसे चीनी में मिला लो और फिर गोलियाँ बना लो। प्रति दिन प्रात. कोई दस गोलियाँ एक मात्रा में खायी जा सकती है, फिर भोजन की जरूरत बिलकुल नही रहती। अतिसार में नीरोग होने के लिए कोई दो तीन मात्राएँ पर्याप्त है। इन गोलियो का बडा लाभ है, इससे रोगी का सिर घूमना और अजीर्ण दूर हो जाता है, इसलिए मैंने इनका उल्लेख यहाँ किया है। यदि चीनी न हो तो लिस-लिसी मिठाई (गुड से शायद अभिप्राय है) या मधु से काम चल जाता है। यदि कोई मनुष्य प्रति दिन हरीतकी का टुकडा दाँतों से काटे और उसका रस निगले तो जीवन पर्यन्त उसे कोई रोग नही होता। ये बातें जिनसे भेषज-विद्या वनी है, शक देवेन्द्र से भारत की पाँच विद्याओं में से एक के रूप में चली आ रही है। इसमें सबसे महत्त्व का नियम उपवास है।

विषो की, जैसे साँप काटने की, चिकित्सा उपर्युक्त रीति से नही करनी चाहिए। उपवास की अवस्था मे घूमना और काम करना बिलकुल छोड देना चाहिए। जो मनुष्य लम्बी यात्रा कर रहा है, उसे उपवास मे यात्रा करने में कोई हानि नहीं, परन्तु रोग की निवृत्ति और उपवास के पीछे विश्राम करना जरूरी है। उसे ताजा उबला भात (यवागू) खाना चाहिए, भली भाँति उबला मसूर का जल किसी मसाले के साथ मिलाकर पीना चाहिए। यदि कुछ ठण्ड मालूम पडे तो बचे हुए जल मे काली मिर्च, अदरख, पिप्पली मिलाकर पीना चाहिए। यदि जुकाम हो तो काशगरी प्याज (पलाण्डु) या जगली राई लेनी चाहिए।

चिकित्सा शास्त्र में कहा है—सोंठ के सिवाय चरपरे या गरम स्वाद की कोई भी चीज सरदी को दूर करती है। जितने दिन उपवास किया हो उतने दिन शरीर को शान्त रखना और विश्राम देना चाहिए। ठण्डा जल नही पीना चाहिए, भोजन वैद्य के परामर्श से करना चाहिए। ठण्ड के रोग मे खाने से कुछ हानि न होगी, ज्वर के लिए वैद्यक का क्वाथ वह है, जो कि कडुवे गिनसेङ्ग (Aralia quinqulfolia की जड) को भली भाँति उबालने से तैयार होता है।

चाय भी बहुत अच्छी है, मुझे अपनी जन्मभूमि छोडे बीस वर्ष से अधिक हो गये हैं और केवल यह चाय और गिनसेङ्ग का क्वाथ ही मेरे शरीर की औषध रही है, मुझे शायद ही कोई कभी घोर रोग हुआ हो।

पश्चिम भारत के लाट देश (माल्वा-गुजरात के उत्तरी भाग) में जो लोग रोग-ग्रस्त होते हैं, वे कभी-कभी आधा मास और कभी-कभी पूरा मास उपवास करते हैं। जब तक उनका वह रोग जिससे वे कष्ट पा रहे हैं, पूर्णत आराम नहीं हो जाता, वे कभी भोजन नही लेते। मध्य भारत मे उपवास की दीर्घतम अवधि एक सप्ताह है, जब कि दक्षिण सागर के द्वीपों में दो या तीन दिन है। इसका कारण प्रदेश, रीति, शरीर की रचना का भेद है।

भारत मे लोग प्याज नही खाते। मेरा मन ललच जाता था और मैं उसे कभी-कभी खा लेता था, परन्तु धार्मिक उपवास करते हुए वह दु ख देती और पेट को हानि पहुँचाती है। इसके अतिरिक्त वह नेत्र-दृष्टि को खराब करती है, रोग को बढाती है, शरीर को दुर्बल करती है। इसी कारण भारतीय जनता उसे नही खाती।[1] बुद्धिमान् मेरी बात पर ध्यान दें, जो बात सदोप है उसे छोडकर जो उपयोगी है, उसका पालन करे। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति वैद्य के उपदेशानुसार आचरण नही करता तो इसमें वैद्य का कोई दोष नही।

यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे शरीर को सुख और धर्मकार्य की पूर्णता प्राप्त होगी, इस प्रकार अपना और दूसरो का उपकार होगा। यदि ऐसा नहीं करें तो इसका परिणाम शरीरदुर्बलता और ज्ञान का संकोच होगा, दूसरों की और अपनी सफलता पूर्णत- नष्ट हो जायगी।

शारीरिक रोग के लक्षणों पर उपचार—मनुष्य को अपनी क्षुधा के अनुसार थोडा भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य की भूख अच्छी हो तो साधारण भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य अस्वस्थ हो तो उसका कारण ढूंढना चाहिए, जब रोग का कारण मालूम हो जाय तब विश्राम करना चाहिए। नीरोग होने पर मनुष्य को भूख लगेगी, उस समय उसे हलका भोजन करना चाहिए। उष काल प्राय कफ का सनय

---

१ संग्रह और काश्यप संहिता में लशुन-पलांडु का उपयोग करने के लिए बहुत ललचाया गया है—

"रसोनोनन्तरं वायोः पलाण्डु परमौषधम्।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥
अल्पाहारे शीलितो दीर्घरात्रं [illegible] स्वयंकारी।
तैस्तैर्योगैर्योजितोऽयं पलाण्डुस्तांस्तानातंकान् मेहिनामुच्छिनत्ति॥—संग्रह

कहलाता है; जब कि रात के भोजन का रस अभी विलीन न होने के कारण छाती के गिर्द जमा रहता है। इस समय खाया हुआ कोई भी भोजन अनुकूल नही बैठता।[1]

साधारण भोजनो के सिवा हलके भोजनो की अनुज्ञा बुद्ध ने दी है, चाहे चावलों का पानी हो या चावल हो; भोजन अपनी भूख के अनुसार करना चाहिए (पेया, मण्ड, विलेपी के गुणों के लिए चरक. सू. अ. २७।२५०–५३ देखें)। धर्म का निर्वाह करते समय यदि कोई व्यक्ति केवल चावलो के पानी पर निर्वाह कर सके तो और कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए। यदि मनुष्य के शरीर को पोषण के लिए चावलों की रोटियों की आवश्यकता हो तो उन्हें खाने में कोई दोष नही। वैद्य रोगी के कण्ठ, स्वर और मुखमण्डल को देखने के बाद चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरणों के अनुसार उसके लिए उपचार करता है। यदि वह इस विद्या को नही समझता तो उचित रीति से इच्छा करने पर भी भूल कर बैठता है।

आठ प्रकरण—चिकित्सा के आठ प्रकरणों में से पहले में सब प्रकार के व्रणों का वर्णन है; दूसरे में गले से ऊपर के प्रत्येक रोग के लिए शस्त्रक्रिया से इलाज करने का; तीसरे में शरीर के रोगों का; चौथे में भूतावेश का; पाँचवें में अगद औषध, छठे में बालकों के रोगों का; सातवें में आयु बढ़ानेवाले उपायो का तथा आठवें में शरीर के रोगों को नष्ट करने की रीतियों का वर्णन है (यही आयुर्वेद के आठ अंग हैं)।

१—व्रण दो प्रकार के होते हैं; भीतरी और बाहरी। २—गले से ऊपर का रोग वही है जो सिर और मुख पर होता है। ३—कण्ठ से नीचे का प्रत्येक रोग शारीरिक रोग कहलाता है। ४—भूतावेश आसुरी आत्माओं का आक्रमण है। ५—अगद विषों के प्रतिकार के लिए औषध है। ६—भ्रूणावस्था से लेकर सोलहवें वर्ष तक के रोग बालरोग हैं। ७—आयु को बढ़ाना—शरीर को बचाना, जिससे वह चिरकाल तक जीवित रहे। ८—शरीर और अंगों को पुष्ट करने का मतलब शरीर और अवयवों को दृढ़ और नीरोग रखना है।

---

१. प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति। दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ॥
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः। न क्ले [illegible] नैव दिवा तेनास्य चाशयः॥
अक्लि [illegible] षु न दुष्यति। अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद् विनिक्षिप्तम् ॥
रात्रौ तु हृदये म्लाने [illegible] षु च। यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते देहधातवः ॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वाशितं प्रदुष्यति। [illegible] तु पर्यस्तप्तविवार्पितम् ॥
—चरक. चि. अ. १५।२३८-४२

ये आठ कलाएँ पहले आठ पुस्तकों में थीं, परन्तु पीछे एक मनुष्य ने इन्हें संक्षिप्त करके एक राशि में कर दिया। भारत के पाँच खण्डों के सभी वैद्य इस पुस्तक के अनुसार उपचार करते हैं (सम्भवतः यह वाग्भट का अष्टाङ्गहृदय है—लेखक)। इसमें भली-भाँति निपुण प्रत्येक वैद्य को अवश्य ही सरकारी वेतन मिलने लगता है। इसलिए भारतीय जनता वैद्यों का बड़ा सम्मान और व्यापारियों का बहुत आदर करती है, क्योंकि ये जीवहिंसा नहीं करते, वे दूसरों का उद्धार और साथ ही अपना उपकार करते हैं।

साधारणत. जो रोग शरीर में होता है, वह बहुत अधिक खाने से होता है। परन्तु कभी कभी यह अति परिश्रम या पहला भोजन पचने के पूर्व ही दुबारा खा लेने से उत्पन्न हो जाता है। जब रोग इस प्रकार का होता है, तब इसका परिणाम विसूचिका होता है।[1]

जो लोग रोग के कारण को जाने बिना रोगमुक्त होने की आशा करते हैं, वे ठीक उन लोगों के समान हैं, जो जलधारा को बन्द करने की इच्छा रखते हुए इसके स्रोत पर बाँध नहीं बाँधते, या उनके समान हैं जो वन को काट डालने की इच्छा रखते हुए वृक्षों को उनकी जड़ों से नहीं गिराते; किन्तु धारा या कोपलों को अधिक से अधिक बढ़ने देते हैं।

मैं चाहता हूँ कि एक पुराना रोग बहुत सी औषधियाँ सेवन किये बिना ही शान्त हो जाय और नया रोग रुक जाय, इस प्रकार वैद्य की आवश्यकता न हो; तब शरीर (चार भूतों) की स्वस्थता और रोग के अभाव की आशा की जा सकती है। यदि लोग चिकित्साशास्त्र के अध्ययन से दूसरों का और अपना हित कर सकें तो क्या यह उपकार की बात नहीं है? परन्तु विष खाना, मृत्यु, जन्म आदि प्रायः मनुष्य के पूर्व कर्मों का फल होते हैं। फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य उस दशा को दूर करने में या बढ़ाने में संकोच करे, जो दशा रोग को उत्पन्न करती है या उसे हटाती है।

भोजन संबंधी सूचनाएँ—भारत में भिक्षु लोग भोजन के पहले अपने हाथ-पाँव धोते और छोटी-छोटी कुर्सियों पर अलग अलग बैठते हैं। यह कुर्सी सात इंच ऊँची और एक वर्ग फुट आकार की होती है। उसका आसन बेत का बना होता है। ये लोग पालथी, आसन मारकर नहीं बैठते, एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। भोजन परोसते

---

१. न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्ते कलुषाशयाः॥ सु. उ. अ. ५६।५३

समय अँगूठे के परिमाण के अदरख के एक या दो टुकडे प्रत्येक अतिथि को दिये जाते है और साथ ही एक पत्ते पर चम्मच भर नमक दे दिया जाता है।

भोजन में पवित्रता और अपवित्रता का ध्यान बहुत रखा जाता है, जिस भोजन मे से एक भी ग्रास खा लिया जाता है, उसे अपवित्र समझा जाता है। जिन बर्त्तनो में भोजन खाया जाता है, उनका फिर उपयोग नही होता, भोजन समाप्त होने पर उन पात्रो को उठाकर एक कोने में रखा जाता है। यह रीति धनवान् और निर्धन दोनो में पायी जाती है। बचे हुए जूठे भोजन को रख छोडना—जैसा कि चीन मे किया जाता है, भारतीय नियमो के विरुद्ध है।

भोजन कर चुकने के पीछे जीभ और दाँतो को ध्यानपूर्वक शुद्ध करते हैं। होठो को या तो [illegible] के आटे से या मिट्टी और पानी मिलाकर—उससे साफ किया जाता है, यहाँ तक कि चिकनाई का कोई धब्बा न रह जाय। इसके पीछे कुल्ला करने के लिए किसी साफ बर्त्तन से जल लिया जाता है। दो-तीन बार कुल्ला करने से मुख प्रायः साफ हो जाता है। ऐसा किये बिना मुख का पानी या थूक निगलने की आज्ञा नही। जब तक शुद्ध जल से कुल्ला न कर लिया जाय, मुख से थूक को बाहर फेंकते रहना चाहिए। मुख को साफ किये बिना हँसी, बकवाद मे समय नष्ट करना उचित नही। यदि कोई ऐसा आलस्य करता है तो उसके दु खो का अन्त नही रहता।

जल सम्बन्धी सूचनाएँ—धोने के लिए पवित्र जल छुए हुए जल से पृथक् रखा जाता है। प्रत्येक के लिए दो प्रकार के लोटे (कुण्डी और कलश—एक बडा बर्त्तन और एक छोटा लोटा) होते हैं। पवित्र जल के लिए मिट्टी के बर्त्तन का उपयोग किया जाता है, धोने के जल के लिए ताँबे अथवा लोहे का बर्त्तन होता है। पवित्र जल पीने के लिए और छुआ हुआ जल मल-मूत्र त्याग के पीछे शुद्धि के लिए हर समय तैयार रहता है। पवित्र लोटे को पवित्र हाथ मे पकडना और पवित्र स्थान में रखना चाहिए और छुए हुए जल को छुए हुए अपवित्र हाथ से पलटना चाहिए।

जल की परीक्षा—प्रति दिन सवेरे पानी की परीक्षा करनी चाहिए। प्रातःकाल पहले ठिलिया के जल की परीक्षा करनी चाहिए। बाल की नोक के समान छोटे कीड़ो को भी बचाना चाहिए। यदि कोई कीडा दिखाई दे तो पडोस की किसी नदी अथवा पुष्करिणी के पास जाकर कीडोवाला जल बाहर फेंक दो और ताज़ा छाना हुआ जल उसमें भर लो। यदि कुआँ हो तो उसके जल को सामान्य रीति से छानकर काम में लाओ।

पानी को छानने के लिए भारतीय लोग बारीक श्वेत वस्त्र का उपयोग करते हैं;

चीन में बारीक रेशमी कपडे से, हलका-सा मोड़ देने के बाद यह काम लिया जा सकता है, क्योंकि कच्चे रेशम के छिद्रो में से छोटे-छोटे कीडे सुगमता से चले जाते हैं।

कीड़ों को स्वतन्त्र रखने के लिए एक पत्तल जैसे थाल का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु रेशम की चालनी भी उपयोगी है। भारत में बुद्ध के बताये हुए नियमो के अनुसार थाल प्राय· तांबे के बनते है।

दातुन का उपयोग—प्रति दिन सबेरे मनुष्य को दातुन से दाँतो को साफ़ करना चाहिए और जीभ का मैल उतार डालना चाहिए। दातुन कोई बारह अंगुल लम्बी बनायी जाती है, छोटी से छोटी भी आठ अगुल से कम नही होती। इसका आकार कनीनिका जैसा होता है।

दातुन के अतिरिक्त लोहे या ताँबे की बनी दन्तखोदनी (खरका) का भी उपयोग किया जा सकता है, अथवा बाँस या लकडी की छोटी-सी छडी का जो कनीनिका के उपरि-भाग के समान चपटी और एक सिरे पर तीक्ष्ण हो, उपयोग किया जा सकता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मुख में कोई घाव न लग जाय। उपयोग करने के पीछे दातुन को धोकर फेंक देना चाहिए।

दातुन को नष्ट करने अथवा जल या थूक को बाहर फेंकने के पहले गले में तीन बार उँगलियाँ फेर लेनी चाहिए अथवा दो से अधिक बार खाँस लेना चाहिए। छोटे भिक्षु दातुन चबा सकते हैं, परन्तु बडे भिक्षुओ को चाहिए कि वे इसे कूटकर कोमल बना लें। सबसे अच्छी दातुन वह है, जो स्वाद में कटु, सकोचक अथवा तीक्ष्ण हो या जो चबाने में रूई की तरह हो जाय।

च्युआङ शाङ का कथन

इस चीनी यात्री के अनुसार बच्चो की प्रारम्भिक शिक्षा 'सिद्धम् चंग' पुस्तक से प्रारम्भ की जाती थी। यह बच्चो को वर्ण-परिचय कराती थी। इस पुस्तक में 'सिद्धम्' लिखा रहता था, जिसका अर्थ था कि पढ़नेवाले को सिद्धि या सफलता मिले। बौद्ध-धर्मियो की प्रारम्भिक पुस्तकें 'सिद्धम्' कहलाती थी और ब्राह्मणों की प्रारम्भिक पुस्तकें 'सिद्धिरस्तु' कहलाती थी। इत्सिंग (इचिङ) के अनुसार छः वर्ष के बच्चे को सिद्धम् पुस्तक प्रारम्भ करायी जाती थी। उसके अध्ययन में छः महीने लगते थे।

सिद्धम् के बाद भारतीय बच्चो को पच विद्या के शास्त्रों से विज्ञ कराया जाता था। पाँच विद्याएँ ये थी—(१) व्याकरण या शब्दविद्या, (२) शिल्पस्थान विद्या, (३) चिकित्सा विद्या (आयुर्वेदशास्त्र), (४) हेतु विद्या (तर्क अथवा न्यायशास्त्र),

(५) अध्यात्म विद्या (इसमें त्रिपिटिक भी शामिल थे)। प्रत्येक बौद्धधर्म के आचार्य या पण्डित को इन पांचो विद्याओं में निपुण होना आवश्यक था (हर्ष-शीलादित्य, पृ. ११८)।

नालन्दा विहार में अध्ययन के अन्य विषयो में हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, तान्त्रिक विद्या और साख्य दर्शन आदि भी शामिल थे (वही, पृष्ठ १२३)।

च्युआङ शाङ ने नालन्दा विहार के आचार्यों का नाम लिखा है, परन्तु उनमें चिकित्सा विद्या के आचार्य का नाम स्पष्ट नही है। इनमें से कुछ आचार्य चीनी यात्री के पूर्व के थे। उनमें भी चिकित्सा विद्या के आचार्य का उल्लेख स्पष्ट नही हुआ है। इन आचार्यों में शीलभद्र प्रधान आचार्य थे, धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, जिनमित्र और जिनचन्द्र आदि उपाध्याय थे।

उन्नीसवाँ अध्याय

आधुनिक काल

(१८३५ ईसवी से १९५७ ईसवी तक)

आधुनिक काल का प्रारम्भ कहाँ से करना चाहिए, यह एक सामान्य परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अंग्रेजों का आधिपत्य १८४६ ई० तक प्रायः समूचे भारत पर हो चुका था। इस समय पंजाब भी उनके काबू मे आ गया था। इसी से १८४७ में जब डलहौजी हार्डिञ्ज का उत्तराधिकारी बनकर भारत मे आया, तो उसने कहा कि मैं हिन्दुस्तान की जमीन को समतल कर दूंगा; और आते ही वह खँडहरों की सफाई मे लग गया (इतिहासप्रवेश, पृ. ३२३)।

इस समय जो थोड़ी बहुत समस्याएँ बची थी, वे उसने सुलझायी। इसी सुलझाने की समस्या ने स्वाधीनता के विपुल युद्ध की आग भड़कायी जो कि १८५७ में फूट पड़ी। इसके विफल होने से कम्पनी का शासन समाप्त होकर सम्राज्ञी का शासन स्थापित हुआ (१८५८ में)।

कम्पनी के इस राज्यकाल में देश मे जहाँ कंगाली बढ़ी, वहाँ कुछ बातो का विकास भी हुआ। नहरों और रेलपथ का काम प्रारम्भ हुआ'. स्टंस के समय जमुना की पुरानी नहर का उद्धार फिर से किया गया। आकलैण्ड के समय गंगा नहर की खुदाई शुरू की गयी और गदर के समय तक उस पर काम जारी था। इसी प्रकार दक्षिण में कावेरी कोलरून की पुरानी नहरों की तरफ़ भी ध्यान गया। पंजाब जीतने के पीछे मुल्तान-सिन्ध की पुरानी नहरों की भी रक्षा की गयी।

सन् १८१३-१४ में स्टिफिन्सन ने लोहे की पटरी पर दौड़नेवाला इञ्जिन बनाया, और १८२५-३० ई० में इंग्लैण्ड में पहली रेलगाड़ी चली। भारत में रेलपथ बनना १८४५ ई० में प्रारम्भ हुआ। ईस्ट इंडिया और ग्रेट इंडियन पैनिन्सुला रेल कम्पनियों ने सरकार की मदद से काम जारी किया।

इसी समय आम्पीयर नामक फ्रांसीसी ने बताया कि बिजली से चुम्बक शक्ति का काम लिया जा सकता है और इस आधार पर १८३६ ई० मे मौर्स नामक अमेरिकन ने

तार लेखन (टेलीग्राफी) का आविष्कार किया। भाप से चलनेवाले जहाज (स्टीमर) फ्रांस और अमेरिका में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही जारी थे।

इस समय समूचे भारत को लोहे के तारो और पटरियों से कसा जा रहा था। इसी समय भारत विषयक अध्ययन शुरू हुआ।

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के बाद (१७८४ ई०) से यूरोपियनों का भारत विषयक अध्ययन तेजी से बढ़ा। सर विलियम जोन्स ने यह पहचाना कि संस्कृत, यूनानी और लातीनी भाषाएँ सगोत्र हैं। कोलब्रुक ने संस्कृत व्याकरण, गणित, ज्योतिष आदि की ओर तथा चार्ल्स विल्किन्स ने भारत के पुराने लेखो की ओर ध्यान दिया। भारतीय पण्डित अपने लेखों को पढ़ते न थे, परन्तु यदि कोशिश करते तो सातवीं शती से इधर के लेखों को पढ़ सकते थे। १७८५ में विल्किन्स ने बंगाल का एक पाल अभिलेख तथा राधाकान्त शर्मा ने अशोक की दिल्लीवाली लाट पर का बीसलदेव चौहान का लेख पढ़ डाला।

सन् १८०२ में नैपोलियन के एक अंग्रेज कैदी से श्लीगल नामक जर्मन ने पेरिस में संस्कृत सीखी। श्लीगल का समकालीन फ्रांसीसी फ्राजबॉप था। इन दोनों ने ईरानी तथा यूरोपियन भाषाओ से संस्कृत की तुलना कर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली। इन भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से जाना गया कि इनको बोलने-वाली जातियों के धर्म, कर्म, देवगाथाओ, प्रथाओं में बहुत समानता थी और इस प्रकार से आर्य जाति का पता चला। यह उन्नीसवी सदी की एक सबसे बडी खोज थी।

भारत में अंग्रेजी शिक्षापद्धति की नींव लार्ड मैकाले ने रखी। इस शिक्षापद्धति में उसका एक ही लक्ष्य था कि इस देश पर शासन करने का दिमाग तो इंग्लैंड से आयेगा, परन्तु उसके हाथो के रूप में आदमी यहाँ तैयार किये जायें। इसलिए उसने यहाँ पाठ्य-क्रम इतना जटिल रखा, जिसे सर्वसामान्य व्यक्ति न पढ़ सकें; उसमें उत्तीर्ण होना कठिन बना दिया। शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने से यह शिक्षा और भी जटिल हो गयी। इसलिए शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध रहा, जिससे देश में जागरूकता नही हो सकी। परन्तु इसमें भी कुछ स्वदेशप्रेमी सज्जनो में जाग्रति हुई। हार्डिञ्ज के समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बंगाल में शिक्षा फैलाने की विशेष चेष्टा की। सन् १८५४ में कम्पनी के उच्च अधिकारियो ने भारत में विद्यापीठों (यूनीवर्सिटियो) की आवश्यकता का अनुभव किया। तदनुसार १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में लन्दन के विद्यापीठ के नमूने पर विद्यापीठ बने।

इस काल में अपने देश एव अपने राज्य की आवाज़ सुनानेवाले पहले व्यक्ति स्वामी दयानन्द हुए, जिन्होंने इस शिक्षापद्धति का विरोध किया। उन्होंने इस बात को पहचाना कि यह शिक्षा गुलामी की है। गुजरात के दयानन्द (१८२४–१८८३ ई०) धर्मसुधारक और समाज सुधारक थे; उनका अनेक सुधारों को प्रेरित करनेवाला भाव यही था कि अपना राष्ट्र शक्तिशाली बन सके। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है। अन्यथा प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियो का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं।"

गुजराती होते हुए भी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे, क्योंकि उनके विचार मे भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा और अलग-अलग व्यवहार का विरोध बिना छूटे.....अभिप्राय सिद्ध होना कठिन था। विज्ञान के प्रसार, शिल्प की उन्नति और स्वदेशी की ओर दयानन्द का विशेष ध्यान था।[1]

इसी समय राजा राममोहन राय और रामकृष्ण परमहंस सुधारवादी हुए। इनमें स्वामी दयानन्द जैसी उदासता नहीं आयी। फिर भी रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम देश की बहुत सेवा करते रहे हैं।

दादाभाई नौरोजी अंग्रेजी राज्य के भक्त न थे, उनका ध्यान अपने देश की दरिद्रता की ओर गया, उन्होंने उसके कारणो को ठीक समझा और उस पर प्रकाश डाला।

शुरू-शुरू में जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा अपनायी, उन्होंने अंग्रेजो को श्रेष्ठ समझकर तथा उनके सद्गुणो से प्रेरित होकर इसे सीखा। वे प्रायः समाज सुधार और शिक्षा प्रचार के पक्षपाती थे। उनकी दृष्टि में इस कार्य के लिए अंग्रेजी ज्ञान आवश्यक था। बंगाल में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, उत्तर भारत में सर सैयद अहमद खां, महाराष्ट्र में गोपालहरि देशमुख, गुजरात में दादाभाई नौरोजी पहले अंग्रेजी शिक्षित सुधारकों मे से थे। सैयद अहमद खां ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि गवर्नर जनरल की कौन्सिल में यदि एक हिन्दुस्तानी सदस्य होता, जिसके द्वारा सिपाही अपना

---

१. स्वामी दयानन्द की बतायी शिक्षा पद्धति पर ही मुंशीराम जी ने हरिद्वार के समीप, गंगा पार बिजनौर जिले में गुरुकुल की स्थापना की थी। वहाँ पर आधुनिक विज्ञान की उच्च शिक्षा के साथ-साथ प्राचीन शिक्षा को पूर्णतः आर्यभाषा के माध्यम से ही दिया जाता था। उस समय विज्ञान-साइंस की शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ गिनी चुनी थीं।

कष्ट सरकार तक पहुँचा सकते, तो गदर न होने पाता। सन् १८७७ में लार्ड लिटन से सर सैयद अहमद खा ने अलीगढ़ मुस्लिम कालेज की नीव रखवायी थी।

यह समय देश में अग्रेजी शिक्षा के प्रसार का था, अग्रेजो का राज्य जम चुका था, अब इस राज्य को भविष्य के लिए दृढ़ बनाने की आवश्यकता थी। दृढ़ बनाने के लिए सहायक रूप में आदमी चाहिए। भारत जैसे विस्तृत देश के लिए बहुत बडी मात्रा में आदमी इग्लैण्ड से आ नहीं सकते थे, फिर उन्हे बुलाने मे खर्च बहुत पडता, इसलिए कामचलाऊ आदमी पैदा करने के लिए यहाँ पर शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। यह शिक्षा जिस प्रकार दूसरे क्षेत्रो में प्रारम्भ हुई, उसी प्रकार चिकित्साशास्त्र में भी प्रारम्भ की गयी।

चिकित्साशास्त्र का ज्ञान देने के लिए बगाल में मेडिकल कॉलेज १८३५ ईसवी मे खोला गया। इस नये खुले कालेज में भारतीय पण्डित मधुसूदन गुप्त ने १८३५ में मृत देह पर पहला नश्तर लगाया था। मधुसूदन गुप्त के इस साहसिक कार्य की प्रशसा करने के लिए कलकत्ता के फोर्ट विलियम से तोप दागी गयी थी (निर्णयसागर प्रेस से १९३९ में प्रकाशित सुश्रुत का उपोद्घात, पृ. १५)। १८३६ में मधुसूदन गुप्त ने सुश्रुत को पहली बार छपवाया। ये दोनो घटनाएँ इसी समय हुई; इसलिए इस आधुनिक काल का प्रारम्भ इस समय से माना गया है।

आयुर्वेद के अध्यापन के साथ आधुनिक विज्ञान का संसर्ग तथा आयुर्वेद-ग्रन्थो का प्रथम प्रकाशन इसी समय हुआ। इसलिए श्री दुर्गाशकर केवलरामजी शास्त्री ने आधुनिक समय का प्रारम्भ इसी समय से माना है, जो युक्तिसगत भी है। शिक्षा की पुरानी पद्धति को फिर से जाग्रत करने की, अपनी प्राचीन विद्या को नवीन खोज और शिक्षा के साथ सीखने की भावना सुधारक दयानन्द ने इसी समय में दी थी।

इस काल की आधुनिक अग्रेजी शिक्षा के साथ प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो के अध्ययन में कितना दृष्टिकोण बदल जाता है, यह मेघदूत की मल्लिनाथ की टीका तथा प्रोफेसर काले की टीका को देखकर सरलता से समझा जा सकता है। यही बात चरकसहिता की चक्रपाणि की टीका आयुर्वेददीपिका एव श्री योगीन्द्रनाथ सेन की उपस्कार व्याख्या को देखने से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन व्याख्याएँ या टीकाएँ पूर्णत: शास्त्रीय होती थीं, इनमें विषय का वाग्जाल दर्शन तथा साहित्य तक सीमित रहता था। इसके विपरीत आधुनिक व्याख्या सरल तथा प्रकरण से सम्बद्ध होती है।

चरक-सुश्रुत के काल मे भले ही आयुर्वेद की उन्नति हुई हो, परन्तु गुप्तकाल के पीछे इसमें एकदम रुकावट आ गयी। गुप्तकालीन वाग्भट के सग्रह और हृदय के

देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। आयुर्वेद की पद्धति में पर्याप्त अन्तर हो गया था। चरक में वर्णित दर्शनविषय सुश्रुत के अन्दर केवल एक अध्याय में से छनकर सग्रह में पच-महाभूतो के नाम तक ही रहा। संग्रह मे वह भी दर्शन सम्बन्धी सांख्य या न्याय सम्बन्धी विचार नही आते; फिर भी वह अष्टाग आयुर्वेद का ग्रन्थ है (संक्षिप्तसशयितविस्तृत-विप्रकीर्णः कृत्स्नोऽर्थराशिरिति साधु स एव दृष्ट—संग्रह. उत्तर. अ. ५०)। यह क्रम आगे भी चलता रहा, जिससे सरल सग्रहग्रन्थ बने। इन सरल ग्रन्थो में योगो के सग्रहग्रन्थ विशेष तैयार हुए। इनमे मनुष्यशरीर में होनेवाले नये नये रोग तथा उनका चिकित्सा सम्बन्धी नवीन ज्ञान-शोध कदाचित्, ही कुछ नया होगा। इसके विपरीत शरीर सम्बन्धी ज्ञान तथा कायचिकित्सा के ज्ञान को छोड़कर शेष अगो मे सतत ह्रास ही होता गया, जिससे धीरे-धीरे यह ज्ञान क्षीण हो गया। अन्त में शल्यचिकित्सा का क्षेत्र धोबी, नाई तक रह गया—

मालाकारश्चर्मकारः नापितो रजकस्तथा।
वृद्धा रण्डा विशेषेण कलौ पञ्च चिकित्सकाः॥

इतना होने पर भी प्राचीन सहिताओ का पठन पाठन, उनसे प्राप्त ज्ञान के आधार पर वैद्यक व्यवहार करना चालू रहा। प्राचीन ग्रन्थों से सद्य. फलप्रद योगो को जानने-वाले तथा इनके ऊपर से अपना व्यवसाय करनेवाले व्यक्ति मध्यकाल मे बहुत हुए। मध्यकाल में सहिताग्रन्थ, विशेषत योग—नुस्खो सम्बन्धी बहुत बने। वैद्य पुराने ग्रन्थों के तलस्पर्शी ज्ञान के अवगाहन के लिए उपेक्षित होने लगे। दार्शनिक विचार तथा आयुर्वेद में वर्णित शरीर सम्बन्धी ज्ञान एव अन्य इसी प्रकार की बातो के प्रति उनमे निराशा और सन्देह जागने लगा; विशेष कर जबवे प्रत्यक्ष रूप मे दूसरे ज्ञान को देखते थे; उसमें सत्यता का अनुभव करते थे। भले ही यह विचार हममें पाश्चात्य शिक्षा की उपज कहा जाय, परन्तु अपने चौदहवी शती के ज्ञान का ही यह परिणाम है, जब कि उस समय के ग्रन्थो में कोई भी नया विचार या नयी शोध हमको नही मिली। ऋषि-प्रणीत नाम से इनको सीमाबद्ध कर दिया गया—इनमें मनुष्यकृत ज्ञान का स्थान कहाँ रहा। इस सम्बन्ध मे मैकाले ने भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में जो कहा था, वह भुलाया नही जा सकता—

"जब हम सच्चा इतिहास और दर्शन पढ़ा सकते है तो क्या सरकारी रुपये से ऐसे चिकित्सासिद्धान्त पढायेगे, जिन पर अग्रेजो के पशु-चिकित्सको तक को लज्जा आयेगी, अथवा वह ज्योतिष, जिस पर स्कूलो की अग्रेज बालिकाएँ हँस पडेगी, या ऐसा इतिहास,

जिसमे ३० फुट लम्बे राजाओ का वर्णन है और जिनके राज्य ३० हजार वर्ष तक चलते थे, और क्या ऐसा भूगोल पढ़ायेंगे जिसमे शीरे तथा मक्खन के समुद्रो का वर्णन है ?"

चिकित्सा के सम्बन्ध में मैकाले का कथन पूर्णत ठीक नही, क्योकि जलोदर या शोफ रोग में देशी वैद्य बहुत समय से नमकरहित आहार देते थ (नाद्यादन्नानि जठरी तोयपान च वर्जयेत्—चरक चि. अ १३।१०१, नि स्रुते लघिते पेयामस्नेहलवणा पिबेत्—चरक चि. अ. १३।१९१)। पाश्चात्य चिकित्सा में यह ज्ञान १८ वी शती मे आया।

अब पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान की क्रमश उन्नति होती गयी और देशी चिकित्सा मे बराबर अवनति हुई। अपने तीन सौ साल के मुसलमानो के सम्पर्क में भी हमने उनसे कुछ नही लिया, उनकी उपयोगी औषधियो को, ज्ञान को आत्मसात् करना दूर रहा। शिरावेध (फस्द खोलना), जलौका का उपयोग हकीम लोग बराबर करते रहे और आज भी कही-कही करते है, परन्तु वैद्य इस काम को भूल गये। अब भाग्य से कोई वैद्य इस ज्ञान को क्रियात्मक रूप मे जानता है, ये विषय पुस्तको तक ही रह गये है। वैद्यो के सामने अर्थप्रधान व्यवसाय ही रहा, जिससे वैद्य का आदर्श अत्रिपुत्र ने जो भूतदया कहा था, वह छूट गया। इसी से योगसग्रह के ही ग्रन्थ विस्तार से बने।[1]

आयुर्वेद के ह्रास के कारण—सातवी आठवी शती के पीछे देश मे विद्या की अवनति प्रारम्भ हुई। इस ह्रास के बहुत से कारण राजकीय भी थे—जैसे देश पर बाहर के आक्रामको के आक्रमण होना, किसी भी प्रकार की राजकीय सहायता न मिलना, परन्तु मुख्य कारण इसके वैद्य स्वत थे—जो आज भी है। मुसलमान शासको ने अग्रेजी चिकित्सको से उपचार करवाया, इसके प्रमाण इतिहास में विद्यमान है। उनके अपने हकीम थे, जो कि उसी देश की चिकित्सा करते थे, परन्तु एक आध उदाहरण को छोड़-कर कही भी वैद्य की प्रतिष्ठा या चिकित्सा का उल्लेख नही है। वैद्यो का जीवन आलसी हो गया था, उनमें शोध या ज्ञान-समृद्धि की भावना समाप्त हो गयी थी, रसचिकित्सा में वाजीकरण औषधियो का विशेष प्रयोग चल पडा था।

फिर, वैद्यक व्यवसाय प्राय ब्राह्मणो के हाथ मे रहा, उनको चीर-फाड, स्पृश्यता-अस्पृश्यता आदि बातो का विशेष ध्यान रहा, जिससे इसके ज्ञान मे कमी हुई।

---

१. आज भी जिन पुस्तकों में योग-नुस्खे अधिक होते है, वे सबसे अधिक बिकती है; श्री यादवजी त्रिकमजी की पुस्तकों में सिद्धयोगसंग्रह जितना बिका, इतनी दूसरी पुस्तक नही बिकी। रसतंत्रसार, सिद्धयोगसंग्र. की जितनी अधिक खपत हुई उतनी इस सस्था की दूसरी पुस्तकों की नहीं है।

यह अवनति धीमे-धीमे प्रारम्भ हुई; इसमें वैज्ञानिक बुद्धि और अच्छाई को ग्रहण करने की सकुचित वृत्ति, अपना अभिमानभाव, विद्या को समयानुसार लोकभाषा मे न लाना, विशेष वर्ग को ही उसकी शिक्षा देना, परिश्रम न करना आदि कारणो से सत्रहवी, अठारहवी शती में विद्या पूर्णत क्षीण हो गयी थी। चिकित्सा में मुख्य स्थान हकीमो ने और डाक्टरो ने ले लिया था। आयुर्वेद की प्रणाली उत्तर भारत में बंगाल (पूर्वी बगाल) में सुरक्षित रही, दक्षिण में मलाबार-कोचीन में बनी रही। गुजरात में प्राय: समाप्त हो गयी थी—उत्तर प्रदेश, पजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र मे कुछ-कुछ बची थी।

यूरोपियन लोग जब शिल्प, विद्या और व्यवसाय में उन्नति कर रहे थे, तब भारतीय अपने पुराने रास्ते पर ही चल रहे थे। आयुर्वेद विषयक यह स्थिति भी अन्तिम सीढी पर पहुँच चुकी थी, शरीर शस्त्रकर्म आदि विषय चिरकाल से उपेक्षित चले आ रह थे। चरक-सुश्रुत का अध्ययन भारत के अधिक भाग में समाप्त हो गया था। गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान में शार्ङ्गधर, माधवनिदान, बंगाल में चक्रदत्त, रसेन्द्रसारसग्रह और माधवनिदान का प्रचार था। बगाल में, विशेषत: पूर्वी बंगाल में चरक का अध्ययन क्रम अभी सुरक्षित था। वनस्पतियों की पहचान, जंगल मे उनका ज्ञान समाप्त हो गया था, पसारियो के ऊपर ही वे इसके लिए निर्भर हो गये थे। रसशास्त्र भी सकुचित होकर रसेन्द्रसारसंग्रह तक आ गया था, जो कि क्रियात्मक रूप मे चिकित्सा का अंग था। महारस, उपरस, धातु-उपधातुओ की संदिग्धता बढ गयी थी, रसशास्त्र की बहुत प्रक्रिया समाप्त हो गयी थी। नाना योगसग्रहों में चुने नुस्खे या घर की परम्परा से चले आते योगो पर चिकित्सा चलती थी। वृद्ध स्त्रियाँ औषध करने लगी थी, इनको घरेलू शिक्षा से जो ज्ञान था, वही इस चिकित्सा का आधार था। सस्कृत बिना पढे भी चिकित्सा हो सकती थी, हिन्दी में कुछ पुस्तकें अठारहवी सदी मे बन गयी थी। जैन ग्रन्थ विशेषत: हिन्दी में या क्षेत्रीय भाषा में लिखे गये थे। इस समय के अधिक वैद्य इसी प्रकार की देशी भाषा में लिखी पुस्तकें पढे हुए थे, जिससे वैद्यक के सिद्धान्त वे भूल गये।

ब्रिटिश शासन से ज्ञान के क्षेत्र में जो धक्का लगा, विशेष कर विज्ञान और चिकित्सा विषय में, उससे कुछ विद्वानो की आँखें खुलीं। उससे भारतीय चिकित्सा में परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ। इस परिवर्त्तन में सबसे प्रथम ग्रन्थ-प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १८३६ ईसवी में सुश्रुत का प्रकाशन हुआ था। इसके पीछे चरक संहिता तथा दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थ छपने प्रारम्भ हुए। पहले ग्रन्थ कलकत्ता में बंगला लिपि में छपे, परन्तु पीछे से देवनागरी में छपने प्रारम्भ हुए। इसी समय बम्बई से भी आयुर्वेद के ग्रन्थ

प्रकाशित हुए। इनके बाद श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने सशोधन करके रूपान्तर के साथ आयुर्वेद ग्रन्थों का प्रकाशन बम्बई मे प्रारम्भ किया। इस विषय मे आयुर्वेद-जगत् श्री आचार्यजी का सदा ऋणी रहेगा।

इसके पीछे इन ग्रन्थों का क्षेत्रीय भाषा मे अनुवाद प्रारम्भ हुआ। मराठी, बँगला, हिन्दी अनुवाद विशेष रूप मे चले। इन अनुवादो मे आयुर्वेद का प्रचार सरल हो गया। मूल सस्कृत की अपेक्षा क्षेत्रीय भाषा के भाषान्तर अधिक बिकने थे। ये भाषान्तर बहुत शुद्ध नही थे, परन्तु इनसे विषय का प्रचार बहुत हुआ। इनमे हिन्दी के भाषान्तर सबसे अधिक है, उसके पीछे बँगला, मराठी और अन्त मे गुजराती के अनुवाद है।

इस समय का साहित्य[1]

अठारहवी शती की बहुत सी पुस्तके प्रकाशित हुई है, और बहुत सी पुस्तको का नाम हस्तलिखित पुस्तको के रूप मे पुस्तकालयों के सूचीपत्रों मे लिखा है। यहाँ पर उन्ही पुस्तको का उल्लेख किया है जिनके तिथिक्रम का निश्चय सरलता से हो सकता है। इसमे कुछ प्रतियों के समय-निर्धारण मे उनका अन्त साक्ष्य ही प्रमाण है।

अठारहवी शती मे बनी पुस्तके—**आतकतिमिरभास्कर**—कर्त्ता बालाराम, रहनेवाले वाराणसी के। इसमे चाय का उल्लेख है। **आयुर्वेदप्रकाश**—कर्त्ता माधव (१७१३)। **भैषज्यरत्नावली**—कर्ता गोविन्ददास (कलकत्ता १८९३); इसमें योगो का सग्रह है। **राजवल्लभीय द्रव्यगुण**—नारायण कृत (१७६०)। **प्रयोगामृत**—कर्त्ता वैद्य चिन्तामणि।

अठारहवी शती के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवी शती मे बहुत ग्रन्थ बने, इनमे बहुतो का क्षेत्रीय भाषा मे अनुवाद हुआ और बहुत से प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए। कुछ मुख्य ग्रथो का नाम जो मुझे ज्ञात हो सका, इस प्रकार है—

शब्दकोश के रूप मे श्री उमेशचन्द्र गुप्त का बनाया **वैद्यकशब्दसिन्धु** है। इसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित शब्दो का स्पष्टीकरण दिया है, इसमे बहुत से योगो का सग्रह भी है। **आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान**—श्री कुञ्जविहारीलाल सेनगुप्त, कलकत्ता से प्रकाशित। श्री गोडबोले का लिखा **निघण्टुरत्नाकर**—बम्बई से प्रकाशित। श्री दत्तराम चौबे का लिखा **बृहन्निघण्टुरत्नाकर**—इन दोनो में **अनन्नास, तम्बाकू** एव डाक्टरी मतानुसार मूत्रपरीक्षा आदि आधुनिक चिकित्सा विषय लिखे गये हैं। चोपचीनी के ऊपर चोप-

१. इडियन मेडिसिन—मूल लेखक डाक्टर जौली, अनुवादक सी० जी० काशीकर से उद्धृत।

चोनीप्रकाश पुस्तक बनायी गयी। यह सिफलिस रोग की औषधि है। यह पुस्तक राजा रणजीतसिंह के समय लिखी गयी है।

इस समय चरक, सुश्रुत, अष्टांगहृदय, माधवनिदान, शार्ङ्गधरसंहिता के अनुवाद प्रकाशित हुए। अंग्रेजी मे भी पुस्तकें लिखी गयी, जिनमे उमेशचन्द्र दत्त की लिखी पुस्तक **मैटेरिया मेडिका आफ हिन्दूज**, सर भगवतसिंहजी का **ए शौर्ट हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिकल साइन्स**, अविनाशचन्द्र कविरत्न का चरक संहिता का अंग्रेजी अनुवाद, श्री कुञ्जीलाल का सुश्रुतसंहिता का अनुवाद मुख्य है।

अजीर्णमंजरी या **अमृतमंजरी**—लेखक काशीनाथ या काशीराज अथवा काशीराम, इसका लिखने का समय—१८११, प्रकाशित। **अंजननिदान**—हस्तलिखित प्रति १७९४ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। इसका दूसरा संस्करण हरिनारायण शर्मा द्वारा तैयार किया खेलाड़ीलाल एण्ड संस ने बनारस मे प्रकाशित किया। **अर्कप्रकाश**—आयुर्वेदीय अर्क तैयार करने की पुस्तक, कर्त्ता रावण; सम्भवत १६वीं शती मे लिखी गयी, कई स्थानो से प्रकाशित। **विचारशुद्धकर** या अर्घोघ्न शुद्धकर—कर्त्ता रंगनाथ ज्योतिर्विद, पूना के पास का रहनेवाला। **अश्वलक्षण शास्त्र**—आठ अध्यायो का ग्रन्थ है। **अश्ववैद्यक**—कर्त्ता नानाकर का पुत्र दीपाकर। **अश्वायुर्वेद या** [illegible] दृढबल का पुत्र गन, इसमे आठ स्थान है। **अर्कप्रकाश या आयुर्वेदप्रकाश**—कर्त्ता माधव उपाध्याय, श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा प्रकाशित (बम्बई १९१३)। **आयुर्वेदमहोदधि** या **सुषेणवैद्यक**—निघण्टु है, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से १९१५ मे प्रकाशित, इसका हिन्दी अनुवाद रविदत्त ने किया है। **आयुर्वेदसूत्र**—योगानन्दनाथ कृत, भावप्रकाश के पीछे १६वीं शती मे लिखा हुआ, माईसोर यूनीवर्सिटी सीरीज मे १९२२ मे प्रकाशित दूसरा संस्करण वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई मे प्रकाशित। **गूढ़प्रकाशिका**—इसका दूसरा नाम उपाकरसार है, कर्त्ता दिनकर ज्योतिषी; लेखन समय १७४० शक। **कंकाली ग्रन्थ**—मालवा के नसीरशाह खिलजी के सभापण्डित द्वारा १५००-१५१० मे तैयार किया हुआ, इसकी भाषा संस्कृत और हिन्दी मिली है। **कल्पद्रुमसार संग्रह**—कर्त्ता जयराम, लिखने का समय १७४६ ईसवी। **कामरत्न**—लेखक श्रीनाथ, वेंकटेश्वर प्रेस मे प्रकाशित। **कालज्ञान**—लेखक शम्भुनाथ, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई मे (१८८२ में) प्रकाशित। **काश्यप संहिता** या **काश्यपीय गरुड पंचाक्षारी कल्प**—अगद तंत्र विषयक ग्रन्थ है, इसको मद्रास से यतिराज स्वामी ने १९३३ मे प्रकाशित किया था। **कूटमुद्गर**—माधव कृत और लेखक की अपनी व्याख्या सहित; वेंकटेश्वर

प्रेस से हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित। **गन्धककल्प**—तान्त्रिक ग्रन्थ; रुद्रयामल का एक भाग; श्री यादवजी त्रिकमजी द्वारा १९११, १९१५ में दो भागो में प्रकाशित। **गौरीकांचलिका**—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **चिकित्साकर्मकल्पवल्ली**—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **[illegible]**—लेखक बटेश्वर, लिखने का समय १७८५। **चिकित्सासार**—लेखक गोपालदास। **जीवानन्दनम्**—आयुर्वेद सम्बन्धी उत्तम नाटक; लेखक आनन्दराय मखी–तंजौर के मरहठा राज्य का मन्त्री, प्रकाशित—निर्णयसागर काव्यमाला सीरीज न० २७ (१९३३ में), सस्कृत व्याख्या के साथ श्री दुरैस्वामी आयगर थियोसोफिकल सोसायटी अड्यार से प्रकाशित; हिन्दी व्याख्या—अत्रिदेव विद्यालकार (१९५५), जर्मन डाक्टर झिम्मर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू मेडीसिन' में इसका उल्लेख किया है। **धातुरत्नमाला**—लेखक देवदत्त; लिखने का समय १७५० शक; पूना से मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित। **धातुकल्पराज, मार्तण्ड, नाडीप्रकाश, वैद्यमनोरमा**—इन चारो पुस्तको को श्री यादवजी त्रिकमजी ने १९२३ में प्रकाशित किया। **निदानप्रदीप**—लेखक नागनाथ, लिखने का समय १७४१ विक्रमी सवत्। **पर्य्यायार्णव**—धन्वन्तरिनिघण्टु के साथ आनन्दाश्रम सीरीज से १८९६ में प्रकाशित। **पारदकल्प**—रुद्रयामल का २८ वाँ अध्याय, श्री यादवजी त्रिकमजी द्वारा दो भागो में १९११, १९१५ मे प्रकाशित। **पारदकल्पद्रुम**—लेखक अनन्त, १७९२ ईसवी मे लिखित। **प्रयोगचिन्तामणि**—लेखक माधव, फार्मेसी सम्बन्धी। **कुमारतंत्र**—वेकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **बालतंत्र**—लेखक कल्याण वर्मा, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **भावस्वभाव**—लेखक माधवदेव, लिखित १७१३ ईसवी। **मदनकामरत्न**—एक हजार ईसवी के पीछे संकलित। **मल्लप्र [illegible]**—लेखक कायस्थ लोकनाथ; १६६८ ईसवी मे लिखा गया, पी० के० गोडे द्वारा प्रकाशित। **योगशतक**—वररुचि द्वारा सकलित, व्याख्याकार रूपनयन; हस्तलिखित प्रति १८४९ सवत्; सिंहली व्याख्या के साथ कोलम्बो से १८७७ में प्रकाशित; हिन्दी टिप्पणी के साथ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **योगसमुच्चय**—व्यास गणपति के नाम पर प्रसिद्ध; जीवराम कालिदास ने गोंडल से प्रकाशित किया है। **वैद्यविलास** और **चिकित्सामंजरी**—इन दोनो का लेखक रघुनाथ पण्डित है, यह चम्पावती का (बम्बई के कोलाबा जिले के वर्त्तमान चौल गाँव का) रहनेवाला था; ये १६९९ ईसवी में लिखे गये हैं। **लोहपद्धति**—लेखक सुरेश्वर, प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई; **लोहसर्वस्व**—लेखक सुरेश्वर, प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी बम्बई। **वीरमित्रोदय**—लेखक मित्र मिश्र; लिखने

का समय १६०२ ई०; यह एक कोश है, जो केवल न्याय से ही सम्बन्धित नही, अपितु इसमे चिकित्सा तथा अन्य विषयो का भी उल्लेख है। यह आठ भागो मे विभक्त है, जिनको प्रकाश कहते है। इसका प्रथम प्रकाश जीवानन्द विद्यासागर ने १८७५ मे कलकत्ते से प्रकाशित किया था, शेष भाग चौखम्बा सस्कृत सीरीज बनारस से निकला था। **वैद्यकसार**—लेखक राम, सम्पादक श्री रघुवश शर्मा, हिन्दी अनुवाद के के साथ १८९६ मे बम्बई से प्रकाशित। **वैद्यकसारसंग्रह**—लेखक श्रीकान्त शम्भु, लिखने का समय १७९१ सवत्। **वैद्य कौस्तुभ**—लेखक मेवाराम, १९२८ मे प्रकाशित। **वैद्यचिन्तामणि**—लेखक वल्लभेन्द्र; सम्पादक-पण्डित वैंकट कृष्णाराव, तैलुगु में प्रकाशित, १९२१ मे छठा सस्करण निकला। **वैद्यमनोत्सव**—लेखक नयनसुख, लिखने का समय १७४९ सवत्, व्याख्याकार रामनाथ। **वैद्यमनोरमा**—लेखक कालिदास, प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी बम्बई, सुखदेव के द्वारा हिन्दी व्याख्या के साथ वेंकटेश्वर प्रेम से प्रकाशित। **वैलवल्लभ**—लेखक हस्तिरुचि, लेखन का समय १७२६ सवत्, प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई। **वैद्यविनोद**—जयपुर के राजा रामसिंह की आज्ञा से शकरभट्ट ने १७६२ सवत् मे लिखा था, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से १९१३ मे और कृष्ण शास्त्री नवरे के मराठी अनुवाद के साथ १९२४ ई० मे प्रकाशित। **वैद्यामृत**—लेखक मोरेश्वर भट्ट, लेखन समय १५४७ ईसवी, कृष्ण शास्त्री भाटवडेकर ने मराठी अनुवाद के साथ १८६२ मे बम्बई से। ज्योतिस्वरूप ने हिन्दी व्याख्या के साथ १८६७ में बनारस मे, रामनाथ ने हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित किया। **वैद्यावतंस**—लेखक लोलिम्बराज, गुजराती में १९०८ मे अहमदाबाद से प्रकाशित। **शारीर-पद्मिनी**—लेखक भास्कर भट्ट, १६७९ ई० मे लिखी गयी। **शिवकोश**—लेखक कर्पूरीय शिवदत्त, लेखन समय १६७७ ईसवी, पी० के० गोडमे सम्पादक **सिद्धसार-संहिता**—लेखक रविगुप्त, लेखन समय १३७४ ईसवी। **स्त्रीविलास**—लेखक देवेश्वरोपाध्याय, लेखन का समय १६वी शती ईसवी।

इस समय दो प्रकार के ग्रन्थ बने, एक सहिता ग्रन्थ, जैसे आयुर्वेदविज्ञान, आयुर्वेद-संग्रह, भैषज्यरत्नावली आदि। इन ग्रन्थो में पाश्चात्य चिकित्सा के विषय भी लिये गये; उस विषय को सस्कृत मे श्लोकबद्ध कर दिया गया—जैसे आयुर्वेदविज्ञान मे प्लुरिसी को उरस्तोय के नाम से लिखा है। यह प्रवृत्ति बीसवी सदी में रसविषयक ग्रन्थों मे पायी गयी है। श्री सदानन्द घिल्डियाल ने रसतरगिणी मे स्वर्ण-लवण के नाम से गोल्ड क्लोराईड, एव रजतनत्रित आदि आधुनिक योगों को सस्कृत मे छन्दोबद्ध कर दिया है। दूसरे ग्रन्थ क्षेत्रीय भाषा मे अनुवादित हुए है। इन ग्रन्थो मे भी पाश्चात्य

चिकित्सा के विषय को सम्मिलित किया गया है, किसी में पृथक् रूप से और किसी मे उसी मे जोडकर लिखा है। प्राचीन टीकाओ मे जहाँ दूसरी सहिताओं के या दूसरे शास्त्रो के वचन उद्धृत किये गये थे, उनके स्थान पर पाश्चात्य चिकित्सा की सहायता से विषय के स्पष्टीकरण का यत्न किया गया। शुद्ध अनुवाद भी क्षेत्रीय भाषा मे हुए है, जैसे बँगला मे यशोदानन्द ने सुश्रुत-चरक सहिता का अनुवाद किया, मराठी मे शकरदाजी शास्त्रीपदे का, हिन्दी मे वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि के अनुवाद। गुजराती मे भी चरक का अनुवाद हुआ था; इसी प्रकार का एक अनुवाद तैलुगु का भी दो भागो मे देखा था।

पाश्चात्य चिकित्सा की सहायता से प्राचीन ग्रन्थो के स्पष्टीकरण का प्रयास विशद रूप में श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर—एम० बी० बी० एस० ने अपनी सुश्रुत-सहिता मे किया है। इसी प्रकार का प्रयास कुछ अशो मे मेरे सतीर्थ्य श्री जयदेव विद्यालकार ने चरक सहिता मे किया है, परन्तु साथ ही इसमे प्राचीन सहिताओं की सहायता पूर्णरूप से ली है।

एक और भी प्रकार के ग्रन्थ इस समय बने, जिनमे पाश्चात्य विषय को सस्कृत या क्षे ीय भाषा मे लिखा गया है। इनमें सस्कृत का ग्रन्थ प्रत्यक्षशारीरम् कविराज गणनाथ सेन सरस्वती का मुख्य है। इसका भी हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालकार ने और गुजराती अनुवाद श्री बालकृष्णजी अमरसी पाठक ने तैयार किया है। इस पुस्तक में शुद्ध पाश्चात्य चिकित्सा को सुन्दर सस्कृत मे लिखा है। इसी प्रकार का दूसरा ग्रन्थ कविराजजी का सिद्धान्तनिदान है। श्री दामोदर शर्मा गौड ने अभिनव प्रसूतितंत्र नाम से अपूर्ण ग्रन्थ सस्कृत मे सकलित किया है, जो कि पाश्चात्य चिकित्सा के प्रसूतिविज्ञान पर आश्रित है। हिन्दी मे अत्रिदेव विद्यालकार का क्लिनिकलमेंडि-सिन तथा डा० मुकुन्दस्वरूप जी का स्वास्थ्यविज्ञान है।

प्राचीन ग्रन्थों की अर्वाचीन सस्कृत टीकाएँ—प्राचीन ग्रन्थो की सस्कृत टीकाएँ प्रायः बगाल मे तैयार हुई है। सबसे प्रथम गगाधरजी ने चरकसहिता पर जल्पकल्प-तरु विशद टीका लिखी है। इस टीका मे दार्शनिक विचार भरे है; आयुर्वेद का विषय स्पष्ट नही होता। बगाल की यह मान्यता थी कि बिना दर्शन-ज्ञान के आयुर्वेद नही आ सकता (जब कि अष्टागसंग्रह मे तो दार्शनिक विषय नही के बराबर है और सुश्रुत संहिता में केवल एक अध्याय का सम्बन्ध दर्शन से है)। गगाधरजी का पाण्डित्य प्रत्येक पृष्ठ पर झलकता है, परन्तु वह इतना कठिन है कि सामान्य शिष्य की बुद्धि उसमें नही घुस पाती।

चरकसहिता पर दूसरी सस्कृत टीका श्री योगीन्द्रनाथ सेनजी की है। आपके पिता श्री द्वारकानाथ सेनजी गगाधर कविराज के शिष्य थे। यह टीका अपूर्ण होने पर भी हृदयङ्गम और सरल है, इसमे न तो गगाधरजी की 'जल्पकल्पतरु' के समान दर्शन विषय भरा है, और न चक्रपाणि की आयुर्वेददीपिका के समान विस्तार तथा प्रमाण बाहुल्य है। यह विद्यार्थियो के लिए अति उपयोगी एव बोधगम्य है, इसी से श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने चरकसहिता के सम्पादन मे इस टीका का टिप्पणी मे बहुत उपयोग किया है। दु ख है कि यह टीका अपूर्ण छपी है, श्री यादवजी की बहुत इच्छा थी कि शेष का भी प्रकाशन हो जाय। इनकी इस टीका का नाम चरकोपस्कार है—प्रकाशन समय १९२० ईसवी।

सुश्रुत की टीका सदीपन भाष्य के नाम से श्री हारायणचन्द्र चक्रवर्तीजी ने की है। श्री हारायणचन्द्रजी भी गगाधरजी के शिष्य थे। यह टीका शारीर स्थान तक विस्तृत है; आगे टिप्पणी के रूप मे बहुत सक्षिप्त हो गयी है। इस टीका में मूलपाठ निर्णय-सागर में प्रकाशित सुश्रुतसहिता से बहुत स्थानो में भिन्न है। श्री यादवजी त्रिकम-जी आचार्य ने मूल सुश्रुत सहिता के सम्पादन में इसके पाठ को टिप्पणी मे पर्याप्त मात्रा मे उद्धृत किया है। टीका सरल, बोधगम्य है। विषय का स्पष्टीकरण सुगमता से होता है। यह टीका १८२७ शक सवत् में कलकत्ता में छपी थी।

योगसंग्रह ग्रन्थ

नवी या दसवी शती मे जिस प्रकार से योगो के सग्रहग्रन्थ बनते थे, उसी प्रकार से अठारहवी शती के उत्तरार्द्ध से सग्रह ग्रन्थ बनने लगे। ये ग्रन्थ मुख्यत योगो के होते थे। इनमे जो मुख्य है, तथा जिनसे लेखक परिचित है, वे निम्न हैं—[1]

भैषज्यरत्नावली—बगाल के कविराज श्री विनोदलाल सेन को अपने घर मे महामहोपाध्याय गोविन्ददास की बनायी एक जीर्ण-शीर्ण योगसंग्रह की पुस्तिका मिली थी, इसमे अनेक ग्रन्थो मे से योग उद्धृत किये गये थे, जो कि लेखक को अनुकूल लगे। विनोदलाल सेन ने इस पुस्तिका में अपने अनुभव के योग मिलाकर इसको बढाकर भैषज्यरत्नावली नाम से प्रकाशित किया। बगाल में इसकी अधिक प्रसिद्धि है। इसमें औपसर्गिक मेह, शीर्षाम्बु जैसे नये रोगो को पाश्चात्य चिकित्सा में से लेकर वर्णन किया गया है।

---

१. ग्रन्थों तथा लेखको की जानकारी मेरे वैयक्तिक ज्ञान पर ही आश्रित है, इसलिए स्वाभाविक है कि कुछ ग्रन्थ एवं लेखक छूट गये हों।

भैषज्यरत्नावली का प्रचार उत्तर भारत में बहुत है, इसी से इसके हिन्दी अनुवाद कई हुए हैं। एक अनुवाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपा था, वेकटेश्वर प्रेस बम्बई से भी अनुवाद निकला है, ये दोनो अनुवाद शुद्ध अनुवाद मात्र हैं। सबसे अच्छा, सुव्यवस्थित, आधुनिक जानकारी के साथ मोतीलाल बनारसीदास लाहौरवालो ने (आजकल दिल्ली मे) प्रकाशित किया था। इस अनुवाद को श्री जयदेव विद्यालकार ने अपने गुरु श्री कविराज नरेन्द्रनाथ मित्रजी की देखरेख मे किया था, यह अनुवाद बहुत प्रचलित हुआ। इसका प्रचार वैद्यसमाज तथा विद्यार्थियो मे बहुत रहा। इसकी देखादेखी इसके आधार पर पीछे से कुछ अनुवाद निकले, जिनमे से कुछ अनुवादो में वैद्यो मे प्रसिद्ध दूसरी पुस्तको के प्रकाशित योगो को छन्दोबद्ध करके अपने नाम से दे दिया है, वास्तव में ये योग दूसरे ग्रन्थो से सगृहीत हैं।

कविराज विनोदलाल सेन ने आयुर्वेदविज्ञान नाम का एक दूसरा ग्रन्थ सूत्र, शारीर, द्रव्य, निदान, चिकित्सा—इन पाँच स्थानो का लिखा था। इसमे आयुर्वेद का शारीर, निघण्टु, यत्र-शस्त्रो का वर्णनात्मक एक भाग छपवाया है। इसमें नवीन रोगो का वर्णन है।

आयुर्वेदसग्रह—बँगला का यह बृहत्काय ग्रन्थ है। इसके लेखक देवेन्द्रनाथ सेन गुप्त और उपेन्द्रनाथ सेन गुप्त हैं। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी प्रायः आ गयी है। कोई भी चिकित्सक चिकित्साकार्य इसकी सहायता से चला सकता है। इसमें आयुर्वेद के शारीर, निघण्टु, परीक्षा, रसशास्त्र, परिभाषा आदि विषयो का उल्लेख करके रोगो का निदान देकर उनकी चिकित्सा दी है। चिकित्सा में मुष्टियोग, टोटकाविज्ञान भी प्रारम्भ मे दिये है, जो कि कभी-कभी आश्चर्यकारक देखे गये है। इसके आगे क्वाथ, वटी, अवलेह, घृत, तैल, रस चिकित्सा देकर प्रत्येक रोग के लिए पथ्य-अपथ्य की भी सूचना दी है। चिकित्सक के लिए जो भी ज्ञातव्य होती हैं, अथवा जिसकी चिकित्सा मे आवश्यकता रहती है, वे सब बातें आदि से अन्त तक इसमें सुलभ हैं; एक प्रकार से वैद्य के लिए 'रेडी रेफ्रेन्स' पुस्तक है। दुःख है कि अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद नही हुआ।

निघण्टुरत्नाकर—१८६७ ईसवी मे वैद्यवर्य विष्णु वासुदेव गोडबोले ने वैद्यवर्य गणेश रामचन्द्र शास्त्री दातार आदि दक्षिणी वैद्यो से तैयार करवाकर सेठ हसराज करमसी रणमल्ल जैसे गुजराती सेठो की आर्थिक मदद से मराठी भाषान्तर के साथ प्रकाशित किया। निर्णयसागर प्रेस में छपने से छपाई और शुद्धता अच्छी है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के मूल ग्रन्थो से वचनो को उद्धृत करके बनाया गया है। ओषधि गुण-

दोष, परिभाषा, पचकषाय, सुश्रुत-शारीर, अष्टविध परीक्षा, धातुशोधन, मारण आदि, पारद, महारस, उपरस, रत्न, अर्कप्रकाश, अजीर्णमजरी, वैद्यकशास्त्रीय पारिभाषिक कोश, रोगविज्ञान और चिकित्सा इस प्रकार विभाग करके यह सग्रह सम्पूर्ण किया गया है।

बृहन्निघण्टुरत्नाकर—सबसे बडा सग्रह ग्रन्थ यह है, इसको दत्तराम चौबे ने भाषाटीका के साथ छ भागो मे पूरा करके श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित कराया है। इसी के सातवें और आठवे भाग के रूप में लाला शालिग्राम ने शालिग्राम-निघण्टुभूषण नामक दो भाग बनाये है। सातवें, आठवें भाग में ओषधियो के नाम सस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला, तैलुगु, लैटिन, अग्रेजी आदि भाषाओ में दिये हैं; ओषधियो के गुण-धर्म लिखे है।

रसायनसार—यह ग्रन्थ श्री श्यामसुन्दराचार्य का बनाया हुआ है। आप काशी के रहनेवाले अग्रवाल वैश्य थे। आपने इस ग्रन्थ में जो लिखा है, वह अपना अनुभव किया लिखा है। इसमे पारद के बुभुक्षित करने का उल्लेख, स्वर्णग्रास देकर भार न बढ़ने सम्बन्धी पत्रव्यवहार भी प्रकाशित किया है। इसी में मल्लचन्द्रोदय, शिला-चन्द्रोदय, ताम्रचन्द्रोदय आदि नवीन योग दिये है, जिससे लेखक की नयी सूझ का पता चलता है।

अन्य संग्रह ग्रन्थ—कालेडा बोगला से रससार—सिद्धयोगसग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। यह हिन्दी में लिखा हुआ है, इसका गुजराती अनुवाद भी हो गया है। यह ग्रन्थ सामान्य वैद्य के लिए उत्तम है, इसमें औषधनिर्माण-प्रक्रिया प्रथम भाग मे क्रियात्मक सूचनाओ के साथ दी है। शास्त्रीय योगो के साथ वैद्यो के अनुभूत योग भी इसमें एकत्र किये है।

श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य लिखित सिद्धयोगसंग्रह दूसरा ग्रन्थ है, इसमें कुछ शास्त्रीय योगो मे परिवर्त्तन किया है। लेखक की यह ईमानदारी है कि उसने नीचे स्पष्ट परिवर्त्तन का निर्देश कर दिया है, यथा चन्द्रामृत रस के पाठ में बकरी के दूध के स्थान पर अडूसे के पत्तो के रस की भावना लिखी है, जो कि बम्बई जैसे विशाल शहर की दृष्टि से अनुचित नही। वहाँ पर अडूसे का रस सरल है, परन्तु बकरी का ताजा दूध प्राप्त करना कष्टसाध्य है। (देहात के रोगी को फलो का रस दुर्लभ है और शहर के रोगी को बकरी का दूध कष्टसाध्य है।)

श्री जीवराम कालिदासजी ने गोडल से रसोद्धार तत्र—उपचारपद्धति नाम से एक आवृत्ति गुजराती मे प्रकाशित की थी। उसमे दिये गये योग सर्वथा नवीन थे।

उनका कहना है कि यह प्राचीन पुस्तक है, परन्तु योगो को देखने से ऐसा प्रतीत नही होता।

श्री कृष्णराम भट्टजी ने जयपुर से **सिद्धभैषज्यमणिमाला** ग्रन्थ सुन्दर योगसग्रह प्रकाशित किया था। इसमे बहुत-सी विशेषताएँ है। इसकी भाषा सुन्दर-ललित है।[1] इसमें हिन्दी और सस्कृत मिश्रित आकर्षक पद्यावली है। योगो मे शर्बत जैसी यूनानी चिकित्सा का मिश्रण है। नये योग भी है, 'अमीररस' नाम का योग जो सिफलिस में बरता जाता है, इसी की सूझ है। राजपूताने मे इसका बहुत प्रचार है, इसी से इनके शिष्य और भारतप्रसिद्ध लक्ष्मीराम स्वामीजी ने इसको टिप्पणी सहित प्रकाशित किया था। प्राचीन ग्रन्थो मे से, यूनानी ग्रन्थो मे से तथा व्यवहार मे मे वस्तु का सग्रह करके लेखक ने स्वतत्र रूप मे इसे बनाया है।

इसी ग्रन्थ की शैली पर श्री हनुमानप्रसादजी शास्त्री ने **सिद्धभैषज्यमंजूषा** ग्रन्थ बनाया था। इसमे माघ और भारवि के समान चक्रबन्ध, मूसलबन्ध आदि वृत्त दिये है। इसमें भी सुन्दर, ललित, श्रवणमनोहर पद्यो की रचना की गयी है। नामसादृश्य की भाँति कविता मे भी सामञ्जस्य है।

रसयोगसागर—यह बृहत्काय ग्रन्थ आयुर्वेद मे वर्णित रसयोगो का सग्रह है। इसको श्री वैद्य हरिप्रपन्नजी ने सकलित किया है। इसमे प्रकाशित, अप्रकाशित, हस्तलिखित पुस्तको से यथासम्भव सम्पूर्ण रसयोग अकारादि क्रम से सगृहीत है। नीचे उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया है, विशेष योगो के लिए यथावश्यक टिप्पणी भी दी है। एक ही योग किन-किन ग्रन्थो मे आया है, उसमें हुआ छोटा-मोटा परिवर्त्तन क्या है, उसका जो नाम परिवर्त्तन हुआ है, इत्यादि जानकारी इसमे दी गयी है।

उपोद्घात अग्रेजी और सस्कृत मे लिखा है, इसमे आयुर्वेद का इतिहास तथा वैदिक शारीर शब्दकोश आदि आवश्यक बातो का उल्लेख है। द्वितीय भाग के अन्त में परिशिष्ट मे सिद्ध सम्प्रदाय एव द्रव्यगुण्यपरिभाषा सम्बन्धी स्पष्टीकरण आदि बातो का उल्लेख पूर्ण पाण्डित्य के साथ किया है।

---

१. हुं हों एषा स्फुरन्ती सघनघनघटालोलविद्युद् विलासैः
काली पीली झुकी छै झटपट निमडो चूरमूं भींज जासी।
नां केतां भांग पोथी हरकत पड़शे केम गांडा थया छो
भय्या जानो तुम्हारी तुम अब हम तो जंमवे को जचे है।
—मुक्तक १३५

भारतभैषज्यरत्नाकर—इस ग्रन्थ में अकारादि क्रम से आयुर्वेद के सब योगो का सग्रह करने का यत्न किया गया है। इसमे प्रकाशित पुस्तको से ही प्राय योग लिये है। क्वाथ, चूर्ण, वटी, अवलेह, घृत, तैल, रसयोग आदि प्रत्येक का पृथक्-पृथक् अकारादि क्रम से सकलन हुआ है। यह एक बहुत बडा प्रयत्न है, जिसे वैद्य गोपीनाथजी ने श्री नगीनदास शाह, मालिक ऊँझा आयुर्वेदिक फार्मेसी के सहयोग से सम्पूर्ण करके प्रकाशित करवाया है। इसमें रसयोगसागर का ठीक उपयोग किया गया है।

नवीन प्रवृत्तियाँ

निघण्टु—श्री कविराज गगाधर से दो वर्ष पूर्व अर्थात् १७९६ ईसवी मे उत्पन्न जामनगर के प्रश्नोरा वैद्य श्री विट्ठलभट्ट ने अपने आप कोई ग्रन्थ नही लिखा। परन्तु इनके शिष्य प्रश्नोरा वैद्य रुगनाथ इन्द्रजी ने [illegible] नाम का जो ग्रन्थ लिखा था, उसमे आधुनिक वनस्पति शाखा के निष्णात वनस्पतिशास्त्री जयकृष्ण इन्दुजी की सहायता का पूर्ण लाभ लिया गया है। यह इस तरह का प्रथम निघण्टु है।

वनस्पति सम्बन्धी दूसरी पुस्तक कविराज विरजाचरण गुप्त का **वनौषधिदर्पण** है। यह उत्तम निघण्टु है, इसमें प्रत्येक वनस्पति का उपयोग शास्त्र में से सगृहीत किया है। अमुक वनस्पति किस-किस रूप में बरती गयी है, यह इससे देखा जा सकता है। साथ ही प्रत्येक वनस्पति सम्बन्धी आधुनिक जानकारी अग्रेजी मे भी दी है। पुस्तक के प्रारम्भ में आयुर्वेद का इतिहास, आचार्यों का परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ बँगला मे है।

तीसरा सग्रह श्री बापालाल गडबडशाह का **निघण्टु आदर्श** दो भागो मे है। इसका सकलन वनौषधिदर्पण के आधार पर ही हुआ है, परन्तु अधिक विस्तृत है। यह गुजराती में लिखा गया है।

गुजराती में श्री जयकृष्ण इन्दुजी का लिखा '**वनस्पतिशास्त्र**' भी उत्तम ग्रन्थ है, जो कि अपने विषय का बेजोड है। मराठी में डाक्टर वामन गणेश देसाई के लिखे दो ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं; एक **भारतीय रसायनशास्त्र** और दूसरा **औषधसंग्रह** ग्रन्थ है। ये दोनो ग्रन्थ श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रकाशित किये थे। इनमे 'औषधसग्रह' के आधार पर श्री आचार्यजी ने अपना ग्रन्थ **द्रव्यगुणविज्ञानम्** उद्भिज्ज-द्रव्य-विज्ञानीय लिखा है। इस ग्रन्थ मे प्रचलित नाम, उनका शास्त्र मे आया उपयोग, सामान्य गुण-कर्म देकर नव्य मत दिया है। यह नव्य मत डाक्टर वामन गणेश देसाई की पुस्तक के मुख्य आधार से है। पीछे लिखा जाने से पूर्व के सब निघण्टुओ एव वनस्पति शास्त्र का लाभ इसे प्राप्त हुआ है।

हिन्दी में निघण्टु पर बहुत काम हुआ है—अजमेर से दो भागो मे **अनुभूतयोग-सागर** नामक ग्रन्थ छपा था, जिसमे वनस्पतियो का उल्लेख यूनानी तथा आयुर्वेदिक पद्धतियो से मिलाकर हुआ है। इसके पीछे श्री चन्द्रराज भण्डारी का लिखा **वनौषधि-चन्द्रोदय**—बृहत्कोश है यह कई भागो में समाप्त हुआ है। श्री रूपलाल वैश्य का लिखा **सचित्र बूटीदर्पण**—काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है, इसका प्रथम खण्ड ही प्रकाशित हो सका है। श्री प्रियव्रत शर्मा ने **'द्रव्यगुणविज्ञान'** नामक पुस्तक दो भागो मे लिखी है। इसमे प्राचीन और आधुनिक विचार मिलाकर लिखे है। आधुनिक विचार किस आधार पर लिखे है, यह इसमे स्पष्ट निर्देश नही है। श्री यादवजी त्रिकमजी की सचाई की प्रशसा है, उन्होने पुस्तक-लेखन मे पूर्णत. सत्यता बरती है। पुस्तक का मुख्य आधार 'द्रव्यगुणविज्ञानम्'—श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का ही प्रतीत होता है, यद्यपि ऐसा कही पुस्तक के अन्दर निर्देश लेखक ने नही किया। वैद्य हीरामणि मोतीराम जागले का लिखा **वनस्पतिगुणादर्श सचित्र**—सक्षिप्त एवं उत्तम ग्रन्थ है। अन्तुभाई का **वनस्पतिपरिचय** सक्षिप्त है।

रसशास्त्र—इस विषय पर कुछ नये ग्रन्थ लिखे गये है। इनमें श्री श्याम-सुन्दराचार्यजी का रसायनसार प्रथम है। इसमें पारद को बुभुक्षित करने का दावा किया है। इस सबध मे धूतपापेश्वर-बम्बईवालो के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह भी प्रकाशित है। इसमें मल्लचन्द्रोदय, तालचन्द्रोदय आदि नये योग तथा अन्य रसयोग भी दिये गये है। भीमसेनी कपूर तैयार करने की सुन्दर विधि इसमे मिलती है।

इसके पीछे श्री नरेन्द्रनाथजी मित्र के शिष्य श्री सदानन्द शर्मा घिल्डियाल की बनायी **रसतरंगिणी** है। यह ग्रन्थ अनुभव की प्रक्रियाओ तथा नवीन योगों के साथ उत्तम-ललित पद्यमय रचना में है। इसमे बहुत-सी विधियाँ एक-एक धातु के जारण-मारण की है। इसका विभागीकरण स्वतत्र और वैज्ञानिक है। इसमे बहुत से नवीन योग भी दिये है, जो कि अनुभूत एवं उत्तम फलप्रद है। इस ग्रन्थ ने आयुर्वेद की पुरानी प्रथा को एक प्रकार से समाप्त कर दिया।

इसी तरह एक ग्रन्थ श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का लिखा **रसामृत** है। यह ग्रन्थ सरल, सक्षिप्त और उपादेय है। इसमे प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में दी सूचनाएँ तथा इसका परिशिष्ट महत्त्व का है। इसमें विधियाँ थोडी दी है, जो दी हैं वे अनुभूत है, और व्यर्थ का प्रपंच नही है।

इसी प्रकार का हिन्दी मे लिखा, परन्तु उपादेय, सक्षिप्त, प्रकृत लेखक का

अनुभूत ग्रन्थ **भारतीय रसपद्धति** है। इसके प्रारम्भ में रसशास्त्र सम्बन्धी बातो पर (यथा ओज क्या है, भस्मो की पानी पर तैरने से परीक्षा, घटको से योग के गुणो का निर्णय आदि) युक्तिपूर्वक विवेचना दी है। इसमे जो भी प्रक्रियाएँ दी है, वे सब सरल और दृष्ट हैं।

इनके सिवाय बहुत से और भी छोटे बडे रसग्रन्थ लिखे गये है, **'रसजलनिधि'**—यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थो मे आये रसो का सग्रह है, परन्तु रसयोगसागर से बहुत छोटा है। इनके लेखक श्री भूदेव मुकर्जी हैं, यह पाँच भागो मे समाप्त हुआ है। इसमे योगो का अग्रेजी अनुवाद भी दिया है।

रसतंत्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह—यह ग्रन्थ कालेडा बोगला (अजमेर) से प्रकाशित हुआ है। इसमे धातुओ की भस्म, आसव-अरिष्ट आदि निर्माण की सूचना-के साथ योगो का भी सग्रह है। इसकी प्रक्रियाएँ भी बरती प्रतीत होती है, इसमे क्रियात्मक सूचनाएँ भी दी हैं।

शरीरविज्ञान—इस विषय पर आधुनिक दृष्टि से प्राचीन पद्धति को समयानुकूल बनाने के लिए कविराज गणनाथ सेनजी एम० ए०, एल० एम० एस० ने संस्कृत में **प्रत्यक्षशारीरम्** नाम से एक ग्रन्थ तीन भागो में लिखा था। इसका प्रथम भाग १९१३ ईसवी मे और तीसरा भाग १९३६ ईसवी मे प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम दो भागो का हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालकार ने किया है। गुजराती अनुवाद डाक्टर बाल-कृष्णजी अमरसी पाठक ने टिप्पणी देते हुए किया है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के विद्यार्थियो को शरीरशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए बहुत उपादेय है।

हिन्दी भाषा में शरीरशास्त्र पर पर्याप्त ग्रन्थ निकले हैं। इनमे प्रारम्भ का ग्रन्थ डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा का **हमारे शरीर की रचना** है। इसके दो भाग है, इनमें प्रथम भाग का नवीन सस्करण उनके सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्र वर्मा ने किया है, इसे बहुत परिष्कृत और सवर्द्धित बना दिया है। दूसरी पुस्तक डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा की लिखी **मानव शरीर का रहस्य** है; यह भी दो भागो में है, इसमे शरीरविज्ञान के साथ क्रियाविज्ञान भी मिला है। इन्ही की लिखी एक पुस्तक **मानव शरीररचना-विज्ञान** है, जिसका एक भाग ही छपा है। यह पुस्तक ग्रे की एनाटमी के ढग पर लिखी है। पुस्तक पूरी हो जाय तो उत्तम होगी—इसमें कोई सन्देह नही। शवच्छेद विषय पर **अभिनव शवच्छेदविज्ञान** श्री हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ का लिखा बहुत उत्तम है। यह पुस्तक पूर्णत पाश्चात्य पुस्तक के अनुसार तैयार की गयी है।

शरीरक्रिया-विज्ञान—यह विषय आयुर्वेद में दोष-धातु-मल विज्ञान नाम से

पहचाना जाता है। परन्तु आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान को प्राचीन पद्धति से लिखने-वाले श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालकार है। इन्होने श्री यादवजी त्रिकभजी आचार्य की प्रेरणा से **शरीरक्रियाविज्ञान** (**आयुर्वेदीय क्रियाशरीर**) नाम का बहुत सगठित, सरल ग्रन्थ हिन्दी मे लिखा है। इसका प्रचार देखकर इसके आधार पर ही बिक्री के लिए इसी नाम का दूसरा ग्रन्थ श्री प्रियव्रत शर्मा एम० ए० ने लिखा। इस ग्रन्थ का नाम **अभिनव शरीरक्रियाविज्ञान** रखा है। यह ग्रन्थ श्री देसाई के ग्रन्थ की तुलना मे नही पहुँचता। उसमे जो मौलिकता, विषय का स्पष्टीकरण है, वह इसमे नही मिलता।

चिकित्सा विषयक ग्रन्थ—इस विषय मे प्रथम प्रामाणिक कार्य डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर, एम० बी० बी० एस० ने किया। आपने स्वतत्र रूप से **औपसर्गिक रोग, रक्त के रोग, मूत्र के रोग** आदि पुस्तके लिखी। ये पुस्तके मुख्यत अग्रेजी पुस्तको का निष्कर्ष लेकर लिखी गयी है। इनमे पारिभाषिक शब्द आपने नये बनाये है, जिससे भाषा मे काठिन्य अनुभव होता है। काशी विश्वविद्यालय मे आयुर्वेद विभाग मे आप चिकित्सा के अध्यापक थे, वहाँ से १९५७ मे निवृत्त हो गये है। उक्त पुस्तके विद्यार्थियो के लिए बहुत लाभप्रद हुई।

वही के अध्यापक डाक्टर शिवनाथजी खन्ना ने चिकित्सा को सक्षिप्त परन्तु उपादेय रूप मे प्रस्तुत करके बहुत सरल और विद्यार्थियो तथा चिकित्सको के लिए सुलभ कर दिया है। आपने **रोगीपरीक्षा, रोगपरिचय, रोगनिवारण** ये तीन पुस्तके लिखी है। ये पुस्तके पाश्चात्य चिकित्सा के आधार पर लिखी होने से बहुत उत्तम और उपयोगी है। रोगीपरीक्षा पुस्तक का अधिक प्रचार देखकर श्री प्रियव्रत शर्मा ने भी इन पुस्तक के आधार पर आयुर्वेद का विषय देकर नयी पुस्तक तैयार कर दी। यह आयुर्वेद की प्रथा है या प्रकाशको का रुपया कमाने का लोभ है कि जो पुस्तक आयुर्वेद मे चलती है, उसी के आधार पर इधर-उधर से कुछ बदलकर नयी पुस्तक तैयार करवा देते है।

श्री आशानन्द पचरत्न ने भी **व्याधिविज्ञान** एव **आधुनिक चिकित्साविज्ञान** नाम से चिकित्साविषयक पुस्तके लिखी है। इन पुस्तको मे आयुर्वेद का भी उल्लेख है। भाषा सरल है, विषय को सार रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि आवश्यक बात छूटने नही पाती। व्याधिविज्ञान दो भागो मे है, आधुनिक चिकित्साविज्ञान भी दो भागो मे प्रकाशित हुआ है।

अत्रिदेव विद्यालकार द्वारा प्रस्तुत **क्लिनिकल मेडिसिन** दो भागो में १८९० पृष्ठो मे लिखा उत्तम ग्रन्थ है। इसमें पाश्चात्य चिकित्साप्रणाली मे शौवल की पुस्तक

क्लिनिकल मेडिसिन, मजूमदार की बैड साइड मेडिसिन की नीव पर आर्ष वचनो द्वारा आयुर्वेद के विषय का प्रतिपादन किया है। पुस्तक लिखने में भारतीय संस्कृति का पूरा ध्यान रखा गया है। आयुर्वेद ग्रन्थो से ढूंढ-ढूंढकर वचन उद्धृत किये है, जिससे दोनो चिकित्सा-सरणियो की समानता स्पष्ट दीखती है।

स्वास्थ्यविज्ञान---इस विषय परे बहुत अच्छी सुलभ पुस्तके उत्तम शिक्षा के लिए हिन्दी मे प्राप्य है। इनमे डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर का लिखा **स्वास्थ्यविज्ञान** बहुत विस्तृत है, इसमे पारिभाषिक शब्द नये होने से विद्यार्थियो को कुछ कठिनाई होती है। डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा का लिखा **स्वास्थ्यविज्ञान** सरल और पारिभाषिक शब्द पुराने या अंग्रेजी के रहने से विद्यार्थियो और जनता में अधिक प्रचलित है। आपने स्कूलो मे स्वास्थ्य की शिक्षा देने के लिए [illegible] एक दूसरी पुस्तक लिखी है, जो बहुत प्रचलित है। सामान्य जनता मे स्वास्थ्य की जानकारी के लिए अत्रिदेव विद्यालकार ने **स्वास्थ्य और सद्वृत्त** एव **स्वास्थ्यविज्ञान** दो पुस्तकें लिखी है। ये दोनो पुस्तकें जनता में स्वास्थ्य का महत्त्व, उसकी रक्षा तथा दीर्घायु प्राप्त करने की शिक्षा देने के लिए लिखी गयी है।

शिशुपालन---बच्चो के पालन तथा कौमारभृत्य विषय पर डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा का **शिशुपालन** (काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित) तथा अत्रिदेव विद्यालकार का लिखा **शिशुपालन** (गगा पुस्तकमाला लखनऊ से प्रकाशित) उत्तम है। प्रथम पुस्तक शुद्ध पश्चिमी चिकित्सा के अनुरूप है, दूसरी पुस्तक में पश्चिमी चिकित्सा के साथ-साथ आयुर्वेद के ग्रन्थो मे आये वचनो का, इस सम्बन्ध के निर्देशो का समावेश किया गया है। श्री रमानाथ द्विवेदी ने **बालरोग** नाम से एक सुन्दर ग्रन्थ पाश्चात्य और आयुर्वेद चिकित्सा के आधार पर लिखा है।

शल्यतंत्र---इस विषय में डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा ने **संक्षिप्त शल्यविज्ञान** पुस्तक पाश्चात्य पद्धति से लिखी थी, जो बहुत सरल और उपयोगी प्रमाणित हुई। उसी की प्रेरणा से अभी **शल्यप्रदीपिका** नाम की ९०० पृष्ठ की पुस्तक लिखी है। इसमे शल्य विषय बहुत ही सरलता से समझाया है। आयुर्वेदिक कालेजो में इस विषय का ज्ञान कराने के लिए यह उत्तम है। आपके ही शिष्य श्री पी० जे० देशपाण्डे ने **शल्यतंत्र में रोगीपरीक्षा** बहुत ही सरल भाषा मे प्रस्तुत की है, जिससे विद्यार्थियो को बहुत सरलता हो गयी है।

पाश्चात्य शल्यतत्र का आयुर्वेद के साथ तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्रिदेव विद्यालकार का **शल्यतंत्र** बहुत उपयोगी है। इसमें सक्षिप्त शल्यविज्ञान

विषय को मूल मे देते हुए टिप्पणी मे आयुर्वेद के वचन उद्धृत किये है। प्रारम्भ मे शल्यतत्र की प्राचीन जानकारी आयुर्वेद ग्रन्थो एव इतिहास के आधार पर दी है। यत्र-शस्त्रो का परिचय विस्तार से दिया है। यत्र-शस्त्रो का परिचय देने के लिए कविराज श्री सुरेन्द्रमोहनजी की लिखी पुस्तक **यंत्र-शस्त्रपरिचय** भी उपयोगी है। रमानाथ द्विवेदी लिखित **सौश्रुती** आयुर्वेद का शल्य [illegible] करने के लिए उत्तम है।

प्रसूतितंत्र—इस विषय पर सस्कृत और हिन्दी मे अच्छी पुस्तके प्रकाशित हुई है। सस्कृत मे श्री दामोदर शर्मा गौड का लिखा **अभिनव प्रसूतितत्र** (अपूर्ण) है। इसकी भाषा बहुत परिमार्जित है, विषय को पाश्चात्य पुस्तको से इस सुन्दरता से लिया है कि उसमे प्राचीनता आ गयी है। इसके पारिभाषिक शब्द भी नवीन और सुन्दर है।

हिन्दी मे डाक्टर रामदयाल कपूर का लिखा **प्रसूतितंत्र,** अत्रिदेव विद्यालकार की **धात्रीशिक्षा,** डाक्टर चमनलाल मेहता का लिखा **प्रसूतितंत्र,** श्री प्रसादीलाल झा की **प्रसूतिपरिचर्या** आदि बहुत-सी पुस्तके प्रचलित है। इन पुस्तको का अधिक प्रचार देखकर प्रकाशक ने श्री रमानाथ द्विवेदी से **प्रसूतितंत्र** लिखवाया है। यह पुस्तक अन्य पुस्तको की अपेक्षा बृहत् है, इसमे प्रसूतिविद्या सम्बन्धी ज्ञातव्य बाते पाश्चात्य एव प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थो के आधार पर दी है। पुस्तक सरल और उपयोगी है, इसमे यह विषय एक प्रकार से पूरा हो गया है। द्विवेदीजी ने **स्त्रीरोगविज्ञानम्** नाम से एक छोटी पुस्तिका लिखी है, जिसमे स्त्रियो सम्बन्धी रोगो का उल्लेख है। श्री शिवदयाल गुप्त ने **प्रसूतितंत्र** पर सरल पुस्तक लिखी है, जो सक्षिप्त, सस्ती तथा उपयोगी है।

शालाक्यतंत्र—इस विषय पर हिन्दी में नेत्ररोग पर कुछ पुस्तके प्रकाशित हुई हैं, जिनमे डाक्टर मुजे की **नेत्रचिकित्सा,** डाक्टर श्री यादवजी हसराज का **नेत्र-रोगविज्ञान,** ठाकुर वि धो साठये का **नेत्ररोगविज्ञान शास्त्र** बहुत विस्तृत एव प्रामाणिक है। इनके तथा अग्रेजी पुस्तको के आधार पर श्री शिवदयाल गुप्त ने सचित्र **नेत्ररोगविज्ञान** सरल पुस्तक लिखी है। इससे सामान्य रूप मे नेत्ररोग सम्बन्धी जानकारी प्राप्त हो जाती है। दूसरे लेखको ने भी कुछ पुस्तके लिखी है, परन्तु उनका यह विषय अभ्यस्त न होने से विषय स्पष्ट नही हुआ और उनमे बहुत-सी जानकारी सुनी हुई सी प्रतीत होती है, उसका वैज्ञानिक महत्त्व नही है।

श्री रमानाथ द्विवेदी ने **शालाक्य तत्र (निमितंत्र)** नाम से कान, नाक, मुख, आँख, सिर के रोगो पर आयुर्वेद तथा पाश्चात्य विज्ञान के आधार पर पुस्तक लिखी

है। इसमें आयुर्वेद विषय की प्रधानता है, जिसे पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से सरल बनाया गया है। इसमें चिकित्सा तथा अन्य सूचनाएँ सक्षिप्त एव उपयोगी हैं।

मेडिकल विधिशास्त्र—इस विषय पर अत्रिदेव विद्यालकार की लिखी **न्यायवैद्यक और विषतंत्र** प्रथम और सबसे उपयोगी है। इसमें प्रत्येक वस्तु सरलता से, क्रम से संक्षेप मे दी है। विषय के साथ कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों से इस सम्बन्ध के उद्धरण दिये हैं। प्राचीन काल में भी इस विषय का वही महत्त्व था, जो आज है। विद्यार्थियो को शिक्षा देने के लिए यह सबसे उत्तम एवं सरल पुस्तक है। विषतंत्र पर स्वतत्र पुस्तिका श्री रमानाथ द्विवेदी ने 'अगदतंत्र' नाम से लिखी है, जो कि प्राचीन विषयो की जानकारी देती है।

आयुर्वेदिक कालेजो के लिए हिन्दी में पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र का प्रायः पूरा साहित्य तैयार हो गया है। यदि इस साहित्य का आज ठीक प्रकार से उपयोग किया जाय तो भविष्य में इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती चलेगी। इस साहित्य मे आयुर्वेद के ज्ञान का पूरा ध्यान लेखको ने रखा है। आयुर्वेद विषय को पाश्चात्य विषय से मिलाकर प्रस्तुत करने का यत्न किया है। बिना पाश्चात्य ज्ञान के आयुर्वेद का पुराना पाठ्यक्रम उपयोगी होगा इसमें सन्देह है। जिन विषयो पर पुस्तके नही लिखी गयी या सक्षेप में लिखी गयी हैं, उन पर भी समयानुसार पुस्तके प्राप्त हो जायँगी, ऐसी आशा है।

बीसवाँ अध्याय

इस युग के प्रतिष्ठित वैद्य

बंगाल की परम्परा

जिस प्रकार प्रत्येक देश में अपनी चिकित्साप्रणाली है, इसी तरह भारत के हर प्रान्त की अपनी चिकित्सापरम्परा है। यह परम्परा सवत् १८५६ से लेकर आज तक जिस प्रकार सुव्यवस्थित रूप में बंगाल में मिलती है, वैसी दूसरे प्रान्तों की परम्परा का मुझे ज्ञान नही। सम्भवतः अन्य प्रान्तो में हो, परन्तु आयुर्वेद के जितने ग्रन्थ इस परम्परा मे बँगला मे या सस्कृत में लिखे गये, उतने शायद ही किसी अन्य भाषा में लिखे गये होंगे। इस परम्परा में बने ग्रन्थों में एक क्रमबद्ध पद्धति है; चाहे छोटे-से-छोटा कोई भी ग्रन्थ (आयुर्वेदसोपान अथवा फलितचिकित्साभिधान आदि कोई भी) लें, उसमें भी वही परम्परा चिकित्सा की मिलेगी, जो कि बारह सौ पृष्ठ या इससे अधिक पृष्ठों के बडे ग्रन्थ में (यथा—आयुर्वेदशिक्षा में—लेखक अमृतलाल गुप्त) है। यह परम्परा ही बताती है कि इस देश में आयुर्वेदशिक्षा की धारा बिना टूटे एक रेखा में अनवरत बहती आयी है।

इस परम्परा का प्रारम्भ जो मिलता है, वह कविराज गगाधरजी से मिलता है, इनके शिष्यो की परम्परा से यह आयुर्वेदज्ञान अनेक शाखाओ मे विभक्त होकर जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, दिल्ली—उत्तर भारत मे फैला।

कविराज गंगाधर—आपका जन्म बँगला सवत् १२०५ (१८५६ विक्रमी) मे जैसोर जिले के भागुरा ग्राम में हुआ था। आपने नाना शास्त्रों का अध्ययन करके १८ वर्ष की उम्र में राजशाही जिले के वेलधरिया नामक स्थान के विख्यात कविराज रामकान्त सेनजी के पास आयुर्वेद सीखा था। इन्होने यहाँ पर तीन साल अध्ययन करके २१ वर्ष की उम्र में कलकत्ता मे चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। परन्तु पीछे अपने पिता के आदेश से मुर्शिदाबाद मे चिकित्सा प्रारम्भ की। उन दिनो मुर्शिदाबाद

बगाल-बिहार-उडीसा की राजधानी था। यहाँ आने पर इनका यश चारो ओर फैला। इस समय इन्होने कासिमबाज़ार की महारानी श्रीमती स्वर्णमयी की चिकित्सा की। इससे दरबार के पारिवारिक चिकित्सक हुए। इनकी प्रसिद्धि इतनी हो गयी कि डाक्टरो के असाध्य रोगी भी इनसे चिकित्सा कराते थे। मुर्शिदाबाद के नवाब की चिकित्सा इनको तब करनी पडी, जब कि डाक्टर ने उसे असाध्य कह दिया था। इस चिकित्सा से नवाब को आरोग्य लाभ हुआ।

गगाधरजी की स्त्री का देहान्त युवावस्था में हो गया था, इसलिए अपने पुत्र धरणीधर का पालन-पोषण परिचारिका पर छोडकर अपना समय आप अध्ययन-अध्यापन में लगाने लगे। श्री द्वारकानाथजी सेन का कहना है कि कई बार तो गुरुजी के पास अध्ययन करते हुए सारी रात बीत जाती थी। ये अपने समय के विद्वान् सुचिकित्सक और निपुण अध्यापक थे।

इनके शिष्यो की परम्परा बहुत लम्बी है, इन्होने लगभग ७६ ग्रन्थ लिखे है। आयुर्वेद पर ११ ग्रन्थ, तत्र ग्रन्थ २, व्याकरण ग्रन्थ ८, साहित्य ग्रन्थ १२, धर्म-शास्त्र ७, उपनिषद् सम्बन्धी ८, दर्शन ग्रन्थ १४, ज्योतिष १ और अन्य १३ ग्रन्थ है। इनकी चरकसहिता पर लिखी जल्पकल्पतरु व्याख्या की चर्चा हम कर चुके है।

इनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है —
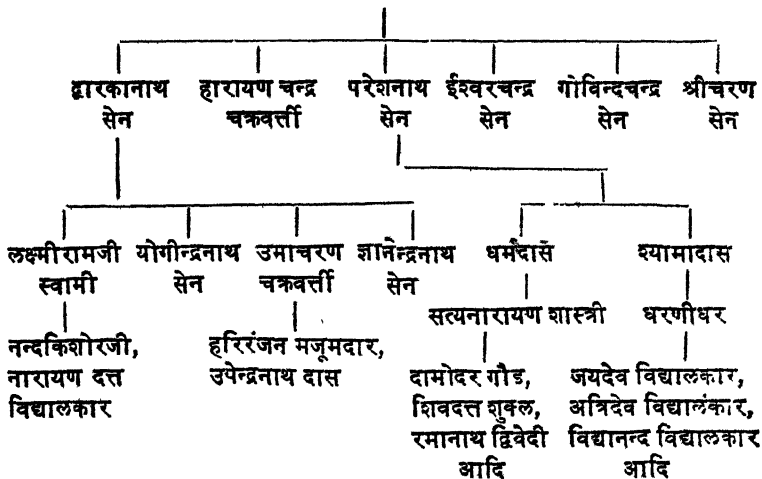
उनकी मृत्यु ८६ वर्ष की आयु में बगला सवत् १२९२ (विक्रमी १९४२) में हुई थी। उनकी मृत्यु के पीछे उनके कई ग्रन्थो का मुद्रण हुआ, पर बहुत से अप्रकाशित रह गये। उनके आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—

१ चरकसहिता की जल्पकल्पतरु टीका, २. परिभाषा; ३ भैषज्य रामायण; ४ आग्नेयायुर्वेद व्याख्या; ५. नाड़ीपरीक्षा; ६. राजवल्लभीय द्रव्यगुणविवृति; ७. भास्करोदय, ८. मृत्युजयसहिता, ९ आरोग्यस्तोत्रम्; १० प्रयोगचन्द्रोदय; ११. आयुर्वेदसग्रह।

श्री द्वारकानाथ सेन—महामहोपाध्याय कविराज द्वारकानाथ सेन कविरत्न का जन्म १८४३ ईसवी में बगाल के फरीदपुर जिले मे 'खडरपारा' में हुआ था। इनका वश चिकित्सा के लिए प्रख्यात था। द्वारकानाथ के सात भाई और थे, ये सबसे छोटे थे। ये जन्म से लापरवाह-बेफिक्र प्रकृति के थे। परन्तु उम्र के साथ इनमें विद्याप्रेम भी बढता गया। इन्होने मुर्शिदाबाद के कविराज गगाधरजी से आयुर्वेद, दर्शन, उपनिषदो का अध्ययन किया। द्वारकानाथ सेन उनके प्रिय शिष्यो मे थे।

इन्होने १८७५ में कलकत्ता को केन्द्र बनाकर चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। कुछ ही वर्षों मे इनका नाम केवल कलकत्ता में ही नही, अपितु बाहर भी प्रख्यात हो गया। इस प्रख्याति से दूर-दूर से विद्यार्थी इनके पास चिकित्सा के अध्ययन के लिए आने लगे। इनको ये हृदय से आयुर्वेद, दर्शन पढाते थे। इन्होने हथुवा के महाराज तथा उदयपुर (मेवाड) के राणा की चिकित्सा भारत सरकार के निमन्त्रण पर की थी। इस सफलता पर इनको १९०६ मे वैद्यो में महामहोपाध्याय की उपाधि सबसे प्रथम मिली थी।

श्री द्वारकानाथ को चिकित्सा व्यवसाय से अवकाश नही मिलता था, परन्तु कार्य मे व्यग्र होने पर भी ये नियमपूर्वक भारतीय काग्रेस सस्था के अधिवेशन में सम्मिलित होते रहे। ये सामाजिक कार्य, गरीबो की सहायता, बिना किसी प्रसिद्धि के करते थे, इनके दिये दान को इनका दूसरा हाथ भी नही जानता था।

इनकी मृत्यु १९०६ ईसवी में हुई। इनके बडे पुत्र श्री योगीन्द्रनाथ सेन एम.ए. थे, जो स्वयं कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्य हुए हैं। दूसरे पुत्र कविराज जोगेन्द्रनाथ थे, जो कि आनरेरी प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट और जज बने। ये स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे; इन्होने स्वदेशी आदोलन मे भाग लिया। तीसरे पुत्र का नाम कविराज सुधीन्द्र है; इनको स्वदेशी आन्दोलन मे जेल जाना पडा।

कविराज द्वारकानाथ सेन के शिष्यो मे जयपुर के स्वामी लक्ष्मीरामजी, निज पुत्र

योगीन्द्रनाथ सेन एम ए तथा श्री ज्ञानेन्द्रनाथ सेन [illegible] हैं। स्वामी लक्ष्मी-रामजी के शिष्यो मे श्री नन्दकिशोरजी तथा राजपूताने के बहुत से वैद्य एव नारायण-दत्त विद्यालकार हैं। श्री ज्ञानेन्द्रनाथ सेन ने अपना ज्ञान पटना के गवर्नमेन्ट आयुर्वेद कालेज के छात्रो को दिया। उसके पीछे डी ए वी कालेज—लाहौर एव ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज हरिद्वार मे प्रिन्सिपल बनकर सैकडो विद्यार्थियो को ज्ञानदीप मे प्रकाशित करते रहे। हरिद्वार मे ही उनकी मृत्यु हुई।

श्री ह[illegible] चक्रवर्ती—इनका जन्म पवना जिले के बकलिया ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम कविराज आनन्दचन्द्र चक्रवर्त्ती था। पिता और पुत्र दोनो ही मुर्शिदाबाद के कविराज गगाधर के शिष्य थे। इन्होने शवच्छेद करके चिकित्सा ज्ञान प्राप्त किया, जिससे सुश्रुत सम्बन्धी कुछ शल्यकर्म भी करते थे। इनको अपनी चिकित्सा पर अगाध प्रेम अथाह विश्वाश था। इसी से असाध्य रोगियो की चिकित्सा करने में इनको आनन्द का अनुभव होता था, विशेषत. जो रोगी सब ओर से निराश होकर आते थे, उनको अपने पास से मुफ्त में औषधि देते थे और जरूरत पडने पर आर्थिक सहायता भी देते थे।

आँख की चिकित्सा मे इनका विशेष नैपुण्य था, यह नैपुण्य औषध चिकित्सा के साथ शस्त्रकर्म मे भी था, जिससे डाक्टरो के साथ इनकी प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। इसके कारण इनको एक बार कष्ट मे भी पडना पडा था, परन्तु मजिस्ट्रेट ने सचाई के कारण इनको इस आपत्ति से बचा लिया था। इनकी मृत्यु सन् १९३५ ईसवी में हुई।

इन्होने सुश्रुत के ऊपर व्याख्या-टिप्पणी रूप मे सन्दीपन भाष्य लिखा है। यह भाष्य और टिप्पणी सरल है, इससे पाठ की उलझन मिट गयी। अपने जीवन में इन्होने धन और मान दोनो कमाये। राजशाही में इन्होने एक आयुर्वेद विद्यालय भी खोला था। इनके पौत्र उपेन्द्रचन्द्र चक्रवर्त्ती इस काम को देखते है।

श्री योगीन्द्रनाथ सेन—इनका जन्म कलकत्ते मे १८७१ ईसवी मे हुआ था, इनके पिता का नाम महामहोपाध्याय श्री द्वारकानाथ सेन था। इन्होने कलकत्ता विश्व-विद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी और चिकित्सा का अध्ययन अपने पिता से ही किया था।

इन्होने चरकसहिता पर 'चरकोपस्कार' नामक सुन्दर व्याख्या लिखी है, दुःख है कि वह अपूर्ण रही। यह व्याख्या विद्यार्थियो के लिए अतिशय उपयोगी है। विद्याध्ययन की शिक्षा अनवरत देने के लिए अपने ही निवासस्थान पथरिया घाट—कलकत्ता मे एक पाठशाला चलायी थी जहाँ पर कि दूर-दूर से विद्यार्थी आयुर्वेद शिक्षा

के लिए आते थे। यहाँ पर शिक्षा तथा अन्य सुविधाएँ बिना किसी प्रकार की आर्थिक फीस लिये मुफ्त में दी जाती थी। गरीबों के लिए मुफ्त दवाखाना खुला हुआ था। इनकी मृत्यु १९१८ ईसवी की पहली जुलाई को हुई थी।

श्री धर्मदासजी—इनका जन्म बर्दवान जिले में नवद्वीप के पूर्ववर्त्ती चूपी ग्राम मे १८६२ ईसवी में हुआ था। इनके पिता का नाम कविराज श्री काशीप्रसन्न था। १५ वर्ष की उम्र में ये आयुर्वेद पढने के लिए अपने मामा श्री परेशनाथ कविराजजी के यहाँ वाराणसी मे आ गये। श्री परेशनाथ कविराज श्री गगाधर कविराज के शिष्य थे।

अध्ययन समाप्त करके आपने अपने घर बनारस मे ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। फिर मालवीयजी के आग्रह से हिन्दू विश्वविद्यालय मे आयुर्वेद का अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। इनके मुख्य शिष्यो मे श्री सत्यनारायण शास्त्री एव कविराज-चक्रवर्त्ती ताराचरण सर्वदर्शनतीर्थ है।

श्री श्यामादासजी—आपका जन्म वगदेश के प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र नवद्वीप के समीप चूपी ग्राम में बगला सवत् १२७१ मे हुआ था। इनके पितामह श्री पद्मलोचन दास प्रसिद्ध चिकित्सक और विद्वान् थे। इनके दो पुत्र थे, एक अन्नदाप्रसाद दास और दूसरे राधिकाप्रसाद। अन्नदाप्रसाद दास कविराज श्यामादासजी के पिता थे।

श्री श्यामादासजी ने १५ वर्ष की अवस्था मे प० यदुनाथ उपाध्याय से संस्कृत साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि विषय पढे। आयुर्वेद पढने के लिए काशी के प्रसिद्ध कविराज परेशनाथजी के पास चले आये।

काशी में आयुर्वेद की शिक्षा समाप्त कर ये अपने पिता के आग्रह से अपने गाँव चले गये, वहाँ पर पिता के साथ रहकर चिकित्सा-ज्ञान प्राप्त किया। व्यवसाय करने के लिए कलकत्ता चले आये। वहाँ पर श्री द्वारकानाथ सेन के समीप रहकर ज्ञान में विदग्धता प्राप्त करते हुए अपना स्वतन्त्र चिकित्सा-व्यवसाय प्रारम्भ किया।

इनका व्यवसाय यहाँ अच्छा चमका। व्यवसाय के साथ-साथ इनका अध्यापन कार्य विस्तृत हुआ, दूर-दूर से विद्यार्थी इनके पास आयुर्वेद सीखने के लिए आते थे। इनके शिष्यों की सख्या बहुत थी, शिष्यों मे से बहुत से छात्र घर पर ही रहकर विद्याध्ययन करते थे, उनकी सब व्यवस्था इन्ही के यहाँ से होती थी।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता भी बराबर दी जाती थी। यहाँ शिक्षासस्था पीछे श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ के रूप मे परिणत हो गयी।

इनके प्रमुख शिष्यों में सबसे यशस्वी श्री कविराज धरणीधरजी हुए, जिन्होंने गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय में कई वर्ष आयुर्वेद का अध्यापन किया और बहुत से

योग्य स्नातक शिष्य बनाये। पीछे वाचस्पतिजी के आग्रह से कलकत्ता आकर विद्यापीठ का कार्य-भार सँभाला—उसमे आयुर्वेद शिक्षा देते रहे।

कविराजजी की मृत्यु १३४१ बँगला सवत् मे हुई। आपके पीछे आपकी यशस्वी शिष्य-परम्परा आपके सुयोग्य पुत्र श्री विमलानन्द तर्कतीर्थ . . . . . अतुल कीर्त्ति के रूप मे विद्यमान है।

श्री गणनाथ सेनजी—आपका जन्म बगाल म राढ प्रदेश के श्रीखण्ड नामक स्थान में हुआ। यह वैष्णवो का प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ पर रघुनन्दन गोस्वामी वैष्णव थे। इनके दौहित्र कुल मे उत्पन्न गगाधर नामक कविराज वाराणसी में चिकित्सा व्यवसाय करते थे। इनके दो पुत्र थे—एक यज्ञेश्वर कविराज और दूसरे कुजविहारी थे। श्री कुजविहारी ने सुश्रुत का अग्रेजी अनुवाद किया था। आपने मेडिकल कालेज कलकत्ता मे पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करके उपाधि ली थी। फिर सेना में चिकित्सक पद पर काम किया।

श्री कुजविहारीजी की दो सतान थी—ज्येष्ठ पुत्र का नाम केदारनाथ था, जो कि युवावस्था में ही सन्यासी हो गये थे। कनिष्ठ पुत्र का नाम विश्वनाथ था। यही कविराज विश्वनाथ श्री गणनाथ सेनजी के पिता थे।

कविराज विश्वनाथ सेन बनारस में रहकर अपना व्यवसाय एवं चिकित्सा का अध्यापन करते थे। गणनाथ सेनजी का जन्म काशी में १९३४ सवत् में हुआ। बचपन से ही इनमें विशेष प्रतिभा थी। श्री सत्यव्रत सामश्रमी से वेदो का अध्ययन किया, महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालकार से दर्शन, सस्कृत आदि का अध्ययन करते हुए अग्रेजी की मैट्रिक, इन्टर, बी० ए० परीक्षाएँ दी। सवत् १९९४ में इनके पिता की मृत्यु हुई, जिसके कारण इनको कष्ट के दिन व्यतीत करने पडे, इस पर भी इन्होने धैर्य और अध्यवसाय से अपना अध्ययन जारी रखा।

१८९८ ईसवी में इन्होने मेडिकल कालेज मे प्रवेश किया और १९०३ मे वहाँ से उपाधि प्राप्त की। इसके पीछे सस्कृत से एम० ए० की उपाधि प्राप्त की।

कविराजजी ने प्रत्यक्षशारीरम् और सिद्धान्तनिदानम् नामक दो ग्रन्थ लिखकर अपनी कीर्त्ति अक्षय बना ली। इनकी योग्यता का सम्मान समाज मे, जनता मे एव सरकार में पूर्ण रूप से हुआ। आयुर्वेद के लिए अपने पिता के नाम पर आपने विश्वनाथ विद्यापीठ चलाया, अपने प्रयत्न से कलकत्ते मे कल्पतरुप्रासाद नामक विशाल, भव्य आवास बनवाया। आप अपने पीछे योग्य पुत्र श्री सुशीलकुमार सेन को छोड गये थे, पर दुःख है कि वे भी इस समय जीवित नही रहे।

श्री विजयरत्न सेन—इनका जन्म बगाल के विक्रमपुर नामक स्थान मे २० नवम्बर १८५८ को वैद्यकुल मे हुआ। इनके पिता का नाम कविराज श्री जगच्चन्द्र सेन था। जब इनकी उम्र १८ मास की थी, तभी इनको पितृवियोग सहना पडा। घर की परिस्थिति से बाध्य होकर ये कलकत्ते मे अपने मामा कविराज गगाप्रसाद सेनजी के पास चले आये। वही इन्होने साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि के साथ-साथ आयुर्वेद की शिक्षा भी ली। आयुर्वेद के गुरु श्री गगाप्रमाद सेन एव कविराज काली-प्रसन्न सेन थे, जो उस समय के प्रसिद्ध कविराज थे।

विजयरत्न सेन प्रतिभाशाली थे। इन्होने अपने चिकित्सा-व्यवसाय से पर्याप्त धन तथा यश कमाया। इनकी कीर्त्ति बहुत फैली, इसी से कश्मीर-जम्मू के महाराज ने इनको चिकित्सा के लिए बुलाया था। अन्य धनी-मानी लोग भी इनसे लाभ प्राप्त करते थे। इनकी मृत्यु ५२ वर्ष की आयु में १९११ ईसवी मे हुई।

इन्होने "वनौषधिदर्पण" नाम का सुन्दर निघण्टु लिखा। इनके पौत्र श्री ज्योतिष-चन्द्र सेन थे, जिन्होंने अष्टागहृदय के उत्तर तत्र पर शिवदास सेनजी की टीका का प्रकाशन करवाया। इनके शिष्यो मे प्रधान शिष्य श्री यामिनीभूषण थे, जिन्होने अष्टाग आयुर्वेद विद्यालय मे इनकी प्रस्तरमूर्ति स्थापित की थी।

श्री यामिनीभूषण कविराज—आपका जन्म खुलना जिले के पायो ग्राम में १८७९ ईसवी मे हुआ था, पिता का नाम कविराज पचानन रे था। ये सस्कृत और आयुर्वेद शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। यामिनीभूषणजी ने सस्कृत मे एम० ए० तथा मेडिकल कालेज मे पॉच साल अध्ययन करके १९०५ मे एम० बी० की उपाधि प्राप्त की। आयुर्वेद का ज्ञान अपने पिता से ही प्राप्त किया। पिता के मरने के पीछे आयुर्वेद की शिक्षा कविराज विजयरत्न सेनजी के पास पूरी की थी।

इन्होने १९०६ मे अपना स्वतन्त्र व्यवसाय कलकत्ता मे प्रारभ किया। इन्होने १९१६ में अष्टाग आयुर्वेद कालेज और हास्पिटल के नाम से एक संस्था को जन्म दिया। इन्होने इसके लिए अपना तन-मन-धन लगा दिया। इसका विस्तार १९२५ में हुआ, जब महात्मा गांधीजी के हाथों से शिलान्यास करवाकर पृथक् रूप मे इसका अस्तित्व रखा गया। यहाँ सब प्रकार की सुविधा है और ३०० से अधिक विद्यार्थी शिक्षा लेते है।

श्री यामिनीभूषण राय ने विषयवार आयुर्वेद की शिक्षा का ज्ञान देने के लिए आयुर्वेदग्रन्थो से वचनो को सगृहीत करके पृथक्-पृथक् पुस्तके प्रकाशित करवायी थी। इनमें शालाक्य तत्र, प्रसूति तत्र, विषविज्ञान आदि बहुत-सी उपयोगी पुस्तके प्रकाशित

हुई हैं। इनकी मृत्यु ४७ वर्ष की उम्र में ही १९२५ ईसवी में हो गयी। इनका नाम अष्टाग आयुर्वेद कालेज के नाम के साथ जोड दिया गया।

बगाल के दूसरे प्रसिद्ध कविराज **श्री उमाचरण चक्रवर्ती** थे, जिनका कार्यक्षेत्र बनारस रहा। आप यहाँ चिकित्सा व्यवसाय करते हुए अध्यापन भी करते थे। आपके प्रसिद्ध शिष्यो में **श्री हरिरंजन मजूमदार** है, जिन्होने दिल्ली मे आयुर्वेद का क्षेत्र बनाया।

श्री हरिरंजन मजूमदार—कविराज हरिरजन मजूमदार का जन्म कश्मीर में सन् १८८५ मे हुआ था, जहाँ महाराज रणजीतसिह और महाराज प्रतापसिंहजी के राज्यकाल मे उनके पिता कविरत्न षष्ठीचरण मजूमदार राज्य के गृहचिकित्सक थे। वास्तव में वैसे उनके पूर्वज चटगाँव (पूर्वी पाकिस्तान) के रहनेवाले थे। उनके वंश मे चिकित्सा कार्य बहुत पीढियों से होता आया है, इस परम्परा के वह १३वें उत्तराधिकारी हैं। वग प्रान्त में साधारण शिक्षा समाप्त करने के बाद इन्होने १९०८ मे प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता से वनस्पति-विज्ञान लेकर एम० ए० की डिग्री प्राप्त की, तत्पश्चात् इन्होने काशी के प्रसिद्ध कविराज उमाचरण भट्टाचार्य के चरणो में बैठकर आयुर्वेद का अध्ययन किया और कलकत्ता तथा कश्मीर मे निजी प्रैक्टिस भी की।

सन् १९२० मे जब स्वर्गवासी हकीम अजमल खाँ को कविराज हरिरजनजी के बारे मे मालूम हुआ तो उन्होने दिल्ली के आ० और यू० तिब्बी कालेज का भार ग्रहण करने के लिए उनसे अनुरोध किया। आयुर्वेदिक विभाग के प्रधान के नाते इन्होने वहाँ लगातार १७ वर्षों तक कार्य सुसम्पन्न किया। इस बीच में दिल्ली म्युनिसिपालिटी में आयुर्वेद को स्वीकृत कराने के लिए इन्होने घोर प्रयत्न किया। अन्त में ३ वर्ष के अथक परिश्रम के बाद आप एक आयुर्वेदिक औषधालय खुलवाने मे सफल हो गये और अनेक कठिनाइयो के बीच इन्होने उसे चलाने का भार सँभाला। इस औषधालय की अप्रत्याशित सफलता के बल पर ये दूसरा औषधालय खुलवाने मे सफल हुए। इस प्रकार ग्यारह वर्ष तक इन्होने कार्य किया। आजकल ११ आयुर्वेदिक औषधालय म्युनिसिपालिटी की ओर से जनता की सेवा कर रहे हैं।

१९३७ में इन्होने म्युनिसिपल औषधालय तथा आ० और यू० तिब्बी कालेज दोनो से अवकाश ग्रहण कर लिया और अपनी स्वतन्त्र प्रैक्टिस प्रारम्भ कर दी। तभी इन्होने मजूमदार आयुर्वेदिक फार्मास्यूटिकल वर्क्स के नाम से एक फार्मेसी खोली।

आजकल आप काशी में रहते हैं और पूर्णतया अवकाशप्राप्त जीवन व्यतीत कर रहे है। कविराजजी के प्रथम पुत्र कविराज आशुतोष मजूमदार ने दिल्ली में हिन्दू

कालेज मे पढ़ने के उपरान्त आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बी कालेज में आयुर्वेद का अध्ययन कर सन् १९३५ से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था, आजकल वे अपनी निजी प्रैक्टिस नयी दिल्ली एव दिल्ली में करते है। इसके अतिरिक्त वे आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बी कालेज के वाइस प्रिन्सिपल है।

उमाचरण चक्रवर्त्तीजी के दूसरे शिष्य **उपेन्द्रनाथ दास** है, जो दिल्ली में ही अपना चिकित्साव्यवसाय करते हुए आयुर्वेद का अध्यापन करते है। आपने त्रिदोष सम्बन्धी एक पुस्तक सस्कृत मे लिखी है।

बगाल की परम्परा में **राखालदास कविराज** भी सफल चिकित्सक हुए हैं। इसी प्रकार अन्य भी परम्परागत वैद्य है, परन्तु अब वह प्राचीन प्रतिभा, निष्ठा नही है। इस समय श्री विमलानन्द तर्कतीर्थ, श्री प्रभाकर चट्टोपाध्याय आदि कुछ कविराज है। बगाल की परम्परा मे एक विशेषता यह है कि अग्रेजी की उच्च शिक्षा लेने के साथ इन्होने आयुर्वेद को सीखा। श्री योगीन्द्रनाथ सेन एम० ए०, श्री हरिरंजन नाथ मजूमदार एम० ए०, श्री गणनाथ सेनजी एम० ए०, श्री यामिनीभूषण राय एम० ए० आदि इसके उदाहरण है। पाश्चात्य ज्ञान के कारण बुद्धि का विकास होने से इन्होने जो निष्ठा आयुर्वेद के प्रति रखी वह सच्ची थी, इसलिए इन्होने आयुर्वेद का विकास किया। श्री गणनाथ सेनजी के शिष्यो में डाक्टर आशानन्द पजरत्न ने भी एम० बी० बी० एस० करके आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार से जिनको ज्ञान मिला, वे अधिक श्रद्धा के साथ उसका विकास कर सके।

इसके विपरीत जो केवल शास्त्राचार्य होते है, व्याकरण या संस्कृत का ज्ञान लेकर आयुर्वेद पढते है, उनसे आयुर्वेद का प्राय कोई हित नही होता; वे केवल लकीर पर चलनेवाले रह जाते है। जो पाश्चात्य ज्ञान के साथ आयुर्वेद पढते है, वे उसमें विशाल दृष्टि रखकर बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होते है, इसलिए उनसे आयुर्वेद की सच्ची सेवा होगी। इसी से बगाल के सूक्ष्मदर्शी कविराजो ने समय रहते इस बात को पहचाना, और अंग्रेजी तथा पाश्चात्य विज्ञान के साथ-साथ अपने दर्शन, सस्कृत साहित्य का ज्ञान करके आयुर्वेद को पढा।[1] यही एक सीधा रास्ता था, जिससे आज भी बँगला में

---

१. गुरुकुल विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम सन् १९१८ से लेकर १९३२ तक जो था, वह ऐसा ही था, वहाँ पर आयुर्वेद पढ़नेवाले को अंग्रेजी, साइन्स, व्याकरण, संस्कृत, दर्शन, उपनिषद्, इतिहास, गणित आदि सब आधुनिक ज्ञान इन्टर तक का तथा व्याकरण सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी, महाभाष्य, दर्शन में वैशेषिक, सांख्य, न्याय, योग, वेदान्त, वेद पढ़ते हुए पाश्चात्य चिकित्सा के साथ-साथ आयुर्वेद पढ़ना होता था।

आयुर्वेद की प्रामाणिक संहिताओ के अनुवाद के सिवाय चिकित्सा विषयक जितना साहित्य मिलता है, वह अन्य किसी भी भाषा में नही।

उत्तर प्रदेश के वैद्य

उत्तर प्रदेश या अन्य किसी प्रान्त में बंगाल जैसी परम्परा लम्बी चली हो, ऐसा ज्ञात नही होता। इसलिए अन्य प्रान्तों में जिन वैद्यो ने आयुर्वेद की उन्नति मे भाग लिया, आयुर्वेद की सेवा की, उनमें से प्रसिद्ध विद्वानो का अपने ज्ञान के अनुसार ही यहाँ उल्लेख किया गया है।

अर्जुन मिश्र—अर्जुन मिश्र का जन्म काशी में संवत् १९१० में हुआ था। आपके पिता का नाम पण्डित भानुदत्त था, जो कि रहनेवाले पजाब के होशियारपुर जिले के थे। इनका विद्यारम्भ प्रसिद्ध विद्वान् प० बालकृष्णजी से हुआ, आपने आयुर्वेद संगरूर रियासत के वैद्य प० दिलारामजी से सीखा था। चिकित्सा क्षेत्र काशी को बनाया। ये अपने कार्य में बहुत सफल हुए।

आयुर्वेद की शिक्षा के लिए १९१७ मे आयुर्वेद विद्याप्रबोधिनी पाठशाला आपने खोली थी। इसको चलाने के लिए तन-मन-धन से सहायता की, जिसके परिणाम-स्वरूप आज भी अर्जुन विद्यालय के नाम पर यह कार्य कर रही है। आप मरते समय अपना सर्वस्व पाठशाला को दे गये। आपकी मृत्यु १९७९ सवत् में हुई थी। आप अपने पीछे शिष्यो की एक लम्बी परम्परा छोड गये।

श्यामसुन्दराचार्य—काशी के प्रसिद्ध विद्वान् श्यामसुन्दराचार्य का जन्म सवत् १९२८ में भरतपुर राज्य के सुप्रसिद्ध कामवन नामक स्थान में हुआ था। आप रामानुज सम्प्रदाय के वैश्य थे। आप अपनी युवावस्था में काशी आ गये थे। यहाँ आपने आयुर्वेद श्री अर्जुन मिश्रजी से पढ़ा था।

आपने रसशास्त्र के चन्द्रोदय और पारद पर अनुभव करने में बहुत समय लगाया। इसमें तन-मन-धन व्यय करके जो ज्ञान प्राप्त किया उसे जनता के समक्ष 'रसायनसार' के रूप में रखा। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे भी रसायन शास्त्र की शिक्षा दी थी। आपकी मृत्यु १९१८ ईसवी में हुई थी।

हरिदास राय चौधरी—आपका मूल स्थान राजशाही (बगाल) के अन्तर्गत बिजौडा है, आपके पिता का नाम कविराज जगच्चन्द्र था। हरिदासजी का जन्म काशी में १२८६ बंगला सवत् में हुआ। ग्यारह वर्ष में पितृवियोग सहना पडा। आपने प्रारम्भ में सस्कृत के साथ अंग्रेजी का अध्ययन किया। पीछे से मेडिकल स्कूल पटना

मे प्रविष्ट हुए। परन्तु अपने पुत्र की चिकित्सा के कारण विवश होकर पढाई छोड आये। इनके पुत्र को यकृत रोग था, जिसकी चिकित्सा मे डाक्टरो से लाभ न होता देखकर कविराज गगाधर के शिष्य ईश्वरचन्द्र की चिकित्सा आरम्भ करायी गयी, जिससे स्वास्थ्य लाभ हुआ। इससे इनके हृदय मे आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई, ये ईश्वरचन्द्र से आयुर्वेद पढ़ने लगे। ईश्वरचन्द्रजी की मृत्यु के पीछे यही रोगियो की चिकित्सा करते थे। इनकी मृत्यु बँगला सवत् १३४० मे हुई है।

श्री त्र्यम्बक शास्त्री—आपके पितामह पेशवाओ के साथ काशी आये थे। बिठूर मे बाजीराव पेशवा दूसरे जब कैद कर लिये गये, तो कुछ पेशवा काशी आये थे। ये लोग पेशवाओ के राजवैद्य थे, इसलिए उनके साथ मे काशी आये। आपके पिता अमृत शास्त्री अच्छे वैद्य थे। आप भी उनके योग्य पुत्र हुए। पेशवाओ के राजवैद्य होने से सम्भवत' आपको सरकार से कुछ पेन्शन भी मिलती थी। आप काशी के शिरोमणि चिकित्सक थे। आपको अपनी चिकित्सा पर पूरी आस्था और विश्वास रहता था। विद्वानो का आप आदर करते थे, मूर्खो के लिए क्रोधी थे। आपके सुयोग्य शिष्यो मे **पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री** है, जो इस समय बम्बई के आयुर्वेद कालेज के सचालक है। आपकी शिष्यपरम्परा लम्बी है।

श्री सत्यनारायण शास्त्री—काशी के अगस्तकुण्डा मुहल्ले मे १९४६ सवत् मे आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम बलभद्र पाण्डेय था, जो अपने पिता पं० शिवनन्दन शर्मा पाण्डेय के समान विद्वान् थे। आपमे बचपन से ही प्रतिभा का विकास था। इसी से बहुत जल्दी आपने सस्कृत व्याकरण, दर्शन विषय मे पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। आयुर्वेद का अध्ययन श्री धर्मदासजी से किया था। उनके ये प्रिय शिष्य थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उनके पीछे आयुर्वेद के अध्यक्ष रहे। आपका नाडीज्ञान बहुत चमत्कारिक है। अपने चिकित्सा-नैपुण्य के कारण आप राष्ट्रपति के चिकित्सक नियुक्त हुए। आप 'पद्मभूषण' उपाधि से सम्मानित है। आपमे विद्वत्ता के साथ सरलता, उदारता, स्पष्टवादिता दीखती है। आपने बहुत से योग्य शिष्य उत्पन्न किये, जिनमे दामोदर शर्मा, प्रियव्रत शर्मा, शिवदत्त शुक्ल एव रमानाथ द्विवेदी मुख्य है।

श्री जगन्नाथप्रसाद शुक्ल—आपके घर को वैद्यो का घराना कहा जाता था। आपका जन्म सवत् १९३६ मे फतेहपुर के एकडला ग्राम मे हुआ था; पिता का नाम पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल था। पिता की मृत्यु इनकी छोटी उम्र मे हो गयी थी। कुछ समय रहने के बाद आप मध्यप्रदेश मे प्रयाग-समाचार के सम्पादक होकर प्रयाग में

आये। यह पत्र राजवैद्य पडित जगन्नाथ शर्मा का था। इससे इनको आयुर्वेद के प्रति रुचि हुई। यहाँ से इन्हे बम्बई मे वेङ्कटेश्वर-समाचार पत्र मे जाना पडा, जहाँ पर ये वैद्य शकरदासजी शास्त्री के सम्पर्क मे आये और आयुर्वेद को अपनाया।

आपने अपना कार्यक्षेत्र प्रयाग को बनाया। सवत् १९६६ से आप यही पर रहकर हिन्दी की तथा आयुर्वेद की सेवा कर रहे है। आयुर्वेद के प्रचार के लिए आपने बहुत-सी पुस्तके लिखी, सुधानिधि पत्रिका भी निकाल रहे है, घाटा सहकर भी उसे चला रहे है। आयुर्वेद महासम्मेलन की नीव स्थापित करने मे आपका बहुत बडा हाथ है। प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे आयुर्वेद को स्थान दिलाने का यश आपको ही है। आयुर्वेद के रस-वीर्य आदि विषयो पर आपने दस से अधिक पुस्तके लिखी है।

बिहार प्रान्त के वैद्य

श्री व्रजविहारी चतुर्वेदी—आपका जन्म मिथिला प्रान्त के अन्तर्गत हाजीपुर नामक छोटे शहर मे हुआ था। आपके पिता का नाम प० मोहनलाल चतुर्वेदी था। प्रारम्भ मे व्रजविहारीजी ने फारसी और अग्रेजी पढी थी। उपनयन के पीछे पटना जाकर सस्कृत, दर्शन आदि प्राच्य विषयो का अध्ययन किया। फिर काशी आकर प० गीतारामजी शास्त्री से आयुर्वेद का सम्पूर्ण अध्ययन किया। चिकित्सा व्यवसाय अपने गॉव हाजीपुर मे प्रारम्भ किया। हाजीपुर में १५ वर्ष तक कार्य किया, अच्छी प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त की, महाराज दरभगा की चिकित्सा करके यश उपार्जन किया।

मित्रो के अनुरोध पर आप १९१२ मे पटना आ गये और वहाँ पर चिकित्सा व्यवसाय करने लगे। पटना में राजकीय सस्कृत एसोसियेशन में आयुर्वेद की परीक्षाओ को रखवाने का श्रेय आपको ही है। आपके अनुरोध पर ही सरकार ने पटना में आयुर्वेदिक कालेज खोला था। आपके पुत्र श्री हरिनारायणजी है, जो उसके प्रिन्सिपल हुए। शिष्यो मे प० हरिनन्दजी झा योग्य चिकित्सक है। आपने कुछ ग्रन्थ भी लिखे है, परन्तु वे देखने मे नही आये। आपकी शिष्यपरम्परा बहुत है।

राजस्थान के वैद्य

राजस्थान मे भी बगाल की कुछ परम्परा मिलती है। उस प्रान्त की चिकित्सा मे आयुर्वेद के साथ यूनानी चिकित्सा मिली रहती है। इस चिकित्सा में अपनी विशेषता है।

श्रीकृष्णराम भट्ट—आपके पिता का नाम जीवराम भट्ट (उपनाम कुन्दनजी) था, ये जयपुर महाराज द्वारा स्थापित आयुर्वेद पाठशाला के प्रधान अध्यापक थे।

इनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीकृष्ण भट्ट थे, इनका जन्म १९०५ विक्रमी सवत् मे कृष्णजन्माष्टमी के दिन हुआ था। इनकी विमाता के पुत्र श्री हरिवल्लभ शर्मा थे।

बाल्यावस्था मे इन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद तथा जीवनाथ शास्त्री से साहित्य का अध्ययन किया था। पिता के मरने पर सस्कृत पाठशाला की गद्दी पर आप बैठे। आपने चिकित्सकचूडामणि श्री श्यामलाल वैद्य एव लक्ष्मीराम स्वामी को आयुर्वेद पढाया। काव्य और आयुर्वेद पढाने मे आपका विशेष पाटव था।

आपने आयुर्वेद की 'सिद्ध भैषज्यमणिमाला' पुस्तक लिखी जिसमे अपने अनुभूत बहुत से योग दिये है। इस ग्रन्थ को इनकी मृत्यु के पीछे श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी ने अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया।

आयुर्वेद की रसप्रक्रिया मे इनकी विशेष निपुणता थी। सब रस इन्होने अपने हाथ से बनाये थे। प्राचीन पुस्तको के सग्रह करने का भी इन्हें शौक था। इनकी मृत्यु १९५४ विक्रमी सवत् में हुई।

श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी—आपका जन्म १९३० विक्रमी सवत् में जयपुर के सांगानेर कसबे के एक छोटे गॉव के कुलीन ब्राह्मणपरिवार मे हुआ था। आपका अध्ययन जयपुर की राजकीय सस्कृत पाठशाला मे हुआ। वही पर आपने श्रीकृष्ण भट्टजी से आयुर्वेद सीखा। बाद में आप कलकत्ता चले गये। वहाँ पर आपने कविराज द्वारकानाथ सेन से आयुर्वेद का अध्ययन किया।

स्वामीजी ने ३६ वर्ष तक जयपुर राजकीय सस्कृत विद्यालय में आयुर्वेद का अध्यापन किया; यह इनकी आयुर्वेद की ठोस सेवा है। आपके शिष्यो की सख्या बहुत है, इनमें ठाकुरदत्तजी मुलतानी, नारायणदत्त विद्यालकार, मणिरामजी आयुर्वेदाचार्य, नन्दकिशोरजी शर्मा मुख्य है। आपके पास दूर-दूर से लोग चिकित्सा के लिए आते थे। भगवान् ने आपको यश के साथ प्रचुर धन भी दिया। इस धन का उपयोग आप आयुर्वेद के लिए ही ट्रस्ट बनाकर कर गये, जिससे आयुर्वेद के उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हो सके। स्वामीजी की मान्यता सरकार मे भी थी।

जयपुर में श्री धन्वन्तरि औषधालय की स्थापना में स्वामीजी का ही हाथ था। इस में आतुरालय, भेषज निर्माण, प्रयोगशाला आदि विभाग बनवाये। स्वामीजी का स्वभाव सरल, त्यागी था। रोगियो के प्रति दयालु रहते थे।

पं० नन्दकिशोरजी शर्मा—आपके पिता राजवैद्य श्यामलालजी अपने समय के प्रतिष्ठित, योग्य चिकित्सक थे। नन्दकिशोरजी इनके ज्येष्ठ पुत्र थे। बचपन में संस्कृत, व्याकरण आदि विषय पढ़कर इन्होने कुलागत वैद्यविद्या पढ़ना प्रारम्भ

किया। वहाँ पर श्रीकृष्ण भट्टजी के पुत्र गगाधर शर्माजी से राजकीय आयुर्वेद पाठशाला में दो वर्ष आयुर्वेद का अध्ययन किया। पीछे स्वामी लक्ष्मीरामजी की सम्मति से आयुर्वेदाचार्य परीक्षा दी। चिकित्सा तथा औषध निर्माण का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वामीजी के पास किया। बाद मे राजकीय पाठशाला मे अध्यापक नियुक्त हुए। स्वामीजी की निवृत्ति के पीछे प्रधानाध्यापक बनकर कार्य करते रहे। आप राजस्थान के आयुर्वेद विभाग के डाइरेक्टर भी रहे थे।

कविराज प्रतापसिंहजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य मे १८९२ ईसवी मे हुआ। आपके पिता का नाम प० गुमानीरामजी था। सस्कृत का तथा अग्रेजी का सामान्य ज्ञान आपने उदयपुर मे प्राप्त किया। फिर आप आयुर्वेद पढने के लिए मद्रास चले गये। वहाँ पर यशस्वी डी० गोपालाचार्लु महोदय से आयुर्वेद सीखा। फिर कुछ दिन कविराज गणनाथ सेनजी के पास भी रहे। १९१४ से चिकित्सा क्षेत्र मे आये। कुछ वर्ष कालीकमलीवालो के यहाँ ऋषिकेश मे और पीलीभीत मे काम करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे आ गये। यहाँ आपने बहुत परिश्रम और लगन से काम किया। आप फार्मेसी के सुपरिन्टेन्डेन्ट तथा रसशास्त्र–भैषज्य कल्पना के अध्यापक रहे।

आप आयुर्वेद के प्रेमी तथा लगनवाले व्यक्ति हैं। आपने कुछ पुस्तके भी लिखी हैं, जैसे जच्चा, खनिजविज्ञान आदि। इस समय आप भारत के स्वास्थ्य-विभाग मे आयुर्वेद के परामर्शदाता के रूप मे काम कर रहे हैं।

पंजाब के वैद्य

कविराज नरेन्द्रनाथजी मित्र—आपका जन्म लाहोर मे १८७४ ईसवी मे हुआ था। सन् १८८५ मे आपने इन्टर परीक्षा पास करके लाहौर मेडिकल कालेज मे प्रवेश किया। वहाँ पर आपका स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण पढाई बीच मे ही छोडनी पडी। आप चिकित्सा के लिए इन्दौर गये और वहाँ श्री अमृतलाल गुप्त से चिकित्सा करवाकर स्वास्थ्य लाभ किया। इससे आपको आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और वही आयुर्वेद सीखा। पीछे लाहौर आकर आयुर्वेद की चिकित्सा प्रारम्भ की। आप उत्तम चिकित्सक होने के साथ अच्छे अध्यापक तथा अच्छे लेखक भी थे। आपने औषध निर्माण मे विशेष कुशलता प्राप्त की थी, बहुत से नये योग भी बनवाये थे। आपके शिष्य **सदानन्द शर्मा घिल्डियाल** ने रसतरगिणी मे इस ज्ञान को छन्दोबद्ध किया है। आपके शिष्य **जयदेव विद्यालंकार** ने चिकित्साकलिका की हिन्दी व्याख्या लिखी, जिसे आपने प्रकाशित किया था। आपकी ही देखरेख मे **जयदेव विद्यालंकार**

सँभालने के लिए कराची जाना पडा और जब तक देश का विभाजन नही हुआ, आप वही पर आयुर्वेद का प्रचार, अध्यापन एव चिकित्सा करते रहे। सिन्ध मे आयुर्वेद को जो सरकारी सम्मान मिला, उसमे आपका बडा भारी हाथ था। देश के विभाजन के पीछे आप बम्बई चले आये और वहाँ पर अपना चिकित्साव्यवसाय करना प्रारम्भ किया। परन्तु दु ख है कि आप अधिक समय जीवित नही रहे।

मद्रास के वैद्य

पण्डित डी० गोपालाचार्लु—आपका जन्म १९०० विक्रमी सवत् मे मछलीपट्टम मे हुआ था, आपके पिता का नाम रामकृष्ण चार्लु था। आपके पिता कुशल वैद्य थे, इसलिए बचपन मे अन्य विद्याओं के साथ प्रारम्भिक शिक्षा आपने पिता से ही प्राप्त की, पीछे आयुर्वेद की उच्च शिक्षा के लिए मैसूर की राजकीय आयुर्वेदिक शाला मे चले गये। वहाँ शिक्षा समाप्त करके कलकत्ता, जयपुर, हरिद्वार, नासिक, लाहौर, काशी, कश्मीर आदि मे आयुर्वेद ज्ञान को देखने-समझने के लिए भ्रमण किया। वहा से लौटकर बगलोर की आयुर्वेद वैद्यशाला के प्रधान चिकित्सक रूप मे कार्य किया।

वहाँ से मित्रो की प्रेरणा पर मद्रास मे श्री कन्यका परमेश्वरी देवस्थान के अधिकारियो द्वारा स्थापित आयुर्वेदवैद्यशाला के प्रधान चिकित्सक बनकर आये। इनके पास दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा लेने आते थे। इनके मुख्य शिष्यों मे उत्तर प्रदेश के **श्री पं० धर्मदत्त सिद्धान्तालंकार**, राजस्थान के कविराज प्रतापसिहजी तथा मद्रास के डाक्टर लक्ष्मीपति है।

इन्होने अपनी प्रतिभा से प्लेग के लिए हेमाद्रिपानकम् तथा रसायन रूप मे जीवामृत नामक दो औषधियाँ ढूढी। इनका प्रचार आज भी है। इन्होने आयुर्वेद के प्रचार के लिए सतत प्रयत्न किया। स्थान स्थान पर वैद्यशालाएँ, पाठशालाएँ खुलवायी। इन्होने आन्ध्र भाषा (तेलुगु) मे ग्रन्थ लिखे थे। इनकी मृत्यु १९२० ईसवी मे हुई।

डाक्टर लक्ष्मीपति—आपका जन्म पश्चिम गोदावरी के निडाडवेला जिले के माधवराम ग्राम मे १८८० ईसवी मे हुआ था। आपकी शिक्षा राजमहेन्द्री कालेज और प्रेसीडेन्सी कालेज मद्रास मे हुई थी। आपने आयुर्वेद-प्रेम के कारण पण्डित सी० एच० सीतारमैया के पास राजमहेन्द्री मे आयुर्वेद शिक्षा लेनी प्रारम्भ की। सीतारमैया अपने समय के योग्य वैद्य थे। पीछे से मद्रास के मेडिकल कालेज मे प्रविष्ट हुए। वहाँ से १९०९ मे एम० बी० सी० एम० की उपाधि लेकर स्नातक बने। दस वर्ष एलोपैथिक चिकित्सा व्यवसाय किया। फिर मद्रास के आयुर्वेदिक कालेज मे प्रविष्ट हुए, वहाँ

आयुर्वेद पढने के साथ-साथ सर्जरी पढाते थे। इस कालेज को डी० गोपालाचार्लु चला रहे थे। इन्होने १९२० मे आन्ध्र आयुर्वेदिक फार्मेसी स्थापित की। अबादी में आरोग्याश्रम बनाया, जहाँ पर प्राकृतिक चिकित्सा से पुराने रोगी स्वस्थ किये जाते हैं। इन्होने आयुर्वेद शिक्षा, एक सौ उपयोगी औषधियाँ, दीर्घायु का रहस्य, व्यायाम-शास्त्र, मर्दन और स्नान आदि पुस्तके अग्रेजी और तेलुगु मे प्रकाशित की है।

आप नियमित व्यायाम करते हैं, तैलमर्दन आदि आयुर्वेद-वर्णित पूर्ण स्वास्थ्य-विधान का पालन करते हैं। इसी से ७५ वर्ष की आयु मे भी पूर्ण युवा लगते हैं।

कैप्टन जी० श्रीनिवास मूर्त्ति—आपका जन्म मैसूर के गोरूर ग्राम मे १८८७ ईसवी मे हुआ था। बी० ए० तक अध्ययन करने के बाद मद्रास मेडिकल कालेज मे शिक्षा प्राप्त की। [illegible] मद्रास मेडिकल कालेज मे बायोलॉजी तथा मेडिकल जूरिस प्रूडेन्स के अध्यापक हुए। १९१७ में इन्होने विश्वयुद्ध मे सेवाकार्य किया। १९२१ मे यह सैनिक नौकरी से नागरिक सेवा मे परिवर्त्तित किये गये। इस समय रोयापुरम के मेडिकल स्कूल मे सर्जरी के अध्यापक तथा अस्पताल के सर्जन नियुक्त हुए।

मद्रास सरकार ने भारतीय चिकित्सा की जाँच के लिए सर मुहम्मद उस्मान की अध्यक्षता मे जो कमेटी बनायी थी, उसके आप मत्री चुने गये। इससे इनको आयुर्वेद समझने और सम्पूर्ण भारत मे उसकी स्थिति जानने का अच्छा अवसर मिला। सरकार ने जब आयुर्वेदिक शिक्षा का एक स्कूल खोलना निश्चित किया, तब पाठ्यक्रम आदि बनाने का भार आपको सौपा गया। यह कालेज १९२५ मे खुला, तब आप ही इसके प्रथम प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। मद्रास गवर्नमेन्ट ने १९३२ में सेन्ट्रल बोर्ड आफ मेडिसिन बनाया जिसके आप प्रेसीडेन्ट चुने गये थे। आयुर्वेद की बहुत-सी सस्थाओ से आप सम्बद्ध रहे। आपने इन्फैन्ट मौर्टेलिटी आदि पुस्तकें अग्रेजी मे लिखी है।

वैद्यरत्न पी० एस० वेरियर—आपका जन्म पन्नीमपल्ली वेरियम के चिकित्सक घराने मे १८६९ ईसवी मे हुआ था। आपने श्री कूटनचरी वासुदेवन मूसाद के पास पाच साल तक आयुर्वेद की शिक्षा ली। दो साल अग्रेजी पढ़ी और तीन साल तक दीवानबहादुर डाक्टर वी० वैरघेसी के पास एलोपैथिक शिक्षा प्राप्त की। दोनो विषयो का क्रियात्मक ज्ञान लेने के पीछे १९०२ में 'आर्यवैद्यशाला' नाम से अपना स्वतत्र चिकित्सासस्थान कोटाकल मे चलाया। यहीं पर फार्मेसी बनायी और आर्यवैद्यसमाज बनाकर आयुर्वेद का प्रचार प्रारम्भ किया। प्रचार के लिए मलयालम मे धन्वन्तरि-पत्रिका प्रकाशित की। छात्रो को आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए १९१७ में कालीकट मे आर्यवैद्य पाठशाला प्रारम्भ की। १९२४ में कोटाकल में मुफ्त आर्य-वैद्यशाला

हास्पिटल खोला, पीछे से कालीकट की आ५-वैद्य पाठशाला भी इसी स्थान पर लायी गयी, जिससे विद्यार्थियो को क्रियात्मक ज्ञान सम्पूर्ण विषयो का प्राप्त हो सके।

इन्होने अष्टागशारीरम् पुस्तक सस्कृत मे लिखी है।

पण्डित एम० दुरैस्वामी आयंगर—मद्रास प्रान्त के उत्तरीय आरकाट जिले के ब्रह्म-देशम् गाँव मे १८८८ ईसवी मे आपका जन्म हुआ था। आयुर्वेद की पढाई पाँच साल मे समाप्त करके १९०७ मे ये कलकत्ते गये। वहाँ कविराज द्वारकानाथ सेन से आयुर्वेद की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण की।

इन्होने अपना चिकित्साक्रम त्रिचनापल्ली मे प्रारम्भ किया। वहाँ दो साल स्वतत्र कार्य करने पर [illegible] के आग्रह पर मद्रास आयुर्वेदिक कालेज और सलग्न चिकित्सालय मे काम करने के लिए चले आये। डी० गोपालाचार्लुजी के निवृत्त होने पर आप १२ वर्ष तक चिकित्सालय के प्रधान वैद्य के पद पर काम करते रहे।

इन्होने आयुर्वेद की बहुत-सी पुस्तको का तामिल अनुवाद किया है, यथा—अष्टाग-हृदय, माधवनिदान, रसरत्नसमुच्चय, शार्ङ्गधरसहिता। इन्हें अपने ही व्यय मे प्रकाशित किया। 'जीवानन्दनम्' नाटक की सस्कृत टीका बहुत ही सुन्दर रूप मे आपने की। इसको अडयार पुस्तकालय ने छापा है।

गुजरात के वैद्य

श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य—आपका जन्म सवत् १९३८ विक्रमी मे पोरबन्दर (काठियावाड) मे हुआ था। आपके पिता श्री त्रिकमजी पोरबन्दर के राणासाहब के राजवैद्य थे। विद्याध्ययन पोरबन्दर मे हुआ, परन्तु १९४५ मे बम्बई आकर भिन्न-भिन्न विद्वानो से इन्होने व्याकरण, दर्शन, अरबी, फारसी सीखी। हकीम राम-नारायणजी से यूनानी चिकित्सा सीखी, वैद्यक राजस्थान निवासी प० गौरीशकरजी से तथा महाराष्ट्र के वैद्य से सीखी। जब आप १८ वर्ष के थे, उस समय पिता के स्वर्गवासी होने पर गृहस्थी का सारा बोझ आप पर आ गया। आपने १८९९ मे माधवनिदान की मधुकोश व्याख्या का सशोधन किया, जिसे १९०१ मे निर्णयसागर प्रेस ने प्रथम बार प्रकाशित किया। इस समय आपकी अवस्था केवल उन्नीस वर्ष की थी। आयुर्वेद ग्रन्थो के प्रकाशन का यह प्रथम प्रयास था। यह सिलसिला आगे जीवन पर्यन्त चलता रहा, आपने आयुर्वेददीपिका सहित चरकसहिता, मूल चरकसहिता, डल्हण की निबन्ध-सग्रह व्याख्या सहित सुश्रुतसहिता और मूल सुश्रुतसहिता सशोधित करके निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित करायी। आपने स्वय अपने व्यय से बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित

किये । इनमे रसहृदय तत्र, रसप्रकाशसुधाकर, गदनिग्रह, राजमार्त्तण्ड, नाडी-परीक्षा, वैद्यमनोरमा, धारापद्धति, आ[illegible] रसायनखण्ड, रसपद्धति, लौहसर्वस्व, रस-सार, रससकेतकलिका, रसकामधेनु, क्षेमकुतूहल आदि है।

दूसरे प्रकाशको को बहुत-से ग्रन्थ प्रकाशन के लिए दिये । श्री हरिप्रपन्नजी को रस-योगसागर तैयार करने में लगभग चालीस हस्तलिखित ग्रन्थ आपने अपने पास से दिये थे। आपने श्री कविराज गणनाथ सेनजी के प्रत्यक्षशारीरम् का गुजराती अनुवाद करवाकर जुगतराम भाई के सहयोग से प्रकाशित किया । डा० वामन गणेश देसाई की पुस्तके औषधिसग्रह और भारतीय रसशास्त्र मराठी मे अपने ही व्यय से प्रकाशित की। वैद्यो को लिखने के लिए बराबर प्रोत्साहन देते थे। आयुर्वेद-पदार्थविज्ञान का विचार आने पर उसकी रूपरेखा बनाकर कई विद्वानो को दी, बहुतो ने इस विपय पर पुस्तके लिखी—इनको छपवाया भी आपने । इनकी उदारता का कुछ लोगो ने दुरुपयोग भी किया। जामनगर मे आयुर्वेदिक कालेज, रिसर्च कार्य आदि सब प्रवृत्तियो मे आपका ही हाथ रहा। आज आ[illegible]। आप आयुर्वेद के नाम पर सब कुछ त्याग करने को तैयार थे। आपने विपयवार पुस्तके लिखवायी और स्वय भी लिखी। आपने रसशास्त्र पर रसामृत लिखा, अपनी चिकित्सा मे अनुभूत योगो को सिद्धयोगसग्रह नाम से प्रकाशित किया। अभी आप आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान पुस्तक लिख रहे थे जिसका कुछ भाग प्रकाशित हो चुका है।

आपका सही विश्वास था कि पाश्चात्य चिकित्सा एव यूनानी चिकित्सा की अच्छी अच्छी वस्तुएँ लेनी चाहिए (आपने यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान नामक बृहत् ग्रन्थ हिन्दी मे प्रकाशित कराया)। आपकी मृत्यु अभी तीन साल पूर्व जामनगर मे हुई।

बम्बई जैसे श[illegible] मे आपने अपनी फीस सामान्य रखी थी। गरीबो को महँगी से महँगी औषधि मुफ्त देने मे कभी सकोच नही किया। विद्वान् व्यक्ति से फीस एव औषधि के दाम तक भी नही लेते थे। इनके उठ जाने से आयुर्वेद की अतिशय क्षति हुई है।

वैद्य हरिप्रपन्नजी—आपका जीवन बहुत सरल और सामान्य था। औषधियाँ सम्पूर्ण अपने सामने बनवाते थे। जगल से औषधियाँ स्वत लाते थे। आपने अपनी चिकित्सा से अतुल धन-सम्पदा अर्जित की थी, जिसे आयुर्वेद के उत्कर्ष के निमित्त अपने हाथो से दान भी कर गये।

रसयोगसागर नाम का बृहत् ग्रन्थ आपने तैयार किया, और अपने ही व्यय से छपवाया। इसका उपोद्घात, रसो पर दी हुई टिप्पणियाँ और द्वितीय भाग के अन्त मे दिये स्वतत्र विचार देखकर आपकी विद्वत्ता एव परिश्रम का पता चलता है।

आपका . . . ., जहाँ पर गरीबो को मुफ्त मे औषध दी जाती है। आयुर्वेद पाठशाला के लिए बम्बई मे तीन मजिल का मकान आप अपने रुपयो से लेकर दे गये, जिससे यह पाठशाला अव्याहृत गति से निरन्तर चलती रहे।

श्री झण्डू भट्ट एवं जुगतराम—इनका घराना पुराने वैद्यों का है। इनके पिता का नाम बिट्ठलजी था, इनका जन्म १८५२ सवत् मे हुआ। इनके पिता जामनगर के राजा के राजवैद्य थे। इन्होने बहुत परिश्रम से आयुर्वेद सीखा।

रसौषध बनाने के लिए जामनगर मे १९२१ के अन्दर एक रसशाला बनायी, जहाँ पर शास्त्रोक्त औषधियो का निर्माण होता था।

आपके सुपुत्र शकरप्रसादजी भट्ट थे, और इनके सुपुत्र श्री जुगतराम भाई थे, जिन्होने कि अपने पितामह झण्डू भट्टजी के नाम पर विशाल आयुर्वेदिक फार्मेसी बम्बई मे बनायी।

बाबाभाई अचलजी—आप राजकोट (काठियावाड़) के रहनेवाले थे। आप एक सफल चिकित्सक होने के साथ-साथ सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। रसशास्त्र में आप बहुत निपुण कहे जाते है। आपके नेत्रो की ज्योति जाती रही थी। इस पर भी आप रोगनिदान, रोगी की पहचान सरलता से कर लेते थे।

जीवराम कालिदासजी—आपका जन्म औदीच्य ब्राह्मणकुल में विक्रमी संवत् १९३९ मे जामनगर के मेवासा गाव मे हुआ था, बचपन में पिता का देहावसान होने पर गोंडल मे अपने चाचा के यहाँ रहकर कष्ट से जीवन व्यतीत किया। बाद मे आप गिरनार गये, वहाँ पर श्री अच्युतानन्द ब्रह्मचारी से आयुर्वेद, संस्कृत, मत्र शास्त्र सीखा। आप वहाँ से १९६१ मे उनसे हस्तलिखित कुछ ग्रन्थ लेकर चले आये और बम्बई आकर आयुर्वेद का अभ्यास करते हुए अपना स्वतंत्र व्यवसाय चलाया। इसी समय रसरत्नसमुच्चय का अनुवाद गुजराती मे किया। बम्बई में शरीर स्वस्थ न रहने से आप अपने गाँव मेवासा आ गये। वहाँ पर ब्रह्मचारी अच्युतानन्दजी के अकस्मात् आने पर उनसे धन तथा अन्य वस्तुओ की मदद लेकर गोंडल में रसशाला की स्थापना की। रसशाला के साथ आपका लेखन-कार्य चलता रहा।

आपने अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। आपके यहाँ हस्तलिखित पुस्तको का अच्छा सग्रह कहा जाता है। . . -- न के राजवैद्य १९७२ मे नियुक्त हुए। आपने रसोद्धार तत्र (उपचार पद्धति) पुस्तक तथा आयुर्वेद-रहस्यार्कपत्रिका से गुजरात में आयुर्वेद का बहुत प्रचार किया। अब आप गृहस्थ आश्रम से सन्यास आश्रम मे आ गये है। आपका नाम श्री चरणतीर्थ स्वामी है। आपमे आयुर्वेदशास्त्र के प्रति लगन है।

नारायणशंकर देवशंकर—आपका जन्म अहमदाबाद मे हुआ था। आपने आयुर्वेद की शिक्षा जयपुर मे राजवैद्य श्री श्रीकृष्णराम भट्टजी से ली थी। सवत् १९५१ मे अहमदाबाद मे स्वतत्र चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ किया और आयुर्वेद पाठशाला स्थापित की। आप बहुत से धमार्थ औषधालयो की देखरेख करते रहे।

बापालाल गड़बडशाह—आप भरुच (भरुकच्छ) के रहनेवाले है। आपने वनस्पति ज्ञान कच्छ के श्री जयकृष्ण इन्द्रजी से प्राप्त किया। आपका वनस्पति ज्ञान अपूर्व है। आपको श्री स्वामी आत्मानन्दजी बहुत आग्रह से अपने स्थापित आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रिन्सिपल पद के लिए ले आये। आपने आकर आयुर्वेद विद्यालय की पूर्ण उन्नति की। आज यह विद्यालय बम्बई के ही नही, अपितु भारत के विद्यालयो मे अग्रणी है। औषधालय के साथ रसशाला, भैषज्य निर्माण, चिकित्सालय, आतुरालय, प्रसूति विभाग, पुस्तकालय आदि सब आपके परिश्रम का फल है।

आपने निघण्टु-आदर्श नामक बृहत् ग्रन्थ दो भागो मे लिखा है। इसमे वनस्पतिशास्त्र के अनुसार औषधियो का विभागीकरण किया है। यह पुस्तक श्री कविराज विजयरत्न सेन के वनौषधिदर्पण के ढग की है, परन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण और उपादेय है। इसके अतिरिक्त आपने रसशास्त्र, अभिनव कामशास्त्र, बालपरिचर्या, वृद्धत्रयी की वनस्पतियाँ, घरगत्थू वैद्यक, दिनचर्या, न्यायवैद्यक आदि ग्रन्थ लिखे है।

अन्य वैद्य—गुजरात मे आयुर्वेद का प्रचार करने मे **श्री जटाशंकर लीलाधर त्रिवेदी, श्री गोपालजी कुंवरजी ठक्कर** तथा **श्री नगीनदास शाह** ऊझावालो ने बहुत प्रयत्न किया। श्री शाहजी ने भारतभैषज्यरत्नाकर बडा ग्रन्थ प्रकाशित किया। श्री गोपालजी ठक्कर पहले कराची मे अपना व्यवसाय करते थे। वहाँ आरोग्यसिन्धु पत्र निकालते रहे, वही से आपने **न्यायवैद्यक और विषतंत्र** पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित की। इसके सिवाय लगभग ३०-३५ पुस्तके आपने छपवायी—जिससे आयुर्वेद का प्रचार पर्याप्त हुआ। विभाजन के पीछे आपका कार्यक्षेत्र बम्बई हो गया। आपकी मृत्यु सन् १९५२ मे हुई। आपके पीछे आपका पुत्र आयुष्मान् चन्द्रशेखर आपके पदचिह्नो पर चलता हुआ आयुर्वेद का काम कर रहा है। यहाँ आयुर्वेद और ज्योतिष पर कई अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हुए है।

श्री जटाशंकर लीलाधरजी ने भी आयुर्वेद के प्रचार मे बहुत काम किया। आपने वैद्यकल्पतरु पत्र निकालने के साथ घर-वैद्युं बहुत सुन्दर ग्रन्थ तैयार किया। इसमें देशी, अग्रेजी, यूनानी सभी चिकित्साओ का उत्तम मिश्रण था। इसमे मूर की फैमिली मेडिसिन के ढग पर सब आवश्यक जानकारी दी है। इसके सिवाय और भी बहुत-

सी पुस्तके प्रकाशित की। इसी प्रकार सूरत के तिलक ताराचन्द्रजी ने भी दो पुस्तके लिखी थी, जिनका प्रचार गुजरात में बहुत हुआ।

श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री—आप जामनगर के प्रश्नोरा ब्राह्मण थे। आप वैद्यक व्यवसाय न करने पर भी आयुर्वेद, अर्धमागधी, सस्कृत, अग्रेजी, गुजराती के अतिशय मनस्वी विद्वान् थे। आपने आयुर्वेदविज्ञान मासिक पत्र के द्वारा आयुर्वेद का बहुत प्रचार किया। इस पत्र मे स्वतत्र एव सग्रह रूप मे उत्तम लेखो का प्रकाशन हुआ। झण्डू फार्मेसी से सम्बद्ध होने के कारण तथा श्री जुगतराम भाई के वैयक्तिक स्नेह के कारण इस पत्र ने आयुर्वेद की जो सेवा की, उसका श्रेय श्री दुर्गाराम भाई को है। आपने आयुर्वेद का इतिहास गुजराती मे लिखकर आयुर्वेद की सच्ची सेवा की है। अग्रेजी या दूसरी किसी भी भाषा मे इतना प्रामाणिक, सुसम्बद्ध तथा स्वतत्र दृष्टि से दूसरा इतिहास मेरे देखने मे नही आया।

महाराष्ट्र के वैद्य

श्री शंकर दाजी शास्त्री पदे—पदे की उपाधि खानदानी है, जो कि पेशवाओ के यहाँ वेदपाठ करने के कारण इनके कुटुम्ब मे चलती है [illegible] पदे ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। आपका जन्म बम्बई मे संवत् १९२३ मे हुआ। आयुर्वेद आपने श्री भानुवैद्य कुलकर्णी से सीखा।

वैद्यक सीखकर राजवैद्य नाम का मासिक पत्र निकाला। इसमे ८०० पुस्तको की तालिका छापकर यह बताया कि कौन कौन-सी पुस्तके छपी है, और कौन-सी नही छपी। राजवैद्य को कुछ समय चलाकर 'आर्य भिषक्' मासिक पत्र १८८८ ईसवी मे निकाला। इस पत्र को मृत्यु पर्यन्त चलाया। इस पत्र के साथ साथ वाग्भट, चरक, बृहत् निघण्टु, औषधिगुणदोष, निघण्टुशिरोमणि, वनौषधिगुणादर्श आदि बहुत-सी पुस्तके सस्कृत मराठी मे निकाली। इन पुस्तको के प्रकाशन मे आपको सयाजीराव गायकवाड, बडोदा नरेश से भी कुछ सहायता मिली। पीछे से गुजराती आर्यभिषक् भी निकाला, परन्तु जटाशकर लीलाधर के वैद्यकल्पतरु गुजराती मे निकालने पर इसे बन्द कर दिया; उन्ही को प्रोत्साहित करते रहे। हिन्दी में 'सद्वैद्यकौस्तुभ' पत्र संवत् १९६० मे निकाला। गुजराती में आपकी पुस्तको को सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय अहमदाबाद से प्रकाशित करता था, जिनकी बड़ी सख्या मे माँग थी। मराठी मे आपकी पुस्तके बहुत प्रसारित हुई।

आयुर्वेद प्रचार के लिए आपने बम्बई मे पहली वैद्यसभा और प्रथम आयुर्वेद-

विद्यालय प्रभुरामजी की सहायता से चलाया। फिर नासिक, नागपुर में आयुर्वेद-विद्यालय खोले और योग्य व्यक्तियों की देख-रेख मे उनको दे दिया।

भारतव्यापी प्रचार के लिए सगठित रूप मे आपने सवत् १९६३ मे विद्यापीठ और सवत् १९६४ मे वैद्यसम्मेलन स्थापित किया। [illegible] आन्दोलन चलाया। इमका प्रथम अधिवेशन नासिक मे और दूसरा पनवेल (बम्बई) मे हुआ। धीरे-धीरे विद्यापीठ का प्रचार इतना बढा कि वैद्य इसकी परीक्षा मे वैठना और उत्तीर्ण होना गौरवास्पद मानते थे।

विद्यापीठ को अधिक उपयोगी बनाने के लिए आपने उत्तर भारत को चुना, इसके लिए आप प्रयागराज सवत् १९६५ मे आये। वहाँ के कार्यसचालन के लिए श्री जगन्नाथ-प्रसाद शुक्लजी को नागपुर से प्रयाग बुलवाया। आपकी इच्छा थी कि तीसरा सम्मेलन बनारस मे हो। प्रयाग में कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। परन्तु आप बीमार पडे और सवत् १९६६, चैत्र शुक्ला रामनौमी के दिन स्वर्गवासी हुए। आप निस्सन्तान थे। आपकी लिखी पुस्तक 'आर्यभिषक्' गुजराती-मराठी मे बहुत ही प्रसिद्ध है।

गोवर्धन शर्माजी छांगाणी—आपका जन्म राजस्थान के अन्तर्गत जोधपुर के पोकरण गाव मे सवत् १९३३ मे हुआ था। आपके पिता का नाम जीतमल्लजी था। आप पहले अमरावती (बरार) की पाठशाला मे प० हरिनारायणजी भिडे से सस्कृत और अग्रेजी स्कूल मे पढने थे। आपने अमृतसर मे ज्योतिष तथा हजारीराम जी सारस्वत से आयुर्वेद का अध्ययन किया। फिर खामगॉव (बरार) मे आकर चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। [illegible]। सम्पादन के साथ-साथ चिकित्सा व्यवसाय भी करते रहे। दस वर्ष [illegible] यह कार्य करके आप अपना चिकित्सा व्यवसाय स्वतत्र रूप से करने लगे। आपने धन्वन्तरि आयुर्वेद-पाठ-[illegible] और अन्य स्थानों पर भी पाठशालाएँ खुलवायी।

आपने [illegible]। हिन्दी मे अष्टागसग्रह का अनुवाद (सूत्रस्थान तक ही) निकाला। दुख है कि शेष भाग पूर्ण नही हुआ, क्योकि अकाल मे ही आपका निधन हो गया।

पण्डित कृष्ण शास्त्री कवडे—आपका जन्म पिपरीपेढार गॉव मे १८८४ ई० मे हुआ था। नवे वर्ष में आप विद्या पढने के लिए पूना आये। आपने १९०६ मे बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। इनके पीछे दो साल तक अध्यापन कार्य किया।

पीछे बाबा साहब पराजपे के अनुरोध से आपने वैद्यरत्न गणेश शास्त्री जोशी, सदाशिव भावे से आयुर्वेद सीखा, इनसे चरक सहिता का अध्ययन किया।

आपने पूना मे महाराष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यालय स्थापित किया, और वहाँ आयुर्वेद का अध्यापन करते रहे। आप आयुर्वेद की रक्षा तथा प्रचार मे सतत प्रयत्नशील रहे।

श्री गंगाधर शास्त्री गुणे—आप आयुर्वेद के सच्चे उपासक थे, आपने अहमदनगर मे फार्मेसी और विद्यालय चलाये। आपने मराठी मे औषधि-गुणधर्म शास्त्र नाम से एक पुस्तक कई भागो मे लिखी है। इस पुस्तक मे नवीन पद्धति से वैद्यक योगो के घटको पर विचार करने का यत्न किया। इसकी सत्यता अभी सन्दिग्ध है।

श्री नारायण हरि जोशी—आप पूना के रहनेवाले ब्राह्मण है, आपको आयुर्वेद के प्रति सच्ची लगन है। बम्बई मे शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रचलित करने मे आपने प० शिवशर्माजी के साथ बहुत प्रयत्न किया। इस कार्य मे आपको बहुत कष्ट भी उठाने पडे, परन्तु आप अपने ध्येय मे लगे रहे। इस समय आप शुद्ध आयुर्वेद पाठचक्रम समिति के मत्री है और सायन मे आयुर्वेद विद्यालय चला रहे है। आप शुद्ध आयुर्वेद दृष्टि से आयुर्वेद को देखते है और चाहते है कि लोग भी इसी रूप मे इसका विचार करे।

श्री अ. ना. जोशी—आप वनस्पति शास्त्र और रसायन के एम० एस सी० है। आपको आयुर्वेद के प्रति सच्ची आस्था है, परन्तु आप उसको वैज्ञानिक रूप मे देखना चाहते है। बम्बई मे [illegible] और इस दिशा मे अच्छा कार्य कर रहे है। इसके लिए आपने भिन्न-भिन्न स्थानो से नमूने भी सग्रह किये है।

श्री वामनराव भाई—आप बुरहानपुर के रहनेवाले है, किन्तु बम्बई मे रहकर अपना दवाखाना चलाते है, निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के मत्री है। दवे कमेटी के पाठ्यक्रम के पक्ष मे आप नही है, आप शुद्ध पाठ्यक्रम के पक्षपाती है।

पं० शिवशर्माजी—आप का जन्म पटियाला मे हुआ है, आपके पिता श्री रामप्रसादजी वैद्य है, जो पटियाला महाराज के राजवैद्य है। प० शिवशर्माजी को आयुर्वेद के प्रति सच्ची श्रद्धा है। आप आयुर्वेद को आधुनिक विज्ञान के साथ मिश्रित करके पढाने के पक्षपाती नही। आज बम्बई मे शुद्ध आयुर्वेद की जो शिक्षा चल रही है उसका श्रेय आपको ही है, आप वहाँ के आयुर्वेदिक बोर्ड के सभापति है। आपके ही सहयोग से उत्तर प्रदेश मे अब आयुर्वेद का पाठ्यक्रम भी विषयवार न रहकर ग्रन्थप्रधान, शुद्ध आयुर्वेद के रूप मे चलने जा रहा है। उत्तर प्रदेश राज्य ने आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के लिए जो कमेटी बनायी थी, उसमे आपने मुख्य भाग लिया है।

विभाजन से पूर्व आप लाहौर मे चिकित्सा-कार्य करते थे। बाद मे आपने बम्बई को अपना कार्यक्षेत्र चुना और यही अपने विचारो को सक्रिय बनाया।

इक्कीसवाँ अध्याय

डाक्टरों के द्वारा आयुर्वेद की सेवा

सस्कृत की एक कहावत है—"पण्डितोऽपि वर शत्रुर्न मूर्खो हितकारक" (पचतंत्र)। पण्डित—पढा-लिखा व्यक्ति यदि शत्रु हो जाय, तो अच्छा, मूर्ख व्यक्ति का मित्र बनना अच्छा नही। यही बात आयुर्वेद के लिए है। ज्ञान का अर्थ प्रकाश है, इसी से गीता मे भगवान् ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ४।३८
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज् ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ ५।१६

ज्ञान से बढकर पवित्र वस्तु ससार मे दूसरी नही है। ज्ञान से जिनकी आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिए सूर्य की भाँति सब वस्तुएँ स्पष्ट हो जाती हैं। इसलिए ज्ञान को किसी एक देश मे, किसी भाषा मे, किसी विशेष व्यक्ति या जाति तक सीमित नही किया गया। ऋषियो ने ज्ञान का द्वार सब देशो, सब जातियो, सब वर्णों के लिए एक समान खोला है। ज्ञान को पर और अपर नाम से उपनिषद् मे तथा ज्ञान-विज्ञान नाम से गीता मे, भूयसी विद्या और जानपदीय विद्या पाणिनि शास्त्र मे कहा है। इसी को शुक्रनीति मे विद्या और कला का नाम दिया है। विद्या मे वाणी की अपेक्षा रहती है, कला मे हाथ या इन्द्रिय का नैपुण्य रहता है। आयुर्वेद-चिकित्सा को भी शिल्प (शिप्प) एव विद्या कहा गया है (जानपदीय विद्या का बौद्ध साहित्य मे शिप्प—शिल्प नाम दिया है)। यह ज्ञान सब वर्णों के लिए एक समान था। जीवक, जिसकी जाति का कुछ भी पता नही, एक सफल चिकित्सक ६०० ई० पू० मे हुआ था, आज भी जिसके ऊपर वैद्यसमाज गौरव करता है। इसने उस समय मस्तिष्क का चीर-फाड कर्म सफलता से किया था, यह बौद्ध साहित्य मे स्पष्ट लिखा है। यह शस्त्रकर्म आज बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे प्रारम्भ हुआ है।

इसलिए विज्ञान या शिल्प विद्या मे सब वर्णों ने बहुत काम किया। जबसे वैद्यक विद्या सीमित बनी तबसे इसकी आज तक निरन्तर अवनति हो रही है। वैद्यक,

पुरोहिताई, ज्योतिष ये सब धधे एक साथ रहने से वशक्रमागत हो गये। पण्डित का पुत्र पण्डित ही माना गया, वैद्य का बेटा वैद्य ही हुआ, ज्योतिषी की सन्तान ज्योतिषी। इस परम्परा से बिना पढे वैद्य बनने लगे—जब कि डाक्टरी मे ऐसी बात नही है। इसका जो परिणाम है हम स्पष्ट ही देख रहे है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध आयुर्वेद कालेज के अध्यापको ने विगत ३० वर्षों में आयुर्वेद या स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि विषयो सम्बन्धी जो साहित्य प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा मे अधिक प्रगति पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त विद्वानो ने ही की है। जब कि डाक्टर-प्राध्यापको की पुस्तको का औसत किसी भी प्रकार ९०० पृष्ठो से कम नही है, वैद्य-प्राध्यापको का औसत २५० से अधिक नही निकलता। इसे अधिक बढाने की आवश्यकता नही है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रगतिशील विद्वानो से आयुर्वेद को हानि है या भय है, इसे मेरा दिल नहीं मानता। आयुर्वेद के ह्रास के कारण वैद्य स्वय है, दूसरो को दोष देना व्यर्थ है।

वैद्यो के पास पैसा नही है, यह बात सत्य नही है। बहुत से वैद्य अच्छे सम्पन्न है, पर इनमें से गिने चुने तीन चार वैद्यो को छोडकर कोई भी आयुर्वेद के लिए गाँठ का पैसा खर्च करने को तैयार नही, क्योकि वह जानता है या समझता है कि इसमे लगाया रुपया व्यर्थ जायगा। वह अपने सुपुत्र को डाक्टरी पढायेगा, परन्तु दूसरो के लडको को आयुर्वेद पढने के लिए प्रेरित करेगा। रिसर्च के नाम पर पैसा सरकार से लेना चाहता है, परन्तु अपनी जेब को सुरक्षित रखता है।

यदि डाक्टर से अच्छा न हुआ कोई रोगी, भाग्यवश इनसे स्वस्थ हो जाता है, तो उसका प्रचार किया जाता है। शिक्षित पाश्चात्य चिकित्सकों मे यह प्रवृत्ति बहुत कम मिलती है। डाक्टर अपने पुत्र को डाक्टर ही बनाना चाहता है, उसे अपने विज्ञान पर आस्था है, विश्वास है, श्रद्धा है। वैद्यो मे यह बात नही। इसलिए डाक्टरो के लिए कहना कि उनसे वैद्यक का अहित है, यह मेरीस मझ मे सत्य नही। मै तो समझता हूँ कि वे सच्चे अर्थों मे आयुर्वेद को समझते है, जहाँ तक शरीर का और रोग का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दो मे जनपदीय विद्या या शिल्प अर्थात् विज्ञान को वे ठीक समझते हैं। आचार्य ने कहा है—

प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्ट च यद् भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्॥ सुश्रुत. शा. ५।४८

[illegible] है, तो पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान भी सत्य है। इस ज्ञान को जाननेवाला कभी भी बुद्धिपूर्वक कही बात से इन्कार करेगा, इसे मैं

नही मान सकता। क्योकि ज्ञान तो आदित्य के समान प्रकाशमग्न है। इसलिए ऐसे जितात्मा-विद्वानो को नमस्कार करना चाहिए, उनसे आयुर्वेद का अहित होगा यह मानना भूल है। यहा पर ऐसे ही आयुर्वेद की सेवा करनेवाले विद्वानो का परिचय दिया जा रहा है—

श्री पोपटराम प्रभुराम—आप गुजरात के निवासी और बम्बई मे व्यवसाय करते थे। इनके पिता प्रभुराम वैद्य थे। वैद्यो मे जैसी प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुसार आपने अपने पुत्र पोपटराम को पाश्चात्य चिकित्सा की उच्च शिक्षा दिलवायी। पिता प्रभुराम आयुर्वेद की एक पाठशाला चलाते थे। पुत्र ने उसे बढाकर यूनीवर्सिटी का रूप दिया और उससे उपाधि वितरण भी प्रारम्भ किया। इस यूनीवर्सिटी से प्राणाचार्य उपाधि प्राप्त बहुत से वैद्य आज भी है। आपके इस विश्वविद्यालय मे आयुर्वेद के साथ पाश्चात्य चिकित्सा का भी ज्ञान मिलता था। आपका प्रसूतिशिक्षण एक समय बहुत सम्मानित था।

गुजराती मे सुश्रुत सहिता आपने ही प्रकाशित करवायी थी, जो कि उस समय एक उत्तम अनुवाद माना जाता था।

डाक्टर वामन गणेश देसाई—आप एक उच्च शिक्षाप्राप्त डाक्टर थे। आप बम्बई मे अपना चिकित्सा कर्म करते थे। आपने औषधिसग्रह और भारतीय रसायन-शास्त्र, दो पुस्तके लिखी थी। इन पुस्तको को श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रकाशित किया है। 'औषधिसग्रह' बहुत उत्तम निघण्टु है, इसमे आयुर्वेद के अन्दर काम आनेवाली प्राय सब उद्भिज्ज वस्तुओ की नव्य मत से समीक्षा है। 'भारतीय रसायन शास्त्र' मे आयुर्वेद के खनिज द्रव्यो की तथा इस सम्बन्ध की अन्य वस्तुओ की विवेचना है। प्रारम्भ मे आपने एक उत्तम पूर्वपीठिका दी है। पारद का अन्त-उपयोग इग्लैड मे होता था, इसके लिए दी हुई आपकी जानकारी बहुत महत्त्व की है। इस पुस्तक की भूमिका **श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी** एम० एस-सी० ने लिखी है, जो बहुत उपयोगी है।

डाक्टर मुकुन्दस्वरूपजी वर्मा—आपका जन्म सन् १८९६ मे सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश) मे हुआ है। आपके पिता का नाम श्री गोविन्दस्वरूप था, आप शिक्षित भटनागर कुल मे उत्पन्न हुए थे। आपके प्रपिता बीकानेर मे राज्य के वकील थे। आपकी शिक्षा बीकानेर-भरतपुर मे हुई। आप सदा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। आपकी साहित्य मे रुचि बचपन से थी। १९१७ मे आप बी० एस-सी० करके लखनऊ मेडिकल कालेज में चले आये। उस समय लखनऊ मेडिकल कालेज की शिक्षा की दृष्टि

से बहुत प्रसिद्धि थी। यहाँ पर कर्नल मैगौक जैसे विद्वान् अध्यापन करते थे। आपने यह शिक्षा १९२२ मे सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की। इसके पीछे तुरन्त ही महामना मालवीयजी के निमत्रण पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे आ गये। यहाँ पर आपने ६० वर्ष की अवस्था (१९५७ ईसवी) तक बड़ी प्रतिष्ठा के साथ आयुर्वेद कालेज मे काम किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज की इस उन्नति या प्रतिष्ठा का जो श्रेय है, उसकी नीव मे आपका श्रम और लगन है। बहुत से प्रलोभन आने पर भी आप यही स्थिर रहे, दूसरो की भाँति आर्थिक लाभ को प्रधानता न देकर आयुर्वेद शिक्षा को जो महत्त्व दिया, वह आपके लिए गौरव की बात है। ज्ञान का विकास होने से आप आयुर्वेद की बात को बिना समझे, अन्धविश्वास तथा केवल पोथी मे, सस्कृत मे लिखा है, इसलिए स्वीकार नही करते थे। इस सत्यता के कारण कुछ लोग आपको आयुर्वेद का अहितकारी, आयुर्वेद के प्रति द्वेष बुद्धिवाला कहते थे। परन्तु उस वर्ग के प्रति आपके द्वारा की हुई साहित्यसेवा एक बलवान् उत्तर है। आपने बड़ी-बड़ी दस पुस्तके लिखी है, जो बहुत उपयोगी है। इनकी पृष्ठसख्या कोई आठ हजार के ऊपर है। कार्य मे इतना व्यस्त रहकर, इतने उत्तरदायित्व का बोझ ढोते हुए, इतना महत्त्वपूर्ण साहित्य निर्माण करना आश्चर्य और प्रशसा की बात है। आप उत्तम अध्यापक, प्रबन्धक होने के साथ-साथ योग्य शल्यचिकित्सक भी थे। आपने बनारस मे शल्यकर्म का अधिक विस्तार किया। इसके लिए शहर मे अपना क्लिनिक खोला, जिससे नागरिक लाभ उठा सके। आपने योग्य शिष्यो मे श्री पी० जे० [illegible] किया, जो एक अच्छे शल्यवैद्य है।

आपके द्वारा प्रस्तुत साहित्य यह है—१—मानवशरीररहस्य, पृष्ठसख्या ७०० (हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से पुरस्कृत), २—स्वास्थ्यविज्ञान, पृष्ठसख्या ९०० (यह पुस्तक अपने विषय की उत्तम मानी गयी, अत हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से इस पर मगलाप्रसाद पारितोषक प्रदान किया गया), ३—मानव शरीररचना विज्ञान, पृष्ठ ४०८, चित्र सख्या ३८० (यह पुस्तक शरीर-रचना विषय की प्रथम थी। दुख है कि इसका पहला भाग ही प्रकाशित हुआ है), ४—सक्षिप्त शल्य-विज्ञान, पृष्ठसख्या ४०० (इस पर नागरी प्रचारिणी सभा काशी से रेडिचे पदक तथा पुरस्कार मिला है), ५—स्वास्थ्यप्रदीपिका, पृष्ठसख्या २५० (स्कूलो मे मैट्रिक के विद्यार्थियो के लिए उपयोगी), ६—स्वास्थ्यपरिचय, (इण्टर मीडिएट के विद्यार्थियो के लिए उपयोगी है), ७—शारीरप्रदीपिका (इण्टर मीडिएट के विद्यार्थियो के लिए शरीर क्रियाविज्ञान (फिजिओलॉजी) के लिए महत्त्वपूर्ण), ८—

शिशुमरक्षण (इण्टर मीडिएट की पाठ्य पुस्तक रूप मे स्वीकृत); ९—शल्यप्रदीपिका, पृष्ठसख्या ९००, चित्र ३५० (इसमे शल्य तत्र का विषय क्रियात्मक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से सरलता के साथ वर्णित है, अपने विषय की पहली पुस्तक है)।

डाक्टर शिवनाथजी खन्ना—आपका जन्म काशी मे १९०५ ईसवी मे हुआ था। आपके पिता श्री माधवप्रसादजी खन्ना काशी आर्यसमाज तथा नागरी प्रचारिणी सभा के सस्थापको मे थे। इसी से उस समय के प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री राय कृष्णदासजी के साथ आपकी अतिशय घनिष्ठता और स्नेह है।

श्री खन्ना शान्त तथा चुपचाप काम करनेवाले व्यक्ति है। आप गुण को लेने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। आपका लिखा रोगनिवारण बृहत् ग्रन्थ इस बात का प्रमाण है, आपने इसमे [illegible] का बहुत ही उत्तम रीति से समावेश किया है।

आपने बिहार मे दस वर्ष तक स्वास्थ्यविभाग मे सेवाकार्य करके पर्याप्त अनुभव प्राप्त किया। इस समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे उच्च पद पर कार्य कर रहे है। आपकी लिखी तीन पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं। ये तीनो पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है—

१—रोगीपरीक्षा, यह पुस्तक रोगी की जाँच के सम्बन्ध मे लिखी गयी है। अपने विषय की यह पहली पुस्तक है। इसमे पारिभाषिक शब्द हिन्दी और अग्रेजी दोनो मे दिये हैं। यही परिपाटी डाक्टर खन्नाजी ने अपनी शेष पुस्तको में भी बरती है। २—रोगपरिचय, यह पुस्तक सरल तथा उत्तम रूप से विपय का प्रतिपादन करनेवाली है। ३—रोगनिवारण, यह पुस्तक चिकित्सा विषयक है, इसमें चिकित्सा के साथ साथ अग्रेजी चिकित्सा के ढग पर विकृति-विज्ञान भी दिया है। ये तीनो पुस्तके उत्तर प्रदेश की आयुर्वेदिक अकादमी से पुरस्कृत हुई है। ४—रोगविनिश्चय पुस्तक प्रेस में छप रही है, जो रोग के निदान के सम्बन्ध मे है।

इस प्रकार से डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा ने शल्यतत्र को अपनाया तो डाक्टर शिवनाथ खन्ना ने कायचिकित्सा को अपनाकर आयुर्वेद को समृद्ध किया।

डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर—आप सतारा के रहनेवाले थे और चालीस दिन की पदल यात्रा करके काशी आये थे। आपके सिद्धान्त सच्चे और स्थिर थे, जिन पर स्वय चलते थे, और चाहते थे कि उनके साथ व्यवहार करनेवाले भी उसी प्रकार से उनका पालन करें।

आपने आयुर्वेदिक कालेज मे (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे) लम्बे समय तक कार्य किया है, अध्यापन कार्य करते समय कभी भी अवकाश नही लिया। विद्यार्थियो के प्रति आपका सहज प्रेम था, इसी से वे आपके सामने सम्पूर्ण चचलता भूल जाते थे। आपने जो साहित्य निर्माण किया, वह अनुपम है। आपके कुछ सिद्धान्त थे, आपने उन्ही के अनुसार अपनी पुस्तको मे शब्दावली दी है। नयी होने से यह अधिक प्रिय नही बनी, फिर भी आपने इस परम्परा को चलाया। आज भले ही हम इसके प्रति उदासीन रहे, परन्तु समय इस परिश्रम की सच्ची कीमत आँकेगा। आपका सबसे प्रथम साहित्यिक कार्य सुश्रुतसहिता की हिन्दी व्याख्या है। यह ऐसी कृति थी, जिसने आपको आयुर्वेद जगत् मे चमका दिया। अभी तक केवल [illegible] प्रत्यक्षशारीरम् इस सम्बन्ध मे था। कविराजजी ने कहा था कि "शारीरे सुश्रुतो नष्ट", यह स्थिति प्राचीन शरीरविज्ञान की है। आपने इस पर अभ्यास करके आयुर्वेद का जोरदार समर्थन करने के लिए इसकी व्याख्या लिखी। आपने वक्तव्य तथा विशेष वचन देकर अनुवाद की एक नयी परम्परा चलायी।

बाद मे आपने स्वतत्र साहित्य तैयार करके उसका स्वत प्रकाशन करना ही उत्तम समझा, जिसमे आप किसी के ऊपर आश्रित न रहे। इस मार्ग मे आपने आयुर्वेद की अपूर्व सेवा की है। आपका प्रस्तुत साहित्य निम्न है—

१—औपसर्गिक रोग, यह पुस्तक दो भागो मे है। इसमे आपने सक्रामक रोगो का विस्तृत उल्लेख पाश्चात्य पद्धति की चिकित्सा के आधार पर किया है। जहाँ पर आपको उचित प्रतीत हुआ आपने आयुर्वेद के वचन भी दिये है। २—रक्त के रोग, इसमे भी पद्धति वही बरती है, इसमे रक्त से सम्बन्धित रोगो की व्याख्या है। ३—मूत्र के रोग, इसमे भी वही लेखनपद्धति अपनायी है। ये तीनो पुस्तकें कायचिकित्सा के लिए प्रशसनीय है। आयुर्वेदिक तिब्ब अकादमी (उत्तर प्रदेश) ने इनको पुरस्कृत किया है। ४—जीवाणुविज्ञान, इसमे जीवाणुओ का उल्लेख है, एक प्रकार से पैथोलोजी की उत्तम पुस्तक है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमे पारिभाषिक शब्द भारतीय दिये है। ये शब्द नये बननेवाले शब्दकोशो से लिये गये है। ५—स्वास्थ्यविज्ञान, यह पुस्तक आयुर्वेदिक कालेजो मे हाईजीन पढाने के लिए उत्तम है। ६—स्वास्थ्य-शिक्षा पाठावली, छोटी परन्तु उपयोगी कृति है, यह जन-सामान्य की दृष्टि से लिखी गयी है, जिससे आयुर्वेदवर्णित स्वास्थ्य के नियमो का प्रचार हो सके। इसके सिवाय अग्रेजी मे भी दो पुस्तके आपने लिखी है।

आपको काशीवास प्रिय था, आपको अपने नियम, सिद्धान्त, वचन का पूरा

विश्वास था, इसलिए जीवन में एक से एक बडे आर्थिक लाभवाले पदो का प्रलोभन आने पर भी आप अपनी धुरी से जरा भी नही हिले। आपने अपना कार्यकाल एक ही रेखा पर चलकर पूरा किया। इसी से आप आज भी सम्मान के साथ याद किये जाते हैं। आपने अपने व्यय से हिन्दू विश्वविद्यालय में मारुतिमन्दिर की स्थापना की थी। आपको अपनी सस्कृति—हिन्दू धर्म पर पूरी आस्था थी और दृढता से उसका पालन करते थे, चाहते थे कि दूसरे भी उसे अपनायें। इसके लिए आप किसी पर भी जबरदस्ती या आग्रह नहीं करते थे। इस प्रकार का तपस्वी जीवन एक लम्बे समय तक उक्त विश्वविद्याल में आयुर्वेद का काम करते हुए व्यतीत कर आप सन् १९५७ म सेवा-कार्य से निवृत्त हुए।

डाक्टर आशानन्द पंचरत्न—आप पजाब के डेरा गाजीखाँ के रहनेवाले हैं। आपने लाहौर के मेडिकल कालेज से पाश्चात्य शिक्षा का उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। बाद में आपने लाहौर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। आपको हिन्दी से विशेष प्रेम था। आपने अध्यापन कार्य आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्था डी० ए० वी० कालेज लाहौर के आयुर्वेदिक कालेज से प्रारम्भ किया। आप वहाँ वाइस प्रिंसिपल के रूप में कार्य करते थे। यह कार्य करते हुए आपने विद्यार्थियो की कठिनाइयों को समझा, इसी से हिन्दी में साहित्य तैयार करना प्रारम्भ किया। बाद में आपकी नियुक्ति पोद्दार आयुर्वेदकि कालेज बम्बई में हो गयी। यहाँ आप प्रिंसिपल तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर कॉलेज और अस्पताल में कार्य करते थे। सेवा की अवधि पूरी होने पर आप निवृत्त हुए।

फिर कुछ समय हैदराबाद (दक्षिण) के और जामनगर के आयुर्वेदिक कॉलेजों में रहकर अब पीलीभीत के आयुर्वेदिक कॉलेज मे प्रिन्सिपल रूप से कार्य कर रहे हैं।

आपकी लिखी व्याधिविज्ञान, आधुनिक चिकित्साविज्ञान तथा रोगी-परीक्षा ये पुस्तकें हैं। इनमें व्याधिविज्ञान तथा चिकित्साविज्ञान ये पुस्तकें दो-दो भागो मे समाप्त हुई है। इनमे आपने पाश्चात्य चिकित्सा के साथ आयुर्वेद चिकित्सा का भी निर्देश किया है। पुस्तको की भाषा सरल है, पारिभाषिक शब्दावली प्रायः परिचित है, विषय का विस्तार बहुत नही है, इसलिए विद्यार्थियो के लिए ये उपयोगी एव सुलभ सिद्ध हुई है।

डाक्टर प्रसादीलाल—आपने विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य परीक्षा दी थी। विद्यापीठ और आयुर्वेद महासम्मेलन से आपका बहुत निकट का सम्पर्क रहा है। आपने प्रसूति विषय पर एक पुस्तक हिन्दी में लिखी थी। आप अपना व्यवसाय करते हुए भी आयुर्वेद पाठशाला में डाक्टरी शिक्षा नि.स्वार्थ भाव से देते थे।

डाक्टर प्राणजीवन माणिकचन्द्र मेहता—आपका जन्म काठियावाड के जामनगर मे हुआ है। आपने बहुत परिश्रम से मेडिकल कालेज की शिक्षा प्राप्त की है। बम्बई मे एम० डी०, एम०एस० दोनो उपाधि प्राप्त करनेवाले सम्भवत आप तीसरे व्यक्ति है। प्राचीन काल मे चिकित्सा और शल्य दोनो मे निपुण मनुष्य के लिए अश्विनौ—यह उपाधि थी।

आपने कुछ दिन हैदराबाद (सिन्ध) मे सरकारी नौकरी की, बम्बई मे अपनी प्रैक्टिस बहुत सफलता से की, वही पर आपका सम्पर्क श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य से हुआ। बम्बई से आप जामनगर राज्य की सेवा मे चीफ मेडिकल आफिसर बनकर आये। यहाँ आने पर आपने विद्वानो के सम्पर्क मे रहकर संस्कृत सीखी और सस्कृत के साथ चरकसहिता का तात्त्विक अन्वेषण किया। इस सहिता पर अधिकार प्राप्त करके आपने आयुर्वेद की समस्त उपलब्ध सहिताओ का सूक्ष्म अध्ययन किया।

जामनगर मे खुली केन्द्रीय अन्वेषण सस्था के आप डाइरेक्टर है, आपने बहुत उत्तमता से इसे चलाया है। इससे आयुर्वेद का कितना भला होगा—यह तो समय ही बतायेगा। आज कई साल हो गये, अभी तक कोई ठोस कार्य जनता के सामने नही आया। यही स्थिति दूसरे आयुर्वेदीय गवेषणाकेन्द्रो की भी है। प्राचीन पद्धति से आयुर्वेद चि[illegible] गवेषणा [illegible] जो बात कहते है, उनसे प्रार्थना है कि वे कविराज गणनाथ सेन सरस्वती के प्रत्यक्षशारीरम्, भाग प्रथम का प्रथम पृष्ठ पढ ले। जिन ऋषियो ने अपने त्रिकाल ज्ञान से अन्त-चक्षुओ द्वारा द्रव्यो का रस, वीर्य, विपाक निश्चित कर दिया, उनको सामान्य व्याकरण-सस्कृत का स्थूल अध्ययन करनेवाला वैद्य कैसे कर लेगा ? जिस विद्या मे स्पष्ट रूप से गोपनीयता लिखी है, जिसके विषय मे अल्बेरूनी ने लिखा है कि इसे छिपाकर रखा जाता है, उसे कागजो के आधार पर ढूंढना धन और समय का दुरुपयोग ही है। हाँ, इससे कुछ की जीविका अवश्य चल रही है।

जामनगर मे स्नातकोत्तर अध्ययन का जो क्रम चला है, उसकी रूपरेखा आपने श्री यादवजी त्रिकमजी के साथ मिलकर बनायी थी। इससे पूर्व आयुर्वेदिक कालेज का प्रारम्भ उन्ही के आचार्यत्व मे आपने प्रारम्भ किया था। आयुर्वेद का दुर्भाग्य रहा कि श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का सहयोग स्नातकोत्तर कालेज को नही मिला। उनकी मृत्यु इसी प्रसग मे जामनगर मे हो गयी।

डाक्टर मेहता की कार्य करने की क्षमता अपूर्व है, आपका आहार अति स्वल्प है, सम्भवत इसी के कारण इतनी कार्यक्षमता इस आयु मे बनी है। १२-१४ घंटे

सुव्यवस्थित रूप से आप काम कर सकते है। विषय की तह तक पहुँचना, उसे क्रम से सजाना, उसकी गवेषणा करना आदि बारीकियाँ आपकी अद्भुत है।

चित्र का दूसरा पहलू

पाश्चात्य चिकित्सा के विद्वान् डाक्टरो ने आयुर्वेद शिक्षा मे पर्याप्त सहयोग दिया है; इसमें कोई भी सन्देह नही। यह सहयोग बहुत कुछ नि स्वार्थ भावना से ही हुआ है। उनकी यह हार्दिक इच्छा रही कि ये वैद्य भी पाश्चात्य विज्ञान को सीखकर लाभ उठायें। इसी भावना से **श्री त्रिलोकीनाथ वर्मा** ने हिन्दी में हमारे शरीर की रचना (१९१८ में) छापी, गुजराती में भी राजकोट से एक डाक्टर ने इस प्रकार की पुस्तक प्रकाशित की। बम्बई के प्रसिद्ध **डाक्टर चमनलाल मेहता** ने प्रसूति शास्त्र हिन्दी मे प्रकाशित किया। श्री डाक्टर गुजराल ने मॉडर्न मेडिकल ट्रीटमेट का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया।

परन्तु पीछे से इस कार्य में धनोपार्जन की बुद्धि भी आ गयी। इस वर्ग ने यह समझ [illegible] है, इनको सामान्य बातो का भी ज्ञान नही, इसलिए हिंदी में जो भी हम लिख देगे वह निश्चित चलेगा, और वह चला भी, बिका भी। ये विद्वान् डाक्टरी की उपाधि तो अग्रेजी में लेते है, उसकी प्रैक्टिस करते है, परन्तु लिखने या गवेषणा के लिए उस क्षेत्र से भागकर आयुर्वेद में आते है। वे जानते है कि यह ऐसा समाज है कि इसमे जरा-सा चमत्कार दिखाने पर प्रतिष्ठा मिल जायगी। उनका समझना सत्य भी हुआ। आयुर्वेद क्षेत्र में डाक्टरो को जो सम्मान-प्रतिष्ठा मिली, उन्हे अपने क्षेत्र मे वह मिलती, इसमें सन्देह है। वैद्य भी, जो अग्रेजी में धारा-प्रवाह बोलता है, उसी की मान-प्रतिष्ठा करते है, उसे ही बार-बार सभापति बनाते है। सत्य भी है, वैद्यो के पास अपना कुछ है भी नही; उनका कोई अस्तित्व नही। केवल पुरानी पोथी, जाति का गर्व, वाद-विवाद, ईर्ष्या बस यही इनका ऐश्वर्य या मिलकियत है। इसलिए ऐसे समाज को उन्होने धन-यश कमाने के लिए चुनकर अपने लिए कुछ बुरा नही किया। वैद्य भी तो डाक्टर का वेश धारण करते है कि वे डाक्टर समझे जायँ। परन्तु इससे लाभ भी हुआ, वैद्यो की आँखे खुली, और उनमें लार्ड मैकाले की शिक्षा के अनुसार नवीन विषयो की जिज्ञासा जागी। इसी लिए ये अब आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं रहना चाहते, जो समयानुसार उचित भी है। इसकी प्रेरणा डाक्टरो की सेवा से मिली, इसमें दो मत नही है।

बाईसवाँ अध्याय

आयुर्वेद के स्नातकों द्वारा प्रस्तुत साहित्य

डाक्टरो और वैद्यो को छोडकर सस्थाओ से निकले स्नातको ने भी प्रचुर मात्रा मे आयुर्वेद साहित्य का निर्माण किया। इनके श्रम का मूल्याकन भावी पीढी के लिए उपयोगी होगा, इसलिए इनके कार्य का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

सर्वश्री जयदेव विद्यालकार, विद्याधर विद्यालंकार, अत्रिदेव विद्यालकार, रमेश वेदी आयुर्वेदालकार, सत्यपाल आयुर्वेदालकार, राजेश्वरदत्त शास्त्री, प्रियव्रत शर्मा, दामोदर शर्मा, रामसुशील सिह, महेन्द्रकुमार शास्त्री आदि का विवरण आगे "आयुर्वेद महाविद्यालय" शीर्षक प्रकरण मे दिया गया है, कुछ अन्य लोगो की चर्चा यहाँ की जा रही है।

श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालकार—आपने पहले **शरीरक्रियाविज्ञान** पुस्तक हिन्दी मे लिखी, यह पुस्तक अपने विषय की नयी रचना थी। इसमे आपने पारिभाषिक शब्द बहुत ही सुन्दर बनाये, पाश्चात्य विषय को आयुर्वेद के साँचे मे सुन्दरता से उतारा है। पाठक को लगता है मानो आयुर्वेद की पुस्तक पढ रहा है।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—इस विषय की अभी तक प्रकाशित पुस्तको मे सबसे अच्छी और सरल पुस्तक है। **हितोपदेश**—आयुर्वेद ग्रन्थो से सुन्दर और ललित वचन सगृहीत करके इसका सकलन किया है। इसका नाम सार्थक ही है। इसमें सस्कृत वचनो का हिन्दी अनुवाद भी दिया है। **निदानहस्तामलक चिकित्सा**—इस विषय के लेख पहले पत्रिका मे (सचित्र आयुर्वेद में) प्रकाशित हुए है, इनको पुन: सम्पादित करके पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है। इसमे आयुर्वेद के विषय एवं आयुर्वेद की दृष्टि का पूरा ध्यान रखा गया है। देसाईजी ने मल्लिनाथ के प्रसिद्ध वचन "नामूल लिख्यते किञ्चित् [illegible]"—का उद्धरण देते हुए इस पुस्तक मे इसे निभाने का यत्न किया है।

श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार—काश्यप सहिता का आपने हिन्दी अनुवाद किया है, इस अनुवाद में आयुर्वेद ग्रन्थो के प्रमाण देकर इसकी उपयोगिता बढा दी है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी शास्त्राचार्य—आपकी लिखी पुस्तको का परिचय यह है—१—**वैद्यसहचर** उत्तम पुस्तक है; वैद्यो को चिकित्सा क्षेत्र में उतरते समय योग्य सहारे का काम देगी। २—**प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण** पुस्तक क्रियात्मक दृष्टि से लिखी है; विद्यार्थियो को इस कार्य मे जो कठिनाइयाँ आती है, उनको सरल बनाने के लिए यह पुस्तिका उपयोगी है। ३—**नेत्ररोगविज्ञान**, इसमे बहुत से नुस्खे लोगो से सुने हुए दिये है। विषय का प्रत्यक्षीकरण सम्भवत. नही हुआ, इसलिए पहली दो पुस्तको जैसी विशदता इसमें नही दीखती। इनके अतिरिक्त **त्रिदोषालोक, तैलसंग्रह** ये पुस्तकें भी लेखक की है। आयुर्वेद में जो तैल प्राय. बरते जाते है, उनकी निर्माण-विधि, तैल-साधन नियम आदि इसमे दिये है।

श्री शिवदत्तजी शुक्ल एम० ए०, ए० एम० एस०—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज मे आपने एक लम्बे समय तक द्रव्यगुण विषय को पढाया है। आयुर्वेद का यह दुर्भाग्य रहा कि वह आपके अनुपम ज्ञान को पुस्तकाकार पूर्णरूप मे अभी तक नही देख सका। आपने एक इण्टरव्यू से अव्यवहित पूर्व **'द्रव्यगणमंजूषा'** नाम की पुस्तक के कुछ फार्म (सम्भवत. चार फार्म-६४ पृष्ठ) छपवाये थे। इसके पीछे इसका प्रकाशन अभी तक पूरा नही हुआ। आपने इसमे श्लोक स्वय बनाये है।

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस०—आपने कई पुस्तके लिखी है। इनमे **कौमारभृत्य** कृति आधुनिक और प्राचीन चिकित्सा प्रणाली के अनुसार लिखी है। इस विषय की एक साथ जानकारी इसमे मिलती है। **राजकीय औषधियोगसंग्रह** और **राष्ट्रीय चिकित्सा-सिद्धयोगसंग्रह**—ये दोनो पुस्तके योगो का सग्रह है। इनमे आयुर्वेद के प्रसिद्ध योगो के निर्माण की प्रक्रिया दी है। **अभिनव विकृतिविज्ञान**—यह पुस्तक लगभग १,००० पृष्ठो की है। हिन्दी मे अपने विषय की पहली पुस्तक है। इसमे वर्त्तमान पैथोलोजी विषय को सरल बनाकर प्रस्तुत करने का यत्न किया है। स्थान स्थान पर आयुर्वेद के वचन भी दिये है।

श्री पी० जे० देशपांडे ए० एम० एस०—आपने **शल्यतंत्र में रोगीपरीक्षा** नामक पुस्तक बहुत योग्यता से लिखी है। अपने विषय की यह पहली पुस्तक है।

श्री लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु ए० एम० एस०—आप नवयुवक है, आपने शरीर रचना पढाते समय विद्यार्थियो की कठिनाई का अनुभव करके **गर्भस्थ शिशु की कहानी** नाम से 'एम्ब्रोलिजी' विषय को हिन्दी मे लिखा है। लिखने मे यद्यपि पाश्चात्य पद्धति को अपनाया है, परन्तु साथ-साथ आयुर्वेद के वचन भी दिये है।

श्री अम्बिकादत्त व्यास ए० एम० एस०—आपके द्वारा निम्न पुस्तको का

अनुवाद हुआ है—सुश्रुत संहिता—सूत्र, निदान, शारीर स्थान; भैषज्यरत्नावली, रसेन्द्रसार संग्रह, रसरत्नसमुच्चय।

श्री शिवदयाल गुप्त ए० एम० एस०—आपने नेत्ररोगविज्ञान, मैटेरिया मेडिका, धात्रीविज्ञान आदि पुस्तके पाश्चात्य चिकित्सा के आधार पर लिखी है।

श्री सुदर्शन ए० एम० एस०—आपने माधवनिदान का हिन्दी अनुवाद किया है, इसमे मुख्य रूप से विमर्श लिखकर आधुनिक चिकित्सा का भी उल्लेख किया है। अनुवाद सामयिक है। **श्री यदुनन्दन उपाध्यायजी** ने इसे परिष्कृत किया, ऐसा इसकी भूमिका से पता चला है। इसके परिष्कार मे श्री शिवदत्त शुक्लजी आदि से आपको सहायता मिली, जिसके कारण यह उत्तम और सुव्यवस्थित बन सका।

श्री गंगासहाय पाण्डेय ए० एम० एस०—आपने सिद्धभैषज्यसंग्रह तथा भावप्रकाश निघण्टु का क्रमश सम्पादन और परिष्कार किया है। स्वतत्र पुस्तक आपकी अभी प्रकाशित नही हुई। इनमें कितना अश आपका है और कितना मूल लेखक का या अनुवादक का है, यह पता नही चलता। फिर भी कुछ नवीनता सम्भव है।

श्री रमानाथ द्विवेदी एम० ए०, ए० एम० एस०—आपने एक नयी सरणी पुस्तक लेखन मे चलायी, जो कि आधुनिक समय के अनुकूल और उपयोगी है। इस पद्धति से तैयार की हुई पुस्तके विद्यार्थियो के लिए उत्तम ज्ञान देनेवाली हैं। इनका सबसे बडा लाभ समय की बचत है। एक ही व्यक्ति पाश्चात्य चिकित्सा और आयुर्वेद को एक ही पुस्तक की सहायता से पढ सकता है। जो लोग आयुर्वेद को चरक-सुश्रुत आदि सहिताओ के अन्दर ही जकडा मानते है, सम्भवत. उनको यह कार्य अनुकूल न लगे। परन्तु जो अत्रिपुत्र के 'तदेव युक्त भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते'—इस सिद्धान्त को मानते है, उनके लिए ये पुस्तके प्रशंसनीय एव महत्त्वपूर्ण है—

सौश्रुती—इसके नाम मे ही इसका विषय स्पष्ट है, इसमें सुश्रुत सहिता का शल्यतंत्र पृथक् रूप से हिन्दी में लिखा है। इस प्रकार से लिखने मे विषय का सिलसिला सरल हो गया है। शल्य विषय जो भिन्न-भिन्न अध्यायो में एक निश्चित क्रम से नही वर्णित था, उसे क्रम से पूर्वापर सम्बन्ध के साथ कहानी के रूप मे लिख दिया गया है (जिस प्रकार से नीति विद्या का पचतत्र में वर्णन किया है)। इससे भले ही विद्यार्थी संस्कृत के वचन स्मरण न कर सके परन्तु उसके विषय से बहुत सरलतापूर्वक परिचित हो जाता है।

प्रसूतिविज्ञान—यह पुस्तक आपको बहुत प्रतिष्ठा देनेवाली है, इसमे पूर्व

प्रकाशित पुस्तकों से बहुत अधिक सामग्री है। **शालाक्यतंत्र**—इसमें आयुर्वेद में वर्णित शालाक्य शास्त्र के रोगो को आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा के साथ तुलना करके लिखा है। इसमें दोनो सरणियो की चिकित्सा लिखी है। विषय को सरल बनाने के लिए सक्षेप में परन्तु आवश्यकतानुसार वचन भी दिये है। **स्त्रीरोगविज्ञान**—इसमे आधुनिक विषय बहुत ही सरलता से समझाया है, आयुर्वेद के वचन भी साथ-साथ में दिये है। **अगदतंत्र**—यह छोटी-सी पुस्तिका है, इसमें प्राचीन विषयो का वर्णन किया है। **बालचिकित्सा**—इसमें बालको के लालन-पालन तथा उनकी चिकित्सा का उल्लेख दोनो पद्धतियो से किया है। **पेटेन्ट मेडिसिन**—इसकी जरूरत आज बहुत थी। आयुर्वेद विद्यालय से निकले स्नातको को व्यवहार में लाने की दृष्टि से विलायती कम्पनियो की बनायी औषधियो का परिचय कराने के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इससे पता चल जाता है कि किस रोग में कौन-कौन-सी पेटेन्ट औषधियाँ बरती जाती है, उन्हें किस-किस कम्पनी ने किस किस नाम से बनाया है।

इन लेखको के अतिरिक्त **श्री रमेशचन्द्र** ने कफचिकित्सा, इंजेक्शन चिकित्सा आदि पुस्तकें लिखी है। **ठाकुर दलजीत सिंह** ने यूनानी द्रव्यगुण तथा यूनानी चिकित्सा की कई पुस्तकें हिन्दी में लिखी है। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की भाँति जन-कल्याण के लिए उसको बरतना चाहिए; उसका अध्ययन करके आयुर्वेद में उसका समावेश करना आवश्यक और उपयोगी है। आज हम पाश्चात्य चिकित्सा की तरफ जितने झुके है, उसके साथ समन्वय करना चाहते है; उससे अधिक यह यूनानी चिकित्सा हमारे बहुत समीप की है। इसका द्रव्यगुण तो हमारे साथ मेल खाता है। इसका औषधज्ञान आयुर्वेद के निघण्टु की अपेक्षा परिष्कृत, विस्तृत और जाना हुआ है। दुःख है कि हम लोग इसे नही अपना सके। यही कारण है कि बारहवी शती से लेकर आज तक यह ज्ञान पृथक् रहा। यदि मुसलमानो के राज्यकाल में इसे मिला लिया जाता तो आज आयुर्वेद का पर्याप्त विकास हो जाता; उसका दूसरा रूप ही होता। इस क्षेत्र मे **हकीम मंशाराम** ने भी कार्य किया है, आपने भी यूनानी चिकित्सासागर और यूनानी तिब्ब की फार्माकोपिया पुस्तकें हिन्दी मे लिखी है।

श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी एम० एस-सी० ने रसरत्नसमुच्चय के एक भाग का हिन्दी अनुवाद बहुत प्रामाणिकता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया था। इसमें आपने अपने विज्ञान के ज्ञान का पूर्ण उपयोग किया; सारा रसशास्त्र आपने इसी दृष्टिकोण से देखा है। यद्यपि मेरी मान्यता है कि वर्त्तमान कैमिस्ट्री के साथ प्राचीन रसशास्त्र का कोई मेल नही, दोनो ही ज्ञानों का दृष्टिकोण भिन्न है,

उनकी प्रक्रिया मे भेद है, दोनो का उद्देश्य भिन्न है। वर्त्तमान कैमिस्ट्री का उद्देश्य, चरम लक्ष्य क्या है, यह किसी को पता नही, परन्तु भारतीय रसशास्त्र का चरम लक्ष्य स्पष्ट है—शरीर को अजर-अमर बनाना। इसलिए दोनो को मिलाना उसी प्रकार है कि कवि का नाम धावक देखकर उसे धोबी या भगोडा समझना।

श्री ठाकुर बलवन्त सिंह एम० एस-सी०—आपने प्रारम्भिक उद्भिद् (वनस्पति) शास्त्र पुस्तक लिखी है। वनस्पति शास्त्र पर सबसे पहली पुस्तक सन् १९१४ मे हिन्दी में गुरकुल कॉगडी के प्राध्यापक श्री महेशचरण सिंह ने लिखी थी। ठाकुर साहब ने इसे नये दृष्टिकोण से हिन्दी मे लिखा है, इसमे आयुर्वेदिक वनस्पतियों के उदाहरण दिये हैं। इसके सिवाय बिहार की वनस्पतियो के सम्बन्ध मे भी एक पुस्तक आपने लिखी है।

श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री आयुर्वेदाचार्य—आपने लघु द्रव्यगुणादर्श तथा आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास लिखा है। यह इतिहास श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री के आयुर्वेद-इतिहास (गुजराती) के आधार पर है, जो बहुत सक्षिप्त है। लघु द्रव्यगुणादर्श पुस्तक मे द्रव्यगुण-रसशास्त्र को बहुत थोडे से पृष्ठो मे समाविष्ट कर दिया है, इससे विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। द्रव्यगुण पर विस्तृत पुस्तक भी लिखी है, जो अभी प्रकाशित नही है। आपका द्रव्यगुण विषय मे बहुत रस है और उसके अच्छे ज्ञाता हैं।

श्री रामरक्ष पाठक—आपने दो तीन पुस्तकें लिखी हैं जो कि दूसरों की पुस्तकों के आधार पर हैं। पदार्थविज्ञान मे आपकी हिन्दी दुरूह हो गयी है। मर्मविज्ञान भी एक अंग्रेजी पुस्तक का एक प्रकार से उल्था है।

डा० श्री रामदयाल कपूर—आपने प्रसूतितंत्र सबसे प्रथम लिखा था, यह पुस्तक अंग्रेजी की मिड्वाइफरी का सुन्दर अनुवाद था। विद्यार्थियों मे तथा अध्यापकों मे इसका अच्छा प्रचार हुआ। इसके पीछे रोगीपरिचर्या पुस्तक लिखी। ये पुस्तकें शुद्ध पाश्चात्य चिकित्सा से सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार हिन्दी मे भी पाश्चात्य चिकित्सा सम्बन्धी, आयुर्वेद सम्बन्धी दोनों का समन्वयात्मक साहित्य पूर्ण रूप से मिलता है। अब हिन्दी मे उच्च श्रेणी का साहित्य भी लिखा जा रहा है। यह साहित्य पाठ्यक्रम के लिए उपयोगी हो सकता है।

सस्कृत के मूल ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद बडी मात्रा मे हो चुका है। इस कार्य का प्रारम्भ मथुरा पुरी के **श्री दत्तराम चौबे** तथा अन्य मनीषियों ने किया था। उनके ही प्रयत्न का फल है कि रसराजसुन्दर आदि ग्रन्थ हिन्दी मे उपलब्ध हुए। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, हिन्दी मे आयुर्वेद साहित्य सब भाषाओ से अधिक है; इसके

पीछे बँगला, मराठी है। कुछ थोडे से ही प्रकाशित चालू ग्रन्थ होंगे जो कि हिन्दी अनुवाद के बिना रह गये।

आयुर्वेद साहित्य को **श्री भूदेव मुकर्जी** ने तथा **गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी** ने अपने ग्रन्थ अंग्रेजी मे लिखकर नयी प्रेरणा दी है। **डा० विष्णु महादेव भट्ट** ने मराठी मे पाश्चात्य और आयुर्वेद मत को मिलाकर **रोगविज्ञान** पुस्तक उत्तम रूप से प्रस्तुत की है। **श्री ए० पी० ओगले** का चिकित्साप्रभाकर मराठी का उत्तम ग्रन्थ है। यह बहुत विस्तृत और पूर्ण जानकारी चिकित्सा के सम्बन्ध मे करवाता था। सस्कृत मे **श्री विश्वनाथ गोखले** का चिकित्साप्रदीप तथा **सी० जी० काशीकर** का लिखा **पदार्थविज्ञान** बहुत उत्तम एवं आयुर्वेद के प्रशसनीय ग्रन्थ है।

गुजराती मे सामान्य जनता के लिए पर्याप्त साहित्य तैयार है, इसमें सामयिक साहित्य **श्री गोपालजी कुंवरजी ठक्कर** मालिक सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी; **श्री जयशंकर लीलाधर** ने तैयार किया। **श्री बापालाल गड़बड़शाह** तथा **प्रभुदास**— प्रिन्सिपल शुद्ध आयुर्वेदिक कालेज, नडियाद ने उत्तम उपयोगी साहित्य गुजराती को दिया है। यह साहित्य हिन्दी के लिए भी उपयोगी है। इस समय **चन्द्रशेखर गोपालजी** ठक्कर सरल साहित्य लिख रहे है।

बँगला मे **श्री अमृतलाल गुप्त** की आयुर्वेदशिक्षा, **श्री रामचन्द्र विद्याविनोद** का आयुर्वेदसोपान, **श्री राखालचन्द्र दत्त वैद्यशास्त्री** का फलितचिकित्साविधान आदि पुस्तके बहुत महत्त्वपूर्ण है। बँगला से प्राय. सब आयुर्वेद साहित्य अनूदित हो चुका है। इस समय **श्री प्रभाकर चटर्जी एम० ए०** आयुर्वेद की सेवा कर रहे है।

जहाँ तक पाश्चात्य चिकित्सा के ज्ञान की आवश्यकता आयुर्वेद के लिए है, वहाँ तक का साहित्य क्षेत्रीय भाषाओ मे अथवा हिन्दी में पूर्णत उपलब्ध है। इससे आगे पाश्चात्य चिकित्सा का अध्ययन आयुर्वेद की दृष्टि से हानिप्रद रहेगा। इतने प्रस्तुत साहित्य का आज उपयोग होने लगे तो भविष्य मे और भी परिष्कार इस दिशा में हो जायगा। बर्तन माँजने से अधिक चमकता है।

तेईसवाँ अध्याय

आयुर्वेद साहित्य के प्रकाशक

खेमराज श्रीकृष्णदास---आपके दो प्रेस बम्बई मे है, एक श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस खेतबाडी-बम्बई मे और दूसरा श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस कल्याण-बम्बई मे। आपने सबसे प्रथम आयुर्वेद साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह प्रकाशन सस्कृत मूल तथा सस्कृत और हिन्दी दोनो के साथ हुआ। आपके यहाँ से आयुर्वेद ग्रन्थ तीन सौ के लगभग प्रकाशित हुए है, कोई ऐसी पुस्तक सम्भवत नही बची जो उपलब्ध होने पर आपने न प्रकाशित की हो। पुस्तके बिकी नही, यह प्रश्न दूसरा है। साहित्य की दृष्टि से आपने इनका प्रकाशन किया है। आपका प्रकाशन सर्वथा पुरानी पद्धति का है। उसमे अभी तक समयानुसार कोई भी परिवर्त्तन आपने नही किया, इसलिए इस समय यह प्रकाशन अधिक लोकप्रिय नही रहा। आपके लेखको मे श्री दत्तराम चौबे, प० ज्वालाप्रसाद, श्री रामप्रसादजी मुख्य है।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज---यह बनारस की प्राचीन सस्था है, सस्कृत पुस्तको का प्रकाशन इस सस्था का अपना ध्येय है। आज से तीस-चालीस वर्ष पूर्व निर्णयसागर प्रेस और यह सीरीज ही सस्कृत पुस्तको का प्रकाशन करती थी। काशी सस्कृत विद्या एव विद्वानो का घर होने से विद्यार्थी और अध्यापको को इसकी आवश्यकता रहती थी। सस्था ने सस्कृत साहित्य, विशेषत धर्मशास्त्र, व्याकरण, कर्मकाण्ड का प्रकाशन प्रारम्भ किया। आयुर्वेद के प्रकाशन की ओर इसकी अभिरुचि सन् १९२७ के लगभग हुई। सस्था के मालिक धीरे-धीरे इस कार्य मे अग्रसर हुए। आपने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य से 'काक-चण्डीश्वर तत्र' प्राचीन ग्रन्थ लेकर उसे प्रकाशित किया।

देश-विभाजन के पीछे सन् १९४७ से इस प्रगति ने बहुत वेग पकडा। इसके आस-पास ही आपने सुश्रुतसहिता, चरकसहिता को मूल रूप में प्रकाशित किया था। साथ ही हिन्दी मे आयुर्वेद ग्रन्थो का क्रम प्रारम्भ कर दिया। इस समय यह स्थिति है कि सम्भवत कोई भी प्रचलित ग्रन्थ ऐसा नही जिसका हिन्दी या सस्कृत भाषान्तर

आपके यहाँ से प्रकाशित न हुआ हो। काश्यपसंहिता जैसे बड़े ग्रन्थ का प्रकाशन आपने हिन्दी में किया है। संस्कृत साहित्य का भी संस्था ने बहुत कार्य किया। संस्था से प्रकाशित आयुर्वेद ग्रन्थों में मुख्य ये है—

अष्टांगहृदय, भैषज्यरत्नावली, सुश्रुतसंहिता (आंशिक), भावप्रकाश, रसेन्द्रसार-संग्रह, रसरत्नसमुच्चय, परिभाषाप्रदीप तथा नवीन शैली की कौमारभृत्य, प्रसूतितंत्र, शालाक्यतंत्र, स्त्रीरोगविज्ञान, अभिनव विकृतिविज्ञान, द्रव्यगुणविज्ञान आदि।

कृष्णगोपाल संस्था—कालेड़ा बोगला, अजमेर—यह संस्था सन् १९३५ के आसपास प्रारम्भ हुई है। इसको प्रारम्भ करनेवाले जामनगर राज्य के श्री कृष्णानन्दजी स्वामी हैं। उन्होंने परिश्रम से औषधालय खोला, फिर उसके साथ-साथ प्रकाशन का काम प्रारम्भ किया। प्रथम आपने रसतंत्रसार—सिद्धयोगसंग्रह प्रकाशित किया, इसकी बिक्री बहुत अच्छी हुई, जनता ने इसे उदारता से अपनाया। इससे प्रेरित होकर आपने इसका दूसरा भाग, चिकित्साप्रदीप, गाँवों के अमूल्य रत्न (वृक्ष) आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इस संस्था के प्रकाशनों की अपनी विशेषता है। इस विशेषता के कारण जनता में आपकी पुस्तकें बहुत प्रचलित हैं, पढ़े-लिखे सामान्य जानकारीवाले शिक्षक, चिकित्सक, विद्यार्थी, सब इनका उपयोग मुक्तहस्त से कर रहे हैं। आयुर्वेद की चिकित्सा में इनसे बहुत सहायता मिल रही है।

वैद्यनाथ भवन लिमिटेड—यह संस्था मुख्यतः औषध निर्माण का काम करती है, परन्तु साथ ही पुस्तकों के प्रकाशन में भी सहयोग देती है। यह प्रकाशन विस्तार रूप में सम्भवतः श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की प्रेरणा से विकसित हुआ है। आपके यहाँ से श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालंकार की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। श्री डाक्टर बालकृष्ण अमरसी पाठक का मानसरोग भी आपके यहाँ से निकला है। श्री यादवजी का सिद्धयोगसंग्रह भी यहीं से निकला है। इस पुस्तक का बहुत प्रचार हुआ, क्योंकि इसमें नुस्खे हैं और वैद्य लोगों की रुचि नुस्खेवाली पुस्तकों में बहुत रहती है। संस्था ने देसाई तथा पाठक के जो प्रकाशन किये हैं, वे संस्था और आयुर्वेद के लिए गौरव की चीज हैं।

लाहौर की दो संस्थाएँ—सन् १९४७ के देश-विभाजन से पूर्व लाहौर में मेहरचन्द लक्ष्मणदास और मोतीलाल बनारसीदास ये दो संस्थाएँ आयुर्वेद के प्रकाशनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थीं। दोनों संस्थाओं के पास-पास होने से इनमें स्पर्द्धा रहती थी, इसमें आयुर्वेद के प्रकाशन को लाभ हुआ। इनमें **मेहरचन्द लक्ष्मणदास** ने चक्रदत्त का हिन्दी अनुवाद सदानन्द शर्मा का किया हुआ प्रकाशित किया था। यह अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हुआ। संस्कृत की टीका से अधिक इसका प्रचार

हुआ। इसके साथ ही सुश्रुत सहिता का हिन्दी अनुवाद श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर-जी का आपने प्रकाशित किया। इस प्रकाशन से आपकी ख्याति में चार चाँद लग गये। इससे अनुप्राणित होकर आपने श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी का लिखा रसरत्नसमुच्चय का एक भाग प्रकाशित किया, जो कि अपने ढग का प्रथम था। इसके पीछे प्राचीन पुस्तक 'बावर पाण्डुलिपि' का नावनीतक छापा।

विभाजन के पीछे इस सस्था ने आयुर्वेद का प्रकाशन एक प्रकार से समाप्त कर दिया, अब दूसरे प्रकाशन मे हाथ लगाया है। इस समय सुश्रुत का हिन्दी अनुवाद (सूत्रस्थान-निदानस्थान) श्री घाणेकरजी का तथा माधवनिदान हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। ये दोनो अनुवाद बाजार में मिलनेवाले इनके अनुवादो से सस्ते और अच्छे है।

मोतीलाल बनारसीदास—लाहौर की प्राचीनतम सस्था है। इस संस्था का प्रारम्भ लाला मोतीलालजी जैन जौहरी ने १९०३ में अपने मकान में किया था। दुकान पर आपके सुपुत्र श्री सुन्दरलालजी अपना कुछ समय प्रारम्भ मे देते रहे। पीछे आपने नौकरी करना पसन्द न करके इस काम को बढाया। आपका सम्पर्क यूरोप या अमेरिका के विद्वानो से हुआ और वहाँ का साहित्य आपके द्वारा यहाँ सुलभ हुआ।

वैदिक साहित्य के पीछे आयुर्वेद के ग्रन्थो मे प्रकाशन की रुचि आपको लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य कविराज श्री नरेन्द्रनाथ मित्रजी से हुई। उनका औषधालय आपकी दुकान के पास ही था। श्री मित्रजी ने शिष्यो से अपनी देखरेख मे आयुर्वेद की पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद, उनके नये सस्करण एव प्राचीन पुस्तको का पुन सम्पादन, नयी पुस्तके लिखवाना प्रारम्भ किया।

आपने रसेन्द्रसारसग्रह का हिन्दी अनुवाद एव अष्टाग-हृदय को सर्वांगसुन्दर टीका के साथ तथा मूलरूप में छापकर आयुर्वेद ग्रन्थो के प्रकाशन का श्रीगणेश किया। फिर श्री जयदेव विद्यालकार का भैषज्यरत्नावली का अनुवाद छापा। रसहृदय-तन्त्र, रसेन्द्रचिन्तामणि, चक्रदत्त की शिवदास सेन टीका भी प्रकाशित हुई। चरक सहिता का हिन्दी अनुवाद विद्यार्थी एव अध्यापक दोनो के लिए उपयोगी है।

श्री अत्रिदेव विद्यालकार द्वारा लिखित शल्यतन्त्र एव सुश्रुत का हिन्दी अनुवाद आपने छापा। चरकसहिता की चक्रपाणिदत्त टीका को जैज्जट की टीका के साथ श्री हरिदत्तजी शास्त्री से सम्पादित कराकर प्रकाशित किया। योगरत्नाकर हिन्दी अनुवाद सबसे पहले आपने प्रकाशित किया था।

विभाजन के पीछे बनारस आकर आपने चरक, सुश्रुत, भैषज्यरत्नावली आदि

पुस्तकों का प्रकाशन करने के साथ अत्रिदेव विद्यालकार की क्लिनिकल मेडिसिन प्रकाशित की, भावप्रकाश का हिन्दी अनुवाद सस्ते मूल्य पर जनता को दिया। आपके प्रकाशन उपयोगी होने के साथ सस्ते होते हैं। इसी से विद्यार्थी वर्ग उनको पसन्द करता है। दिल्ली मे भी आपने इस कार्य का विस्तार किया है।

संस्कृत के प्रकाशक

इनमें मुख्य प्रकाशक निर्णयसागर प्रेस-बम्बई, आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला-पूना एव जीवानन्द विद्यासागर-कलकत्ता हैं। निर्णयसागर प्रेस का प्रकाशन अपनी विशेषता लिये होता है। इसमें प्रकाशित पुस्तको का सम्पादन मुख्यत श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने बहुत योग्यता से किया है। अष्टागहृदय का सम्पादन श्री हरिशास्त्री पराडकर (अकोला-बरार) ने बहुत योग्यता से किया है। आयुर्वेद मे हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालकार कृत अष्टागसग्रह का और उन्ही द्वारा लिखित 'हमारे भोजन की समस्या' का भी प्रकाशन किया है, पर सामान्यत यह सस्था सस्कृत के प्रकाशन ही करती है। माधवनिदान का शुद्ध सस्करण श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने १८ वर्ष की अवस्था मे इस सस्था से प्रकाशित करवाया था। चरकसहिता—चक्रपाणिदत्त की व्याख्या सहित एव मूल, सुश्रुतसहिता—डल्हण की टीका के साथ एवं मूल, अष्टांगहृदय—अरुणदत्त और हेमाद्रि की टीका के साथ एव मूल, शार्ङ्गधरसहिता—टीका एव मूल, माधव निदान—मधुकोश आतकदपण सहित तथा योगरत्नाकर मूल भी प्रकाशित हुए हैं।

आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला-पूना ने आयुर्वेद तथा अन्य विषयो की पुस्तके मोटे टाइप में मूलरूप में प्रकाशित की है। इस सस्था से योगरत्नाकर, हस्त्यायुर्वेद—पालकाप्य मुनि का बनाया, अश्ववैद्यक, अष्टांगसग्रह मूल आदि ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

जीवानन्द विद्यासागर—कलकत्ते की पुरानी सस्था है। इसमे आयुर्वेद, साहित्य, पुराण, धर्मग्रन्थ आदि सब विषयो की पुस्तके प्रकाशित हुई है। चरकसहिता के चिकित्सा स्थान के अध्यायो में क्रमभेद जो आज मिल रहा है वह इसके प्रकाशित तथा निर्णयसागर से प्रकाशित भेद के कारण है। दु ख है कि आज तक इसका कुछ भी निर्णय नही हुआ। बगाल मे प्रसिद्ध प्राय. सब ग्रन्थो का देवनागरी लिपि-सस्करण सस्कृत का इसी सस्था से निकला है। रसेन्द्रसारसग्रह, वगसेन, भावप्रकाश, इनके मूल सस्करण इसी सस्था के प्रकाशन है।

आर्य वैद्यशाला—कोटाक्ल से भी आयुर्वेद की कुछ पुस्तके सस्कृत मे प्रकाशित हुई हैं, जिनमें चिकित्सा-कलिका, अष्टागहृदय, अष्टागहृदय का उत्तर तत्र आदि मुख्य हैं।

चौबीसवाँ अध्याय

आयुर्वेद का पाठ्यक्रम

प्राचीन काल मे आयुर्वेद के अध्ययन का कितना समय था, यह बात स्पष्ट नही। यह केवल आयुर्वेद के लिए ही नही, अपितु व्याकरण आदि दूसरे विषयो के सम्बन्ध में भी है। इसी से पचतंत्र मे कहा है कि व्याकरण पढने के लिए ही बारह वर्ष चाहिए। इसके पीछे मनु आदि के बनाये धर्मशास्त्र, चाणक्य आदि के अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र आदि पढ़ने होते है। इतना पढ़ने के पीछे धर्म, अर्थ, काम के शास्त्रो का ज्ञान होता है। इसके पीछे इनका मनन होता है। कहा भी है—

अनन्तपार किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

पंचतंत्र, कथामुख ९

शब्दशास्त्र अनन्त है, आयु सक्षिप्त है, बीच में बहुत से विघ्न हैं, इसलिए छूँछ को छोडकर सार भाग लेना चाहिए, जिस प्रकार कि हस पानी-मिले दूध में से दूध को ले लेते है, पानी को छोड देते है। इसी विचार से सम्भवत आयुर्वेद का पाठ्य-क्रम चार साल का था—

अन्तेवासी गुरोर्गृहं कृतकालं वर्षचतुष्टयमायुर्वेदशिल्पशिक्षार्थं त्वद्गृहे वसामीति।

याज्ञ०, मिताक्षरा टीका

अन्तेवासी बनकर गुरु के घर में चार साल पर्यन्त आयुर्वेद शिल्प की शिक्षा के लिए रहना होता था। नालन्दा और तक्षशिला विद्यापीठो के अध्ययनक्रम से स्पष्ट है कि वहाँ पर उच्च शिक्षा का ही प्रबन्ध था। प्रारम्भिक शिक्षा नही होती थी। इमी से नालन्दा मे जो विद्यार्थी प्रवेश की इच्छा से आता था, उससे वहाँ का द्वारपण्डित कुछ कठिन प्रश्न करता था। उन प्रश्नो का सतोषजनक उत्तर देने पर ही उसे नालन्दा मे प्रविष्ट किया जाता था। इस प्रकार से दस विद्यार्थियो मे से दो-तीन को ही प्रवेश मिलता था। यह द्वारपण्डित उस विद्या का विद्वान् होता था जिस विद्या को पढ़ने के लिए विद्यार्थी आता था (हर्ष, पान्थरी)।

इस प्रकार का अध्ययन जीवक ने तक्षशिला में कि [illegible] था, जहाँ पर उसने सात साल तक अध्ययन करने पर भी आयुर्वेद की समाप्ति नही पायी। आयुर्वेद को विद्या और कला दोनो मे स्थान मिला है। शुक्रनीति मे आयुर्वेद की दस कलाओ का उल्लेख है, यथा—१. मकरन्द, आसव बनाना, २ छिपे हुए शल्य को निकालना, ३. हीन और अधिक रस के सयोग से अन्न [illegible] ४. वृक्ष आदि की कलम लगाना, ५. पत्थर-धातु आदि का गलाना और भस्म करना, ६. ईख से गुड आदि बनाना, ७. धातु और औषधियो का सयोग करना, ८ मिली हुई धातुओ को अलग करना, ९ धातु आदि के अपूर्व सयोग का ज्ञान और १०. क्षार निकालना (शुक्रनीतिसार—२६४, अध्याय ४)। बाण ने हर्षचरित में धातुविद् विहगम का उल्लेख किया है। यह धातुज्ञान उपर्युक्त धातु सम्बन्धी ज्ञान ही है। [illegible] कला थी। कला मे हस्तनैपुण्य या इन्द्रिय-का प्रयोग (मुख्यत कर्मेन्द्रिय का) होता है, विद्या मे वाणी का प्रयोग होता है। गूँगा कलावन्त हो सकता है, परन्तु उसे विद्वान् नही सुना गया (हिन्दू राज्यशास्त्र—अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ २६)। पीछे से इस कला को विद्या नाम दिया गया। सामान्यतः आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद ये कला या शिल्प माने जाते थे। इनकी शिक्षा के लिए विद्यार्थी नालन्दा और तक्षशिला मे जाते थे। इन शिल्पो को सीखने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा इनकी पहले हो चुकी होती थी। इस दृष्टि से मिताक्षरा में आयुर्वेद शिल्प के अध्ययन का समय चार साल माना है। इसके पीछे इस शिल्प की जिस कला में विशेष नैपुण्य प्राप्त करना होता था—वह पृथक् था।[1] आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के लिए चार साल या पाँच साल पर्याप्त है, विशेषत जब विद्यार्थी की प्रारम्भिक शिक्षा हो चुकी हो।

आयुर्वेद का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी की योग्यता—इस सम्बन्ध मे गुरुकुल

---

१. जिस प्रकार से आज भी एम० बी० बी० एस० का सामान्य पाठ्यक्रम पाँच साल का है। इसको समाप्त करके विद्यार्थी किसी विशेष विषय में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए अपना समय देते हैं, उसी प्रकार से आयुर्वेद का सामान्य ज्ञानकाल चार वर्ष का था, उसे समाप्त कर छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए नालन्दा जाते थे। वहाँ पर द्वारपण्डित उनकी उस विषय के प्रारम्भिक ज्ञान की परीक्षा लेकर आगे पढ़ने की अनुमति देता था। यही प्रथा आज भी चिकित्सा के विशेष विषय के नैपुण्य के लिए है। उसमें प्रवेश पाने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा निश्चित वर्ष की समाप्त करनी आवश्यक है। यह समय प्राचीन काल में चार वर्ष का था।

काँगडी विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम मे जो योग्यता १९२० तथा १९२६ ईसवी में थी, वह सबसे अच्छी है। इस योग्यता मे विद्यार्थी को निम्न विषयो का ज्ञान करना आवश्यक था—

प्रारम्भिक योग्यता—१९२० ईसवी मे (गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी की, आयुर्वेद अध्ययन के लिए)—

व्याकरण मे—सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी, नवाह्निक महाभाष्य।

सस्कृत मे—शिवराजविजय सम्पूर्ण, माघ (शिशुपालवध) दो सर्ग, किराता-र्जुनीय तीन सर्ग।

अग्रेजी—इन्टर स्टैन्डर्ड—पजाब विश्वविद्यालय।

गणित—के पी बसु का बीजगणित सम्पूर्ण, यादवचन्द्र चक्रवर्त्ती का अक-गणित सम्पूर्ण, ज्यामिति—स्टीफन्स—पाँच भाग।

विज्ञान—भौतिकी, रसायन—पजाब विश्वविद्यालय के इन्टर तक।

दर्शन—न्यायमुक्तावली, अनुमान प्रकरण तक, वैशेषिक दर्शन।

धर्मशिक्षा—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तिरीयोपनिषद्।

इतिहास—वैदिक काल से लेकर १९२० ईसवी तक का।

सामान्यत ये विषय उस समय विद्यार्थी को पूरे करने होते थे। इसके पीछे उसे उच्च शिक्षा के समय वेद, शेष दर्शन (मीमासा छोडकर) प्राचीन और पाश्चात्य चिकित्सा पढनी होती थी। वेद मे प्रथम दो वर्ष निरुक्त, दो सौ मत्र ऋग्वेद के, तृतीय वर्ष मे यजुर्वेद के २५० मत्र और चतुर्थ वर्ष मे अथर्ववेद के २५० मत्र पढाये जाने थे। सामान्य रूप से यह अध्ययन-क्रम था। इसमे चार वर्ष लगते थे।

१९२६ ईसवी मे दर्शन हटाकर पाश्चात्य चिकित्सा विषय को बढा दिया, जिसमें प्रथम वर्ष मे वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र भी सम्मिलित कर दिया गया और अध्ययन का समय चार वर्ष से पाँच वर्ष कर दिया। परन्तु प्रवेशयोग्यता में अन्तर नही किया गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के अध्ययनक्रम को उस समय सबसे उत्तम माना जाता था, क्योंकि इस योग्यता के छात्र किसी भी आयुर्वेदविद्यालय मे प्रविष्ट नही होते थे। यही योग्यता या इसी के पास की योग्यता इस समय उचित है।

इसके लिए सामान्यत· इन्टर साइन्स की योग्यता वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र (मेडिकल ग्रूप) की तब तक ठीक है, जब तक कि आयुर्वेदिक ग्रूप का पृथक् प्रबन्ध नही होता। इस योग्यता के विद्यार्थी को प्रथम वर्ष में सस्कृत और दर्शन की योग्यता करा देनी चाहिए। इस प्रकार से इस पाठ्यक्रम को ऐसा बनाना चाहिए कि विद्यार्थी

की प्रारम्भिक नीव पक्की हो जाय; आगे उसके ऊपर व्यर्थ का बोझ न डालें, अपितु उसकी बुद्धि ही विकसित करें, जिससे वह स्वत उसमें रास्ता बनाये। शिक्षक विद्यार्थी की बुद्धि को विकसित कर दें और उसे कर्म मार्ग का रास्ता दिखा दें। इतना ही इस शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

यद्यपि प्राचीन काल मे आयुर्वेद का अध्ययनकाल चार वर्ष का था, तथापि परिस्थिति के कारण इस समय इसे पाँच वर्ष का करना होगा। यदि पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान नहीं कराना हो, तो चार वर्ष का काल पर्याप्त है। परन्तु इस समय पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान आवश्यक है। निम्न पाठ्यक्रम मे आयुर्वेद के अष्टांगो का पाठ्यक्रम पूर्णत आ जाता है।

पाठ्यक्रम की रूप-रेखा—पढाने का माध्यम हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा हो।

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तकें (इनमे परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
प्रथम वर्ष	१. संस्कृत	१. जीवानन्दनम्—आनन्दराय मखी कृत
	२. दर्शन	२. न्यायमुक्तावली, आप्त प्रमाण तक साख्यतत्त्वकौमुदी की कारिकाएँ
	३ शरीर रचना	३. प्रत्यक्षशारीरम्, हमारे शरीर की रचना
	४. शरीर क्रिया	४. शरीर क्रियाविज्ञान—रणजीतराय देसाई
	५. निघण्टु	५. द्रव्यगणसग्रह—चक्रपाणि, शिवदास सेन टीका के साथ ४२ पृष्ठ तक
द्वितीय वर्ष	द्रव्य गुण—	मैटेरिया मेडिका—घोस की द्रव्यगुणविज्ञान—श्री यादवजी त्रिकमजी उत्तरार्ध
	भैषज्य कल्पना—परिभाषा	द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषा खण्ड—श्री यादवजी त्रिकमजी, भैषज्य कल्पना—अत्रिदेव विद्यालकार

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तकें (इनमें परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
	रसशास्त्र—	रसेन्द्रसारसग्रह् का जारण मारण प्रकरण तक या रसामृत—श्री यादवजी त्रिकमजी
	शरीररचना—	प्रथम वर्ष की भाँति
	शरीरक्रिया—	,, ,,
	स्वस्थवृत्त—	स्वास्थ्यविज्ञान—श्री घाणेकरजी का या डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा का, अष्टाग-सग्रह् का सूत्रस्थान—१–८ अध्याय
तृतीय वर्ष	प्रसूतितन्त्र—— स्त्री रोगविज्ञान बाल रोग और विकृति विज्ञान——	प्रसूतिविज्ञान—श्री रमानाथ द्विवेदी का या अन्य कोई, स्त्रीरोगविज्ञान, बाल-चिकित्सा—श्री रमानाथ द्विवेदी कृत कोई उपयोगी ग्रन्थ
	विधिशास्त्र—	न्यायवैद्यक और विषतत्र—श्री अत्रिदेव विद्यालकार का, हितोपदेश——रणजीत-राय देसाई का
	निदान—	माधवनिदान
	आयुर्वेद का इतिहास—	श्री अत्रिदेव विद्यालंकार का
चतुर्थ वर्ष	आयुर्वेद	अष्टागसग्रह—सूत्र, निदान, शारीर, कल्प
	रसेन्द्रसार सग्रह्——	शेष बचा भाग, चिकित्सा प्रकरण
	पाश्चात्य चिकित्सा— काय चिकित्सा	क्लिनिकल मेडिसिन—श्री अत्रिदेव विद्या-लकार या अन्य, रोगनिवारण—— श्री शिवनाथ खन्ना
	शल्यतत्र——	श्री जे. पी. देशपाण्डे की शल्यतंत्र में रोगीपरीक्षा, शल्यप्रदीपिका डा० मुकन्दस्वरूप वर्मा की
पंचम वर्ष	आयुर्वेद——	अष्टागसग्रह का अवशिष्ट भाग—— चिकित्सा, उत्तर तंत्र

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तके (इनमे परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
	चक्रदत्त—	सम्पूर्ण
	पाश्चात्य चिकित्सा	
	मेडिसिन	रोगीपरीक्षा—श्री प्रियव्रत शर्मा, क्लिनिकल मेडिसिन—श्री अत्रिदेव विद्यालकार
	शल्यतत्र—	चतुर्थ वर्ष की भाँति
	शालाक्य—	शालाक्य तत्र—श्री रमानाथ द्विवेदीकृत

मेरी दृष्टि में यह पाठ्यक्रम सामान्य डिग्री कोर्स के लिए आयुर्वेद की दृष्टि से पर्याप्त है। इसमे थोडा बहुत परिवर्त्तन सम्भव है। परन्तु व्यर्थ का बोझ विद्यार्थी के माथे पर लादना मै पसन्द नही करता। चरक, सुश्रुत ऋषिप्रणीत है, उनके पढे विना वैद्य नही बन सकते, यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। वाग्भट ने कहा है—

अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः।

पठतु यत्नपरः पुरुषायुष स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥ हृदय, उत्तर, ४०।८५

वस्तु के पक्षपात के वश हुआ जो पक्का मूर्ख अच्छे कहे हुए वाक्य मे आदर नही करता, वह आदिकाल मे ब्रह्मा से कहे प्रथम आयुर्वेद शास्त्र को बिना चिन्ता के सारी आयु खुशी से पढे। इसलिए समय के अनुसार पाठ्यक्रम रखना उचित है। अष्टागसग्रह के स्थान पर अष्टागहृदय भी रखा जा सकता है। परन्तु इसे उपवैद्य के लिए रखना ही उचित है। अष्टागसग्रह मे चरक-सुश्रुत का सम्पूर्ण निचोड आ जाता है। इसलिए चरकसहिता को स्नातकोत्तर परीक्षा मे रखना उचित है। अष्टागसग्रह के सम्बन्ध मे कहा है—

आयुर्वेदोदधेः पारमपारस्य प्रयाति कः।

विश्वव्याध्योषधिज्ञानसारस्त्वेष समुच्चितः॥ संग्रह, उत्तर, ५।५०

आयुर्वेद-समुद्र के पार कौन जा सकता है? (कोई नही,) जगत् के रोग और औषधि के ज्ञान का साररूप यह अष्टागसग्रह है, इसे पढना पर्याप्त है। इसलिए इसे मैने चुना।

पाठ्यक्रम मे यदि प्रारम्भिक नीव पडी रहे तब कोई कारण नही कि वैद्यक के प्रति विद्यार्थी का झुकाव न हो। विद्यार्थी की बुद्धि पर अकुश या उसके लिए चारो

और जगला खीचना कि वह दूसरे ज्ञान को न सीखे या उसका उपयोग न करे, यह अत्रिपुत्र के प्रति अन्याय है। उनका तो स्पष्ट कहना है—

"कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।"

बुद्धिमान् का आचार्य—शिक्षा देनेवाला—सारा ससार है, मूर्ख का वह शत्रु है। इसलिए ज्ञान या बुद्धि को किसी देश, जाति, वर्ग तक सीमित नही रखना चाहिए।[1]

इस पाठ्यक्रम मे शिक्षा का माध्यम हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा रखना चाहिए। पारिभाषिक शब्द अग्रेजी के तथा हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा के दोनो सिखाने चाहिए। पाश्चात्य चिकित्सा की स्टैण्डर्ड पुस्तके भी—जिनका उपयोग आज मेडिकल कालेज में होता है, रखी जा सकती है। ऐसी अवस्था मे अध्यापक एम बी. बी. एस न रखकर उच्च शिक्षा के रखने अच्छे है। यदि एम. बी बी. एस से पढना है तो यही पुस्तके ठीक है, जो पाठ्यक्रम में लिखी है। इन पुस्तको के रखने से पृथक् दो अध्यापको की समस्या समाप्त हो जाती है।

आयुर्वेद का प्रसूतितत्र, शारीर पढाने से कोई विशेष लाभ नही है। यह सत्य है कि वर्त्तमान चिकित्साप्रबन्ध मे कुछ निश्चित क्षेत्र इस प्रकार के वैद्यो के लिए निषिद्ध है, यथा—स्वास्थ्य सम्बन्धी (पब्लिक हेल्थ डिपार्टमेन्ट); प्रसूति और स्त्रीरोग (मिड्वाइफ्री एण्ड गायनोकोलाजी); विकृतिविज्ञान (पैथोलाजी); आँख, नाक, कान (आई, नोज, इयर), विधिशास्त्र (ज्यूरीस प्रूडेन्स टौसीकोलाजी), शल्यतत्र (सर्जरी)।

---

१. आयुर्वेद के पक्ष में जो लोग यह वचन देते है कि जिस देश में जो व्यक्ति उत्पन्न हुआ, उसके लिए उसी देश की औषध उत्तम है; तो पूर्व में उत्पन्न मनुष्यों को काबुल की मेवा, पिश्ता, अखरोट, सेब अनुकूल नहीं होने चाहिए। यदि ये अनुकूल है, तो यूरोप की बनी औषधियों में क्या दोष है। भारत में बनी वे ही औषधियां निर्दोष क्यो होगी। अष्टांगसंग्रह का पाठ इस प्रकार है—

उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।
देशेऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्यगुणजन्म च ॥ सग्रह, सूत्र, २३।३५

जिस रोगी को जो देश अभ्यस्त हो, उस रोगी को अन्य स्थान में रहने पर भी उसी अभ्यस्त देश में उत्पन्न औषध हितकारी है। यदि वह औषध न मिले तो उस देश के समानतावाले देश में उत्पन्न औषध बरतनी चाहिए। यहाँ पर औषध शब्द वनस्पति के लिए है, न कि रसायन की विकृति समवेत औषधियों के सम्बन्ध में—इसे नहीं भूलना चाहिए।

इसलिए इन विषयों का गम्भीर ज्ञान अभी देना विशेष उपयोगी नही, एक प्रकार से समय का अपव्यय है। इस समय को आयुर्वेद की शिक्षा मे बरतना उत्तम है। पीछे जब स्थिति बदले, पाठ्यक्रम भी बदला जा सकता है। इसलिए शरीररचना, विकृति-विज्ञान आदि का इतना ज्ञान देना आवश्यक है कि यदि विद्यार्थी आगे इन विषयों मे ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो सुगमता से कर सके।

इसी प्रकार शास्त्र के नाम पर सुश्रुत का शारीर पढ़ाने से कोई लाभ नही। सुश्रुत की विधि से शवच्छेदन करने पर वस्तुस्थिति का ज्ञान होना असम्भव है, इस-लिए उसके इस भाग को छोडने मे बहुत बडी हानि आयुर्वेद की नही होगी। इसलिए समय, बुद्धि, शक्ति से इनका विचार करके पाठ्यक्रम बनाना होगा।

इस पाठ्यक्रम की सफलता शिक्षकवर्ग पर है, उत्तम एव योग्य अध्यापक मिलने पर ही आयुर्वेद का कल्याण है। अत्रिपुत्र ने ठीक कहा है--

"जिस प्रकार से ऋतु मे बरसा मेघ अच्छे क्षेत्र को धान्य से भर देता है, उसी प्रकार योग्य आचार्य अच्छे शिष्य को वैद्य-गुणो से भर देता है" (चरक. वि. अ ८।४)। केवल संस्कृत या व्याकरण पढे शास्त्राचार्य योग्य छात्र उत्पन्न करेंगे--यह समझना मूर्खता है। बिना आधुनिक विज्ञान तथा अन्य सम्बद्ध विषयों को पढे आज आयुर्वेद पढ़ाना आयुर्वेद का अपमान और ऋषियों के प्रति कृतघ्नता मैं मानता हूँ। आयुर्वेद को चरक, सुश्रुत तक ही अब सीमित नही रखा जा सकता, उसे सस्कृत भाषा से घेरा नही जा सकता। ज्ञान के लिए जन-साधारण की भाषा का व्यवहार करना होगा--उसमे उसे उभारना होगा। नयी खोज या नयी गवेषणा को इसमे स्थान देना ही होगा, नही तो ११वी शताब्दी के बाद जो स्थिति इसमे आयी और जिसके कारण इसमे उन्नति न होकर अवनति हुई और आज ये दिन आये, आगे इससे भी बुरे दिन आयेंगे। इसलिए समयानुकूल पाठ्यक्रम को अपनाकर आयुर्वेद का क्षेत्र विस्तृत बनाना चाहिए। उसी दृष्टि से पाठ्यक्रम की रूपरेखा दी गयी है, जो स्थिति के अनुसार परिवर्त्तनीय है, अन्तिम नही।

पचीसवाँ अध्याय

आयुर्वेद महाविद्यालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल काँगडी की स्थापना पुण्या भागीरथी के तट पर १९०२ मे हरिद्वार से परे बिजनौर जिले में हुई थी। गुरुकुल की स्थापना का उद्देश्य प्राचीन आश्रमप्रणाली की फिर से थापना करना था। यहाँ पर प्राचीन विषयो के साथ-साथ अर्वाचीन विषय भी पढ़ाये जाते थे। विज्ञान (साइन्स) का शिक्षण उस समय में बहुत ऊँची श्रेणी का यहाँ पर दिया जाता था। यही पर महाविद्यालय में नियत विषयो के अतिरिक्त आयुर्वेद का पाठ्यक्रम १९१४ के लगभग चला। यह शिक्षा उस समय **श्री कविराज निवारणचन्द्र भट्टाचार्य** देते थे। ये अपने विषय के योग्य विद्वान् थे। उस समय आयुर्वेद का अध्यापन तो विशेष ये नही करते थे, परन्तु चिकित्सा-कार्य सामान्य रूप में करते थे और औषध बनाते थे। परन्तु थोड़े समय पीछे ही ये दिल्ली में आयुर्वेदिक और तिब्बी कालेज खुलने पर वहाँ चले गये। दिल्ली मे इन्होंने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की।

इनके जाने से आयुर्वेद की पढ़ाई भी समाप्त हो गयी। इसके पीछे १९१८ के आसपास आयुर्वेद का अध्ययन महाविद्यालय में नियमित करवाने का विचार हुआ। यह पाठ्यक्रम ऐच्छिक विषय के रूप मे उस समय रखा गया। फिर कलकत्ते से **श्री धरणीधरजी** के आने से आयुर्वेद की नियमित शिक्षा प्रारम्भ हुई। प्रथम दो वर्ष तक शुद्ध आयुर्वेद ही रहा। परन्तु १९२१ में आयुर्वेद के साथ-साथ पाश्चात्य विषय भी मिलाये गये। इसलिए अंग्रेजी और साहित्य ये विषय छोड़ दिये गये।

विद्यार्थियो की आयुर्वेद में बढ़ती हुई रुचि को देखकर १९२४ में इसको पृथक् कालेज का रूप दिया गया। पाठ्यक्रम चार साल के स्थान पर पाँच वर्ष का कर दिया गया और इसकी उपाधि भी पृथक् कर दी गयी। अब एक वैद्य को पर्याप्त न समझकर कलकत्ते से योग्य **कविराज श्री विनेशानन्दजी** को बुलाया गया। पाश्चात्य चिकित्सा के लिए दूसरे नये डाक्टर रखे गये। इस समय आयुर्वेद कालेज उन्नत रूप मे आया। यह वह समय था जब कि अत्रिपुत्र के अनुसार योग्य आचार्य और योग्य शिष्यों

का सहयोग हो रहा था। इस समय पाश्चात्य विषयो का अध्ययन एम बी बी एस के पाठ्यक्रम के अनुसार हो रहा था और आयुर्वेद के प्रसिद्ध सहिता ग्रन्थो का अध्ययन चल रहा था। इसी से इस समय उत्तर प्रदेश सरकार के नियुक्त कमीशन ने, जिनमे जस्टिस गोकर्णनाथ मिश्र थे, इस समय की सब आयुर्वेद शिक्षा सस्थाओ मे इसे श्रेष्ठ बताया था—

"The Ayurvedic College of Gurukul enjoys a good reputation of being a first rate college Its well qualified staff, its reformed methods of teaching, its equipment, its collection of good books and its dynamic outlook are inestimable"

अन्य किसी भी स्थान में इस समय इस योग्यता के विद्यार्थी तथा पढाने की इतनी सामग्री एव साधन नही थे। परिणाम यह हुआ कि इस समय के स्नातकों को जर्मनी में म्यूनिच, ईटली में रोम के विश्वविद्यालयों ने उच्च शिक्षा एम डी के लिए सीधा प्रविष्ट किया। बहुत से स्नातक वहाँ पर तीन साल का अध्ययन करके एम डी लेकर आये। इस समय के योग्य स्नातकों मे रणजीत राय देसाई, धर्मानन्द केसरवानी, बलराम आयुर्वेदालकार, रमेश वेदी विद्यालकार, नारायण दत्त आयुर्वेदालकार, सत्यपाल आयुर्वेदालकार आदि है। श्री धर्मानन्द केसरवानी, बलराम, नारायण दत्त ने जर्मनी जाकर एम डी की उपाधि प्राप्त की है। इनकी योग्यता की छाप वहाँ ऐसी बैठी कि पिछले स्नातकों ने केवल दो वर्ष मे एम डी उपाधि प्राप्त की। इस तरह आयुर्वेद की सच्ची प्रगति गुरुकुल के स्नातकों द्वारा हुई। प्राचीन सहिताओं का हिन्दी अनुवाद, नयी रचनाएँ, आयुर्वेद के साथ पाश्चात्य चिकित्सा का सामजस्य स्थापित करना, पाश्चात्य पुस्तकों का हिन्दी मे अनुवाद, नये पारिभाषिक शब्द बनाना यहीं से प्रारम्भ हुआ। आयुर्वेद मे समयानुसार परिवर्त्तन का भी श्रीगणेश इसी सस्था से हुआ। विज्ञान के लिए उदार-विशाल दृष्टि यही से प्रारम्भ हुई। यहाँ पर शिक्षा का माध्यम हिन्दी था। इसलिए पारिभाषिक शब्दो मे जिनका योग्य हिन्दी शब्द नहीं मिला, उसके लिए उन्ही को देवनागरी लिपि मे लिखकर काम लेना प्रारम्भ किया। इससे इतना लाभ हुआ कि अग्रेजी पुस्तके पढने मे कठिनाई नही हुई।[1]

१. यद्यपि इससे पूर्व डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा ने हमारे शरीर की रचना पुस्तक लिखी थी, जिसमें कुछ नये शब्द दिये हैं; तथापि अध्ययन के समय प्रसूति-चिकित्सा आदि के नये शब्द यही बने।

गुरुकुल के प्रसिद्ध स्नातक

धर्मदत्त सिद्धान्तालंकार—आप रहनेवाले पजाब के है। आपने गुरुकुल से परीक्षा उत्तीर्ण करके आयुर्वेद का अध्ययन मद्रास मे डी० गोपालाचार्लु के पास किया था, फिर गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्रथम आयुर्वेद के अध्यापक के रूप मे काम किया, पीछे से वही पर प्रिन्सिपल बने। वहाँ से निवृत्त होकर कनखल मे स्वतन्त्र चिकित्सा व्यवसाय एव फार्मेसी चलाते हैं। साथ ही गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय मे अध्यापन भी करते है।

आपने द्रव्यगुण पर एक पुस्तक लिखी है, जो पाश्चात्य विज्ञान के साथ आयुर्वेद का उत्तम समन्वय है। यह पुस्तक अपने विषय की प्रथम पुस्तक थी। इसमें आयुर्वेदिक वनस्पतियो का परिचय, उनकी जानकारी बहुत सरलता से दी है। यह पुस्तक अनुभूत-योगमाला, बरालोकपुर—इटावा से प्रकाशित हुई थी।

इसके अतिरिक्त आपने अग्रेजी में त्रिदोषसिद्धान्त नाम की पुस्तक लिखी है, जो बहुत गवेषणात्मक और महत्त्वपूर्ण है। इससे पूर्व आपने त्रिदोष पर 'त्रिदोष-विमर्श' पुस्तक सस्कृत मे भी लिखी थी, इसे लाहौर से मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया था। इसमे त्रिदोष सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करके सहिताओ में से त्रिदोष सम्बन्धी वचन एक स्थान पर सग्रह किये थे। यह पुस्तक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है, दु ख है कि इस समय यह उपलब्ध नही।

विद्यानन्द विद्यालंकार—महाविद्यालय में आपने प्रथम रसायन (कैमिस्ट्री) का दो साल अभ्यास करके फिर दो साल आयुर्वेद का अध्ययन किया, कलकत्ते में जाकर आयुर्वेद सीखा। फिर पानीपत में और पीछे करनाल में चिकित्सा प्रारम्भ की। पानीपत मे प्लेग फैलने पर १९२३ मे आपने आयुर्वेद चिकित्सा करके नाम कमाया था। उसके पीछे करनाल में आकर स्थिर हुए।

जयदेव विद्यालंकार—आप गुरुकुल के सुयोग्य अनुवादक स्नातक हैं। आपने गुरुकुल में आयुर्वेद का पाश्चात्य चिकित्सा के साथ चार साल अध्ययन किया। आप बहुत कुशाग्रबुद्धि थे। स्नातक होने के पीछे लाहौर में कुछ वर्ष कविराज नरेन्द्रनाथ-जी मित्र के यहाँ कर्माभ्यास किया। इसी समय भैषज्यरत्नावली का हिन्दी अनुवाद किया। इस अनुवाद मे औषधि मात्रा, उसके विषय मे क्रियात्मक सूचनाएँ तथा विशेष निर्देश, पाठभेद आदि बातें दी है। यह अनुवाद अपने ढग का प्रथम था, इसी से इनका नाम हुआ। विद्यापीठ से आपने आयुर्वेदाचार्य किया, आप प्रथम श्रेणी मे प्रथम आये थे। भैषज्यरत्नावली के अनुभव से चरकसहिता का अनुवाद किया। इस अनुवाद में

अष्टागसग्रह का पूरा उपयोग किया, जिसमे इसके पाठ मे तथा योगों के स्पष्टीकरण में बहुत सरलता हुई। इन दोनो अनुवादो को मोतीलाल बनारसीदास फर्म ने लाहौर से ... । इसके सिवाय 'चिकित्साकलिका' का भी अनुवाद किया है।

सशोधन कार्य—रसहृदयतत्र, रसेन्द्रचूडामणि इन दो प्राचीन ग्रन्थो का सशोधन एव टिप्पणी लेखन किया। चक्रदत्त की शिवदाससेन टीका का सम्पादन किया। सदानन्द शर्मा द्वारा अनूदित चक्रदत्त, रसतरगिणी, अत्रिदेव विद्यालकार द्वारा लिखे शल्यतत्र के प्रकाशन मे सहयोग दिया।

विद्याधर विद्यालकार—आपने गुरकुल से स्नातक बनने के बाद आयुर्वेद का अध्ययन लाहौर मे कविराज नरेन्द्रनाथ मित्र के पास किया। वहाँ रहते हुए आपने योगरत्नाकर का हिन्दी अनुवाद किया, यह अनुवाद पहला था। इसके पीछे रसेन्द्रसारसग्रह का अनुवाद किया। आपने सोलन मे स्वतत्र चिकित्सा व्यवसाय द्वारा यश उपार्जित किया। पीछे नौकरी के लिए हैदराबाद चले गये और अब वही काम कर रहे है।

अत्रिदेव विद्यालंकार—आप रहनेवाले सहारनपुर जिले के है। गुरुकुल में चार साल आयुर्वेद का पाश्चात्य चिकित्सा के साथ अध्ययन किया। स्नातक बनने के कुछ समय बाद 'जीवन विज्ञान' एक पुस्तक लिखी जिसे धन्वन्तरि-कार्यालय ने प्रकाशित किया था। इसके पीछे आत्रेय वचनामृत (चरक सहिता में वैदिक विषय) और उपचारपद्धति दो पुस्तकें लिखी। इसी समय कराची जाना हुआ, वहाँ गोपालजी कुवरजी ठक्कर—मालिक सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी के सम्पर्क में आये और विधिशास्त्र पर न्यायवैद्यक और विषतत्र नाम से स्वतन्त्र पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अपने विषय की प्रथम थी। इसके पीछे चक्रदत्त का हिन्दी अनुवाद किया। पीछे से प्रत्यक्षशारीरम् के दो भागो का अनुवाद कविराज गणनाथ सेनजी की देखरेख में किया। आपको श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का स्नेह सदा मिला।

आपके लिखे ग्रन्थों की सख्या लगभग तीस है। इनमे सामान्यत: १५० पृष्ठो से लेकर १८०० पृष्ठो तक के ग्रन्थ है। इनके नाम ये है—जीवन विज्ञान, आत्रेय वचनामृत, उपचारपद्धति, न्यायवैद्यक और विषतन्त्र, शल्यतन्त्र, चरक सहिता का हिन्दी अनुवाद, प्रत्यक्षशारीरम् का हिन्दी अनुवाद, सुश्रुत सहिता का अनुवाद, अष्टागसग्रह और अष्टांगहृदय का अनुवाद, जीवानन्दनम् का हिन्दी अनुवाद।

चरक सहिता का अनुशीलन, सस्कृत साहित्य मे आयुर्वेद, क्लिनिकल मेडिसिन, धात्रीशिक्षा, शिशुपालन, स्वास्थ्यविज्ञान, भैषज्यकल्पना, आयुर्वेद का इतिहास, शल्यतंत्र, योगचिकित्सा, भारतीय रसपद्धति, घर का वैद्य, स्वास्थ्य और सद्वृत्त,

हमारे भोजन की समस्या, स्त्रियो का स्वास्थ्य और रोग, सस्कारविधि विमर्श, परिवार नियोजन, प्राचीन भारत में प्रसाधन और आयुर्वेद का बृहत् इतिहास। सम्पादित पुस्तके रसेन्द्रसार-सग्रह और रसरत्नसमुच्चय है।

रणजीतराय आयुर्वेदालंकार—आप गुजरात के रहनेवाले है, आप गुरुकुल के योग्य स्नातको मे से है। आपने शरीरक्रियाविज्ञान पुस्तक बहुत ही गम्भीर अध्ययन-पूर्ण लिखी है। इसमे पारिभाषिक शब्द बहुत ही नये और उचित अर्थवाले है। यह सम्भवत' प्रथम श्रम था। इसके पीछे आपने आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान, हितोपदेश, हस्तामलक निदान चिकित्सा आदि पुस्तके लिखी है, जो बहुत उपयोगी है।

धर्मानन्द आयुर्वेदालंकार—आप रहनेवाले चुनार, जिला मिर्जापुर उत्तर प्रदेश के है। आपके पिता कराची मे कार्य करते थे। आपने गुरुकुल से स्नातक होने पर कुछ दिन कराची मे चिकित्सा कार्य किया। फिर आप देहरादून आ गये और वही चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ किया। बाद में डालमिया छात्रवृत्ति से आप इटली (रोम) गये। वहाँ पर आपने एम० डी० पदवी बहुत सम्मान के साथ प्राप्त की।

रोम से एम० डी० लेकर आप म्यूनिच (जर्मनी) मे आये, वहाँ से आपने पी-एच० डी० प्राप्त किया और वही पर अध्यापन करते रहे। द्वितीय महायुद्ध के दिनो में आप जर्मनी मे ही रहे। वहाँ के एक नगर में आप सरकारी चिकित्सक के रूप में भी काम करते रहे। युद्ध समाप्त होने पर आप भारत वापस आये। इस समय जामनगर के आयुर्वेद विद्यालय में प्रिसिपल है। आपने क्षयरोग की चिकित्सा के शल्यकर्म मे विशेष निपुणता प्राप्त की थी। उत्तर प्रदेश मे तो सम्भवत आपने ही सबसे प्रथम भवाली सैनेटेरियम मे वक्ष का शल्यकर्म सफलता से किया था। इस समय आप स्वतत्र चिकित्साव्यवसाय इलाहाबाद में करते है।

गुरुकुल काँगडी के जो अन्य स्नातक बर्लिन, म्यूनिच गये और वहाँ से एम० डी० उपाधि प्राप्त की, उनमें श्री बलराम, श्री नारायणदत्त (स्वर्गीय) तथा श्री राजेश्वर त्यागी मुख्य है। भारतवर्ष में आयुर्वेदालकार की उपाधि प्राप्त करके मेडिकल कालेज मे एम० बी० वी० एस० की उपाधि प्राप्त करनेवाले स्नातक **इन्दुसेन आयुर्वेदालंकार** है। आपने कुछ पुस्तकें भी लिखी है।

रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार—आपका जन्म कालाबाग (पास्कितान, उत्तर सीमा-प्रान्त) में हुआ था। आपकी शिक्षा गुरुकुल काँगडी में हुई थी। आपकी रुचि वन-स्पतियो में थी, इसी से वहाँ की वनस्पतियो की देखरेख का प्रबन्ध आपके पास रहा। आपने दस साल तक लाहौर मे स्वतत्र चिकित्साव्यवसाय किया। और इसी समय **भारतीय**

द्रव्य-गुण ग्रन्थमाला का प्रणयन आरम्भ किया। इसमें अब तक १५ प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। आपने १९५५ से वनस्पतियों के प्रामाणिक फोटो लेने प्रारम्भ किये, अभी तक लगभग १,००० (एक हजार) फोटो तैयार किये हैं। वनस्पति सम्बन्धी बहुत से लेख भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकले हैं। आपने उत्तराखण्ड और हिमालय के सैकडों हर्बिरियम स्पैसिमैन अन्तर्राष्ट्रीय मान्य विधि द्वारा बनाये हैं, जो गुरुकुल संग्रहालय तथा ग्रामोत्थान विद्यापीठ सगरिया के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

आपने साँपों की आदत, उनके जीवन-क्रम, विष आदि का विशेष अध्ययन किया है। आपकी पुस्तकें—त्रिफला, शहद, लहसुन-प्याज, तुलसी, नीम, सोंठ, मरिच, पेठा, शहतूत, सर्पगन्धा, बरगद, देहाती इलाज, देहात की दवाइयाँ, तुवरक आदि हैं। आपकी कुछ पुस्तकों पर पुरस्कार मिला है। इस समय आप गुरुकुल काँगड़ी की आयुर्वेद-वाटिका के अध्यक्ष तथा आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण के अध्यापक हैं।

सत्यपाल आयुर्वेदालंकार—आप अमृतसर के रहनेवाले हैं। आपने गुरुकुल की आयुर्वेद शिक्षा समाप्त करके कलकत्ते में आयुर्वेद का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया। आप गुरुकुल के अस्पताल में चिकित्सक रूप में कार्य करते हुए आयुर्वेदिक कालेज की जीवाणु-प्रयोगशाला के अध्यक्ष एवं इस विषय के अध्यापक भी हैं।

सत्यदेव विद्यालंकार—आप रहनेवाले पटियाले के हैं। गुरकुल से निकलकर आप कलकत्ते में आयुर्वेद का अभ्यास करने गये। फिर आपने गुरुकुल फार्मेसी को कार्यक्षेत्र बनाया।

आपको औषध-निर्माण का अच्छा अभ्यास है, आपने आसव-अरिष्ट सम्बन्धी अपने अनुभव को लिपिबद्ध किया है। यह पुस्तक इस दृष्टि से प्रथम है। इससे पूर्व भी श्री हरिशरणानन्दजी ने आसव-अरिष्ट निर्माण सम्बन्धी पुस्तक लिखी थी। परन्तु इस पुस्तक में आसव में मद्य की राशि जानने तथा उसके निर्माण सम्बन्धी बहुत-सी आवश्यक सूचनाएँ दी हुई हैं।

इनके अतिरिक्त धर्मचन्द्र विद्यालकार, आत्मानन्द विद्यालकार आदि कई स्नातक हैं, जिनमें से कुछ ने गुरुकुल में आयुर्वेद पढ़ा और कुछ ने बाहर जाकर उसे विकसित किया।

डी० ए० वी० कालेज का आयुर्वेदिक कालेज (लाहौर)

आर्यसमाज ने शिक्षाप्रचार में विशेष क्रान्ति की थी। इसी क्रान्ति का परिणाम लाहौर का डी० ए० वी० कालेज था। इसी कालेज में पीछे जाकर आयुर्वेद की पढ़ाई शुरू की गयी। इसका श्रेय श्री सुरेन्द्रमोहनजी को है। आपने आयुर्वेद का अध्ययन

कलकत्ते के प्रसिद्ध कविराज गणनाथ सेनजी एम० ए० सरस्वती के पास रहकर किया। आपने इस कालेज को ऊँचे स्तर पर उन्नत किया, कालेज की अपनी आयुर्वेदिक फार्मेसी बनायी, जहाँ पर उच्च श्रेणी की औषधियाँ तैयार होती थी।

पजाब में आयुर्वेद का प्रचार इस सस्था के द्वारा बहुत अधिक हुआ। इस संस्था में दूर-दूर से विद्यार्थी पढने आते थे, क्योंकि इसमें प्रवेश का आधार सस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यहाँ पर सम्पूर्ण आयुर्वेद शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जाती थी। पाश्चात्य विषय भी हिन्दी माध्यम से ही सिखाये जाते थे। इस कारण ही डाक्टर आशानन्द पंजरत्न आदि ने अपनी पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकें सरल हिन्दी भाषा में लिखी। इससे जहाँ विद्यार्थियों का उपकार हुआ, वहाँ पर हिन्दी की भी समृद्धि हुई। इस कालेज के कारण पजाब में हिन्दी और आयुर्वेद दोनो का प्रचार हुआ।

देश-विभाजन के पीछे इसकी स्थिति बिगडी। इस समय यह कालेज जालन्धर में चल रहा है।

इस सस्था से बहुत से योग्य स्नातक निकले, जिन्होने आयुर्वेद के क्षेत्र मे अच्छी प्रगति की। इसके आचार्य श्री सुरेन्द्रमोहनजी ने कैयदेवनिघण्टु का सम्पादन किया है, जो बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। भावप्रकाश, धन्वन्तरिनिघण्टु की टक्कर का यह निघण्टु गिना जाता है। इसी के एक स्नातक ने बाबर पाण्डुलिपि में मिले 'नावनीतकम्' का सम्पादन बहुत योग्यता से किया, इसकी भूमिका बहुत विवेचनापूर्ण है।

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री बी० ए० आयुर्वेदाचार्य इसी सस्था के स्नातक हैं, जिन्होने पहले ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज में कार्य किया था और अब बम्बई के पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज में कार्य करते हैं। आपने द्रव्य-गुण पर विद्यार्थियो की दृष्टि से बहुत उपयोगी पुस्तक लिखी है। यह लघु द्रव्यगुणादर्श पुस्तक द्रव्यगुण का निचोड है। आपकी दूसरी पुस्तक 'आयुर्वेद का इतिहास' है। यह इतिहास श्री दुर्गाशंकर केवलरामजी शास्त्री के 'आयुर्वेद नु इतिहास' (गुजराती) की छाया है। इनके अतिरिक्त आपने कुछ अन्य भी पुस्तकें लिखी हैं।

बोर्ड आफ इंडियन मेडिसिन (भारतीय चिकित्सा परिषद्)

उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद विद्यालय

आयुर्वेद-शिक्षा में एक समान पाठ्यक्रम रखने तथा वैद्यो का एक सगठन बनाने के लिए उत्तर प्रदेश मे एक बोर्ड (परिषद्) का निर्माण किया गया। इस बोर्ड का काम प्रदेश में चिकित्सा करनेवाले वैद्यो का नाम पञ्जिकाबद्ध करना एव आयुर्वेदिक कालेजो

की परीक्षा तथा पाठ्यक्रम को नियमित करना था। इस बोर्ड मे सबसे प्रथम ऋषि-कुल आयुर्वेदिक कालेज जुडा। उस समय तीन आयुर्वेद सस्थाएँ मुख्य थी, एक गुरुकुल विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज, दूसरा ऋपिकुल सस्था का और तीसरा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का। सरकार से नियुक्त कमीशन ने, जिसके प्रधान न्यायाधीश गोकर्णनाथ मिश्र थे, गुरुकुल को आर्थिक सरकारी सहायता देने का प्रस्ताव रखा। उस समय गुरुकुल का आयुर्वेदिक कालेज सबसे उन्नत था, वहाँ पर शवच्छेद का काम १९२३ से प्रारम्भ था। अन्य सस्थाओं में इसका प्रारम्भ पीछे हुआ।

गुरुकुल ने अपने सिद्धान्तो के कारण सरकारी सहायता नही स्वीकार की। इसमे यह सहायता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और ऋपिकुल आयुर्वेदिक कालेज को मिली। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज स्वतत्र होने से, बोर्ड के पास केवल ऋपिकुल का आयुर्वेदिक कालेज रहा। पीछे से इसमे पीलीभीत का ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज भी मिल गया। इसके पीछे धीरे-धीरे दूसरी सस्थाएँ तथा नये कालेज इसके नियत्रण मे आ गये, जिससे गुरुकुल काँगडी का आयुर्वेदिक कालेज भी इसमे आ गया। इसमे सम्मिलित होने से गुरुकुल की शिक्षा का स्तर बहुत नीचे आ गया, क्योंकि इसमे प्रवेशार्थ ज्ञान उतना उन्नत नही था, जितना गुरुकुल काँगडी मे था। अन्य सस्थाओ मे केवल सस्कृत को प्रवेश की इकाई समझा जाता था, [illegible] चित होता गया। इसी से शास्त्राचार्य परीक्षा उत्तीर्ण अथवा व्याकरणाचार्य या साहित्याचार्य परीक्षा पास करके कालेजो मे प्रविष्ट विद्यार्थियो का ज्ञान पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रहा, उनमें विपय की प्राञ्जलता, विशदता, स्पष्टीकरण नही मिलता, दुःख है कि यही परम्परा अब भी चलती है, जिससे आयुर्वेद समय के साथ नही चल रहा, उसमे विकास नही होता।

बोर्ड के शिक्षाक्रम मे आधुनिक विषय रखे गये, धीरे-धीरे उनमे पर्याप्त वृद्धि हो गयी, अब वहाँ भी इण्टर साइस विद्यार्थी के प्रवेश का नियम लागू हो गया।

बोर्ड मे इस समय बहुत से अच्छे महाविद्यालय भी है, जहाँ पर शिक्षा के सब साधन एव सामग्री है। परन्तु कुछ ऐसी भी सस्थाएँ है जहाँ पर [illegible] का अभाव है। बोर्ड मे इस समय ग्वालियर, इन्दौर के कालेज भी आते है, वहाँ पर भी उत्तर प्रदेश की शिक्षाव्यवस्था चलती है। इससे स्पष्ट है कि बोर्ड का काम बहुत विस्तृत हो गया है।

झाँसी का आयुर्वेदिक कालेज इस बोर्ड मे विद्यार्थियो की सख्या की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है, इस विद्यालय मे विभाग बहुत से है, परन्तु उनमे वास्तविकता कितनी है, कितना उनसे आयुर्वेद का उपकार हुआ, ये सब बाते अभी भविष्य के गर्भ में है।

इसी प्रकार वाराणसी, देहरादून आदि के दूसरे कालेज है, जहाँ पर शिक्षा के न तो पूरे साधन हैं, और न आवश्यक अध्यापक है, परन्तु बोर्ड की परीक्षाएँ होती है। इस प्रकार से आयुर्वेद का स्तर नीचे आता है। फिर भी बोर्ड ने वैद्यो के सगठन मे, इनके स्तर को ऊँचा उठाने मे पर्याप्त प्रयत्न किया है। बोर्ड के बनने से वैद्यक धधा बहुत कुछ नियन्त्रित हो गया, प्राचीन परिपाटी के वैद्य का पुत्र बिना पढे भी वैद्य बनता था; बहुत अंशो में यह बंद हो गया, अब कम से कम उसे वैद्यक पढनी पडती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के योग्य स्नातक

आयुर्वेद महाविद्यालय का इतिहास मु॰ ॰यत्न करने पर भी नही मिला, इसका दुःख है। इसलिए केवल स्नातको का परिचय दिया है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी—आप बलिया के रहनेवाले है, आपने शास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त की है, इसके पीछे ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज-पीलीभीत मे अध्यापक, प्रिन्सिपल पद पर कार्य किया। फिर लखनऊ राजकीय आयुर्वेदिक कालेज में उपाचार्य रूप में कार्य किया और इस समय जामनगर आयुर्वेदिक कालेज में हैं।

आपने कई पुस्तकें लिखी है, औषध निर्माण में आपकी बहुत रुचि है, आप अब सब औषधियो या योगो को आधुनिक दृष्टिकोण से देखना चाहते है। आपकी लिखी पुस्तकों में वैद्यसहचर, त्रिदोषालोक, तैलसग्रह है। आपने भावप्रकाश निघंटु का भी हिन्दी अनुवाद किया है, नेत्ररोग पर भी एक पुस्तक लिखी है।

श्री राजेश्वरदत्तजी शास्त्री—आप गोडा के रहनेवाले शाकद्वीपी ब्राह्मण है आप इस विश्वविद्यालय के योग्य स्नातक है और विद्यालय में चरक सहिता का उत्तरार्द्ध चिकित्साप्रकरण—औषधियो के नामवाला पढ़ाते है। आपने दो पुस्तकें लिखी हैं, इन पुस्तको के लिखने से आपकी मान्यता है कि सम्पूर्ण आयुर्वेद को आपने लिख दिया, क्योकि आयुर्वेद के दो ही प्रयोजन है; व्याधि से पीडित व्यक्तियो को रोगमुक्त करना और स्वास्थ्य की रक्षा करना। आपने प्रथम उद्देश्य के लिए १३८ पृष्ठो की पुस्तक 'चिकित्सादर्श' लिखी है और दूसरे उद्देश्य के लिए स्थान स्थान से सस्कृत के वचन एकत्र कर हिन्दी अनुवाद के साथ एक पुस्तक स्वस्थवृत्त-समुच्चय लिखी है।

आपने भैषज्यरत्नावली का भी सम्पादन किया है, इसमें आपका कितना काम है, इसका कुछ भी पता नही; अन्त मे चार या पाँच योग अपने नाम से दिये हैं।

श्री वामन कृष्ण पटवर्धन—आप बहुत योग्य चिकित्सक है, आप डाक्टर के नाम से विश्वविद्यालय मे प्रसिद्ध है। आपकी चिकित्सा भी मुख्यत डाक्टरी, पाश्चात्य होती है, उससे रोगियो को जल्दी रोगमुक्ति मिलती है; सम्भवत इसी से आप उसे

पसन्द करते हैं। परन्तु आयुर्वेद को आप भूलते नही, जरूरत पडने पर उसका भी उपयोग करते हैं। आपने बालरोग पर विशेष अभ्यास किया है। आपका लिखा प्रसूतितत्र अभी प्रकाशित हुआ है। चिकित्सा-व्यवसाय करते हुए इतना समय लेखन मे निकाल लेना वास्तव में आपके लिए गौरव की बात है।

श्री शिवदत्त शुक्ल---आप सीतापुर के रहनेवाले हैं। आपने पहले झांसी मे आयुर्वेदिक कालेज का आचार्यत्व किया। उसके अनुभव से लाभ उठाकर आप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण के अध्यापक बनकर आये। आपका परिचय हम गत प्रकरण में दे चुके है।

श्री दामोदर शर्मा गौड़ ए० एम० एस०---आप जयपुर के रहनेवाले ब्राह्मण हैं। सस्कृत पर आपका अधिकार है, आपका लिखा 'अभिनव प्रसूतितंत्र' इस बात का प्रमाण है। इस ग्रन्थ की रचना प्राचीन पुस्तकों तथा अर्वाचीन पाश्चात्य पुस्तकों के आधार पर की गयी है। इसमें पारिभाषिक शब्द बहुत सुन्दर बनाये है, एक प्रकार से प्रत्यक्ष-शारीरम् के ढंग की सुन्दर रचना है। आपकी दूसरी रचना 'आयुर्वेदादर्श-संग्रह' है, जो कि आयुर्वेद पुस्तको से सगृहीत है, वचनो का अनुवाद हिन्दी में किया है। एक प्रकार से यह सुभाषित सग्रह है। आपने शवच्छेद पर भी एक पुस्तक लिखी थी, दुःख है कि देशविभाजन के कारण वह प्रकाशक के यहाँ नष्ट हो गयी।

श्री रमानाथ द्विवेदी---आपकी चर्चा पहले की जा चुकी है, आप की रचना अगदतत्र, सौश्रुती, शालाक्यतत्र, प्रसूतितत्र, स्त्रीरोगविज्ञानम्, बालरोग और पेटेन्ट प्रिस्क्राईवर हैं। आप चिकित्सा विज्ञान मे अधिक रुचि रखते है, चिकित्सा कर्म में सफल है, योग्य चिकित्सक है।

श्री प्रियव्रत शर्मा---आप बिहार के रहनेवाले है, सस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। आपने साहित्याचार्य और एम ए परीक्षा पटना विश्वविद्यालय से दी है। आपने बहुत सी पुस्तकें लिखी है, आपकी पुस्तकों का आधार प्राय पहली लिखी पुस्तकें रही। आपने उनको एक प्रकार से नये रूप मे नये नाम से, नये प्रकाशक के यहाँ से प्रकाशित कराया है। इनमें अपने स्वतत्र विचार भी दिये है। विषय को स्पष्ट करने का बहुत प्रयत्न किया है।

आप पहले बेगूसराय में वाइस प्रिन्सिपल थे, फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में द्रव्य-गुण के उपाध्याय बनकर आये और फिर यहाँ से पटना आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल बनकर गये। आपकी मुख्य रचनाएँ ये हैं---अभिनव शरीर-क्रियाविज्ञान, रोगी-परीक्षाविधि, द्रव्यगुणविज्ञान, दोषकारणत्वमीमासा।

श्री रामसुशील सिंह—चुनार, जिला मिर्जापुर के रहनेवाले हैं, आपको द्रव्यगुण विषय में अधिक रुचि है, आपके बडे भाई श्री ठाकुर दलजीत सिंह यूनानी के अच्छे विद्वान् हैं, आपने बहुत-सा यूनानी साहित्य हिन्दी मे प्रकाशित किया है। इसी प्रेरणा से श्री रामसुशील सिंहजी ने भी अग्रेजी की मैटेरिया मेडिका तथा भावप्रकाश निघण्टु का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है।

के० एन० उडूप—आप इसी आयुर्वेदिक कालेज के स्नातक हैं, जिन्होने अमेरिका में जाकर शल्यचिकित्सा का अभ्यास किया है। आप दक्ष शल्यचिकित्सक माने जाते हैं। आपकी अध्यक्षता मे केन्द्रीय राज्य ने आयुर्वेद की स्थिति जानने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया था। इस समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल है। आपकी देखरेख में विद्यालय उन्नति करेगा यह आशा है।

श्री एम. एन. केशव पिल्लई—केरल में आयुर्वेद के डिप्टी डाइरेक्टर-आयुर्वेद हैं। इसी तरह श्री ब्रजमोहन दीक्षित, श्री गगासहाय पाण्डेय आदि बहुत से सफल चिकित्सक इस महाविद्यालय की देन हैं। इस विद्यालय से कई दूसरे भी योग्य स्नातक निकले है, जो अच्छे चिकित्सक होने के साथ लेखक भी हैं।

इस विद्यालय मे आयुर्वेद का अध्यापन पाश्चात्य चिकित्सा के साथ होता है। आयुर्वेद के प्रधान अध्यापक शुद्ध सस्कृत पढकर आयुर्वेद पढ़े हुए है। भूगोल, इतिहास, साइन्स, गणित आदि विषयो का ज्ञान उनकी शिक्षा के समय आयुर्वेद के लिए जरूरी नही था। विद्यार्थी इन्टर साइन्स की योग्यता के आते हैं। इसलिए उनकी विकसित प्रतिभा तथा शकाओ की तृप्ति का मेल इनके पाठ के साथ न होकर पाश्चात्य चिकित्सा के साथ होता है। इसलिए इनका झुकाव अधिक उधर रहता है जो अस्वाभाविक नही है। विद्यार्थी की जिज्ञासा को आज के समय मे गुरुभक्ति या गुरु-वचन से पूरा नही किया जा सकता। इसलिए इस विद्यालय के विद्यार्थी प्राय डाक्टरी चिकित्सा करते है; यह धारणा सामान्य रूप से लोगो की बनी है।

ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत

राजा ललितप्रसाद और राजा हरिप्रसाद दो भाई थे। इन्होने आयुर्वेदिक कालेज की सस्थापना आज से (लगभग) पैंतीस वर्ष पूर्व की थी। उस समय यहाँ पर आयुर्वेद की शिक्षा साधारण पाठशाला के रूप मे थी। पीछे से उत्तर प्रदेश का बोर्ड बन जाने पर और उसके अनुसार पाठ्यक्रम चलाने पर यह उससे सम्बद्ध हो गया। इस सस्था की अपनी फार्मेसी है।

यह संस्था बहुत अच्छे स्थान पर स्थित है; एक प्रकार से पीलीभीत अलमोड़ा

की तराई है, यहाँ पर वनस्पतियाँ पर्याप्त हैं। इसलिए विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध इस सम्बन्ध में अच्छा रहता है। पर्वतीय तथा आस-पास के विद्यार्थी इस संस्था से बराबर लाभ उठाते हैं। कालेज के प्रिन्सिपल डाक्टर आशानन्द पंजरत्न हैं।

ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज

इस कालेज की स्थापना आज से लगभग सैंतीस वर्ष पूर्व हुई थी, उस समय इस विद्यालय की बिल्डिंग सबसे सुन्दर और विशाल थी। इसके संस्थापकों में मुजफ्फर-नगर के राजा सुखवीरसिंहजी का मुख्य हाथ था। इससे पूर्व इस संस्था में आयुर्वेद की पढ़ाई पाठशाला के रूप में होती थी और विद्यापीठ की परीक्षाएँ उस समय दी जाती थी।

कालेज का रूप बन जाने पर इसका सम्बन्ध बोर्ड से हो गया। इस समय बोर्ड से सम्बन्धित दो ही विद्यालय उत्तर प्रदेश में थे, जिनमें एक ऋषिकुल का और दूसरा पीलीभीत का था। इस कालेज की विशेष उन्नति स्वर्गीय कविराज ज्ञानेन्द्रनाथ सेन कविरत्न के समय हुई। आप यहाँ पर एक लम्बे समय तक रहे और यहीं से निवृत्त हुए।

कालेज की अपनी फार्मेसी है, अपनी प्रयोगशाला है और अपने स्वतंत्र अन्तः-बाह्य अस्पताल हैं। इस समय यहाँ पर बोर्ड के पाठ्यक्रमानुसार अध्यापन होता है।

अन्य पाठशालाएँ

इनमें ऋषिकेश में बाबा काली कमलीवाला की आयुर्वेदशाला बहुत पुरानी है, सम्भवत: सबसे प्राचीन है। यहाँ पर आयुर्वेद का प्रारम्भ सम्भवतः १९१६ ईसवी से हुआ। सबसे प्रथम डाक्टर संतरामजी, जो कि पहले गुरुकुल कांगड़ी में चिकित्सक और वेद के अध्यापक थे, यहाँ पर चिकित्सक बनकर आये। उनके समय आयुर्वेद का अध्यापन प्रारम्भ हुआ। पीछे से धन्वन्तरिभवन बना और जयपुर के प्रसिद्ध वैद्य श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी द्वारा इसका उद्घाटन विधिपूर्वक हुआ।

यहाँ पर आयुर्वेद विद्यापीठ की आचार्य परीक्षा तक पढ़ाई होती है, विद्यापीठ की पढ़ाई करानेवाली यह प्राचीन संस्था है। विशुद्ध आयुर्वेद का ज्ञान यहाँ कराया जाता है। इस समय इस विद्यालय के आचार्य श्री स्वामी दयानिधिजी हैं। विद्यालय का अपना बाह्य चिकित्सालय भी है।

सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेद शिक्षासंस्थाएँ

यह संग्रह भिषग्भारती, वर्ष ५, मार्च १९५८ से उद्धृत है, इसमें यदि कुछ रह गया हो तो उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। मैंने इस सम्बन्ध में प्रत्येक प्रान्त के स्वास्थ्य-

मंत्रियों को पत्रक भेजा था; उनसे अपने प्रान्त की इस सम्बन्ध की जानकारी चाही थी। मुझे दुःख है कि केरल से पत्र की पहुँच आयी और बगाल से कालेजो के नाम और पते ही आये। शेष प्रान्तो के मन्त्रियो से पत्र की पहुँच भी नही आयी।

आन्ध्र

गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, हैदराबाद।

आसाम

गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, गोहाटी।

बिहार

(१) शिवगंगा आयुर्वेदिक महाविद्यालय, मधुबनी-दरभंगा; (२) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटना; (३) अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय (मुगेर); (४) धर्मसमाज सस्कृत कालेज, मुजफ्फरपुर; (५) एस. एन. राय आयुर्वेदिक कालेज, भागलपुर।

बम्बई

(१) आर ए पोद्दार मेडिकल कालेज (आयुर्वेदिक) वर्ली, बम्बई; (२) आयुर्वेद विद्यालय, पूना; (३) आर्यांग्ल वैद्य महाविद्यालय, सतारी सी. टी. (सतारा); (४) श्री ओ. एच. नाज़र आयुर्वेदिक महाविद्यालय, लाल दरवाज़ा, स्टेशनरोड—सूरत; (५) गुलाब कुवर बा आयुर्वेदिक कालेज, जामनगर; (६) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, बडोदा; (७) आयुर्वेद महाविद्यालय, समन्वय रुग्णालय महाल, नागपुर; (८) आयुर्वेद महाविद्यालय, अहमदनगर, (९) जी एस. एम. जो. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, नडियाद (खेडा), (१०) आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, नादेड (औरगाबाद); (११) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शिव (बम्बई), (१२) पुनर्वसु शुद्ध आयुर्वेद महाविद्यालय, यूनीवर्सल हेल्थ इन्स्टीच्यूट—नीलम मैन्सन, लैमिंग्टन रोड, बम्बई ४; (१३) अष्टाग आयुर्वेद महाविद्यालय, ४७९।१, सदाशिव पेठ, पूना; (१४) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शनिगली, रविवार पेठ—नासिक; (१५) विदर्भ आयुर्वेद विद्यालय, अमरावती, (१६) राधाकिशन तोशनीवाल आयुर्वेद महाविद्यालय, अकोला।

केरल

आयुर्वेदिक कालेज, त्रिवेन्द्रम।

मद्रास

(१) कालेज एण्ड हास्पीटल आफ इन्टिग्रेड मेडिसिन, मद्रास, (२) दि वैंकटरमन आयुर्वेदिक कालेज, माईलापुर, मद्रास।

मध्य प्रदेश

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, रायपुर; (२) राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर; (३) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, ग्वालियर।

उड़ीसा

(१) गोपबन्धु आयुर्वेद विद्यापीठ, पुरी; (२) सदाशिव सस्कृत कालेज, पुरी; (३) विद्याभवन सस्कृत कालेज, बालनगीर।

पंजाब

(१) श्री दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, जालन्धर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटियाला; (३) आयुर्वेदिक कालेज, अमृतसर; (४) महन्त आयुर्वेदिक कालेज, रोहतक; (५) प्रेमगिरि आयुर्वेदिक कालेज, भिवानी; (६) आयुर्वेदिक कालेज, पठानकोट।

राजस्थान

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, जयपुर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, उदयपुर; (३) सनातनधर्म आयुर्वेदिक कालेज, बीकानेर; (५) परस्वमपुरी आयुर्वेदिक कालेज, सीकर; (६) बिरला सस्कृत आयुर्वेदिक कालेज, पिलानी।

उत्तर प्रदेश

(१) बुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक कालेज, झाँसी; (२) काशी हिन्दू यूनीवर्सिटी आयुर्वेदिक कालेज, वाराणसी; (३) आयुर्वेदिक विद्यालय, देहरादून; (४) ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार; (५) गुरुकुल काँगड़ी आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार; (६) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ; (७) अर्जुन आयुर्वेदिक विद्यालय, बनारस; (८) आयुर्वेद विद्यालय, बड़ागाँव (बनारस); (९) ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत; (१०) मेरठ आयुर्वेदिक कालेज, गौचन्दी (मेरठ); (११) आयुवदिक कालेज, अतारा (बादा); (१२) अर्जुन दर्शनानन्द आयुर्वेदिक कालेज, वाराणसी; (१३) उत्तराखण्ड आयुर्वेदिक कालेज, गुप्त काशी (गढ़वाल); (१४) कान्यकुब्ज आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ; (१५) बाबा कालीकमली आयुर्वेद महाविद्यालय, ऋषिकेश (देहरादून); (१६) गुरुकुल आयुर्वेदिक कालेज, वृन्दावन; (१७) महिला आयुर्वेदिक कालेज, मेरठ; (१८) द्विवेदी आयुर्वेदिक कालेज, कानपुर।

पश्चिम बंगाल

(१) यामिनीभूषण अष्टांग आयुर्वेदिक कालेज, १७०, राजा देवेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता; (२) श्यामादास वैद्यशास्त्रपीट, २९४।३।१ अपर सर्क्युलर रोड, कल०;

(३) विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय, ९४, ग्रे स्ट्रीट कल०, (४) आयुर्वेद प्रतिष्ठान, १२३, हरीश मुकर्जी रोड, कलकत्ता २६, (५) वैद्यक पाठशाला, पो० आ० कोटाई, मिदनापुर; (६) नवद्वीप आयुर्वेदिक कालेज, नवद्वीप।

दिल्ली

(१) बनवारीलाल आयुर्वेदिक विद्यालय, दिल्ली, (२) दयानन्द आयुर्वेदिक कन्या महाविद्यालय, दिल्ली; (३) आयुर्वेदिक एण्ड तिब्बिया कालेज, दिल्ली।

मैसूर

(१) गवर्मैन्ट कालेज आफ इन्डियन मेडिसिन, मैसूर; (२) तारानाथ आयुर्वेद विद्यापीठ सोसायटी, बेलगाँव; (३) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, बीजापुर; (४) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, हुबली।

आयुर्वेदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट

(१) सैन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, जामनगर; (२) बोर्ड आफ रिसर्च इन आयुर्वद, बम्बई, (३) बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, आयुर्वेदिक कालेज रिसर्च सैक्शन, बनारस, (४) तिब्बिया कालेज (रिसर्च सैक्शन), अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ़; (५) इन्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन, पूना; (६) [illegible] डिपार्टमैन्ट, यूनीवर्सिटी आफ ट्रावनकोर, त्रिवेन्द्रम; (७) बडोदा यूनीवर्सिटी मेडिकल कालेज (आयुर्वेदिक रिसर्च सैक्शन), बडोदा; (८) गवर्मैन्ट आयुर्वेदिक कालेज (रिसर्च सैक्शन), त्रिवेन्द्रम; (९) झासी आयुर्वेदिक कालेज (रिसर्च सैक्शन), झासी, (१०) रिसर्च डिपार्टमैन्ट एटैंच्ड टू दी आयुर्वेदिक कालेज, गोहाटी; (११) श्री जयराम राजेन्द्र इन्स्टीटयूशन्स आफ इण्डियन मेडिसिन, बगलोर; (१२) आर० ए० पोद्दार मेडिकल कालेज, बम्बई; (१३) हाफकिन इन्स्टीच्यूट, बम्बई, (१४) सैन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीच्यूट, छतरमजिल, लखनऊ, (१५) यूनीवर्सल हेल्थ इन्स्टीच्यूट, नीलम मैन्शन, लैमिंगटन रोड, बम्बई ४।

तिब्बिया कालेज

(१) तिब्बिया कालेज मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ, (२) यूनानी निज़ामिया तिब्बिया कालेज, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश), (३) आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी तिब्बिया कालेज, करौलबाग, देहली, (४) गवर्मैन्ट तिब्बिया कालेज, पटना, (५) यूनानी मेडिकल कालेज, इलाहाबाद; (६) तफमील उल तिब्बी कालेज, लखनऊ; (७) भारत तिब्बिया कालेज, सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)।

प्रसिद्ध आयुर्वेदिक फार्मेसियाँ

बम्बई प्रान्त

(१) गोंडल रसशाला, गोंडल (सौराष्ट्र); (२) श्री धूतपापेश्वर औषधि कारखाना लिमिटेड, पनवेल, कोलाबा (बम्बई); (३) ऊंझा आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऊंझा (उत्तरगुजरात); (४) झण्डू फार्मेस्युटिकल कम्पनी लिमिटेड, वर्ली (बम्बई); (५) सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी, ३७५, कालबादेवी, बम्बई २; (६) गुजरात आयुर्वेदिक फार्मेसी, गान्धीरोड, अहमदाबाद; (७) दी आयुर्वेद औषधि भण्डार, पूना; (८) दी आयुर्वेद रसशाला, पूना; (९) दी आयुर्वेद सेवासघ, नासिक; (१०) दी आयुर्वेद अर्कशाला-लिमिटेड, सतारा; (११) श्री आत्मानन्द सरस्वती सहकारी फार्मेसी. सूरत; (१२) आयुर्वेदिक फार्मेसी लिमिटेड, अहमदनगर।

मध्य प्रदेश

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, रायपुर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, ग्वालियर; (३) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, नागपुर; (४) राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज–फार्मेसी, इन्दौर; (५) स्यालीराम आयुर्वेदिक फार्मेसी, इन्दौर।

पश्चिम बंगाल

(१) बंगाल कैमिकल एण्ड फार्मेस्युटिकल वर्क्स, कलकत्ता; (२) वैद्यनाथ आयुर्वेदभवन लिमिटेड, १ गुप्तालेन, कलकत्ता; (३) ढाका शक्ति औषधालय, ५२।५ बीडनस्ट्रीट, कलकत्ता; (४) ढाका आयुर्वेद फार्मेसी, प्रिन्स अनवरशा रोड, कलकत्ता ३३; (५) बिरला लेबोरेटरीज, कलकत्ता; (६) साधना औषधालय, २०६ कार्नवालीस स्ट्रीट, कलकत्ता; (७) कल्पतरु आयुर्वेद फार्मेसी, २२३, चित्तरजन एवेन्यू, कलकत्ता; (८) विश्वनाथ आयुर्वेद भवन, ७२, बडतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता; (९) सी० के० सेन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, ३४, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; (१०) ढाका औषधालय, ५६। सी. बेडौन स्ट्रीट, कलकत्ता; (११) मारवाडी रिलीफ सोसायटी, ३९१ अपर चितपुर रोड, कलकत्ता; (१२) कलकत्ता कैमिकल्स, ३५, पाडिया रोड, कलकत्ता; (१३) डाबर (एस. के बर्मन) लि १४२, रासबिहारी एवेन्यू, कलकत्ता; (१४) आर्य औषधालय, ६१।१३ थियेटर रोड, कलकत्ता; (१५) धन्वन्तरि आयुर्वेद भवन, २४४ चित्तरजन एवेन्यू, कलकत्ता; (१६) हावड़ा कुष्ठ कुटीर, २६ हरीसनरोड, कलकत्ता; (१७) देवेन्द्रनाथ आयुर्वेदिक फार्मेसी, बहूबाजार, कलकत्ता; (१८) अष्टाग आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, कलकत्ता।

बिहार

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, पटना; (२) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन।

उड़ीसा

गोपबन्धु आयुर्वेदिक विद्यापीठ कालेज फार्मेसी, पुरी (उडीसा)।

उत्तर प्रदेश

(१) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि. इलाहाबाद; (२) गुरुकुल कांगडी फार्मेसी, हरिद्वार; (३) ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, हरिद्वार; (४) स्टेट फार्मेसी आफ आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी मेडिसिन, उत्तरप्रदेश, लखनऊ; (५) बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी आयुर्वेदिक फार्मेसी, बनारस; (६) गवर्नमेन्ट ड्रग को-आपरेटिव ड्रग्स फैक्टरी, रानीखेत; (७) देशरक्षक औषधालय, कनखल (सहारनपुर); (८) बाबा काली कम्बली वाले की आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऋषिकेश (देहरादून)।

मद्रास

(१) दी मद्रास स्टेट इन्डियन मेडिकल प्रैक्टिशनर कोआपरेटिव फार्मेसी एण्ड स्टोर लिमिटेड, मद्रास; (२) नाबी आर आयुर्वेदिक फार्मेसी।

आसाम

गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज—फार्मेसी, गोहाटी।

केरल

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, त्रिवेन्द्रम; (२) श्री केरल वर्मा आयुर्वेद फार्मेसी, त्रिचूर; (३) आर्यवैद्यशाला, कोटाकल (केरल)।

आन्ध्र

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, हैदराबाद (आन्ध्र)।

मैसूर

निखिल कर्णाटक सेन्ट्रल आयुर्वेदिक फार्मेसी लिमिटेड, मैसूर।

पंजाब

(१) पजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर; (२) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, पटियाला, (३) पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द; (४) प्रताप आयुर्वेदिक फार्मेसी, पंजाब; (५) भरद्वाज आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर, (६) श्रीकृष्ण आयुर्वेदिक फार्मेसी, नमक मण्डी, अमृतसर; (७) डी० ए० वी० फार्मेसी, जालन्धर।

दिल्ली

(१) मजूमदार आयुर्वेदिक फार्मेस्युटिकल वर्क्स, नयी दिल्ली; (२) पुष्करणा आयुर्वेदिक फार्मेसी, दिल्ली; (३) मुलतानी आयुर्वेदिक फार्मेस्युटिकल कम्पनी, नयी दिल्ली; (४) सुखदाता आयुर्वेदिक फार्मेसी, चाँदनी चौक, दिल्ली; (५) राजवैद्य शीतलप्रसाद, चाँदनी चौक, दिल्ली; (६) दिल्ली आयुर्वदिक वर्क्स, सीताराम बाजार, दिल्ली (७) हमदर्द दवाखाना, दिल्ली।

राजस्थान

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, जयपुर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, जोधपुर; (३) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, भरतपुर; (४) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, उदयपुर, (५) रामकिशोर औषधालय, भरतपुर; (६) मोहता रसायन शाला, बीकानेर; (७) मोहता आयुर्वेद साधना, हिन्दी विश्वविद्यालय, उदयपुर; (८) आयुर्वेद सेवाश्रम, उदयपुर; (९) आयुर्वेद रिसर्च इन्स्टीच्यूट्, उदयपुर; (१०) धन्वन्तरि औषधालय, जयपुर, (११) राजस्थान आयुर्वेदिक औषधालय, अजमेर; (१२) कृष्ण गोपाल औषधालय, कालेड़ा बोगला, अजमेर।

विश्वविद्यालयों में आयुर्वेदिक फैकल्टियाँ

ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय, गुजरात विश्वविद्यालय, ट्रावनकोर-कोचीन विश्वविद्यालय में हैं।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में यूनानी तिब्ब की फैकल्टी है; हैदराबाद विश्वविद्यालय में भी यूनानी तिब्बिया कालेज है।

आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत भी गुरुकुल कागडी आयुर्वेदिक कालेज को लेकर आयुर्वेदिक फैकल्टी बनाने का प्रस्ताव विचाराधीन है।

प्रान्तों में भारतीय चिकित्सा के संचालक

१ भारतीय चिकित्सा के सचालक (डाइरेक्टर), किला पौक, मद्रास—१०

२ आयुर्वेद के संचालक, पटियाला (पजाब)

३. आयुर्वेद के सचालक, बम्बई

४. आयुर्वेद के सचालक, जयपुर (राजस्थान)

५ भारतीय चिकित्सा विभाग के विशेष अधिकारी, आन्ध्र (हैदराबाद)

६ ट्रावनकोर कोचीन भारतीय चिकित्सा के संचालक, त्रिवेन्द्रम

७ मध्यप्रदेश भारतीय चिकित्सा परिषद् के सचालक, ग्वालियर

८. बिहार भारतीय चिकित्सा के सचालक, पटना (बिहार)
९. स्वास्थ्य विभाग के (आयुर्वेद) उपसचालक, लखनऊ
१०. भारतीय चिकित्सा विभाग के वरिष्ठ अधिकारी (पदेन) एव स्वाध्य विभाग के अधीक्षक, बँगलोर।

भारतीय चिकित्सा परिषद्

१. आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा परिषद्, अमृतसर (पजाब)
२ आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा परिषद्--८५, थिएटर कौम्युनिकेशन बिल्डिंग, कनाटसर्कस, नयी दिल्ली
३ आयुर्वेदिक और यूनानी परिषद्, पटियाला
४ आयुर्वेदिक और यूनानी परिषद्, उत्तरप्रदेश, मोती महल, क्लाइव रोड, लखनऊ
५ आयुर्वेदिक और यूनानी परिषद्, एस्पैलनेड मैन्शन, १४४, महात्मा गाधी रोड, बम्बई
६ भारतीय चिकित्सा परिपद्, राजस्थान, जयपुर
७. मध्य प्रदेश की भारतीय चिकित्सा परिषद्, ग्वालियर
८ भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिपद्, किला चौक, मद्रास १०
९ पश्चिम बगाल की भारतीय चिकित्सा की जेनरल कौन्सिल आफ़ स्टेट फैकल्टी, ११२ अ बेलतला रोड, कलकत्ता-२६
१० बिहार आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा की राज्यपरिपद्, पटना
११. भारतीय चिकित्सापरिषद्, शिलाग (आसाम)
१२ आयुर्वेदिक शिक्षापरिषद्, काठमाडू (नेपाल)
१३ आन्ध्रप्रदेश मे भारतीय चिकित्सा के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त है; यहाँ भी भारतीय चिकित्सा परिषद्, हैदराबाद है।
१४ हिमाचल आयुर्वेद विभाग; (यह स्वास्थ्य अधिकारी के निरीक्षण में है) शिमला-४, हिमालय
१५. भारतीय चिकित्सा की केन्द्रीय परिषद्, बँगलोर।

शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम

बम्बई प्रान्त में शुद्ध आयुर्वेद के पाठ्यक्रम को चलानेवाली सस्थाएँ--

१. अष्टाग आयुर्वेद महाविद्यालय, ७१९।११ सदाशिवपेठ, पूना २

२ जे० ए० एस० एम० पी० आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, स्टेशन रोड़, नड़ियाद
३. पुनर्वसु आयुर्वेद महाविद्यालय (१४३ बी), कैम्स कौर्नर के समीप, बम्बई २६
४. शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शानीगली, रणवीर पेठ, नासिक
५ शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, आजुआ रोड, बड़ोदा
६. शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, सायन स्टेशन के सामने, सायन, बम्बई २२

इस पाठ्यक्रम को बम्बई प्रान्त में प्रचलित किया गया है। मराठी, गुजराती, कन्नड और हिन्दी चार भाषाओं में परीक्षा होती है। डिप्लोमा पाठ्यक्रम चार वर्ष का है। मैट्रिक परीक्षा या संस्कृत की मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण छात्र प्रवेश कर सकते हैं।

पाठ्य विषय—शारीर, दोष धातु मल विज्ञान, वनस्पति परिचय, द्रव्यगुण, रसशास्त्र, स्वस्थ वृत्त, संस्कृत और पदार्थ विज्ञान, अष्टांगहृदय, [illegible], रोग-विधान और कायचिकित्सा, शल्य शालाक्य तंत्र, प्रसूतितंत्र, विषतंत्र, औषध निर्माण विधान, विधिशास्त्र।

इस पाठ्यक्रम को चालू करने का श्रेय श्री पं० शिवशर्माजी आयुर्वेदाचार्य, श्री पं० हरिदत्तजी शास्त्री, श्री नारायण हरि जोशी एवं श्री वामनराव भाई को है। आप लोगो के निरन्तर परिश्रम से उस समय के प्रधान मंत्री माननीय श्री मुरारजी देसाईजी ने इसे परीक्षणात्मक रूप में प्रारम्भ किया। परन्तु पीछे श्री जोशीजी एवं पण्डितजी की लगन और निष्ठा से इसका प्रसार दिन पर दिन अधिक हुआ। आज इन विद्यालयो में पढ़नेवाले विद्यार्थी थोडे खर्च में आयुर्वेद का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

शुद्ध शब्द का अर्थ किसी भी वस्तु से अमिश्रित है। इसमें पाश्चात्य दृष्टिकोण से पृथक् रखकर आयुर्वेद का अध्ययन कराना ही लक्ष्य है।

श्री प० शिवशर्माजी को इसके लिए बहुत परिश्रम एवं भिन्न-भिन्न विरोध सहने पडे। आपमें इतनी क्षमता, निष्ठा थी कि आप अपनी लगन पर लगे रहे, आपको श्री हरिदत्तजी, श्री नारायण हरि जोशी, श्री वामनराव जैसे सच्चे सहयोगी भी मिल गये। प्राचीन पाठशालाओ के रूप एवं गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को सच्चे अर्थों में पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित करनेवाली भारत की यही शिक्षा प्रणाली थी, जिसको आप सज्जन नये रूप में जीवित कर रहे हैं।

इस पाठ्यक्रम में विद्यार्थी ग्रन्थ द्वारा आयुर्वेद को पढ़ता है, उसके सामने आचार्य जो व्याख्या करता है, वह प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही रहती है। इससे विद्यार्थी को अपने आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा होती है। भले ही कुछ विचारको को इसमें संकुचित वृत्ति का आभास मिले, परन्तु फिर भी इस वैज्ञानिक युग में, जिसमें नित्य प्रति शोध

हो रही है, उसमे इसका भी (कम से कम इस देश के लिए) महत्त्व है। इसको कुछ विद्वानो ने अपनी दृष्टि मे पहचाना और वे इसमे जुटे है--सफलता और असफलता का निर्णय काल ही करेगा, परन्तु आयुर्वेद के प्रति इनकी निष्ठा महत्त्वपूर्ण-आदरणीय है।

उत्तरपीठिका

आयुर्वेद की शिक्षा का आज जितना प्रचार है, उसमें इसकी उपयोगिता का अंश उतना अधिक नही, जितना इसकी प्राचीनता का है। आयुर्वेद से रोगी अच्छे होते हैं; तो मिट्टी लगाने से, प्राकृतिक चिकित्सा एवं होम्योपैथिक से भी रोगी स्वस्थ होते हैं। इसलिए यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात नही।

आयुर्वेद भारत भूमि मे उत्पन्न हुआ है, पनपा है, यह ठीक है; परन्तु अत्रिपुत्र के अनुसार चिकित्सा या आयु का ज्ञान शाश्वत-अनादि है। इसलिए सब देशो में इसकी उत्पत्ति और विकास मिलता है। मनुष्य में मरण धर्म जिस प्रकार से समान है, उसी प्रकार उससे बचने की प्रवृत्ति भी समान है। इसके मार्ग भिन्न हो सकते है, किन्तु जैसा कि भिन्न-भिन्न मार्गों से बहनेवाला नदियो का पानी अन्त में समुद्र में ही पहुँचता है, उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न चिकित्सापद्धतियो की अन्तिम स्थिति मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग मुक्ति में ही है।

जिस प्रकार मनुष्यो में रुचि की भिन्नता रहती है, उसी प्रकार बुद्धि की भी भिन्नता रहती है। परन्तु इन सबका मार्ग भिन्न होने पर भी लक्ष्य एक ही रहता है और वह दीर्घायु है, जिसके लिए भरद्वाज इन्द्र के पास गया था (चरक सू. अ. १।३)।

आयुर्वेद की विशेषता अन्य पद्धतियो से दो बातो में है; शारीरिक और मानसिक इन दोनो का विचार इस शास्त्र में है, यह विचार आत्मा और इन्द्रिय के ज्ञान (सूक्ष्म ज्ञान) के द्वारा पूरा होता है। इसी लिए शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन चार के सयोग का नाम धारि, जीवन, चेतना है। आयुर्वेद में इन चारो का विचार है; शेष चिकित्सापद्धतियो मे केवल शरीर या शरीर और मन का ही विचार है। सामान्य रूप से यह ज्ञान भूतसघातवाद का है, जिसे बार्हस्पत्य, पौरन्दर या चार्वाक नाम से कहा जाता है। अत्रिपुत्र के कहे सद्‌वृत्त, मोक्ष तथा मोक्ष के उपाय, आत्मा, पुनर्जन्म आदि विषय अन्य चिकित्सापद्धतियो में नही मिलते। आयुर्वेद के पिछले ग्रन्थो मे भी इनका उल्लेख नही रहा; सुश्रुत मे चरक की अपेक्षा कम है, सग्रह में सुश्रुत की अपेक्षा अधिक है, काश्यप सहिता तथा अन्य ग्रन्थो मे इसकी समाप्ति है। इसलिए स्पष्ट है कि अत्रिपुत्र ने जिस आयुर्वेद का उपदेश अग्निवेश को दिया था, उसके उपयुक्त

विषय पीछे (लगभग ८वी शती ईसवी में) आयुर्वेद से अलग हो गये। अब आयुर्वेद का जो रूप बचा, वह प्राय वही था जो कि आज दूसरी चिकित्सापद्धतियों का है।

रसचिकित्सा में तो, जो कि दसवी शती ईसवी में प्रारम्भ हुई है, मन, आत्मा, इन्द्रिय का कुछ भी विचार नही; उसका तो स्पष्ट कहना है—

न रोगाणां न दोषाणां न दूष्याणाञ्च परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥
साध्येषु भेषजं सर्वमीरितं तत्त्ववेदिना।
असाध्येष्वपि दातव्यं रसोऽतः श्रेष्ठ उच्यते॥

रसचिकित्सा में न तो रोगो का, न दोषो का, न दूष्यों का, न देश और न काल का विचार करना चाहिए। विद्वानो ने यह तो कहा ही है कि साध्य रोगो में औषध देनी चाहिए, परन्तु रस औषध तो असाध्य रोगों में भी देनी चाहिए; इसी लिए रस-चिकित्सा अन्य से श्रेष्ठ है।

रसचिकित्सा का ही परिष्कृत रूप इंजैक्शन चिकित्सा है। रसचिकित्सा के सम्बन्ध में गोपाल कृष्ण ने कहा है—

अल्पमात्रोपयोगित्वा[illegible]रुचेरप्रसंगतः।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वा[illegible] रसः॥ रसेन्द्रसारसंग्र.

रस औषधि की मात्रा थोडी होती है, इसके खाने से क्वाथ आदि की भाँति अरुचि नही होती, जल्दी क्रिया होने के कारण आरोग्य सद्य मिलता है, इसलिए औषधियों से रस श्रेष्ठ है। आजके इजैक्शन तथा रासायनिक औषधियों (Chemotheropy) में भी ये लाभ हैं; इनका भी उपयोग आज चिकित्सा में रस औषध की भाँति होता है। यह उपयोग इतना अधिक है कि वैद्यगण—वर्त्तमान आयुर्वेदिक सस्थाओ से शिक्षित या अशिक्षित सब इसका उपयोग किसी न किसी रूप में करते हैं। यह चिकित्सा-पद्धति रसशास्त्र का आधुनिक परिष्कृत रूप ही है, ऐसी मेरी मान्यता है। इसमें भी दोष, दूष्य, बल, काल का सामान्य रूप से विचार नही होता।

इसलिए आयुर्वेद की अपनी विशेषता, जिसे अत्रिपुत्र ने अग्निवेश को सिखाया, वास्तविक रूप में कुछ ही समय तक रही। उसके पीछे इसका रूप सर्वथा भूतसंघात-वादी बनकर शरीर तक ही सीमित हो गया, जो आज भी है। यह रूप भी पहले जैसा नही रहा, इसमें नाडीज्ञान, मूत्र, मल-परीक्षा, अफीम, मस्तकी, चोपचीनी जैसी दूसरी औषधियाँ आदि विषय मिलते गये। वाग्भट ने इस सम्बन्ध में निर्देश भी किया है, इसलिए यह कहना कि आज जो आयुर्वेद के ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें प्राचीन

आयुर्वेद ही है; सही नही है। इसमें समयानुसार परिवर्तन हुआ; वैदिक देवताओ के साथ बौद्ध देवता भी आये, जातहारिणी आदि मान्यताएँ, षष्ठी की पूजा, बलि, ग्रहों की पूजा आदि बातें भी इसमें आ गयी, इसलिए इसकी शुद्धता नहीं रही।

शुद्ध आयुर्वेद शब्द स्वय अस्पष्ट है; आयुर्वेद के शुद्ध और अशुद्ध होने की कसौटी इसके ग्रन्थो पर स्वय नही उतरती। इसी लिए वाग्भट ने कहा है कि हठ या दुराग्रह को छोडकर मध्यस्थ वृत्ति से सत्य को ग्रहण करना चाहिए। यदि यूनानी में प्रसिद्ध बनपसा, रेशाखतमी, कासनी आयुर्वेद के अन्तर्गत आ सकते हैं, तो पैनसिलीन, क्युलीन, सैलीसिलेट आदि औषधियो ने क्या पाप किया, जिससे इनको आयुर्वेद न माना जाय। इसलिए शुद्ध और अशुद्ध विशेषण आयुर्वेद के साथ लगाना एक पक्ष का स्वार्थ है।

आज आयुर्वेद के ह्रास का मुख्य कारण इसका संस्कृत से घिरा होना और एक विशेष वर्ग के हाथ में इस संस्कृत के कारण अधिकार रहना है। यही वर्ग इसमें शुद्ध विशेषण लगाकर इसका विकास और भी सकुचित करता जाता है।

इसलिए युगानुरूप चिकित्सा का असली रूप समझकर मधुकरी वृत्ति से शरीर, इन्द्रिय, मन, आत्मा के लिए उपयोगी चिकित्सा को ग्रहण करना ही चाहिए। अत्रि-पुत्र ने ठीक ही कहा है—

> तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
> स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्॥ चरक. सू. अ. १।१३४

जिससे आरोग्य मिले वही सही औषध है और जो रोगो से छुड़ाये वही श्रेष्ठ वैद्य है। इसमें आयुर्वेद का क्षेत्र, उसकी परिधि खुली रहती है, उसके चारों ओर कोई रेखा या दीवार नहीं खिंचती है। यह उदारता अत्रिपुत्र में ही सम्भव थी, काशिपति धन्वन्तरि में नहीं थी, जिसने जातिभेद से चिकित्साभेद करके इसको संकुचित किया (सुश्रुत. शा. अ. १०।५)। इसलिए संस्कृत की या अन्य भाषा की तथा जाति की कठोर दीवार तोड़कर सच्चे अर्थों में आयुर्वेद की शिक्षा या प्रचार करना चाहिए।

दो कमीशन

आयुर्वेद की उन्नति, उसके पाठ्यक्रम, उसका रूप आदि बातो का निर्णय करने के लिए भारत सरकार ने कई बार प्रयत्न किया। इनमें चोपड़ा कमेटी और दवे कमेटी ये दो कमेटियाँ मुख्य हैं। चोपड़ा कमेटी का निर्माण स्वतत्रता के प्रारम्भ में हुआ था। इस कमेटी ने आयुर्वेद की औषधियो पर आधुनिक दृष्टि से खोज करने की सलाह दी थी। इसके अनुसार इस समय देश में कई स्थानो पर रिसर्च के नाम पर काम हो रहा

है, परन्तु इससे अभी तक कोई फल सामने नही आया और भविष्य मे सामने आयेगा यह आशा रखना भी व्यर्थ है। क्योकि सचालनसूत्र जिनके हाथ में है, उनका पिछला कोई भी कार्य ऐसा नही, जिसमें इस प्रकार की कोई आशा की जा सके। वैद्यो का तो बस एक ध्येय है, अपनी जेब को सुरक्षित रखकर दूसरे के धन पर रिसर्च की आवाज बुलन्द करना, और डाक्टरों या एम० एस-सी० वालो से यह स्पष्ट है कि इन्होने अपने विषय में, जिसे उन्होंने नियमत. पढा, जिसमें उपाधि ली, जिसके लिए नौकरी की; कोई देन नही दी, न कोई खोज की। इसलिए इस नये विषय में वे नयी वस्तु देंगे—यह आशा आकाशपुष्प की भाँति ही है। उन्होने आयुर्वेद के लिए जो प्रेम दिखाया, वह तो उनकी उदारता है, क्योकि वे जानते है कि यह मूर्ख जमात है, इसमें जरा भी चमत्कार दिखाने से, अग्रेजी में बोलने-लिखने से, रसशास्त्र को वर्त्तमान रसायन दृष्टि से कहने पर (आयुर्वेद के रसशास्त्र का वर्त्तमान रसायन विद्या से कोई सम्बन्ध नही) वैद्यसमुदाय चकाचौंध में आ जायगा। इसलिए इनसे की हुई रिसर्च से आयुर्वेद की उन्नति होगी या चोपडा कमेटी का उद्देश्य सफल होगा; ऐसा मानना सत्य नही। यह तो सरकार ने वैद्यो का मुख बन्द करने के लिए कुछ रुपयो का दान किया है, जिससे वैद्यो की जीविका चल रही है।

दवे कमेटी की नियुक्ति कुछ वर्ष पूर्व हुई थी। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण देश के लिए एक पाठ्यक्रम तैयार करना था। इसके लिए कमेटी ने सब स्थानो को देखकर एक सर्वसम्मत पाठ्यक्रम बनाया। यह पाठ्यक्रम उपयोग की दृष्टि से ठीक था। परन्तु वैद्यसमाज का दुर्भाग्य कि उसने इसमे भी रोडे अटकाये, जिससे आज तक यह नही चल सका। इसमें विघ्न डालनेवाला वही वर्ग था, जो कि आयुर्वेद को एक वर्ग तक जकड़े रखना चाहता है, वह नही चाहता कि आयुर्वेद का सही रूप जनता के सामने आये।

इस पाठ्यक्रम में अर्वाचीन पाश्चात्य चिकित्सा की शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध था, जिससे आयुर्वेद का ज्ञान 'युगानुरूप' बनता था, जो समय की माँग के अनुसार ठीक भी था। इस पाश्चात्य चिकित्साज्ञान से आयुर्वेद ज्ञान या आयुर्वेद नष्ट हो जायगा, इसका भय केवल उन्ही को है जो आयुर्वेद नही समझते; या उनको भय है जो इसे सस्कृत ज्ञान या व्याकरण की शिक्षा के आधार पर ही सीखते है। विशाल दृष्टि, उदार चित्तवाले व्यक्ति को पाश्चात्य चिकित्साज्ञान से कुछ भी भय नही होता, वह तो उसे हृदय से लगाता है, उस ज्ञान से आयुर्वेद को और भी माँजता है। समय की माँग के अनुसार यह आवश्यक भी है। अपने तीस वर्षों के आयुर्वेद क्षेत्र मे किये कार्य से मैं निश्चित आधार पर कह सकता हूँ कि इसका विरोध संस्कृत पढ़े आयुर्वेद के अध्यापक

या वैद्य, विशेषतः एक निश्चित वर्ग ही कर रहा है, जो अपने पुत्रों को तो डाक्टरी, पाश्चात्य शिक्षा सिखाता है, दूसरों की संतान को आयुर्वेद की अधूरी शिक्षा देकर उनके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। उसे इस बात का भय है कि इण्टर साइन्स के विद्यार्थियो के आगे हमारी दाल नही गलेगी, इसी से वह इस पाठ्यक्रम का विरोध कर रहा है।

इसलिए सरकार द्वारा नियुक्त दोनों कमेटियो से आयुर्वेद का कोई भी उद्देश्य या भला होता मैं नही देखता। इसका एक ही रास्ता है; यदि आयुर्वेद में कुछ सत्यता है, तो यूरोप-अमेरिका जाकर उस पर मोहर लगवा लेनी चाहिए, वहाँ से मोहर लगने पर किसी में सामर्थ्य नहीं कि इसका प्रतिवाद कर सके या इस विषय में मुँह भी खोल सके।[1] बुद्धिमानो की परीक्षा जिस प्रकार भागवत में है, उसी प्रकार से सच्चे ज्ञान की परीक्षा आज वहाँ है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आदर इस देश में तब हुआ, जब उनको यूरोप से नोवेल पुरस्कार मिला। उससे पूर्व भी वे इसी देश में थे—तब उनको आदर नहीं मिला। इसलिए आयुर्वेद की उन्नति का सच्चा पथ यूरोप के विद्वानों की खरी परीक्षा ही है, जहाँ पर प्रत्यक्ष और ईमानदारी ही प्रमाण है; शास्त्रवचन का कोई महत्त्व उस चिकित्सा प्रणाली में नहीं रहता।

पूर्वकाल में भी इस प्रकार की परीक्षाएँ थीं। पाणिनि को भी अपने व्याकरण की परीक्षा पाटलिपुत्र में करवानी पड़ी थी। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही उस व्याकरण का प्रचार हुआ—

> श्रूयते च पाटलिपुत्रे [illegible]स्त्रकारपरीक्षा—
> अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गला[illegible] व्याडिः ।
> वररुचि[illegible]ली इह परीक्षिताः ख्या[illegible]मुपजग्मुः ॥ राजशेखर

इसलिए आयुर्वेद को इस परीक्षा से डरने की जरूरत नही, क्योंकि आग में डालने पर इसका खरा रूप सामने आ जायगा (हेम्न संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा। रघु. १।१०)। इसलिए आयुर्वेद के अस्तित्व को रखने के लिए, इसके सच्चे रूप को

---

१. खेल का सामान बनानेवाली यू बेराय कम्पनी एक समय अपना सामान इस देश में बनाकर लन्दन केवल मोहर लगने के लिए भेजती थी। वहाँ से मोहर लग जाने पर उसकी कीमत कई गुनी बढ़ जाती थी। यहाँ के अंग्रेज इस पर इंग्लैंड की मोहर देखकर इसे खरीदते थे; उनकी देखादेखी भारतीय भी लेते थे। यही बात आयुर्वेद के साथ है। यूरोप की मोहर से डाक्टर बरतेंगे, उसे देखकर अन्य भारतीय भी बरतेंगे।

युग के अनुसार समझने के लिए सबसे सरल, छोटा मार्ग यही है कि यूरोप में जाकर इसकी जाँच करवा ली जाय। इसके लिए अपनी गाँठ का पैसा खोलना होगा। सरकार मदद करे या उसके रास्ते से यह हो, यह आशा अनुचित है। यह कर्त्तव्य वैद्यो का अपना है; उनको इस विषय पर, इस विद्या पर गर्व है; वे समझते है कि यह इस युग में अधिक जन-कल्याण करनेवाली है, तो स्वयं जाकर इसकी परीक्षा करवा लें। उपयोगी होने पर ज्ञान स्वतः इसको चमका देगा।

आयुर्वेद के विषय में अत्रिपुत्र ने जो कहा है, वह वास्तव में ऐसा ही है—

इममखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्यः।
स मनुजः सुखजीवितप्रदाता भवति [illegible]:॥
यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

चरक. सि. अ. १२।५१-५२-५४.

यह आयुर्वेद जन-कल्याण करनेवाला है, इसको जाननेवाला मनुष्य अर्थ को जाननेवाला, विचारवान् और उत्तम चिकित्साज्ञ होता है। इस संहिता में जो है, वही अन्यत्र मिलता है, जो इसमें नही वह अन्यत्र भी नही। ऐसा कहनेवाले ऋषि अत्रिपुत्र के वचनो के चारो ओर सीमा या परिधि नही खीचनी चाहिए, विश्वास के साथ, परीक्षको के सामने उपस्थित करने मे अपना गौरव-मान समझना चाहिए; इससे सत्य की परीक्षा होगी। सत्य ही शुद्ध है, अग्नि में पड़ने पर अशुद्ध-मैल सब जल जाता है।

परिशिष्ट

उडूप कमेटी की रिपोर्ट

भारत सरकार ने आयुर्वेद की स्थिति जाँचने के लिए तथा उसकी उन्नति के लिए २९ जुलाई १९५९ में एक कमेटी डाक्टर के० एन० उडूप, सर्जिकल स्पैशियलिस्ट हिमाचल प्रदेश, शिमला की अध्यक्षता मे बनायी थी। इस कमेटी ने सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण करके आयुर्वेदिक सस्थाओ, फार्मेसियो और राज्यो मे आयुर्वेद की स्थिति का निरीक्षण कर अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को दी थी।

इस रिपोर्ट मे इससे पूर्व की कमेटियो का विवरण सक्षेप मे दिया हुआ है, इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद की उन्नति-विकास के लिए भारत सरकार ने अभी तक क्या किया। सबसे प्रथम भोर कमेटी (१९४५ ईसवी मे) बैठायी गयी थी।

भोर कमेटी की सूचना—भोर कमेटी ने स्वीकार किया कि वह समय तथा परि-स्थितियो के कारण आयुर्वेदिक सिस्टम के विषय मे सही सूचनाएँ नही प्राप्त कर सकी। तब भी उसने कहा कि स्वास्थ्य और चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेदिक चिकित्सा के प्रश्न का निर्णय राज्यो के ऊपर छोड देना चाहिए। उसकी ठोस एव करणीय सूचना यही थी कि सब मेडिकल सस्थाओ मे आयुर्वेद के इतिहास की एक चेयर स्थापित की जाय।

इसके पीछे सन् १९४६ मे स्वास्थ्यमत्रियो की एक बैठक हुई, जिसमे आयुर्वेद की शिक्षा और गवेषणा के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार हुआ।

चोपड़ा कमेटी—इस बैठक के अनुसार लेफ्टीनैण्ट कर्नल आर० एन० चोपडा की अध्यक्षता मे १९४६ ईसवी में एक कमेटी बनायी गयी। इसने सारे प्रश्न को नये सिरे से विचार कर १९४८ में एक रिपोर्ट सरकार को दी, इसमे मुख्य सूचनाएँ निम्न थी—

१. पश्चिम और आयुर्वेद चिकित्सा का समन्वय करना आवश्यक है।
२. दोनो में जो भाग कमजोर हो उसकी पूर्त्ति परस्पर विभागो से करनी चाहिए।
३. मिश्रित पाठ्यक्रम से अनावश्यक पाठ्यक्रम को निकाल देना चाहिए।
४. सम्पूर्ण भारत में एक ही पाठ्यक्रम चलाना चाहिए।
५. संस्कृत का सामान्य ज्ञान और अग्रेजी का आवश्यक ज्ञान एव साथ में केमिस्ट्री, फिजिक्स, वाईओलोजी (प्राणी शास्त्र) का भी ज्ञान आवश्यक है।

६. पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का रखना चाहिए। पाठ्य पुस्तको मे एकरूपता रहनी चाहिए।
७ पाठ्यपुस्तकें तैयार कराने के लिए एक बोर्ड की नियुक्ति होनी चाहिए।
८ एक ही अध्यापक पश्चिमी एव प्राचीन आयुर्वेद विषय को पढाये।
९. मेडिकल कालेजो मे आयुर्वेद का इतिहास-विषयक पीठ स्थापित हो।
१० मिश्रित पाठ्यक्रम के लिए अध्यापक शिक्षित करने चाहिए।
११ अध्यापको को उचित वेतन दिया जाय।
१२ केन्द्रीय सरकार आयुर्वेदिक शिक्षा और चिकित्सा पर अपना नियन्त्रण रखे।
१३ स्वास्थ्य विभाग के अधीन उपसचालक आयुर्वेद का पद बनाना चाहिए।
१४ दो बोर्ड पृथक् बनाने चाहिए—
  १ इन्डियन मेडिकल कौसिल, २. कौसिल आफ इन्डियन मेडिसिन।
१५. निम्न स्तरवाली शिक्षण सस्थाएँ या तो समाप्त कर देनी चाहिए अथवा दूसरी सस्थाओ मे सम्मिलित कर देनी चाहिए।
१६. सब [illegible] बनाये। रिसर्च केन्द्र मे दोनो पद्धतियो के शिक्षित-विज्ञ व्यक्ति रखने चाहिए।
१७ भारतीय चिकित्सा में खोज की बहुत जरूरत है। आधुनिक और आयुर्वेद दोनो चिकित्सा पद्धतियो मे एकरूपता लाने की बहुत आवश्यकता है।
१८ केन्द्रीय गवेषणा-केन्द्र स्थापित करना चाहिए।
१९ आयुर्वेदिक फार्मेकोपिया बनानी चाहिए।
२० भारतीय चिकित्सा में औषधि निर्माण की शिक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है।

चोपडा कमेटी की सूचनाओ पर भारत सरकार का निर्णय सक्षेप मे यह है—

१. दोनो पद्धतियो का मिश्रण सम्भव नही, क्योकि दोनो पद्धतियो मे सैद्धान्तिक तथा मुख्य बातो में पर्याप्त भेद है।
२. केन्द्रीय और राज्य सरकारो को यह निश्चय करना चाहिए कि जातीय स्वास्थ्य के लिए आधुनिक चिकित्सा पद्धति की शिक्षा दी जाय या न दी जाय।
३ आयुर्वेदिक और यूनानी खोज के सम्बन्ध मे केन्द्रीय बोर्ड बनाया जाय।
४ आधुनिक चिकित्सा की पूर्ण शिक्षा देकर आयुर्वेद या यूनानी चिकित्सा की शिक्षा विशेष रूप मे दी जानी चाहिए।
५. आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सको का पञ्जीकरण होना चाहिए।
६. आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा मे शिक्षित व्यक्तियो को जनस्वास्थ्य के कार्य की शिक्षा देनी चाहिए।

पण्डित कमेटी—इसके पीछे डाक्टर सी० जी० पण्डित की अध्यक्षता मे एक दूसरी कमेटी बनायी गयी। इसको चोपडा कमेटी द्वारा निर्दिष्ट सूचनाओ को क्रियात्मक रूप देने का कार्य सौपा गया। [illegible] कमेटी ने निम्न [illegible] [illegible] की—

१. जामनगर मे केन्द्रीय गवेषणा केन्द्र खोला जाय।

२. आधुनिक मेडिकल कालेजो मे आयुर्वेद या यूनानी शिक्षा देना सम्भव नही।

३ आयुर्वेदिक कालेजो मे आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान देना उचित नही, क्योकि इनका शिक्षास्तर बहुत निम्न श्रेणी का है। इसलिए यदि मिश्रित शिक्षा देनी है, तो इन विद्यालयो का शिक्षास्तर ऊँचा करना चाहिए।

४. आयुर्वेदिक विद्यालयो मे प्रवेशस्तर ऊँचा उठाना चाहिए।

५ आयुर्वेद की शिक्षा के लिए सर्वत्र एक समान पाठ्यक्रम चालू करना चाहिए। पृथक् पृथक् डिग्री कोर्स या डिप्लोमा कोर्स नही चलाने चाहिए।

पण्डित कमेटी की सिफारिश पर १९५२ मे जामनगर में गवेषणा केन्द्र खोला गया, काम भी प्रारम्भ हुआ, परन्तु अभी तक कोई भी निश्चित परिणाम सामने नही आया।

दबे कमेटी—केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् (१९५४ ईसवी) के अनुसार श्री डी० टी० दबे की अध्यक्षता मे १९५५ ईसवी मे एक कमेटी बनायी गयी। इस कमेटी को शिक्षा का स्तर तथा भारतीय चिकित्सा की प्रैक्टिस करने के नियम बनाने का काम सौपा गया। इस कमेटी की मुख्य सिफारिशे निम्न थी—

१ सस्थाओ के नियमत शिक्षित एव परम्परागत शिक्षित व्यक्ति, जो पन्द्रह वर्ष से चिकित्सा कार्य कर रहे है, उनका पञ्जीकरण करना चाहिए।

२. प्रत्येक राज्य मे एक बोर्ड होना चाहिए जो आयुर्वेद की शिक्षा तथा वैद्यो पर नियन्त्रण रखे।

३. पञ्जीकृत वैद्यो, हकीमो को आधुनिक चिकित्सा पद्धति के डाक्टरो के समान अधिकार मिलने चाहिए।

शिक्षा के सम्बन्ध मे दबे कमेटी की निम्न सिफारशे थी—

४. सम्पूर्ण भारत मे एक ही जैसा पाठ्यक्रम चलाना चाहिए, यह पाठ्यक्रम ५½ वर्ष का होना चाहिए। इसमे तीन मास कम से कम देहाती क्षेत्र में काम करना पडे

५. प्रवेश योग्यता इन्टरमीडिएट साइन्स (मेडिकल ग्रूप) की होनी चाहिए, जिसके साथ मे सस्कृत का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है।

६. सस्थाओ के पाठ्यक्रम-शिक्षण पर नियत्रण रखने के लिए इन्डियन मेडिकल कौसिल के समान एक परिषद् होनी चाहिए।

७. विषयवार पुस्तके लिखायी जायँ या सशोधित की जायँ।

८ पाठ्यक्रम को विश्वविद्यालयो और आयुर्वेद की फैकल्टी पृथक् बनाकर स्वीकृत करवाया जाय।

९ आयुर्वेद की फार्मेकोपिया और कोश (डिक्शनरी) बनाना चाहिए।

१० सब शिक्षण सस्थाओ मे रोगियो को रखने के लिए अन्त -अस्पताल होना चाहिए, जिसमे एक विद्यार्थी के लिए पाँच रोगी रहे।

११ आयुर्वेद की उपाधि ग्रेज्युएटेड् आयुर्वेदिक मेडिसिन् सर्जरी (G A M S) समान रूप से रखनी चाहिए।

१२ केन्द और राज्यो मे आयुर्वेद का डाइरेक्टर (सचालक) पृथक् रूप से नियुक्त करना चाहिए।

१३ साधनसम्पन्न मस्थाओ मे गवेषणा तथा स्नातकोत्तर शिक्षा के द्विवर्षीय पाठ्यक्रम की सुविधा देनी चाहिए।

१४ शिक्षासस्थाओ मे रिफ्रेशर पाठ्यक्रम का प्रबन्ध करना चाहिए।

मिश्रित पाठ्यक्रम के लिए दबे कमेटी ने एक पाठविधि भी बतलायी थी। दबे कमेटी की रिपोर्ट सब राज्यो को भेजी गयी और राज्यो से प्राप्त समतियो पर बगलोर मे हुई केन्द्रीय स्वास्थ्यपरिषद् में विचार किया गया। दुर्भाग्य से राज्यो ने इसका पूर्ण आदर नही किया, इसलिए यह प्रश्न राज्यो पर ही छोड दिया गया कि वे इसे स्वीकार करे या अस्वीकार करे।

निष्कर्ष ---

१. चोपडा कमेटी और पण्डित कमेटी की सिफारिशो को ध्यान मे रखकर भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि प्रथम आयुर्वेद के सम्बन्ध मे खोज प्रारम्भ की जाय। उनके आधार पर ही दोनो पद्धतियो को निश्चित करने का विचार किया जाय तथा उसी के आधार पर यह निश्चय हो कि मेडिकल कालेजो मे स्नातकोत्तर शिक्षा इसकी दी जाय या नही।

२. सरकार का ऐसा विचार दीखता है कि खोज के परिणामो को देखकर ही इसकी उपादेयता का अकन होना चाहिए। परन्तु हमारी सम्मति मे औषध या उसकी उपादेयता ही आयुर्वेद विज्ञान नही है, इसलिए हमारी सम्मति मे पण्डित कमेटी ने आयुर्वेद शिक्षा का जो मार्ग बताया है (अर्थात्---आधुनिक चिकित्सा के छात्र को अथवा स्नातकोत्तर अभ्यास मे आयुर्वेद की शिक्षा देना) वह आयु-

र्वेद की उन्नति के लिए उत्तम नही। चोपडा कमेटी की सिफारिशे अभी तक कार्य रूप मे परिणत नही हुईं, इसी से वर्त्तमान अकर्मण्यता बनी रही।

३ सक्षेप मे मिश्रित आयुर्वेद पाठ्यक्रम के लिए की गयी चोपडा एव दबे कमेटी की सब सिफारिशे रेत मे पडी पानी की बूँद के समान व्यर्थ हुई। साथ ही दूसरे पक्षवालो के लिए पूर्ण असन्तोषजनक सिद्ध हुईं। इसी से शुद्ध आयुर्वेद की चलबल प्रारम्भ हुई। इससे विद्यार्थियो के मन में एक प्रकार का प्रतिरोध जाग्रत हो गया, जिसका परिणाम स्ट्राइक, महाविद्यालयो का एक दीर्घ काल के लिए बन्द होना हुआ। शुद्ध आयुर्वेद की चलबल प्राय करके पुराने विचार-वाले लोगो के हाथ में रही।

शुद्ध आयुर्वेद शब्द के विषय मे पूरा स्पष्टीकरण न होने से कुछ सीमा तक लोगो को भ्रम एव अस्पष्टता बनी रही। यद्यपि वे स्वय यह स्वीकार करते थे कि विज्ञान एक समान है, उसमें बराबर उन्नति का स्थान है, उसे आयुर्वेद मे सम्मिलित रखना चाहिए। फिर भी वे यह मानते है कि आयुर्वेद सम्पूर्ण है और उसमे किसी प्रकार की वृद्धि या जोड की आवश्यकता नही। शुद्ध आयुर्वेद-का जो पाठ्यक्रम इन्होने बनाया उसमे पुराने पाठ्यक्रम को ही थोडा परिवर्तित किया, साथ ही आधुनिक विज्ञान के विषय भी मिला दिये। शुद्ध आयुर्वेद-वाले सदा इस बात को स्वीकार करते है कि आयुर्वेद के आठ अगो मे से केवल १/८ अग (अकेली कायचिकित्सा) ही बचा है; शेष सात अगो का पुन उद्धार होना चाहिए। इससे हम यह अनुभव करते है कि यह आवश्यक है कि आयुर्वेद का पुट देते हुए आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनकी शिक्षा दी जाय।

४. केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पचवर्षीय योजना के उत्तरार्द्ध मे आर्थिक सहायता देकर खोज कार्य प्रारम्भ कराया। यह कार्य अब दूसरी योजना में भी जारी है।

५. केन्द्रीय सरकार इस बात की इच्छुक है कि किस प्रकार उसकी सहायता आयुर्वेद की उन्नति करने मे सफल हो सकती है, इसके लिए उसने यह कमेटी बनायी। यह कमेटी केवल खोज के विषय मे ही सूचना नही देगी अपितु आयुर्वेद के सम्बन्ध मे चारो ओर से विचार करके सरकार को अपनी सलाह देगी।

उडूप कमेटी—भारत सरकार के स्वास्थ्य मत्रालय ने डाक्टर के० एन० उडूप की अध्यक्षता मे २९ जुलाई १९५८ मे एक कमेटी बनायी। इसके लिए विचारणीय प्रश्न निम्न दिये गये, जिन पर इस कमेटी को विचार करके रिपोर्ट देनी थी—

१ आयुर्वेद को उन्नत करने तथा इसमे सहायता देने के लिए गवेषणा के कार्य मे तथा

आयुर्वेदिक सस्थाओ का स्तर ऊँचा उठाने मे केन्द्रीय तथा राज्यो की सहायता कहाँ तक सफल हुई ।

२ आयुर्वेद की शिक्षा एव खोज मे इस सहायता से कहॉ तक मदद मिली ।

३ आयुर्वेदिक औषध निर्माण (फार्मेस्युटिकल प्रोडक्ट्स) के स्टैण्डर्ड, मात्रा तथा उनके निर्माण के ढग मे कहाँ तक उन्नति हुई ।

४ आयुर्वेदिक चिकित्सा-कर्म एव मान्यता के विषय मे वस्तुस्थिति की जॉच करना ।

कमेटी ने एक प्रश्नावली प्रकाशित की, इसमे आयुर्वेद की शिक्षा, चिकित्सा, राज्यो मे भारतीय चिकित्सा परिषद्, आयुर्वेदिक सस्थान (साहित्यिक गवेषणा सम्बन्धी), औषध निर्माण, आधुनिक मेडिकल कालेजो मे फार्मेकोलोजी कार्य तथा दूसरी खोज आदि की जानकारी मॉगी ।

कमेटी के सदस्यो ने सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेदिक सस्थाओ को जाकर देखा और स्थानिक अधिकारियो से विचार विमर्श करके वास्तविक स्थिति को समझने का यत्न किया । रिपोर्ट मे प्रत्येक प्रान्त की आयुर्वेद की स्थिति का उल्लेख सक्षेप मे तथा वहॉ की जो विशेषता उनको अच्छी लगी उसका उल्लेख किया है । साथ ही प्रत्येक प्रान्त के कालेजो मे क्या क्या सुधार करना चाहिए, यह भी बताया है ।

आयुर्वेद की शिक्षा के विषय मे कमेटी का निश्चय इस प्रकार है—

आयुर्वेद की उन्नति के लिए प्राचीन और नयी पद्धतियो का मिश्रण आवश्यक है। आयुर्वेद को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक चिकित्साविज्ञान से जितना भाग लेना आवश्यक हो, वह लेना चाहिए । परन्तु मुख्यता आयुर्वेद की ही रहनी चाहिए । इससे चिकित्सक रोगी के साथ वर्त्तमान काल मे अधिक योग्यता से बरत सकेगे ।

स्नातकोत्तर शिक्षण मे—आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त, आयुर्वेद का इतिहास, शारीर विज्ञान, काय चिकित्सा (निदान और पच कर्म के साथ), द्रव्यगुण विज्ञान, रसशास्त्र और भैषज्य कल्पना रखने चाहिए ।

स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए बनारस, पूना और त्रिवेन्द्रम तीन और केन्द्र प्रारम्भ करने चाहिए, अकेला जामनगर सम्पूर्ण भारत की आवश्यकता पूरी नही कर सकता । इन केन्द्रो मे स्नातकोत्तर शिक्षण एक वर्ष का रखना चाहिए ।

कमेटी ने ट्युटोरियल सिस्टम का सुझाव दिया, जिसमे कि विद्यार्थी शिक्षक के साथ विषय की विवेचना कर सके ।

अध्यापको का स्तर निश्चित करने के लिए केन्द्रीय भारतीय परिषद् की स्थापना का

सुझाव दिया गया, आयुर्वेद के अध्यापको का वेतनक्रम मेडिकल कालेज के अध्यापकों की भाँति होना चाहिए।

शिक्षण विषय मे समिति की सूचना है कि दो प्रकार के पाठ्यक्रम चलने चाहिए; एक मिश्रित और दूसरा शुद्ध आयुर्वेद का। जो विद्यार्थी मिश्रित पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण हो उनको स्नातक की उपाधि देनी चाहिए और जो शुद्ध आयुर्वेद के पाठ्यक्रम मे उत्तीर्ण हो उनको आयुर्वेदाचार्य या प्रवीण की उपाधि देनी चाहिए। सब अवस्थाओ मे उपाधि एव टाइटिल सब स्थानो में एक समान रहने चाहिए।

पाठ्यक्रम, उपाधि, टाइटिल आदि का निर्णय केन्द्रीय भारतीय परिषद् के ऊपर छोड देना चाहिए। मिश्रित पाठ्यक्रम में प्रवेशयोग्यता माध्यमिक (इण्टरमीडिएट) होनी चाहिए। इसमें कैमिस्ट्री, फिजिक्स, बाईओलोजी और सस्कृत का ज्ञान आवश्यक हो जो कि माध्यमिक स्तर का हो। शिक्षाक्रम साढ़े चार या पाँच वर्ष का रहे।

शुद्ध आयुर्वेद मे प्रवेशयोग्यता दसवी उत्तीर्ण (मैट्रिक्युलेशन) की होनी चाहिए, इसमें विद्यार्थी को सस्कृत लेना आवश्यक है, या इसके बराबर हो। शिक्षाक्रम चार वर्ष या पाँच वर्ष का होना चाहिए। इसमें शरीरक्रिया, शरीररचना आदि दूसरे आधुनिक विषयो का भी ज्ञान कुछ मात्रा मे कराना चाहिए। क्रियात्मक शिक्षा के लिए सम्पूर्ण साज-सज्जा से युक्त अस्तपाल इन शिक्षण संस्थाओ से सम्बद्ध रहना चाहिए। इसी प्रकार वनस्पतिवाटिका, वनस्पति आदि का म्यूजियम भी बनाना चाहिए।

पुस्तको के विषय मे कमेटी का सुझाव है कि विषयवार पुस्तके तुरन्त तैयार करवानी चाहिए—जिनमे आयुर्वेद का विषय प्राचीन सहिताओ से उसी रूप मे उद्धृत रहे। आयुर्वेद की प्रत्येक शिक्षण सस्था के साथ उन्नत पुस्तकालय रहना चाहिए। इनमे आयुर्वेद की, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तके, पत्रिकाएँ रहनी चाहिए।

विद्यार्थी को क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा भली प्रकार मिल सके इसके लिए उचित भवन, उत्तम वाटिका, म्यूजियम, फार्मेसी, रुग्णशय्या का प्रबन्ध उचित अशो में होना चाहिए।

स्नातकोत्तर शिक्षण शुद्ध आयुर्वेद, मिश्रित स्नातको तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ जिन्होने आयुर्वेद सीखा है, सबके लिए खुला होना चाहिए।

शुद्ध आयुर्वेद के स्नातक रसशास्त्र, द्रव्यगुण, बालरोग, स्त्रीरोग आदि मे शिक्षा ले सकते है। मिश्रित एव आधुनिक चिकित्सा के स्नातक आयुर्वेद के सब विषयो मे; विशेषत शल्य, शालाक्य, प्रसूति आदि विषयो में स्नातकोत्तर शिक्षण प्राप्त कर सकते है।

खोज सम्बन्धी सूचनाएँ निम्न हैं—

१ जामनगर के सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में आयुर्वेद और आधुनिक (मौडर्न) दोनों चिकित्सकों में एकरागिता का अभाव है, इससे दोनों की जानकारी का एक बडा सग्रह इकट्ठा हो गया है। दोनों में कोई भी निर्णय नहीं हो सका। आधुनिक टीम जो कर रही है, उसको आयुर्वेदवाले नही जानते और आयुर्वेदवाले जो कर रहे है उसको आधुनिक टीमवाले नही जानते। अर्थात् प्रारम्भ से ही यह पद्धति सर्वत्र चल रही है, जो अवाछनीय है। दैनिक रोगियो पर दोनों को ही साथ मे बैठकर विचार करना चाहिए। साथ ही जीर्ण रोगो पर भी इनको ध्यान देना चाहिए।

२ जामनगर रिसर्च सस्था को साहित्यिक, फार्मेसी सम्बन्धी आदि रिसर्च सुनिश्चित योजना बनाकर प्रारम्भ करनी चाहिए।

३ जामनगर मे इस समय रिसर्च इन्स्टीच्यूट, स्नातकोत्तर शिक्षण और गुलाब कुवर बा आयुर्वेद सोसाइटी सचालित आयुर्वेद विद्यालय—ये तीन सस्थाएँ चल रही हैं, इनको एक ही मकान मे एकत्र करके एक इकाई बना देनी चाहिए।

४ रिसर्च के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् नामक सस्था शीघ्र प्रारम्भ करनी चाहिए, जिससे रिसर्च मे वेग और एक समानता आ सके।

५ जामनगर जैसे दूसरे तीन प्रतिष्ठान केन्द्रीय सरकार को स्थापित करने चाहिए, इनको शिक्षा सम्बन्धी सूचना मे लिखे अनुसार स्नातकोत्तर शिक्षण सस्थाओं से सम्बद्ध कर देना चाहिए।

६ बम्बई प्रान्त के रिसर्च बोर्ड ने विविध प्रकार की रिसर्च योजनाएं हाथ मे ली है उसी पद्धति पर अपने यहाँ सब राज्यो को रिसर्च बोर्ड स्थापित करने चाहिए

७ प्रारम्भ मे आयुर्वेद रिसर्च का काम निम्न सात विभागो मे करना चाहिए—

१ क्लीनिकल—(प्रत्यक्ष रोग चिकित्सा)
२ साहित्यिक
३ रासायनिक
४ वनस्पतिशास्त्र विषयक
५ फार्मेकोलोजिकल
६. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त
७ फार्मेकोगनोसिकल

८ इनमें क्लिनिकल रिसर्च सबसे प्रथम प्रारम्भ करनी चाहिए, भिन्न-भिन्न केन्द्रो मे जो काम चल रहा हैं, वहाँ पर वैद्य और डाक्टर दोनो को मिलकर रिसर्च कार्य करना चाहिए।

९ केन्द्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च परिषद् को वैद्य और आधुनिक वैज्ञानिकों की मिलित कमेटी स्थापित करनी चाहिए—जो क्लिनिकल रिसर्च की एक समान भूमिका तैयार करे।

१० साहित्यिक सशोधन प्रारम्भ करना चाहिए। इसके लिए प्राचीन पुस्तको का सग्रह करना चाहिए। इनमे जो छापने योग्य है, उनको छपाना चाहिए। पुरानी पुस्तको का अनुवाद करवाना, योग्य पाठ्य पुस्तके तैयार करवाना, रेफरेन्स लाइब्रेरी बनाना चाहिए।

११. प्रत्यक्ष रोगियो पर जिन औषधियो का सतोषजनक लाभ मिला हो, उनकी आधुनिक विज्ञान की सहायता से रिसर्च करवानी चाहिए, रिसर्च का यह कार्य अति विश्वासी वैज्ञानिको को सौपना चाहिए।

१२. औषधोपयोगी वनस्पति की गवेषणा के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को जगलात विभाग की सहायता लेनी चाहिए, किस प्रान्त म क्या वनस्पति होती है, उसका पूरा विवरण रखना चाहिए।

१३. फार्मेकोगनोसिकल रिसर्च को दस वर्ष के अन्दर समाप्त कर देना चाहिए। इस विषय मे जो वैद्य निष्णात हो, उनको यह कार्य सुपुर्द करना चाहिए। रिसर्च का काम करनेवालो मे एकरूपता रहनी चाहिए।

१४ आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तो मे खोज, पच महाभूत, त्रिदोषवाद, मन, बुद्धि, आत्मा आदि विषयो पर निष्णातो को प्रकाश डालना चाहिए।

१५ केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को निम्न विषयो पर खोज प्रारम्भ करानी चाहिए—

१ आयुर्वेदिक आहारशास्त्र
२ पचकर्म
३. बालचिकित्सा
४ मानस रोग की चिकित्सा
५ आँख के रोगो की चिकित्सा
६ मर्म चिकित्सा (Orthopaedics)
७ विष चिकित्सा
८ दन्त विद्या
९. योग विद्या (इसे भी अपने मे आत्मसात् करना चाहिए), स्वस्थवृत्त
१० तैलाभ्यग चिकित्सा

१६ केन्द्र और प्रान्तो मे तथा वैयक्तिक रूप मे जो खोज चल रही है, वह सन्तोपजनक नही है, पद्धतिपूर्वक नही है। बहुत स्थानो पर तो पूरे साधन भी नही है। अब समय आ गया [illegible] अनुसन्धान परिषद् को यह काम हाथ मे लेना चाहिए।

फार्मेसी

१ बोटेनिकल सर्वे आफ इण्डिया और जगल विभाग के साथ पूर्ण सहयोग करके जगलो का पर्यवेक्षण कराना चाहिए। आयुर्वेदिक औषधियाँ कहाँ कहाँ अधिक मात्रा मे मिल सकती है, इसकी सच्ची जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

२. औषधोपयोगी वृक्षो आदि के लिए जगल का कुछ भाग सुरक्षित रखना चाहिए।

३ केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को विविध सस्थाओ और कार्यकर्त्ताओ के साथ सहयोग रखकर वनस्पति परिचय और औषधविज्ञान (फार्मेकोगनोसी) का काम हाथ में लेना चाहिए और समय समय पर इस सम्बन्ध की छोटी छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करनी चाहिए।

४ इस कार्य के लिए जिन्होने इस विषय पर काम किया हो तथा मौडर्न वनस्पति शास्त्रियो को मिलकर काम करना चाहिए।

५ ड्रग फार्म बनाने चाहिए, ये ड्रग फार्म वैद्यो एव फार्मेसियो की जरूरत को पूरा करे। केन्द्रीय सरकार को ड्रग फार्म के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

६ कच्चे द्रव्य, खनिज द्रव्य और दूसरे सन्दिग्ध द्रव्य जो आयुर्वेदिक औषध बनाने मे काम आते है, उनका चौकस स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) होना चाहिए।

७ आयुर्वेदिक औषधियो का स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) एक जरूरी कार्य है, इसके लिए स्टैन्डर्ड फार्मेकोपिया बनाने का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। प्रत्येक औषध का पाठ निश्चित करना चाहिए।

८ पुस्तको के पाठ के अनुसार चौकस माप, वजन आदि एक समान बरतने चाहिए। भारत मे जो भिन्न भिन्न तौल-माप चल रहे है, उनमे एकरूपता रखना आवश्यक है।

९ औषध निर्माण मे एक ही प्रकार की पद्धति अपनानी चाहिए। औपधियो मे सोना, मोती, रत्न, केसर, कस्तूरी आदि उत्तम श्रेणी के व्यवहार मे लाने चाहिए।

१०. कश्मीर मे बारामूला के अन्दर कश्मीर सरकार ने औषधि सग्रह के कुछ भण्डार बनाये है, जगल विभाग की सहायता से ऐसे भण्डार प्रत्येक प्रान्त मे बनाने चाहिए, जहाँ से फार्मेसियाँ, वैद्य अपनी जरूरत के अनुसार सामान ले सके।

११ सैंट्रल लेबोरेटरी—कलकत्ता के अनुरूप एक सैन्ट्रल लेबोरेटरी (केन्द्रीय प्रयोग-शाला) स्थापित करनी चाहिए, जिसमे आयुर्वेदिक औषधियो का परीक्षण किया जा सके। ऐसी केन्द्रीय प्रयोगशाला बम्बई मे स्थापित करनी चाहिए।

१२. इस केन्द्रीय प्रयोगशाला के अतिरिक्त प्रत्येक औषध निर्माण उद्योग एव स्वतंत्र फार्मेसियो के लिए भी सुसज्जित प्रयोगशाला होनी चाहिए। जिसमें औषध निर्माण मे काम आनेवाली कच्ची औषधियो, खनिज आदि की परीक्षा की जा सके।

१३ आयुर्वेदिक औषधियो का मानकीकरण ठीक प्रकार से करने के लिए यन्त्रो की सहायता लेनी चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि आयुर्वेदिक औषधियो पर इनका कोई प्रतिकूल प्रभाव न हो।

१४ अडयार (मद्रास) मे एक सहकारी फार्मेसी है, उसी के आधार पर प्रत्येक प्रान्त मे कोआपरेटिव फार्मेसी होनी चाहिए। इससे प्रजा और वैद्यो को उत्तम औषध मिल सकेगी।

१५ प्रत्येक बडी और छोटी फार्मेसियो को एक विशेष टैकनिकल स्टाफ रखना जरूरी है। इसमें आयुर्वेद के निष्णात वैद्य, आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट, मौडर्न वनस्पति-शास्त्री, रसायनशास्त्री, मेकेनिकल आदि रहने चाहिए।

१६ आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट तैयार करने का काम सरकार को तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिए।

१७ ऊपर हमने मानकीकरण (स्टैन्डराईजेशन) की चर्चा की है, इसके लिए १९४० के ड्रग एक्ट के अनुसार एक नियम बनाना आवश्यक है।

१८ केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि जितनी भी जल्दी हो आयुर्वेदिक ड्रग्स एडवाईजर और एक आयुर्वेदिक ड्रग्ज एडवाईज़री कमेटी और एक कौन्सिल (परिषद्) की स्थापना की जाय।

चिकित्सा कर्म का स्तर

१ केन्द्रीय सरकार को एक आयुर्वेद सलाहकार की नियुक्ति करनी चाहिए। आयुर्वेद की उन्नति के लिए सब प्रकार की आवश्यक सलाह मिल सके इसलिए दूसरे आयुर्वेद निष्णात भी नियुक्त करने चाहिए।

२ मौडर्न मेडिकल सिस्टम और आयुर्वेदिक पद्धति दोनो का लाभ ग्रामीण जनता को एक समान मिल सके, इसका प्रबन्ध सरकार को करना चाहिए।

३ आयुर्वेदिक पद्धति को सरकार स्वीकार करती है, इसकी स्पष्ट सूचना होनी चाहिए और इसको उत्तेजन देना चाहिए।

४ कम्युनिटी डेवलपमैन्ट प्रोग्राम के तत्त्वावधान मे जहाॅ पर प्राइमरी हेल्थ सैंटर चल रहे है, वहाॅ पर आयुर्वेद के मिश्रित पाठ्यक्रम के स्नातको की नियुक्ति होनी चाहिए। इस कार्य मे डाक्टरो की अपेक्षा ये अधिक उपयोगी सिद्ध होगे।

५ सरकार का प्रथम और सबसे आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह आयुर्वेद का स्वतत्र सचालक (डाइरेक्टर) नियुक्त करे, जो आयुर्वेद का चुस्त पक्षपाती हो।

६ मजदूरो और मिलो मे काम करनेवालो के लिए चिकित्सा की जो सहूलियते दी जाती है, उनमे [illegible] के उपयोग की स्वतत्रता रहनी चाहिए।

७ सरकारी या अर्धसरकारी नौकरी मे जो वैद्य काम करते हो उनका वेतन डाक्टरो के बराबर होना चाहिए। आयुर्वेदिक उपाधिवाले वैद्य का वेतनक्रम एक डाक्टर जितना होना चाहिए—अर्थात् २००–५०० होना चाहिए। डिप्लोमा धारण करनेवाले व्यक्ति का वेतनक्रम १५०-३०० , एल० सी० पी० एम० जितना होना चाहिए। आयुर्वेद के स्नातक जब भी महाविद्यालय मे प्रिन्सिपल, लैक्चरर, प्रोफेसर आदि नियत किये जायँ, उस समय भी उनका वेतन-क्रम वर्त्तमान डाक्टरो के स्तर पर रखना चाहिए।

८ प्रत्येक राज्य, स्टेट, जिला और तहसील के स्तर पर जितने सम्भव हो, उतने आयुर्वेदिक अस्पताल और डिस्पेन्सरियाॅ खोलनी चाहिए। जहाॅ पर यह सम्भव न हो वहाॅ मौडर्न अस्पतालो मे आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए एक विभाग पृथक् निकाल देना चाहिए। वहाॅ के डाक्टरो को चाहिए कि वहाॅ पर काम करनेवाले वैद्य के साथ पूर्ण सहयोग करे।

९ प्रजा को आयुर्वेदिक चिकित्सा की सहायता मिले, आयुर्वेदिक चिकित्सा अधिक प्रसिद्ध हो, इसके लिए दानियो को अधिक मात्रा मे दान देकर आयुर्वेदिक अस्पताल खुलवाने चाहिए।

१० वैद्यो का ज्ञान अद्यतनीय रहे इसके लिए सरकार को अल्पकालीन रिफ्रेशर पाठ्यक्रम अपनी देखरेख मे प्रारम्भ करना चाहिए।

११ अपने शिक्षण समय मे जिन वैद्यो ने अपने कालेज मे शालाक्य, सौतिक, प्रसूति आदि का उचित अभ्यास किया हो, उनको इस प्रकार के आपरेशन करन की सब प्रकार की सुविधा दी जानी चाहिए। मैडिगो लीगल (कानूनी वैद्यक) के लिए भी इनको आज्ञा मिलनी चाहिए।

२०. जिनके पास सिद्ध नुस्खे हो, उनकी वैज्ञानिक जाँच अवश्य करानी चाहिए, यदि ये सच्चे प्रमाणित हो, तो ये आयुर्वेद और प्रजा दोनो के लिए लाभदायी होगे।

२१ आयुर्वेद मे वैद्य के जो गुण बताये है, उनकी अभिवृद्धि के लिए वैद्यो को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। [illegible] ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

२२ भारतवर्ष के समस्त वैद्यो का प्रतिनिधित्व करनेवाली निखिल भारतीय आयुर्वेदिक महासम्मेलन जैसी एक सस्था चाहिए, जो वैद्यो के अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे और वैद्यो का स्टेटस उन्नत हो ऐसा व्यवहार रखे। इस प्रकार की सस्था को आयुर्वेद की सम्पूर्ण पुस्तको का एक सरल पुस्तकालय प्रारम्भ करना चाहिए और आयुर्वेद के सिद्धान्तो के प्रचार के लिए एक मुख्य पत्र (मासिक या त्रैमासिक) प्रारम्भ करना चाहिए।

उपसंहार

हमने अपना काम पूरा कर दिया, विचारणीय प्रश्नो से सम्भवत हम अधिक कह गये, शायद किसी को यह अच्छा न लगे। परन्तु हमारा उद्देश्य समग्र दृष्टि से समग्र प्रश्न पर विचार करना तथा उसका रास्ता ढूंढने का था। यदि हम ऐसा न करते तो केवल जानकारी ही दे सकते थे।

आज तक सरकार से नियुक्त कमेटियो पर अभी तक सरकार ने ध्यान किस लिए नही दिया, इसका भी कारण ढूंढना था। हमको ऐसा लगता है कि सरकार ने आयुर्वेद का प्रश्न सम्पूर्ण रूप मे सोचा ही नही, केवल जो सूचनाएँ दी गयी थी, उन पर ही विचार किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आयुर्वेद का प्रश्न ज्यो-का-त्यो रहा। परन्तु अब हम आशा करते है कि एकत्रित की हुई सब सूचनाओ पर यथासम्भव विचार होगा। केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार, भारतीय चिकित्सा परिषद् और सम्पूर्ण वैद्यो को प्रामाणिक रूप से इसमे प्रयत्न करना चाहिए, जिससे आयुर्वेद को जो स्थान, गौरव मिलना चाहिए वह उसको प्राप्त हो सके, आयुर्वेद विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित हो। इसके साथ साथ रोगपीडित जनता के लिए आयुर्वेद का उत्थान बहुत जरूरी है। इस हेतु से हमने अपने विचार बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किये है। इन सब विचारो का सब आदर करे यह हमारी इच्छा है। स्वतन्त्र भारत प्राचीन भारत की समस्त सस्कृति को फिर से जाग्रत करना चाहता है, तब इसी सस्कृति के मुख्य अग आयुर्वेद को किस प्रकार से भुलाया जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्र मे आदान और प्रदान की क्रियाएँ सतत चलती रहती है। इसलिए आयुर्वेद को भी दूसरो से जो लेना

आवश्यक हो उसे लेकर एक समन्वित (इन्टैगेरेटिड–मिश्रित) आयुर्वेद पद्धति चालू करनी चाहिए यह हमारी इच्छा है।

आयुर्वेद पद्धति के लिए जो कुछ हमने यहाँ कहा है, उसी को यूनानी और सिद्ध, समस्त पद्धतियो के लिए समझना चाहिए।

हस्ताक्षर—के० एन० उडूप (सभापति)
के० परमेश्वरन् पिल्लई (सदस्य)
आर० नरसिंहम् (सदस्य और मत्री)

डाक्टर सम्पूर्णानन्द कमेटी

उत्तर प्रदेश के मुख्यमत्री डाक्टर श्री सम्पूर्णानन्दजी ने उत्तर प्रदेश के आयुर्वेदिक कालेजो मे बढते हुए असन्तोष को देखकर एक कमेटी नियुक्त की थी। इसकी मीटिग नैनीताल मे हुई थी। इस कमेटी मे श्री पण्डित शिवशर्माजी, श्री दत्तात्रेय अनन्त कुल-कर्णीजी, उपसचालक चिकित्सा एव स्वास्थ्य (आयुर्वेद) आदि सभ्य थे। इस कमेटी में कोई भी डाक्टर नही रखा गया था; यही इसकी विशेषता थी।

उपर्युक्त दोनो सज्जन काशी हिन्दूविश्वविद्यालय मे कुलपति श्री सर सी० पी० रामस्वामी की अध्यक्षता में आयुर्वेद के पाठचक्रम के सम्बन्ध मे बनी कमेटी के भी सदस्य थे। इस कमेटी मे डाक्टर भी सम्मिलित थे। इस कमेटी ने जो पाठ्यक्रम तैयार किया, उसमे सदस्यो का मतैक्य नही था। इसमें डाक्टर तथा कुछ सज्जन विश्व-विद्यालय में चलनेवाले मिश्रित पाठ्यक्रम को पसन्द करते थे, और कुछ सदस्य कथित शुद्ध पाठ्यक्रम को अधिक उत्तम मानते थे।

डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी की देखरेख मे जो कमेटी बनायी गयी उसने कुछ सिद्धान्त निश्चय कर दिये थे। इसके अनुसार आयुर्वेद की प्रधानता पाठ्यक्रम मे रहनी चाहिए। दूसरे विषय आयुर्वेद के पूर्तिरूप मे पढाने के लिए थे। परन्तु पाठ्यक्रम बनाने मे इस निश्चय की पूरी उपेक्षा की गयी। पाठ्यक्रम बनाने की कठिनाई से बचने के लिए बनारस हिन्दूविश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को ही थोडा-बहुत कही बदलकर रख दिया गया। पुस्तकें भी प्राय वही रखी जो कि उसमे निर्दिष्ट थी। पुस्तको का निर्देश करने में उदारता नही बरती गयी, जब कि उससे अच्छी, सम्पूर्ण दूसरी पुस्तके प्राप्य थी।

प्रवेशयोग्यता सस्कृत के साथ इन्टरमीडिएट अथवा अग्रेजी के साथ मध्यमा उत्तीर्ण या उसके समकक्ष स्वीकार की गयी। इसमे साइन्स की शिक्षा का कोई भी बन्धन

नही था। साइन्स की शिक्षा विद्यार्थी को पाठ्यक्रम मे देने की सुविधा रखी गयी। परन्तु इस पाठ्यक्रम का विशेष स्वागत नही हुआ। इसका मुख्य कारण पाठ्यक्रम तैयार करनेवालो की अनुभवहीनता ही है।

डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी का उद्देश्य पवित्र और मान्य था, आयुर्वेद का प्राचीन रूप मे उद्धार होना चाहिए, उसकी सर्वांगीण शिक्षा मिलनी चाहिए। परन्तु उसके साधन उसके अध्यापक, विद्यार्थियो की रुचि इन सबने उसको सफल बनाने मे बाधा उपस्थित की। उदाहरण के लिए रसशास्त्र के प्रश्न पर विद्यार्थी कदम-कदम पर आधुनिक विज्ञान के अपने ज्ञान पर प्रश्न करता है, जिसका उत्तर सामान्यत अध्यापक के पास नही होता। इसी प्रकार शारीर एव शारीरक्रिया विज्ञान की शिक्षा मे विद्यार्थी जब वस्तु को प्रत्यक्ष नही देख पाता, अध्यापक से शका का समाधान ठीक प्रकार से नही पाता, तो उसमे असन्तोष की लहर उठती है। इन सब कारणो से इस पाठ्यक्रम का स्वागत नही हुआ, विद्यालयो मे प्रवेशसख्या बहुत ही कम हो गयी। इसमे मुख्य उत्तर-दातृत्व पाठ्यक्रम बनानेवालो का है, नीति निर्धारण का प्रश्न जहा तक है, वह आयुर्वेद की उन्नति एव गौरव के प्रति आदरणीय है, इसमे सन्देह नही।